आचार्य श्री शांतिसागर महाराज।

अपनी बात

बहुत समय से चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य शांतिसागर महाराज के सौरभ सम्पन्न लोकोत्तर चरित्र से परिचित लोगों की मनोकामना थी, कि उन मुनिनाथ की जीवन कथा प्रकाश में लाई जाय जिससे मोहान्धकार में भ्रांत मानव आध्यात्मिक प्रकाश पा मंगल पथ में प्रवृत्ति करे। सुयोग की बात है, सन १९५१ के पर्यूषण पर्व के समय बारामती (पूना) में विशेष चर्चा हुई। उस समय पूज्य आचार्य देव चातुर्मास वहां ही व्यतीत कर रहे थे, और मैं भी गुरुचरण के समीप पहुंचा था। लोगों से चर्चा के उपरान्त चरित्र निर्माण का कार्य मुझ पर रखा गया और प्रकाशन आदि की आर्थिक व्यवस्था का भार जिनवाणी जीर्णोद्धारक संघ ने स्वीकार किया।

पर्यूषण पर्वके उपरान्त सिवनी लौटने पर जब मैंने लेखन निमित्त सामग्री का अन्वेषण किया तो मुझे बड़ी निराशा हुई, क्योंकि दो, एक लघु पुस्तिकाओं तथा समाचार पत्रों के अल्प विवरण से चरित्र निर्माण का व्यवस्थित कार्य भी कठिन प्रतीत होता था। मैं चिन्ता में पड गया। निराशा ने मुझे घेर लिया। ऐसे अवसर पर अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ लोगों के उत्साहवर्धक पत्र मिले। दानवीर रावराजा श्रीमंत सर सेठ हुकुमचंद जी इंदोर का पत्र बड़ा प्राणपूर्ण था। केन्द्रीय लोक सदन (Parliament) के अध्यक्ष श्री मावलंकर से प्राप्त पत्र द्वारा प्रेरणा मिली। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रमुख श्री गोलवलकर ने बड़े उदात्त उद्गारों को व्यक्त करके स्फूर्तिप्रद शब्दों में उत्साहजनक सामग्री प्रदान करते हुए लिखा था कि ऐसे पवित्र और निस्वार्थ सेवा के क्षेत्र में परमात्मा की कृपा से सफलता की उपलब्धि में तनिक भी सन्देह नही करना चाहिए। राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त ने अपनी पुण्य भावना को व्यक्त करते हुए यह सुन्दर पद्य आचार्य महाराज की अभिवंदना निमित्त लिखा था :-

पंथ अनेक, संत सब एक,
नत हूँ मैं अपना सिर टेक।
जहाँ अहिंसा का अभिषेक
परम धर्म का वहां विवेक ॥

ऐसी पवित्र स्फूर्तिप्रद सामग्री उल्लास तथा उत्साह देती थी किन्तु जीवन घटनाओं का अल्प परिचय हमें सचिन्त बनाता था । इस कठिन प्रसंग में अन्त.करण ने परमात्मा की आराधना को उचित बताया, इसलिए मैंने वीतराग तीर्थंकरों की यथाशक्ति समाराधना तथा अर्चा की । उसके फलस्वरूप तथा विविध ग्रंथो के परिशीलन में सलग्नता के कारण धीरे २ उपयुक्त सामग्री मस्तिष्क में प्रतिबिंबित हो चली । परमात्मा का नाम-स्मरण और आचार्य श्री के चरणों को प्रणाम करते हुए मैं जब लिखने बैठता था तो विपुल सामग्री मिलती जाती थी ।

आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि पवित्र कार्य में विघ्न प्रायः आया करते है । उन्हें आमंत्रण देकर बुलाने की आवश्यकता नहीं होती । इस आचार्य वाणी की सत्यता का हमें पर्याप्त मात्रा में अनुभव हुआ । जब हम लेखन कार्य में अत्यन्त संलग्न थे; तब जिनवाणी जीर्णोद्धारक संघ के मंत्री जी ने हमें सूचना दी कि यह कार्य आचार्य महाराज को पसद नही है, इसलिए आप ग्रंथ निर्माण का कार्य बन्द कर दीजिये । हमने सोचा कि यह श्रम अर्थ की प्रेरणा के स्थान में अंत:करण के प्रेम, श्रद्धा और भक्तिवश किया जा रहा है इसलिए उसे अविश्रांत रूपसे जारी रखना ही ठीक होगा । फिर भी व्यवस्था की बात मन में विचार उत्पन्न करती थी । ऐसे अवसर पर हमारे गुरु-भक्त छोटे भाई ज्ञानचद दिवाकर, तथा शांतिकुमार ने कहा, "इस संबंध में यदि अन्यत्र से व्यवस्था न हुई तो अपने घर से ही इस ग्रंथ का प्रकाशन करेंगे ।"

दिगंबर जैन महासभा की प्रबंधकारिणी की एक बैठक में यह प्रस्ताव पास हुआ था कि हमारे ग्रंथ निर्माण के अनंतर महासभा उसे आचार्य श्री की हीरक जयंती के अवसर पर उनके कर कमलों में अर्पण करेगी । जब मैंने ग्रंथ प्रकाशनार्थ आर्थिक व्यवस्था के विषय में प्रमुख महोदय को पत्र दिया तो ऐसा उत्तर नही आया जो हमें निःशंक बनावे । पश्चात् की प्रवृत्तियों से तो इस परिणाम पर पहुंचना पड़ा कि इस दिशा में आशान्वित न होना ही समझदारी की बात होगी ।

कोई कोई गुरु भक्त कहते थे, "आपने जैन-शासन सदृश महत्वपूर्ण ग्रन्थ तथा प्राकृत भाषा की प्रांजल तथा दो हजार वर्ष प्राचीन महान कृति

'महाबंध' प्रथम खंड की टीका को दक्षिण से लाकर प्रसिद्ध व्यवसायी सेठ शांतिप्रसाद जी जैन की भारतीय ज्ञानपीठ काशी को प्रकाशनार्थ अमूल्य प्रदान की, तो वह कृतज्ञ संस्था आचार्य श्री के जीवन, चरित्र को प्रकाशित करने में कृतार्थता का अनुभव करेगी। शांतिप्रसाद जी की संस्था द्वारा शांतिसागर स्वामी संबंधी रचना का प्रकाशन पूर्णतया समंजस ही है।" वह विचार अनुपयोगी दिखाई दिया, क्योंकि केवल ज्ञानप्रसार तथा लोक कल्याण की कामना से प्रदत्त सामग्री के प्रतिफल स्वरूप जो व्यथा वर्धक पुरस्कार प्राप्त हुआ उससे ज्ञानपीठ की ओर पीठ करना ज्ञान पूर्ण लगा। हमें तो यह जानकर आश्चर्य हुआ कि प्रकांड दार्शनिक रायबहादुर प्रिंसिपल ए. चक्रवर्ती एम. ए. आई. ई. एस, मद्रास द्वारा अंग्रेजी समयसार तथा कुरल काव्य, अमूल्य दिए जाने पर उक्त संस्था से उन्हें हमारी तरह परितोष के स्थान में परिताप प्राप्त हुआ। ऐसी और भी उज्वल साहित्य सेवियों की व्यथा की कथा है। यदि दानवीर संस्थापक जी स्वयं ध्यान देकर संस्था को अकलंक बनाने का प्रयत्न करें, तो समंतभद्र बात होगी। धीरे धीरे वह दिन भी आ गया, जब अंतःकरण ने चरित्र निर्माण कार्य की समाप्ति पर संतोष और प्रसन्नता का अनुभव किया।

अब तो प्रकाशन का प्रश्न प्रमुख बन गया। कुछ श्रीमानों ने हमें लिखा कि, "यदि आप पर्यूषण पर्व में हमारे यहां धर्मोपदेश के हेतु आवें, तो अर्थ की व्यवस्था हो जायगी।" मैं विचार में पड़ गया, क्योंकि हृदय आचार्य महाराज के समीप पहुंचने की सलाह देता था, कारण पर्यूषण में आचार्य महाराज से अमूल्य अनुभव पूर्ण सैद्धान्तिक चर्चा द्वारा अपूर्व आल्हाद और महान प्रकाश प्राप्त होता रहा है। सात, आठ वर्षों से मेरा पर्यूषण महाराज के समीप ही व्यतीत हुआ करता है, इसलिए मेरे मन को अर्थ प्राप्ति की अपेक्षा बौद्धिक और आध्यात्मिक लाभ उठाना श्रेयस्कर लगा। इसका विशेष कारण है। उनके पास जाने पर ऐसा लगता है; मानों हम सजीव उत्तम, क्षमा आदि दश विध धर्मों की पार्श्व भूमि में पहुंच गए हों। अतएव मैं महाराज के पास लोणंद पहुंचा।

एक दिन आचार्य महाराज के पास नीराके कुछ भाई दर्शनार्थ पहुंचे। मैंने उत्साही सेठ नेमचन्द देवचंद जी आसवलीकरसे कहा कि "आपके लिए

एक प्रिय सामग्री में लाया हू " और मैंने उन्हे ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति दिखाई। उसे देख उनका गुरुभक्त हृदय अत्यन्त हर्षित हुआ। मैने, कहा "ग्रंथ प्रकाशन के उपरांत सहायतार्थ लगाई गई द्रव्य विक्रीके पश्चात् सधन्यवाद लौटा दी जायगी। इस योजना से लोक कल्याण होते हुए भी आर्थिक क्षति नही होगी। गोमटेश्वर स्वामी का महाभिषेक महोत्सव समीप है। उस समय ग्रंथ की बिक्री भी सरलता से हो जायगी ऐसी आशा है।"

उनको यह योजना उचित लगी। उनने तथा श्री रावजी हीराचद कोठडिया ने हमसे नीरा आने का अनुरोध किया। नीरा पहुचने पर उक्त दोनो सज्जनो ने तथा श्री रामचन्द्र अमीचन्द्र शाह ने हमारी योजना की पूर्ति का वचन दिया तथा वचन पूर्ति की।

उक्त आर्थिक सहायता में जो भी कमी पडी उसकी पूर्ति हमारे भाई ज्ञानचंद दिवाकर ने की। इस ग्रंथ प्रकाशन की अधिक अडचन दूर करने का कार्य असाधारण महत्व रखता है, इसलिए नीरा के उक्त तीन सज्जनो को सामयिक उदारता के लिए धन्यवाद है। अब ग्रंथ प्रकाशन के प्रबंध की समस्या थी। छपाई की कठिनता भाई छगनमलजी बी ए एल एल. बी मैनेजर परफेक्ट पाटरी कपनी जबलपुर के सहयोग से सहज ही दूर हो गई।

ग्रंथ निर्माण में उपयोगी विपुल ग्रंथ, अनेक लाभप्रद सुझाव आदि हमारे अनुज प्रोफेसर सुशीलकुमार दिवाकर एम ए बी काम एल एल बी तथा भाई श्रेयासकुमार दिवाकर बी एस सी से प्राप्त हुए। अभिनंदन कुमार दिवाकर एम ए ने प्रकाशन आदि के निमित्त बहुत श्रम किया तथा चित्रो के प्रकाशन आदि की व्यवस्था निमित्त टाइम्स आफ इडिया प्रेस बम्बई में पहुंचकर कुशलता से सब कार्य सम्पन्न कराया। उक्त प्रेस के उच्च अधिकारियो ने विशेषकर श्री राजकुमार जैन डिप्टी मैनेजर टाइम्स प्रेस, और वीरेन्द्र कुमार जैन एम ए 'धर्मयुग' बबई ने प्रेम और सौजन्य सहित कार्य किया। हमने देखा आचार्य महाराज के जीवन का थोडा सा वर्णन एव उनके चित्रो का दर्शन कर सर्वत्र सहयोग प्राप्त करना सरल हो जाता था।

कर्नाटक प्रान्त में परिभ्रमण कर आचार्य श्री की जन्मभूमि तथा

अन्य स्थानों में जाकर उपयोगी सामग्री प्राप्त करने में कीर्तनकार ब्रह्मचारी जिनदास जी समडोलीकर ने सहायता दी । श्री धनंजय कांगले फोटोग्राफर निपाणी (बेलगाव) ने आचार्य महाराज के निवास स्थान भोजग्राम पहुंचकर सुन्दर चित्र निस्वार्थ भाव से खीचकर दिए । प्रोफेसर पी. सी. सेठी एम. एस सी. साइंस कालेज नागपुर, श्रीमंत ऋषभ कुमार जी बी. ए. खुरई, श्री वीर कुमार जी बी. एस. सी. लोणंद, श्री बाबूराव जी दोशी वकील फलटण तथा मास्टर मन्हेंलाल जी सिवनी, नेमचन्द जी जैन एम. ए. जबलपुर द्वारा महत्वपूर्ण सामग्री तथा सहयोग प्राप्त हुआ । सिंवई हेमचन्द जी तथा सिघई नेमचंद जी जबलपुर का सहयोग भी उपयोगी रहा । उपयोगी बातें बताने में सर्व प्रथम हमारे पूज्य पिता जी, संघ–भक्त शिरोमणि सेठ दाडिमचन्द जी जवेरी बंबई, धर्मप्रेमी वकील श्री तलकचन्द शहा फलटण, गुरु भक्त सेठ चंदूलाल जी सराफ, श्री निरंजन लाल जी बंबई आदि का नाम उल्लेखनीय है । प्रेस कापी तैयार करने में कामर्स कालेज के विद्यार्थी चुन्नीलाल जैन ने बहुत श्रम किया । महान तपस्वी मुनिराज वर्धमानसागर जी, मुनिराज नेमिसागर जी, मुनिराज पायसागर जी, मुनिराज वीरसागरजी, मुनि समन्तभद्र जी, श्री क्षुल्लक सुमतिसागरजी से (फलटण वाले), जिनका महाराज से निकट परिचय रहा है, महत्वास्पद बातें ज्ञात हुई थी । इन पूजनीय तपस्वियों ने अपने मंगलमय आशीर्वाद द्वारा हमें कृतार्थ भी किया था ।

समाज के प्रमुख नेता तथा उच्चकोटिके धर्मज्ञ एवं शास्त्रज्ञ हमारे पूज्य, पिता जी (सिघई कुंवरसेन जी) के कारण हमारे लेखन कार्यके सर्व विघ्न दूर हुए हैं तथा सब प्रकार की अनुकूलता उनके पुण्य प्रसादसे मिली है ।

उनकी अवस्था इस समय ८० वर्षके समीप है और उन्होंने लौकिक कार्यों को छोड़कर आत्मकल्याण करने को ही अब अपना सच्चा परिवार मान उस ओर प्रवृत्ति की है । वे अपना अधिक समय जिन नाम–स्मरण तथा तत्वचिंतन में व्यतीत करते हैं । उनकी आचार्य महाराज में अपार भक्ति है। यदि उन्होंने हमें सर्व प्रकार की स्वाधीनता न दी होती तो ऐसा चरित्र बनाना स्वप्न में भी संभव न होता ।

और भी अनेक सत्पुरुषों द्वारा सहायता प्राप्त हुई है, जिससे इस ग्रंथ

निर्माण का कठिन कार्य सम्पन्न हो सका है। इन सभी सहायकों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए एक 'आभारी' शब्द ही हमारे पास है ।

इतने बड़े ग्रंथ का अल्प समय में प्रकाशन होने के कारण प्रूफ शोधन कार्य जितना निर्दोष बनना चाहिए था न हो पाया । फिर भी अत्यधिक श्रम द्वारा जितनी सावधानी संभव थी, उसमें तनिक भी प्रमाद नहीं किया गया ।

जिनेन्द्र भगवान की भक्ति तथा आचार्य शान्तिसागर महाराज के पुण्य-स्मरण द्वारा हमारी आत्मा को पर्याप्त प्रकाश तथा बल प्राप्त होता रहा है, उनके चरण कमलों को हमारी प्रणामांजलि है ।

२६ जनवरी १९५३
दिवाकर–सदन
सिवनी

सुमेरुचन्द्र दिवाकर

आमुख

इस विशाल विश्व का मर्म खोजने पर प्रतीत होगा कि प्रत्येक प्राणी सच्चे सुख और शांति के अन्वेषण में सब प्रकार के उचित अनुचित उपायों का अवलंबन ले प्रयत्न करता है। एक व्यक्ति अपनी उपलब्ध साधन सामग्री से असंतुष्ट हो दूसरे को सुख और शांति का स्वाद करने वाला सोचता है। ऐसी स्थिति दूसरों की भी है। कवि ने इस भाव को इस प्रकार बताया है —नदी का यह पार आह भर कर बोला, "जो कुछ सुख है उस पार है"। नदी का वह पार दीर्घ श्वास लेकर कह उठा, "अरे! सारे सुख का भंडार तो उस पार है"। इस प्रकार विश्व की स्थिति है, फिर भी विषयों की वेदना से व्यथित यह प्राणी मरुस्थल की जलशून्य भूमि में दिखने वाली मरीचिका के पीछे लम्बी दौड़ लगाने के प्रयत्न में पीछे नहीं रहता। विश्व की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का पर्यवसान मृत्यु की गोद में सो जाने में है। बड़े से बड़े कलाकार, नरेश, राजनीतिज्ञ धनी, ज्ञानी, निर्धन सभी मृत्यु की गोद मे सो जाते हैं। इसलिये सम्पूर्ण वैभव और विभूति, मान और गौरव अथवा और भी लौकिक प्रवृत्तियां अन्त में मृत्यु के महा द्वार तक पहुंचाकर इस जीव को अकिंचन बना छोड़ देती हैं। सब कुछ यहीं रह जाता है। लोक में प्राप्त प्रतिष्ठा का प्रदीप भी विस्मृति के प्रचंड पवन द्वारा थोड़े समय में ही बुझ जाता है। इसलिये योगी लोग इस जगती की चंचलता और मृत्यु के झूले में झूलते हुए देख उस उपाय के लिये अपने सर्वस्व का त्याग करने को उद्यत होते हैं, जिससे ये अमर जीवन, अक्षय आनन्द, अपरिमित शक्ति और शांति का स्वामी बनें तथा जन्म मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जावें। साधारणतया जग जाल में फंसा हुआ मानव यह नहीं सोच पाता कि दिन और रात्रि के आने जाने के द्वारा किस तरह इसकी जीवन ज्योति क्षीण होती जाती है।

यह कथा व्यक्ति तक ही सीमित नहीं है। बड़े बड़े साम्राज्यों के विलुप्त होने की कथा उनके भग्नावशेष सुनाते हुए हमें बताते हैं, कि

तुम जिस उन्नति के महल को सजाने में लगे हो, वह भी कुछ काल के बाद धूलि में मिल जायगा। जीवन में बसन्तकाल का चिर निवास नही होता। उसकी मधुरिमा के बाद आग उगलने वाला गर्मी का युग आता है और वर्षा, शिशिर आदि के अनन्तर पतझड़ भी प्राप्त होता है, जब प्रकृति श्री-विहीन हो दरिद्रता की मुद्रा धारण करती है। यह अस्त और उदय की वीणा विश्व के प्रागंण में निरन्तर बजती है। मोह के रोगी की कर्ण इन्द्रिय बधिर हो जाने से उसे यह गीत सुनाई ही नही पड़ता। आत्म विकास का सुप्रभात जिनके जीवन में होनेवाला है ऐसे सत्पुरुष उस गीत को सुनते है, उसके मर्म को समझकर तत्काल अविनाशी अमृत पथ पर चलने के लिये कठोर से कठोर त्याग करने को तत्पर हो जाते हैं। इस कार्य में वे वृद्धावस्था के आगमन की प्रतीक्षा नही करते बैठते। योगवासिष्ठ में लिखा हैं कि "युवावस्था में ही धर्मशील बनना चाहिये, क्योंकि जीवन विनश्वर है। किसे ज्ञात है कि ये किसकी मरण वेला है?"[1]

जो सोचते हैं फिर कभी कार्य करेंगे, अभी तो अवकाश नही है उन माया के फंदे में फंसे हुए भ्रान्त भाइयों की उलझनें वर्धमान होती हुई अकस्मात् ही उनकी जीवन लीला को समाप्त कर देती हैं। इस प्रकार यह मनुष्य जीवन का अमूल्य अवसर आत्मा की उपलब्धि के बिना विषयों की दासता में यों ही बीत जाता है। मनुष्य इस विशाल विश्व में आकर अपने शरीर से सम्बन्ध रखनवाले कुटुम्बी, मित्र, बंधु-बान्धव आदि की संकीर्ण परिधि में अपने आपको जकड़कर अपनी विशालता को भूलता है तथा कर्म-रूपी विषधर के द्वारा काटे जाने के कारण उसे दुख देने वाली पापपूर्ण सामग्री प्रिय लगती है। आज का मानव भौतिक विकास के उत्तुंग शिखर पर अपना उच्च भवन बना विश्व के चिन्तकों को चुनौती देता हुआ अहंकार की भाषा में अपने को पूर्णता का अधिनायक बताता है, किन्तु क्षण भर मे विकृति का प्रचण्ड प्रहार उसकी उन्नति के प्रासाद को स्वयं समाप्त कर शोचनीय अवस्था उत्पन्न करता है। आत्म विद्या के आचार्यों ने बताया है कि कनक, कामिनी और

---

१ युवैव धर्मशील स्यात् अनित्य खलु जीवितम्।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति ॥

विषयो की दासता को छोडकर जब तक तुम त्याग के पथ पर नही आओगे, तब तक तुम्हे क्षण भर भी वास्तविक शाति नही मिलेगी। उपनिषद् में लिखा है, 'यह आत्मा अमृत पद को प्राप्त करने के लिये धन की आराधना करे तो भी उसका उद्देश्य सिद्ध नही होगा। ईश्वर की जोर जोर से गुणगाथा गाने से भी इसकी कामना पूर्ण नही होगी। उस उज्ज्वल स्थिति का प्राप्त करने का अद्वितीय मार्ग परिपूर्ण त्याग का आश्रय लेना है'[१]।

आज का वातावरण त्याग और सयम के पथ को सकटमय बनाये हुए है। विषय लोलुपी वासनाओ के गुलाम और इद्रियो के दास, आत्म सयमी और त्याग शील पुरुष को देख उसे अपने समान अपवित्रता तथा कालिमापूर्ण जानते हुए त्रस्त करते है। विश्व का इतिहास बताता है कि भौतिकता के दीवानो ने आत्म-पथ पर चलने वाले योगियो के शरीर पर अगारो की वर्षा की है। भगवान पार्श्वनाथ पर पापी कमठ ने विपत्ति का पहाड लाकर पटका था, किन्तु वे महामना अपने योग से विचलित नही हुए—'महामना यो न चचाल योगत'। जब तीर्थंकर सदृश श्रेष्ठ आत्मा पर दुष्ट जीवो का पापमय आक्रमण हो सकता है, तब अल्प पुण्यवाले साधारण मानवो की क्या कथा? इसीलिये सयम और त्याग की धरा पर पैर धरने वाले सत्पुरुष को कवि सचेत करता हुआ कहता है —

> अरे हस या नगर में, जइयो आप विचार।
> कागनिसो जिन प्रीतकर, कोकिल दई विडार॥

आज जगत को उद्धार का सदेश देने वाले असयम और पापाचार की वारुणी पीकर स्वय क्रूरता की मूर्ति बन जीवो के रक्त से स्नान करते हुए शुचिता का सदेश देने खडे होते है। ऐसे पापपक निमग्न चाहे राजनीतिज्ञ हो या कलम के धनी हो, गाठ के धनी हो अथवा लौकिक बल और पराक्रम के प्रतीक हो, उनसे आध्यात्मिक प्रकाश पाना अधेरी कोठरी में घुसकर भ्रमर की खोज करना है। धर्म के मर्म को न जानकर धर्मात्मा का अभिनय करने वाले विविध धर्माचार्य अथवा विशिष्ट धर्म सप्रदाय के अधिनायको के मुख से धर्म की बात और त्याग

---

१ न धनेन, न चेज्यया, त्यागेनैकेनामृतत्वमानशु।

की चर्चा ऐसी ही बुरी और असुहावनी लगती है, जैसे गदी नाली में गिरे हुए शराब के नशे में निमग्न व्यक्ति के मुख से मद्यपान के निषेध में दिया गया भाषण प्राणशून्य लगता है। गान्धी जी ने एक महत्व की बात लिखी है 'मैंने किसी धर्म में निश्चित उन्नति नही देखी। यदि विश्व के धर्म समुन्नत होते तो जगत कसाईघर के रूप में नही दिखाई पडता।'[1] सचमुच में दम्भ और पाखड की आधार शिला पर अवस्थित पाखड जब धर्म का वेष धारणकर ससार के समक्ष आता है, तब विज्ञ लोग उसे विदाई का प्रणाम (Farewell) अर्पण करना ही सौजन्य का कार्य जानते है। जिस अभय और आनन्द के देने वाले धर्म के भवन में जीववध, हिंसा, पापाचार, इद्रियो की दासता और दुराग्रह का दयनीय दृश्य दिखाया जावे, उसे कौन पसद करेगा ? आज का बुद्धिजीवी वर्ग जो धर्म के प्रति क्षुब्ध हो उठा है, उसका कारण इसी अधर्म राक्षस द्वारा धर्म का पार्ट अदा करना है। सच्चा धर्म तो जीव के प्राणरूप है। "यह धर्म उत्कृष्ट मगल है। वह अहिंसा, सयम और तप स्वरूप है। जिसका मन सदा धर्म में रम गया है, उसे सुरगण सदा प्रणाम करते है।'[2] ऐसे धर्म की यदि प्रतिष्ठा हो तो जगत के जीवन में आनन्द और प्रेम की उपलब्धि हो। धर्म अभ्युदय, आनन्द और शाश्वतिक शांति का जनक है। जनक अपनी सतति का सरक्षण ही करता है। महर्षि गुणभद्र ने लिखा है[3] "धर्म कल्याण को उत्पन्न करता है इसलिये धर्मरूपी कारण, कल्याण रूपी कार्य का कभी विघातक नही होगा" इसलिये धर्म के पास आने

१ A student asked Gandhi, whether it was not true that Christianity and Islam were progressive religions and Hinduism static or retrogressive 'No' he replied "I have noticed no definite progress in any religion The world would not be the shambles it has become, if the religions of the world were progressive '

Louis Fischer Life of Mahatma Gandhi, p 488

२ धम्मो मंगलमुक्कट्ठ अहिंसा सयमो तवो।
देवावि तस्स पणमति जस्स धम्मे सया मणो॥

३ धर्म सुखस्य हेतु हेतुर्नविराधक स्वकार्यस्य।
तस्मात्सुखभगभिया मा भू धर्मस्य विमुखस्त्वम्॥

से डरने वालों को सान्त्वना देते हुए वे कहते है कि "आनन्द के क्षय की कल्पना मे तुम धर्म से विमुख नही बनो।"

आचार्य जिनसेन ने लिखा है, "यह धर्म संकटों से बचाता है" 'धर्मोरक्षत्यपायेभ्य.'। गाधीजी के द्वारा सम्मानित विद्वान टाल्सटाय ने देशबंधु चितरंजनदास को सन् १९०७ में एक महत्वपूर्ण पत्र लिखा था, उसमे ये महत्व के शब्द थे "आपके देश के अधिकतर नेता धर्म की महत्ता पर जोर नही देते, यद्यपि देश की जनता के लिये यह परमावश्यक है"। इस बात को भूल आज के प्रमुख लोग घृणा, विद्वेष और प्रतिहिंसा की अन्धकोठरी में बैठकर जगत को मोहक बातें सुनाया करते है। उन लोगोने तो भौतिक ज्ञान द्वारा प्राप्त कुछ विशेषताओं को देखकर पुद्गल की सेवा को ही अपना कर्तव्य मान लिया है। वे नैतिक जगत की ओर पूर्णतया अन्ध बन वासनाओं से मुक्ति की बात ही नही सोच पाते। भौतिकवाद के शिखर पर चढे हुए समृद्ध अमेरिकावासियो को कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ने अमेरिका जाकर यह मार्मिक बात कही थी, "इस प्राकृतिक जगत में मनुष्य विज्ञान की सहायता से प्राकृतिक शक्तियों का स्वामी बन रहा है, किन्तु नैतिक जगत् में मनुष्य का कार्य बडा कठिन है। उसे अपनी वासनाओं तथा कामनाओं के आतंक को दूरकर उन्हें अपने आधीन बनाना है।"[१] उनने यह भी कहा था, "सम्पत्ति एक सोने का पिंजरा है, जिसमे धनिकों के बालकों का पोषण होता है। उस कृत्रिम वातावरण में उनकी शक्तियां मृत हो जाती है।"

वास्तव में यह वैभव की स्थिति भी कैसे शांति देगी, जिसमें यह जीव परावलम्बी बन अपनी स्वाधीनता को धरोहर रखकर सुख को प्राप्त करता है और चिरकाल तक कर्मों के चक्कर में फंसा हुआ आंखों में पट्टी बांध कोल्हू का बैल बन सुख के चारों ओर घूमा करता है। उसे यह नही मालूम है कि मेरी आत्मा ही उस आनन्द

---

१ In this natural world with the help of science man is turning the forces of nature into obedience. But in this moral world he has a harder task to accomplish. He has to turn his own passions and desires from tyranny into obedience.

Dr. Rabindranath Tagore : Personality, p. 90.

(Lectures in America.)

का भडार है जिसके प्रतिबिंब को वास्तविक मान में बाहर भटकता फिरता हूँ । चीनी विद्वान प्रो० तान युन शान ने लिखा है "व्यापक विश्व संस्कृति का निर्माण अहिंसा के आधार पर हो सकता है ।" इस अहिंसा विद्या का अप्रतिम वर्णन, चिन्तन और परिपालन जैन तीर्थंकरों ने किया है।"[1] उक्त चीनी बौद्ध विद्वान ने हमे अपने एक महत्वपूर्ण पत्र में लिखा था, "इस अहिंसा का उपदेश बुद्ध देव के पहले तीर्थंकर महावीर ने दिया था।"[2] आज देश में और बाहर भी अहिंसा का मधुर गीत सुनाई पडता है किन्तु इस गीत के गाने वाले बहुधा ऐसे लोग मिलते हैं, जिन्होंने सम्राट अकबर के शब्दों में 'अपने पेट को जानवरो के मास को खिलाकर इसे कब्रस्तान' बना लिया है, जहा मानवो की बोली नही सुनाई पडती । अहिंसा का मधुर गीत गाने वाले को अपने जीवन को प्रेम की गगा म पवित्र करना होगा । मास भक्षण, सुरापान, शिकार सदृश पाप की भूमि में प्रेम का पौधा नही लहलहाता । वहा तो उसकी तत्काल मृत्यु हो जाती है । इसलिये

"We Chinese and Indians, the two greatest peoples of the world should culturally join together to create, to establish and promote a common culture called Sino-Indian culture entirely based on Ahimsa We shall further create, establish and promote a common world culture on the same basis---"

A B. Patrika, Dated 31.10-49

२ "Ahimsa is the royal road to peace and Lord Mahavira was the the first and foremost pioneer of this road in this world ."

"By promoting Ahimsa we shall lead the world to real and permanent peace, love, harmony and happiness, despite the encircling gloom of war clouds, that surrounds our existence I reiterate that Ahimsa is the royal road to peace and let humanity march through it towards the ultimate goal of international peace and brotherhood "

Letter, dated 3-4-51 Vishva Bharti Cheena Bhawan, Shantiniketan

जिन विचारवान व्यक्तियो ने विश्व मे सामजस्य स्थापित करके प्रेममय नव जगत के निर्माण का निश्चय किया है, उन्हे तीर्थंकरों के जीवन का निकट निरीक्षण करना होगा और उनकी स्याद्वाद गंगा में स्नान कर जीवन को निर्मल बनाना होगा। भारत राष्ट्र ने जिस धर्मचक्र पर प्रेम प्रगटकर उसे राज चिन्ह बनाया है, उस के मर्म की ओर समर्थ पुरुषो का ध्यान जाना चाहिए। वह धर्म चक्र कैसा, जिसके नीचे जीव वध या पोषण हो, प्राणियो के प्राणो के संहार करने की योजनायें बनें और अहिंसा प्रेमी राष्ट्र, का धनकर के रूप में ग्रहण कर उसमें लगाया जाय। जिस चक्र के नीचे हिंसा की राक्षसी का घर बना हो वह धर्म चक्र कैसा? उसे तो यम का चक्र मानना चाहिये। भारत का इतिहास बताता है कि करुणा की बैजन्ती धारण करने वाले धर्म प्रिय सम्राट् भरत आदि के शासन मे व्यष्टि तथा समष्टि सचमुच में सुखी, समृद्ध, सशक्त और पूर्णतया समुन्नत थी।

आज जगत में धर्मों के विविध रूपों को देखकर आदमी किं कर्तव्य विमूढ़ हो जाता है कि वह किसे धर्म मानकर उसका शरण गृहण करे। वास्तव मे महर्षि कुंद कुंद की व्याख्या "चरित्र ही वास्तिविक धर्म है" उपयोगी है। इस चरित्र धर्म की महत्ता को आज भी सुधी समाज स्वीकार करता है। अंग्रेजी में एक सूक्ति है धन गया तो जानना चाहिये कि कोई हानि नही हुई, यदि स्वास्थ्य नष्ट हुआ तो कहना होगा कि थोडी हानि हुई; किन्तु यदि चरित्र का नाश हो गया तो मानना होगा कि सारा जीवन ही चौपट हो गया।"[1] इस चरित्र की निधि को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को स्वावलंबी बनना आवश्यक होगा। अनात्म पदार्थों के प्रति विश्वास छोड आत्मा को अनंत शक्ति का पुंज स्वीकार करना होगा। जिस श्रम से लौकिक उन्नति के शिखर पर मनुष्य पहुंचता है, उससे अधिक आत्मबल और त्याग इस चरित्र के शिखर पर पहुचने के लिये आवश्यक है लोक-मान्य तिलक कहा करते थे "बिना श्रम के आत्मा महान नही

---

१ If weath is lost nothing is lost; if health is lost something is lost; but if character is lost everything is lost."

बनती महापुरुष बनने के लिये मनुष्य को परिस्थितियो से सघर्ष करना पडता है।" जब लौकिक अपरिमित सकटो के मध्य से जाने पर भौतिक स्वाधीनता प्राप्त होती है, तब आध्यात्मिक स्वाधीनता की प्राप्ति के लिये इस जीव को मोह ममता तथा इन्द्रियो की लोलुपता के प्रचड प्रहारो से बचते हुए अपने कदमो को आगे बढाना आवश्यक है। आत्मा के वैभव को जानने वाला भौतिक स्वतत्रता को अथवा साम्राज्य की प्राप्ति को तृण तुल्य मानता है। इसलिये अपनी आत्मत्व की प्राप्ति के लिये वह जगत भर के लिये स्पृहणीय साम्राज्य को शव सदृश समझ छोड देता है। ऐसा पुरुष ही सच्ची स्वाधीनता के रहस्य को समझता है। राधाकृष्णनन् कहते है, "वास्तविक स्वतनता तो आध्यात्मिक स्वतत्रता है। सच्चा स्वराज्य तो मनुष्य की आत्मा का स्वराज्य है" (पृष्ट १७८ 'स्वतत्रता और सस्कृति')।

आध्यात्मिक स्वाधीनता के सेनानी का दर्शन बडे पुण्य से होता है। ऐसे विद्वान-सन्यासी परमहस योगी का जीवन पूर्व जन्म के सस्कारो के प्रसाद से निर्मित होता है। जगत में वासनाओ के दास ही दिखाई देते है। शेक्सपियर भी कहता है, "मुझे ऐसा मनुष्य बताओ जो वासनाओ का दास न हो, मै उसे अपने अतकरण के भीतर विराजमान करूगा"। महर्षि गुणभद्र ने आत्मानुशासन में लिखा है, "जब किसी महाभाग के ससार सिन्धु का तट समीप आ जाता है, तब वह धन, वैभव आदि परिग्रह का परित्याग कर देता है, कषायो का निग्रह करता है, समता सयम, इन्द्रिय दमन का पालन करता है, तत्वो के अभ्यास में सलग्न रहता है, तपश्चरण में उद्यम करता है, चित्तवृत्ति का स्वामी बनता है, कर्म शत्रुओ के विजेता जिनेन्द्र की आराधना करता है तथा करुणा-पूर्ण जीवन व्यतीत करता है।"* यह विश्व का सौभाग्य है कि आज वय तथा तप में वृद्ध दिगम्बर महाश्रमण आचार्य शातिसागर महाराज सदृश

"When the shore of the ocean of the cycle of existence is close by, the fortunate man has aversion to sense-gratifications, renounces all possessions, subjugates the passions, has tranquillity, vows, self-control, practice of self-contemplation, pursuit of austerities, duly ordained mental activity, devotion to the Conquerors and Compassion"

Justice J L Jaini Atmanusha p 63

श्रेष्ठ अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, सत्य तथा अचौर्य के अप्रतिम आराधक विद्यमान हैं। वे चरित्र के चक्रवर्ती होने के कारण भव्यात्माओं के द्वारा चारित्र चक्रवर्ती के रूप मे वंदनीय हैं। उनके मंगल जीवन पर विविध दृष्टियो से प्रकाश डालने का हमने इस ग्रंथ मे प्रयत्न किया है।

हमें मरुभूमि में फिरकर जल का संग्रह कर कलश लाने वाले व्यक्ति के समान पद पद में कठिनता का अनुभव करना पड़ा है। आध्यात्मिक संत शातिसागरजी के पास से उनके व्यक्ति गत जीवन की सामग्री पाना उस समय से असभव हो गया, जब उन्हे यह ज्ञात हुआ कि उनके उज्वल जीवन से हम जगत को परिचित कराने के लिये कुछ लिख रहे हैं। गाधी जी के जीवन पर महत्वपूर्ण सामग्री हमें इसलिये मिल जाती है, कि स्वयं उनने कृपाकर अपने जीवन की कहानी लिख दी, दूसरे लिखने वाले लेखक को सामग्री दी और हर प्रकार का सहयोग दिया, इससे उनका सजा हुआ जीवन लोगो को मिल जाता है। हमारी कथा इससे विलक्षण है; इसलिये हमने कर्नाटक प्रात में पर्यटन कर वृद्धजनो आदि से सामग्री प्राप्त करने का उद्योग किया, जहा ये चारित्र-चक्रवर्ती पहले रहते थे तथा जहा इनने विहार किया है। इस उद्योग से जो सामग्री मिली है, हमें विश्वास है, कि वह इनके महनीय जीवन को समझने में सहायक होगी और प्रत्येक मानव के अंतःकरण को प्रकाश प्रदान करेगी। वास्तव में इन संतराज का जीवन धन्य है, जिनने इस मनुष्य जीवन की अमूल्य निधि मुनि वृत्ति को धारण कर अपूर्व साम्यरूपी अमृत का पान किया है।

चारित्र-चिंतन

थोवम्हि सिक्खिदे जिणइ बहुसुद जो चरित्तसपुण्णो ।
जो पुण चरित्तहीणो कि तस्स सुदेण बहुएण ॥

चारित्र परिपूर्ण मुनि अल्पशिक्षा प्राप्त होते हुए भी महान शास्त्रज्ञ को जीतता है । जो व्यक्ति चारित्र शून्य है, उसके शास्त्र पारगत होने में क्या सार है ?

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥

तत्वत यह चारित्र ही धर्म है । यही धर्म साम्य स्वरूप है । मोह तथा क्षोभ विरहित आत्म-परिणति जीव का धर्म है ।

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुन-सेवा-परिग्रहाभ्यां च ।
पाप-प्रणालिकाभ्यो विरति सज्ञस्य चारित्रम् ॥

हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, तथा परिग्रह रूप पाप के साधनो का त्याग करना सम्यक् ज्ञानी का चारित्र है ।

सकल विकल चरण तत्सकलं सर्वसगविरतानाम् ।
अनगाराणा विकल सागाराणा ससगानाम् ॥

वह चारित्र सकल तथा विकल के भेद से दो प्रकार है । समस्त परिग्रह के त्यागी मुनियो का चारित्र सकल चारित्र है तथा परिग्रही गृहस्थो का चारित्र विकल चारित्र है ।

गौण चारित्रमाख्यात यत्सावद्यनिवर्तनम् ।
आनदसान्द्रमानात्मा पवित्रं परमार्थत ॥

जो पाप का परित्याग है वह तो गौण रूप से चारित्र कहा गया है । पारमार्थिक दृष्टि से आनद परिपूर्ण आत्मा ही पवित्र चरित्र स्वरूप है ।

क्रम

अपनी बात	१—६
आमुख	७–१५
१ वातावरण	१
२ प्रभात	१३
३ लोकस्मृति	२६
४ वार्तालाप	५४
५ संयमपथ	७३
६ दिगंबर दीक्षा	९३
७ आचार्य पद	१३१
८ तीर्थाटन	१५६
९ प्रभावना	२२९
१० नूतनधारा	३३२
१२ प्रतिज्ञा	३५३
१३ आगम	३८१
१४ आत्मानुशासन का हृदय	४१२
१५ समयसार दर्शन	४२६
१६ प्रकीर्णक	४५३
१७ तात्विक-चिंतन	४८१
१८ दिगवरत्व	४९७
१९ अहिंसा महाव्रत	५४२
२० सत्य महाव्रत	५८९
२१ अस्तेय महाव्रत	६०८
२२ ब्रह्मचर्य महाव्रत	६२३
२३ अपरिग्रह महाव्रत	६४८
२४ भावना	६७६
२५ प्रवचन मातृका	६७९

२६ इंद्रिय जय ६९१
२७ आवश्यक ६९९
२८ शेष मूलगुण ७३६
२९ ध्यान ७५२
३० अनुप्रेक्षा ७६१
३१ सार ७८२

वातावरण

आधुनिक परिस्थिति का चिन्तन

आत्मविशुद्धता को प्राप्त कर सिद्ध परमात्मा बनने के लिये जैन संस्कृति में सर्वज्ञ वीतराग देव, निर्ग्रन्थि गुरू तथा अनेकान्तमय जिनवाणी की आराधना प्राथमिक स्थिति में आवश्यक मानी गयी है। प्रतिदिन की पूजा में गृहस्थ "अरिहंत श्रुत सिद्धांत गुरु निर्ग्रन्थि नित पूजा रचूं" यह पाठ पढता है। वर्तमान युग में संहनन की हीनता के कारण सर्वज्ञता की उपलब्धि के हेतु शुक्लध्यान की समाराधना संभव नहीं है। अतएव सर्वज्ञदेव मनोमंदिर में वंदना के योग्य हो गये हैं, अथवा स्थापना-निक्षेप द्वारा प्रतिमा के रूप में पूजनीय हैं। जिनेन्द्र की वाणी, जीवों का उपकार करती हुई आज भी सर्वज्ञ शासन का प्रकाश भव्य जीवों को प्रदान कर रही है। निर्ग्रन्थ गुरु का दर्शन परम कल्याणकारी माना गया है किन्तु पाप प्रचुर पंचम काल के प्रताप से साधारण संयम की साधना संकट सकुल बन रही है तब सम्पूर्ण पापों का पूर्णतया परित्याग कर, महाव्रती मुनिराज के दिगंबर स्वावलम्बी जीवन को व्यतीत करने वाले महामुनियों का प्रादुर्भाव आज के लोगों को असंभव सा दिखा करता है।

उत्तर भारत में दिगंबर जैन मुनियों का दर्शन करने का श्रावकों को सैकड़ों वर्षों से सौभाग्य लाभ नहीं हुआ प्रतीत होता है। शाहजहां बादशाह के समकालीन विद्वान् कवि बनारसीदास जी के आत्मचरित्र—'अर्ध कथानक' से ज्ञात होता है कि साक्षात् दिगंबर गुरू का दर्शन न होने के कारण वे अज्ञानकारीवश विचित्र प्रवृत्ति में तत्पर थे। वे लिखते हैं[1] कि चन्द्रभान उदयकरण और थानसिंह नामक मित्रों के साथ अध्यात्म

---

१ चद्रभान बनारसी उदय करन अरु थान।
चारों खेलहिं खेल फिर करहिं अध्यातम ज्ञान ॥ ६०२ ॥
नगन होंहि चारों जनें, फिरहि कोठरी माहि।
कहहिं भए मुनिराज हम, कछू परिग्रह नाहि ॥
गनि गनि मारहि हाथसो मुखसों करहिं पुकार।
जो गुमान हम कर गहे, ताके सिर पैजार ॥
गीत सुनै बातैं सुनहिं ताकी बिग बनाइ।
कहैं अध्यातम मय अरथ रहै मृषा लौ लाइ ॥

॥ ६०३–६०५—अर्धकथानक ॥

की चर्चा करते हुए एक कमरे में नग्न होकर फिरते थे और समझते थे कि हम निर्ग्रन्थ मुनिराज बन गये। यदि सकल सयमधारी दिगंबर मुनि का दर्शन हुआ होता तो वे नग्नमुनि बनने का अद्‌भुत नाटक नहीं खेलते। मुनि पद में हिंसादि पापों का सार्वकालिक परित्याग होता है, यह बात उनकी समझ में आई होती तो वे कुछ समय दिगंबर बन पश्चात्‌ क्रीड़ा कौतुक में कभी भी संलग्न न होते।

प्रत्यक्ष में मुनि दर्शन न होनेसे भाव द्वारा वंदना

जब वास्तविक सत्य रूप का दर्शन नहीं होता तब मनुष्य काल्पनिक जगत में भ्रमण करता हुआ उपहास पूर्ण प्रवृत्ति करता है। भूधरदास जी आदि प्राचीन हिन्दी के विद्वानों की रचनाओं के स्वाध्याय से यही बात झलकती है कि उन मुनि-भक्त नर रत्नों के नेत्र जिन मुद्रा धारी मुनि दर्शन के लिये सदा प्यासे ही रहे आयें, इसलिये वे अपनी रचना में चतुर्थ कालीन वज्रवृषभ संहनन धारी दिगंबर गुरुओं की भक्ति करते हुये उनका ही इस काल में सद्भाव विचारा करते थे। अपनी मुनि दर्शन की लालसा को वे गुरु स्तुति में इस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

"वंदों दिगंबर गुरु चरण जग तरन-तारन जान।
जे भरम भारी रोग को, हैं राज वैद्य महान।
जिनके अनुग्रह बिन कभी नहिं कटै कर्म जजीर।
ते साधु मेरे उर बसहु, मम हरहु पातक पीर॥ १ ॥"

वे यही सोचते थे कि पचम काल में भी मुनिजन पर्वत के शिखर पर सदा कष्ट सहन किया करते है इसलिये वे स्तुति में कहते है —

"जे बाह्य पर्वत वन बसें, गिरि, गुफा, महल, मनोग।
सिल-सेज, समता-सहचरी, शशि-किरण, दीपक जोग।
मृग-मित्र, भोजन तप मयी, विज्ञान निर्मल नीर।
ते साधु मेरे उर बसहु, मम हरहु पातक पीर॥ ४ ॥"

ऐसे मुनियों का जीवन में कभी दर्शन लाभ हो तो वह दिन धन्य होगा, यह विचारते हुए वे कहते हैं —

"कर जोर 'भूधर' बीनवै कब मिलहिं वे मुनिराज,
यह आस मन की कब फलै, मम सरहिं सगरे काज,
संसार विषम विदेश में जे बिना कारण वीर,
ते साधु मेरे उर बसहु मम हरहु पातक पीर॥ ८ ॥"

कविवर उपरोक्त दृष्टि को दूसरी मनोरम रचना में भी इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

" गुरू मेरे मन बसो जो भव जलधि जिहाज।
तिर्हि पर तार्हीं ऐसे श्री ऋषिराज।
मोह महा रिपु जानके छांड्यो सब घर बार।
होय दिगंबर वन वसै आतम शुद्ध विचार॥ २ ॥"

वे मुनियों को वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे रहने वाले ही सोचते हैं और उनकी दृष्टि में यह बात नहीं है कि आज के हीन संहनन में शरीर ऐसी तपश्चर्या को सहन भी कर सकेगा या नहीं। इसलिये वे कहते हैं—

"पावस रैन डरावनी, बरसै जल धर धार।
तरु तल निवसैं तब यती बाजे झंझा बार॥ ८॥
वे गुरु चरणें जहाँ धरें जग में तीरथ जेय।
सो रज मम मस्तक चढ़ो 'भूधर' मांगे येह॥ १४॥"

पंचमकाल में मुनियों की अल्प तपस्या द्वारा, महान् निर्जरा

इन विद्वानों की दृष्टि में आगम का यह कथन नहीं आया कि पंचम काल में संहनन हीन होने के कारण मुनिराज पुर, नगर तथा ग्राम में भी निवास करते हैं। ऐसी आगम की आज्ञा इन धर्मात्मा विद्वानों के ध्यान में आयी होती तो वे अपनी रचना में इस बात को प्रतिबिंबित करने से न चूकते। आचार्य देवसेन ने "भावसंग्रह" में लिखा है, "इस पंचम काल के प्रभाव से तथा हीन संहनन होने के कारण इस काल में मुनिराज पुर, नगर, ग्राम में निवास करने लगे। अत्यन्त हीन संहनन, शारीरिक हीन शक्ति, दुःषमा काल तथा चित्त की अस्थिरता होते हुए भी धीर पुरुष महाव्रत के भार को धारण करने में उत्साहित होते हैं"[१]। जो व्यक्ति यह सोचता हो कि आज चतुर्थ कालीन मुनियों के समान कठोर तपस्वी जीवन व्यतीत करना अशक्य होने के कारण कर्मों की निर्जरा कम होती होगी, उसे आचार्य देवसेन के ये शब्द बड़े ध्यान से पढ़ना चाहिये। "पहले हजार वर्ष तप करने पर जितना कर्मों का

---

१ संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तवपहावेण।
पुर-णयर-गामवासी थाविरे कप्पे ठिया जाया॥ १२७॥
संहणणं अइणिच्चं कालो सो दुस्समो मणो चवलो।
तहविहु धीरा पुरिसा महव्वय-भरधरणउच्छहिया॥ १३०॥

नाश होता था वह आज हीन संहनन में एक वर्ष के तप द्वारा कर्मों का नाश होता है"[१] इसका कारण यह है कि हीन संहनन में तपस्या करने के लिये अलौकिक मनोबल लगता है। आज की शारीरिक स्थिति अदभुत है यदि एक दिन आहार नहीं मिला तो लोगों का मुख कमल मुर्झा जाता है। वज्र वृषभ संहनन धारी सहज ही अनेक उपवास और बड़े बड़े कष्ट सहन करने में समर्थ होता था। आज का अल्प संयम पुरातन कालीन बड़े संयम के समान आत्म दृढ़ता चाहता है। जैसे एक करोड़पति किसी कार्य के लिये एक लाख रुपया दान करता है और दूसरा हजारपति नौ सौ रुपया उस कार्य के हेतु देता है। इन दोनों दानियों में अल्प द्रव्य देने वाला दानी असाधारण महत्व धारण करता है क्योंकि उसका त्याग महान् मनोबल और उदारता का ज्ञापक है। इसी प्रकार आज के व्यक्ति का मुनि बनकर सकल संयम का धारण करना कम चमत्कार की बात नहीं। आचार्य वामदेव ने लिखा है "आज संहनन हीन है, काल भयंकर है, मन चंचल है फिर भी महाव्रत के भार को धारण करने वाले सकल संयमी सत्पुरुष पाये जाते हैं।"[२]

यदि काल आदि की भीषणता को भूल, कोई शीत उष्ण वर्षा के कष्ट को चतुर्थ काल के समान सहन करे, तो इस शरीर रूपी पिंजडे के शीघ्र नष्ट होने से आत्मदेव को लोकान्तर को प्रयाण करना ही होगा।

उत्तर में मुनि दर्शन का अभाव तथा संयम संबंधी विरुद्ध कल्पना

उत्तर भारत में मुनि दर्शन होना असंभव सरीखा समझा जाता था। इतना ही नहीं उच्च श्रावक का जीवन व्यतीत करने वाली आत्मायें भी दृष्टिगोचर नहीं होती थी। उस समय चरित्र के समान ज्ञान की ज्योति भी अत्यंत क्षीण सी दिखती थी। जो तत्वार्थ सूत्र तथा भक्तामर स्तोत्र का मूल पाठ कर लेता था वह आज के प्रकान्ड पंडितों से अधिक सन्मान और श्रद्धा का पात्र समझा जाता था। उस समय धार्मिकता के

१ वरिस सहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण।
तंमपहि वरिसेणहु णिज्जरयइ हीण संहणणे ॥१३१–'भावसंग्रह'

२ सम्प्रति दुःषमेकाले नीच संहननाश्रयात्।
सजाता नगरग्राम जिनावासवासिनः ॥२७२॥
नीच संहननवालो दुर्महश्चपलं मनः।
तथापि संयमोयुक्ता महाव्रत धुरंधराः ॥२७९॥ वामदेव 'भावसंग्रह'

रस से भीगे अंतःकरण वालों को भाई जी या भगत जी कहा जाता था। वे लोग सोचते थे कि आज का काल, व्रतादि, प्रतिमाओं का पूर्णतया पालन करने के भी प्रतिकूल है। इसलिये वे अपने पाप भीरू मन द्वारा शास्त्रों से चुनी गयी बातों का अद्भुत संग्रह करके उसे जीवन का पथ प्रदर्शक जानते थे। उनमें अनेक बातें ऋषि-प्रणीत आगम से मेल नही खाती। उदाहरणार्थ दौलतराम जी ने अपने 'क्रिया कोप' में रात्रि–भक्त–त्याग नामक छटवी प्रतिमा में गृहस्थ को रात्रि में मौन धारण करने का वर्णन किया है। उस पर 'श्रावक धर्म संग्रह' मे धर्मात्मा श्रावक सोधिया दरयावसिंह जी लिखते है, " उसका भाव ऐसा भापता है कि भोजन व्यापार आदि सम्बन्धी विकथा न करे, धर्म चर्चा का निषेध नही।" (२४७ पृष्ठ) आगम के प्रकाश में यह बात अतिरेक पूर्ण है। छटवी प्रतिमा वाला स्वस्त्री सेवन द्वारा संतति तक उत्पन्न करता है, तब उसके विषय में रात्रि में मौन धारण करने का कथन आगम समर्थित नहीं है। दौलतराम जी के क्रिया कोप में पांचवी प्रतिमा में सचित्त भक्षण त्याग के स्थान में सचित्त मात्र का त्याग मानकर गृहस्थ को सचित्त मिट्टी का स्पर्श न करने को कहा है। उसे मुनि तुल्य मान वे पंखा भी हिलाने की अनुमति नही देते। उनने लिखा है—

माटी हाथ धोयवे काज लेय अचित्त दया के काज ॥ १८७१ ॥
पवन करे न करावे सोय, पट काया को पीहर होय ॥ १८७४ ॥

गृहस्थों में मूलाचार के समान पूज्य माने जाने वाले क्रिया कोप में लिखा है कि छटवी प्रतिमा में रात्रि के समय गमनागमन नही करे—

गमनागमन सकल आरंभ तजै रैन में नांहि अचंभ ॥ १८८२ ॥

उसमें यह भी लिखा है—

छट्टी प्रतिमा धारक सोई, दिवस नारि को परसत होई ॥ १०४८ ॥
रात्रि विषै अनशन व्रत धरै, चउ अहार को है परिहरै।
गमनागमन तजै निसि मांहि, मन वच तन दिनशील धराहि ॥ १०४९ ॥

इस प्रकार आज से लगभग तीन चार सौ वर्ष पूर्व का वातावरण तथा लोक धारणा को ध्यान में रखने पर मुनि जीवन की तो कथा ही निराली, प्रतिमाधारी श्रावक का पद कोई धारण कर सकेगा, यह असंभव सोचा जाता था। यदि किसी ने सप्तम श्रावक के व्रत धारण कर लिए, तो उस धर्ममूर्ति का दर्शन ऐसा ही धार्मिक लोगों को हर्ष प्रदान करता था, जैसा कि पूर्व काल में चारणादि ऋद्धिधारी मुनियों का दर्शन

ऐसे सयम के प्रति प्रोत्साहन शून्य तथा कृत्रिम जटिलताओ के कन्टो से पूर्ण वातावरण में महाव्रती बनने की बात को सभी लोग असभव सदृश सोचते थे । ऐसी स्थिति में गुरु भक्त गृहस्थ या तो विदेह भूमि में विराजमान साधु समुदाय को परोक्ष प्रणामाजलि अर्पित करता था या अपनी मनोभूमि में प्राचीन काल में हुये साधुओ को विराजमान करके बडे भाव से पूजता था। इस समय सयम के प्रति भक्ति थी, ममता थी, किन्तु मन में भय का भाव भरा था, इससे सयम के पथ पर चलने की कल्पना भी कोई नही करता था।

विषय लपटतापूर्ण वातावरण

इस काल के पश्चात् नवीन वैज्ञानिक युग का आविर्भाव हुआ । इसने अपने समोहन अस्त्रो, जलकल, वायुयान, रेल, मोटरा आदि के द्वारा लोगो को बहुत आश्चर्यप्रद इद्रिय पोषक सामग्री प्रदान की । लोग अधिक आमोद-प्रमोद प्रिय बन गए। अत आचार विचारो में अद्भुत शिथिलता का आविर्भाव हो गया। अब संयम का अनुराग भी नही दिखता है। सयमी को देखकर असयमी समुदाय के मन में आदर का भाव नही जगता है । कारण उन असयमी लोगो के आराध्य और वदनीय लोग वे हैं, जो भोग, विषय लपटता में सर्वोपरि बन रहे हैं । इससे आदर्श सदाचार की बात चर्चा की वस्तु बन गई है। लोग यही कहने लगे हैं, कि आचार में क्या धरा है, अपने विचार ठीक रखो, यही सार की बात है। आज शिथिलाचार में अपरिमित वृद्धि होने के कारण कौन सोच सकता है कि ऐसी भी कोई युगान्तर उत्पन्न करने वाली आत्मा होगी जो इस पचम काल में चतुर्थ कालीन महामुनि की तपस्या की स्मृति को साक्षात रूप में दर्शन कराती।

अविचलित शाति के सागर परिदह विजेता की कीर्ति फैलना

पुद्गल के विकास का वैभव बताने वाले विज्ञान के चमत्कार पूर्ण इस युग में लगभग ३० वर्ष पूर्व एक समाचार प्रकाश में आया था कि अपने आध्यात्मिक पवित्र जीवन से भव्यात्माओ के अत करण में अपरिमित आनन्द की वर्षा करने वाली एक विलक्षण आत्मा दक्षिण प्रान्त में दिगबर जैन मुनिराज के रूप में विराजमान है । उनकी तपस्या सब को चकित करती है। वे मुनिराज किसी जगल की गुफा में आत्मध्यान कर रहे थे कि एक नागराज ने उन पर उपसर्ग किया वह उनके शरीर में ऐसे लिपट गया मानो वह सचमुच में सतापहारी, शान्तिदायी, सुवास सपन्न

चदन का वृक्ष ही हो। वे मुनिराज सद्‌गुणो से अलंकृत थे। शाति के सागर थे। इससे उनकी आत्मा सर्पराज के लिपटने पर चन्दन के समान अचल रही आयी। दो तीन घटे के बाद वह विषधर चला गया।

यह दृश्य काल्पनिक अथवा पौराणिक नही है। इसे अनेक गृहस्थो ने अपने चर्म चक्षुओ से देखा था। मृत्यु के अत्यन्त विश्वस्त प्रतिनिधि सर्पराज की अग्नि परीक्षा में पूर्णतया उत्तीर्ण होने वाले अविचलित धर्मधारी उन शाति के सागर महामुनि की कीर्ति और महिमा साधर्मी समुदाय ने अवर्णनीय आनन्द, प्रेम, भक्ति तथा ममता पूर्वक सुनी। लोग चकित हो उठे। प्रत्येक सहृदय इस भीषण पचमकाल में चतुर्थ कालीन दृश्य को नयन गोचर बनाने वाले उन तपोनिधि की मनोमन्दिर में पूजा करने लगा।

जब उन निर्ग्रन्थ गुरुदेव का वीतरागतापूर्ण दिगबर मुद्रा मय चित्र प्रकाश में आया, तब सभी मानव अपने धर्म या सप्रदाय का मोह भुला उन श्रमणराज को बडी ममता से प्रणाम करते थे। उनकी मुद्रा में अपार शाति थी। उनके रोम रोम में वीतरागता का रस छलकता सा लगता था। वे सर्वपरिग्रह मुक्त, पूर्णतया स्वावलम्बी वन परिग्रह के पीछे पागल बनने वाले जनसमुदाय को अमर जीवन और सच्चे कल्याण का पथ बताते थे, कि वैभव के विलास में फंसने वाली आत्मा अपने विनाश की सामग्री एकत्रित करती है। जिसे अविनाशी आनन्द चाहिये, उसे अपरिग्रहवाद के प्रकाश में अपने अन्त करण को धोना चाहिये। उनका जीवन अहिंसामय था। एक बार हमारे यहा उनके उक्त चित्र का दर्शन अनेक हिन्दू मुसलिम पारसी आदि शिक्षको ने किया, तो उनकी आत्मा आश्चर्य युक्त हो आनदविभोर हो गई। एक सहृदय मसलिम जागीरदार कह उठे, 'धन्य है ऐसी आत्मा को।' उनके दिगम्बरत्व पर उनने एक पद्य सुनाया कि दिगम्बरत्व से बढकर और दूसरा कोई भी वष नही है। यह वह पोशाक है, जिसमें सीधा या उल्टा का भेदभाव नही है[1]। एक दूसरे तत्व प्रेमी

मुनिराज के चित्र का प्रभाव

भाई बोल उठे कि श्रेष्ठ और उच्च जीवन तो इन महात्मा का है, जिन्होंने अपनी इद्रियो को जीता है। जिनने व्याघ्र, सर्प आदि भीषण जन्तुओ को मारा है, उनने कोई बडा काम नहीं किया। सबसे बडा शैतान इन्द्रियो की लालसा है। जिसने इद्रियो पर विजय प्राप्त की है, यथार्थ में वही व्यक्ति महान है। उससे

---

१ तन की उरयानी से बेहतर है नही कोई लिबास।
यह वह जामा है कि जिसका नही उल्टा सीधा॥

बडा और कौन हो सकता है ? पारे को मारकर सिद्ध रसायन बनाने वाले ने क्या बडा काम किया। यथार्थ में अपने अहकार को जिसने मारा श्रेष्ट वही आत्मा है। [१]

ऋषिराज का दर्शन

कुछ वर्षो के पश्चात् उन ऋषिराज का साक्षात दर्शन मिला, तब ज्ञात हुआ, कि उनका असाधारण व्यक्तित्व पूर्णतया उनके निकट संपर्क में आने से ही समझा जा सकता है। उनकी समस्त क्रियाओ को देखकर प्रत्येक विवेकी विद्वान यह अनुभव करता है, कि वे इस पचमकाल में चतुर्थ कालीन मुनियो के समान निर्दोष आचरण करते है। वे ही आज चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज के नाम से श्रमण सघ के शिरोमणि के रूप में विख्यात है।

उनके जीवन के विषय में किसकी जिज्ञासा न होगी ? अतएव यह आवश्यक है, कि उस सम्बन्धी में विवेचन किया जाय। उनके जीवन पर प्रकाश डालने का साहस हमसे नही हो सकता है, कारण उनका उज्वल जीवन स्वय सबको प्रकाश प्रदान करता है। वे प्रकाशक है, दूसरो के द्वारा प्रकाश्य नही। उनके असाधारण जीवन की प्राय सभी बाते महत्वास्पद होगी, किन्तु उनके चरित्र की प्रमाणिक पूर्ण सामग्री को प्राप्त करना असभव सदृश हो गया। आचार्य जी की अवस्था अषाढ कृष्ण षष्ठी को अस्सी वर्ष की हो गई। उनके बाल्य जीवन तथा युवाकाल की कथा वाले साथी अब कैसे मिल सकते है। वे स्वय महानतत्वज्ञ मुनि शिरोमणि है अत उनसे सामग्री प्राप्त की आशा निराशा रूप में परिणत हो गई। कारण सन् १९५१ अक्टूबर में बारामती के उद्यान में हमने उनसे अपने अनुज प्रोफेसर सुशीलकुमार दिवाकर के साथ बडी विनय से कुछ जीवन गाथा जानने की प्रार्थना की, तो उत्तर मिला, "हम ससार के साधुओ में सबसे छोटे है, हमारा 'लास्ट नबर' है, उससे तुम क्या लाभ ले सकोगे ? हमारे जीवन में कुछ भी महत्व की बात नही है।" हमने कहा "महाराज आपका साधुओ में प्रथम स्थान है या अतिम, यह

---

१ निहगो अजदहाओ शेरे नर मारा तो क्या मारा,
बड़े मूजी को मारा नफ्स अम्मारे को जो मारा।
न मारा आपको जो खाक हो अक्सीर बन जाता,
अगर पारे को अय अक्सीरगर मारा तो क्या मारा॥

घात देखने वाले ही जान सकते हैं। संसार तो जानता है कि आपका फर्स्ट नम्बर है।"

महाराज बोले—लोग हमें क्या जानें, हम अपने को जानते हैं, कि तीन कम नव कोटि मुनियों में हमारा अंतिम नंबर है।

मैंने कहा—अच्छा! आपकी दृष्टि में वे साधुगण हैं। उनमें से आप हैं, तब तो आपके जीवन की बातें हमारे सबके लिये बडी कल्याणप्रद तथा बोध जनक होंगी।

महाराज बोले—बडे बडे ऋद्धिधारी मुनियों, महापुरुषों के जीवन चरित्र का पता नहीं है तब हमारे चरित्र से क्या होगा। तुम हमें सबसे छोटा समझो इतना हमने कह दिया, अधिक नहीं कहना है।

कुछ क्षण पश्चात् वे बोल उठे—तुम्हारे लिये हमारा आदेश है कि तुम हमारा जीवन-चरित्र मत लिखो।

मैं बोला—महाराज! यह तो आपकी बडी कडी आज्ञा है। मैं अपने गुरु के गौरव से जगत को परिचित कराकर गुरू की सेवा तथा लोक हित करना चाहता हूँ। उस विषय में आप क्यों प्रतिबंध उपस्थित करते हैं? आपकी अस्सी वर्ष की अवस्था पूर्ण होने को है। धार्मिक समाज उत्सव मनाकर धर्म प्रभावना करना चाहती है। उसकी इच्छानुसार एक अभिनंदन ग्रंथ भी प्रकाशित करने की आयोजना होने को है और वह भार मेरे ऊपर रखा गया है।

महाराज बोले—हमें अभिनंदन ग्रंथ वगैरह कुछ नहीं चाहिये उत्सव भी नहीं चाहिये। अब हमारी जीवन घडी में बारह घंटा पूर्ण होने में थोडा समय शेष है। सूरज डूबने को थोडा समय बाकी है। अब हमें चुपचाप आत्मा का ध्यान करना है। हमें और कोई चीज नहीं चाहिये।

मैंने कहा—महाराज आप अपने समय पूर्ण होने की बात कहते हैं, तो क्या आपको इस विषय में भान सा हो गया है।

महाराज बोले—अब हम अस्सी वर्ष के हो गए हैं, अब और कितने दिन जीवित रहेंगे। इससे हमें अपनी कीर्ति आदि की झंझट नहीं चाहिए। सम्मान नहीं चाहिए। तुम हमारी स्तुति प्रशंसा में ग्रंथ मत लिखना।

मैं बोला—महाराज यदि ग्रंथ लिख लिया तो इस दोष का प्रायश्चित आपके चरणों में आकर ले लूंगा। आपके जीवन का परिचय पाकर जो जगत को सुख और शांति तथा प्रकाश मिलेगा, वह आपके दृष्टि पथ में नहीं है। आपकी महत्ता दूसरे अनुभव करते हैं।

महाराज बोले—हम यह चुके हमें कोई कीर्ति, मान, यश नहीं चाहिए।

मेरे पास उन महान आत्मा के आगे और प्रार्थना करने के शब्द शेष नही थे। मैं असमजस में पड गया। सुशीलकुमार ने भी अनुज्ञा के लिए अभ्यर्थनाए की, किन्तु उन निस्पृह वीतराग मूर्ति का यह राग की बात न जची।

हमारा बबई को प्रस्थान करना आवश्यक था, अत हमने चुपचाप गुरु चरणो को प्रणाम किया और उनका अनत आशीर्वाद प्राप्त कर वहा से चल दिये। मार्ग में विचार में निमग्न रहे आए। अब क्या किया जाय ? एक यात्री बन्धु के पास एक धार्मिक पुस्तक थी, उसे देखन को ले लिया, उसमें लिखा था बडो की आज्ञा भी कभी कभी नही मानने में कल्याण होता है। मैंने ध्यान से उस अश को पढा। लिखा था, तुम पूज्य पुरुषो की वैयावृत्य कर रहे हो, वे तुम्हारे कष्ट का विचार कर कहे, अब वैयावृत्य न करो। उस स्थिति मे यदि तुम सेवा करके उनके कष्ट को दूर करते हो तो तुम शब्दश उनके आदेश का पालन नही करते हो, किन्तु वास्तव में तुम उनकी सेवा ही कर रहे हो, उसका श्रय तुमको मिलेगा ही। तुम्हें अलाभ नही होगा।

इसे बाचते ही मन में विचार आया, कि लोकोत्तर श्रेष्ठ आत्मा की आज्ञा का उल्लघन भी न हो, और कार्य भी बन जाय ऐसा कोई मध्यवर्ती मार्ग मिल जाय, तो बडा सुन्दर होगा। आचार्य श्री यथार्थ में असाधारण आध्यात्मिक विभूति हैं। उनका यश अपयश की सकीर्णता से ऊचा उठ जाना उनके आत्म विकास और विशुद्ध दृष्टि के द्योतक हैं। बडा से बडा भी व्यक्ति इस यश लिप्सा से नही बच सका है। इसी से प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कीर्ति की कामना को सत्पुरुष की अतिम दुर्बलता(Last infirmity of noble mind) कहा है। महापुरुष तक इस रोग से नही बचे है, किन्तु आचार्य महाराज में यह विकृति भी नही है, ऐसी पूज्यनीय आत्मा के विषय में जानने वाले व्यक्ति का मौन रखना जनहित की दृष्टि से अक्षम्य अपराध ही माना जायगा।

आचार्य श्री की पवित्र जीवनी हमारे लिए श्रद्धा की वस्तु है, क्योकि उनके पद पर चलने की क्षमता साधारण पुण्य की बात नही है। सपूर्ण परिग्रह का त्यागकर अंत बाह्य निर्ग्रन्थ वृत्ति का पाना असामान्य सौभाग्य की बात है। आत्मानुशासन में लिखा है—

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनम्
सहार्य्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकश्रमफलम् ।
मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरायाति विमृशन् ।
न जाने कस्येयं परणति रुदारस्य तपसः ।। ६७ ।।[१]

हम नहीं जानते कि यह किस महान तप का विपाक है, जो मुनिजन स्वतन्त्रता के साथ विहार करते हैं, आत्म गौरव पूर्वक आहार ग्रहण करते हैं, गुणी व्यक्तियों के सहवास में रहते हैं, शान्त भाव ही है, परिश्रम का फल जिनके ऐसे, ज्ञान के धारक हैं, तथा जिनका प्रशान्त-चित्त अन्तर्दृष्टि में निमग्न रहकर बहुत समय पश्चात् बहिर्मुखता धारण करता है ।

वहां यह भी कहा है —

विरतिरतुला शास्त्रे चिन्ता तथा करुणापरा ।
मतिरपि सदैकान्तध्वान्त प्रपंच विभेदिनी ।
अनशन तपश्चर्या चान्ते यथोक्त विधानतो ।
भवति महता नाल्पस्येद फलं तपसो विधेः ।। ६८ ।।[२]

महापुरुषों का विषय-त्याग अतुलनीय होता है । शास्त्र सम्बन्धी चिन्ता उनके पास रहती है । सम्पूर्ण जीवों पर करुणा करने में तत्पर रहते हैं, उनकी बुद्धि सर्वदा एकान्त दृष्टि के अंधकार के प्रसार को दूर करती है तथा अन्त

---

१ I do not know of what noble austerities is this the result that-(an ascetic) moves about at will (gets) food without humility, (has) company of the saints (has) knowledge with calmness as fruit of hard study and (his) tranquil mind (being deeply absorbed in) contemplating (upon the self) comes out after long intervals to external (objects.)

२ The high minded (saints) have unique Renunciation (of worldly attachments), contemplation of the scriptures, unlimited compassion (towards the living world) also an intellect capable of ever dispelling the illusion of sticking to one-sided view of a thing and lastly the austerity of fasting according to rules laid down (in the sacred books). This is the result of practising high and not small austerities.

J. L. Jaini : 'Atmanushasan' P. 23

में वे आगम के अनुसार अनशन तप करते हैं। ऐसी वृत्ति अल्प तपश्चर्या का फल नहीं है।

ऐसे पवित्र आत्म-पथ पर अवस्थित आचार्य श्री की अनुपम तथा असाधारण अवस्था की जब तक जीव को उपलब्धि न हो, तब तक उनके आलोकमय जीवन के प्रति श्रद्धांजलि व्यक्त करना प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य हो जाता है। उन्निनीषु आत्मा का उत्थान इसी उपाय से होता है। यह सोच-कर हमने अभिनन्दन ग्रंथ का विचार छोड़कर श्रद्धांजलि स्वरूप इस ग्रंथ निर्माण का निश्चय किया। यह कार्य मुनीन्द्र कुंदकुन्द स्वामी की धार्मिक देशना के पूर्णतया अनुरूप है, कारण जब तक प्रत्याख्यानावरणादि कषायों का उदय दूर नहीं होता है, तब तक सकल संयम के सत्पथ पर चलने का सौभाग्य किसे प्राप्त हो सकता है? अतः गुरु-चरणों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना आगम सम्मत तथा शिष्टाचार पद्धति के पूर्णतया अनुरूप है यह विचार कर इस कार्य की पूर्ति निमित्त संलग्न हो गये।

उपरोक्त आचार्य की अत्यंत वीतराग परणति के कारण अब कुछ सामग्री पाना, जो उनके बाल्यजीवन, तारुण्य जीवन की विशिष्ट घटनाओं को बतावेगी, असंभव प्राय हो गया। उनकी रुचि एकदम आत्मविचार आत्मध्यान की ओर हो गई है। उनने कार्तिक मास में यही भावना व्यक्त की थी और कहा था, तुम्हें जब चाहे, जितने दिन हमारे पास रहना हो रहो और आत्मा, ध्यान, तत्वचिंतन आदि के बारे चर्चा करनी हो, प्रश्न करना हो, हृदय खोल कर करो। इस स्थिति में पूज्य श्री के साथ, जीवन के पूर्व की अपूर्व घटनाओं का चित्रण करना हमारे हाथ की बात नहीं है। फिर भी भिन्न २ साधनों से जो कुछ भी उनके महामहिम जीवन को जानने की सामग्री उपलब्ध हुई, उसके आधार पर उद्देश्य सिद्धि के क्षेत्र में उद्योग किया जायगा। वादीभसिंह सूरि ने लिखा है, कि थोड़ा भी अमृत रस का पान आनंद कारण होता है 'पीयूषनहि निःशेषं पिबन्नवसुखायते।' अतः जो भी सामग्री प्रस्तुत की जायगी वह यथार्थ में अमृत होगी, जो मुमुक्षु के अमृत पथ प्रस्थान के लिये स्वादु, स्वास्थ्यप्रद पाथेय का कार्य करेगी।

प्रभात

जन्मभूमि जननी जनक आदि का वर्णन

जन संस्कृति के विकास तथा उन्नति के इतिहास पर दृष्टि डालने पर यह ज्ञात होता है कि कैवल्य-सूर्य की रश्मियों से विश्व का मोहान्धकार दूर करने वाले तीर्थंकरों ने अपने जन्म द्वारा उत्तर भारत की भूमि को पवित्र किया तथा निर्वाण द्वारा भी उसे तीर्थस्थल बनाया, किन्तु उनकी धर्ममयी देशना रूप अमृत को पीकर महत्वपूर्ण वीतरागता रस भरे शास्त्रों का निर्माण करने वाले धुरंधर आचार्यों ने अपने जन्म से दक्षिण भारत की भूमि को श्रुति-तीर्थ बनाया। उसी ज्ञानधारा से पुनीत दक्षिण भारत में बेलगाव जिले को नररत्न आचार्य शान्तिसागर महाराज की जन्म भूमि बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। भोजग्राम के समीप लगभग चार मील की दूरी पर विद्यमान ग्राम येलगुल में असाढ कृष्णा ६ विक्रम संवत् १९२९ में बुधवार की रात्रि को इनका जन्म हुआ था। यह ग्राम भोज के अंतर्गत तथा सानिध्य में था, इससे भोज भूमि ही जन्म स्थान है, ऐसी सर्वत्र प्रसिद्धि हुई। उस ग्राम में महाराज के मामा का निवास था। वे वहा के ग्रामपति पाटील थे। उनके जन्म द्वारा मातुल गृह पवित्र हुआ था, यह बात हमें ता १३ सितम्बर सन १९५२ को ज्ञात हुई थी, जब हम पूज्य श्री के जीवन वार्ता जानने के हेतु भोज भूमि तथा कर्नाटक प्रांत के अनेक ग्राम आदि में गए थे।

क्षत्रिय वंश में जन्म

इनका जन्म क्षत्रिय वंश में हुआ था। पिता श्री भीम गौडा पाटिल थे। जननी कहलाने का पुण्य माता सत्यवती को प्राप्त हुआ था। इनकी जाति चतुर्थ जैन थी जिसमें अनेक दीक्षाधारी महापुरुषों का जन्म हुआ था। कोल्हापुर में भगवज्जिनसेन महापुराणकार का मठ जो आज भी विद्यमान है उसके भट्टारक श्री जिनसेन स्वामी चतुर्थ जाति के सत्पुरुष हैं।

कुलीन पूर्वज परंपरा

लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व पीठाधिकारी एक विद्याधर नाम के दिगंबर प्रभावशाली तथा प्रतिभा संपन्न निर्ग्रंथ मुनि हुये हैं, उनका समाधि स्थान बेलगाव जिले के अंतर्गत चिकोडी तालुका का अर्कोवाट ग्राम है। उस स्थान पर आज भी

अमावस्या को वन्दनार्थ श्रावक लोग जाया करते हैं। उनके पश्चात् श्री नेमगौडा, सातगौडा, प्रभावशाली मुनि हुये हैं।

जिस चतुर्थ जाति में महाराज का जन्म हुआ, उसमें बडे २ प्रभावशाली रत्नत्रयधारी तथा वीतराग शासन के प्रभावक नररत्न हुये हैं। इनकी ९ पीढियों का वंश वृक्ष बताता है कि सभी लोग भूमिपति पाटील थे उनके द्वारा धर्म तथा जनता को गौरवान्वित करने वाले महान कार्य सपन्न हुये हैं। इनके जनक तथा जननी का विशुद्ध वंश होने के कारण इनको सप्त परम स्थानों में से प्रथमस्थान 'सज्जातित्व' समलंकृत कहा जायगा। ये सज्जातित्व, सद्गृहित्व, परिव्राजक पद, सुरेन्द्र पद, साम्राज्य पद, अर्हन्तपद तथा निर्वाण पद इन सप्त परम स्थानों—श्रेष्ठपदों में से पदत्रय विभूषित महापुरुष हैं।[1] महापुराण में बताया है कि मनुष्य जन्म के प्राप्त होने पर मुनि दीक्षा धारण के योग्य पवित्र वंश में विशुद्ध जन्म धारण करना सज्जाति है। पिता के वंश की शुद्धता को कुल कहते हैं तथा माता के वंश की निर्मलता को जाति कहते हैं। माता तथा पिता के वंशों की शुद्धता को सज्जाति कहते हैं। इसके होने पर अयत्न प्राप्त गुणों के कारण रत्नत्रय की प्राप्ति सुलभ होती है।[2]

इनके आदिगौडा और देवगौडा नाम के दो ज्येष्ठ बंधु थे। कुमगौडा नाम के अनुज थे। बहिन का नाम कृष्णाबाई था। इनके शात भावों के अनुरूप इन्हें सातगौडा कहते थे। गौडा शब्द भूमिपति—पाटील का द्योतक है। ये तृतीय पुत्र थे, इसीसे मानो प्रकृति ने इन्हे रत्नत्रय और तृतीय रत्न सम्यक्चारित्र का अनुपम आराधक बनाया।

इनकी वंश परम्परा का उस प्रांत में बडा प्रभाव रहा है। यथार्थ में इनके पूर्वज राजा सदृश थे। पहले इनके पूर्वज श्री पद्मगौडा देसाई

---

१ सज्जाति: सद्गृहित्व च पारिव्राज्य सुरेन्द्रता।
साम्राज्य परमार्हन्त्य परनिर्वाणमित्यपि ॥ ६७. पर्व ३८ ॥

२ नृजन्म परिप्राप्तौ दीक्षायोग्ये सदन्वये।
विशुद्ध लभते जन्म सैषा सज्जातिरिष्यते ॥ ८३ पर्व ३८ ॥
पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते।
मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिधीयते ॥ ८५ पर्व ३९ ॥
विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता।
यत्प्राप्तौ सुलभा बोधिरयत्नोपनतैर्गुणैः ॥ ८६. पर्व ३९ ॥ 'महापुराण'

बीजापुर जिले में शालचिद्री स्थल के अधिपति थे। ब्रिटिश शासनकाल में भी अन्य नरेशो के समान इनके पूर्वजो की बात का बडा सन्मान किया जाता था।

दिगम्बर पद के लिए कुलीनता की आवश्यकता

कुछ समय से चतुर्थ जाति में पुनर्लग्न की कुप्रथा प्रचलित हो गयी है, इसलिए भ्रमवश कोई २ यह सोचते है कि आचार्य श्री के वश में भी वह दोष रहा होगा। इसका आश्रय ले वे जघन्य प्रवृत्तियो के प्रचारक पुनर्विवाह को प्रोत्साहन देना चाहते थे। किन्तु जब यह सत्य प्रकाश में आया कि आचार्य श्री के मातृपक्ष और पितृपक्ष परपरा में कहीं भी पुनर्लग्न की कालिमा नही है तब भ्रान्त लोगो को चुप होना पडा। एक बार महाराज के समक्ष इस सम्बन्ध में प्रश्न आया था तब उनने कहा था "कि हमारे घराने में पहले कभी भी पुनर्विवाह नही हुआ है। यदि कोई यह सिद्ध करदे तो हम इस पद को छोडकर छोटे पद को ग्रहण कर लेंगे। यह मुनि दीक्षा हमने आत्म कल्याण के हेतु ली है अहकार पूर्ति के लिये नही। दिगबर जैन शास्त्रो में कहा है कि विशुद्ध वश वाला त्रैवर्णिक ही निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर सकता है।"

भोज भूमि में दो सुन्दर नदिया दूध गगा और वेदगगा मिलकर उसे अपना सगम स्थल बनाये हुई हैं। जब हम उन नदियो के सगम पर पहुचे तब वहा के प्रशात और रम्य वातावरण में यह विचार उत्पन्न हुआ कि ये दोना नदियाँ एक विशष प्रकार की प्रतीक है। वेदगगा ज्ञान की और दूधगगा पवित्र प्रेम, रस भरे उज्वल चरित्र की सूचिका है। हमें प्रतीत होता है कि शातिसागर महाराज का जीवन भी सम्यक् ज्ञान और सम्यक्चारित्र के सगमरूप प्रयागराज के समान आध्यात्मिक तीर्थ रूप बन गया है, जिसके द्वारा विश्व के सभी प्राणधारियो को आध्यात्मिक, अत्यत मधुर और रसमय भोजन प्राप्त होता है। आध्यात्मिक भोजन दान करने वाले श्री भीम के आत्मज की निवास भूमि का भोज नाम बडा अर्थपूर्ण लगता है। यही बात हमने आचार्य श्री के पूर्वजो द्वारा बनाये गये जिन मदिर की पार्श्व भूमि में एकत्रित समाज के समक्ष अपने भाषण में कही थी। हमने तो यह भी कहा था कि विश्व के अनुपम आध्यात्मिक सतराज शातिसागर महाराज की निवास भूमि उनके गुणानुरागी लोगो के लिये तीर्थ स्वरूप लगती है।

यहा कुछ वृद्धो से इनके बाल्य जीवन आदि के विषय में परिचय प्राप्त किया तो ज्ञात हुआ कि ये पुण्यात्मा महापुरुष प्रारभ से ही असाधारण गुणों

के भंडार थे। इनका परिवार बडा सुखी समृद्ध, वैभवपूर्ण तथा जिनेन्द्र का अप्रतिम भक्त था। इनकी स्मरण शक्ति जन साधारण में प्रख्यात थी। इनने माता सत्यवती से सत्य के प्रति अनन्य निष्ठा और सत्य धर्म के प्रति प्राणाधिक श्रद्धा का भाव प्राप्त किया था, ऐसा प्रतीत होता है। अपने प्रभावशाली पराक्रमी, अत्यंत उदार तथा प्रामाणिक जीवन वाले पूज्य पिता श्री भीमगौडा से इनने यह दृढता और गंभीरता प्राप्त की थी जो इन्हें विपत्ति और संकट के समय भीम समान साहस संपन्न रखती आयी है। लोगो ने बताया कि इनमें बच्चो जैसी विवेक विहीन जघन्य प्रवृत्तियाँ नहीं पायी जाती थी। बचपन से ही इनके चिन्ह इस प्रकार के थे कि ये लोकोत्तर महापुरुष बनेंगे इसलिये ये अलौकिक बालक के रूप में प्रत्यक नर नारी के मन को अपनी ओर आकर्षित करते थे। जो भी इन्हें देखता था वह इन्हें गंभीरता, करुणा, पराक्रम और प्रतिभा का पुंज पाता था। इनका शरीर अत्यंत निरोग और सुदृढ, शक्ति सम्पन्न था। इनकी ऐसी कोई चेष्टा नही थी जिसे बात कह कर क्षमा किया जाय। बाल्यकाल में ही इनके जीवन में वृद्धो सदृश गंभीरता और विवेक पाया जाता था। उससे यह प्रतीत होता था कि ये जन्मान्तर के महापुरुष इस भरतखंड के लोगो को धर्मामृत पान कराने के लिये ही बाल शरीर धारण कर भव्य भोज भूमि में आविर्भूत हुये हैं और संपूर्ण भव्या का कल्याण करने वाले वीरशासन के धर्मचक्रधारी सत्पुरुष हैं।

लोगों से ज्ञात हुआ कि इनकी प्रवृति असाधारण थी। ये विवेक के पुंज थे। बाल्य काल में बाल सूर्य सदृश प्रकाशक और सब के नेत्रों को प्यारे लगते थे। ये जिस कार्य में भी हाथ डालते थे उसमें प्रथम श्रेणी की सफलता प्राप्त करते थे। प्रथम श्रेणी में भी प्रथम स्थान इनका प्रत्येक पवित्र कलात्मक कार्य में रहा है। अध्ययन के अल्पतम साधन उपलब्ध होते हुये भी इनका असाधारण क्षयोपशम और लोकोत्तर प्रतिभा बडे २ विद्वानो और भिन्न भिन्न धर्मों के प्रमुख पुरुषोको चकित करती थी। यद्यपि ये विद्या के उपाधिधारी विद्वान नहीं थे फिर भी बडे बडे उपाधिधारी ज्ञानी लोग इनके चरणो के पास आकर आत्म प्रकाश प्राप्त करते थे। सदाचार समन्वित और प्रतिभा अलंकृत इनका जीवन यथार्थ में सौरभ सम्पन्न सरोज के समान था और उसके समान ही ये जलतुल्य वैभव से अपने अंतःकरण को पूर्णतया अलिप्त रखते थे।

भोजग्राम के वृद्धों से महाराज की जीवन सामग्री

भोज के वृद्धजनों से तर्क वितर्क द्वारा जो सामग्री मिली उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ये प्रकृति के विश्व-विद्यालय की सर्वश्रेष्ठ परीक्षा में उत्तीर्ण सत्पुरुष रहे हैं। इसीलिये इनके जीवन में पूर्णतया प्राकृतिकता का अधिष्ठान है और उसमें किसी प्रकार की विकृति की कालिमा नहीं दिखाई पड़ती। सत्पुरुषों की जननी और जनक जिस प्रकार अपूर्व गुण सपन्न होते हैं वही विशेषता पुण्यशीला माता सत्यवती और भव्य शिरोमणि श्री भीम गौड़ा पाटील के जीवन में थी। उनका गृह सदा बड़े २ महात्माओं सत्पुरुषों और उज्वल त्यागियों की चरणरज से पवित्र हुआ करता था। जब भी कोई निर्ग्रन्थ दिगंबर मुनिराज या अन्य महात्मा भोज ग्राम में आते तो अतिथि-संविभाग कार्य में अत्यन्त प्रवीण पुण्यशीला माता सत्यवती के भवन को अवश्य पवित्र करते थे। वहां श्रद्धा, भक्ति, विवेक, विनय आदि सब प्रकार के आन्तरिक साधन तथा वैभवशाली होने के कारण बाह्य सामग्री संतो की सेवा के लिये सर्वदा उपस्थित रहती थी। बड़े बड़े मुनिराज तथा तपस्वी लोग भोजग्राम के भूपति तुल्य श्री भीमगौड़ा पाटील के यहां पधारते थे, जहा बालक सातगौड़ा उनकी सेवा में तत्पर रह, उनके जीवन में धर्म के विकसित तथा परिपक्व स्वरूप को देखा करता था, तथा उनके जीवन से उज्वल जीवन बनाने की श्रेष्ठ कला सीखा करता था। यही बड़ी शिक्षा भाग्यशाली भव्य बालक को दिगंबर श्रमणों के निकट संपर्क से मिलती रही जिसके कारण कुमार काल में ही भोगों की दासता को छोड़ तपस्वी, मुनि बनने की प्रबल लालसा मन में उत्पन्न हो गयी थी। विदुषी धर्मवती माता से तीर्थंकरों का चरित्र, मोक्षगामी पुरुषों की बातें तथा रत्नत्रय को पुष्ट करने वाली शिक्षा प्राप्त हुआ करती थी। वातावरण भी अलौकिक धार्मिक मनोवृत्ति को विकासप्रद सामग्री प्रदान करता था। परिवार का उज्वल वातावरण जीवन पर कैसा प्रभाव डालता है, यह बात भोज भूमि में हमारे स्वयं दृष्टिगोचर हुई।

महाराज के परिवार में उच्च संस्कार

इस वर्ष सन १९५२ के ११ सितंबर को अष्टमी के दिन हमें उस पवित्र घर में भोजन मिला जहाँ आचार्य महाराज रहा करते थे। उस दिन हमारे लिये लवण आदि षटरस विहीन भोजन बना था। मैं भोजन करने बैठा। पास में महाराज के भाई का नाती भीमकुमार भोजन कर रहा था।

बालक भीम की थाली में बिना नमक का भोजन आया, इसलिए उसने अपनी माता से कहा "माता मुझे नमक चाहिए।"

पास में बैठी हुई लगभग १० वर्ष की वय वाली बालिका बहन सुशीला बोल उठी "भैया, जब तुम स्वामी (मुनि) बनोगे तब तो बिना नमक का आहार लेना होगा। उस समय नमक कैसे मांगोगे ?"

उस समय इन भाई और बहिन की स्वाभाविक बातचीत सुनकर मेरी समझ में आया कि परिवार की पवित्रता का पुत्रादि के जीवन पर कैसा प्रभाव पडा करता है। उस घर ने आचार्य शांतिसागर महाराज सदृश महापुरुष को जन्म दिया, उसी में श्री देवगौडा नाम के, महाराज के ज्येष्ठ बन्धु ने निवास किया जो आज दिगंबर मुनि श्री वधमान सागर के रूप में ९२ वर्ष की अवस्था में निर्दोष रीति से रत्नत्रय धर्म का पालन कर रहे हैं। जब हमने कोल्हापुर के समीप जाकर किसी ग्राम में उनके दर्शन ८ सितंबर को किये तब अवर्णनीय आनन्द प्राप्त हुआ। उनकी शांति, तपस्या, मार्मिकता, ध्यान निमग्नता तथा वीतरागता दर्शक के अंतःकरण को अत्यन्त आनन्दित करती है। वे आचार्य महाराज से १० वर्ष ज्येष्ठ हैं। जिस घर में ऐसे दो पवित्र जीवन वाले सचमुच में महान आत्माओं का निवास रहा उसका जीवित प्रभाव उपर्युक्त भाई बहनों की बातचीत के रूप में स्पष्ट हुआ। हमें स्मरण आया कि मीमांसा शास्त्र का महान विद्वान मंडन मिश्र कहां रहता है, ? ऐसा प्रश्न उपस्थित हुआ तब किसी व्यक्ति ने जिज्ञासु से कहा था कि 'जिस स्थल में रहने वाले तोता आदि पक्षीगण न्यायशास्त्र की पंक्तियों का इस प्रकार उच्चारण कर रहे हों-'स्वतः प्रमाणं, परतः प्रमाणं,' वहां ही मीमांसा शास्त्र के मंडनमिश्र का निवास है, यह जानना चाहिये। इसी प्रकार यदि किसी के चित्त में इस बात को जानने की इच्छा हो कि भोज भूमि में किस जगह आचार्य शान्तिसागर महाराज ने रहकर अपना पुण्य जीवन व्यतीत किया था तो हम उसे यही कहेंगे कि उनका घर उसी भूमि को जानना चाहिये जहां भाई-बहन के बीच में मुनि जीवन की पूर्वोक्त चर्चा चला करती है। सचमुच में जो शिक्षा बडे बडे विश्व-विद्यालयों के द्वारा नहीं प्राप्त हो पाती, वह उज्ज्वल परिवार के लोगों

---

१ स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरः गिरन्ति।

से प्राप्त होती है। बाल्यजीवन मे माता-पिता के संस्कार शिशु के अंतःकरण पर बीज रूप मे अंकित हो जाते है, जो आगामी जीवन में सहस्त्र गुणित वृध्दि को प्राप्त हो बालक को लोकोत्तर महापुरुष बनाते हैं।

बाल्य जीवन पर परिवार का प्रभाव

गान्धी जी के जीवन पर गुजरात में विद्यमान अहिंसात्मक जीवन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। गान्धीजी ने अपनी आत्म कथा में बताया है कि उनके जीवन पर उनके माता पिता का बड़ा प्रभाव पड़ा था। अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है " मेरे पिता जी सत्यप्रिय और उदार थे। धन सचय करने का लोभ पिता जी को कभी नही हुआ था। माता जी बडी साध्वी स्त्री थी। इस बात की याद मेरे हृदय में गहरी छाप की तरह अंकित है। जब से मैंने होश सम्हाला, तब से कभी भी उन्होने चातुर्मास व्रत भंग किया हो ऐसा मुझे स्मरण नही है। वे कडे से कडे व्रत को ग्रहण कर लेती थी और उसे अंत तक निबाह ले जाती थी। जो व्रत वे एक बार ले लेती, उसके लिये यदि वे बीमार पड जाती तो भी उसे छोडती नही थी" (पृष्ट १३, 'आत्मकथा') गान्धी के धामिक विचारो पर उनकी माता तथा पिता का कितना अधिक प्रभाव पडा यह निम्नलिखित कथन से स्पष्ट होता है "राजकोट में यह शिक्षा मिली कि सब सम्प्रदायों के प्रति सम्मान का भाव रखना चाहिये। हिन्दू धर्म के सब सम्प्रदायो के प्रति सम्मान का भाव रखना मैंने सीखा था, क्योंकि माता जी और पिता जी विष्णु मन्दिर जाते, शिवालय मे जाते और राम मंदिर में भी जाते थे। हम लोगों को भी, कभी तो वे अपने साथ ले जाते और कभी वे हमें भेज दिया करते थे। इसके सिवाय पिताजी के पास बीच बीच में कोई जैन धर्माचार्य आया ही करते थे। पिताजी उन्हे सम्मान से रखते और भोजनादि कराते थे। वे लोग ससारिक और धार्मिक विषयो की चर्चा किया करते थे। इनके सिवा पिताजी के कई पारसी और मुसलमान मित्र भी थे। जब वे लोग आपस में बातें करते तब सेवाशुश्रूसा में लगे रहने के कारण मै भी वहा' मौजूद रहा करता था। इस वातावरण में रहने का जो प्रभाव मेरे ऊपर पडा उसका फल यह हुआ कि सब धर्मों के प्रति मेरे हृदय में समान सम्मान का भाव जम गया। (५७-आत्मकथा)"

छत्रपति शिवाजी पर उनकी माता जीजाबाई का गहरा असर

पड़ा था। सब प्रवृत्तियाँ जब मोम की तरह मुलायम रहती है, उस समय जीवन पर माता पिता के अमिट संस्कार पड़ा करते हैं।

भारतीय गणतन्त्र के अध्यक्ष डा० राजेन्द्रप्रसाद अपनी 'आत्मकथा' में अपनी माता के प्रभाव के विषय में लिखते हैं, "माता और दादी मुझे बहुत प्यार करती। बचपन से ही मेरी यह आदत थी कि मैं सध्या को बहुत जल्द सो जाया करता था और उधर कुछ रात रहते ही बहुत सवेरे ही जाग जाता था। जाडो में खास कर लम्बी रात होने के कारण रात रहते ही नीद टूट जाती और उसी समय से मा को भी नहीं सोने देता। रजाई के भीतर ही भीतर उनको जगाता। वह जाग कर परानी (प्रभाती) भजन सुनाया करती। उन भजनों और कथाओ का असर मेरे दिल पर बहुत पडता" (पृष्ठ ५)। सरदार वल्लभभाई पटेल ने राजेन्द्र बाबू के सबंध में पुस्तक के प्राक्कथन में लिखा है "श्री राजेन्द्र बाबू को देखते ही उनकी सरलता और नम्रता की छाप हमारे दिल पर पडती है"। ये नैसर्गिक गुण माता की सत्प्रवृत्तियों के फल स्वरूप ही प्राप्त हुए।

आचार्य श्री के जीवन पर उनके माता पिता की धार्मिकता का बडा प्रभाव था। सन् १९४८ के दशलक्षण पर्व में फलटन नगर में उनने बताया था, "हमारी माता अत्यधिक धार्मिक थी, वह अष्टमी चतुर्दशी को उपवास करती तथा साधुओ को आहार देती। हम भी बचपन से ही साधुओं को आहार देने में योग दिया करते थे, उनके कमन्डलु को हाथ में रखकर उनके साथ साथ जाया करते थे। छोटी अवस्था से ही हमारे मन में मुनि बनने की लालसा जाग गई थी।" अपने पिता जी के विषय में उनने बताया था कि वे प्रभावशाली, बलवान, रूपवान, प्रतिभाशाली, ऊचे पूरे क्षत्रिय थे। वे शिवाजी महाराज सरीखे दिखते थे। उनने १६ वर्ष पर्यन्त एक बार ही भोजन पानी के नियम का निर्वाह किया था। उनने १६ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत रखखा था। उन जैसा धर्माराधनापूर्वक सावधानी सहित समाधिमरण मुनियों के लिये भी कठिन है। एक दिन पिता जी ने हमसे कहा, "उपाध्याय को बुलाओ, उसे दान देकर अब हम यम समाधि लेना चाहते है।" हमने पूछा, "आप मर्यादित काल वाली नियम समाधि क्यो नहीं लेते ?" पिता जी ने उत्तर दिया, "अब हमें अधिक समय तक नही रहना है इसलिये हम यम समाधि लेते हैं।" उस समय

हम लोगों ने उनको धर्म की बात सुनाने का कार्य निरंतर किया, दिन के समान सारी रात भी धर्माराधना का क्रम चलता रहा। प्रभात काल में पिता जी के प्राण सूर्य उदय के पूर्व ही पच परमेष्ठी का नाम स्मरण करते करते निकल गये। उस समय वे लगभग ६५ वर्ष के थे।" अपनी माता के विषय में आचार्य श्री ने बताया था, "हमारी माता का समाधिमरण १२ घंटे में हो गया था"। ऐसे धार्मिक परिवार में ऐसे विश्व दीपक, अनुपम नररत्न का जन्म, संवर्धन तथा पोषण हुआ था।

यह कहावत सत्य है कि पूत के ढग पालने में ही दिख जाते हैं। क्रूर बनने वाला व्यक्ति अपने बचपन में ही सर्प के समान कुटिल क्रूर वृत्ति को दिखाया करता है। कहते हैं शाहजहा ने औरंगजेब को तत्वज्ञान की शिक्षा देने के लिये एक अच्छे विद्वान को नियुक्त किया था, किन्तु अत्याचारी शासक बनने वाले औरंगजेब को बाल्यकाल में तत्वज्ञान की बातें नीरस और सारशून्य लगती थी। औरंगजेब ने अपने शिक्षक मौलवी को एक पत्र में लिखा था "आपने मेरे पिता शाहजहा से कहा था कि आप मुझे तत्वज्ञान की शिक्षा देंगे। यह सत्य है, मुझे यह अच्छी तरह स्मरण है कि आपने मुझे ख्याली बातें बरसों तक बताई, जिनके द्वारा मन को जरा भी संतोष नहीं होता था, और उनकी मानव समाज को आवश्यकता भी नहीं है। कोरे विचार और सारशून्य कल्पनायें थी वे। उनमें केवल इतनी बात थी कि वे कठिनता से समझ में आती थी और सरलता पूर्वक विस्मृत हो जाती थी। .... क्या आपने कभी यह सिखाना भी सोचा कि किस प्रकार किसी नगर का घेरा डाला जाता है या किस प्रकार किसी सेना को संग्रामार्थ सन्नद्ध किया जाता है। इन बातों के विषय में तो मुझे आपके स्थान में दूसरों का आभार मानना पड़ेगा।" [१]

---

१ Aurangzeb in a letter to his tutor writes, "You told my father Shah Jehan that you would teach me philosophy... it's true, I remember only well that you have entertained me for many years with airy questions of things, that afford no satisfaction to the mind and are of no use in human society, empty notions and mere fancies that have only this in them that they are very hard to understand and very easy to forget.

Have you ever taken care to make me learn what it's to besiege a town or to set an army in array. For these things

बालयोगी का जीवन

आचार्य श्री को चरित्र या चक्रवर्ती बनाना था, इसलिये इनके बाल्य जीवन में विकृतियों पर विजय की तैयारी दिखती थी। ये बालयोगी सरीखे दिखते थे। भोज ग्राम में जो शिक्षण उपलब्ध हो सकता था वह इनने प्राप्त किया था। इनकी मुख्य शिक्षा वीतराग महर्षियों द्वारा रचे गये, रत्नत्रय का वैभव बताने वाले शास्त्रों के स्वाध्याय रूप में थी। अनुभवजन्य शिक्षा का इनके जीवन में प्रमुख स्थान था। गांधी जी के पिता को भी यही शिक्षा मिली थी। उनने लिखा है "पिता जी को कुछ शिक्षा मिली थी। वह अनुभवजन्य थी। इतिहास या भूगोल की शिक्षा तो उन्हें बिलकुल ही नहीं मिली थी पर उनका व्यावहारिक ज्ञान इतना अधिक और उत्तम था कि सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों या प्रश्नों का समाधान करना अथवा हजारों आदमियों से काम निकाल लेना उनके लिये बायें हाथ का खेल था। इन कामों लिये उन्हें तनिक भी कठिनाई नहीं होती थी।" (आत्मकथा पृष्ठ १३)

अनुभव के आधार पर प्राप्त ज्ञान बड़ा खरा, सच्चा और मार्मिक होता है। अनेक प्रतापी नरेशों के विषय में कहा जाता है कि उनका ज्ञान और अनुभव सत्संगति के निमित्त से विकसित हुआ था। विश्व के विद्वानों द्वारा अपनी अपूर्व उक्ति और सूझ के लिये पूजित कविरा—कबीरदास ने किसी को अपना गुरु बनने का कष्ट नहीं दिया था। इस प्रकार प्रायः महापुरुष अनुभव की शाला में शिक्षण लाभ करते हुये देखे जाते हैं। आचार्य श्री की धारणा-शक्ति अद्भुत रही है। बाल्य जीवन की तो बात निराली, अभी ८० वर्ष की अवस्था में भी तरुण विद्वानों को चकित करने वाली उनकी धारणा शक्ति है। ऐसे क्षयोपशम के कारण सत्संग और शास्त्र चिंतन से उन्हें अपार लाभ पहुंचा। आचार्य सोमदेव कहते हैं "नरेश अध्ययन के अभाव में भी विशिष्ठ व्यक्तियों के संपर्क द्वारा उत्कृष्ट प्रवीणता को प्राप्त करते हैं।"[1]

सर्व प्रियता

अपने सद्गुणों के कारण चरित्र नायक सर्व प्रिय थे। जब वे नौ वर्ष के हुये, तब माता पिता ने ६ वर्ष की

I am obliged to others and not at all to you."

A treasury of the world's great letters Ed. by M. Lincoln SCHUSTER 1941 pp. 90-91

१ अनधियानोपि विशिष्ट जनसंपर्कात्परा व्युत्पत्तिमवाप्नोति ॥

'नीतिवाक्यामृत, विद्यावृद्ध समुद्देश ॥ ६३॥'
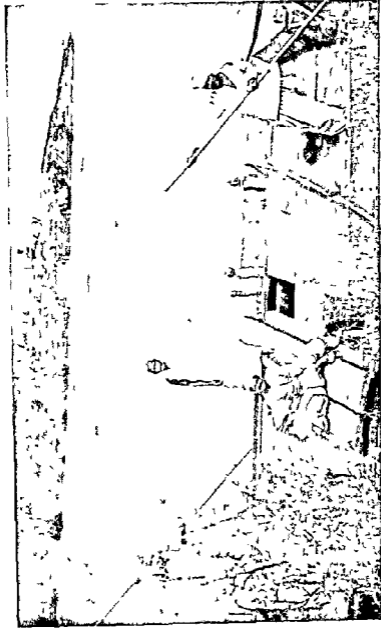
वेदगगा, दूधगगा सगम का एक भव्य दृश्य। नाव पर बैठे हुए लेखक हैं।

पर जरा भी नहीं दबता था। विशुद्ध ब्रह्मचर्य तथा वीर्यान्तराय कर्म का विशेष क्षयोपशम होने के कारण ही आज घोर तपश्चर्या और अनशन करने के पश्चात भी अस्सी वर्ष की अवस्था में उनमें आसन का स्थैर्य है, गमनागमन की शक्ति है, जिसे देखकर अच्छे अच्छे शक्तिशाली भी दाँतों तले अगुली दबाते है।

मैंने पूछा—"महाराज आपके वैराग्य के परिणाम कब से थे ?

महाराज—"छोटी अवस्था से ही हमारे त्याग के भाव थे। १७ या १८ वर्ष की अवस्था में ही हमारे निर्ग्रन्थ दीक्षा लेने के परिणाम थे। जो पहले बडे बडे मुनि हुए हैं, वे सब छोटी ही अवस्था में निर्ग्रन्थ बने थे।"

पिता की आज्ञा का पालन

मैंने पूछा—"फिर कौन सी बात थी, जो आप उस समय मुनि न बन सके ?"

महाराज—"हमारे पिता का हम पर बडा अनुराग था। पिता जी ने आग्रह किया कि 'जब तक हमारा जीवन है, तब तक तुम घर में ही रहकर धर्म साधन करो। तुम्हारे घर से बाहर चले जाने से हमें बडा संक्लेश होगा। योग्य पुत्र का कार्य पिता को क्लेश उत्पन्न करने का नही है। अत पिता जी के आग्रहवश हमें घर में रहना पडा, फिर भी हम अत्यन्त उदास रहते थे। हमारी किसी भी लौकिक कार्य में रुचि नही थी।"

एक दिन महाराज से उनके धार्मिक परिवार के विषय में चर्चा चलाई। सौभाग्य की बात है कि उस समय उनके पूर्वजो के बारे में भी कुछ बातें विदित हुई। महाराज ने बताया—

"हमारे आजा का नाम गिरिगौडा था। हमारे यहा सात पीढी से पाटील का अधिकार चला आता है। पाटील गाव का मालिक, रक्षक होता है। उसे एक माह पर्यन्त अपराधी को दण्ड देने तक का अधिकार रहता है।" महाराज ने यह भी बताया कि "हमारे पूर्वज सभी धार्मिक जमीदार थे। मुनितुल्य उनकी धर्म में निष्ठा रहती रही थी। बारंग्राम की पाटीली थी। पहले हमारे पूर्वज कर्णाटक में रहते थे। वहा से टीपू के कारण भोजग्राम में आये थे।"

बालिका के साथ इनका विवाह कर दिया । दैवयोग से उस लड़की का छह माह के बाद मरण भी हो गया । महाराज ने बताया था कि, "हमने उसे अपनी स्त्री के रूप में कभी नहीं जाना।" पहले माता पिता अपने मनोविनोद को प्रमुख बना घर में पुत्रवधू लाने की ममता, तथा मोह के कारण छोटी सी अवस्था में, जब कि सचमुच दूध के दाँत नहीं टूटते थे, विवाह कर दिया कर देते थे। गाधी जी का विवाह तेरह वर्ष की अवस्था में हो गया था।[१] गांधी जी लिखते है, "तेरह वर्ष की उम्र में मेरी शादी हुई थी, यह कहते हुये मुझे खेद होता है। आज दिन मेरे समक्ष बारह तेरह वर्ष के जो लड़के मौजूद हैं उन्हें देखकर और अपने विवाह की बात सोचकर मुझे अपनी उस अवस्था पर दया आती है और उन्होंने जो इस उम्र में अपनी शादी नहीं की है, इसके लिए उन्हें बधाई देने को जी चाहता है।" (पृष्ठ१८-१९ आत्मकथा)

बाल ब्रह्मचारी का जीवन

जब चरित्रनायक अठारह वर्ष के हुए तब माता पिता ने इनसे फिर विवाह की चर्चा चलाई। इनने अपनी अनिच्छा प्रगट की। इस पर पुनः आग्रह होने लगा, तब इनने कहा, "यदि आपने पुनः हमें इस गृहजाल में फंसने को दबाया, तो हम मुनि-दीक्षा ग्रहण कर लेंगे।" इस भय से पुनः विवाह के लिये आग्रह नही किया गया। इस प्रकार पूज्य श्री बाल्य जीवन से ही निर्दोष ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते चले आ रहे हैं, अतः शरीर बड़ा बलसंपन्न रहा है।

व्यायाम में चार छह आदमियों को जरा में गिरा देते थे। जिसका पंजा इनने पकड़ लिया, उसे छुडाना उसके लिये असंभव था। अच्छे हृष्ट-पुष्ट, बैलों की जोड़ी द्वारा जो पानी की मोट खेंची जाती है, उसे ये अकेले खेंच लेते थे। दूर तक कूदने में इनके समकक्ष खोजने पर भी नहीं मिलेगा। शरीर वज्र की तरह कड़ा था। जब महाराज का संघ शिखर जी को गया था, तब वैयावृत्य करने वाले व्यक्ति कहते थे कि महाराज का पैर दबाने

---

१ Mohanchand Karamchand Gandhi married when he was a High School pupil aged I3. He had been engaged three times, of course without his knowledge. " I have faint recollection" he reports "that the third betrothal took place in my seventh year" but he was not informed. He was told six years later, a short time before the wedding.

Fischer, 'The Life of M. Gandhi' P. 29

भोजग्राम की वेदगगा दूधगगा का सगम जहा महाराज अपन कध पर आदिसागर जी को रखकर नदी पार करते थ।

बालिका के साथ इनका विवाह कर दिया। दैवयोग से उस लड़की का छह माह के बाद मरण भी हो गया। महाराज ने बताया था कि, "हमने उसे अपनी स्त्री के रूप में कभी नहीं जाना।" पहले माता पिता अपने मनोविनोद को प्रमुख बना घर में पुत्रवधू लाने की ममता, तथा मोह के कारण छोटी सी अवस्था में, जब कि सचमुच दूध के दांत नहीं टूटने थे, विवाह कर दिया कर देते थे। गांधी जी का विवाह तेरह वर्ष की अवस्था में हो गया था।[१] गांधी जी लिखते हैं, "तेरह वर्ष की उम्र में मेरी शादी हुई थी, यह कहते हुये मुझे खेद होता है। आज दिन मेरे समक्ष बारह तेरह वर्ष के जो लड़के मौजूद हैं उन्हें देखकर और अपने विवाह की बात सोचकर मुझे अपनी उस अवस्था पर दया आती है और उन्होंने जो इस उम्र में अपनी शादी नहीं की है, इसके लिए उन्हें बधाई देने को जी चाहता है।" (पृष्ठ १८-१९ आत्मकथा)

बाल ब्रह्मचारी का जीवन

जब चरित्रनायक अठारह वर्ष के हुए तब माता पिता ने इनसे फिर विवाह की चर्चा चलाई। इनने अपनी अनिच्छा प्रगट की। इस पर पुनः आग्रह होने लगा, तब इनने कहा, "यदि आपने पुनः हमें इस गृहजाल में फसने को दबाया, तो हम मुनि-दीक्षा ग्रहण कर लेंगे।" इस भय से पुनः विवाह के लिये आग्रह नहीं किया गया। इस प्रकार पूज्य श्री बाल्य जीवन से ही निर्दोष ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते चले आ रहे हैं, अतः शरीर बड़ा बलसंपन्न रहा है।

व्यायाम में चार छह आदमियों को जरा में गिरा देते थे। जिसका पंजा इनने पकड़ लिया, उसे छुड़ाना उसके लिये असंभव था। अच्छे हृष्ट-पुष्ट बैलों की जोड़ी द्वारा जो पानी की मोट खेंची जाती है, उसे ये अकेले खेंच लेते थे। दूर तक कूदने में इनके समकक्ष खोजने पर भी नहीं मिलेगा। शरीर वज्र की तरह कड़ा था। जब महाराज का संघ शिखर जी को गया था, तब वैयावृत्य करने वाले व्यक्ति कहते थे कि महाराज का पैर दबाने

---

१ Mohanchand Karamchand Gandhi married when he was a High School pupil aged 13. He had been engaged three times, of course without his knowledge. "I have faint recollection" he reports "that the third betrothal took place in my seventh year" but he was not informed. He was told six years later, a short time before the wedding.

Fischer, 'The Life of M. Gandhi' P. 29

लोकस्मृति

आचार्य शातिसागर महाराज के साधु बनने के पूर्व का जीवन किस प्रकार का रहा, इस विषय में उन निस्पृह तथा तत्वदर्शी महान आत्मा से विशेष सामग्री प्राप्त करना असभव देख हमने उनकी निवास-भूमि आदि में विद्यमान व्यक्तियो के पास पहुचकर प्रत्यक्ष चर्चा की एव विविध प्रश्नो के फलस्वरूप कुछ महत्वपूर्ण बातें अवगत की। उनमे प्रमुख स्थान आचार्य महाराज के ज्येष्ठ बन्धु मुनि १०८ श्री वर्धमान सागर महाराज से प्राप्त सामग्री का है, जो बडी कठिनता तथा सत्प्रयत्न से प्राप्त हुई। भोजग्राम के वृद्ध-लोगो से वर्धमान स्वामी के सौरभ सपन्न जीवन की वार्ता विदित हुई। प्रामाणिकता लोकोपकार, दीन दुखी एव सत्पात्रो की सेवा परायणता आदि उनके विशेष गुण थे। उनका स्वभाव बडा मधुर था। उनके सपर्क में आते ही हमें ऐसा लगा मानो हम हिमालय के समीप में आ गए हो। दो दिन उनके पास रहकर जो कुछ सामग्री एकत्रित की जा सकी, वह इस प्रकार है। वे तत्वदर्शी वीतराग महामुनि थे अत कुटुम्ब की चर्चा करना उनकी आत्मा को अनुकूल नही लगता था, फिर भी सौभाग्य से जो भी अल्प सामग्री ज्ञात हुई वह अत्यत महत्व की है। अनक प्रश्नो के उत्तर रूप में इस प्रकार सामग्री प्राप्त हुई।

वर्धमान स्वामी ने बताया 'हमारे माता पिता महान धार्मिक थे। धार्मिक पुत्र अर्थात् महाराज पर उनकी अपार प्रीति थी। महाराज जब छोटे शिशु थे, तब सभी लोगो का उन पर बडा स्नेह था। वे उनको हाथो-हाथ लिए रहते थे। वे घर म रह ही नही पाते थे। बस्ती भर के वे ममत्व पात्र थे।"

मैंने पूछा-- "स्वामिन ससार के उद्धार करने वाले महापुरुष जब माता के गर्भ में आते है, तब कुछ शुभ-शकुन कुटुम्बियो आदि को दिखते है। माता को भी मगल स्वप्न आदि का दर्शन होता है। आचार्य महाराज सदृश रत्नत्रय धारको की चूडामणि रूप महान विभूति का जन्म कोई साधारण घटना नही है। कुछ न कुछ अपूर्व बात अवश्य हुई होगी ?"

शुभ दोहला

उनने कुछ काल तक चुप रहकर पश्चात् बताया "उनके गर्भ में आने पर माता को दोहला हुआ था कि एक सौ

आठ सहस्र दल वाले कमलों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करूं। उस समय पता लगाया गया कि वहा ऐसे कमल मिलेंगे। कोल्हापुर के समीप के तालाब मे वे कमल विशेष प्रबन्ध तथा व्यय द्वारा लाये गये और भगवान की बड़ी भक्ति पूर्वक पूजा की गई।" उनने कहा "उस समय मेरी अवस्था दस वर्ष के लगभग थी।" आचार्य श्री के जन्म के विषय मे उनने बताया कि भोजग्राम से लगभग तीन मील की दूरी पर येलगुल ग्राम है। वहां हमारे नाना रहते थे। उनके यहा ही महाराज का जन्म हुआ। महाराज के जन्म की वार्ता ज्ञात होते ही सबको बड़ा आनन्द हुआ था। ज्योतिषी से जन्म पत्रिका बनवाई गई। उसने बताया था कि यह बालक अत्यन्त धार्मिक होगा। जगत भर में प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा तथा संसार के प्रपच में नहीं फंसेगा।" उनने मेरे प्रश्न का उत्तर यह दिया कि "महाराज का शरीर अत्यन्त निरोग था। कभी भी इनका मस्तक नही दुःखता था। हां! एक बार तीन वर्ष की अवस्था में ये बहुत बीमार हो गये थे। रक्त के दस्त होते थे। उस समय इनका जीवन रहता है या नही ऐसी चिन्ता पैदा हो गई थी, किन्तु एक बाई ने दवा दी, उससे ये अच्छे हो गए। इसके सिवाय और कोई रोग नही हुआ।"

असाधारण शक्ति

आचार्य महाराज का शरीर बाल्य काल में असाधारण शक्ति संपन्न रहा है। चावल के लगभग चार मन के बोरों को सहज ही वे उठा लेते थे। उनके समान कुश्ती खेलने वाला नही था। उनका शरीर पत्थर की तरह कड़ा था। कुए से मोट द्वारा पानी खिचता था। वे बैल को अलग कर उसके स्थान में स्वयं लगकर अपने हाथों से मोंट खेंच लेते थे। वे दोनों पैर जोड़कर बारह हाथ लम्बी जगह को लांघ जाते थे। उनके अपार बल के कारण जनता उन्हे बहुत चाहती थी। वे बच्चों के साथ बालक्रीड़ा नही करते थे। व्यर्थ की बात नहीं करते थे किसी बात के पूछने पर संक्षेप में उत्तर देते थे। वे लड़ाई झगड़े में नही पड़ते थे, बच्चों के समान गंदे खेलो में उनका तनिक भी अनुराग उनका न था। वे लौकिक आमोद प्रमोद से दूर रहते थे। धार्मिक उत्सवों में जाते थे।

वीतराग प्रवृत्ति

वे प्रारंभ से ही वीतराग प्रवृति वाले थे। घर में बहिन की शादी में या कुंमगौडा की शादी में शामिल नही हुए थे। उनकी स्मरण शक्ति सब को चकित करती थी।

कभी उन्हें प्रमाद अथवा भूल के कारण शिक्षकों ने दंड नहीं दिया। अध्यापक इनके क्षयोपशम की सदा प्रशंसा करते थे।

मधुर तथा संयत जीवन

इनका गरीब अमीर सभी बालकों पर समान प्रेम रहता था। साथ के बालकों के साथ कभी भी लडाई झगडा नहीं होता था। उनने कभी भी किसी से झगडा नहीं किया। उनके मुख से कभी कठोर वचन नहीं निकले। बाल्यकाल से ही वे शांति के सागर थे। मितभाषी थे।

उनकी खानपान में बालकों के समान स्वच्छंद प्रवृति नहीं थी। जो मिलता था उसे वे शांत भाव से खा लिया करते थे। बाल्यकाल में बहुत घी दूध खाते थे। पाव डेढ पाव घी वे हजम कर लेते थे। आज की महान तपश्चर्या में वही संचित बल काम करता है। सब लोग उनको अप्पा (दादा) कहते थे। वे सादे वस्त्र पहनते थे। खादी का बना बारा बंदी वाला अंगरखा पहिनते थे। माता सत्यवती सूत कातती थी। उससे यह खादी बनती थी। वे सादा फेंटा बांधते थे। वे तकिया से टिक कर नहीं बैठते थे। तकिया से दूर आश्रय विहीन बैठा करते थे।

अश्व परीक्षा आदि में पारगत

वे अश्व परीक्षा में प्रथम कोटि के थे। वे किसी को बताते नहीं थे, केवल गुण दोष का ज्ञान रखते थे। वे घर के गाय बैल आदि को खूब खिलाते थे और लोगों को कहते थे कि इनको खिलाने में कभी भी कमी न करना चाहिये। आज उनके सुविकसित जीवन में जो गुण दिखते है, वे बाल्य काल में वट के बीज समान विद्यमान थे। बचपन में वे माता के साथ प्रति दिन मंदिर। जाया करते थे।

आत्म ध्यान की रुचि

बच्चों के समान बार बार खाने की आदत उनकी नहीं थी। वे सदा शास्त्र पढते हुये पाये जाते थे। ध्यान करने में उनकी पहिले से रुचि थी। वेदांती लोग उनके पास आकर चर्चा करते थे। वेदांत प्रेमी रुद्रप्पा से उनकी बडी घनिष्ठता थी। उनके उपदेश के प्रभाव से वह छानकर पानी पीता था, रात्रि को भोजन नहीं करता था। रात्रि को भोजन करते समय महाराज ने उसे प्रत्यक्ष में पतंगे आदि जीवों को भोजन में गिरते बताया था। इससे रात्रि भोजन से

उसके मन में विरक्ति पैदा हुई। उसको महाराज के उपदेश से यह प्रतीत होने लगा था कि जैनधर्म ही यथार्थ है। उनके प्रभाव से वह उपवास करने लगा था। जब वह प्लेग में बीमार हुआ, तब महाराज ने उसकी आत्मा के लिये कल्याणकारी जिन धर्म का उपदेश दिया था।"

मुनि भक्ति व निस्पृह जीवन

"मुनियो पर महाराज की बड़ी भक्ति रहती थी। एक मुनिराज को वे अपने कंधे पर बैठाकर वेद गंगा तथा दूध गंगा के संगम के पार ले जाते थे। वे रात्रिदिवस शास्त्र पढ़ने में तत्पर रहते थे। एक बार बाचने पर 'अमुक ग्रंथ में अमुक बात लिखी है' ऐसा वे अपनी स्मृति के बल पर बोलतेथे। लेन देन, व्यापार आदि में वे पूर्ण विरक्त थे। छोटा भाई कुमगौंडा कपड़े की दूकान पर बैठता था। जब वह बाहर चला जाता था, तब वहाँ 'अप्पा' तकिया छोड़कर बैठे रहते थे। लोग आकर पूछते 'कुमगौडा कुठे गेला, सातगौंडा' तब वे कहते थे कि यह बाहर गया है यदि कपड़ा लेना है तो अपने मन से चुन लो, अपने हाथ से नापकर कपड़ा फाड़ लो और बही में अपने हाथ से लिख दो। इस प्रकार की उनकी निस्पृहता थी। वे कुटुम्ब की झझटों में नहीं पड़ते थे।"

पिता का अपार पराक्रम तथा तपस्वी जीवन

"वे सबको शास्त्र समझाते थे तथा लोगों की शंका का समाधान करते थे।" उनने बताया था कि "हमारे पिता ने लगभग सोलह वर्ष तक एक आसन से बैठकर एक ही बार भोजन किया। उनने भारतवर्ष के तीर्थों की वंदना की थी। उन्होंने श्रवणबेलगोला के दर्शन के बाद एक-भक्ति का नियम लिया था तथा घी, दूध, दही आदि सब रस छोड़ दिये थे। सेठ हीराचंद नेमचंद के द्वारा प्रकाशित 'जैनतत्वादर्श' पुस्तक के बाचने से हमारे पिता जी की धार्मिक श्रद्धा स्वच्छ हुई थी। पिताजी बड़े पराक्रमी, प्रभावशाली और महान तेजस्वी थे। सौ व्यक्ति भी उनपर आक्रमण नहीं कर सकते थे। हमारे पूर्वज बीजापुर जिले के सारबिद्री ग्राम से 'भोज' आए थे। वे आठ बैलों से खिचनेवाली गाड़ियों पर अपनी संपत्ति लाद कर वहां आए थे, क्योंकि बीजापुर की ओर यवनों ने भयंकर अत्याचार मचा रखा था।"

उनने यह भी बताया था कि "सब रस छोड़ने से हमारे

पिता का बलवान शरीर कृश होते जा रहा था, उस समय हम उनको नारियल का दूध निकालकर भोजन में मिलाकर देते थे, ताकि उस स्निग्ध पदार्थ से उनका शरीर टिका रहे। पीछे उन्होंने आहार तक अत्यन्त न्यून कर लिया था। वे एक वर्ष पर्यन्त एक कटोरी प्रमाण भोजन लेते रहे। उनकी समाधि बडी महत्वपूर्ण थी। हम और महाराज उनके दोनो तरफ बैठे थे। उन्होंने लोगों को राते देखकर कहा 'हमें अपना आत्म कल्याण करना है यदि तुम हल्ला करोगे तो हम इस घर में नही रहेगे। उनने अपने हाथ से केशो को उखाड दिया था। बैठने की गद्दी अलग कर दी थी निरन्तर धर्मध्यान मे लीन हो बडी सावधानी पूर्वक उनने शरीर का परित्याग किया था। पिता की मृत्यु होने पर महाराज ने दुःख नही किया। वे वैराग्य मूर्ति बने रहे।"

वश में जिन भक्ति की परपरा

उनने यह भी बताया कि "महाराज के अठारह वर्ष की अवस्था में मुनि बनने के परिणाम थे। उस समय हमारी धार्मिक रुचि थी किन्तु उनकी दीक्षा के बाद हमारे भावो में परिवर्तन हुआ। हमारे घराने में बहुत पहिले से जिन भगवान की भक्ति चली आ रही है। इसलिए सारा परिवार धर्म की भक्ति में तत्पर रहता था। हमारी माता व्रत संयम पालन तथा साधु सेवा में सदा तत्पर रहती थी।

हमारे यहा मुनियो को आहार देने योग्य भोजन सदा बनता था। बस्ती में मुनिराज के आने पर उपाध्याय आकर माता से कहता था, "आजीबाई महाराज आले" वे कहती थी "इये घेऊन या बाबा," (उन्हे यहा ले आओ)। जब माता पिता ने महाराज से विवाह करने को कहा और वे बोले "बाबा लग्न क्यो नही करते।" महाराज ने कहा, "मी ब्रह्मचारी राहणार।" उनके शब्दो के सुनते ही माता पिता के नेत्रो में पानी आ गया और वे बोले "माझा जन्म तुम्ही सार्थक केला" बेटा—तुमने हमारा जन्म कृतार्थ कर दिया। उनने बताया हमारी माता हम लोगों को धर्म और सदाचार का उपदेश दिया करती थी। 'पाप करू नका' 'चोरी करू नका,' "जीव हिंसा करू नका इत्यादि कहती थी।"

हमने पूछा "कभी माता पिता आपको तथा महाराज को दड देते होगे ?" इसपर उनने कहा "हमने तथा महाराज ने दडपाने योग्य अन्याय किया ही नही तो फिर दंड की बात क्या ? माता की वाणी

कठोर नही थी प्रेम तथा बात भावपूर्ण थी। उन पर सब प्रीति करते थे। हमारे पिता बलवान धनवान एश्वर्यवान थे। बडे बडे लोग उनके अधीन रहते थे। उनने अपने व्यवहार में बेईमानी को कभी भी स्थान नही दिया। पाटिल होते हुए किसी की तनिक भी जमीन अन्यायपूर्वक नही ली। अधिकारियो के मुख से यही वाक्य निकलता था कि वे सच्चे मनुष्य है—खरा माणुस आहे। न्याय के साथ परिवार के गौरव का भी उन्हे बडा ध्यान था। एक बार उनके कारण किसी कुटुम्बी को राज्याधिकारी ने तीन सौ रु० दड और जेल की सजा दी थी। उस समय अपने गोत्र के गौरव को धक्का लगेगा ऐसा सोचकर उनने अपने पास से रुपया देकर उसे छुडवाया।

"हम सब लोग भोज में प्लेग होने के कारण अपने बदूक द्वारा मामा के यहा थे। उस समय हमारे मामा बड सफल लक्ष्यवेध प्रतापी थे। उनके आतंक से डाकू वगैरह उपद्रव नही कर पाते थे। इसलिये सरकार ने उनके पास बदूक आदि हथियार दिये थे। वहा हम सब लोग विनोद पूर्वक बैठ थे। नारियल के वृक्ष म लगे हुए नारियल का छेदन की चर्चा चली। महाराज ने अपने जीवन में कभी भी बन्दूक हाथ में नही ली थी। उस समय उन्होने बन्दूक हाथ में ली और एकाग्र बन्दूक का निशाना लगाया और क्षण भर में बदूक छोड दी। गोली ने नारियल को छेद दिया। सब लोग चकित हो गये। इसके पश्चात कभी उन्होने बन्दूक हाथ में न ली। इस प्रकार उनकी एकाग्रता तथा कर कौशल था।"

जब महाराज ने दीक्षा ली, और हम लोग उनके दर्शनो को जाते थे, तो वे हमसे विशेष अनुराग युक्त बात नही करते थे।

इस प्रकार हम वर्धमान स्वामी से प्रश्न करके आचार्य श्री के जीवन सबधी बातो को पूछ रहे थे कि उनने पूछा "अब और क्या पूछना है?" मैंने कहा "महाराज आमचें पोट नाही भरलें"—हमारा पेट अभी नही भरा है।

वे बोले 'तुमचें पोट प्रद्युम्नसारखें आहे'—तुम्हारा पेट श्री कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्नकुमार के समान है, जिसने अपने विक्रिया के द्वारा बनाये गये शरीर द्वारा माता सत्यभामा के यहा के सब भोज्य पदार्थो को खा

लिया था फिर भी वह भूखा का भूखा दिखाई पड़ता था।

उनमें विराग भाव की वृद्धि देखकर मैंने यों ही एक उपयोगी आध्यात्मिक प्रश्न उनसे किये, उनका उत्तर देने में उनमें स्फूर्ति आ गई। मैंने पूछा "महाराज! आत्मा का अनुभव कैसा है?"

उनने कहा, "शक्कर मधुर है अत्यन्त मधुर है, इससे उसकी मधुरता का वर्णन नहीं होता। यह अनुभव गम्य है। "गोंड कैसा लागा?" वह कैसी मधुर है, यह किस प्रकार कहेंगे ? । इतने में एक दूसरा मनुष्य आ गया, उसने शर्करा का रसास्वाद लिया है, वह तुरन्त उसकी मधुरता का स्मरण करेगा और उसके मुख में रसोद्रेक के स्मरण, द्वारा समान रूप से पानी आ जाएगा। इसी प्रकार आत्मा का अनुभव वाणी के अगोचर है। उसका अनुभव करने वाले व्यक्ति तुलना द्वारा उसका बोध प्राप्त करते हैं"।

मैंने पूछा "महाराज व्यवहार क्रिया क्या सर्वथा मिथ्या है?" मेरा भाव था यदि व्यवहार धर्म मिथ्या है तो आप २८ मूल गुण आदि व्यवहार धर्म का क्यों आश्रय लिये हुए हैं ?

उनने मेरा मनोभाव समझते हुये ही तुरन्त कहा "व्यवहार खरा, निश्चय खरा, लबार कौन को कहना।" "व्यवहार ठीक है, निश्चय भी सत्य है; मिथ्या किसको कहना ?"

मैं चुप हो गया।

कुछ क्षण के पश्चात् मैंने पूछा "महाराज आप ९२ वर्ष के हो गए, आपको दीक्षा लिये कितने वर्ष हो चुके?"

उनने कहा "हमने बारामती में आचार्य महाराज से दिगम्बर दीक्षा ली थी। इसे १३ वर्ष हो गये।"

मैंने कहा "महाराज! वृद्धावस्था में यह दीक्षा दुःखप्रद तो नहीं है"

उनने सस्मित वदन से कहा "इसमें कष्ट किस बात का है? हमारा आत्मा तो सदानंद है।"

इस उत्तर को सुनते ही मैंने कहा, "महाराज मेरा पेटभर गया है-मानचे पोट भरलें।" केवल एक ही बात आप से पूछना है, कि आप सदृश

महामुनिराज का पवित्र समय व्यावहारिक चर्चा में लिया और बहुत समय तक आपको कष्ट दिया, इसका क्या प्रायश्चित है ?"

मधुर हास्यपूर्वक उनने कहा, "तुम आचार्य महाराज द्वारा सौंपे गये धवल ग्रंथादि का बराबर काम करो तथा ऐसे ही धार्मिक कार्य करो यही प्रायश्चित है और यही हमारा आशीर्वाद भी है।"

मैंने उनको प्रणाम किया और प्रभु से प्रार्थना की कि मैं अधिक से अधिक वर्धमान शासन की सेवा में योग्य, सफल, संपन्न बनूं ऐसी क्षमता प्राप्त हो।

माता-पिता की महत्ता

श्री भाऊ साहब देवगौंडा पाटील की अवस्था ६५ वर्ष की है। ये महाराज के चचेरे भाई है। धार्मिक रुचि संपन्न हैं। उनने बताया कि "महाराज के पिता श्री भीम गौंडा पाटिल खूब ऊँचे पूरे, अत्यन्त बलवान, प्रभावशाली तथा बुद्धिमान सत्पुरुष थे। वे विनोद में भी मिथ्या बात नहीं बोलते थे। उनकी प्रकृति सौम्य थी, स्वभाव मधुर तथा सर्वप्रिय था। वे नीति संपन्न तथा उदार चेता मानव थे। उनके तेज के समक्ष बडे २ लोग झुक जाया करते थे।

माता सत्यवती बड़ी बुद्धिमती, धर्मपरायण, सर्वप्रिय, पति-सेवा तत्पर तथा पुण्यशीला थी। वे बहुत व्रत उपवास करती रहती थी। अन्य महिलाओं के प्रति उनमें सखी भाव पाया जाता था। उनका हमारी माता ताराबाई से बड़ा प्रेम रहता था। वे सभी बालकों का सावधानी तथा प्रेम पूर्वक पोषण करती थीं। महाराज (सातगौंडा) की विरक्त प्रकृति देख माता का अधिक लक्ष्य उनकी ओर रहा करता था।

महाराज के बड़े भाई, जो आज वर्धमान सागर मुनिराज के रूप में वंदित है, पहिले से ही सन्यासी सदृश थे। वे गृहस्थ होते हुए भी मोक्ष मार्गस्थ थे। वे सेवाभावी तथा परोपकारी थे। वे अपने से छोटों तक की बात को प्रेम पूर्वक मानते थे।

शान्त तथा एकान्तप्रिय

महाराज सदा शान्त भाव संपन्न रहते थे। ये एकान्त प्रिय थे। व्यर्थ की बातें नहीं करते थे। शास्त्र चर्चा के हेतु लोगों के पास बैठते थे। विकथा कभी नहीं करते थे। इनके वचनों पर सभी को अपार विश्वास रहता था। लोग उन पर बड़ी श्रद्धा करते थे। उनकी वाणी में विशेष आकर्षण तथा मार्मिकता पाई जाती

थी । वे ऐसी न्यायपूर्ण बात कहते थे, कि उसे सभी लोग मान्य करते थे ।

अजातशत्रु

सब लोग उन पर प्रेम करते थे । वे अजातशत्रु थे । वे अत्यन्त सादे ढग से रहते थे । खादी की धोती, बारा बदी, फेटा उनके वस्त्र थे । वे अश्व परीक्षा मे अनुपम थे । घोडे के शरीरस्थ चिन्हो को देखते ही उसके गुण दोषो को जान लेते थे । वृषभ–परीक्षा म भी

विविध विषय विज्ञता

वे प्रवीण थे । प्रत्येक बौद्धिक कार्य में उनका प्रथम स्थान था । कृषि कार्य में उनका अनुभव दूसरो का मार्ग दर्शक था । तम्बाखू, धान्य, इक्षु आदि फसलो के वे विशेषज्ञ थे । ऐसा कोई काम नही था, जिसमें उनका दूर दूर तक के लोगो मे दूसरा नम्बर हो । उनकी प्रत्येक चेष्टा से यह अनुमान होता था कि वे लोकोत्तर महात्मा है । जब महाराज ने मुनिदीक्षा ली तब जैन, अजैन सभी कहते थे " हे घरात साधू प्रमाणेच होते, आज प्रत्यक्ष साधू बनले, असा प्रत्येकाला भाव झाला" –ये घर में साधु सदृश थे , आज ये साक्षात् साधु बन गए ऐसा भाव प्रत्येक व्यक्ति का हुआ । उनके दीक्षा लेने पर प्राय सभी लोगा के नेत्रो में अश्रु आ गये थे ।

सबके उपकारी

ये अकारण बधु तथा सब के उपकारी थे । उनको धर्म तथा नीति के मार्ग म लगाते थे । वे भोजभूमि के पिता तुल्य प्रतीत होते थे । उनके साधु बनने पर ऐसा लगा, कि नगर के पिता अब हमेशा के लिए नगर को छोडकर चले गए । उस समय घर घर मे उनके पुण्य गुणो की चर्चा थी । आज भी पुराने लोगो के आखो में उनकी चर्चा होते ही आसू आ जाते है कि उन जैसी विश्व पूज्य विभूति के ग्राम में हम लोगो का जन्म हुआ है ।

अत्यन्त मधुर जीवन

हमारे घर के अत्यन्त सन्निकट उनकी दुकान थी, जहा वे पुण्य पुरुष सदा बैठा करते थे, इससे हमें उनका पूरा पूरा हालज्ञात है । वे हमें घर में ही योगी सदृश लगते थे । उनके जीवन में एक भी दोष हमारे देखने म नही आया । दोष शून्यता को ही उनका दोष कहा जा सकता है । उनके जीवन में एक अपूर्व मधुरता थी । उनके पास बैठने में, उनकी बोली सुनने में, बडा अच्छा लगता था । उनका सदृष्टात तथा कथा सदर्भ सयुक्त शास्त्र विवेचन हृदय के द्वार खोल देता था । वे पराई निंदा तथा कटु भाषण से दूर रहते थे । उनका ब्रह्मचर्य अत्यन्त निर्दोष था । वे बडे भारी प्रतिभा सम्पन्न थे । कैसा भी

कठिन प्रश्न उपस्थित किए जाने पर वे अपनी अद्‌भुत प्रज्ञाशक्ति द्वारा उसका समाधान करते थे ।

हमने उनको दुःख तथा सुख में समान वृत्तिवालादेखा है। माता पिता की मृत्यु होने पर हमने उनमें साधारण लोगो की भांति शोकाकुलता नही देखी। उस समय उनके भावो में वैराग्य की वृद्धि दिखाई पड़ती थी।

असाधारण धैर्य

उनका धैर्य असाधारण था। माता पिता का समाधि मरण होने से उन्हें संतोष हुआ था। उनके पास आर्त ध्यान, रौद्रध्यान को स्थान न था। वे धर्म ध्यान की मूर्ति थे। वे दया, शाति, वैराग्य नीति तथा सत्य जीवन के सिंधु थे।

उनकी आत्मा बालक समान पवित्र थी। इससे उनका चर्चा पर उत्तम वात्सल्य भाव पाया जाता था। उनमें किसी प्रकार का व्यसन नही था। उनमे चचलता या क्षुद्रता नही थी। वे सागर के समान सर्वदा गभीर रहे है। उनकी स्मृति असाधारण थी। वे जिस बात को परीक्षा करते

असाधारण बुद्धि

थे, वह सदा ठीक ही निकलती थी। तमाखू की फसल आने पर उसकी पैडी बाधने में इनकी कुशलता की सभी सराहना करतेथे। उनने तमाखू को सुवास सपन्न करने में लवंग लगाने का विशेष प्रयोग किया था, उससे उनकी सृजन शक्ति की सभी व्यापारी तथा किसान लोग प्रशसा करते थे। वे किसी की नकल नही करते थे। सभी लोग उनका अनुकरण करते थे।

न्यायपूर्ण जीवन

उनकी न्यायसिद्ध भाषा सर्वत्र अकाट्य रही है। उनके तर्क के आगे सबका सिर झुकता रहा है। आज बड़े बड़े शास्त्री श्रीमत, वकील, जज आदि उनकी प्रतिभाप्रसूत बातो को सुनकर चकित होते है, उनकी यह सामर्थ्य यहा भी हम लोगो के नयन-गोचर होती थी।

उनका दयामय जीवन प्रत्येक के देखने मे आता था। दीन दुःखी पशु, पक्षी आदि पर उनको करुणा की धारा बहती थी। जहा देवी आदि के आगे हजारो बकरे, भैसे आदि मारे जाते थे वहा पहुचकर अपने प्रभावशाली उपदेश द्वारा जीववध को ये बंद कराते थे। इससे लोग इनको 'अहिंसावीर' कहते थे। ये दयामूर्ति के साथ ही साथ प्रेम मूर्ति भी थे। इस कारण ये सर्प आदि भीषण जीवो पर भी प्रेम करते थे,

बसप्पा लिंगायत सदृश ज्योतिषी, तथा व्यायाम में श्रेष्ठ, सर्कस में श्रेष्ठ गायन विद्या में अतीव निपुण अनेक कलाकार यहाँ ही हुए हैं। बाहर इस प्रकार की प्रसिद्धि रही है कि जो व्यक्ति भोजवासियों के परीक्षण में उत्तीर्ण हुआ है उसकी सर्वत्र जयजयकार हुई है। आचार्य महाराज के प्रति सभी भोजवासियों की श्रद्धा, भक्ति, तथा आदर की भावना इस बात को पहिले से ही सूचित करते थे, कि इन महापुरुष का सारे संसार में सर्वोपरि स्थान रहेगा। कोई भी मर्मज्ञ यदि महाराज के जीवन का सन्निकट रूप से निरीक्षण करता, तो वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रहता, कि ये प्रकृति

उनसे तनिक भी नही डरते थे। इनका विश्वास था, कि ये प्राणी बिना सताए कभी भी कष्ट नही देते है।

संसार से विरक्ति

हम पर महाराज की बडी दया थी। हम उनके यहा सदा जाया करते थे। वे हमारे यहा या दूसरो के घर बिना कार्य के नही जाते थे। कोर्ट–कचहरी आदि का काम ये नही करते थे। उनसे वे पृथक रहते थे। वह काम छोटे भाई कुमगोडा देखा करते थे। उनमे अति लोभ या कुटुम्ब के प्रति अत्यासक्ति नही पाई जाती थी। वे अल्प आरभ तथा अल्प परिग्रह वाले सत्पुरुष रहे है। विषयासक्त ससार और उनमें जमीन आसमान का अन्तर था। वे कठोर भूमि पर शयन करते थे। गद्दी का उपयोग नही करते थे।

उनका शरीर अत्यन्त निरोग तथा सशक्त था। उनके शरीर के समान उनकी आत्मा भी पूर्ण स्वस्थ थी। उनके स्वभाव में तनिक भी गर्मी नही थी। वे क्रोध, चचलता तथा अत्यन्त वेग से कोई काम नही करते थे। धैर्य तथा विचार पूर्वक ही कार्य करते थे– क्रोध, चचलता आणि अतिवेगाने कोणतेंहि काम न करिता, धैर्य आणि विचारपूर्वक ते कार्य करित होते।

इनने मिथ्यात्व का त्याग कराया

यहाँ पाटीलो का सदा प्रभाव रहा है, किन्तु भेद नीति के कारण ब्राह्मणो ने अपना विशेष स्थान रखा है। लोग मिथ्या देवो की आराधना करते थे। यहा के मारुती के मदिर में जाते थे। लिंगायतो तथा ब्राह्मणो के धर्म गुरुओ की भक्ति पूजा करते थे। उनका उपदेश सुनते थे। उनको भेंट चढाते थे। इस प्रकार गाढ मिथ्यान्धकार मे निमग्न लोगो को सत्पथ मे लगाने की सामर्थ्य किसमें थी? महाराज के उज्वल व्यक्तित्व तथा पवित्र उपदेश के प्रभाव से लोगो ने गृहीत मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यक्त्व के मार्ग को ग्रहण किया। महाराज के प्रभाव से जैनियो को बौद्धिक तथा मानसिक स्वातत्र्य मिला और ब्राह्मणो की कूटनीति से समाज का परित्राण हुआ।

महाराज की सभी प्रवृत्तिया धर्म के उन्मुख तथा धर्मानुकूल होती थी। वे धर्मनीति, मिथ्यात्व निराकरण तथा अहिंसा प्रचार के सिवाय लौकिक व्यवहार अथवा राजनीति के पक्ष में लिप्त नही होते थे।

प्रकृति सिद्ध महापुरुष

हमारे पूर्वज बताते थे कि पूना के समान इस भोज भूमि में अनेक ख्याति प्राप्त कलाकार विद्वान् तथा मर्मज्ञ लोगो ने जन्मधारण किया है। रुद्रप्पा सदृश ध्यानी तथा सत्यव्रती

वसप्पा लिंगायत सदृश ज्योतिषी, तथा व्यायाम में श्रेष्ठ, सर्कस मे श्रेष्ठ गायन विद्या में अतीव निपुण अनेक कलाकार यहाँ ही हुए हैं। बाहर इस प्रकार की प्रसिद्धि रही है कि जो व्यक्ति भोजवासियो के परीक्षण में उत्तीर्ण हुआ है उसकी सर्वत्र जयजयकार हुई है। आचार्य महाराज के प्रति सभी भोजवासियो की श्रद्धा, भक्ति, तथा आदर की भावना इस बात को पहिले से ही सूचित करते थे, कि इन महापुरुष का सारे ससार में सर्वोपरि स्थान रहेगा। कोई भी मर्मज्ञ यदि महाराज के जीवन का सन्निकट रूप से निरीक्षण करता, तो वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नही रहता, कि ये प्रकृति सिद्ध महापुरुष प्रत्येक कार्य म सर्वश्रेष्ठ रहे हैं। दीक्षा लेने के बाद महाराज एक बार भोज पधारे थे। मंदिर म भगवान का दर्शन करके उनने सामायिक की तथा वे बाहर चले गये थे, ताकि किसी प्रकार का मोह उत्पन्न न हो। हजारो लोगो ने एकत्रित होकर भोज की विभूति ही नही, विश्व की अनुपम निधि का दर्शन किया था। उनके आने के बाद भोज भूमि प्राण शून्य सी लगती थी। हम लोग अपने को इसी बात मे कृतार्थ मानते है कि हम लोगो का जन्म आचार्य शातिसागर महाराज जैसे श्रेष्ठ नर रत्न एवं श्रमण शिरोमणि की निवास भूमि में हुआ।"

वृद्ध मराठा का कथन

भोज ग्राम मे गणू ज्योति दबाले नाम का एक मराठा किसान ८० वर्ष की अवस्था का अभी जीवित है। वह एक ब्राह्मण के खेत में मजदूरी करता रहा है। उस खेत से लगा हुआ एक खेत है जहा महाराज का प्रतिदिन आना जाना होता था। उस वृद्ध मराठा को जब यह समाचार पहुचा कि महाराज के जीवन के सबन्ध में परिचय पाने को कोई व्यक्ति बाहर से आया है तो वह महाराज का भक्त मध्यान्ह में दो मील की दूरी से भूखा ही समाचार देने को हमारे पास आया। उस कृषक बाबा से इस प्रकार महत्व की सामग्री ज्ञात हुई।

महाराज की अपूर्व दयालुता

उसने बताया "हम जिस खेत मे काम करते थे उससे लगा हुआ महाराज का खेत था। हम उनको पाटील कहते थे। हमारा उनसे निकट परिचय था। उनकी बोली बडी प्यारी लगती थी। मै गरीब हूँ और वे श्रीमन है, इस प्रकार का अहकार उनमें नही था। हमारे खेत में अनाज खाने को सैकडो हजारो पक्षी आ जाते थे मै उनको उडाता था तो वे उनके खेत में बैठ जाते थे। वे उन पक्षियो को नही उडाते थे। पक्षियो के झुंड के झुंड उनके खेत में अनाज

उनसे तनिक भी नही डरते थे। इनका विश्वास था, कि ये प्राणी विना सताए कभी भी कष्ट नही देते है।

संसार से विरक्ति

हम पर महाराज की बडी दया थी। हम उनके यहा सदा जाया करते थे। वे हमारे यहा या दूसरो के घर विना कार्य के नही जाते थे। कोर्ट–कचहरी आदि का काम ये नही करते थे। उनसे वे पृथक रहते थे। वह काम छोटे भाई कुमगोडा देखा करते थे। उनमें अति लोभ या कुटुम्ब के प्रति अत्यासक्ति नही पाई जाती थी। वे अल्प आरंभ तथा अल्प परिग्रह वाले सत्पुरुष रहे है। विषयासक्त ससार और उनमें जमीन आस्मान का अन्तर था। वे कठोर भूमि पर शयन करते थे। गद्दी का उपयोग नही करते थे।

उनका शरीर अत्यन्त निरोग तथा सशक्त था। उनके शरीर के समान उनकी आत्मा भी पूर्ण स्वस्थ थी। उनके स्वभाव में तनिक भी गर्मी नही थी। वे क्रोध, चचलता तथा अत्यन्त वेग से कोई काम नही करते थे। धैर्य तथा विचार पूर्वक ही कार्य करते थे– क्रोध, चचलता आणि अतिवेगाने कोणतेंहि काम न करिता, धैर्य आणि विचारपूर्वक ते कार्य करित होते।

इनने मिथ्यात्व का त्याग कराया

यहाँ पाटीलो का सदा प्रभाव रहा है, किन्तु भेद नीति के कारण ब्राह्मणो ने अपना विशेष स्थान रखा है। लोग मिथ्या देवो की आराधना करते थे। यहा के मारुती के मदिर में जाते थे। लिगायतो तथा ब्राह्मणो के धर्म गुरुओ की भक्ति पूजा करते थे। उनका उपदेश सुनते थे। उनको भेट चढाते थे। इस प्रकार गाढ मिथ्यान्धकार मे निमग्न लोगो को सत्पथ मे लगाने की सामर्थ्य किसमें थी? महाराज के उज्वल व्यक्तित्व तथा पवित्र उपदेश के प्रभाव से लोगो ने गृहीत मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यक्त्व के मार्ग को ग्रहण किया। महाराज के प्रभाव से जैनियो को बौद्धिक तथा मानसिक स्वातंत्र्य मिला और ब्राह्मणो की कूटनीति से समाज का परित्राण हुआ।

महाराज की सभी प्रवृत्तिया धर्म के उन्मुख तथा धर्मानुकूल होती थी। वे धर्मनीति, मिथ्यात्व निराकरण तथा अहिंसा प्रचार के सिवाय लौकिक व्यवहार अथवा राजनीति के पक्ष में लिप्त नही होते थे।

प्रकृति सिद्ध महापुरुष

हमारे पूर्वज बताते थे कि पूना के समान इस भोज भूमि में अनेक ख्याति प्राप्त कलाकर विद्वान् तथा मर्मज्ञ लोगो ने जन्मधारण किया है। रुद्रप्पा सदृश ध्यानी तथा सत्यव्रती

बसप्पा लिंगायत सदृश -ज्योतिषी, तथा व्यायाम में श्रेष्ठ, सर्कस में श्रेष्ठ गायन विद्या में अतीव निपुण अनेक कलाकार यहाँ ही हुए है। बाहर इस प्रकार की प्रसिद्धि रही है कि जो व्यक्ति भोजवासियो के परीक्षण में उत्तीर्ण हुआ है उसकी सर्वत्र जयजयकार हुई है।' आचार्य महाराज के प्रति सभी भोजवासियो की श्रद्धा, भक्ति, तथा आदर की भावना इस बात को पहिले से ही सूचित करते थे, कि इन महापुरुष का सारे ससार में सर्वोपरि स्थान रहेगा। कोई भी मर्मज्ञ यदि महाराज के जीवन का सन्निकट रूप से निरीक्षण करता, तो वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नही रहता, कि ये प्रकृति सिद्ध महापुरुष प्रत्येक कार्य मे सर्वश्रेष्ठ रहे है। दीक्षा लेने के बाद महाराज एक बार भोज पधारे थे। मदिर मे भगवान का दर्शन करके उनने सामायिक की तथा वे बाहर चले गये थे, ताकि किसी प्रकार का मोह उत्पन्न न हो। हजारो लोगो ने एकत्रित होकर भोज की विभूति ही नही, विश्व की अनुपम निधि का दर्शन किया था। उनके आने के बाद भोज भूमि प्राण शून्य सी लगती थी। हम लोग अपने को इसी बात में कृतार्थ मानते है कि हम लोगों का जन्म आचार्य शातिसागर महाराज जैसे श्रेष्ठ नर रत्न एवं श्रमण शिरोमणि की निवास भूमि में हुआ।"

वृद्ध मराठा का कथन

भोज ग्राम मे गणू ज्योति दबाले नाम का एक मराठा किसान ८० वर्ष की अवस्था का अभी जीवित है। वह एक ब्राह्मण के खेत में मजदूरी करता रहा है। उस खेत से लगा हुआ एक खेत है जहा महाराज का प्रतिदिन आना जाना होता था। उस वृद्ध मराठा को जब यह समाचार पहुचा कि महाराज के जीवन के संबन्ध में परिचय पाने को कोई व्यक्ति बाहर से आया है तो वह महाराज का भक्त मध्यान्ह में दो मील की दूरी से भूखा ही समाचार देने को हमारे पास आया। उस कृषक बाबा से इस प्रकार महत्व की सामग्री ज्ञात हुई।

महाराज की अपूर्व दयालुता

उसने बताया "हम जिस खेत में काम करते थे उससे लगा हुआ महाराज का खेत था। हम उनको पाटील कहते थे। हमारा उनसे निकट परिचय था। उनकी बोली बड़ी प्यारी लगती थी। मं गरीब हूँ और वे श्रीमन है, इस प्रकार का अहकार उनमें नही था। हमारे खेत मे अनाज खाने को सैंकडो हजारो पक्षी आ जाते थे मै उनको उड़ाता था तो वे उनके खेत में बैठ जाते थे। वे उन पक्षियो को नही उड़ाते थे। पक्षियो के झुंड के झुंड उनके खेत में अनाज

खाया करते थे। एक दिन मैंने कहा पाटील हम अपने खेत के सब पक्षियो को तुम्हारे खेत में हमेशा भेजेंगे। उनने कहा 'तुम भेजो हमारे खेत का सब अनाज खा लेंगे तो भी कमी नही होगी'। इसके बाद उनने पक्षियो के पीने को पानी रखने की व्यवस्था खेत में कर दी। पक्षी मस्त होकर अनाज खाते थे और जी भर कर पानी पीते थे। और महाराज चुपचाप यह दृश्य देखते थ मानो वह खेत उनका न हो। मैंने कहा 'पाटील तुम्हारे मन में इन पक्षियो पर दया है तो झाड पर पानी क्या नही रख देते ? उनने कहा 'ऊपर पानी रख देन से पक्षियो को नही दिखेगा इससे उसे नीचे रखते हैं'। उनको देख कर कभी कभी मैं कहता था 'तुम ऐसा क्यो करते हो ? क्या बडे साधू बनोगे' ? वे चुप रहते थे। क्योकि व्यर्थ की बातें करना उन्हे पसन्द नही था। कुछ समय के बाद जब पूरी फसल आती थी तब उनके खेत म हमारी अपेक्षा अधिक अनाज उत्पन्न होता था।

शूद्रो पर प्रेमभाव

उनकी अस्पृश्य शूद्रों पर बडी दया रहती थी। हमारे कुए का पानी जब खेत में सीचा जाता था तब उसमें से शूद्र लोग यदि पानी लेते थे तो हम उनको धमकाते थे और पानी लेने से रोकते थे, किन्तु महाराज को उन पर बडी दया थी। वे हमें समझाते थे और उन गरीबो को पानी लेने देते थे। खेतो के काम में उनके समान कुशल व्यक्ति हमने दूर २ तक नही देखा। खेत मे गन्ना बोते समय उनका हल पूर्णतया सीधी लाइन में चलता था। उनके द्वारा बनाई गई तमाखू की पेंडी सर्व श्रेष्ट रहती थी। वे सबसे बडे प्रेम से बोलते थे। पशुओं पर भी उनका बडा भारी प्रेम था। उनको वे खिला खोलकर खिलाते पिलाते थे। इनके बैल हाथी सरीखे मस्त रहते थे। इनके सामने जो गरीब आता था उसको मुक्तहस्त होकर व अनाज दिया करते थे। बस्ती में छोटे बडे सभी लोग इनके जरा भी विरुद्ध नही थे। वे भगवान के यहाँ से ही साधू बनकर आये थे। वे हमको अच्छी बातें समझाया करते थे।

सर्प पर प्रेम

एक दिन हमारे खेत में दो गज लम्बा साप निकला। मैंने उसे मार डाला। यह बात उन्हें अच्छी नही लगी। उनने मुझे कहा "तुमने यह अच्छा नहीं किया। यह कुलीन आदमी का काम नही"। अपने जीवन में केवल इतने ही कडे शब्द उनके मुह से सुने। इससे उनको इतना बुरा लगा कि वे तुरन्त वहा से अन्यत्र चले गये। इतना होते हुये भी उनकी हम पर दया थी। गुड तथा शक्कर तैयार करने में वे श्रेष्ठ थे। एक दिन हमने

उनसे बिना पूछे गुड बनाने में उनकी नकल की तो हमारी चासनी बिगड गई। वे सभी कामो में बहुत चतुर थे। जब हमने सुना कि ये 'स्वामी' बन गये तब मेरे हृदय में बडा दुख हुआ आखो में आसू आ गये। उस समय मुझे पश्चात्ताप होता था कि मैं इतने बडे महात्मा से हसी में किस प्रकार कठोर बातें कह देता था और वे महात्मा चुप रहते थे। उनके साधू बनने से सारे गाव को बडा दुख हुआ।

गाव के रत्नरूप में वंदित

गाव में पुराने लोगो म जब चर्चा चलती थी तब सब लोग यही कहते थे कि हमारे गॉव का रत्न चला गया, एक अच्छे सत्पुरुष चले गये। गरीब लोग आखो से आसू बहाकर यह कहकर रोते थे कि हमारा जीवनदाता चला गया। शूद्र लोग उनके वियोग से अधिक दुखी हुए थे। क्योंकि उन दोनों के लिये वे करुणा सागर थ।

गरीबो के उद्धारक

अभी तक हममें जो कुछ अच्छी बातें हैं उसका कारण वे स्वामीजी ही हैं। हमने कभी चोरी नही की, मिथ्या भाषण भी नही किया, कुशील सेवन भी नही किया, दूसरे की बहू बेटियो को माता और बहिन की दृष्टि से ही देखा, इसका कारण महाराज का पवित्र उपदेश है। वे कभी भी व्यर्थ की बातें नही करते थे गप्पें भी नही लगाया करते थे। हम सबको व्यर्थ की बातें करने से रोकते थे। स्वामी ने स्वप्न में दो तीन बार दर्शन दिये। अब जीवन में उनका दर्शन कहा होगा?"

निकटवर्ती वृद्ध का वर्णन

आचार्य महाराज के बाल्य जीवन से निकट परिचय **रामाभीमा** सागावे ग्रामवासी, पचम जैन का था, जो उनके ज्येष्ठ बधु देव गौडा (वर्धमान स्वामी) के समान ९२ वर्ष का है। श्री **भीमगोडा गिरिगोडा पाटिल** की अवस्था ८५ वर्ष की है। इन दोनो वृद्ध पुरुषो से आचार्य श्री के सम्बध में ये बातें ज्ञात हुईं —

शात प्रकृति

"हम बाल्य काल से इनके साथ रहे हैं ये सदा शात प्रकृति के रहे है। खेल में तथा अन्य बातो में इनका प्रथम स्थान था। ये किसी स झगडते नही थे, प्रत्युत झगडने वाले को प्रेम से समझाते थे। ये बाल मडली में बैठकर सबको यह बताते थे कि बुरा

सन्मार्ग दर्शक

काम कभी नही करना चाहिये। वे नदी मे तैरना जानते थे। उनका शारीरिक बल आश्चर्य प्रद था।

पवित्र-जीवन

उनका जीवन बडा पवित्र और निरुपद्रवी रहा है। वे कभी भी किसी को कष्ट नही देते थे। वे करुणा भाव

पूर्वक पक्षियों को अनाज खिलाते थे। वे मेला ठेला तथा तमाशों में नहीं जाते थे। केवल धार्मिक उत्सवों में भाग लेते थे। हम लोगों को वे उपदेश देते थे कि अपना काम ठीक करना चाहिये और व्यर्थ की बातों में नहीं पड़ना चाहिये।

मुनिराज के आने पर वे उनका कमण्डलु लेकर चलते थे और उनकी खूब सेवा करते थे। मुनिराज उनसे बहुत चर्चा करते थे।

मुनि भक्त

हजारों आदमियों के बीच में स्वामी का इन पर अधिक प्रेम रहा करता था। वे भोजन को घर में आते थे तथा शेष समय दूकान में व्यतीत करते थे। वहां वे पुस्तक वाचने में सलग्न रहते थे। उनकी माता का स्वभाव बड़ा मधुर था। वे हम सब लड़कों को अपने बेटे के समान मानती थी। वे हमें कहती थी "कभी चोरी नहीं करना, झूठ नहीं बोलना, अधर्म नहीं करना।

स्वाध्याय शीलता

उनके घर में घी दूध का विपुल भंडार रहता था।" रामा सागावे ने कहा "मैं महाराज के साथ २४वर्ष तक रहा उनके परिवार में काम करता था। मैं उनके साथ उठता बैठता तथा सोता था। उनके साथ खेत को जाता था। उनका खाना मर्यादित रहता था। वे अभक्ष्य पदार्थ नहीं खाते थे उनके हृदय में वैराग्य का भाव छुपा हुआ था। स्वामी बनने के विचार उनने कभी प्रगट नहीं किये। जब उनने दीक्षा ली तब हमें अपार दुःख हुआ।" इस बात का स्मरण करते ही उस वृद्ध की आखों से अश्रु धारा बह चली तथा कंठ से स्पष्ट शब्द निकलना बंद हो गया।

रामा ने बताया "दीक्षा लेने के बाद जब हमें कोगनोली उनका में दर्शन हुआ तब हमने कहा 'स्वामी आप संसार से पार हो गये हम अभी वहीं के वहां ही हैं। इसके बाद हमारा गला भर आया।' महाराज ने कहा "आत्मा का कल्याण करो"। वे हमें कहते थे "जिनेन्द्र की वाणी पर पूर्ण श्रद्धा रक्खो"। वे अन्य धर्मों की निंदा नहीं करते थे। वे खेल तमाशों में भाग नहीं लेते थे। वे दीक्षा लेने के पूर्व अपनी बहन कृष्णाबाई के साथ शिखरजी गये थे। वहां से वापिस आने पर एकाशन आदि का नियम लिया था। अप्पा जी मकदूम, तात्या शिवगोंडा पाटील, रलप्पा चौगले (आदि-सागर स्वामी) और सातगौडा (आचार्य महाराज) मिलकर शास्त्र चर्चा करते थे। ये लोग सदा धर्मध्यान करते थे। इनके छोटे भाई कुंभगोंडा का मधुर स्वर ग्रंथ वाचन सुनकर महाराज के मन का वैराग्य बढ़ता था।

वैराग्य उत्पन्न करने का कारण कुमगोंडा पाटील का मधुर प्रवचन था ऐसा हमें प्रतीत होता है। महाराज खादी के वस्त्र पहनते थे। उनकी माता सत्यवती चर्खा चलाती थी। अब महाराज हमारे पास से दूर हो गये हम उनका स्वप्न में दर्शन करते हैं। हम रोज उनका नाम जपते हैं।" रामा ने कहा 'आमचा तीर्थंकर सातगोंडा स्वामी आहे'—शांतिसागर महाराज हमारे

शांतिप्रदवाणि

तीर्थंकर है। उनकी वाणी प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति तथा आनन्द प्रदान करती थी। उन गुरुदेव को हमारा शतश प्रणाम है।"

वृद्धा का कथन

रुकमणी बाई, धर्मपत्नी शिवगौंडा पाटील वय ७० वर्ष, से आचार्य महाराज और उनकी माता के विषय में परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

माता की धार्मिकता

उन वृद्धा ने कहा "महाराज की माता सत्यवती बाई को मैं अच्छी तरह जानती थी। वे बहुत शांत और सरल थी। उनका स्वभाव बड़ा मधुर था। वे देवता प्रकृति की थी। व्रताचरण, धर्मध्यान, परोपकार उनके जीवन के मुख्य अंग थ।"

मितभाषी सत्यनिष्ठ

उन वृद्धा माता ने महाराज के विषय में कहा "वे बड़े शांत सरल और निरुपद्रवी थे। वे हठी प्रकृति के नहीं थे। वे सत्यनिष्ठ और मितभाषी थे। दुनिया की झंझटों से दूर रहते थे उनकी बोली सुनकर सबको प्रेम उत्पन्न होता था। उनका चरित्र बड़ा पवित्र था। वे बड़े दयालु थे। उनके खेत में जब पक्षी आकर अनाज खाते, थे तो वे पीठ करके बैठ जाते थे, जिससे पक्षीगण निर्भय होकर अनाज खाते रहें।

मुनि भक्ति

जब कभी कोई जैन निर्ग्रंथ गुरु बस्ती में आते तो ये उनकी बड़ी सेवा किया करते थे। वे अपनी माता से कहते थे 'हम मुनि बनेंगे, हम यहां नहीं रहेंगे।' वास्तव में वे महापुरुष थ। उनका उपदेश सर्वप्रिय तथा कल्याणकारी होता था।"

आचार्य महाराज के सबसे छोटे भाई श्री कुमगोन्डा पाटील के चिरंजीव श्री जिनगौंडा के पास जयसिंहपुर ग्राम में पहुंचकर ता १३-९-५२ को हमने उनके परिवार के सम्बन्ध में चर्चा चलाई। श्री पाटील से उनकी आजी के विषय में महत्वपूर्ण बातें विदित हुई। उनने बताया "इस समय मेरी अवस्था ४८ वर्ष की है। मुझे अपनी आजी माँ की थोडी-थोडी स्मृति है। जब

भोजन के समय हठ करता था तब वे करुणामयी माता मनोवाछित पकवान बना मुझे मनाया करती थी। वे मुझे अपने साथ गरेरे तथा सध्या को भोज के जिन मदिर में ले जाती थी। वे मुझे कनडी भाषा में कहा करती थी 'बेटा हमेशा भगवान का दर्शन करना चाहिये इससे सब सुख मिलते हैं।' वे मुझे अपनी गोद में लिये लिये फिरती थी। मैं कितना भी उपद्रव करता था वे कभी भी नाराज नहीं होती थी। यदि कोई घर का आदमी मुझे डाटता था तो आजी मा कहती थी 'बच्चे को प्रेम से समझाना चाहिये उसे मारना पीटना नही चाहिये और न उस पर क्रोध ही करना चाहिये।'

माता सत्यवती का मधुर जीवन

हमारे घर में मुनिराज आदिसागर, अकलीकर, देवेन्द्रकीर्ति-स्वामी आदि साधु लोग प्राय पधारा करते थे। उस समय आजी माता उनकी सेवा भक्ति तथा अहार दान बडी खुशी से करती थी।

उनके चार पुत्र और एक पुत्री थे बीच में एक मै ही उनका नाती था, इस कारण आजी मा की मेरे प्रति ममता होना स्वभाविक बात थी। वे मुझे समझाती थी 'बेटा कभी झूठ नही बोलना, चोरी नही करना दूसरे का उपद्रव नही करना इत्यादि।' उनकी वाणी बडी मधुर रहती थी। दुखी व्यक्ति तथा निर्धन परिवार को वे सकट के समय सहायता देती थी। अति-थियो के सत्कार में उन्हें बडी प्रसन्नता होती थी। महमानो को बुलाकर बहुत समय तक बढ़िया भोजन कराना तथा वस्त्र आदि से उनका सत्कार करना आजी मा का प्रिय विषय था। घर में आजी मा की बात को सब भाई बहन मानते थे। प्रभात में मेरे पिता आदि सभी आजी मा को प्रणाम करते थे तथा उनका आशीर्वाद प्राप्त करते थे। वे अतिशय बुद्धिमती थी, इससे अनेक महिलाए उनके पास आकर बैठती थी तथा उनसे सलाह लिया करती थी।

आजी मा बडी उदार प्रकृति की थी। मेरे साथ खलने वाले बच्चों को भी मेरे ही समान खिलाती थी। जब कभी बच्चो म झगडा होता तो वे बिना धमकाए प्रेम से समझाती थी और कुछ प्रिय पदार्थ खिला-पिलाकर सबको शात कर देती थी। हमारे घर में शास्त्र की चर्चा चला करती थी। आचार्य महाराज व्रती थे इससे आजी मा उन पर विशेष ध्यान रखती थी।" श्री पाटील ने यह भी बताया, "जब मैं

महाराज का पुण्य जीवन

पाच छः वर्ष का था तब मुझे महाराज दूकान के भीतर अपने पास सुलाते थे। वे काष्ठासन पर सोते थे किन्तु मुझे गद्दे पर सुलाते थे। प्रभात में वे सामयिक करते थे पश्चात् मुझे जगाकर पंचणमोकार मंत्र पढ़ने को कहते थे। वे मुझे रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोक कंठ कराते थे। वे अनेक प्रकार के सदोपदेश मुझे देते थे। प्रभात में मैं स्कूल चला जाता था, मध्यान्ह में मैं लौटकर आता था, उस समय महाराज अपने पास बिठाकर मुझे भोजन कराते थे। वे दूसरी थाली मौन से एक ही बार भोजन करते थे। जब तक उनका आहार पूरा नही होता था तब तक मैं उनके पास ही बैठा रहता था। दोपहर को वे मुझे कुछ देर पढ़ाते थे। पश्चात् वे मुझे किशमिश, बादाम, खोपरा, मिश्री आदि आठ माह पर्यन्त खिलाते थे। आम की ऋतु में निपाणी से हाफुज आम मगाकर खिलाते थे किंतु वे कुछ भी नही खाते थे। वे मेरी माता को शास्त्र बताते थे

शास्त्र रुचि

इससे मेरी मां शास्त्र में प्रवीण हो गई थी। महाराज की दीक्षा के बाद मेरी माता स्त्रियों को शास्त्र सुनाती थी। सन्ध्या के समय महाराज मुझे खेत की ओर तथा कभी कभी मैदान की तरफ घुमाने ले जाते थे। आजी मां की मृत्यु के बाद महाराज दूकान में रात्रि को शास्त्र पढ़ते थे। उस समय उनका मित्र रुद्रप्पा आया करता था। वह भी मुझ पर प्रेम करता था।

करुणा शीलता

महाराज की बात का हमारे घर में बड़ा मान था। महाराज की दूकान पर पंद्रह-बीस लोग शास्त्र सुनते थे। मल्लगौडा पाटील उनके पास शास्त्र सुनने रोज आता था। एक रात वह शास्त्र सुनने नही आया तब शास्त्र चर्चा के पश्चात् महाराज उसके घर गये वहां न मिलने से रात में ही उसके खेत में पहुंचे। वहां वे क्या देखते हैं कि मल्लगौडा ने गले में फांसी का फंदा लगा लिया है और वह मरने के लिये तत्पर है। यदि कुछ समय और देर होती तो उसकी जीवन लीला समाप्त हो गई होती। सौभाग्य से वह उस समय जीवित था। महाराज ने उसका फंदा खोला। अपनी दूकान में लाकर उसे खूब समझाया। उसकी अंतर्वेदना दूर की जिससे उसने आत्महत्या का विचार बदल दिया। हमारे घर में अखंड शान्ति रहती थी। सब लोग महाराज के कंट्रोल में रहते थे। वे, मेरी माता

तथा आजी माँ एक बार ही भोजन करते थे।

जब महाराज मेरी माता के समक्ष अपनी दीक्षा लेने की बात कहते थे तब मैं आकर उनके पैरो में लिपट जाता था और कहता था, "अप्पा! मैं कभी आपको नही जाने दूंगा। अभी मैं छोटा हूँ। बड़े होने के बाद आप मुझे समझा कर जावें।' इस पर वे मुझे संतोषित करते थे।

मेंडक को प्राणरक्षा

एक दिन की बात है महाराज शौच को बाहर गये थे वापिस आने पर उनके हाथ के टूटे हुये लोटे को देख कर घर में पूछा गया यह लोटा कैसे टूटा? तब उनने बताया कि एक सर्प एक मेंडक को खाने जा रहा था उस समय उस मेंडक की प्राणरक्षा के लिये मैंने तत्काल इस लोटे को पत्थर पर जोर से पटक दिया इससे वह सांप भाग गया। श्री पाटील ने वह लोटा हमें दिखाया था।

उनने कहा आजी मां की मरणवेला पर महाराज उनको शास्त्र सुनाकर सेवा करते थे।

महाराज की बहिन कृष्णाबाई के विषय में उनने कहा, "वे बाल विधवा थी। हमारे घर में ही रहकर व्रत उपवास पूर्वक धार्मिक जीवन व्यतीत करती थी। वे अतिथि सेवा तत्पर थी। उनका मुझपर बड़ा प्रेम था।"

मुनि वर्द्धमानसागर महाराज के विषय में श्री पाटील ने कहा "वे बड़े परोपकारी, सेवापरायण तथा अत्यन्त दयालु थे। वे भोले स्वभाव के सत्पुरुष थे। मैं उनको बाबा कहता था। मैं महाराज को अप्पा कहता था इससे सभी लोग उनको अप्पा कहने लगे थे। वे जयसिंहपुर के बाहर खेत में जाकर एकान्त स्थान में २,३, घंटे पर्यन्त धूप कायोत्सर्ग करते थे।" अपने माता पिता श्री कुमगोंडा के विषय में उनने कहा "वे लोक व्यवहार में प्रवीण थे। गृहस्थी का सारा काम काज वे देखते थे तथा व्यवस्था करते थे। शास्त्र चर्चा में मेरे पिता और महाराज का खूब वादविवाद हुआ करता था। तत्व का मन्थन कार्य बड़ी सूक्ष्मता के साथ होता था। मेरे पिता जब शास्त्र पढ़ते थे तब महाराज को बड़ा संतोष होता था। इससे वे उनको ही शास्त्र बाचने को कहते थे। मेरे पिता तथा माता ने सन् १९१९ में आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लिया था। उनका महाराज के प्रति अगाध प्रेम था। यदि महाराज राम थे तो वे लक्ष्मण तुल्य उनके परम भक्त और सेवक थे। वे महाराज की आज्ञा अथवा इच्छा के विरुद्ध कोई

सूक्ष्म तत्वचिन्तक

काम नही करते थे। मेरे पिता ने ब्रह्मचर्य प्रतिमा ले ली थी। उनके भी भाव मुनि बनने के थे किन्तु दुर्भाग्य से उनकी असमय में मृत्यु हो गई।

जब महाराज ने भोज से लगभग २०, मील की दूरी पर स्थित उत्तूर ग्राम में क्षुल्लक दीक्षा ली तब दूसरे दिन लोगों ने जाकर कहा "महाराज! आपने हमसे दीक्षा की कोई भी चर्चा नही की ?" उनने कहा 'दीक्षा लेने की बात बोलना ही चाहिये ऐसा कोई नियम नही है। हमारे वैराग्य के परिणाम पहले से ही थे यह बात आप लोग जानते ही हे।" इसके पश्चात् उन्होंने थोडा सा वैराग्य उपदेश दिया जो अपूर्व प्राण पूर्ण था।"

क्षुल्लक सुमतिसागरजी फलटण वाले सपन्न तथा लोकविज्ञ व्यक्ति थे। उनने सवन् १९९६ में नादरे में आचार्य शान्तिसागर महाराज के पास से क्षुल्लक दीक्षा ली थी। उनकी अवस्था ६४ वर्ष के लगभग है। उनसे जब ,हमने आचार्य महराज के विषय में प्रश्न किए, तब उनने इन शब्दों में प्रकाश डाला—"मेरी रुचि अध्यात्म शास्त्र में अधिक थी। इससे अध्यात्म चर्चा करने हेतु प्रसिद्ध कारंजा के भट्टारक वीरसेन स्वामी के पास बहुधा जाया करता था। उनका मुझ पर बहुत प्रभाव था। आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व समडोली ग्राम में मुझे आचार्य श्री शातिसागर महाराज के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इनके संपर्क में आते ही, मेरे मन में यह बात आई कि आज हमें सच्चे

आध्यात्मविद्या के महान ज्ञाता

आध्यात्मविद्या के महान ज्ञानी गुरुदेव का समागम मिला है। मैं इनसे आत्मा संबंधी बहुत चर्चा किया करता था, जिसका उत्तर सुनते ही मेरे हृदय के कपाट खुल जाते थे। इनके तत्वप्रतिपादन में एकान्त पक्ष का पोषण नही रहता था। ये स्याद्वाद की सुमधुर शैली का आश्रय लेकर आत्म स्वरूप का प्रतिपादन करते थे। इनके कथन में अनुभूति अपूर्व छटा पाई जाती थी।

दृढ आसन

समडोली से चलकर महाराज ने कोन्नूर में चातुर्मास किया। वहा मैंने देखा कि महाराज जिस आसन से बैठते थे, उसमें परिवर्तन नही करते थे। एक आसन से बैठे हुए वे घटो तत्वचर्चा करते थे।

वाणी में आकर्षण

उनकी वाणी में ओज, माधुर्य, सरलता तथा सरसता का अपूर्व समन्वय रहता था। उनके कथन में अपूर्व आकर्षण

पाया जाता है। उनके मुख के वाक्यों को सदा सुनते रहने की लालसा लगी रहती है।

व्यवहार कुशलता

आचार्य महाराज की व्यवहार कुशलता महत्वपूर्ण है। सन् १९३७ में आचार्य श्री ने सम्मदशिखर जी की संघ सहित यात्रा की थी, उस समय मैं उनके साथ सदा रहता था। सर्व प्रकार की व्यवस्था तथा वैयावृत्य आदि का कार्य मेरे ऊपर रखा गया था। उस अवसर पर मैंने आचार्य श्री के जीवन का पूर्णतया निरीक्षण किया और मेरे मन पर यह प्रभाव पड़ा कि श्रेष्ठ आत्मा में पाये जाने वाले सभी शास्त्रोक्त गुण उनमें विद्यमान हैं। प्रवास करते हुये मार्ग में कई बार जंगली जानवरों का मिलना हो जाता था, किन्तु महाराज में रंचमात्र भी भय या चिंता का दर्शन नहीं होता था। उन जैसी निर्भीक आत्मा के आश्रय से सभी यात्री

निर्भीकता

पूर्णतया भय विमुक्त रहे आते थे। जब जब मार्ग में बड़ी से बड़ी विपत्ति आई, तब हम आचार्य महाराज का नाम स्मरण करके

पुण्यमय प्रभाव

कार्य में उद्यत हो जाते थे, और उनकी जय बोलते हुए काम करते थे। और उस समय विघ्न की घटा शीघ्र ही दूर हो जाती थी। प्रवास के अपार कष्ट होते हैं, किन्तु इन महान योगी के प्रताप से शूलों का फूल रूप परिणमन हो जाता था।

दयाधर्म का महान प्रचार

मार्ग में हजारों लोग आ आकर इन मुनिनाथ को प्रणाम करते थे, इनने उन लोगों को मांस, मदिरा का त्याग कराया है। शिकार न करने का नियम दिया है। इनकी तत्त्वमय वाणी से अगणित लोगों ने दया धर्म के पथ में प्रवृत्ति की है।

आध्यात्मिक आकर्षण

आचार्य महाराज का आध्यात्मिक आकर्षण अद्भुत है। इसीसे उनके पास से घर आने पर चित्त उनके पुनर्दर्शन को तत्काल लालायित हो जाता था। मैं सत समागम का अधिक लाभ लिया करता था।

मेरा व्रतों की ओर विशेष ध्यान नहीं था। एक दिन की बात है कि अक्कलूज आदि स्थानों की बात करते करते मेरे मुख से यह बात निकली कि यदि अतिशय क्षेत्र दहीगाव में पंचकल्याणक महोत्सव होगा तो मैं क्षुल्लक दीक्षा ले लूंगा। मेरे शब्द पूज्य आचार्य महाराज के कर्णगोचर हो गए। उनने मेरे अंतःकरण को समझ लिया। इसके पश्चात् गुरुदेव का

अकलूज में चातुर्मास हुआ। वहा उनका मर्मस्पर्शी उपदेश सुन सुनकर मेरी आत्मा में वैराग्य के भाव जग गये। हमने दीक्षा लेने का निश्चय किया। दहीगाव में पचकल्याणक महोत्सव हो चुका था। सर्वव्यवस्था करने के उपरान्त हमने नादरे में क्षुल्लक की दीक्षा ग्रहण की। यह मेरा पक्का अनुभव है, कि आचार्य महाराज के चरणों में निवास करने से जो शान्ति प्राप्त होती है, वह अन्यत्र नहीं मिलती है। पहले मेरे स्नेही लोग विनोद तथा उपहास करते हुए कहा करते थे, कि मैं क्या दीक्षा लूंगा? किन्तु आचार्य महाराज की वीतराग वाणी ने मेरा मोहज्वर दूर करके मेरी आत्मा का उद्धार कर दिया। उनके निमित्त से हम कृतार्थ हो गये।"

अद्भुत शांतिदाता

भट्टारक जिनसेन स्वामी महाकवि भगवत जिनसेन की गद्दी पर उत्तराधिकारी त्यागी सत्पुरुष हैं। आजकल वे क्षुल्लक व्रती हैं। हम १३-९-५२ को महिसाल जिला सागली में उनके पास पहुचे तथा आचार्य श्री के विषय में उनसे पूछा। तब उनने अपना अनुभव इस प्रकार सुनाया –

"सन् १९१९ की बात है, आचार्य शांतिसागर महाराज हमारे नादणी मठ मे पधारे थे। वे यहा की गुफा में ठहरे थे। उस समय वे ऐलक थे। उनके मुख पर अपार तेज था। पूर्ण शांति भी थी। वे धर्मकथा के सिवाय अन्य पापाचार की बातों में तनिक भी नहीं पडते थे। मैं उनके चरणो के समीप पहुंचा, बडे ध्यान से उनकी शांत मुद्रा का दर्शन किया। उनने मेरे अतःकरण को बलवान चुम्बक की भांति अपनी ओर आकर्षित किया था। नान्दणी में हजारो जैन अजैन नर नारियों ने आ आकर उन महापुरुष का दर्शन किया था। सभी लोग उनके असाधारण व्यक्तित्व, अखड शांति, तेजोमय मुद्रा से अत्यन्त प्रभावित हुए थे। उनका तत्व प्रतिपादन अनुभव की कसौटी पर कसा, अत्यन्त मार्मिक तथा अंतस्थल को स्पर्श करनेवाला होता था। लोग गम्भीर प्रश्न भी करते थे किन्तु उनके तर्क सगत समाधान से प्रत्येक शकाशील मन को शांति का लाभ हो जाता था। उनकी वाणी में उग्रता या कठोरता अथवा चिडचिडापन रचमात्र भी नहीं था। वे बड़े प्रेम से प्रसन्नता-पूर्वक सयुक्तिक उत्तर देते थे। उस समय मेरे मन पर

अपार तेज पुंज

अंतःकरणो के चुम्बक

अनुभव पूर्ण तत्व निरूपण

प्रेम पूर्ण उत्तर दाता

ऐसा प्रभाव पड़ा कि इन समागत साधु चूड़ामणि को ही अपने जीवन का आराध्य गुरु बनाऊँ और उनके चरणों की निरन्तर समाराधना करूं। उनकी अलौकिक मुद्रा के दर्शन से मुझे कितना आनन्द

अलौकिक मुद्रा

हुआ, कितनी शांति मिली और कितना आत्म-प्रकाश मिला उसका मैं वर्णन करने में असमर्थ हूं। इस मनस्वी नररत्न के आज दर्शन की जब भी मधुर स्मृति जग जाती है, तब मैं आनन्द विभोर हो जाता हू। उनका तपस्वी जीवन चित्त को चकित करता था। उस समय वे एक दिन के अतराल से एक बार केवल दूध चावल लिया करते थे। वे सदा आत्म चिन्तन, शास्त्र स्वाध्याय तथा तत्त्वोपदेश में सलग्न पाये जाते थे। लोककथा, भोजनकथा, राष्ट्र-

आत्मा की पोषक वाणी

कथा, आदि से वे अलिप्त रहते थे। उनके उपदेश से आत्मा का पोषण होता था। उनका विषय प्रतिपादन इतना सरस और स्पष्ट होता था कि छोटे बड़े सभी के हृदय में उनकी बात जम जाती थी। उनके दिव्य जीवन को देखकर मैंने उनको अपना आराध्य गुरु मान लिया। अब मैं उनके अनुशासन तथा आदेश में रहना अपना परम सौभाग्य मानता हूँ। मेरे पर उनकी बड़ी दया दृष्टि रही है।

एक धार्मिक सस्थान के मुख्य मठाधीश होने के कारण मेरे समक्ष अनेक बार भीषण जटिल समस्याएं उपस्थित हो जाया करती थीं। उस स्थिति में गुरुराज स्वप्न में दर्शन दे मुझे प्रकाश प्रदान करते हैं। उनके मार्गदर्शन से मेरा कंटकाकीर्ण पथ सर्वदा सुगम बना है। अनेक बार स्वप्न

अपूर्व पथ प्रदर्शन

में दर्शन देकर उन्होंने मुझे श्रेष्ठ संयम पथ में प्रवृत्त होने को प्रेरणापूर्ण उपदेश दिया है। मेरे जीवन का ऐसा दिन अब तक नहीं बीता है जिस दिन उन साधुराज का मंगल स्मरण नहीं आया हो। उनकी पावन स्मृति मेरे जीवन की पवित्र निधि हो गयी है। उससे बड़ी शांति और अवर्णनीय आह्लाद प्राप्त होता है।

इस समय मठ की सम्पत्ति तथा उसकी आय के उपयोग के विषय में मैंने उनसे प्रश्न किया तब महाराज ने कहा "धार्मिक सम्पत्ति का लौकिक कार्यों में व्यय करना दुर्गति तथा पाप का कारण है। इन सप्त क्षेत्रों में धार्मिक द्रव्य का उपयोग करना हितकारी है —

"जिन बिम्ब जिनागारं जिन यात्रा प्रतिष्ठितम् ।
दान–पूजा च सिद्धातलेखन सप्त क्षेत्रकम् ।।"

मेरे मार्ग में विघ्नो की राशि सदा आई, किन्तु गुरुदेव के आदेशानुसार प्रवृति करने से मेरा काम शातिपूर्वक होता रहा। उनका विश्वास है कि इस कलिकाल में भगवान की वाणी के रक्षण द्वारा जीव का हित होगा इसलिये वे शास्त्र सरक्षण के विषय में विशेष ध्यान देते है। एक बार आपने आचार्य श्री को लिखा था कि भगवान

आगम के भक्त

भूतवली स्वामी रचित महाधवल ग्रंथ के चार पाँच हजार श्लोक नष्ट हो गये है, उस समय उनको शास्त्र सरक्षण की गहरी चिन्ता हो गई थी। उस समय मै सागली में था और वर्षाकाल में ही मै उनकी सेवा में कुन्थलगिरि पहुचा। बंबई से संघपति गेंदनमल जी, बारामती से चदूलाल जी सराफ तथा नातेपूते से रामचन्द्र धनजी दावडा वहा आये। सबके समक्ष आचार्य महाराज ने अपनी अतवदना व्यक्त करते हुये कहा "धवल महाधवल ग्रथ महावीर भगवान की वाणी है। उसके चार पाच हजार श्लोक नष्ट हो गये इससे आगामी उपाय ऐसा करना चाहिये जिससे ग्रथो को बहुत समय तक कोई भी क्षति न प्राप्त हो। इसलिये इनको ताम्रपत्र में लिखाने की योजना करना चाहिये जिससे वे हजारो वर्षो पर्यंत सुरक्षित रहे। इस पवित्र कार्य में लाख रुपये से भी अधिक लग जायें तो उसकी परवाह नही करना चाहिये।"

श्रुत सरक्षण का महान कार्य

उनके प्रत्येक शब्द में पवित्र साहित्य सरक्षण के प्रति उत्कट अनुराग भरा हुआ था। मुझपर उनकी वाणी का बडा प्रभाव हुआ मैंने ११११) उस शास्त्र संरक्षण के निमित्त अर्पण किया। आज वह फड लगभग तीन लाख रु० के हो गया है। इस चिरस्मरणीय एवं महनीय शास्त्र सरक्षण का श्रेय पूज्य महाराज को है।

कलिकाल की कृपा से धर्म पर बडे बडे सकट आये। बडे बडे समझदार लोग तक धर्म को भूल अधर्म का पक्ष लेने लगे, ऐसी विकट स्थिति में भी महाराज की दृष्टि पूर्ण निर्मल रही और उनने अपनी सिन्धु तुल्य गम्भीरता को नही छोडा। वे सदा यही कहते रहे है कि 'जिन वाणी सर्वज्ञ भगवान की वाणी है। वह पूर्ण सत्य है। उसके विरुद्ध यदि सारा ससार हो तो भी हमें कोई डर नही है।' उनकी ईश्वर भक्ति

और पवित्र तपश्चर्या से बडे से बडे सकट नष्ट हुए है ।

मेरा यह दृढ विश्वास है कि उनके पुण्य चरणो की सच्ची भक्ति तथा उनके आदेश उपदेश के अनुसार प्रवृत्ति करने से आत्मीक शाति तथा लौकिक समृद्धि भी मिलती है । यह अतिशयोक्ति नहीं है । इस सत्य को मैंने अनेक गुरु भक्तों के जीवन में चरितार्थ होते हुये देखा है । उनका महान व्यक्तित्व तथा पुण्यजीवन इस पापपूर्ण पचमकाल में धर्मप्रचुर चतुर्थ काल की पुनरावृति सा करता हुआ प्रतीत होता है । आज के युग में वे धर्म के सूर्य है दया के अवतार है । मै उनके चरणो को सदा प्रणाम करता हू ।"

दिव्य दृष्टि

महिसाल ग्राम के पाटील श्री मलगोडा केशगोडा आचार्य महाराज के निकट परिचय में आये है । वृद्ध पाटील महोदय ने बताया– "महाराज १९२२ के लगभग हमारे यहाँ पधारे थे । उस समय उनका अपूर्व प्रभाव दिखाई पडा था । उनकी शात और तपोमयमूर्ति प्रत्येक के मन को प्रभावित करती थी । उस समय की एक बात मुझे याद है एक दिन आचार्य महाराज ने अपने साथ में रहने वाले ब्रह्मचारी जिनगोडा (जिनदास समडोलीकर) को अकस्मात् आदेश दिया कि तुम तुरत यहा से समडोली चले जाओ । वे ब्रह्मचारी जी गुरुदेव के आदेश को सुनते ही चकित हो गये । उनका मन गुरुचरणो के निकट रहने को लालायित था फिर भी उन्हें यही आदेश मिला कि वहा एक मिनट भी बिना रुके अपने घर चले जाओ । इस अदेश का कारण अज्ञात था । नेत्रो से अश्रु धारा बहाते हुए उक्त ब्रह्मचारी जी ने प्रस्थान किया । जब वे समडोली पहुचे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि कुछ बदमाशो ने उनकी भनेजन के पति को खेत में कत्ल कर दिया है । उस समय यह बात ज्ञात हुई कि महाराज के दिव्य ज्ञान में इस भविष्यत् कालीन घटना का कुछ सकेत आ गया था । ऐसे योगियो की महिमा का कौन वर्णन कर सकता है ? उनके दर्शन से आत्मा पवित्र होती है ।"

ब्रह्मचारी जिनदास समडोलीवाले उस समय से महाराज के निकट सम्पर्क में रहे हैं जबकि महाराज ब्रम्हचारी के रूप मे अपने घर में रहा करते थे । अत इनके सस्मरण देना भी उपयोगी है —

"मै महाराज के निकट परिचय में उस समय से हू जब वे अपने घर में त्यागी के वेष में रहते थे तथा ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी थे । वे सदा खादी का ही उपयोग करते थे । वे अपना समय ध्यान तथा अध्ययन में लगाते थे । गृह में निवास करते हुए भी वे वास्तव में सन्यासी सदृश

गृहस्थ सन्यासी

थे। उनकी भाषा मित होती थी किन्तु उसका अमित प्रभाव पडता था। उनका खान पान सादा तथा सात्विक था। उनकी बात समाज में तथा जनता में बड़ी विश्वसनीय मानी जाती थी। प्रत्येक के हृदय में उनके पवित्र व्यक्तित्व के प्रति अपार आदर तथा श्रद्धा का भाव पाया जाता था। वे स्वभाव से उदार, दयालु तथा तेजस्वी रहे हैं। उनका गृहवास जल से भिन्न कमल की वृत्ति का स्मरण कराता था। उनका शास्त्र प्रवचन तथा शंका समाधान बहुत ही आकर्षक तथा मार्मिक था, इस कारण मेरा हृदय उनकी ओर अधिक आकर्षित हुआ। उनके परिवार के सभी व्यक्तियो के साथ मेरा निकट सबध रहा है। वे सभी धार्मिक रहे है।

सात्विक जीवन

अद्भुत तपस्या

महाराज की तपश्चर्या अद्भुत रही है। कोगनोली में लगभग ८ फुट लबा स्थूलकाय सर्पराज उनके शरीर में दो घटे पर्यंत लिपटा था। वह सर्प भीषण होने के साथ ही अधिक वजनदार भी था। महाराज का शरीर अधिक बलशाली था इससे वे उसके भारी बोझ को धारण कर सके। दो घटे बाद मैं उनके पास पहुचा। उस समय वे अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में थे। किसी प्रकार का खेद चिन्ता तथा मलीनता उनके मुख मडल पर नही थी। उनकी स्थिरता सबको चकित करती थी। महाराज गोकाक के पास एक गुफा में प्राय. ध्यान किया करते थे। उस निर्जन स्थान में शेर आदि भयकर जतु विचरण करते थे। प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशी को उपवास तथा अखड मौन धारण कर ये गिरि कन्दरा में रहते थे वहा अनेक बार व्याघ्र आदि हिंसक जंतु इनके पास आ जाया करते थे। किन्तु साम्यभाव भूषित ये मुनिराज निर्भीक हो आत्मध्यान में सलग्न रहते थे। गोगाक के पास कोन्नूर की गुफा में सर्प ने आकर इन पर उपसर्ग किया था किन्तु ये मुनिराज अपने साम्यभाव से विचलित नही हुए। महाराज जब ध्यान में निमग्न होते हैं तब उनकी तल्लीनता को वज्रपात द्वारा भी भग नही किया जा सकता। एक समय वे अषाढ़ बदी अष्टमी को समडोली में अष्टमी की संध्या से जो ध्यान में बैठे तो नवमी के प्रभात तक नही उठे। दस बजे तक लोगो ने प्रतीक्षा की उस समय चिन्तातुर भक्तो ने दरवाजा तोडकर भीतर घुस

शेर सर्प आदि का उनके पास प्रेम भाव से निवास

कर देखा तो महाराज ध्यान में ही मग्न पाये गये। उस समय हल्ला होने के कारण उनकी समाधि भंग न हुई थी।

अन्य साधुओं पर प्रभाव

अन्य सम्प्रदाय के बड़े बड़े साधु और मठाधीश इनके चरित्र और तपस्या के वैभव के आगे सदा झुकते रहे हैं। एक बार जब महाराज हुबली पधारे उस समय लिंगायत सम्प्रदाय के श्रेष्ठ आचार्य सिद्धारूढ़ स्वामी ने इनका दर्शन किया, और वह इनका भक्त बन गया। उसने अपने शिष्यों से कहा था कि जीवन में ऐसे ही महापुरुष को अपना गुरु बनाना चाहिये।

जनता पर अपूर्व प्रभाव

एक समय कोल्हापुर के समीपवर्ती इस्लामपुर में मुसलिम अधिकारी ने महाराज के आम सड़क से निकलने के विषय में आपत्ति उपस्थित की थी। क्षण भर में आस पास के ग्रामों में यह समाचार फैल गया कि इस्लामपुर के मुसलिम आचार्य महाराज के प्रति दुष्ट व्यवहार करना चाहते हैं। थोड़े समय में दस हजार से अधिक ग्रामीण जैनी चारों ओर से लाठी आदि लेकर आ गये। उस समय वह इस्लामपुर जैनपुर सा दिखता था। मुसलिम लोग अपने अपने घरों में घुस गये। उन्हें अपनी जान बचाना कठिन पड़ गया। तत्काल मुसलिम अधिकारी ने अपने नादिरशाही आर्डर को वापिस लिया। आचार्य शान्तिसागरजी का जयजयकार करते हुए उस स्थान से विहार हुआ। महाराज का पुण्य-प्रताप ऐसा है कि बड़ी से बड़ी

मुझे जीवन दिया और आत्म हत्या के पाप से बचाया

विपत्ति शीघ्र ही दूर होकर गौरव को वृद्धि करने वाली बन जाती है। उनकी अपार सामर्थ्य को मैंने अपने जीवन में अनुभव किया। उन्होंने मेरे प्राण बचाए मुझे जीवन दान दिया अन्यथा मैं आत्महत्या के दुष्परिणाम स्वरूप न जाने किस योनि में जाकर कष्ट भोगता फिरता। बात इस प्रकार है—

वेदना व्यक्त करदी । उनने मुझे बडी हिम्मत दी और आत्मघात करने को महान पातक बता उसे रोका । उनने मुझसे कहा 'घबराओ मत तुम्हारा रोग जल्दी दूर हो जावेगा । तुम प्रभात, मध्यान्ह तथा सायकाल के समय शुद्धतापूर्वक ऐकीभाव स्तोत्र का पाठ करो ।' तीन चार

गुरु प्रसाद

सप्ताह के बाद वह रोग दूर हो गया और मैं गुरू प्रसाद से न केवल उस रोग से मुक्त हुआ बल्कि आत्मघात की विपत्ति से बचा ।" यह हाल बहुत लोगों को मालुम है । स्तवनिधि क्षेत्र में पायसागर महाराज ने आचार्य महाराज की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए बताया था कि गुरु प्रसाद से ब्रह्मचारी जिनदास यह रोग मुक्त हुआ था ।

वार्तालाप

एक बार मैंने महाराज से उनके गुरु के बारे में पूछा था। तब उनने बताया था कि "देवेन्द्रकीर्ति स्वामी से हमने जेठ सुदी १३ शक संवत १८३७ में क्षुल्लक दीक्षा ली थी तथा फाल्गुन सुदी एकादशी शक संवत १८४१ में मुनि दीक्षा ली थी। वे बाल ब्रम्हचारी थे, सोलह वर्ष की अवस्था में सेनगण की गद्दी पर भट्टारक बने थे। उस समय उनने सोचा कि गद्दी पर बैठे रहने से मेरी आत्मा का क्या हित सिद्ध होगा, मुझे तो झंझटों से मुक्त होना है इसलिये दो वर्ष बाद उन्होंने निर्ग्रन्थ वृत्ति धारण की थी। उनने अपने जीवन भर आहार के बाद उपवास तथा उपवास के बाद आहार रूप पारणा, धारणा का व्रत पालन किया था।"

देवेन्द्र कीर्ति मुनि का कथन

आचार्य महाराज ने एक आदिसागर मुनिराज के विषय में बताया था कि "वे बड़े तपस्वी थे, और सात दिन के बाद आहार लेते थे। शेष दिन उपवास में व्यतीत करते थे। यह क्रम उनका जीवन भर रहा। आहार में वे एक ही वस्तु ग्रहण करते थे। वे प्रायः जंगल में रहा करते थे। जब वे गन्ने का रस लेते थे तब गन्ने के रस के सिवाय अन्य पदार्थ ग्रहण नहीं करते थे। उनमें बड़ी शक्ति थी। आम की ऋतु में यदि आम के रस का आहार मिला तो वे उस पर ही निर्भर रहते थे। उनकी आध्यात्मिक पदों को गाने की आदत थी। वे कनडी में पदों को गाया करते थे।

आदिसागर मुनि का वर्णन

जब वे भोज में आते थे और हमारे घर में उनका आहार होता था तब वे उस दिन हमारी दुकान में ही रहते थे। वहां ही वे रात्रि को सोते थे। हम भी उनके पास में सो जाते थे। हम उनकी निरंतर वैयावृत्ति तथा सेवा करते थे। दूसरे दिन हम उनको दूधगंगा, वेदगंगा नदी के संगम के पास तक पहुंचाते थे। बाद में हम उन्हें अपने कंधे पर रखकर नदी के पार ले जाते थे।"

मैंने पूछा—"महाराज! एक उन्नत काय वाले पुरुष को अपने कंधे पर रखकर ले जाने में आपके शरीर को बड़ा कष्ट होता होगा?"

महाराज ने कहा— हम रंच मात्र भी पीड़ा नहीं हो

बड़ा भार उन्हें ऐसा मालूम होता था जैसे कोई गृहस्थ ए

कधे पर रखकर नदी के पार ले जाता हो। महाराज ने बताया था 'हम आदिसागर महाराज की तपस्या से बहुत प्रभावित थे। उनको हम आहार दान देते थे। उनके कमन्डलु में हम जल भरते थे। उनके साथ रहा करते थे। वे कोन्नूर के पास की गुफा में रहते थे। वहाँ मुनियो के निवास योग्य सैकडो गुफायें हैं। एक बार में आदि सागरस्वामी ध्यान करते थे, तब शेर आया था"।

कोनूर की गुफा

मैंने पूछा—"महाराज शेर के आने पर भय का सचार तो हुआ होगा ?"

महाराज ने कहा—"नही। कुछ देर के बाद शेर वहाँ से चला गया।

शेर का आगमन

मैंने पूछा—"महाराज! निर्ग्रन्थ दीक्षा लेने के बाद विहार करते हुए कभी शेर आपके पास आया था ?"

महाराज ने कहा—'हम मुक्तगिरि के पर्वत पर रहते थे, वहाँ शेर आया करता था और प्रतिदिन पास में बहने वाले झरने का पानी पीकर चला जाता था। श्रमणबेलगोला की यात्रा में भी शेर मिला था। सोनागिरि क्षेत्र पर भी वह आया था। इस तरह शेर आदि बहुत जगह आते रहते हैं इसमें महत्व की कौन सी बात है ?"

मैंने कहा—"महाराज साक्षात् यमराज की मूर्ति व्याघ्रराज के आने पर घबडाहट होना तो साधारण बात है ?"

महाराज ने कहा—'डर किस बात का किया जाय। जीवन भर हमें कभी किसी वस्तु का डर नही लगा। जब तक कोई पूर्व का वैर न हो अथवा उस जानवर को बाधा न दो तब तक वह नही सताता है।"

महाराज ने मुक्तागिरि से बडवानी जाते हुए सतपुडा के निर्जन वन की एक घटना बतायी कि "विहार करते समय उस निर्जन वन में सध्या हो गयी। हम ध्यान करने को बैठ गये। साथ के श्रावक वहाँ डेरा लगाकर ठहर गये। उस समय जब शेर आया, तब श्रावक घबड़ा गये। एक तो हमारी कुटी के भीतर घुस गया था। कुछ काल के पश्चात वह शेर बिना हानि पहुँचाये जगल में चला गया।"

महाराज का लौकिक जीवन वास्तव मे अलौकिक था। लोग लेन देन के व्यवहार में इनके वचनों को अत्यधिक प्रामाणिक मानते थे। इनकी वाणी रजिस्ट्री किये गये सरकारी कागजात के समान विश्वसनीय मानी जाती थी। इनके सच्चे व्यवहार पर वहाँ के तथा दूर दूर के लोग अत्यन्त

मुग्ध थे। मैंने पूछा—"महाराज हिन्दी भाषा के प्राचीन पंडितों ने लिखा है कि श्रावक को खेती नहीं करना चाहिये उसे सोना चांदी माणिक, मोती आदि का व्यापार करना चाहिये। क्या जैन धर्म में बेचारे गरीबों का कोई ठिकाना नहीं है? खेती आदि का व्यवसाय तो राष्ट्र का जीवन है?

खेती के विषय में चर्चा

महाराज बोले, "खेती का हमें स्वयं अनुभव है, उसमें परिणाम जितने सरल रहते हैं उतने अन्य व्यवसाय में नहीं रहते हैं। अन्य धन्धों में बगुले की तरह ध्यान रहता है, वह चुपचाप बैठा रहता है किन्तु उसका ध्यान सदा ग्राहक की ओर लगा रहता है। ग्राहक दिखा कि वह उसके पीछे लगा। इन धंधों में हजारों प्रकार का मायाचार होता है। गृहस्थ गद्दी पर चुपचाप बैठे हुए ग्राहक का ध्यान करता है। बड़ी-बड़ी गद्दी वाले हजारों लोग मायाचार पूर्वक धन को लेते हैं। सोना चांदी के व्यापार में भी ऐसे ही भाव रहते हैं।"

खेती के विषय में कुरल काव्य का कथन बड़ा महत्वपूर्ण है उसमें कृषि के महत्व पर बड़ी मार्मिक बात कही गई है—

"उनका जीवन सत्य जो, करते कृषि उद्योग।
और कमाई अन्य की खाते बाकी लोग।
निज कर को यदि खींच ले कृषि से कृषक समाज।
गृह त्यागी तब साधु के टूटे सिर पर गाज।
जोतो नींदो खेत को खाद बड़ा परतत्व।
सींचे से रक्षा उचित, रखती अधिक महत्व।
नहीं देखता भालता कृषि को रहकर गेह,
गृहिणी सम तब रूठती, कृषि भी कृश कर देह।

पाप का कारण मनोवृत्ति है। आचार्य सोमदेव ने अपने 'यशस्तिलक' महाकाव्य में लिखा है[1] "परिणामविशेषवश जीवघात न करता हुआ धीवर की तरह पाप का बंध करता है किन्तु किसान कृषि में जीवघात होते हुए भी प्राणघात की मनोवृत्ति न धारण करने के कारण धीवर के सामान पाप को नहीं प्राप्त करता है।" 'स्वयम् स्तोत्र' में स्वामी समतभद्र ने

---

१ अघ्नन्नपि भवेत्पापी, निघ्नन्नपि न पापभाक्
अभिध्यानविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥ अध्याय ७, पृ. ३३५

लिखा है—"कि आदिनाथ भगवान ने प्रजा को कृषि आदि कर्म का उपदेश दिया था।"

अपूर्व तीर्थ भक्ति

महाराज की तीर्थभक्ति अपूर्व है। तीर्थस्थान के दर्शन करना तथा वहाँ निर्वाणप्राप्त आत्माओं का स्तवन करना तो प्रत्येक भक्ति की कृति में दृष्टिगोचर होता है, कि तु तीर्थस्थान जाकर अपार विशुद्धि प्राप्त करके आत्मा को समुन्नत बनाने के लिए सयम भाव की शरण कितने व्यक्ति लिया करते है ? आचार्य महाराज जब शिखरजी की वदना को लगभग बत्तीस वर्ष की अवस्था में पहुचे थे, तब उनने नित्य निर्वाण भूमि की स्मृति में विशेष प्रतीज्ञा लेने का विचार किया और जीवन भर के लिए घी तथा तेल भक्षण का त्याग कर दिया। घर आते ही इन भावि- मुनिनाथ ने एक-बार भोजन की प्रतीज्ञा ले ली। रोगी व्यक्ति भी अपने

शिखर जी की वदना से त्याग और नियम

शरीर रक्षण के हेतु कडा सयम पालने में असमर्थ होता है, किन्तु इन प्रचड-बली सत्पुरुष का रसना इद्रिय पर अकुश लगाने वाला महान त्याग वास्तव में अपूर्व था। शास्त्र में रसना इद्रिय तथा स्पर्शन इद्रिय को जीतना बड़ा कठिन कहा गया है। उपरोक्त प्रकार के अनेक आहार की लोलुपता त्याग कराने वाले नियम द्वारा इनने रसना इद्रिय को अपने अधीन कर लिया तथा आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत द्वारा स्पर्शन इद्रिय पर विजय की। ये यथार्थत पूर्ण बालब्रह्मचारी है, जिनने कभी भी स्त्री-सबध नही किया।

रसना इद्रिय की लालसा छोडकर कठोर सयम पालन करना साधारण कार्य नही है। हमने एक प्रसिद्ध त्यागी महाराज का दर्शन किया है, जो तर्क के बडे पडित थे किन्तु गुणत व श्रेष्ठ रसो का स्वाद लेने वाले भोजनानद महाराज थे। उत्तम श्रावक का व्रत धारण करते हुए भी वे इस बात का आगम में प्रमाण प्राप्त करने का उद्योग करते थे, कि कही भी दुबारा कम से कम जल लेने की अनुज्ञा मिल जाय। उनका सदेशा लेकर हम एक बार आचार्य महाराज के पास पहुचे थे, किन्तु आगम का अवलबन न मिलने से उनकी मनोकामना पूर्ण न हो सकी थी। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि रसना इद्रिय की लालसा का त्याग करना साधारण बात नही है। लौकिक श्रेष्ठ ज्ञान सपादन करने वाला प्रकाड विद्वान भी सयम की साधारण परीक्षा में उत्तीर्ण नही हो पाता है। यथार्थ में वासनाओं पर विजय सरल बात नहीं

किन्तु आगामी मानवता के उद्धार का पवित्र भार उठाने की शक्ति की परीक्षा भी की थी। आज प्रतिष्ठा का रोगी निर्धन भी थोड़े से भार को उठाने में असमर्थ बन नौकर या वाहन को खोजा करता है किन्तु ये श्रीमंत भीमगौंडा पाटील के अनन्य स्नेह के पात्र आत्मज अपनी प्रतिष्ठा, एक जिन चरण भक्त निर्धनमाता को पीठ पर लादकर पर्वत की वंदना कराना, मानते थे। ऐसी ही घटनाओं से अंतःकरण की पवित्रता और महत्ता का अनुमान होता है।

राजगिरी की स्मरणीय घटना

ऐसी ही घटना राजगिरि की पंच पहाड़ियों की यात्रा में हुई। वहां की वन्दना बड़ी कठिन लगती है। कारण वहां का मार्ग पत्थरों के चुभने से पीड़ाप्रद होता है। जैसे यात्री शिखरजी आदि की अनेक बार वन्दना करते हुए भी नहीं थकता है वैसी स्थिति राजगिरि में नहीं होती है। यहां पांचों पर्वतों की वन्दना एकदिन में करने वाला अपने को धन्यवाद देता है महाराज ने देखा कि एक पुरुष अत्याधिक थक गया है और उसके पैर आगे नहीं बढ़ रहे हैं। उस पहाड़ी पर चढ़ते समय बलवान आदमी भी थकान तथा कठिनता का अनुभव करता है, किन्तु इन बली महात्मा ने उस पुरुष को पीठ पर रखकर वन्दना करा दी। इससे बाह्य दृष्टि वाले इनके शारीरिक बल की महत्ता आंकते हैं, किन्तु हमें तो इनके अन्तःकरण तथा आत्मा की अपूर्वता एवं विशालता का परिज्ञान होता है।

आज भी निर्वाण स्थल की ओर उनकी आत्मा विशेष आकर्षित हो रही है। उनने सन १९४५में फलटण के चातुर्मास के समय हमसे पूछा था कि समाधि के योग्य कौनसा स्थान अच्छा होगा ?

मैंने कहा—"महाराज ! मेरे ध्यान में श्रवणबेलगोला का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है जहाँ भगवान बाहुबलि की त्रिभुवन मोहिनी मूर्ति विराजमान है।"

महाराज ने कहा—"हमारा ध्यान निर्वाणभूमि का है।"

मैने कहा—"इस दृष्टि से वीर भगवान का निर्वाण स्थान पावापुरी अधिक अनुकूल होगा।"

महाराज ने कहा—"वह स्थान बहुत दूर है, अब हमारा वहाँ पहुंचना संभव नहीं दिखता। इसका विशेष कारण यह है कि हमारे नेत्रों में काच बिंदु (Glocoma) नाम का रोग हो गया है जो अधिक चलने से

है। निकटससारी जीवो की ऐसे कार्यों में स्वतः प्रवृत्ति हुआ करती है। वास्तव में बात यह है कि जब जीव को आत्मा का रस आने लगता है, तब जीभ का रस स्वय दूर होने लगता है। शिखरजी की वदना ने महाराज को सयम के शिखर पर चढ़ने के लिए त्यागी बनने की प्रबल प्रेरणा तथा महान विशुद्धता प्रदान की।

शिखर जी की मधुर घटना

शिखरजी की वदना की एक मधुर घटना का महाराज के जीवन से सम्बन्ध है, उससे उनके अहकार विहीन उज्वल जीवन का अवबोध जगजाल में जकडे हुए मानव को भी हुए बिना न रहेगा। पर्वत दूर से प्रिय और रमणीय लगते हैं किन्तु उनपर आरोहण करते समय उनकी भीषणता का परिचय मिलता है। सम्मेदशिखर का पर्वत २५ वर्ग मील विस्तार वाला है। वहा की सर्वोन्नत शिखर ४५०० फुट ऊचाई पर है। शरीर में अल्पशक्ति होने पर या बुढापा आने पर वदना पैदल करना असभव सा दिखता है, किन्तु दृढ निश्चय, अपार जिन भक्ति के कारण वे महिला तक पैदल वदना कर लिया करती है, जिनको एक मील जाने के लिए सवारी का आश्रय लेना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। पर्वत पर चढते समय अत्यन्त अल्प सामान ले जाते हैं, जो सभवत यह बात सूचित करता है कि उन्नति के शिखर पर जाने के लिए अल्प परिग्रह रखना आवश्यक है। पर्वत पर जाते समय श्रांत आदमी को शरीर का भार भी असह्य लगता है। मोटा आदमी जल्दी थककर अपने फूले शरीर के कारण कष्ट का अनुभव करता है और दुबले पतले लोग फूल की तरह हल्के मन की अनुभूति करते हुए शैलशिखर पर चढ जाते हैं। पर्वत की वदना के हेतु जाती हुई मातायें अपने शिशुओ का भार उठाने मे भी अपार कष्ट का अनुभव करती हुई नौकरो का सहारा ढूंढा करती है। उस वदना में प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी चिन्ता में व्यस्त रहा करता है। आचार्य श्री पर्वत पर चढ रहे थे। उनकी करुणा पूर्ण दृष्टि एक वृद्धा माता पर पढी जो प्रयत्न करने पर भी आगे बढने में असमर्थ हो गई थी। थोडा चलती थी किन्तु फिर ठहर जाती थी। पैसा इतना न था कि पहले से ही डोली का प्रबन्ध करती। उस माता को देखकर इन महामना के हृदय में वात्सल्य भाव उत्पन्न हुआ। इनने माता को आश्वासन देते हुए धैर्य बधाया और अपनी पीठ पर उनको बैठाकर पर्वतराज की कठिन वदना करा दी। हमे तो यह प्रतीत होता है कि उस समय पर्वतराज पर उस माता का भार ही इनने नही उठाया

किन्तु आगामी मानवता के उद्धार का पवित्र भार उठाने की शक्ति की परीक्षा भी की थी। आज प्रतिष्ठा का रोगी निर्धन भी थोड़े से भार को उठाने में असमर्थ बन नौकर या वाहन को खोजा करता है किन्तु ये श्रीमंत भीमगौंडा पाटील के अनन्य स्नेह के पात्र आत्मज अपनी प्रतिष्ठा, एक जिन चरण भक्त निर्धनमाता को पीठ पर लादकर पर्वत की वंदना कराना, मानते थे। ऐसी ही घटनाओं से अंतःकरण की पवित्रता और महत्ता का अनुमान होता है।

राजगिरी की स्मरणीय घटना

ऐसी ही घटना राजगिरि की पंच पहाड़ियों की यात्रा मे हुई। वहा की वन्दना बड़ी कठिन लगती है। कारण वहा का मार्ग पत्थरो के चुभने से पीड़ाप्रद होता है। जैसे यात्री शिखरजी आदि की अनेक बार वन्दना करते हुए भी नही थकता है वैसी स्थिति राजगिरि में नहीं होती है। यहा पाचों पर्वतो की वन्दना एकदिन में करने वाला अपने को धन्यवाद देता है महाराज ने देखा कि एक पुरुष अत्यधिक थक गया है और उसके पैर आगे नही बढ रहे है। उस पहाडी पर चढते समय बलवान आदमी भी थकान तथा कठिनता का अनुभव करता है, किन्तु इन बली महात्मा ने उस पुरुष को पीठ पर रखकर वन्दना करा दी। इससे बाह्य दृष्टि वाले इनके शारीरिक बल की महत्ता आकते हैं, किन्तु हमें तो इनके अन्तःकरण तथा आत्मा की अपूर्वता एवं विशालता का परिज्ञान होता है।

आज भी निर्वाण स्थल की ओर उनकी आत्मा विशेष आकर्षित हो रही है। उनने सन १९४५में फलटण के चातुर्मास के समय हमसे पूछा था कि समाधि के योग्य कौनसा स्थान अच्छा होगा ?

मैंने कहा—"महाराज ! मेरे ध्यान में श्रवणबेलगोला का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है जहाँ भगवान बाहुबलि की त्रिभुवन मोहिनी मूर्ति विराजमान है।"

महाराज ने कहा—"हमारा ध्यान निर्वाणभूमि का है।"

मैंने कहा—"इस दृष्टि से वीर भगवान का निर्वाण स्थान पावापुरी अधिक अनुकूल होगा।"

महाराज ने कहा—"वह स्थान बहुत दूर है, अब हमारा वहाँ पहुंचना सभव नही दिखता। इसका विशेष कारण यह है कि हमारे नेत्रो में काच बिंदु (Glocoma) नाम का रोग हो गया है जो अधिक चलने से

बढता है। उससे नेत्रों की ज्योति मन्द होती जा रही है। यदि दृष्टि की शक्ति अत्यन्त क्षीण हो गई तो हमें समाधि मरण लेना होगा।"

इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए उनने कहा था, देखने की शक्ति नष्ट होने पर ईर्यासमिति नही बनेगी, भोजन की शुद्धता का पालन नही हो सकेगा, पूर्ण अहिंसा धर्म का रक्षण असम्भव हो जायगा। इससे चतुर्विध आहार का त्याग करना आवश्यक होगा।"

अब सात वर्ष व्यतीत होने के बाद इस वर्ष अगस्त सन् १९५२ में लोणद चातुर्मास के समय उनने पर्यूषण पर्व म कहा--"हमारा विचार अब चातुर्मास पूर्ण होने के अनन्तर निर्वाण भूमि की ओर जाने का हो रहा है। हमने दो वर्ष पूर्व गजपथा म विजयदशमी के दिन १२ वर्ष के भीतर समाधीमरण का उत्कृष्ट नियम लिया था, ऐसा ही नियम हमने वर्धमानसागर को भी दिया है। इस काल से अधिक हमारा शरीर नही टिकेगा। उसकी भी अवस्था ९२ वर्ष की हो गई। वह भी अधिक समय तक नही रहेगा, इससे हमने उसे भी उक्त सदेशा भिजवाया था।"

समाधिके विषय में सावधानी

अपने नेत्र रोग के विषय मे उनने कहा 'हमें अपना कल्याण करना है। हम व्यवहार क्रियाओ को पालते हैं, किन्तु हमारा ध्यान निश्चय पर अधिक है। भगवान के ज्ञान में जो हमारा भवितव्य है, वह होगा। उस पर अटल श्रद्धा है, इससे हम निर्वाण भूमि में जाने का निश्चय कर रहे हैं। निर्वाण भूमि में रहकर जीवन व्यतीत करना और अत में वहाँ ही समाधि करने का हमारा इरादा है।" इससे उनकी अपार तीर्थ-भक्ति स्पष्ट होती है।

व्यवहार धर्म पालन हुए निश्चय पर दृष्टि

एक दिन आचार्य श्री, सेठ चदूलाल सराफ के वस्ती से दूर बारामती के सुन्दर उद्यान मे सन् १९५१ के ग्रीष्म काल में विराजमान थे। वहा का प्रशान्त और पवित्र वातावरण बडा प्रिय लगता था। एक दिन मैंने पूछा--"महाराज आपके निकट सपर्क में आने वाले अनेक व्यक्ति रह होग उनमें उल्लेखनीय स्थान किसका था ?"

मित्र के जीवन पर प्रकाश

महाराज ने कहा--"हमारा एक मित्र था। उसका नाम रुद्रप्पा था। वह लिंगायत जाति का था। बडा श्रीमत था। उसके यहा तबाखू का व्यापार होता था। भोज म तबाखू का मुख्य व्यापार है। रुद्रप्पा उत्कृष्ट सत्यभाषी था।

वह भोजन के उपरांत अपने घर के कमरे में चुपचाप बैठा रहता था। किसी से व्यर्थ का वचनालाप नहीं करता था। प्रायः जंगल में जाता था और ध्यान करता था। वह हमसे हृदय खोलकर बातें करता था। उससे हमारी खूब चर्चा चलती थी।" नीतिकार कहता है, "समान-शील-व्यसनेषु मैत्री"--समान शील स्वभाव वालों से मित्रता होती है यह बात यहां पूर्णतया चरितार्थ होती है। कारण दोनों सत्य निष्ठ और दोनों ही ईश्वर के भक्त, उनमें घनिष्ठता होना स्वाभाविक है।

सत्य की आदत

महाराज ने कहा,--"बचपन से ही हमारी सत्य का पक्ष लेने की आदत रही है। हमने कभी भी असत्य का पक्ष नहीं लिया। अब तो हम महाव्रती मुनि हैं। हम अपने भाइयों अथवा कुटुम्बियों का पक्ष लेकर बात नहीं करते थे। सदा न्याय का पक्ष लेते थे चाहे उसमें हानि हो। इस कारण जब कभी व्यापार में, लेनदेन में वस्तुओं के भाव आदि में झगडा पड़ जाता था तब लोग हमारे कहे अनुसार काम करते थे। रुद्रप्पा हमारे पास आया करता था। हमारी धर्म की चर्चा होती थी। हम कभी लौकिक चर्चा या विचार नहीं करते थे।"

इस सत्यनिष्ठा, पुण्य-जीवन आदि के कारण भोजवासी इनको अपने अंतःकरण का देवता सा समझा करते थे। इनके प्रति जनता का अपार अनुराग तब ज्ञात हुआ, जब इन मनस्वी सत्यपुरुष ने मुनि बनने की भावना से भोज भूमि की जनता को छोड़ा था। आज भी भोज के पुराने लोग उनकी गौरव गाथा को कहते हुए बताते हैं "कि हमारे यहां का सूर्य चला गया।" जगत पूज्य व्यक्ति भी अपने स्थान में वंदित नहीं होता, ऐसी सूक्ति है। किन्तु ये प्रकृतिसिद्ध महात्मा उस लोकोक्ति के बंधन-विमुक्त थे, कारण इनकी जन्मभूमि की जनता इनको देवता तुल्य,पूज्य तथा वंदनीय मानती थी। सर्वत्र यह नियम नहीं देखा जाता।

जन्मभूमि में भी वंदित

अंग्रेजों की प्रसिद्ध कहावत है--अपनी जन्म भूमि तथा अपने घर को छोड़कर सर्वत्र पैगम्बर पूजा जाता है।[१] आचार्य श्री के जीवन में यह बात नहीं है। वे छोटे से कुटुम्ब तथा स्नेही जनों का साथ छोड़कर जगत भर के

---

१ "A Prophet is not without honour, save in his own country and in his own house"—New Testament, Mathew XIII, 57.

प्रति मैत्री की भावना धारण कर जब वे विश्वबंधु बनने गए उस समय भोजग्राम तथा आसपास के हजारो व्यक्ति इस प्रकार रोते थे, मानो उनका सगा बंधु ही जा रहा है। यह इस बात का द्योतक है कि पूज्य श्री का जीवन प्रारभ से ही असाधारण तथा सद्‌गुणो का निकेतन रहा है।

पूज्य श्री का लोक का अनुभव भी महान है। वे लोकानुभव तथा न्यायोचित सद्‌व्यवहार के विषय मे एक बार कहने लगे—

लोक के विषय में अनुभव

"मनुष्य सर्वथा खराब नही होता। दुष्ट के पास भी एकाध गुण रहता है। अतः उसे भी अपना बनाकर सत्कार्य का सपादन करना चाहिए। व्यसनी के पास भी यदि महत्व की बात है तो उससे भी काम लेना चाहिए" उनने यह भी कहा "ऐसी नीति है कि मनुष्य को देखकर काम कहना और वृक्ष को देखकर आराम करना चाहिए।" उनके निकट संपर्क में आने वाले जानते है, कि आध्यात्मिक जगत के अप्रतिम महापुरुष होते हुए भी यथोचित लौकव्यवहार तथा सज्जन धर्मात्माओ को यथायोग्य सम्मानित करने में वे अतीव दक्ष हैं। अन्य धर्मवाला व्यक्ति भी आकर उनके चरणो का दास बन जाता है।

एक बार महाराज अहमदनगर (बम्बई प्रात) के पास से निकले। वहाँ कुछ श्वेताम्बर भाइयो के साथ एक श्वेताम्बर साधु भी थे। वे जानते थे कि 'महाराज दिगम्बर जैनधर्म के खूटी के सदृश पक्के श्रद्धावी हैं। वे हम लोगो

मधुर व्यवहार

को मिथ्यात्वी कहे बिना न रहेंगे। कारण नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने हमें संशय मिथ्यात्वी कहा है।' उन श्वेताम्बर साधु ने मन में अशुद्ध भावना रखकर प्रश्न किया "महाराज! आप हमको क्या समझते हैं?" उस समय महाराज ने कहा "हम तुम्हें अपना छोटा भाई समझते है।" इस मधुर रसपूर्ण उत्तर से उनने अपने को कृतार्थ अनुभव किया। महाराज ने कहा— "पहले हममें तुममें अन्तर नही था पश्चात् कारण विशेष से पृथक्पना हो गया, अतः तुम भाई ही तो हैं।" यदि आचार्य श्री के स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति विवेकपूर्ण ऐसी बात न कहता तो कलह, विद्वेष और संक्लेश जनक वातावरण सहज ही हो जाता। वाणी का संयम महाराज में अद्‌भुत है। जब वे बोलते है, तब श्रोताओं की इच्छा यही होती है कि इनके मुखसे अमृतवाणी का प्रवाह बहता ही जावे और उसे कर्णपात्र द्वारा पीते चले जावें।

१९४६ अगस्त की बात है, एक दिन महाराज कवलाना में विराजमान

थे। एक ब्रह्मचारी बन्धु पधारे। उनके मुख से मधुर मधुर बातो को सुनकर मैं महाराज से दूसरे दिन बोल उठा, "महाराज! ब्रह्मचारीजी बड़े सज्जन धर्मात्मा है।"

महाराज ने कहा—"मराठी भाषा में कहावत है 'जैसा बोले तैसा चाले त्याची वदावी पाउले'—जैसा बोले वैसा यदि चले, तो उसके चरणो की वंदना करना चाहिए।" इस मधुर उत्तर से सब बात समझ में आ गई।

इसी प्रकार एकबार एक सज्जन आए और बडी बडी लच्छेदार जमीन आसमान एक करने वाली बातें कहने लगे। उस समय मैंने महाराज से कहा "महाराज वे बडे प्रभावशाली व्यक्ति मालुम पडते हैं।"

महाराज बोले—"तुम नही जानते बडी बातें करने से ही आदमी बडा नही बन जाता है।" उनकी लोक प्रवीणता को देखकर चित्त में यही आता है कि वे विशाल जैनसंघ के संरक्षक वृद्ध पितामह ही हैं।

महाराज की वाणी में मार्मिकता, मधुरता, तथा उज्वल विनोद का भी संमिश्रण रहता है। इसी से उनके पास शुष्क जीवन नही दिखता। ऐसा लगता है मानो हम शांति और करुणा के सिंधु के समीप ही बैठे हैं। सन् १९४९ के भादो के पर्व में मैं कवलाना गया था। वहाँ पूज्य श्री का चातुर्मास था। वहां महाराज बडोदा गायकवाड के द्वारा बनवाए गए बडे बडे भवन हैं। पहले बाल्यकाल में स्वर्गीय सयाजीराव गायकवाड एक जैन परिवार के यहां नौकरी करते थे। पश्चात् पुण्योदय से वे बडौदा सरकार के वंशज निकले। अनेक शुभचिन्हो को देखकर उनको बडौदा का राज्यासन प्राप्त हुआ। उनने अपने जन्म स्थान में बडे बडे विशाल सुन्दर भवन निर्माण करवाए। अतः कवलाना छोटासा ग्राम होते हुए भी अनेक बडे बडे भवनो समन्वित हैं। उस कवलाना की असाधारणता ही है, जो वहाँ का एक बालक एक बड राज्य का शासक बना। उस कवलाना में आचार्य महाराज ने जैनियो की विशेष संख्या न होते हुए भी, अपने दो चातुर्मास व्यतीत किये, यह उस भूमि की विशेष आकर्षकता कहना चाहिए। वहाँ के एक बडे भवन में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा जी विराजमान की गई थी। अब पूज्य महाराज के पुण्य प्रभाव से एक भव्य जिनालय वहाँ बन गया है।

मार्मिक विनोद

वहाँ व्रतो में शास्त्र वाचन का आदेश गुरुदेव ने मुझ दिया था। एक दिन मैं शास्त्र पढ रहा था। जिस गद्दी पर मैं बैठा था उसके ऊपर चंदेवा लगा हुआ था। पास में एक ओर पूज्य आचार्य

वज्रसमान कठोर रहती है, किन्तु दूसरे जीवों की व्यथा के लिए कुसुमादि पुष्प से भी मृदुतर वृत्ति वाली हो जाती है। विलियम हैज़लिट ने लिखा है—"हमारी सबसे छोटी अंगुली में थोड़ी सी भी पीड़ा होने पर वह अधिक चिन्ता तथा व्याकुलता उत्पन्न करता है जितना की हमारी मानव समाज के कोट्यावधि मानवों का ध्वंस उत्पन्न नहीं करता है"[1] जब जीवन में अहिंसा की शुभ्र ज्योति आलोक नहीं पहुँचाती तब तक ऐसी संकीर्ण स्वार्थ की कोठरी से निकलकर विशाल विश्व के प्रांगण में आने का न साहस होता है और न मनोबल ही उत्पन्न होता है।

इस घटना को देखकर समझ में आया कि करुणा के परमाणु पुंज से सर्वांगपूर्ण होने के कारण ही मुनि को मंगल रूप मानना तो ठीक है ही, उनके द्रव्य शरीर को भी मंगल रूप क्यों माना है। 'तिलोयपण्णत्ति' में आचार्य यतिवृषभ ने लिखा है—

आचार्य, उपाध्याय तथा साधु का देह द्रव्य मंगल है। जिस शरीर के कण कण में करुणा का रस भरा हुआ हो वह शरीर अमंगल कैसे माना जाएगा?

साधु के विषय में भ्रांति

कहीं कहीं प्रान्त में साधु शब्द का प्रयोग स्वेच्छावश जिस किसी के लिए उसे वन्दनीय, तथा मंगलमूर्ति मानकर 'णमो लोए सव्व साहूणं' का अर्थ रागी द्वेषी देवों के आराधक, हिंसामय धर्म के उपासक, तथा लोक मूढ़ताओं आदि के जाल में जकड़े अपथ्य वृत्तिवाले गृहीत मिथ्यात्वी आत्मा करते हैं, क्योंकि उनके नाम के आगे साधु का पुछल्ला लगा है। परमार्थ दृष्टि से जो वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न श्रेष्ठ अहिंसा के पालक करुणामूर्ति, वीतरागता के आराधक तथा अट्ठाईस मूलगुण सम्पन्न निर्ग्रन्थ होंगे वे ही यथार्थ में साधु पद के वाच्य होंगे। व्यवहारवश तो नरराज को गजराज कहने में भी आपत्ति नहीं की जाती है।

मुनियों की करुणावृत्ति द्वारा परार्थ के साथ स्वार्थ की सिद्धि भी हुआ करती है। दूसरे जीव की व्यथा दूर होती है, तथा करुणा का छत्र तानने वाले

---

1 "The Least pain in our little finger gives us more concern and uneasiness than the destruction of millions of our ' "

पक्षी पर करुणा

पूज्य श्री की मध्याह्न की सामायिक पूर्ण हुई । उसके बाद मैंने देखा कि महाराज एक पक्षी के छोटे बच्चे के विषय में बडा ध्यान लगा पार्श्ववर्ती एक ग्रामीण कर्मचारी से बातें कर रहे थे। पूछने पर ज्ञात हुआ कि महाराज उस पक्षी के रक्षण की भावना से युक्त थे। शास्त्र पढ़ने में आया, तब मैंने पूछा—"महाराज जी यह क्या है ?"

महाराज ने कहा—'यह पक्षी का बच्चा इस भवन के ऊपर से नीचे आगया। यहां वहां अपनी माता से वियुक्त हो भटक रहा था। यदि इसकी रक्षा न की जायगी तो कौआ वगैरह पक्षी इसको मार डालेंगे।"

मैंने पूछा—"महाराज तो आप क्या करते है ?"

उनने कहा—"हम उस पक्षी को उसी जगह रखवा रहे हैं जहां से वह नीचे आया है । वहां आड लगवा दी है जिससे वह इधर ना गिरे ।" थोडी देर में नसैनी द्वारा व्यवस्था की गई। वह पक्षी सकुशल वहां रखा गया। इतने में पक्षी की माता आई और उसे उठाकर ले गई । तब महाराज बोले "देखो ! पक्षी की मां आ गई और अब उसके जीवन की चिन्ता नही रही ।"

यह घटना देखकर मेरी समझ में आया कि इन पूज्य पुरुषो की आत्मा यथार्थ में विशाल और महान हो जाती है जो छोटे छोटे प्राणियो की पीडा देख कर अनुकम्पा भाव युक्त हो सदय हो जाती है । विशाल आत्मा (Enlarged Self) इसी का नाम है। जीवो का घात करने वाले मास भक्षी, शिकारी, सुरा पायी, लेखनी के बल पर एक दूसरे को बडी और श्रेष्ठ आत्मा लिखते हैं यह तो आखों के अंधे का नयनसुख नामकरण सदृश है। सच्ची करुणा ऐसे ही महापुरुषो के अत करण में व्याप्त रहती है । जो स्वार्थी आत्मा रहती है वह अपने सीमित स्वार्थ तथा आनन्द के सिवाय दूसरे जीवो की व्यथा और वेदना की ओर तनिक भी सवेदनाशील नही होती हैं । ऐसे जीव ही अपनी विद्वत्ता द्वारा जाल बिछा भोले लोगो को भ्रात करते हैं । गो भक्षण की लालसा जब जगती है तब ये विश्व के शातिविधायक लोग कह बैठते है कि गाय मे आत्मा नही है। जब यह स्वार्थवृत्ति और बढती है तब अपने राष्ट्र के मानवो के सिवाय राष्ट्रान्तर के मनुष्यो में भी प्राण का सद्भाव न मान मनमानी क्रूरता का व्यवहार करना अतर्राष्ट्रीय न्यायलय में अपराध नही माना जाता है । आचार्य श्री सदृश सच्चे निस्वार्थी महापुरुष विरले है जिनकी आत्मा स्वय के कष्टो को सहन करने के लिए

महाराज और दूसरी ओर पूज्य मुनि नेमिसागर महाराज विराजमान थे। इतने में वर्षा प्रारंभ हो गई। मकान के छप्पर में से कुछ जलकण महाराज के ऊपर गिरने लगे। उस समय महाराज ने मुझे देखकर कहा—"पंडितजी! तुम कैसे आनंद से सुन्दर आसन पर बैठे हो! हमारा आसन देखो?" इतना कहते उनके चेहरे पर मधुर स्मित आया, वे चुप हो गए।

मैंने कहा—"महाराज! आपके उपस्थित रहते हुए इस शास्त्र की गद्दी पर बैठने का हमारा अधिकार नहीं है, यह तो आपकी ही आज्ञा है, जो मुझे यहां बैठने का अवसर मिला है।"

दूसरे वर्ष सन् १९५० में गजपंथा में दशलक्षण पर्व में मैं शास्त्र पढ़ रहा था। भादों सुदी दशमी थी। संयम का वर्णन चल रहा था। रइधु रचित दशलक्षण अपभ्रंश भाषा की पूजा का अर्थ मैं करता था और उस पर ही विवेचन चलता था। मैंने पढ़ा—"संयम बिन जीवन सयल सुणं।" इसका अर्थ किया 'संयमके बिना सारा जीवन शून्य होता है।' "संयम बिन घडिय म इक्क जाहु"—'संयम के बिना एक क्षण भी न जाने दो।'

आचार्य महाराज बोले—"पंडितजी एक बार फिर से कहो।"

गुरुदेव की आज्ञानुसार मैंने पुनः पढ़ दिया कि संयम बिना सारा जीवन शून्य रहता है। इतने में मेरी दृष्टि पूज्य श्री के स्मित और कारुण्य भाव भूषित मुख मंडल पर पड़ी। मैं तत्काल समझ गया कि इस वाक्य को पुनः पढ़वाने का भाव महाराज का हम सरीखे पढ़े लिखे लोगों का ध्यान संयम की महत्ता को समझ कर उस पुण्य पथ पर चलने की प्रेरणा करने का था। मैं उनके गंभीर भाव को विचार कर उनके समक्ष नतमस्तक हो गया और कहा—"महाराज! जब तक सौभाग्य का सूर्य नहीं उगता, संयम घातक कर्मपटल नहीं हटता, तब तक यह सौभाग्य कहां! आपके चरणों के समीप इसीलिए आते हैं कि आत्मा की मलिनता दूर होकर जीवन उज्वल बन जावे।" महाराज का यह कहना—"एक बार फिर से पढ़ो" रह-रह कर याद आता है, कि उन महान आत्मा ने कितना मार्मिक, मधुर इंगित सत्पथ पर चलने का किया था।

मुनिवृत्ति द्वारा संयमी का सर्व जीवों के साथ मैत्री का सुमधुर सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। उसका प्रत्यक्षीकरण १९५१ के पर्युषणपर्व के समय आचार्य श्री के बारामती चातुर्मास में हुआ, जब कि मुझे वहां लगभग एक माह रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

पक्षी पर करुणा

पूज्य श्री की मध्याह्न की सामायिक पूर्ण हुई । उसके बाद मैंने देखा कि महाराज एक पक्षी के छोटे बच्चे के विषय में बड़ा ध्यान लगा पार्श्ववर्ती एक ग्रामीण कर्मचारी से बातें कर रहे थे। पूछने पर ज्ञात हुआ कि महाराज उस पक्षी के रक्षण की भावना से युक्त थे। शास्त्र पढ़ने में आया; तब मैंने पूछा—"महाराज जी यह क्या है ?"

महाराज ने कहा—'यह पक्षी का बच्चा इस भवन के ऊपर से नीचे आगया। यहा वहा अपनी माता से वियुक्त हो भटक रहा था। यदि इसकी रक्षा न की जायगी तो कौआ वगैरह पक्षी इसको मार डालेंगे।"

मैंने पूछा—"महाराज तो आप क्या करते हैं ?"

उनने कहा—"हम उस पक्षी को उसी जगह रखवा रहे हैं जहाँ से वह नीचे आया है। वहाँ आड लगवा दी है जिससे वह इधर ना गिरे।" थोड़ी देर में नसैनी द्वारा व्यवस्था की गई। वह पक्षी सकुशल वहाँ रखा गया। इतने में पक्षी की माता आई और उसे उठाकर ले गई। तब महाराज बोले "देखो! पक्षी की माँ आ गई और अब उसके जीवन की चिन्ता नही रही।"

यह घटना देखकर मेरी समझ मे आया कि इन पूज्य पुरुषो की आत्मा यथार्थ में विशाल और महान हो जाती है जो छोटे छोटे प्राणियो की पीड़ा देख कर अनुकम्पा भाव युक्त हो सदय हो जाती है। विशाल आत्मा (Enlarged Self) इसी का नाम है। जीवो का घात करने वाले मास भक्षी, शिकारी, सुरा पायी, लेखनी के बल पर एक दूसरे को बडी और श्रेष्ठ आत्मा लिखते हैं यह तो आखों के अंधे का नयनसुख नामकरण सदृश है। सच्ची करुणा ऐसे ही महापुरुषो के अत करण में व्याप्त रहती है। जो स्वार्थी आत्मा रहती है वह अपने सीमित स्वार्थ तथा आनन्द के सिवाय दूसरे जीवो की व्यथा और वेदना की ओर तनिक भी सवेदनाशील नही होती है। ऐसे जीव ही अपनी विद्वत्ता द्वारा जाल बिछा भोले लोगो को भ्रात करते है। गो भक्षण की लालसा जब जगती है तब ये विश्व के शातिविधायक लोग कह बैठते है कि गाय मे आत्मा नही है। जब यह स्वार्थवृत्ति और बढती है तब अपने राष्ट्र के मानवो के सिवाय राष्ट्रान्तर के मनुष्यों में भी प्राण या सद्भाव न मान मनमानी क्रूरता का व्यवहार करना अतर्राष्ट्रीय न्यायलय मे अपराध नही माना जाता है। आचार्य श्री सदृश सच्चे निस्वार्थी महापुरुष बिरले है जिनकी आत्मा स्वय के कष्टो को सहन करने में लिए

वज्रसमान कठोर रहती है, किन्तु दूसरे जीवों की व्यथा के लिए कुसुमादि पुष्प से भी मृदुतर वृत्ति वाली हो जाती है। विलियम हैज़लिट ने लिखा है—"हमारी सबसे छोटी अंगुली में थोड़ी भी पीड़ा होने पर वह अधिक चिन्ता तथा आकुलता उत्पन्न करता है जितना की हमारी मानव समाज के कोट्यावधि मानवों का ध्वंस उत्पन्न नहीं करता है"[१] जब जीवन में अहिंसा की शुभ्र ज्योति आलोक नहीं पहुँचाती तब तक ऐसी संकीर्ण स्वार्थ की कोठरी से निकलकर विशाल विश्व के प्रांगण में आने का न साहस होता है और न मनोबल ही उत्पन्न होता है।

इस घटना को देखकर समझ में आया कि करुणा के परमाणु पुंज से सर्वांग पूर्ण होने के कारण ही मुनि को मंगल रूप मानना तो ठीक है ही, उनके द्रव्य शरीर को भी मंगल रूप क्यों माना है। 'तिलोयपण्णत्ति' में आचार्य यतिवृषभ ने लिखा है—

आचार्य, उपाध्याय तथा साधु का देह द्रव्य मंगल है। जिस शरीर के कण कण में करुणा का रस भरा हुआ हो वह शरीर अमंगल कैसे माना जायगा?

साधु के विषय में भ्रांति

कोई कोई भ्रात भाई साधु शब्द का प्रयोग स्वेच्छावश जिस किसी के लिए लगा उसे वंदनीय, तथा मंगलमूर्ति मानकर 'णमो लोए सव्व साहूणं' का अर्थ रागी द्वेषी देवों के आराधक, हिंसामय धर्म के उपासक, तथा लोक मूढ़ताओं आदि के जाल में जकड़ी जघन्य वृत्तिवाली गृहीत मिथ्यात्वी आत्मा करते है, क्योंकि उनके नाम के आगे साधु का पुछल्ला लगा है। परमार्थ दृष्टि से जो वैज्ञानिक दृष्टि संपन्न श्रेष्ठ अहिंसा के पालक करुणामूर्ति, वीतरागता के आराधक तथा अठ्ठाईस मूलगुण संपन्न निर्ग्रन्थ होंगे वे ही यथार्थ मे साधु पद के वाच्य होंगे। व्यवहारवश तो नरराज को गजराज कहने में भी आपत्ति नहीं की जाती है।

मुनियों की करुणावृत्ति द्वारा परार्थ के साथ स्वार्थ की सिद्धि भी हुआ करती है। दूसरे जीव की व्यथा दूर होती है, तथा करुणा का छत्र तानने वाले

---

१ "The Least pain in our little finger gives us more concern and uneasiness than the destruction of millions of our fellow being."

परिवार चित्र —(बाईं ओर से) महाराज के जेष्ठ बधु श्री देवगौडा (वर्तमान मुनि वर्धमान सागरजी), स्व कनिष्ठ भ्राता कुमगोडा, छोटी बहिन स्व कृष्णाबाई।
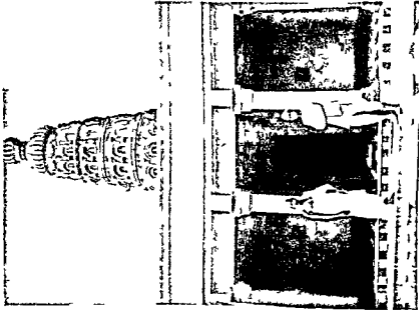
दिगबर जैन मदिर भोज (दाहिनें ओर लेखक खडे है)।
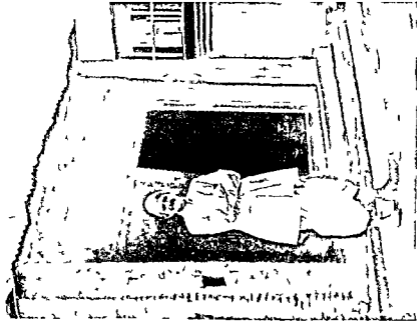
दूकान जहा आचार्य श्री बैठा करते थ (सामने लेखक

को भी स्वतः सुखद शीतल छाया प्राप्त होती है। शेक्सपियर ने लिखा है, "यह पात्र तथा दाता दोनो को आनंद प्रदान करती है।"[1] अज्ञान वश बड़े बड़े पढ़े लिखे लोग तक ऐसी भूल कर जाते हैं जो इन परम करुणामूर्ति प्राणियों को अभय और आनंद दान करने वाली विभूतिओं को स्वार्थी (Selfish)सोचते हैं। प्रतीत होता है उनके आदर्शवत् जीवन में वे स्वयं अपना प्रतिबिम्ब देखकर विवेचन करने बैठ जाते हैं। ये महर्षि करुणामय प्रवृत्ति करते हैं सदा सबके कल्याण की कामना करते हुए यही भावना करते हैं "क्षेमं सर्वप्रजाना प्रभवतु" सब जीवों का कल्याण हो। हिंसा की वैतरिणी में डुबकी लगाने वाले, परमअहिंसकों का सम्यक्रूप से स्वरूप नही समझ पाते है, जैसे अनेक निशा में विचरण करने वाले पक्षी सूर्य की विश्वप्रकाशन सामर्थ्य को समझने में अक्षम रहते है।

अहिंसात्मक प्रहरी

एक दिन बारामती में नीरा नदी की नहर के तट पर से आचार्य महराज जा रहे थे। मेरे साथ प्रोफेसर सुशील भी था। चलते चलते महाराज वहाँ कुछ बालकों को स्नान में तत्पर देखकर रुक गये और प्रेम भरी बोली में कहने लगे "यहा तुम लोगों को सम्हलकर रहना चाहिए। एक बार एक आदमी की मौत हो चुकी है।" उनको जगाते हुए इन अहिंसात्मक प्रहरी ने आगे प्रस्थान किया। मार्ग में कांटा पड़ा था उसे वहाँ से अलग करते हुए ये आगे बढे, ताकि वह कंटक दूसरों को पीड़ादायक न बन जाय। यदि कोई निरन्तर इनके पास रहकर इनकी करुणामयी प्रवृत्ति को देख कर पुस्तक लिखे तो एक महाभारत ग्रंथ इनकी कारुण्यपूर्ण जीवन गाथा से पूर्ण होना असंभव नही है। प्रयत्न करने पर भी कठोरता, क्रूरता, निर्दयता, का दर्शन नही मिलेगा। हा! दुर्भावनाओ, पाप प्रवृत्तियों तथा कषायोंके संहार करने में ये अवश्य अत्यन्त निर्दयतापूर्वक प्रवृत्ति करते हुए अरहंत के शरण मे जाते हैं—जो अरहंत भगवान उत्कृष्ट अहिंसा के अधिपति होते हुए क्रोध, माया, मान, लोभ, मोहादि विकारों के विनाशक है।

व्रती बनाने के मूल में करुणा की भावना

महाराज जीवों को जो व्रतादि का उपदेश देते हैं, प्रेरणा करते हैं, उसके मूल में यह करुणा तथा कल्याण करने की कामना है। एक दिन बारामती में सेठ गुलाबचंद खेमचंद जी

---

[1] "It is twice blest; It blesseth him that gives and him that takes." 'Merchant of Venice.' IV, I.

सागली ने पर्यूषण पर्व में आचार्य श्री के उपदेश तथा प्रेरणा से व्रत प्रतिमा ग्रहण करने का निश्चय किया। उस दिन के उपदेश में अनेक मार्मिक एवं महत्वपूर्ण बातें कहते हुए महाराज ने कहा था "तुम लोगो की असयमी वृत्ति देखकर हमारे मन में बडी दया आती है कि ये लोग जीवन के इतने दिन व्यतीत हो जाने पर भी अपने कल्याण के विषय में जागृत नही होते। मनुष्य भव और उसका एक एक क्षण कितना मूल्यवान है यह नही विचारते है।" आचार्य महाराज ने कहा "शास्त्र मे लिखा है जो विषयो का उपभोग किए बिना उनको त्यागते है वे श्रेष्ठ है और जो भोगकर पश्चात् त्यागते हैं वे मध्यम है, किन्तु जो विषयो को भोगते ही रहते है और छोडने का नाम नही लेते है वे अधम है।" उनने कहा "व्रती बनने मे डरना नहीं चाहिये। व्रत में त्रुटि आने पर प्रायश्चित लेना चाहिए। मुनियों तक को प्रायश्चित कहा गया है। बडा दोष हो जाने पर भी उसका प्रायश्चित किया जाता है।"

व्रत के समर्थन में समर्थ वाणी

व्रत करने में जो भयभीत होते हैं उनको साहस प्रदान करते हुए महाराज बोले "जरा धैर्य से काम लो और व्रत धारण करो। डर कर बैठना ठीक नहीं है। ऐसा सुयोग अब फिर कब आयगा? कई लोगों ने व्रतो का विकराल रूप बता बताकर लोगों को डरा दिया है, और भीषणता की कल्पना वश लोग अव्रती रहे आते है, यह ठीक नही है।" उनने यह भी कहा "हमारे भक्त, शत्रु मित्र सुधारक कोई हो हम सबको व्रत ग्रहण का उपदेश देते हैं। व्रत करने वाला आगामी देवायु का नियम से बध करता है। जिसने अन्य नरक तिर्यंच तथा मनुष्य आयु का बध कर लिया है, उसके व्रती बनने के भाव नही होते है।"

जो लोग सोचते है सयम पालन करने में कष्ट होता है उनके सदेह को दूर करते हुए पूज्य श्री ने अपनी मार्मिक देशना में कहा—"ससार के कामो में जितना श्रम, जितना कष्ट उठाया जाता है, उसकी तुलना में व्रतिक बनने का कष्ट नगण्य है। लेन देन, व्यापार, व्यवसाय आदि में, द्रव्य के अर्जन करने मे कितना श्रम किया जाता है? और उसका फल कितना थोडा सा मिलना है। इतने दिन सुख भोगते भोगते सतोष नही हो पाया तो शेष थोडी सी जिंदगी में, जिसका जरा भी भरोसा नहीं है, तुम कितना सुख भोगोगे? कितना सचय करोगे? व्रतिक बनकर देवपर्याय में तुम्हें इतना सुख मिलेगा, जिसकी कल्पना भी नही कर सकते। देवो को दशांग कल्पवृक्षो

और भी कितने शारीरिक मानसिक कष्ट नहीं होते। धन के लिए, कुटुम्ब के लिए गृहस्थ को क्या क्या कष्ट नहीं उठाने पड़ते ? क्या क्या प्रपंच नहीं करना पड़ते हैं ? अंत में कुछ वस्तु हाथ नहीं लगती है। किन्तु थोडासा व्रत जीव का कितना उद्धार करता है, इसके प्रमाण प्रथमानु योग रूप आगम में भरे हुए हैं। उस दिन के विवेचन को सुनकर ज्ञात हुआ, कि व्रत, दान की प्रेरणा के पीछे कितना प्रेम, कितना ममत्व, कितनी उज्वल करुणा की भावना गुरुदेव के अंत.करण में भरी हुई है। सुनकर ऐसा लगा मानो कोई पिता विषपान करने वाले अपने पुत्र से आग्रह कर कह रहा हो, 'बेटा ! विषपान मत करो, मेरे पास आओ मैं तुझे अमृत रस पिलाऊगा।'

आगम की आज्ञा रूढि से बडी है

व्रताचरण के विषय में गुरुदेव से किसी ने पूछा--"महाराज ! रूढिवश लोग तरह तरह के प्रतिबंध व्रतों में उपस्थित करते हैं, ऐसी स्थिति में क्या किया जाय ?" आचार्य महाराज बोले --"व्रतों के विषय में शास्त्राज्ञा को देखकर चलो। रूढि को नहीं। शास्त्राज्ञा ही जिनेन्द्राज्ञा है। लोक की आज्ञा रूढि है। धर्मात्माजीव सर्वज्ञ जिनेन्द्र की आज्ञा को बताने वाले शास्त्र को अपना मार्ग दर्शक मानेगा, दूसरी वस्तुओं को मोक्ष मार्ग के लिए कैसे पथप्रदर्शक मानेगा ?" इस विषय में सोमदेवसूरि का यह आदेश भी ध्यान में रखना श्रेयस्कर है कि उन लौकिक विधि विधानों का तुम सादर स्वागत कर सकते हो, जो तुम्हारी पवित्र श्रद्धा तथा व्रताचरण में बाधा नहीं डालते।

'यशस्तिलक' में लिखा है कि गृहस्थ को भोगशून्य समय व्रतरहित नहीं बिताना चाहिए। जब तक विषयों का उपभोग नहीं होता है, तब तक भी गृहस्थ को उनभोगों का पुनः प्रवृत्ति पर्यन्त त्याग देना हितकारी है। कारण दैववश यदि सहसा प्राणान्त हो जाय तो यह त्याग देवगति का कारण हो जायगा।

गृहस्थ का कर्तव्य है कि जब तक विषयादिक के सेवानार्थ प्रवृत्ति नहीं होती है, तब तक के लिए मैं उनका त्याग करता हूँ, इस प्रकार क्रिया करने वाला, गुरु का नाम स्मरण पूर्वक निद्रा लेना आदि काम करे। दैववश यदि आयु का क्षय हो गया तो यह त्याग महान फल का दाता हो जायगा। अतः भोगरहित समय को व्रत के बिना व्यतीत न करे।

सत्कार्यों के करने में प्रायः दीर्घसूत्रता का दोष चिपका रहता है। आदमी सहज सरल भाव से सोचा करता है 'आज नही कल, कल नही परसो उस काम को कर लेंगे।' जब 'कल' 'आज' के रूप में आता है तो यह आगामी 'कल' के ऊपर अपने निश्चय का भार लाद दिया करता है। इसे धर्म के काम को शीघ्र करने की इच्छा दुर्दैववश नही होती क्योकि यह जैसे दूसरे कार्यों को आवश्यक मानता है वैसा आत्मकल्याण की वार्ता को नही सोचता है इसी से सुभाषितकार इस आत्मा को समझाते है कि विद्या और धन का संपादन करते समय अपने आपको अजर-अमर सदृश समझकर ज्ञानलाभ और धनसचय को करो, किन्तु धर्म के विषय में बिल्कुल ही भिन्न नीति का आश्रय लो। यह समझो कि मृत्यु ने मेरी चोटी पकड ही ली, अतः एक क्षण भी धर्म विहीन, व्रताचरण शून्य नही जाने दो।

आत्महित में शीघ्रता करना चाहिए

आचार्य श्री भी कह रहे है "भविष्य का क्या भरोसा अत. शीघ्र आत्मा के कल्याण के लिए व्रत ग्रहण करलो।" इस प्रसंग में 'पद्मपुराण' का एक वर्णन बडा मार्मिक है--सीता के भाई भामडल अपने कुटुम्ब परिवार में उलझे हुए यह सोचते थे यदि मैंने जिनदीक्षा लेली तो मेरे वियोग में मेरी रानियो आदि का प्राणान्त हुए बिना रहेगा, अतः कठिनता से त्यागे जाने योग्य, कठिनाई से प्राप्तव्य सुखो को भोग आगे कल्याणपथ में प्रवृत्ति करूंगा। मैं भोगों से उपार्जित अत्यन्त महान पाप को भी सुध्यान रूपी अग्नि के द्वारा क्षणभर में ही भस्म कर डालूंगा। मैंने अब यह कर लिया, अब यह कर रहा हूँ तथा आगामी यह करूंगा, ऐसा सोचते हुए उसने सहारार्थ आगत आयु की बात की ओर तनिक भी ध्यान नही दिया। इतने में क्या हुआ – वह अपने सात मंजिल महल के भीतर विराजमान था। ऊपर से वज्रपात हुआ, बिजली गिरी और इस प्रकार भामंडल-मृत्यु की गोद में सो गया। दीर्घसूत्रीप्राणी आगामी होने वाली चेष्टाओं को भलीभांति जानते हुए भी आत्मा के उद्धार के कार्य में नहीं लगता है।

इस क्षणभर में विनष्ट होने वाले दग्ध शरीर के लिए विषयवासना में उलझा जीव हताश होकर क्या नही करता है? जो जीव सन्मान आदि सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करता है और अपने हित में लगता है वह असफल होकर नष्ट नही होता। ऐसा हजारो शास्त्रो का ज्ञान किस काम का जिनसे आत्मा को शांति न मिले। जिस एक पद के द्वारा आत्मा शांति

को प्राप्त करता है वह संतोष का कारण है। प्रतिदिन विविध अनेक कार्यों से आकुलित चित्तवाला दुखी प्राणी का जीवन प्रमाद से हाथ में रखे हुए रत्न के समान नष्ट होता है।[१]

प्रतीत होता है ऐसी ही पवित्र विद्या गुरुदेव के हृदय को प्रकाशित कर चुकी थी। इसीसे वे शिखरजी की वंदना के बाद से धारणा पारणा रूप व्रत, उपवास करने में संलग्न हो गये थे। उनका असली व्यापार संयम की साधना था। घर का व्यापार तो नाम मात्र का था।

असली व्यापार संयम की आराधना

महाराज ने बताया था कि "हमारे पूर्वजों ने क्षत्रिय वृत्ति तथा पाटीलगीरी के सिवाय कभी व्यापार नहीं किया था। यह तो पीछे से व्यापार का कार्य हमारे भाई ने प्रारम्भ किया था।"

मैंने पूछा—'महाराज! जब आप घर में एक पारणा रूप व्रत करते थे तब कुटुम्बी लोग रोकते नहीं थे?"

महाराज ने कहा—"हमने कह दिया था 'यदि तुमने हमें रोका तो हम बाहर चले जायेंगे' इसलिए हमारे कार्य में कोई अंतराय नहीं बनता था।"

सैंतीस वर्ष की अवस्था में उनके परिणाम विशेष संयम की ओर लगे, पिता जी की मृत्यु हो चुकी थी इसलिए वैराग्य का वेग वृद्धि को प्राप्त हो गया था। पिता जी ने कहा था 'तुम मेरे प्राणों के आधार हो। तुम्हारी धार्मिक प्रवृत्ति देख मुझे बड़ा संतोष होता है। मेरी यही इच्छा है कि मेरे जीवन भर तुम घर में रहो, मेरे बाद जैसा दिखे वैसा करना।' इनने राम की भांति पिता के आदेश का पालन किया। वनवासी राम का मन अयोध्या को देखता था क्योंकि वे पूर्ण विरागी न थे, महाराज वैरागी थे इसलिए गृहवास करते हुए भी इनका हृदय तपोवन की ओर जाता था। राम वन में निवास करते हुए गृहवासी सदृश थे और महाराज विरक्त गृहवासी होने के कारण वनवासी जैसे लगते थे।

---

१ 'पद्मचरित' पर्व १११, पद्य २१

संयम–पथ

पिता का स्वर्गवास होने पर चार वर्ष पर्यन्त घर में रहकर इनने अपनी आत्मा को निर्ग्रन्थ मुनि बनाने योग्य परिपुष्ट कर लिया था। जब ये (महाराज) लगभग ४१ वर्ष के हुए तब कर्नाटक प्रांत के दिगम्बर मुनिराज देवप्पा स्वामी, देवेन्द्रकीर्ति महाराज उत्तूरग्राम में पधारे। उनके समीप पहुचकर महाराज ने कहा—"स्वामिन! मुझे निर्ग्रन्थ दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिये।"

उनने कहा—"वत्स! यह पद बडा कठिन है इसको धारण करने के बाद महान संकट आते हैं उनसे मन विचलित हो जाता है।"

महाराज ने कहा—"भगवन! आपके आशीर्वाद से और जिन धर्म के प्रसाद से इस पद का निर्दोष पालन करूंगा। प्राणों को छोड दूंगा किन्तु प्रतिज्ञा में दोष न आने दूंगा। मुझे महाव्रत देकर कृतार्थ कीजिये।"

जब गुरुदेव ने देखा कि यह श्मशान वैराग्य नहीं है किन्तु संसार से विरक्त विशुद्ध आत्मा की मार्मिक आवाज है, उन्हे विश्वास हुआ कि यह महाव्रत की प्रतिष्ठा को कभी भी लांछित नही करेगा। फिर भी उनने दूर तक सोचा,

क्षुल्लक दीक्षा धारण

'यह विरक्त व्यक्ति सुखी, श्रीमंत परिवार का है और महाव्रती बनने पर अपरिमित कष्ट सहन करने पड़ते हैं इसलिये कुछ समय के लिये क्षुल्लक के व्रत देना उचित है। इसके पश्चात् यदि पूर्णपात्रता दिखी तो निर्वाण दीक्षा देदी जायगी।' यही बात गुरुदेव ने इन विरक्त शिष्य को कही। उनने यह भी कहा, "क्रम पूर्वक आरोहण करने से आत्मा के पतन का भय नही रहता है।" इसलिये गुरुदेव की आज्ञानुसार श्री सातगौड़ा पाटील ने उत्तूरग्राम में जेठ सुदी त्रयोदशी शक संवत १८३७, विक्रम सवत १९७२ में क्षुल्लक दीक्षा लेकर लघु मुनित्व का पद प्राप्त किया। उस पवित्र त्रयोदशी को श्री सातगौडा पाटील ने सदा के लिये अपने गृह परिवार का मोह छोडा और भोजभूमि की ममता को सदा के लिये त्याग दिया। लोग जननी और जन्मभूमि को स्वर्ग से बड़ा मानते है किन्तु आत्म–स्वराज्य स्थापन निमित्त इन महामना महापुरुष के मन में वह पौद्गलिकभूमि ममत्व को न जगा सकी। परम विशुद्धता और उत्कृष्ट वैराग्य अलकृत अंतःकरण वाले महाराज ने भोज भूमि के पिंजरे से अपने को उन्मुक्त कर दिया और अब ये

आध्यात्मिक सिंह सदृश विहार

आध्यात्मिक सिंह के रूप में इस वसुन्धरा पर विहार करने लगे। अब इनकी आत्मा को पूर्ण शांति मिली कारण बाल्य जीवन की मनोकामना को पूर्ण करने का पवित्र पथ प्राप्त हुआ।

वैराग्य का कारण

मैंने पूछा,—"महाराज! वैराग्य का आपको कोई निमित्त तो मिला होगा? साधुत्व के लिये आपको प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई? पुराणो में वर्णन आता है कि आदिनाथ प्रभु को वैराग्य की प्रेरणा, देवागना नीलाजना का, अपने समक्ष मरण देखने से प्राप्त हुई थी।"

महाराज ने कहा—"हमारा वैराग्य नैसर्गिक है। ऐसा लगता है कि यह हमारा पूर्वजन्म का सस्कार हो, गृह में कुटुम्ब, में हमारा मन प्रारभ से ही नही लगा। हमारे मन में सदा वैराग्य का भाव विद्यमान रहता था। हृदय बार बार गृहवास के बधन को छोड दीक्षा धारण के लिये स्वय उत्कठित होता था।" भगवान महावीर के सम्बन्ध में असग कवि ने लिखा है 'सुकुमार सरोज सदृश कोमल चरणयुगलवाले तथा ससार का नाश करने वाले महावीर भगवान का तीस वर्ष प्रमाण कुमारकाल देवो के द्वारा लाये गये भोगों को भोगते हुये व्यतीत हो गया। एक दिन बिना किसी निमित्त के भगवान विषय भोगो से विरक्त हो गये। यह उचित ही है क्योकि तत्वज्ञानी मोक्षाभिलाषी आत्मा शांति के लिए बाह्य कारणो की प्रतीक्षा नही करते रहते।"[1]

अब सब श्रीमती का वैभव भोज भूमि मे रहा आया और ये लगोटी पिच्छी तथा स्वल्प सामग्री साथ ले स्वामी जी के पास रहने लगे। जिस प्रकार इनकी बाह्य सामग्री अल्प हुई उस प्रकार आत्मीय ज्ञान का भण्डार कम नही हुआ, वह तो कई गुना बढ गया। कर्मों की निर्जरा भी बड़े वेग से होने लगी। विशुद्धता निरन्तर वृद्धिगत हो रही थी, इससे पूर्वबद्ध कर्मराशी

---

१ 'भगवानमरोपनीतभोगात्स निनायानुभव-भवस्य हता।
त्रिगुणान्दशव सरोजवाब्ज सुकुमाराङ्घ्रियुग कुमार एव ॥१०१॥
अथ सन्मतिरेकदाऽनिमित्त विषयेभ्यो भगवानभूतविरक्त।
प्रशमाय सदा न बाह्यहेतु विदितार्थस्थितिरीक्षते मुमुक्षु ॥१०२॥"
'वर्धमानचरित्र' सर्ग १७

भी विनष्ट होती जा रही थी। एक माह व्यतीत होने पर चातुर्मास के निश्चय करने का अवसर आया। स्तूर ग्राम बहुत छोटा था। अत. गुरुदेव की आज्ञा से चरित्र नायक क्षुल्लक महाराज कागल आ गए। वहा एक भक्त श्रावक ने इनको कमन्डलु भेंट दिया, इससे इनने लोटा को दूर कर दिया।

प्रथम चातुर्मास कोगनोली में

पाटील श्री भीमगौडा के धार्मिक श्रीमत घराने के भूषणरूप श्री सातगौडा ने क्षुल्लक दीक्षा ली, इस शुभ समाचार ने सर्वत्र धार्मिक समाज को आनदित किया। सभी लोग इस पुण्य निश्चय की सराहना करते हुए उनको धन्य-धन्य कह उठे। इनकी निस्पृहवृत्ति, सच्ची विरक्ति तथा रत्नत्रय धर्म की निष्कलक साधना देख कर ऐसा कौन है जो प्रभावित न होता हो और प्रणामाजलि अर्पित न करता हो। इनके कागल पहुँचते ही कोगनोली ग्राम के श्रावकों के समुदाय ने आकर अनुनय विनय की और कोगनोली में वर्षायोग व्यतीत करने का सादर अनुरोध किया। कोगनोली की जनता का बडा पुण्य था जो नवीन क्षुल्लक महाराज ने वहाँ प्रथम चतुर्मास व्यतीत करने को स्वीकृति प्रदान कर दी।

सच्चारत्न छोटा होते हुए भी अपनी असाधारण दीप्ति द्वारा महान अधकार को दूर करता है, इसी प्रकार क्षुल्लक होते हुए भी इनने सम्यक्श्रद्धान तथा सम्यकचरित्र का महान प्रसार कार्य प्रारभ कर दिया और इनके प्रचार का जादू जैसा असर देखा जाता था।

गृहीत मिथात्व त्याग का महान प्रचार

इनने देखा कि लोगों में कुदेवों, रागी द्वेषी मिथ्या देवों की भक्ति विद्यमान है। लोग जिनेन्द्र देव को भूलकर चतुर्गति ससार में डुबाने वालों की आराधना में मलग्न है, इससे इनके अन्तःकरण में समाज के मिथ्यात्व रोग के दूर करने की भावना उत्पन्न हुई। कुल परपरा से आगत प्रवृत्तिया, रुढि को बदलना नदी की धारा का मुह फेरने सदृश कठिन काम होता है। कारण जो काम पहिले से पीढियों से पीछे लग जाता है वह असत्य होते हुए भी दूर नही होता। मनोविज्ञान शास्त्र में इसे अत्यत स्थितिपालक (Most Conservative Agent) कहा है। आदतवश आदमी यही सोचता है कि यह ठीक ही कार्य होगा, कारण मैं इसे बचपन से करते चला आ रहा हू।[1] पुरातन सस्कार

---

[1] कवि जार्ज ने यहा लिखा है—

"Habit with him was all the test of truth
It must be right I've done it from my youth."

वश दोष को देखने की दृष्टि क्षीण प्राय हो जाती है ।

महाराज का असाधारण व्यक्तित्व था, अत उनके समक्ष जो भी कुदेव सेवी आता, वह तत्काल मिथ्यात्व का परित्याग कर व्यवहार सम्यक्त्व को धारण करता था । हजारो घरो मे इनने जिनेन्द्र भक्ति की ज्योति जगादी । इनके मुख से शब्द निकलते ही भक्त श्रावक तत्काल मिथ्यात्व त्याग का नियम ग्रहण कर लिया करते थे । ससार में सबसे बडा आत्माशत्रु यह मिथ्यात्व है, यही सब पापो में प्रमुख है । आज मिथ्यात्व के प्रचार का सर्वत्र जोर देखा जाता है । सत्यय का प्रतिपादन करने वाले समर्थ पुरुष मिलते भी कहा है ?

'सागारधर्मामृत' में लिखा है कि आजकल पचमकाल रूपी भीषण वर्षाकाल में मिथ्यामतरूपी मेघो से सम्यक्ज्ञान रूपी दिशाए आक्रांत हो गई है । इस अवसर पर सूर्य चद्रमा के समान प्रकाशदाता महान ज्ञानियों, तीर्थंकरा, ऋद्धिधारी, अवधिज्ञानधारी मुनियो का दर्शन नही होता है । ऐसे आध्यात्मिक प्रकाश विहीन वातावरण में दु ख है कि तत्वमार्ग के उपदेश कही कही जुगनू की भाति प्रकाश देते है ।

बड़े दुःख की बात है कि जिस भरतक्षेत्र में तीर्थंकरो ने, श्रुतकेवलियो ने सूर्य के समान सम्यक्ज्ञान तथा मुक्ति मार्ग का उपदेश दिया था, वहा कलिकाल रूपी वर्षाकाल आ जाने से दिशाए मिथ्याउपदेश रूपी मेघो से ढक गई है, अत. मार्ग नही सूझता है । ऐसी स्थिति में सच्चे गुरु जुगनू की तरह कही कही प्रकाशित होते है, तथा प्रकाश प्रदान करते है ।

आज लौकिकविद्या में प्रवीण व्यक्ति सर्वत्र दृष्टिगोचर होते है । वे प्रत्येक गृह की शोभा बढाते है, किन्तु आत्मकल्याणकारी ज्ञान युक्त पुरुषो का दर्शन दुर्लभ हो गया है । समयक्ज्ञान की चर्चा करने वाले पुण्यपुरुष कहाँ मिलते है ? आचार्य पद्मनदि ने लिखा है "आजकल अपने को विद्वान समझकर महान वाणी का वैभव दिखाते हुए, सभाओ में श्रृंगारादि रसों से युक्त प्रमोद प्रदान करने वाले तथा मोह जाल में फसानेवाले वक्ता घर घर में विराजमान है, किन्तु जिनमें परमात्मा तथा जीवादि तत्वा का बोध प्राप्त होता है वे उपदेष्टा दुर्लभ है ।

ऐसे मोह सकुल वातावरण में आत्मतत्व की सम्यकदेशना निस्पृह, निर्भय भाव से देने वाले सत्पुरुष इस काल में विरले है । हमारे चरित्र नायक

ऐसे ही लोकोत्तर दुर्लभ महापुरुषों में चूड़ामणि है। कितनी भी सुन्दर मजबूत सर्वसाधानसंपन्ननौका हो, उसमें यदि छिद्र है तो वह डूबे बिना नहीं रहती। इसी प्रकार सर्व प्रकार का लौकिकज्ञान हो, अनेक प्रकार की अभ्युदय की सामग्री हो फिर भी मिथ्यात्व का त्याग जब तक नहीं होता तब तक यह सब वैभव अल्पकालस्थायी है। कुछ समय के बाद वह मिथ्यात्व राक्षस इसके जीवन का सर्वनाश करके इसे नरक तिर्यंचादि योनियों में त्रास दिए बिना न रहेगा। अतः विश्व की विभूति, और संपूर्ण सुखों का दान एक तरफ और दूसरी तरफ मिथ्यात्व को दूरकर साम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्त्व की प्राप्ति कराना, इनमें सम्यक्त्व लाभ कराने के समान हितप्रद कोई वस्तु नहीं है। इससे भव भव में जीव सुख पाता है तथा मिथ्यात्व के कारण अनत संसार में भटकता हुआ अनंत दु.ख भोगता रहता है।

यही बात विचार कर पूज्य श्री ने पहले गृहीत मिथ्यात्व रूपी गृह-राक्षस से, भोले तथा भूले जैन बंधुओ की मुक्ति का मंगल सुधार कार्य प्रारम्भ किया। लोग प्रायः शिथिलाचार के पोषण तथा भ्रष्ट स्वछंद प्रवृत्ति को 'सुधार, कहा करते हैं। किन्तु सच्चा सुधार यह है जिससे जीव का ससारपरिभ्रमण दूर होता है वह पाप प्रवृत्तियों का परित्यागकर सयम शील हो सदाचार के पथ पर लगता है। समाज मे विद्यमान सत्प्रवृत्तियों को उखाड़कर पाप मूलक तथा व्यसनों की पुष्टि प्रदान करने वाली कल्मषमय वृत्तियों को सुधार का नाम देकर मोह तथा मिथ्यात्व के चक्कर में फसे हुए जीव जनसाधारण को कुमार्ग पर पहुचाते है। ऐसे अवसर पर कुछ यश-लिप्सु लोग सत्य कहने का साहस न होने से जानते हुए भी कुपथ में जाने वालो को प्रोत्साहन देने में संकोच नहीं करते है। ऐसे काल में जिनागम पर दृढ़प्रतीति धारण कर निर्भय हो जीव के परमार्थ कल्याण का उपदेश दे मिथ्यामार्ग से बचाने वाले पूज्य श्री सदृश सत्पुरुषों का दर्शन तक दुर्लभ है।

मिथ्यात्व त्याग करने का कारण

आज कुछ लोग अपने संप्रदाय के कट्टर भक्त होते हुए जनता के समक्ष अपने आपको सर्वधर्म-समभाववाला बता सबसे आदर, गौरव तथा प्रशंसा प्राप्त करने की चतुरता दिखाते हैं। ऐसे लोग शंका कर सकते हैं, कि आपके गुरुदेव ने मिथ्यात्व का प्रसार रोकने का श्रम क्यों किया? इसमें क्या सार है? उनके ऐहिक सुख लाभ के लिए या शिक्षा प्राप्ति के हेतु यदि वे उद्योग करते तो कही अच्छा होता, इससे राष्ट्र का भी अभ्युदय होता।

यह प्रश्न स्थूल दृष्टि से बडा मोहक दिखता है, किन्तु परमार्थ विचार से उचित नही ज्ञात होता। मिथ्यात्व की आराधना से यह जीव मोक्षमार्ग से वंचित हो जाता है। इसकी विवेक शक्ति का प्राणहरण हो जाता है और विवेक की मृत्यु होने से विज्ञ व्यक्ति के समक्ष समस्त जीवन ही सार शून्य विदित होता है। जैनधर्म वैज्ञानिक विचार है। वैज्ञानिक दृष्टि को मोक्ष का मूल मानता है। यह मिथ्या धारणाओ तथा अवैज्ञानिक मान्यताओ को आश्रय देना सर्प को दूध पिलाने के तुल्य समझता है। जिस तरह रोगी के शरीर में फोडा होने पर उसके प्रति ममत्व दिखा शल्यक्रिया (आप्रेशन) का जो विरोध करता है, वह परमार्थत उसका हितचिन्तक नही तथा शत्रु है। किन्तु डाक्टर भयकर शस्त्र का उपयोग कर उसे असह्य वेदना देते हुए भी हितैषी मित्र तथा सदबन्धु माना जाता है क्योंकि वह उस रोगी के रोग की जड को दूर कर उसे सुख प्रदान करता है। इसी प्रकार सद्गुरु, मिथ्या मार्ग का पालनकर अपनी मृत्यु का गड्ढा खोदने वाले जीव को सदुपदेश द्वारा सच्चा जीवन और आनन्द प्रदान करते है। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व में आलोक और अन्धकार सदृश ऐक्य का स्थापन त्रिकाल में भी शक्य नही है। सत्य और असत्य, अहिंसा और हिंसा, शील और व्यभिचार में कैसे मैत्री उत्पन्न की जा सकती है? इसी प्रकार मोक्ष मार्ग के निरूपण में जैनशासन सत्यानुरोध से तथा जीव के कल्याण कामना से मिथ्यात्व का मूलोच्छेद करना आवश्यक बताता है। इस विषय में तनिक भी शैथिल्य रहा तो मिथ्यात्व का कालानाग डसे बिना न रहेगा।

विचारवान व्यक्ति सरलता से इस तत्व को हृदयगम कर लेगा, कि जैनदृष्टि क्यो मिथ्यात्व का निषेध करती है? भोले लोग न जाने कितनी मिथ्या वस्तुओ को देवी, देवता का नाम दे उनकी भक्ति करते हुए अपने अमूल्य नरजन्म को नष्ट करते हैं। पहले जब रेल चली थी तब रेल का इजन ग्रामीणो का भगवान था। अभी १९५२ का जो स्वतत्र गणतत्र भारत का चुनाव हुआ, इसमें मतदान पेटिका (बेलेट बाक्स) भी भगवान बन गई। कई ग्रामीणों ने पेटी की पूजा की, उसका ध्यान किया, वोट-भगवान का शात भाव से स्मरण किया। ऐसी भ्रात धारणाओं पर, वैज्ञानिक दृष्टि का जब तक चाकू नहीं चलता है तब तक दृष्टि शुद्ध नही होती है। अत विवेकी व्यक्ति का कर्तव्य हैं, कि विज्ञान, विचार तथा अनुभूति की कसौटी पर सत्य प्रमाणित होने वाली दृष्टि को स्वीकार करे,

न कि मानसिक दुर्बलता वश दूध और चूने को, काक और कोकिल को वर्ण साम्य होने से एक मानने का सत्य के शासन के विरुद्ध अपराध करे।

इस कारण जिनेन्द्र के शासन की छत्रछाया में भूले भाइयो को लाकर पूज्यश्री ने अवर्णनीय उपकार किया। महाराज ने तो यह नियम कर लिया था, कि जिसके यहा मिथ्यात्व की आराधना होती होगी और जो अपने यहां कुदेवों को विराजमान किए होगा, उसके यहा आहार नही लेंगे। उनकी इस प्रतिज्ञा रूप औषधि ने बहुत शीघ्र मिथ्यात्व की बीमारी को दूर कर दिया। इस सम्यक्त्व प्रसार के कार्य से पूज्य श्री के वात्सल्य, स्थितीकरण उपगूहन तथा प्रभावना रूप सम्यक्त्व के अंगों की विशुद्धता प्रकाशित होती है। यह इसको सूचित करता है कि महाराज के चित्त में लोककल्याण की कितनी उज्वल तथा पवित्र भावना वेग से काम कर रही थी। उन्हे निरंतर यही दिखता था, कि इन अज्ञजीवों का भ्रम भाव भगाकर कैसे उनको सन्मार्ग पर लगायी जाय, जिससे वे संसार के दुःखो से व्यथित न होवें। कोगनोली में वर्षायोग व्यतीत कर क्षुल्कक महाराज ने अपने विहार द्वारा सम्यक्त्व का प्रकाश फैलाने का कार्य बड़ी तत्परता से किया।

अब उनने अपना दूसरा चातुर्मास कुंभोज में किया। यहां आदिसागर मुनिराज के सतसंग का लाभ रहा। वर्षायोग के निरंतर विहार द्वारा वे भव्य जीवों का कल्याण करते रहे। उनका तीसरा चातुर्मास पुनः कोगनोली में हुआ।

इसके बाद महाराज ने कर्णाटक प्रांत की ओर विहार कर सन्मार्ग की प्रभावना की।

जैनवाड़ी में सम्यक्त्व की धारा

जैनवाड़ी में आकर उनने वर्षायोग का निश्चय किया। इस जैनवाड़ी को जैनियों की बस्ती ही समझना चाहिये। यहाँ प्रायः सभी जैनी थे। किन्तु वे प्रायः भयंकर अज्ञान में डूबे हुए थे। सभी कुदेवों की पूजा करते थे। महाराज की पुण्य देशना से सब श्रावकों ने मिथ्यात्व का त्याग किया और अपने घर से कुदेवों को अलग कर कई गाड़ियो में भरकर उन्हें नदी में सिरा दिया।

उस समय, वहां के जो राजा थे, यह जानकर आश्चर्य में पड़े कि आचार्य महाराज तो बड़े पुण्यचरित्र महापुरुष है। ये भला हम लोगो के द्वारा पूज्य माने गये देवों को गाड़ी में भरवाकर नदी में डुबाने का कार्य क्यों कराते हैं? राजा और रानी दोनों महाराज की तापश्चर्या से पहले ही

खूब प्रभावित थे। उनके प्रति बहुत आदर भाव भी रखते थे।

एक दिन राजा पूज्य श्री की सेवा में स्वयं उपस्थित हुए और बोले "महाराज! आप यह क्या करवाते हैं जो गाड़ियों में देवों को भरवाकर नदी में पहुंचा देते हैं।"

महाराज ने कहा—"राजन्! आप एक प्रश्न का उत्तर दो। आप के यहाँ भाद्रपद में गणपति की स्थापना होती है या नहीं?"

राजा ने कहा—"हां, महाराज! हम लोग गणपति को विराजमान करते हैं।"

महाराज ने कहा—"उनकी स्थापना के बाद आप क्या करते हैं?"

राजा ने कहा—"महाराज हम उनकी पूजा करते हैं, भक्ति करते हैं।"

महाराज ने पूछा—"उस उत्सव के पश्चात क्या करते हो?"

राजा ने उत्तर दिया—"महाराज बाद में हम उनको पानी में सिरा देते है।"

महाराज ने पूछा—"जिनकी आपने भक्ति से पूजा की, आराधना की उनको पानी में क्यों डुबा देते हैं?"

राजा ने कहा—"महाराज पर्वपर्यन्त ही गणपति की पूजा का काल था। उसका काल पूर्ण होने पर उनको सिराना ही कर्तव्य है।"

महाराज ने पूछा—"उनके सिराने के बाद आप फिर किनकी पूजा करते है?"

राजाने कहा—"महाराज इसके पश्चात हम राम हनुमान आदि की मूर्तियों की पूजा करते है।"

महाराज ने कहा—"राजन् जैसे पर्व पूर्ण होने के पश्चात गणपति को आप सिरा देते हैं और रामचन्द्र जी आदि की मूर्ति की पूजा करते है, इसी प्रकार इन देवों की पूजा का पर्व समाप्त हो गया। जब तक हमारा आना नहीं हुआ था तब तक इनकी पूजा का काल था। अब जैन गुरु के आजाने के बाद उनका काम पूरा हो गया, इससे उनको सिरा देना ही कर्तव्य है। जिस तरह आप राम हनुमान आदि की पूजा करते हैं इसी प्रकार हमारे मंदिर मे स्थायी मूर्ति तीर्थंकरों की, अरहंतों की रहती है उनकी पूजा करते है।"

पूज्य श्री के युक्ति पूर्ण विवेचन से राजा का संदेह दूर हो गया। वे महाराज को प्रणाम कर संतुष्ट हो अपने राजभवन को वापिस लौट गए।

जैनवाड़ी में एक और महत्व पूर्ण बात हुई। वहा जब महाराज

जैनियों को मिथ्यादेवों की पूजा के त्याग की प्रतिज्ञा करा रहे थे, तब ग्राम के मुख्य जैनियों ने पूज्य श्री से प्रार्थना की—"महाराज ! आपकी सेवा में एक नम्र विनती है।"

महाराज ने बड़े प्रेम से पूछा—"क्या कहना है कहो।"

जैन बधु बोले—"महाराज इस ग्राम में सर्प का बहुत उपद्रव है। सर्प का विष उतारने में निपुण एक जैनी भाई है। वह मिथ्यादेवों की भक्ति करके, उनके मंत्र को पढ़कर सर्प का विष उतारता है। उसने यदि आपसे मिथ्यात्व त्याग की प्रतिज्ञा ले ली तो हम सबको बड़ी विपत्ति उठानी पड़ेगी। इसलिए उसे छोड़ शेष सबको आप नियम देवें इसमें हमारा विरोध नहीं है। आगे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।" अब तो विकट प्रश्न आ गया जो आज बड़े-बड़े लोगों को भी विचलित किए बिना न रहेगा। तार्किक व्यक्ति तो लोकोपकार, सार्वजनिक हित, जीवदया, प्राणरक्षण के नाम पर अथवा और भी युक्तिवाद की ओट में उस मांत्रिक जैन को नियम के बंधन से मुक्ति देने के विषय में पूज्य महाराज से प्रार्थना करेगा कि इस विषय में आपको विशेष विचार करना होगा और सार्वजनिक हित के हेतु केवल एक व्यक्ति को पूजा के लिये छुट्टी देनी होगी।

मिथ्या देवों की उपासना का निषेध

पूज्य महाराज ने गम्भीरता पूर्वक इस समस्या पर विचार किया और उस जैन बंधु से कहा "जैन मंत्रों में अचिन्त्य सामर्थ्य पाई जाती है। हम तुम्हें एक मन्त्र बताते हैं। उसका विधिपूर्वक प्रयोग करो यदि दो माह के भीतर वह मंत्र तुम्हारा कार्य न करे तो तुम पर बंधन नहीं रहेगा। अतः तुम दो माह के लिए मिथ्यात्व का त्याग करो।" महाराज ने उस मांत्रिक बंधु को मिथ्यात्व का त्याग कराकर मंत्र दिया तथा विधि भी कह दी। दो माह का त्याग कराया था। इतने में कोई आदमी समाचार लेकर आया और बोला कि 'मेरे बैल को सर्प ने काट दिया है।' वह तुरन्त पंच परमेष्ठीका स्मरण करता हुआ वहां पहुंचा और जैन मंत्र का प्रयोग किया। तत्काल विष की बाधा दूर हो गई। इसके पश्चात मंत्र का सफल प्रयोग देखकर वह महाराज के पास आया और बोला "महाराज अब मुझे जीवन भर के लिए मिथ्यात्व त्याग का नियम दे दीजिए।" महाराज ने उसे जीवन भर के लिए नियम दे दिया।

जैन मंत्र का अपूर्व प्रभाव

इससे महाराज की जिनागम पर प्रगाढ़ श्रद्धा तो स्पष्ट ज्ञात होती है

साथ ही विकट स्थिति में भी धर्मपथ से नही डिगने की मेरुवत् अचलवृत्ति भी ज्ञात होती है ।

इस प्रसग में यह बात ज्ञातव्य है कि जिनेन्द्र की वाणि में मत्र की महत्ता पर बहुत प्रकाश डाला गया है । द्वादशागरूप जिनवाणी में विद्या साधनादि का वर्णन है ।

'धवला' टीका में लिखा है । कि ' विद्यानुवाद" नाम का दसवा पूर्व है उसमें पन्द्रह वस्तुगत, तीनसौ प्राभृतो के एक करोड दस लाख पदा द्वारा अगुष्ठ प्रसेना आदि सातसौ अल्प विद्याओ का, रोहिणी आदि पाच सौ महाविद्याआ का और अतरिक्ष,भौम, अग, स्वर, स्वप्न, क्षण, व्यजन, चिन्ह इन आठ महानिमित्ता का वर्णन मिलता है । आज मत्र विद्या के ज्ञाताआ का जैन समाज में दर्शन दुर्लभ हो जाने से दुखी व्यक्ति जिनेन्द्र को भूल कुदेव तथा कुगुरु की आराधना करता फिरता है । पहले जैन समाज में बडे बडे समर्थ मांत्रिक व्यक्ति हो चुके हैं । सन् १९५० म ग्वालियर जाने पर हमें विदित हुआ था कि वहाँ तीन चार सौ वर्ष पूर्व जो भट्टारक थे उनका बडा प्रभाव था । उनकी मात्रिक साधना के कारण ग्वालियर तथा दिल्ली के दरबार में बडी प्रतिष्ठा थी । दिल्ली के लाल किले के सामने अवस्थित 'लालमन्दिर' नाम से ख्यात जिनालय मत्रविद्या के प्रभाववश अत्याचारी शासको तथा धर्मान्धो द्वारा न हडपा जा सका । जैन मत्रो की अपार सामर्थ्य आज भी विद्यमान है । सदाचार श्रद्धा, दृढतापूर्वक आराधना करने वाले के लिए वे मत्र कल्पवृक्षके समान कामना पूर्ण करते हैं । आचार्य महाराज ने मत्रसाधक जैन बन्धु को सर्प का विष उतारने वाला सविधि जैनमत्र सिखाया था । जैनमत्र की महान् सामर्थ्य का प्रत्यक्ष अनुभव लाभ के उपरात वह जैन बधु महाराज के पास आकर बोला, "महाराज जैन मत्र में एक और महत्व की बात ज्ञात हुई कि इसम सर्प का विष अत्यत शीघ्र दूर होता है तथा भीषण रोगो की शीघ्र उपशाति होती है ।"

पचनमस्कार मत्र की श्रष्ठता

सोमदेव सूरि ने लिखा है 'कि सर्वज्ञ जिनेन्द्र से सर्व विद्याओं की उत्पत्ति हुई है । पच परमेष्ठी के वाचक शब्दो का ध्यान करना अविनाशी तथा सर्वविद्याओ का आधार है । सब शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करके श्रष्ठ तप करते हुए भी मुनिराज अत में एकचित्त हो इस पचगुरु नाम स्मरण रूप मत्र की ही आराधना करते हैं । यह पच परमेष्टी वाचक मन स्मृति धारा द्वारा जिसके चित्त में वर्षा करता

है अर्थात् जो इसका निरतर स्मरण करता है उसके क्षुद्र उपद्रव रूप धूल शात हो जाया करती है।"[१] जिनसेन स्वामी ने भगवान को मत्र वेत्ता, मत्र निर्माता, मत्रधारक तथा मत्रमूर्ति कहा है।[२]

कवि धनजय कहते है "विष को दूर करने वाले मणि, औषधि, मन, रसायन आदि के उद्देश्य से जगत के जीव भटकते फिरते है किन्तु आश्चर्य है कि वे आपका स्मरण नही करते। यथार्थ में ये जिन भगवान के ही नामान्तर है।[३] जिनेन्द्र भगवान का एकाग्रता और श्रद्धापूर्वक स्मरण करने से क्या होता है इस सम्बन्ध में आचार्य वीरसेन ने धवल ग्रथ में लिखा है "जिनेन्द्रदेव के गुणो का कीर्तन करने से विघ्न नष्ट होते है, भय दूर होता है, दुष्ट देवता आक्रमण नही करते है तथा इच्छानुसार वस्तुओ का निरतर लाभ होता है।"[४]

अभी सितम्बर सन १९५२ मे भोज के जिनमन्दिर की कुटी में सुबल महाराज नाम के ७६ वर्ष की अवस्था वाले शातमूर्ति ऐलक का दर्शन हुआ। पहले वे सागली ग्राम के (कोल्हापुर) पाटील थे। उनका नाम उस समय पायगौंडा सत्य गौडापाटील था। उन्हे दीक्षा

---

१ "ध्यायेद्वा वाङ्मय ज्योतिर्गुरुपञ्चकवाजकम्।
एतद्धि सर्वविद्यानामधिष्ठानमनश्वरम्॥
अधीत्य सर्वशास्त्राणि विधाय च तपः परम्।
इद मत्र स्मरन्त्यन्तेमुनयोनन्यचेतस॥
मन्त्रोय स्मृतिधाराभिश्चित्त यस्याभिवर्षति।
तस्य सर्वे प्रशाम्यति क्षुद्रोपद्रवपासव॥"
'यशस्तिलक' अध्याय ८-४२ कल्प

२ "मत्रविन्मत्र कृन्मत्री मत्र मूर्तिसतक॥" सहस्रनाम ८

३ "विषापहार मणिमौषधानि मत्र समुद्दिश्य रसम्यन च।
भाम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरति पर्यायनामानि तवैव तानि" ॥१४॥
'विषापहारस्तोत्र'

४ "विघ्नाः प्रणश्यति भय न जातु न दुष्टदेवाः परिलघयति।
अर्थान्यथेष्टाश्च सदा लभन्ते जिनोत्तमाना परिकीर्तनेन॥"
'धवलाटीका' भाग, १ पृ ४१.

लिए हुए ७ वर्ष हो गये । उनने अपने दीक्षा लेने के कारण पर इस प्रकार प्रकाश डाला—"सात वर्ष हुए एक भयंकर सर्पराज ने हमें काट दिया । उससे जीवन की रक्षा असम्भव प्रतीत होती थी । उस समय हमारे शरीर में अपार दाह हो रहा था । प्यास की भी वेदना हो रही थी, उस समय हमने सोचा कि इस विकराल सर्प के काटने से बच गये तो दीक्षा लेंगे यदि न बचे तो समाधि पूर्वक प्राण विसर्जन करेंगे ।

सुयोग की बात है उस समय क्षुल्लक समतभद्र जी[1] तथा कीर्तनकार जिनगोंडा पाटील मागूलकर ने भक्तिपूर्वक विषापहार स्तोत्र का पाठ पढना प्रारभ किया । उस समय जिन भगवान का पचामृत अभिषेक भी किया गया था । ऋषिमडलमत्र का जाप भी चल रहा था । उस समय हमारे शरीर में अवर्णनीय पीडा हो रही थी । अभिषेक तथा शातिधारा पूर्ण होने पर अभिषेक का सारा जल हम पर डाल दिया गया । उसका जल शरीर पर पडते ही तत्काल सारी वेदना दूर हो गयी । हमारा शरीर विष रहित हो गया ।

अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार हम मुनिराज पायसागर जी के पास बोरगाँव पहुचे जहा आठवें दिन आहार लेने वाले आदिसागर मुनिराज हुए हैं । पायसागर महाराज के पास हमने क्षुल्लक दीक्षा ली । दीक्षा लेने के बाद १८ नवम्बर सन १९४६ को हमने शिरगुम्मी में ऐलक दीक्षा ली ।"

इस प्रकार और लोग भी जिनेन्द्र के मंत्र की अपूर्वता बताते हैं । बरार प्रान्त के अमरावती जिले में हिवरखेरा ग्राम है । वहाँ के जैनमदिर के कर्मचारी को भयकर सर्पराज ने काट दिया । वह मंदिर का माली सदा ही जिनभगवान की सेवा करता था । उसके मन में पारसनाथ भगवान के प्रति गहरी श्रद्धा थी । उसकी प्रार्थना पर जैन बधुओं ने भगवान पार्श्वनाथ का अभिषेक करना आरभ किया । सभी जैनबधु प्रभु की पूजा में तन्मय हो रहे थे । उस समय विष का वेग बढता जा रहा था । मदिर के पास अन्य धर्म वालों की भीड इकट्ठी हो गयी और वे कहने लगे कि ये जैन लोग आज इस गरीब को मारे डाल रहे हैं । व्यर्थ में भगवान

---

१ इनने २८ नवम्बर सन १९५२ में आचार्य महाराज के ज्येष्ठबधु मुनिराज वर्धमान स्वामी के पास मुनि दीक्षा ली है । एक ग्रेजुएट का दिगम्बर मुनि बनना बडी लोकोत्तर बात है ।

की पूजा का ढोंग रच रहे हैं । इतने में विष का गहरा असर होने से उसे एक चक्कर आया जिसे देख ऐसा लगा कि अब यह नहीं बचेगा । कुछ क्षण बाद दूसरा चक्कर आया । उस समय अभिषेक का गंधोदक उसके शरीर में लगाया, उसके कुछ क्षण पूर्व तीसरा चक्कर आ रहा था, जिसे लोग मृत्यु का चक्कर ही समझ रहे थे । इतने में जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक का गंधोदक का शरीर से स्पर्श होते ही तत्काल उसका विष उतर गया । अन्य धर्म वाले बहुत प्रभावित हुये । आज तक भी लोग जिन भगवान की महिमा का बड़े आदर भाव से स्मरण करते हैं । वास्तव में जिनेन्द्र भगवान की श्रद्धा धारण करने से संसार में कोई विपत्ति नही रह सकती। आज हमारी श्रद्धा भगवान से दूर होकर लक्ष्मी के प्रति हो गयी है । इसीलिये जिनशासन की शरण में रहते हुए भी हमारी हीन अवस्था हो रही है । आज उच्च विद्वानों में भी श्रद्धा का दिवाला निकला हुआ दिखाई देता है । वे अपने स्वामियों के प्रति श्रद्धा रखते हैं । उनका गुणगान करते हुये नही थकते, किन्तु जिनेन्द्र की भक्ति करते समय उनकी आत्मा को अद्भुत पीड़ा हो जाती है । इसका कारण यही है, कि मिथ्यात्व प्रकृति ने उनकी आत्मा को डस लिया है । कवि ने ठीक कहा है—

"सर्प डस्यो तब जानियो रुचि कर नीम चबाय ।
कर्म डस्यो तब जानिये जिनवाणी न सुहाय ॥"

सम्यक्त्वी मिथ्या मंत्रों से अपनी श्रद्धा को मलिन नहीं करेगा

गत वर्ष बारामती में महाराज से एक प्रश्न पूछा गया था "क्या सम्यक्त्वी रोग निवारण के लिये मिथ्या मंत्रों द्वारा लाभ लेने का प्रयत्न करेगा या नही ?" पास में बैठे हुये एक विद्वान बोल उठे "जैसे सम्यक्त्वी औषधि लेता है उसी प्रकार औषधि रूप में मिथ्या मंत्र से भी लाभ लेगा ।"

इस पर महाराज ने कहा,—"औषधि लेने में बाधा नहीं है कारण औषधि में न सम्यक्त्व है, न मिथ्यात्व है किन्तु मिथ्यादेवों की अराधनापूर्ण मंत्रों से स्वार्थ सिद्धि करने पर उसकी श्रद्धा में मलिनता आयेगी ।"

वास्तव में कुदेव आदि सम्यक्त्व के अनायतन हैं । इसलिये उनसे बचना तत्वज्ञ का कर्तव्य है । आचार्य महाराज ने मिथ्यात्व या

कराकर जो लोक हित किया उसकी तुलना में बडा से बड़ा राष्ट्रोद्धार नगण्य है। सच्चा कल्याण सम्यक्त्व के प्रचार में है जिससे भव-भव के दुःख दूर होते हैं।

जिसने आत्मा में लगे हुए मिथ्यात्व को दूर करा दिया, उसने जीव का अनन्त कल्याण कर दिया। शरीर के क्षय रोग की चिकित्सा लोक में वैद्य लोग करते हैं, किन्तु आत्मा में लगे हुए मिथ्यात्व रूपी क्षय के निवारण की सामर्थ्य देवाधिदेव जिन भगवान की वाणी तथा उसके अनुसार आचरण करने में है। कोई भी रोगी औषधि की श्रद्धा मात्र से रोग मुक्त नहीं होता। उसे औषधि सेवन करने के साथ युक्त आहार-विहार करना आवश्यक है। इसी प्रकार जो भगवान की वाणी में श्रद्धा मात्र बताकर ठीक उसके विपरीत आचरण करते हुए अपनी कालिमा पूर्ण प्रवृत्तियों को कल्याणकारी सोचते हैं उनके नेत्रों से मिथ्यात्व रूपी पीलिया रोग अभी दूर होना बाकी है ऐसा मानना योग्य जंचता है।

आज लोग जिनेन्द्र के शासन में जन्म लेते हुए भी प्रायः मिथ्यात्वी बन रहे हैं और उसे सर्वधर्म-समभाव का मधुर नाम देकर आत्म वंचना करते हैं। कांच और कंचन, काग और कोकिल में एकान्त समता का भाव रखनेवाला कैसे तत्वज्ञ माना जायगा?

इसी प्रकार विश्व के उद्धार कर्ता वीतरागरसपूर्ण स्याद्वाद शासन के समान एकान्तवाद की नींव पर स्थित सरागता के आराधक सिद्धान्तों में तत्वज्ञ कैसे एकता स्वीकार करेगा? यह परमार्थ की बात है। इसमें लोक व्यवहार की लुभावनी नीति के अनुसार समझौता करने वाला जीव का सम्यक्त्व अस्तंगत हो जाता है।

यह सम्यक्त्व अद्भुत सामर्थ्य है। इसके प्रसाद से अनंत संकट क्षण में नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए महाज्ञानी मुनि समतभद्र स्वामी ने लिखा है कि इस जीव का त्रिकाल और त्रिलोक में सम्यक्त्व सदृश कोई हितकारी नहीं है, और मिथ्यात्व के समान दुःख दाता नहीं है। सम्यक्त्व का प्राण वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान के प्रति पवित्र श्रद्धा धारण करना है। निर्ग्रन्थ गुरु और जिनेन्द्र की वाणी को शिरोधार्य करना सम्यक्त्व है। इसी मर्म को ध्यान में रख महाराज ने गृह त्याग करते ही लोगों के सिर पर सवार मिथ्यात्वग्रह के त्याग कराने का शाश्वतिक शान्ति प्रद कार्य किया। उनके तपोमय जीवन से यह कठिन

और असभव कार्य अत्यन्त सरल हो गया था।

जैनवाडी की आन्तरिक शुद्धि करके महाराज ने उसे यथार्थ में जैनवाडी ही बना दिया था। अब वहाँ कोई भी कुदेवो की आराधना नही करता है। चातुर्मास के बाद वे जहाँ जहाँ गये वहाँ वहाँ उनने मिथ्यात्व के राक्षस को भगा जिन भक्ति का मगल-दीप जलाया। पर्यटन

बाहुबलि क्षेत्र

करते हुए वे कुम्भोज के निकटवर्तीय बाहुबलि क्षेत्र में पधारे। यह स्थान अतिशय क्षेत्र सदृश माना जाता है। लगभग २०० वर्ष पूर्व बाहुबलि नाम के उच्च तपस्वी मुनिराज यहाँ थे। उनकी तपस्या महान थी। कभी कभी उनके पास शेर आकर प्रेमभाव से बैठा करता था। ऐसे प्रभावशाली दिगम्बर मुनि के कारण इस क्षेत्र को बाहुबली नाम प्राप्त हुआ। जब महाराज यहाँ विराजमान थे,

गिरनार यात्रा

तब कुछ समडोली आदि के धर्मात्मा भाई गिरनारजी की यात्रा के लिए निकले और बाहुबली क्षेत्र के दर्शनार्थ वहाँ आये और महाराज का दर्शन कर अपना जन्म सफल माना। उनने महाराज से प्रार्थना की कि नेमिनाथ भगवान के निर्वाण से पवित्र भूमि गिरनार जी चलने की कृपा कीजिए। महाराज की तीर्थ भक्ति असाधारण रही आयी है। इसलिए उनने चलने का निश्चय कर लिया। उस समय वे रेल में बैठकर गिरनार जी गये थे। यहाँ प्रत्येक धार्मिक के मन में यह शका अवश्य उत्पन्न होगी कि इतने बडे मनस्वी महात्मा ने स्वावलबन पूर्वक गिरनार की पैदल यात्रा क्या नही की ? इस विषय मे कुछ महत्वपूर्ण बातो पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

महाराज को दीक्षा के समय व्यापक शिथिलाचरण

एक दिन महाराज से ज्ञात हुआ था कि जब उनने गृहत्याग किया था तब निर्दोष रीति से सयमी जीवन नही पलता था। प्राय मुनि बस्ती में वस्त्र लपेटकर जाते थे और आहार के समय वे दिगबर होते थे। आहार के लिये पहले से ही उपाध्याय (जैन पुजारी) गृहस्थ के यहा स्थान निश्चित कर लिया करता था जहा दूसरे दिन साधु जाकर आहार किया करते थे। ऐसी विकट स्थिति जब मुनियो तक की थी तब क्षुल्लको की क्या निराली है।

महाराज महान स्वाध्यायशील व्यक्ति बचपन से ही रहे हैं। वे सर्वदा शास्त्रो का चिन्तन किया करते थे। विशेष स्मृति के धनी होने के

क्षुल्लक जीवन में परंपरा वश अपार विघ्न

कारण पूर्वापर विचार कर वे शास्त्र के मर्म को बिना सहायक के स्वयं समझ जाते थे। इसलिए उन्हें प्रचलित सदाचार की प्रवृत्ति में पायी जाने वाली त्रुटियों का धीरे धीरे शास्त्र के प्रकाश में निश्चय हो गया। महाराज ने कहा—'हमने सोचा कि उपध्याय के द्वारा पूर्व में निश्चत किये गये घर में जाकर भोजन करना योग्य नही है। इसलिए हमने वैसा आहार नहीं लिया। इससे हमारे मार्ग में अपरिमित कष्ट आये। लोगो को इस बात का पता नही था कि, बिना पूर्व निश्चय के त्यागी लोग आहार के लिए निकलते है इसलिए दातार गृहस्थ को अपने यहा आहारदान के लिए पडगाहना चाहिये।" उस समय की प्रणाली के अनुसार ही लोग आहार की व्यवस्था किया करते थे। यह बात महाराज को आगम के विपरीत दिखी। अतएव उनने किसी का भी ध्यान न कर उसी घर में आहार लेने की प्रतिज्ञा की, जहाँ शास्त्रानुसार आहार प्राप्त होगा।

इसका फल यह हुआ, कि इनको बहुधा कई दिन तक आहार नही मिलता था। प्रभात मे मंदिर का दर्शन कर चर्या को निकले, उस समय यदि किसी गृहस्थ ने कह दिया "महाराज ! आज हमारे गृह में भोजन कीजिये, तो उसके यहा चले गये। अन्यथा दूसरे घरो के समक्ष अपने रूप को दिखाते हुए चले। यदि पडगाहे गए तो आहार किया, अन्यथा वह दिन निराहार ही व्यतीत होता था। इस प्रकार कभी कभी चार चार, पाच पाच दिन तक भी निराहार रहना पडता था। ऐसे अवसर पर उपाध्याय भी प्रतिकूल हो गए थे, कारण इस अनुद्दिष्ट आहार की पद्धती के कारण उनको गृहस्थ के यहा जो अनायास आहार मिल जाता था, वह लाभ बंद हो गया। उस समय के मुनि लोग भी कहने लगे ऐसा करने से काम नही होगा। यह पचम काल है, इसे देखकर ही आचरण करना चाहिए। ऐसी बात सुनकर आगम भक्त महाराज कहते थे "यदि शास्त्रानुसार जीवन नही बनेगा, तो हम उपवास करते हुए समाधिमरण को ग्रहण करेंगे, किन्तु आगम की आज्ञा का उलघन नही करेंगे।" उस समय की परिस्थिति ऐसी ही विकट थी, जैसी कि हम पुराणो में आदिनाथ भगवान के समय में विद्यमान पढते है। जहा श्रावकों को अपना कर्त्तव्य ज्ञात नही है, जानकार उपाध्याय लालचवश विघ्नकारी

बन रहे हैं तथा बड़े बड़े मुनि कालदोष के नाम पर शास्त्र की आज्ञा को भुला रहे हैं, वहां हमारा भविष्य जीवन कैसा चलेगा इस बात की महाराज को तनिक भी चिन्ता नही थी। उन्हें एक मात्र चिन्ता थी जिन वाणी के अनुसार प्रवृत्ति करने की। जिनेन्द्र की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करते हुए मृत्यु उन्हे बडी प्रिय मालूम पडती थी। आगम के विरुद्ध जीवन को वे आत्मा की मृत्यु सोचते थे। उनकी कठिन परिस्थिति और उग्र तपश्चर्या का कौन अनुमान कर सकता है? अत्यंत बलशाली शरीर को स्थिर रखने के लिए योग्य काल में आहार देना आवश्यक है। भोजन न मिलने से बडे बडे भक्त अपनी भक्ति को भुला दिया करते हैं। एक हिन्दू संत कहता है "भूखे भगत न होय गोपाला, जा लो अपनी कंठी माला।" क्षुधा की असह्य वेदना में मनुष्य पत्ते और घास तक खाकर इन प्राणो के रक्षण के लिए तत्पर होता है। वह ऐसा कोई अनर्थ नही है, जिसे पेट की ज्वाला से पीडित हो व्यक्ति न करे। ऐसी लोकस्थिति होते हुए भी महाराज वज्र की तरह अचल रहे। चर्या के लिए वे बराबर निकलते थे। आहार नही मिलता था तो लाभांतराय कर्म का उदय तीव्र है ऐसा जानते हुए शांत भाव से मंदिर में आकर धर्म ध्यान में अपना समय व्यतीत करते थे।

मैंने पूछा—"महाराज ऐसी स्थिति में लोगो के अज्ञान आदि पर तो आपको रोष आता होगा? ऐसा होना पूर्णतया स्वाभाविक है।"

महाराज ने कहा—"हमने कभी भी ऐसा रोष नही किया। उस समय हमारे परिणामो में और भी निर्मलता होती थी। हम यही सोचते थे, कि अभी हमारे कर्मो का तीव्र उदय है। इसलिए जैसे कर्म हमने पूर्व में बाधे हैं, उनका फल समता पूर्वक सहन करना चाहिये।"

क्रांतिकारी धार्मिक संतराज

इस प्रकार दो तीन वर्ष तक इनके क्षुल्लक जीवन में अवर्णनीय बाधायें आती रही किन्तु ये शांति के सागर ही रहे आये और कभी भी ज्वालाप्रसाद नही बने। धीरे धीरे समय बदला और लोगों को महाराज की क्रियाओ का ज्ञान हो गया। इससे विघ्न की घटा दूर हो गई। इस प्रकाश में तो महाराज प्रचलित मिथ्या-प्रवृत्तियों का उच्छेद करने वाले प्रचंड विद्रोही के रूप में दिखते हैं। उन जैसा सुधारक कहा मिलेगा? आज तो संयम रूपी अमृत के कलश को फोडकर फेंकने वाला विषय-विष की प्याली पिलाने वाला

पुरुष ही मस्तक पर सुधारक के मुकुट को धारण करता है । जो सुधार महाराज ने किया और धर्म का निर्दोष मार्ग प्रचलित कराया उसे देख इन्हे सचमुच में इस युग के धार्मिक क्रांतिकारी महापुरुष कहना होगा । ऐसी ही अनेक शिथिल प्रवृत्तियों में उनने सुधार कर धर्म मार्ग में नवीन जीवन डाला ।

ऐसे अनुपम वंदनीय मानव की प्रवृत्ति आगम विरुद्ध होगी ऐसा समझने वाला अहंकारी विद्वान् यथार्थ में तत्वज्ञों की करुणा का पात्र होगा। यथार्थ मे कई लोग निकट जीवन के संपर्क में बिना आये अपने घर में बैठे बैठे मिथ्याधारणाओं का ताना-बाना बुना करते हैं । अनेक लोग चरणानुयोग तथा जैन परम्परा से अल्पतम परिचय रखते हुये भी प्रथमानुयोग अथवा द्रव्यानुयोग अथवा करणानुयोग के ज्ञान के बल पर संयमी जीवन वाले आचार्य के शिष्य बनने के स्थान में गुरु का कार्य करना चाहते हैं । किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि निर्दोष चरित्र महान् आत्मा के पवित्र जीवन पर दोष लगाने वालों को कर्मों के न्यायालय में किस प्रकार दुर्गति होती है ?, इसलिये भव्यात्माओं का कर्त्तव्य है कि मिथ्याप्रवृत्ति वालों से नेतृत्व न ग्रहण करें । इसी में स्व और पर का कल्याण है। शास्त्र में जैनधर्म को लाछित करके गौरवहीन बनाने का दोष कपटवृत्ति वाले तपस्वियों और चरित्रहीन विद्वानों के ऊपर रखा गया है ।[1] इसलिये नौका चलाने की दोनो पतवारो के समान धर्म की नौका को खेने वाले साधुओं को विशुद्ध चरित्र वाला बनना तथा विद्वानों को पुण्याचरणवाले होना आवश्यक है ।

भगवान नेमिनाथ की निर्माण भूमि में

समडोली के श्रावकों के साथ महाराज, नेमिनाथ भगवान के पदरज से पुनीत गिरनार पर्वत पर पहुंचे । उन्होंने जगतवंद्य नेमिनाथ प्रभु के चरण-चिन्हों को प्रणाम किया और सोचा कि इन तीर्थंकर के चरणों के चिन्ह रूप अपने जीवन में कुछ स्मृति सामग्री ले जाना चाहिये । वहां के पवित्र वातावरण ने इनके अंतःकरण को विशेष प्रकाश दिया । नेमिनाथ के निर्वाण स्थान की स्थायी स्मृति रूप ऐलक दीक्षा लेनें का इनने विचार किया । महापुरुष जो विचारते हैं तदनुसार आचरण करते हैं इसलिये

१ पंडितैर्भ्रष्ट चारित्रैः वठरैश्च तपोधनैः ।
शासनं जिनचंद्रस्य निर्मलं मलिनी कृतम् ।।

अब ये ऐलक बन गये । इनकी आत्मा मे विशुद्धता उत्पन्न हुई ।

ऐलक दीक्षा

ऐलक बनने पर इनकी आत्मा को बड़ी स्फूर्ति मिली। भगवान नेमिनाथ जैसे रागरंग के चौराहे से मुख मोड वीतरागता के सिन्धु में निमग्न होने वाले तीर्थंकर की चरण—भूमि ने न मालूम कितनी सोती हुई आत्माओ को आत्मप्रकाश प्रदान किया है ? उनके ही कारण गिरनार पर्वत ही नही सारा सौराष्ट्र देश सुराष्ट्र रूप में आध्यात्मिक जगत के द्वारा वदनीय बन गया ।

महाव्रती बनने के लिये आत्मा के पोषण की पर्याप्त सामग्री उनके पास इकट्ठी हो रही थी । नेमिप्रभु के चरणो ने उनके आध्यात्मिक धन को बढ़ाकर उन्हें चारित्रनिधि का बडा धनी बना दिया ।

आहार के हेतु एकही बार जावे

एक दिन गिरनार जी की वदना कर वे लौटे और प्रात काल पर्वत पर ही व्यतीत होने के कारण चर्या के लिये सायकाल के समय निकले, कारण शास्त्र की ऐसी आज्ञा है कि साधु चर्या के लिए प्रभात में अथवा अपराह्न काल मे निकले । यहाँ अथवा के स्थान में अपने अत.करण को ही आगम और परम्परा का प्रतीक मान कोई-कोई लोग 'और' शब्द रख कर प्रभात में और अपराह्न में निकलना उचित मानते थे। ऐसे लोगों को महाराज ने बताया था, "आहार के लिए सकल्प करके दो बार निकलने से एक आहार की प्रतिज्ञा दूषित होती है इसलिये सबेरे या दोपहरी के बाद एक ही बार चर्या को निकलना धर्म का मार्ग है । चर्या को निकलना धर्म का मार्ग है । चर्या को निकलते हुए आहार न पाने वाले मुनि का उपवास नही कहा जायगा । आहार का त्याग करना और आहार का न मिलना दोनों स्थिति मे जो अतर है उसे ज्ञानवान आदमी सहज ही विचार सकता है ।"

एक बार इन नवीन ऐलक महाराज को एक धार्मिक गृहस्थ ने पड़गाहा। चौके तक पहुंच गये । आहार लेने को तैयार ही थे, कि इनकी दृष्टि घडी पर पडी । जाडे में सूर्य जल्दी डूबता है । इनने विचार किया यदि मैं आहार करता हूं, तो आहार करते-करते इतना समय हो जायगा कि रात्रि भोजन का दोष लग जायगा। उस समय सूर्य का प्रकाश था । गिरनार पर्वत की चढाई के कारण जठराग्नि भी स्वभावत प्रदीप्त हो रही थी,

आगम की आज्ञा का बारीकी से पालन

फिर भी भोजन करने से कुछ मिनिट रात्रि भोजन त्याग व्रत को सदोष बना देंगे, इसलिये तत्काल ही आहार की लोलुपता का त्याग कर महाराज बाहर चले आये ।

लोगो ने कारण पूछा । इनने बताया "भोजन की विधि में कोई दोष नही था किन्तु विलब से भोजन करने के कारण व्रत में दोष आने की समावना थी क्योकि सूर्य अस्त होने के तीन घडी पूर्व साधु को आहार छोड देना चाहिय ।" इस प्रकार बारीकी के साथ व्रतो के पालन में प्रवृत्ति करने वाले इन महापुरुष के महत्व को कौन विवेकी न मानेगा ? इस प्रकार निर्दोष धर्माचरण के द्वारा इनकी कीर्ति सर्वत्र फैलेती जा रही थी ।

गिरनार से लौटकर ये सागली के समीपवर्ती कुडल नाम के पहाड से अलकृत स्टेशन पर उतरे । वहाँ के जिन मदिरो की वदना की और जीवन भर के लिये सवारी पर बैठनका त्याग कर दिया । आज के युग में महाराज सदृश आध्यात्मिक निधि के अधिपति जिन मदिर की वदना की आवश्यकता को अनुभव करते हुए सर्वदा जिनदर्शन को तत्पर रहते हैं, किन्तु आश्चर्य है, कि अनर्थ के मूलअर्थ के धनी अथवा लौकिक शास्त्रो का अल्प परिचय प्राप्त करने वाले आत्म-प्रकाश हीन व्यक्ति गृहस्थोचित पवित्र कर्तव्यों को भूल जिन भगवान के दर्शन की आवश्यकता को अनुभव नही करते हैं । इस सत्य को कौन विवेकी न स्वीकार करेगा, कि वीतराग का शरण लिए बिना इस आत्मा का, त्रिकाल में भी उद्धार नही हो सकता ।

नसलापुर में चातुर्मास

यहा से चलकर इन धर्ममूर्ति ने भिन्न भिन्न स्थानों में धर्म की प्रभावना की और नसलापुर में वर्षायोग व्यतीत किया । वहा इनके द्वारा बहुत धर्म प्रभावना हुई । चातुर्मास के समय एक स्थान पर रहकर जैन साधु अपने अहिंसा व्रत का रक्षण करते हुए स्व परोपकार में तत्पर रहते हैं । वर्षाकाल में सूक्ष्म जीवो की उत्पत्ति अधिक होती है, इसलिए वे जीव रक्षा की दृष्टि से किसी एक स्थान पर निवास करते हैं । उस समय वे उपवास आदि के द्वारा अपन जीवन को समुज्वल बनाते हैं । वर्षाकाल के बाद महाराज बीजापुर के समीपवर्ती ग्राम बावानगर में आये ।

बावानगर की सातिशय पार्श्व प्रभु की मूर्ति

महाराज ने कहा था--"वहा पारसनाथ भगवान की लगभग एक हाथ ऊंची मूर्ति बडी मनोज्ञ और अतिशय सपन्न है। कहते हैं मूर्ति की नाभि मे पारस था। वहा का उपाध्याय कभी कभी संकट काल में लोहे की शलाका को उस पारस से लगा सोने को बना लिया करता था। उस उपाध्याय ने मरते समय अपने पुत्र को मूर्ति के अतिशय की बात बतायी। उसके मरते ही पुत्ररत्न ने दिन भर में इतनी लोहे की शलाका लगाकर सोना बनाना शुरू किया कि वह पारस उसमें से निकलकर खो गया। इस तरह एक व्यक्ति की मूर्खता से यह महत्व की बात चली गई।" वास्तव में देखा जाय तो भगवान की मनोज्ञ मूर्ति का अलौकिकपना अभी भी है, जो जीवन को स्वर्ण-तुल्य बना देता है।

दिगम्बर दीक्षा

इसके बाद महाराज ऐनापुर आये वहा एक निर्ग्रन्थ मुनिराज का समागम मिला। इससे इनके अत करण में बडा हर्ष हुआ। महाराज के जीवन में यह विशेष बात है कि गुणी पुरुष का समागम होने पर इनके अत करण में प्रमोद का भाव उत्पन्न होता है।

यरनाल में पचकल्याणक

एनापुर में एक पक्ष पर्यन्त रहकर ये यरनाल में पधारे। वहा जिनेन्द्र भगवान का पच कल्याणक महोत्सव बडे वैभव के साथ हो रहा था। आसपास जैनियो की लखो की सख्या है, इसलिये अपरिमित जनसमुदाय उस महोत्सव के दर्शनार्थ वहा एकत्रित हुआ था।

यरनाल में निर्ग्रंथ मुनि देवेन्द्रकीर्ति महाराज पधारे थे।

महाराज न उनके समीप जाकर प्रार्थना की—"भगवन ! आपकी आज्ञानुसार मैंने व्रतो का पालन किया। अब प्रर्थना है, कि मनुष्य जन्म की उत्कृष्ट निधि निग्रन्थ दीक्षा देकर मेरे जन्म को कृतार्थ करें।"

गुरु से दिगम्बर दीक्षा मागना

उस समय देवेन्द्रकीर्ति स्वामी ने कहा—"यह दिगबर दीक्षा लेना साधारण बात नही है, आज समय की गति विचित्र है। मिथ्यात्वी जीवो की प्रचुरता है। दुष्ट लोगो के अभद्र वचन सुनकर सहज ही मन में मलिनता और व्रत के प्रति ग्लानि आना सभव है। परीषहो का प्रचड प्रहार भी परिणामो को विचलित कर आत्मा को हिला देता है। यदि निर्ग्रन्थ पद लेकर निर्दोष रीति से उसका पालन न किया तो जीव गिरकर नीच पद को पाता है। इसलिये असमर्थ आत्मा इसे न धारण कर शक्ति के अनुसार सयम लेते है। सोचो ! क्या तुम इस दुर्धर निर्ग्रन्थ पद का भार उठा सकोगे या नही ? जल्दी में काम करना पीछे पश्चाताप का कारण होता है।'

स्वामी के महत्वपूर्ण उपदेश ने यह स्पष्ट कर दिया कि महाव्रत का धारण करना तलवार की धार पर चलने से भी कठिन है। ज्ञान और वैराग्य विभूषित मोक्षाभिलाषियो को यह आत्मा के लिए पुष्पशैय्या सदृश आल्हादप्रद होती है। किंतु दुर्बल आत्मा को यह शरशैय्या के समान सक्लेष पैदा करती है।

महाराज ने गुरुचरणो में विनय पूर्वक कहा—"स्वामिन ! आपका

कथन अक्षरशः सत्य है, किन्तु मैंने वर्षो से निर्ग्रन्थ दीक्षा के हेतु अपनी आत्मा को तैयार कर लिया है। जिनेन्द्र भगवान के प्रसाद से तथा आपके आशीर्वाद से इस पद की प्रतिष्ठा की सदा रक्षा करूंगा। उसमें कदाचित प्राण जावे तो मुझे उसकी परवाह नहीं है।"

इनके परिणाम वैराग्य सागर में डूबे हुए थे। उनके पीछे संयम सदाचार तथा सत्य का अपार बल था। इससे गुरुदेव की आत्मा में यह विश्वास उत्पन्न हो गया कि सातगौड़ा का प्रत्येक शब्द सत्य की शक्ति से पूर्ण है। उपस्थित हजारों लोगो से गुरुदेव से विनय की "महाराज! ये बहुत पवित्र आत्मा है। ये स्वप्न में भी अपने व्रत को दूषण न लगावेंगे।"

अंत में निर्ग्रन्थ दीक्षा देने का निश्चय हो गया। दीक्षा देने का श्रेष्ठ योग भी समीप था। पंचकल्याणक के समय भगवान के वैराग्य का काल आया। लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान के वैराग्य की अनुमोदना की। भगवान पालकी में विराजमान होकर दीक्षावन में पहुंचे। ऐसे उत्कृष्ट अवसर पर श्री सातगौडा ऐलक ने निर्ग्रन्थ रूप धारण करने का निश्चय किया। भगवान के साथ ही उनने वस्त्र का त्याग कर दिगम्बर मुद्रा धारण की और केशों का लोंच आरम्भ किया। अब सातगौड़ा ऐलक मुनि शांतिसागर बन गये, जिन्हें जगत-चारित्र चक्रवर्ती आचार्य महाराज के नाम से हार्दिक भक्ति द्वारा पूजता है।

उस समय वैराग्य का अवर्णनीय रस आ रहा था। हजारों भव्य स्त्री-पुरुष जयजयकार कर रहे थे। उस समय के शांतरस का वर्णन कौन कर सकता है, जब इन नैसर्गिक मुनि जीवन वाली आत्मा ने आज चिरकांक्षित पवित्र मुद्रा धारण की। गुरुदेव ने इनका नाम गुणों को देखकर शांतिसागर रखा। इनके नाम में आगत सात शब्द शांति का ही द्योतक रहा है।

जब महाराज की दीक्षा का कार्य हो रहा था उस समय एक महाराज के प्रेमी श्रीमंत नेत्रो से अश्रुधारा बहा रहे थे। वे सोचते थे 'किस प्रकार इनके मुनिपद का निर्वाह होगा। गृहस्थ समाज शिथिलता और प्रमाद में डूबी है। उसे आगम की आज्ञा का ध्यान नहीं है और महाराज आगम की आज्ञा से जरा भी डिगने वाले नहीं है। इसलिए भविष्य बड़ा अनिष्ट पूर्ण दिखाई देता था।'

उस समय महाराज ने सान्त्वना के शब्द कहकर समझाया "डरने

की क्या बात है ? यदि व्रत पालने के योग्य सामग्री न रहेगी तो हम जगल में रहकर साम्यविधारण कर लेंगे।"

शांति के सागर में प्रेम और माधुर्य का जल भरा है इसमें तनिक भी खारापन नही है। यहाँ छोटे छोटे जीवों को भी अभय मिलता है।

अभी ऐलक अवस्था में केवल लगोटी पास में थी, उससे ये तीर्थंकर की जिनमुद्रा के धारी नही कहे जाते थे। उतना सा भी परिग्रह इन्हें सयतासयत गुणस्थान से ऊचा नही उठने देता था। आश्चर्य है किन्ही जैन कहे जाने वालो में परिग्रह-परिकर रखते हुए भी अपने को सयत कहने में और कहलाने में सकोच नही किया जाता है। यथा जात मुद्राधारण करते ही ये सयत हुए और इनने सर्वप्रथम अप्रमत्त संयत गुणस्थान पर आरोहण किया, कारण देश सयमी जब महाव्रत धारण करता है, तब भावो में अद्भुत निर्मलता होने से वह छटवें के स्थान में सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है, पश्चात् अतर्मुहूर्त के परिणामो में कुछ प्रमत्तपना सज्वलन कषायजन्य आता है। वह भी अतमुहूर्त रहता है और फिर निर्मलता अप्रमत्त स्थिति को प्राप्त कराती है। कर्मकाड गोमट्टसार में लिखा है—

"मिथ्यात्व गुणस्थान वाला सासादन तथा प्रमत्त गुणस्थान को छोड कर शेष अप्रमत्त पर्यन्त चार स्थानो को प्राप्त होता है। सासादन गुण स्थान वाला मिथ्यात्व में ही गिरता है। मिश्रगुणस्थान वाला या तो चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त करता है या पतित होकर मिथ्यात्वी होता है। अविरत सम्यक्त्वी तथा देशसयमी प्रमत्तगुणस्थान को छोडकर अप्रमत्तगुणस्थान तक जाते है। प्रमत्त गुणस्थान वाला नीचे के पाच स्थानो की ओर आगे के अप्रमत्तरूप स्थान को इस प्रकार छह स्थानों को प्राप्त करता है तथा अप्रमत्त गुण स्थान वाला छटवें गुणस्थान को प्राप्त करता है।" [१]

---

१ सासण-पमत्तवज्ज अपमत्तत समल्लियइ मिच्छी।
मिच्छत्त विदिय गुणो मिस्सो पढम चउत्थ च ॥५५७॥
अविरद सम्मो देसो पमत्त परिहीणमप्पमत्त त।
छट्ठाणाणि पमत्तो छट्ठगुण अप्पमत्तो दु ॥५५८॥
'गोम्मट्टसार कर्मकाड'

सच्चे निर्ग्रंथ बने

अब शांति सागर महाराज की मुद्रा और तीर्थंकरों की जिनमुद्रा में रचमात्र भी अंतर नहीं है। वस्त्र, वैभव, परिग्रह के कारण ही मानव मानव में भेद की गहरी खाई खडी होती है, किन्तु दिगम्बरत्व सच्चा साम्य उत्पन्न कर देता है। अब इनको निर्ग्रंथ कहने लगे, इसका कारण देवसेन स्वामी 'भावसग्रह' मे इस प्रकार प्रकार बताते हैं—

"सर्व सग विनिर्मुक्त होने के कारण वृषभ जिनेन्द्र निर्ग्रन्थ थे। उनने अपनी वाणी के द्वारा निर्ग्रंथ मार्ग का उपदेश दिया। उनके मार्ग में लगने वाले सभी निर्ग्रन्थ महर्षि होते हैं।" परिग्रह को धारण करनेवाला उनके मार्ग में पूर्णतया लगा हुआ निर्ग्रंथ नही माना जाता है। परिग्रह के धारण करते हुए पूर्ण रत्नत्रय का पालन नहीं बनता है।

अब निर्ग्रंथ मुनि बन इनने अपने विहार द्वारा जीवो के कल्याण के साथ साथ आत्मा का भी कल्याण बडे वेग से प्रारभ किया। तपश्चर्या से चिर सचित कर्मों को उदयावलि में प्रविष्ट करके तपोधन निर्जरा किया करते है। प्रतीत होता है, कि इनकी तप साधना द्वारा असाता की उदीरणा आरंभ हो गई। यरनाल में दूषित जल हो जाने से बीमारी फैल गई। उस रोग से महाराज का शरीर भी आक्रान्त हो गया। अन्य तपस्वी भी बीमार पड गए। भक्त श्रावको ने इनको नसलापुर लाकर खूब वैयावृत्य–सेवा की।

एक माह के ज्वर ने शरीर को अत्यधिक क्षीण कर दिया। आहार के लिए जाने की भी सामर्थ्य न रही। उस विकट स्थिति में भी ये धर्म-ध्यान में प्रवीण रहे आए। उस समय इनने आर्तध्यान को तनिक भी स्थान न दिया।

'आत्मा के कोई रोग नही है। शरीर रोगी है, जब असाता का विपाक मन्द होगा, तब रोग की उपशाति होगी' ये सविचार ही उस समय इनके लिए औषधि रूप थे। इनका धैर्य अपार था। देखने वाले आश्चर्य में पड जाते थे, जैन मुनि की चर्या कितनी महान होती है। गोचरी करने की सामर्थ्य नही है, तो आहार ग्रहण नही करेंगे। दूसरो की बात ऐसी नही है। वहा जहा भी, जब भी, जो कोई भी, जो कुछ भी दे दे, दीन बनकर ले लेते हैं। इनकी वृत्ति सिंह सदृश पराक्रम पूर्ण है। धीरे धीरे असाता का वेग कम हुआ प्रकृति कुछ सुधरी।

महाराज कोगनोली की गुफा में रहा करते थे। आहार के लिए वे सवेरे योग्य काल में जाते थे। मार्ग में एक विप्रराज का गृह पड़ता था। इनका दिगम्बर रूप देखते हुए एक दिन उसका दिमाग कुछ गरम हो गया। उसने आकर दुष्ट की भाषा में इनसे अपने घर के साम्हने से जाने की अपत्ति की। उसके हृदय को पीड़ा देने में क्या लाभ, यह सोचकर इनने आने जाने का मार्ग बदल दिया। लगभग दो सप्ताह के बाद उस ब्राह्मण के चित्त में इनकी शांति ने असाधारण परिवर्तन किया। उसे अपनी मूर्खता और दुष्टता पर बड़ा दुःख हुआ। उसने इनके पास आकर अपनी भूल के लिए क्षमा मागी और प्रार्थना, की कि महाराज पुनः उसी मार्ग से गमनागमन किया करें, मुझे कोई भी आपत्ति नही है।

महाराज के मन में कषाय भाव तो था नही। यहाँ हृदय स्फटिक तुल्य निर्मल था, अतः विप्रराज की विनय पर ध्यान दे इनने उस मार्ग से पुनः आना जाना प्रारंभ कर दिया। मुनि जीवन में दुष्ट जीवो कृत उपद्रव सदा ही आया करते हैं, यही कारण था कि निर्ग्रन्थ दीक्षा देने के पूर्व गुरु ने पहले ही सचेत किया था कि किस प्रकार उपद्रव आया करते है, जिनके जीतने के लिए आत्मा को पूर्ण तथा कषाय विमुक्त बनाना पड़ता है। कोगनोली में चातुर्मास पूर्ण होने के पश्चात

नसलापुर चतुर्मास

विहार करते हुए इनका शुभागमन वर्षा के समीप नसलापुर में हुआ अतः उनने वहाँ ही चातुर्मास व्यतीत किया। इनकी कीर्ति अब और धीरे धीरे सर्वत्र फैल रही थी, इससे इनके पुन्य दर्शन द्वारा जीवन सफल करने को आने वाले स्त्री पुरषों की सख्या बढने लगी। इनकी गुण-गरिमा का वर्णन सुनकर सोलापुर प्रांत के कुछ लोगों ने नसलापुर में आकर इनका दर्शन किया। इस दर्शन से इनकी आत्मा आनन्दविभोर हुई। इनने वापिस आकर महाराज की महिमा का वर्णन किया तो सबके मन में यही भाव होते थे कि कब इन रत्नत्रयमूर्ति मुनिराज का दर्शन कर जन्मकृतार्थ करें।

निर्ग्रन्थ रूप में दूसरा चातुर्मास नसलापुर में व्यतीत कर विहार करते हुए महाराज का ऐनापुर पधारना हुआ।

यहाँ एक विशेष घटना हो गई। शास्त्र में मुनिदान की पद्धिति इस प्रकार कही गई है कि गृहस्थ अपने घर में जो शुद्ध आहार बनाते है उसे ही वह भक्ति पूर्वक महाव्रती मुनिराज को आहार के हेतु अर्पण करे। दूसरे के

कोगनोली में चातुर्मास

चातुर्मास निकट देखकर विहार करते हुए कोगनोली पधारे और ग्राम के बाहर आधा मील की दूरी पर स्थिति गुफा में विश्राम किया। वहा वर्षा की प्रचुरता से इनकी दिगम्बर देह को बहुत बाधा आई, किन्तु इनको आपदा विचलित न कर सकी। बात यह है, कि अब ये सामान्य मानव नही हैं। जब सामान्य गृहस्थ की स्थिति में थे, तब तो इनमें अपूर्वज्ञान और वैराग्य था, निस्पृहता और निर्ममता थी। अब तो मुनिवृत्ति धारण कर कर्मों के साथ इनने सीधा युद्ध आरंभ कर दिया है, अतः अब वे एक पराक्रमी योद्धा के समान विपत्तियों के आने पर म्लान मुख या दीनवदन नही होते। विपत्ति आने पर उसे दूर करने को बाह्य प्रतीकार ये नहीं करते। जैसे प्राकृतिक चिकित्सा (Nature Cure) में विश्वास रखने वाले रोग आने पर औषधि के सेवन से बचते हैं, कारण उनका विश्वास रहता है, कि प्रकृति स्वय विकारों के शमन होने पर निरोगता का वरदान देती है, इसी प्रकार ये मुनिराज प्रकृति की गोद में यथाजात शिशु के रूप में रहते हुए उसी मुद्रा को धारण कर प्राकृतिक पद्धति द्वारा संकटों का उपाय करते हैं। ये शांत भाव से बड़े बड़े सकटों को सहन करते हैं और यह सोचते हैं, कि जब तक कर्म का उदय है, तब तक फल भोगना अनिवार्य है। जिनेन्द्र नाम स्मरण, तथा आत्म गुण चिंतन प्रधान विशुद्ध भावना रूप संजीवनी सदा लेते रहते हैं, जिससे कर्मों का वेग कम होते जाता है। विपत्ति के समय निर्ग्रंथ मुनिराज प्राकृतिक पद्धति द्वारा आत्मा के रोगों को दूर करते हैं।

कोगनोली की गुफा में ये ध्यान करते थे[1]। एक रात्रि को ग्राम से एक पागल वहाँ आया। पहले उसने इनसे भोजन माँगा। इनको मौन देख वह हल्ला मचाने लगा। पश्चात गुफा के पास रखी ईंटों की राशि को फेंककर उपद्रव करता रहा, किन्तु शांति के सागर के भावों में विकार की एक लहर भी नही आई। दृढता पूर्वक ध्यान करते रहे। अन्त में पागल उपद्रव करते करते स्वयं थक गया, इससे वहाँ से चला गया।

---

१ णिग्गंथो जिणवसहो णिग्गंथं पवयणं कयं तेण।
तस्साणुमग्गलग्गा, सव्वे णिग्गंथ महरिसिणो ॥

'भावसंग्रह' ॥ १३४ ॥

महाराज कोगनोली की गुफा में रहा करते थे। आहार के लिए वे सबेरे योग्य काल में जाते थे। मार्ग में एक विप्रराज का गृह पड़ता था। इनका दिगम्बर रूप देखते हुए एक दिन उसका दिमाग कुछ गरम हो गया। उसने आकर दुष्ट की भाषा में इनसे अपने घर के साम्हने से जाने की आपत्ति की। उसके हृदय को पीड़ा देने में क्या लाभ, यह सोचकर इनने आने जाने का मार्ग बदल दिया। लगभग दो सप्ताह के बाद उस ब्राह्मण के चित्त में इनकी शांति ने असाधारण परिवर्तन किया। उसे अपनी मूर्खता और दुष्टता पर बड़ा दुःख हुआ। उसने इनके पास आकर अपनी भूल के लिए क्षमा मांगी और प्रार्थना की कि महाराज पुनः उसी मार्ग से गमनागमन किया करें, मुझे कोई भी आपत्ति नहीं है।

महाराज के मन में कषाय भाव तो था नहीं। यहाँ हृदय स्फटिक तुल्य निर्मल था, अतः विप्रराज की विनय पर ध्यान दे इनने उस मार्ग से पुनः आना जाना प्रारंभ कर दिया। मुनि जीवन में दुष्ट जीवों कृत उपद्रव सदा ही आया करते हैं, यही कारण था कि निर्ग्रन्थ दीक्षा देने के पूर्व गुरु ने पहले ही सकेत किया था कि किस प्रकार उपद्रव आया करते हैं, जिनके जीतने के लिए आत्मा को पूर्ण तया कषाय विमुक्त बनाना पड़ता है। कोगनोली में चातुर्मास पूर्ण होने के पश्चात

नसलापुरा चतुर्मास

विहार करते हुए इनका शुभागमन वर्धा के समीप नसलापुर में हुआ अतः उनने वहाँ ही चातुर्मास व्यतीत किया। इनकी कीर्ति अब और धीरे धीरे सर्वत्र फैल रही थी, इससे इनके पुन्य दर्शन द्वारा जीवन सफल करने को आने वाले स्त्री पुरुषों की सख्या बढ़ने लगी। इनकी गुण-गरिमा का वर्णन सुनकर सोलापुर प्रांत के कुछ लोगों ने नसलापुर में आकर इनका दर्शन किया। इस दर्शन से इनकी आत्मा आनन्दविभोर हुई। इनने वापिस आकर महाराज की महिमा का वर्णन किया, तो सबके मन में यही भाव होते थे कि कब इन रत्नत्रयमूर्ति मुनिराज का दर्शन कर जन्मकृतार्थ करें।

निर्ग्रन्थ रूप में दूसरा चातुर्मास नसलापुर में व्यतीत कर विहार करते हुए महाराज का ऐनापुर पधारना हुआ।

यहाँ एक विशेष घटना हो गई। शास्त्र में मुनिदान की पद्धति इस प्रकार कही गई है कि गृहस्थ अपने घर में जो शुद्ध आहार बनाते हैं उसे ही वह भक्ति पूर्वक महाव्रती मुनिराज को आहार के हेतु अर्पण करे। दूसरे के

घर की सामग्री लाकर कोई दे, तो ऐसा आहार मुनियो के लिए योग्य नही है। नसलापुर में महाराज आहारग्रहण को निकले । एक गृहस्थ ने अपने यहाँ भोजन को बिना किसी प्रकार की तैयारी के सहसा महाराज से आहार ग्रहण करने की प्रार्थना की और निमित्त की बात है, उस दिन पडगाहने की विधि भी मिल गई । इससे महाराज वहाँ ठहर गए। अब उस बधु को अपनी भूल याद आई कि मैंने 'यह क्या काम किया । घर में आहार बना नहीं है और मैंने अन्नजल शुद्ध है भोजनो को पधारिये, यह कह दिया । अब यदि मैं तत्काल योग्य व्यवस्था करने में चूकता हूँ, तो महाराज यहाँ से चले जावेंगे । लोगों में मेरी निन्दा भी होगी । ऐसे विविध विकल्प जाल में जकडे हुए उसे एक युक्ति सूझी । उसके घर से लगा हुआ, जो श्रावक का घर था वहाँ आहार के योग्य शुद्ध सामग्री तैयार थी । अतः उसने बडी सफाई से सामान अपने घर में लाया । महाराज जी को इस बात का जरा सा भी पता नही लगा, अन्यथा वे वहा ठहरते क्यो ? होनहार की बात है, कि उस गृहस्थ की होशियारी या चालाकी से मुनिराज का आहार वहाँ हो गया

आहार पूर्ण होने के पश्चात महाराज को ज्ञात हुआ कि आज का आहार ग्रहण नही करना था। दूसरे के घर से मागा गया भोजन आहार के काम में लाया गया था । इसस उनके चित्त में अनेक विचार उत्पन्न होने लगे । ऐसी स्थिति में मुनियो के पास जो सब से बडा हथियार प्रायश्चित्त का रहता है उसका उनने अपने ऊपर प्रयोग करने का निश्चय किया । जब भी कोई बुराई होती है तो उसका कारण बाहर न खोज कर वे भीतर देखा करते हैं ।

भयकर प्रायश्चित ग्रहण

जिस प्रकार सिंह मारने के साधन बनने वाली लाठी आदि की परवाह न कर प्रहार करनेवाले पर चोट करता है, इसी प्रकार ये महामुनि भी सीधी चाट (Direct action) की नीति का पालन करते हैं । आहार में दोष का कारण 'मेरे कर्मों का विशेष उदय है, अन्यथा सदोष आहार क्यो मिलता ? सदोष को छोड

"सूखहिं सरोवर जल भरे सूखहिं तरंगिनि तोय।
वाटहिं वटोही ना चलें जह घाम गरमी होय॥
तिहकाल मुनिवर तपत यहिं गिरि शिखर ठाडे धीर।
ते साधु मेरे उर वसो, मम हरहुपातक पीर"॥

जो व्यक्ति नसलापुर में थे। वे इस पद्य को 'ते साधु मेरे उर वसो" के स्थान मे "ये साधु मेरे उर वसो' पढ सकते थे। उस दिन की ग्रीष्म की भीष्म परीषह देखकर लोग घबडा गये थे किन्तु महाराज सो महापुरुष ही ठहरे। उनकी स्थिरता अदभुत थी। ऐसे ही ग्रीष्म परीषह विजेताओ का चित्रण 'भैया भगवतीदास' ने इस पद्य में किया है—

"ग्रीषम की ऋतु महि जल थल सूख जांहि।
परत प्रचड धूप आगि सी बरत है॥
दावा की सी ज्वाल माल बहत बयार अति।
लागति लपट कोऊ धीर न धरत है॥
धरती तपत माना तवा सी तपाय राखी।
वडवा अनल समशैल जो जरत है॥
ताके श्रृंगशिला पर जोर जुग पांव धर।
करत तपस्या मुनि करम हरत है॥"

कौन सोचेगा, कि पचम काल में असप्राप्तासृपाटिका असहनन धारक साधु चतुर्थ कालीन मुनियो के समान ऐसा घोर तप करेगा? उष्णता के कष्ट का अनुमान करने के लिए हम एक सरल उदाहरण देना उचित समझते हैं—

जब शिखर जी या राजगिर की पचपहाडी की वदना करते समय मध्यान्ह हो जाता है और पत्थर तथा रेत गरम होने लगती है तब यात्रा करने वाले जानते है, कि चलने में कैसा कष्ट होता है। ऐसी परिस्थिति

उष्ण परीषह जय

नग्न शरीरयुक्त पाषाण पर भीषण उष्णता के समय बैठने पर महाराज के शरीर को कितनी शारीरिक व्यथा हुई होगी, यह विचारक व्यक्ति कल्पना द्वारा अनुमान कर सकता है। उस समय तो आस पास की पाषाण राशि भी उष्ण हो आग उगलती सी प्रतीत होती थी। किन्तु धन्य है महाराज की स्थिरता तथा इंद्रियजय कि शातभाव से उस कष्ट को सहन कर उस सदोष

पहाडी में सात सो गुफाए थी, ऐसी प्रसिद्धि है। इससे यह ज्ञात होता है, कि जब जैनधर्म के पालक करोडो थे, तब महाव्रत के भाव वाली अनेक आत्माएं संयम साधना करती थी, और उनका वहुत बडा समुदाय इस कोनूर की भूमि को पवित्र करता चला आया है। इस चातुर्मास में दूर-दूर के श्रावको ने महाराज के दर्शन करके अपने मनुष्य जन्म को सफल माना और शांति लाभ लिया। यह विक्रम सवत् १९८० का चातुर्मास विशेष प्रभावना पूर्ण रहा।

महाराज के पास दूर दूर के प्रमुख धर्मात्मा श्रावक धर्म लाभ के लिए आते थे। धार्मिको के आगमन से किस धर्मात्मा को परितोष न होगा, किन्तु अपनी कीर्ति के विस्तार से महाराज की पवित्र आत्मा को तनिक भी हर्ष नही हुआ। वे बाल्य जीवन से ही ध्यान और अध्ययन के अनुरागी रहे। अब लोगों के अधिक आते रहने से ध्यान करने में बाधा सहज ही आ जाती थी इससे महाराज ने एक अपरिचित गुफा में जाकर आनद से ध्यान करने का विचार किया और वे एक प्रशान्त गुफा में मध्यान्ह की सामायिक के लिए गए और सामायिक करने लगे। गुफा के पास में झाडी थी। उसमे सर्पादिक जीवो का भी निवास था।

सर्प के उपद्रव में स्थिरता

गुरुभक्त मडली ने देखा कि आज महाराज ध्यान के लिए दूसरे स्थान पर गए हैं। अब उनने उनको ढूढना प्रारभ किया और कुछ समय के पश्चात् वे उस गुफा के समीप आ गये, जिसमें महाराज सामायिक में तल्लीन थे। उस समय एक सर्प झाडी में से निकला और गुफा के भीतर जाते हुए लोगों के दृष्टिगोचर हुआ। कुछ समय पश्चात् वह भीतर फिरकर बाहर निकलना ही चाहता था, कि एक श्रावक ने गफा के द्वार पर एक नारियल चढा दिया। उसकी आहट से पुनः सर्प भीतर घुस गया। वहा वह महाराज के पास गया और उसने उनके ध्यान में विघ्न डालने का प्रयत्न किया किन्तु उसका उनपर कोई भी असर नही हुआ। वे भेद विज्ञान की विमल ज्योति द्वारा शरीर और आत्मा को भिन्न भिन्न देखते हुए अपने को चैतन्य का पुन्ज सोचते थे, अत 'शरीर पर सर्प आया है, वह यदि दस कर देगा, तो मेरे प्राण न रहेंगे', यह बात उन्हें भय विह्वल न बना सकी। वे वज्र की मूर्ति की तरह स्थिर रहे आए। शरीर में अचलता थी, भावो में मेरुकी भांति स्थिरता थी। आत्मचिंतन से प्राप्त आनद में अपकर्ष के स्थान में उत्कर्ष ही हो रहा था। वे सर्प, सिंह, व्याघ्र,

अग्नि, आदि की बाधा को अत्यन्त तुच्छ जानते थे। उनकी दृष्टि मोहनीय कर्म, अंतराय कर्म, वेदनीय, ज्ञानावरणादि के विनाशकी ओर थी। वे सोचते थे, ये सर्प आदि कर्मों के उदयानुसार आकर जीव को व्यथा पहुंचाते हैं। अतः सकटो के मूलकारण का सहार करना चाहिए। सर्प के उपद्रव से अविचलित होना उनके उत्कृष्ट आत्म विकास तथा अंतःनिमग्नता के प्रमाण हैं। यह जिन धर्म का ही प्रभाव हैं, कि एक श्रीमंत कुलोत्पन्न सपन्न सुखी सत्पुरुष यमराज के प्रतिनिधि द्वारा शरीर पर चिपटते हुए भी आत्मध्यान में निमग्न रहे आते हैं, क्योंकि उनने महान आत्माओं द्वारा पालन किए जाने वाले महाव्रतों की प्रतिज्ञा ली है। सती सीता की महत्ता अग्नि परीक्षा से प्रकाश में आई थी इसी प्रकार महाराज की विमल तत्पश्चर्या का प्रभाव सर्व परीषह द्वारा व्यक्त हुआ। सर्पकृत उपसर्ग उन्होंने अनेक बार सहे है।

विपत्ति में दृढ वृत्ति

एक बार गजपन्था में पंचकल्याणक महोत्सव के समय मैंने महाराज से पूछा था "महाराज सर्प कृत उपद्रव होते हुए आपकी आत्मा में घबराहट क्यों नही होती थी, सर्पतो साक्षात् मृत्युराज ही हैं।"

महाराज बोले—"विपत्ति के समय कभी भी भय या घवडाहट नही हुई। सर्प शरीर पर आया लिपटकर चला गया इसमें महत्व की क्या बात है?"

मैंने कहा—"उस मृत्यु के प्रति निधि की बात, तो दूसरी, अन्न साधारण तुच्छ जीवकृत बाधा सहन करते समय सर्व साधारण में भयंकर अशान्ति उत्पन्न ही जाती हैं। आपको भय न लगा, यह आश्चर्य है।"

महाराज—"हमें कभी भी भय नहीं लगता। यहा तो भीति की कोई बात भी नही है। यदि सर्प का हमारा पूर्व का वैर होगा तो वह बाधा करेगा, अन्यथा नही। उस सर्प ने हमारा कुछ भी विगाड नही किया।"

मैंने कहा—"महाराज! उस समय आप क्या करते थे, जब सर्प आपके शरीर पर लिपट गया था।"

महाराज बोले "उस समय हम सिद्ध भगवान का ध्यान करते थे।" मैंने जिज्ञासु के रूप में पूज्य श्री से पूछा कि "जब आपके शरीर पर सर्प चढ़ा, तब उसके शरीर का स्पर्श होने से आपके शरीर को विशेष प्रकार का स्पर्श जन्य अनुभव होता या नहीं।"

कोनूर की गुफा जहा महाराज के शरीर पर विशाल सर्प लिपटा था।

कोनूर की ७७२ गुफाओ मे से एक अन्य गुफा का दृश्य।

महाराज ने कहा—"हम ध्यान में थे। हमें बाहरी बातों का भान नहीं था।"

विचारशील व्यक्ति सोच सकता है, कि सर्पकृत उपसर्ग महाराज के जीवन की अग्नि परीक्षा से कम नहीं है। धन्य है उनकी भेदविज्ञान की ज्योति जिससे वह अपनी आत्मा को सर्व बाधा मुक्त जानते हुए आत्मा से भिन्न शरीर को सर्प वेष्टित देखते हुए परम शांत रहे। यथार्थ में उनका नाम शांतिसागर अत्यन्त उपयुक्त है।

कोन्नूर में उड़ने वाले सर्प द्वारा उपद्रव में भी स्थिरता

एक दिन ता: २३-१०-५१ को हम महाराज के साथ रहने वाले निर्ग्रन्थ मुनि १०८ श्री नेमिसागर जी के पास बारामती में पहुंचे और महाराज शांतिसागर जी के विषय में कुछ प्रश्न पूछने लगे। उनसे ज्ञात हुआ, कि वे लगभग २८ वर्ष से पूज्यश्री के आश्रय में रहते हैं। कोन्नूर में सर्पकृत परीषह के विषय में हमने पूछा तब वे बोले "कोन्नूर में वैसे सात सौ से अधिक गुफा हैं, किन्तु दो गुफा मुख्य हैं। महाराज प्रत्येक अष्टमी चौदस को गुफा में जाकर ध्यान करते थे। उस दिन उनका मौन रहता था। एक दिन की बात है, वे गुफा में घुसे। उनके पीछे ही एक सर्प भी गुफा में चला गया। वह बड़ा चचल था। वह सर्प उड़ान मारने वाला था। अनेक लोगों ने यह घटना देखी थी। जब लोग महाराज के समीप पहुंचते थे तो वह सर्प उनकी जंघाओं के बीच में छुप जाता था। लोगों के दूर होते ही वह इधर उधर फिरकर उपद्रव करता था।"

मैंने पूछा,—"यह कब की बात थी?"

उनने कहा—"यह मध्याह्न की बात थी। वह सर्प ३ घंटे तक रहा पश्चात् चला गया। लोग यदि साहस कर उसे पकड़ते, तो इस बात का भय था, कि कहीं वह क्रुद्ध होकर महाराज को काट न दे, इससे सब किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते थे।"

नेमिसागर महाराज ने बताया था कि कोन्नूर में पूज्य श्री से उन्हें पचाणुव्रत मिले थे। उनने यह भी कहा था "चौमासे में मैं शास्त्र पढ़ता था। और महाराज कनड़ी भाषा में सब श्रावकों को समझाया करते थे।"

मैंने पूछा—"विपत्ति के समय आपने महाराज को स्थिरतामग्न होते

क्या कभी देखी है ?"।

उनने कहा—"विपत्ति के समय कभी भी महाराज में घबडाहट नहीं देखी।"

प्रसगवश उनसे मैंने पूछा—"आपने और कौनसा महाराज का प्रचंड योग देखा ?"

उनने कहा—"कोनूर के जगल में महाराज बाहिर बैठकर धूप में सामायिक कर रहे थे। इतने में एक बडा कोडा मकोडा उनके पास आया और उसने उनके पुरुष चिन्ह से चिपट कर वहां का रक्त चूसना शुरू कर दिया। रक्त बहता जाता था किन्तु महाराज दृढ घटे पर्यन्त अविचलित ध्यान करते रहे।"

मकोडे का उपसर्ग

नमिसागर जी ने बताया कि उस समय वे गृहस्थ थे, और चिंतित थे, कि इस समय क्या किया जाय ? यदि कीडे को पकडकर अलग करते थे, तो महाराज के ध्यान में विघ्न आयेगा। अतः वे किंकर्तव्यविमूढ हो रहे थ। नमिसागर जी ने यह भी कहा "और भी छोटे छोटे मकोडे उस समय आते थे, उनको तो हम अलग कर देते थे किन्तु बडे मकोडे की बाधा को हम दूर न कर सके। पुरुष चिन्ह से रक्त बहता था, किन्तु महाराज अपने अखड ध्यान में पूर्ण निमग्न थे।"

नेमिसागर महाराज ने सर्प सबधी एक घटना और बताई थी। उस समय शातिसागर महाराज शेडबाल में थे। वे पट्ट पर बैठे थे। पट्ट के नीचे पाँच फुट लम्बा सर्प बैठा था। वह सप उस स्थान पर रात भर रहा। दिन निकलने पर उस जगह झाडने वाले जैनी से महाराज ने कहा "भीतर सम्हलकर जाना।" जब वह भाई भीतर गया, तो उसकी दृष्टि सर्पराज पर पडी। उसने बाहर आकर दूसरे लोगों से सर्प की चर्चा बताई।

शडवाल में सर्प बाधा

महाराज कोगनोली में क्षुल्लक की अवस्था में आये थे, तब वहां सर्पकृत उपसर्ग हुआ था। वहा के प्राचीन मदिर में महाराज ध्यान के हेतु बैठे थे। ध्यान आरम्भ करने के पूर्व कुछ जिन नाम स्मरण पाठ कर रहे थे कि एक विशाल विष धर वहा घुसा। कुछ समय मदिर में यहा वहा घूमकर वह इनके शरीर से लिपट गया मानों वे उसके बडे प्रेमी मित्र ही हो। बात यह है जब महराज सामायिक पाठ पढते है तब कहते है 'मेरी सर्व जीवो में समता भाव है 'समता सर्व भूदेसु' मेरा किसी के भी साथ वैरभाव नहीं है 'वैर

मज्झं णकेणवि', मेरे सर्व जीवों के प्रति मैत्री भाव है / 'मित्तीमे सव्वभूदेसु'।"
मालूम होता है सर्पराज। इसीलिए इनके पास आया कि
कोगनोली में
सर्पकृत उपद्रव
इनके वचन सत्य हैं या नहीं देखें ये समता भाव रखते हैं या नहीं ये, मेरे प्रति मैत्री रखते हैं या नहीं ? सर्प ने वाणी के अनुरूप इनकी प्रवृत्ति पाई तो वह प्रेम के साथ शरीर में लिपट गया मानो इनके प्रति वह स्नेह व्यक्त कर रहा हो। महाराज 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धात को स्वीकार कर चुके थे। इससे ही वह सर्पराज आत्मीय भाव से कमर से चढकर गले में लिपटा हुआ था। इतने में मंदिर में अखड प्रकाश हेतु 'नदादीप'[1] अखण्डदीपक सुधारने को विद्या का उपाध्याय आया। महाराज के ऊपर सर्प लिपटा देखकर वह जान छोड कर भागा। बहुत लोग वहा आ गये। किन्तु क्या किया जाय यह समझ में नहीं आता था। यदि गडबडी की अथवा सर्प को दूर करने में बल प्रयोग किया तो वह काट देगा तब क्या भयकर स्थिति हो जायगी। अत सबके सब लोग घबडा रहे थे। बहुत समय के पश्चात् सर्प शरीर से उतरा और धीरे धीरे मानो प्रसन्नता पूर्वक बाहर चला गया कारण उसे सच्चे साधक महात्मा का परीक्षण करने का अवसर मिला था और परीक्षण में वे शुद्ध स्वर्ण निकले।

मुनि नेमिसागर महाराज ने इस वर्ष लोणद चातुर्मास के समय १७ उपवास किए थे। उनके तपोमय जीवन को बडे बडे साधक प्रणाम

---

१ लंका द्वीप के अनुराधपुर में राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू गए थे। वहाँ अशोक सम्राट के पुत्र महेन्द्र के समय से अब तक लगातार जलने वाला नदा दीप उनने देखा था। उसके बारे में राजेन्द्र बाबू ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—

'अधिक चमत्कार और आश्चर्य की बात हमको सुनाई गई कि वहा जो दीप जल रहा था, वह भी महेन्द्र का जलाया हुआ है। उस समय से आज तक यह दीप कभी बुझा नहीं है। बौद्धों ने उसे बाइस-तेइस सौ बरसो से बराबर जलाये रखा है। यदि यह सच है तो शायद दुनिया में ऐसी कोई दूसरी अग्नि शिखा न मिलेगी जो दो हजार बरसो से भी ज्यादा समय से बराबर जलती आ रही हो।"

आत्मकथा पृ०-२८०

नेमिसागर मुनिराज द्वारा प्राप्त सामग्री

करते हैं। मैंने उनसे आचार्य महाराज के विषय में पुनः पूछा तो उनने कहा—"महाराज जब क्षुल्लक थे, तब वे हमारे कुडची ग्राम में पधारे थे। उनका आहार हमारे घर में हुआ था। उस समय से मेरा अन्तःकरण उनकी ओर आकर्षित हुआ।" उनने कहा—"तुम लोग भगवान की पूजा, अर्चा, शास्त्र वाचन, दान आदि करते हो किन्तु यह सब गज के स्नान सदृश है कारण पश्चात संसार के प्रपंच में फसकर अपने को पुनः मलिन बनाते हो।

महाराज का कोन्नूर में चातुर्मास हुआ। वहां लगातार चार माह पर्यन्त मैं उनकी सेवा में जाता था। वहां मैं अपने मित्र मद्दोवा कुडचीकर के साथ महाराज को आहार दिया करता था। मेरी मुनि बनने की मनोकामना पहिले से ही थी। आचार्य महाराज के सत्संग से उस भावना को साकर समता प्राप्त हुई।

वहा के चातुर्मास पूर्ण होने के पूर्व ही कार्तिक सुदी चौदस को मैंने तथा गोकाक के पायसागर जी ने उनसे ऐलक दीक्षा ली थी। इसके दस माह बाद आश्विन सुदी ११ को मैंने समजोली में निर्ग्रंथ दीक्षा ली थी। वीरसागर जी भी मुनि बने थे। चंद्रसागर जी ने ऐलक दीक्षा ली। आचार्य महाराज सदृश विशुद्ध चरित्र निर्ग्रंथ साधु का दर्शन हमने नहीं किया। उनके समागम से मेरी आत्मा कृतार्थ हो गई। यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे गुरु चरणों के समीप रहने का सुअवसर मिलता रहा है।

पायसागर जी के विषय में भी प्रकाश डालना उचित प्रतीत होता है, कारण उनकी चर्चा द्वारा आचार्यश्री की महत्ता सहज ही समझ में आ जाती है।

मुनि पायसागर महाराज से स्तवनिधि क्षेत्र में आचार्य महाराज के विषय में चर्चा की, तब उनने कहा कि "मेरा जीवन उन सन्तराज के प्रसाद से अत्यन्त प्रभावित है। मेरी कथा इस प्रकार है—

पायसागरजी का अद्भुत जीवन

मैं एक नाटक कंपनी का प्रमुख अभिनेता रहा आया। पश्चात् आपसी अनबन होने के कारण मैंने कंपनी छोड़ दी और मैं कुछ दिन तक क्रांतिकारी सरीखा रहा। मैंने मिलमालिकों के विरोध में मजदूरों के सत्याग्रह की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। इसके पश्चात् मेरा मन सांसारिक विडंबना से उचटा। अपने कुलधर्म—जैनधर्म से मेरा रंचमात्र भी परिचय नहीं था। मैं

णमोकर मत्र को भी नही जानता था। इसलिए मैंने जटाविभूतिधारी रुद्राक्षमाला-अलकृत चिदम्बर बुवा का रूप धारण किया और इस साधुत्व का अभिनय करता हुआ बबई से काशी पहुचा। गंगाजी में गहरे गोते लगाए। 'काशी, विश्वनाथ, गगे' के सानिध्य में समय व्यतीत करता हुआ हर प्रकार के साधुओ के सम्पर्क में आया।

मै लौकिक कार्यों में दक्ष था, इसलिए साधु बनने पर भी मेरी विचारशक्ति मृत नही हुई थी। वह मूछित अवश्य थी। जब मैं जटा विभूतिमडित सन्यासी के रूप में फिरता-फिरता शोलापुर के समीप आया, तब मेरी दृष्टि में यह बात आई, कि पाखडी साधु के रूप में फिरकर आत्मवचना तथा पर-प्रतारणा के कार्य में लगे रहना महामूर्खता है। मैंने भिन्न २ सम्प्रदायो के शास्त्रों का परिशीलन किया था, उस शास्त्र ज्ञान ने मुझे साहस प्रदान किया कि मैं उस साधुत्व के ढकोसले को दूर फेक दू।

अब मैंने अपने जीवन का नया अभिनय शुरू किया। मैं सुन्दर वस्त्रादि सुसज्जित गुडे के रूप में यत्र-तत्र विचरण करने लगा। शायद ही कोई ऐसा दोष हो जो खोजने पर मुझमें न मिले। मै अत्यन्त विदग्ध व्यक्ति बन गया।

महाराज के प्रथम दर्शन का अपूर्व प्रभाव

सुयोग की बात है। उग्र तपस्वी दिगम्बर श्रमणराज आचार्य शातिसागर महाराज का कोन्नूर आना हुआ। उस समय मै सायकिल हाथ में लिए बना ठना उसके पास से निकला। सैकडों जैनी उन मुनिराज को प्रणाम करते थे। मैं वहा एक कोने में खडा हो गया। मेरी दृष्टि उन पर पडी। मैंने उन्हें प्रणाम नहीं किया नाममात्र को दोनो हाथ जोडसे लिए थे।

उस समय कुछ बन्धुओं ने महाराज से मेरे विषय में कहा—'महाराज ये जैन कुलोत्पन्न हैं। महान व्यसनी हैं। इसे धर्म-कर्म कुछ नही सुहाता है।'

बलवान आकर्षण शक्ति

मेरी निन्दा महाराज के कानों में पहुंची, किन्तु उनके मुखमडल पर पूर्ण शांति थी। नेत्रों में मेरे प्रति करुणा थी और बलवान आकर्षण शक्ति थी। महाराज ने लोगों को शांत किया। उनके मुह से ये शब्द निकले 'इसने आज हमारे दर्शन किये हैं, इसलिये इसे कुछ न कुछ लाभ अवश्य होगा।' मैं उनके मुखमण्डल को बड़े ध्यान से टकटकी लगाकर देख रहा था।

मुझे वे सचमुच में शांति के सागर दिखे।

मैंने भारत भर घूमकर बड़े बड़े नामधारी साधु देखे थे, मुझे ऐसा लगा कि आज सचमुच में मुझे इन साधु के रूप में अपूर्व निधि मिली। मैंने उन्हें आध्यात्मिक जादूगर के रूप में देखा। मेरे मन में आन्तरिक वैराग्य का बीज पहले ही से था, उनके सम्पर्क ने उसमें प्राण डाल दिये।

आध्यात्मिक अंध को नेत्र तुल्य

मैंने उनके जीवन का बडी सूक्ष्मता से अध्ययन किया। उठते-बैठते, बोलते-चालते उनकी सारी प्रवृत्तियों की बारीकी से जांच की। उस समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि आज मुझ आध्यात्मिक अंधे को सचमुच में नेत्रों की उपलब्धि हो गई है। मेरा मन उनके चरण कमलों की सुवास छोडकर अन्यत्र निवास करना नहीं चाहता था। मैंने उनसे मद्य, मांस, तथा मधु के सेवन के त्याग का नियम लिया। हिंसा, झूठ, चोरी परस्त्री सेवन, अतिलोभ का त्याग किया तथा जिनेन्द्र भगवान के दर्शन की प्रतिज्ञा की।

मेरी आत्मा पर उनका इतना प्रभाव पडा कि मुझ जैसे स्वच्छंद तथा उद्दंड व्यक्ति ने अजीवन ब्रह्मचर्य का नियम ले लिया। अब मैं सप्तम प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी बन गया। सभी लोग मेरा तीव्र विरोध करते थे और

एक माह में सप्तम प्रतिमा और दूसरे में ऐलक दीक्षा ली

महाराज से कहते थे 'यह बडा व्यसनी तथा उद्दण्ड रहा है। यह फौजदार तक को मार देता है। यह अवगुणों का भंडार है। इसमें एक ही विशेषता है, कि जिस बात को पकड लेता है उसे पूरा किये बिना नहीं छोडता।'

आचार्य महाराज महान मनोवैज्ञानिक हैं। उनने अपनी दिव्य दृष्टि से मेरी प्रसुप्त सामर्थ्य को देख लिया। इसलिए उन्होंने मुझे व्रत देने में लोगों के विरोध की ओर ध्यान न दिया। दूसरे महीने में मैंने ऐलक दीक्षा मांगी, और महाराज ने मुझे कृतार्थ कर दिया। उस समय मैंने केशलोंच जंगल में किये थे। मेरी स्थिरता देखकर महाराज को निश्चय हो गया कि यह व्रत का पूर्णतया पालन कर सकेगा। उस समय चन्द्रसागर जी ने मुझ पर आक्षेप किया और महाराज से कहा 'इसे प्रतिमाओं का स्वरूप भी नहीं मालूम है यह ऐलक पद का निर्वाह कैसे करेगा?'

उस समय मैंने कहा 'महाराज मैं शेडवाल की पाठशाला में जाकर

पढना चाहता हूं । उस समय सबको यह भय था कि यहा से जाकर यह फिर कभी अपनी सूरत नही दिखावेगा । उस समय मेरी जमानत बालगोडा ने ली । वहा से चलकर शरोल ग्राम में रहा और रत्नकरड श्रावकाचार पढना प्रारम्भ किया । मेरा अभ शास्त्रो का पूरा पूरा अभ्यास था ही । इससे तुलना करते हुए शास्त्र के काय को समझने में मुझे अधिक समय नही लगा । मैं रात्रि को अभ्यास करता था । दिन को व्याख्यान देता था मेरे उपदेश में बहुत लोग आने लग ।

कुछ समय के बाद रूकडी में पचकल्याणक महोत्सव में आचार्य महाराज पहुचे । मैं भी वहाँ गया ।

"मुझे देखकर महाराज ने पूछा—'क्या सब कुछ पढकर आ गये ?"

मैंने नम्रतापूर्वक कहा—"हा पढ आया ।" साथ के सब त्यागी लोग हस पडे । मेरा जीवन सबके लिए पहेली सरीखा था । जो मेरे पूर्व जीवन से परिचित था वह स्वप्न में भी नही सोचता था कि मुझ जैसे विषयाध का जीवन इस आध्यात्मिक शांति का केन्द्र बनेगा । उस समय महोत्सव में चन्द्रसागर जी का भाषण हुआ । इसके बाद मैंने उपदेश दिया जिससे सारी जनता मेरी ओर आकर्षित हुई ।

नररत्न की परीक्षा में प्रवीणता

उस समय आचार्य महाराज ने चन्द्रसागर जी के आक्षेप का उत्तर दिया, "तुम्ही बताओ ऐसे को दीक्षा देना योग्य था या नही ?" लोगो को ज्ञात हुआ कि महाराज मनुष्य परीक्षण में कितने प्रवीण हैं ।

गुरुप्रसाद से छह वर्ष बाद मैंने सोनगिरि में दिगम्बरमुनि की दीक्षा ली ।" उन्होंने कहा, 'आचार्य श्री महान योगी हैं । उनकी पावन दृष्टि से मुझ जैसे पतित आत्मा का जीवन पावन बन गया । उनकी अद्भुत शात परणति, मृदुल एवं प्रिय वाणी से मेरे जीवन में आध्यात्मिक क्रांति हुई । मैंने कभी भी महाराज में उग्रता या तीव्रकषाय का दर्शन नही किया । उनकी वाणी बडी मार्मिक होती है । जिज्ञासु की विविध प्रश्नमालिकाओं का समाधान उनके एक ही उत्तर से हो जाता है । जीवन की उलझनो को सुलझाने की अपूर्व कला उनमें है ।

लगभग बाईस वर्ष से मैं गुरुदेव के चरणो के प्रत्यक्ष सानिध्य में नही हूँ । यद्यपि मैं उनके पाद पद्मो की सर्वदा वदना करता हुआ अतर्दृष्टि

द्वारा दर्शन करता रहता हूं।[१] जब मैं उनके संग में था, उस समय उनका शास्त्र

जीवन की उलझनों को सुलझाने वाले कलाकार

वाचन इतना अधिक नही हुआ था, किन्तु अपने निर्मल अनुभव के आधार पर जो बात वे कहते थे उसकी समर्थ सामग्री शास्त्रों में मिल जाती थी। इस प्रकार उनका अनुभव सत्य के स्वरूप का प्रतिपादन करता है।

चिरतन वैराग्य तथा साम्य भाव

उनकी मुद्रा पर वैराग्य का भाव सर्वदा अकित पाया जाता है। वे साम्यभाव के भडार हैं। उनमें भक्त पर तोष और शत्रु पर रोष नहीं हैं।

आचार्य बनने पर शिष्यो को सत्पथ पर चलने के लिए उन्हें आदेश देने की आवश्यकता नही पडती थी। उनका उज्वल जीवन ही सबको प्रकाश प्रदान करता था। अपने शिष्यो के प्रति शासन कार्य में कभी भी पक्षपात अन्याय अथवा अनीति का लवलेश भी मैंने नही देखा। सघ का सदा अनुग्रह करने के साथ वे आत्मध्यान, शास्त्र अध्ययन आदि आवश्यक कार्यों में सतत सजग रहते थे। आठ-आठ, दस-दस उपवास करते हुए भी हमने उन्हे सदा स्थिर और धर्मध्यान तत्पर देखा है। आहारदान में चतुर व्यक्ति द्वारा दक्षता देखकर वे प्रसन्न नहीं होते थे और न अज्ञ व्यक्ति द्वारा लम्बे-लम्बे उपवासो के होते हुए भी प्रकृति के प्रतिकूल पदार्थों को प्रदान किये जाने के कारण क्षुब्ध ही होते थे। प्रत्येक स्थिति में वे अपनी वीतरागता का सतुलन बनाए रखते थे।

जब आचार्य महाराज का सघ उत्तर की ओर निकला था तब अनेक राजा महाराजा तथा उच्च राज्याधिकारी उनके चरणो को भक्ति श्रद्धा और प्रेम पूर्वक प्रणाम करते थे। उस समय उनकी प्रतिभापूर्ण मृदुल भाषा को सुनते ही प्रत्येक व्यक्ति उनके चरणों का अनन्य अनुरागी बन जाता था। जब लगभग सन १९३० में आचार्य महाराज धौलपुर राज्य के राजाखेडा ग्राम में पधारे तब धर्म विद्वेषी छिद्दी ब्राम्हण ने तलवार ले उनके प्राण लेने का प्रयत्न किया था। किन्तु उनके तपोबल से विपत्ति की घटा शीघ्र ही दूर हो गई। उस समय महराज में उतनी ही स्थिरता थी जितनी कि अपनी भक्त मडली के द्वारा घिरे रहने पर होती है। भय, चिन्ता, घबडाहट का उनमें लवलेश भी न था। उस समय उच्च पुलिस

---

१. सितम्बर माह १९५२ में पायसागर महाराज ने दहीगांव में गुरुदेव के २२ वर्ष बाद दर्शन कर नेत्र तृप्त किए

अधिकारी ने उस ब्राह्मण को पकड कर महाराज की सेवा में उपस्थित किया और पूछा कि 'महाराज इस हत्यारे को क्या दण्ड दिया जाय ?'

महाराज ने कहा—'इसे छोड देना चाहिए यही हमारा कहना है। जब तक तुम इसे न छोडोगे तब तक हमारे अन्न जल का त्याग है।' उस समय सबने देखा कि महामना मुनिराज वस्तुतः शांति के सागर हैं जो अपने प्रेम के द्वारा प्राणघातक आततायी पर अपनी अनुकम्पा की अमृत वर्षा करते हैं।"

पायसागर महाराज ने कहा था, "जब हजारो व्यक्ति भव्य स्वागत द्वारा गुरुदेव के प्रति जय घोष पूर्वक अपनी अपार भक्ति प्रकट करते थे तब, और जब कभी कठिन परिस्थिति आती थी तब, वे एक ही बात कहते थे 'यह जय जयकार क्षणिक है, विपत्ति भी क्षणस्थायी है। दोनों विनाशीक है। अतः सभी त्यागियो को ऐसे अवसर पर अपने परिणामो में हर्ष विषाद नहीं करना चाहिये।'

सजग वैराग्य

मैंने देखा है कि जिन बिम्ब, जिनागम तथा धर्मायतनो की हानि होने पर उनके धर्ममय अतःकरण को आघात पहुचता था, किन्तु वे वैराग्य भावना के द्वारा अपनी शांति को सदा अक्षुण्ण रखते थे।"

अपने कथन का उपसंहार करते हुए विद्वान् तपस्वी मुनि श्री पायसागरजी ने कहा—"मुझ जैसे व्यसनी, उच्छखल आचरण वाले, भ्रष्ट-प्रवृत्ति तथा हीन विचारवाली गुन्डावृत्ति से परिपूर्ण, पतित आत्मा का यदि आचार्य शातिसागर महाराज ने उद्धार न किया होता तो न जाने मेरी क्या दुर्गति होती ? इन महापुरुष ने मुझे ससार सिंधु में डूबते हुए देख हस्तावलबन देकर मेरी रक्षा की है तथा मुझे महाव्रत की अपूर्व विधि दी है, उनके उपकार को मैं भव भवान्तर में भी नही भूल सकता हू। उनकी पावन स्मृति मुझे निरन्तर प्रकाश प्रदान करती है।

ससार सिंधु में डूबते हुए मुझे बचाया

हमें गुरुदेव का बहुधा स्वप्न में दर्शन होता है, तथा उनके मार्ग आने वाले विघ्नों का स्वप्न में बोध होता है, जो कि कालान्तर में सत्य होते है।"

वे चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शिरोमणि श्री शातिसागर महाराज मेरी जीवन नौका के लिए प्रकाश-स्तंभ रूप हैं।

भोजग्राम से वापिस लौटने पर स्तवनिधि क्षेत्र में पुन १०८ पूज्य पायसागर महाराज का दर्शन हुआ। उस समय उनने कहा, 'आपको एक महत्व की बात और बताना है।"

मैंने कहा—"महाराज अनुगृहीत कीजिए।"

मूक व्यक्ति को वाणी मिली

उनने कहा—"कोल्हापुर में नीमसिर ग्राम में एक पैंतीस वर्ष का युवक रहता था। उसे अप्पण्णा दाढ़ीवाले के नाम से लोग जानते थे। वह शास्त्र चर्चा में प्रवीण था। अकस्मात् वह गूंगा बन गया। वर्ष भर पर्यन्त गूंगेपन के कारण वह बहुत दुखी रहा। लोगो के समक्ष जाने में उसे लज्जा का अनुभव होता था। वह आचार्य शातिसागर महाराज से परिचय वाला था। उसे लोग जबरदस्ती आचार्य श्री के समीप ले गये।

आचार्य महाराज ने कहा—"बोलो, बोलो तुम बोलते क्यो नही हो?" फिर उन्होने कहा 'णमो अरिहन्ताण पढो।" बस उसका गूंगापन चला गया और वह पूर्ववत् बोलने लगा।

चार दिन के बाद वह अपने घर लौट आया। वहा पहुचते ही वह फिर से गूंगा बन गया। मै उसके पास पहुचा। सारी कथा सुनकर मैंने कहा "वहा एक वर्ष क्यो नही रहा। जब तुम्हें आराम पहुचा था तो इतने जल्दी भाग आने की भूल क्यो की?" वह पुन आचार्यश्री के चरणो में पहुचा। उन तपोमूर्ति साधुराज के प्रभाव से वह पुन बोलने लगा। वहा वह १५ या २० दिन और रहा। इसके बाद वह पुन गूंगा न हुआ।

जब पायसागर महाराज ने यह बात सुनाई तब मुझे ऐसा लगा कि नीमसिर गाव के भौतिक गूंगे को आचार्य श्री ने वाणी दी थी किन्तु इन पायसागर जी से रूप में आध्यात्मिक गूंगे को उनने मगलमय वाणी की शक्ति प्रदान की, जो आत्मा के विषय में मूकत्व धारण करने वाले जगत् को अध्यात्म की रसवती बोली बोलना सिखाते है।

उद्दड व्यवहार में भी पूर्ण शान्ति

पायसागर महाराज ने आचार्य श्री की अपूर्व शाति पर प्रकाश डालते हुए एक घटना सुनाई थी—"एक कठोर वाणी वाला लघु श्रेणी का शिष्य गुरुदेव के समीप पहुचा और उसने अहकारवश उनके पवित्र ज्ञान को चुनौती देते हुए कहा 'आपने अभी शास्त्रो का बराबर परिशीलन नही किया।' पूज्य गुरुराज के प्रति प्रयुक्त अभद्र वाणी मुझे अयोग्य लगी। मैंने उनसे भद्र शैली में भाषा

व्यवहार करने की प्रेरणा की। मेरे से आचार्य महाराज ने कहा—"पायसागर इसकी प्रकृति पिण्ड इसी प्रकार का है। इसमें बुराई की कोई बात नहीं है। स्वभाव की कोई दवाई नहीं है, इसलिए ऐसो पर रोष नहीं करना चाहिए।"

महाराज के दीक्षा गुरु श्री १०८ देवेन्द्रकीर्ति स्वामी आचार्य के विषय में पायसागर जी ने एक महत्व की बात सुनाई थी, जिससे इनके गुरु देव की अद्भुत तपश्चर्या पर प्रकाश पड़ता है—

महाराज के गुरु देव की अपार तपस्या

"एक दिन की बात है देवेन्द्र कीर्ति स्वामी[1] गोंभाक नगर से कोनूर आ रहे थे। रास्ते में सूर्य अस्त हो गया। दिगम्बर मुनि रात्रि में विचरण नहीं करते इसलिए मार्ग में ही रह गये। उनके साथ एगप्प पंडित भी थे। उन्होंने अपने आसपास चारो ओर एक रेखा खींच ली और वे तथा साथ का पंडित उस वृत्त के भीतर हो गये।

सायंकालीन सामायिक होने के उपरान्त एक भीषण व्याघ्र वहाँ आया। रेखांकित क्षेत्र के बाहर उसने भीषण गर्जना तर्जना की। अपना विकराल रौद्ररूप दिखाया, किन्तु उन निर्भीक ऋषिराज पर उसका कुछ असर न हुआ। कुछ समय के बाद वह व्याघ्र वहाँ से चला गया।" इस घटना का समर्थन उक्त पंडित के नाती श्रीकान्त ने भी किया। उसने कहा कि मेरी माता यही बात बताती थी।

इनकी स्थिरता और साहस, निर्भीकता और आत्म निमग्नता आदि श्रेष्ठ गुणों को देखकर इनके समीप में आने वाले को ऐसा लगता है, कि यथार्थ में इनके पास चतुर्थकाल ही है। इनकी श्रद्धा तथा प्रवृत्ति चतुर्थकालीन मुनियों सदृश है। इतना ही सादृश्य नहीं है, बल्कि जहाँ ये पधारते हैं, वहाँ अनवरत धर्म का निर्झर बहते देखकर कौन कहेगा, कि वहाँ पापबहुल पंचमकाल है।

इनके जीवन की अल्पसामग्री प्राप्त होने पर तो आज के लोगों के रोमांच हो आते हैं। यदि आज के आत्मकथा लिखनेवाले लेखकों

---

१ देवेन्द्रकीर्ति जी १०५ वर्ष तक जीवित रहे थे। ये धारणा पारणा करते थे। उनके अन्त तक दांत नहीं टूटे थे। उनने १६ वर्ष की अवस्था में मुनिपद धारण किया था। ये बाल ब्रम्हचारी थे।

कीजिए।" प्रार्थना काम कर गई। हृदय की प्रार्थना थी। महाराज सहृदयता की मूर्ति हैं। उनने करुणा कर अपने हृदय का द्वार खोल दिया और कहने लगे—

सर्पराज का मुख के समक्ष फण करके खडा रहना

"एक दिन हम जगल की गुफा में ध्यान कर रहे थे। इतने में एक सात आठ हाथ लम्बा खूब मोटा लठ्ठ सरीखा सर्प आया। उसके शरीर पर बाल थे। वह आया और हमारे मुह के साम्हने फण फैलाकर खडा हो गया। उसके नेत्र ताम्र लाल रग के थे। वह हमारे पर दृष्टि डालता था और अपनी जीभ निकालकर लपलप करता था। उसके मुख से अग्नि के कण निकलते थे। वह बडी देर तक हमारे सिर और नेत्रो के साम्हने खडा होकर हमारी ओर देखता था हम भी उसको देखते थे।"

मैने पूछा—"महाराज ऐसी स्थित में भी आपको घबडाहट नही हुई।" महाराज ने कहा, 'हमें भय कभी होता ही नही। हम उसको देखते रहे वह हमें देखता रहा। एक दूसरे को देख रहे थे।" सर्पराज शाति के सागर को देखता था। और शाति के सागर उस यमराज को भी अपनी अहिंसा पूर्ण दृष्टि से देखते थे। यह अमृत और विष की भेंट थी।

मैंने पूछा—"महाराज! उस समय आप क्या सोचते थे?"

महाराज ने कहा—'हम यही सोचते थे यदि हमने इस जीव का कुछ बिगाड पूर्व में किया होगा तो यह हमें बाधा पहुचावेगा, नही तो यह स्वय चुपचाप चला जायगा।"

महाराज का विचार यथार्थ निकला। कुछ काल के बाद सर्पराज महाराज को साम्य और धैर्य की मूर्ति और शाति का सिंधु देखकर अपना फणा नीचा करके, मानो महामुनि के चरणो को प्रणाम करता हुआ, धीरेधीरे गुफा के बाहर जाकर न जाने कहा चला गया।

समुद्र के भीतर रत्नो की ऐसी राशि पडी रहती है, जिसकी दीप्ति के समान समस्त विश्व, में भी कोई रत्न न हो किन्तु उन रत्नो का लाभ समुद्र के तल का स्पर्श कर डुबकी लेने वालो को क्वचित कदाचित हो जाता है। ऐसी ही स्थिति शातिसागर महाराज की प्रतीत होती है।

मैंने कहा—' महाराज ऐसा भीषण उपसर्ग और भी तो आया होगा?"

मेरे प्रश्न के उत्तर में सौभाग्य की बात है कि रत्नाकर ने प्रसन्नता से एक रत्न और बाहर ला दिया। महाराज बोले—"एक बार हम जंगल के

मंदिर के भीतर एकान्त स्थान में ध्यान करने बैठे। वहां पुजारी दीपक जलाने आया; दीपक में तेल डालते समय कुछ तेल भूमि पर बह गया। वर्षा की ऋतु थी। दीपक जलाने के बाद पुजारी अपने स्थान पर वापिस चला गया।"

असंख्य चींटियों द्वारा उपसर्ग

महाराज ने कहा, "उस समय हम निद्राविजयतप का पालन करते थे। इससे उस रात्रि को जागृत रहकर धर्म ध्यान में काल व्यतीत करने का नियम कर लिया था। पुजारी के जाने के कुछ काल पश्चात् चींटियों ने आना आरंभ कर दिया। धीरे धीरे असंख्य चींटियों का समुदाय इकट्ठा हो गया और वे हमारे शरीर पर आकर फिरने लगीं। कुछ काल के अनंतर उनने हमारे शरीर के अधोभाग नितंब आदि को काटना प्रारंभ कर दिया। उनने जब शरीर को खाना प्रारंभ किया तो अधोभाग से खून बहने लगा। उस समय हम सिद्ध भगवान का ध्यान करते थे। रात्री भर यही अवस्था रही। चींटियां नोंचकर खाती जाती थीं।"

कभी एकाध चींटी शरीर में चिपक जाती है तब उसके काटने से जो पीड़ा होती है उससे सारी देह व्यथित हो जाती है। जब शरीर में असंख्य चींटियां चिपकी हो और देह के अत्यंत कोमल अंग गुह्यभाग को सारीरात लगातार खाती रहें और नर देहस्थित आत्माराम बिना प्रतीकार किये एक दो मिनिट नहीं, घंटा दो घंटा नहीं, लगातार सारी रात इस दृश्य को ऐसा अलिप्त हो देखता रहे मानो सांख्य दर्शन का पुस्कर पलाशवत् निर्लिप्तपुरुष प्रकृति की लीला देख रहा हो। यदि कोई उस भीषण स्थिति का मानोवैज्ञानिक दृष्टि से गहरे रूप में विचार करे तो ज्ञात होगा, कि इस नरक तुल्य व्यथा को स्वाधीन वृति वाले योगीराज शान्तिसागर जी निर्ग्रन्थ एकान्त स्थल में सहन करते रहे, तो उनकी आत्मा कितनी परिष्कृत, सुसंस्कृत, वैराग्य तथा भेद विज्ञान के भाव से परिपूर्ण नहीं होगी। सर्पराज शरीर में लिपटा था वह मृत्युराज का बंधु था, यही भय था, किन्तु उसने कोई पीड़ा नहीं दी थी, किन्तु इन छोटी चींटियों ने पीड़ा देने में सर्पराज को मात कर दिया। इस विषय को शान्त अन्तःकरण से अनुमान भर किया जा सकता है, किन्तु असह्य और अवर्णनीय वेदना महाराज ने क्षमताभाव पूर्वक सहन की।

जब यह उपसर्ग हो रहा था, तब रात्रि के उत्तरार्ध में उस पुजारी को स्वप्न आया कि महाराज को बड़ा भारी कष्ट हो रहा है। वह एक दम घबड़ाकर उठा किन्तु उस भयंकर स्वप्न में रात्रि को जाने की उसकी

हिम्मत नहीं होती थी, कारण वहाँ शेर का विशेष भय था। उसने अपने साथी दूसरे जैन बधु से स्वप्न की बात सुनाकर वहा चलने को कहा, किन्तु प्रमादवश उसने उस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया। रात्रि भर निर्ग्रन्थ के देह पर निर्मम हो छोटी सी चीटियों ने जो महान उपद्रव किया था, उसको प्रकाश में लानि के हेतु ही मानो प्रकृति ने सूर्य का प्रकाश पहुचाया। लोग वहा जाकर देखते हैं तो उनके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी, कारण महाराज के शरीर के गुह्य भाग से रक्त की धारा निकल रही थी, और शरीर सूजा हुआ था तथा फिर भी चीटियाँ शरीर को खाने के पराक्रम में व्यस्त थी। फिर लोगो ने दूसरी जगह शक्कर डालकर धीरे-धीरे उनको अलग किया, और पश्चात् योग्य वैयावृत्य की। इस उपसर्ग का जिसने प्रत्यक्ष हाल देखा, उसको आखा से अश्रु आए बिना न रहे। सर्वत्र इस उपसर्ग की चर्चा पहुची। लोगो ने गुरुदेव को प्रणाम किया और उनके मुख से यही शब्द गूज रहे थे 'धन्य हैं योगिराज! आप सदृश जितेन्द्रिय तपस्वी ससार में हमने नही देखा। आपको हम सबका अनत प्रणाम हो। भव भव में आप समान गुरु का दर्शन तथा सेवा का सौभाग्य प्राप्त हो।' किन्तु महाराज की स्तिथि विचित्र थी। पृथक्त्व भावना के प्रकाश में ऐसा लगता था मानों जिस शरीर को पीडा हुई थी, वह शांतिसागर जी महाराज का शरीर न था। वे तो ज्ञान शरीरी हैं। यथार्थ में आज के परिग्रह के पीछे उन्मत्त विज्ञान की प्राणहीन वस्तुओं की पूजा करने वाला जगत इन आध्यात्मिक निधियों को क्या समझे? जड का भक्त तथा सेवक आत्मा क्या समझे? और समझे भी कैसे? जमाध दुग्ध की धवलता को क्या जाने? ऐसा अनादि से मोह के द्वारा विवेक नेत्रों को नष्ट कर देने से दर्शन मोहनीय का दास जीव सुसस्कृत आत्मा के वैभव और महत्ता को क्या समझ? वह तो कूप मूडक के समान शाति के सिंधु की गम्भीरता और विशालता की बात ही नही मानेगा।

इस रत्नाकर के पास से उस दिन दो रत्न मिले, और सामायिक का समय आ गया। महाराज जो आत्मचिंतन में निमग्न हो गये। हमें बार-बार महाराज के श्रीमुख से सुनी हुई यह त का स्मरण आता था। चित्त यही सोचता था। आज के युग में इतनी दलशाली आत्मा का पाया जाना यथार्थ में आश्चर्य की बात है। मैं अपने को भी धन्य सोचता था जो गुरुदेव की दया के कारण उनके दर्शन के साथ ऐसी महत्व की बात जान सका।

मुनिपद धारण करने के पूर्व ही भयंकर कष्टों के द्वारा महाराज की परीक्षा प्रारम्भ हो गई थी और निर्ग्रन्थ बनने के बाद उसका विचित्र वेग यदाकदा दृष्टिगोचर हो जाता था। पहले महाराज ने बहुत समय तक दूध और चावल का ही आहार रख शेष पदार्थों को त्याग कर दिया था। इद्रियों का दमन करना आवश्यक था। शरीर अत्यन्त बलवान था। बाल्यकाल से निर्दोष ब्रह्मचर्य का पालन करने के कारण इनका शारीरिक बल तो और भी वर्धमान हो रहा था। महाव्रती बनने के बाद इन्हे आत्मा के बल की आवश्यकता थी। शरीर को बलवान बना आत्मा को दुर्बल करने की बात इन्हे जहरसी लगती थी। हा! आत्मा को बलवान बनाने में यदि कायाक्षीण हो जाती है तो कोई चिन्ता की बात नही है। इससे ये बहुत उपवास किया करते थे, जिससे इद्रियरूप हाथी मस्त न हो और वह इनके ज्ञानाकुश के आधीन रहा आवे।

एक दिन श्रीपूज्य १०८ नेमिसागर जी महाराज से मैंने पूछा, "महाराज कृपाकर गुरुदेव की कुछ विशष बातें बताइये जो आपने देखी और जो आपके अनुभव में आई। आप सदृश महाव्रती मुनिराज की वाणी अमृतमन-तिरिवत होगी।"

उनने कहा—"शास्त्र में जैसा चारित्र आचार्य के लिए कहा गया है, वैसा ही चारित्र मैंने महाराज का पाया है। वे हमेशा धारणा पारणा करते है, बीच में दो, तीन, चार उपवास आदि करना उनकी साधारण वृति रही है।"

उनने यह भी कहा—"भगवान वृषभनाथ स्वामी ने जो धर्म के विषय में बातें कहीं है उन पर उनका अटल विश्वास, महान श्रद्धा तथा प्रगाढभक्ति है। उनकी जिन भक्ति के प्रभाव से बडे बडे विघ्न दूर होते रहे है। श्रेष्ठ तपस्वी होते हुए भी मैंने उनमें कभी भी अहकार या ममत्व का दर्शन नही किया।"

विलक्षण स्मृति तथा महान क्षयोपशम

नेमिसागर महाराज ने यह भी कहा—"पूज्य महाराज जी की स्मृति बडी अद्भुत है। योग्य अवसर में उनकी स्मृति तथा क्षयोपशम ऐसा समाधान उपस्थित करता है, कि प्रश्न की गुजायश ही नही रहती है। महाराज के पास जाने वाले सारे भारत के व्यक्ति इस बात से सुपरिचित है कि जो बात या वस्तु उनके समक्ष एक बार आ गई, उसको वे कभी नही भूलते है। उनके भारत भ्रमण में हजारो आदमी परिचय में आये, किन्तु जब भी कोई व्यक्ति किसी

स्थान का आता तो उसकी सारी बातें इनके स्मृति पथ में आ जाती थी। महाराज के मुख से हमने भी कई वार सुना "कि हम जिस चीज को एक बार देख लेते हैं या शास्त्र की ,जिस बात को एक बार सुन लेते हैं, उसे कभी नही भूलते है।" इस प्रकार चरित्र के धन के साथ क्षयोपशम की भी असाधारण सम्पत्ति उनके पास है। बड़े बड़े ग्रंथों का आद्योपान्त स्वाध्याय अनेकबार हो चुका है। प्रायः ऐसा कोई महत्व का प्रकाशित जैन ग्रंथ नही बचा होगा, जो इनके स्वाध्याय का विषय न हुआ हो।

महाराज में अनेक अवधान भी पाए जाते हैं। अभी १९५१ की दीपावली के समय हम पूज्य श्री के पास गए थे। उस समय नेमिसागर महाराज तत्वार्थश्लोकवार्तिक जैसे महान ग्रंथराज को पढकर सुना रहे थे। उस बीच में महाराज से मैंने दूसरे किसी विषय की अपनी शंका का समाधान पूछा। मेरा उत्तर देने के साथ ही वे उस ग्रंथ के वर्णन को ध्यान देकर सुनने लगे। मैंने कहा—"महाराज ! अभी मेरे साथ चर्चा करने से आपको ग्रंथ के सम्बन्ध का पता कैसे चलेगा?" उनने कहा, "हमारा उपयोग उस ग्रंथ के सुनने की ओर भी रहा आया है।" अनेक बातों की अवधारण शक्ति ऐसी ही होती है।

इस प्रसंग पर हमें एक पुरानी सन १९४२ की बात याद आती है। श्री बालासाव खेर भूतपूर्व मुख्य मंत्री बम्बई से वर्धा स्टेशन पर हमारी चर्चा चली। मैंने उनसे आग्रह किया कि वे यदि प्रयत्न करें, तो महावीर जयन्ती की सार्वजनिक छुट्टी बबई प्रांत में होने में देर न लगेगी। उस विषय में वे अपनी कठिनताओं को बता रहे थे। इतने में एक दूसरे आगन्तुक व्यक्ति से उनने बात प्रारम्भ कर दी। मुझे प्रतीत हुआ कि मेरी बातें इनको पसन्द नही आई, इससे इनने दूसरी बातों में लगकर मेरी उपेक्षा की, अतः मैं भी उनका अनुकरण करता हुआ वहाँ से चल दिया। क्षण भर बाद उनने मुझे वहा न देखा तब एक आदमी को भेजकर मुझे बुलवाया और कहा "शास्त्री जी! आप तो चले गए। मैं तो आपकी बातें बडी दिलचस्पी से सुन रहा था।" मैंने कहा, "मुझे ऐसा लगा, कि आपको मेरी बातें पसन्द नही आई इससे आप दूसरे भाई से अन्य बातों में लग गए।"

इस पर श्री खेर बोले, "आपकी समाज के श्रीमद् रायचन्द्र भाई शतावधानी थे तो हम लोगो के भी कुछ अवधान रह सकते हैं।" तब मुझे उनका दृष्टिकोण ज्ञात हुआ।

ऐसी बात मैंने महाराज शांतिसागर जी के विषय में भी चरितार्थ पाई। ज्ञान का अहंकार लिए कई शास्त्री विद्वान अपने अपने स्थान में बैठे सोचते हैं कि इन महाराज ने कोई विश्वविद्यालय की डिग्री नहीं पाई है। न ये न्यायाचार्य हैं न न्यायतीर्थ या व्याकरणाचार्य ही हैं। सिद्धांतों के अभिज्ञ शास्त्री भी नहीं हैं। लोक विद्या के विद्वान यह समझते हैं कि हमारे शास्त्र का तो ये लेश भी न जानते होंगे। किन्तु जैसे मानस्तंभ के दर्शन से अहंकार दूर होकर भक्ति जागृत होती है, ऐसे ही इनके सम्पर्क में आकर चर्चा करते समय यह पता चलता है कि बड़े बड़े आचार्योपाधिधारियों, शास्त्रियों, ग्रेजुएटों आदि से पूज्य श्री के प्रश्नों का उत्तर देते नहीं बनता है और उन कठिनगुत्थियों को ये बड़ी सरलता से सुलझा देते हैं।

महान अनुभवी ज्ञाता

एक दिन मैंने देखा, महाराज अर्थशास्त्र के सिद्धांत (Law of Diminishing Utility) हीयमान उपयोगिता के सिद्धांत का वर्णन अपने अनुभव के आधार पर कर रहे थे। तब मुझे ज्ञात हुआ कि तपश्चर्या के द्वारा इनके क्षयोपशम में असाधारण विकास हुआ है।

सन १९५१ भाद्र पद के पश्चात पं० जगमोहनलालजी शास्त्री कटनी, प० मक्खनलाल जी न्यायालंकार मोरेना, पं० उल्फतरायजी बंबई तथा और भी बहुत से विद्वान महाराज के पास बारामती में पधारे थे और चर्चा के समय महाराज की प्रतिभा का वैभव देखकर चकित होते थे। इतना असाधारण क्षयोपशम सतत श्रुत सेवा तथा तपश्चर्या का सुपरिणाम है।

सुलझी हुई विद्वत्ता

अहंकार के पहाड़ पर बैठे हुए अपने को श्रेष्ठ विद्वान मानने वाले भाई यदि इनके पास आवें तो तो उनको पता लगेगा कि इनका जिनागम का ज्ञान कितना सुलझा हुआ है और उनको उलझा हुआ समझने वाले कितनी गहरी भ्रान्ति में फँसे हुए हैं।

एक दिन महाराज कहते थे, "हम प्रतिदिन कम से कम ४० या ५० पृष्ठों का स्वाध्याय करते हैं।" धवलादि सिद्धान्त ग्रंथों का बहुत सुन्दर अभ्यास महाराज ने किया है। अपनी असाधारण स्मृति तथा तर्कणा के बल पर वे अनेक शंकाओं को उत्पन्न करके उनका सुन्दर समाधान करते हैं। हमने महाबन्ध के दूसरे भाग की हिन्दी में टीका तीन वर्ष हुए तैयार कर ली थी, हमने सोचा पूज्य गुरुदेव को कुछ महत्व के अंश सुनाना उचित होगा और इससे उनका मंगलमय आशीर्वाद भी प्राप्त हो जायगा तथा

कई महत्व की बातें भी सुनने में आ जावेंगी। जैसे कि प्रथम भाग के लिए प्राप्ति हुई थी।

'महाबंध' प्रथम भाग की टीका को कवलाना में पढकर महाराज ने कहा था

पहले समय सार नही चाहिए

सचमुच में यह ग्रंथ महाधवल है। बन्ध का स्पष्टता पूर्वक प्रतिपादन करने वाला शास्त्र यथार्थ में महान है। बन्ध का ज्ञान होने पर ही मोक्ष का बराबर ज्ञान होता है। पहले समयसार नही चाहिए। पहले महाबन्ध चाहिए। पहले सोचो. हम क्यों दुःख में पड़े है, क्यों नीचे है? तीन सौ त्रैसठ पाखंड मत वाले भी

पहले बंध को बात ज्ञातव्य है

सुख चाहते हैं किन्तु मिलता नहीं। हमें कर्म क्षय का मार्ग ढूंढना है। भगवान ने मोक्ष जाने की सड़क बनाई है। चलोगे तो मोक्ष मिलेगा, इसमें शंका क्या?"

अपने भाव को स्पष्ट करने के लिए महाराज ने एक कथा सुनाई थी। 'एक राजपुरोहित की मृत्यु हो गई। उसने अपने पुत्र को अर्थकरी विद्या कुछ भी न बताई, केवल इतना शिक्षण दिया था, कि अमुक कार्य करने से अमुक कर्म का बंध होता है। ब्राम्हण पुत्र बंध शास्त्रों में ही पारंगत था और कोई बातों को नही जानता था।

उदाहरण

पितृविहीन विप्रपुत्र की बड़ी दुर्दशा हो गई। घर का धन सब खा लिया। आगे जीविका का कोई प्रशस्त पथ नही दिखा इससे उसने चोरी का आश्रय ग्रहण किया। राजा के खजाने में ही चोरी करने को घुसा। वहा जब उसने रत्न का हार चुराने को उठाया तब उसे स्मरण आ गया कि रत्नों की चोरी से इस प्रकार का बंध होता है। इससे उसने उसे छोड दिया। इसी प्रकार सुवर्ण चांदी आदि निर्मित वस्तुओ को लेते समय दोषो के भयवश उसने उनका त्याग कर दिया। जो वस्तु उठाता वही दोषप्रद दिखती। अतः वह परेशान था। इतने में निराश लौटते हुए उसे एक जगह भुसा की विपुल राशि दिखी। उसके चुराने से कोई दोष होता है, यह पिता ने नही सिखाया था अतः भोला विप्रपुत्र भुसे का गट्ठा बांध कर साथ ले चला। पहरेदारों ने उसे पकड़ा। पुरोहित पुत्र की बात होने से राजा ने उसे स्वयं बुलाकर पूछा—"तुमने भुसा की चोरी क्यों पसन्द की?" उसने उत्तर दिया—"राजन्, मेरे पूज्य पिताजी ने मुझे जीवन में केवल बंध का शास्त्र पढ़ाया था उससे मै इतना ही जान सका, कि किस वस्तु के चुराने से क्या फल होता है। आपके राजकोष की बहुमूल्य

वस्तुओं के लेने की हिम्मत न हुई क्योंकि उनके ग्रहण करने में बड़ा दोष होता है। एक भुसा का लेना ही दोष रहित ज्ञात हुआ। इससे उसे ले लिया।" राजा ने पुरोहित पुत्र को असाधारण पाप-भीरु देख, उसे ऐसे पद पर नियुक्त कर दिया, जिससे उसको कष्ट नही रहा।' कथा का निष्कर्ष बताते हुए पूज्य ने कहा—"बन्ध का ज्ञान होते ही जीव पाप से बचता है। इससे कर्म की निर्जरा होती है। बन्ध का वर्णन पढने से मोक्ष का ज्ञान भी होता है। अतः पहले बध का ज्ञान होना आवश्यक है।"

आचार्य श्री ने महाबंध के दूसरे भाग की हमारी भाषाटीका के कुछ अश को सुनकर तत्काल कुछ मार्मिक शकाए की, जिनका हमें तत्काल उत्तर देते नही बना। कुछ समय बाद पूर्वापर विचार कर हमने जो समाधान किया, उससे उनका सतोष हुआ। तब महाराज बोले यह खुलासा तुम्हें टीका में कर देना चाहिए, जिससे संदेह न रहे। मैंने उनकी आज्ञा को शिरोधार्य किया और उसके अनुसार विषय का स्पष्टीकरण कर दिया।

इस प्रकार उनके संपर्क में आने वाले को उनके असाधारण क्षयोपशम का तथा विशिष्ट स्मरण शक्ति का क्षण भर में ही निश्चय हो जायगा। इसलिए पूज्य मुनि श्रीनेमिसागर महाराज ने जो गुरुदेव की स्मरण शक्ति को अद्‍भुत कहा वह यथार्थ है।

अंजुली में उबलता दूध

मुनिपद में प्रायः मौत के साथ झूला सा झूला जाता है। न जाने कब कौन सी घटना जीवन प्रदीप को बुझाने वाली बन जाय? एक बार महाराज चर्या के लिए निकले। एक श्रावक के गृह पर विधि मिल गई। भोजनशाला में पहुच गए। सिद्धभक्ति हो चुकी। अंजुलि बाधकर आहार लेने को तैयार हुए। उस समय महाराज उष्ण दूध और चाँवल का आहार लेते थे। उस श्रावक के यहाँ उबलता हुआ दूध रखा था। होनहार की बात कि उसका साधारण विवेक भी उस समय नष्ट सा हो गया। उसने अपने हाथ न जल जाँय, इस कारण कपड़े से दूधवाले बरतन को पकडा और तुरन्त महाराज की अंजुली में डाल दिया। वह यह नही सोच सका कि इससे मेरा हाथ जलता है, तब इसके स्पर्श से इन मुनिनाथ का क्या हाल होगा? दूध का हाथ में गिरते ही उष्णता की असह्य पीड़ा के कारण वे मूर्छा के अधीन हो तत्काल भूतल पर गिर पड़े। सब लोग घबड़ा गए। नेमिसागर

मुनि महाराज गृहस्थ के रूप में थे । वे यह सोचकर कि कही वह महाराज का जीवन का अतिम क्षण न हो उसके कानो में जार जोर से से पचनमस्कार मत्रराज का पाठ करने लगे । कुछ समय के पश्चात् मूर्छा दूर हुई । उस समय महाराज ने आखें खोली, क्षण भर में सब बातो की स्मृति हो गई । उस दिन उनको आहार का अतराय हो गया । उनके भावो में शाति रही आई ।

तीन वर्ष पूर्व कवलाना में महाराज का वर्षायोग व्यतीत हो रहा था । गले में कैंसर रोग के कारण अन्न का ग्रास लेने में अपार कष्ट होता था । बडे कष्ट से थोडा थोडा आहार लेते थे । एक ग्रास जरा बडा हो गया , उसे मुह में लेकर खा ही रहे थे, कि वह गले में अटक गया, और उस समय उनके मूर्छा सरीखे के चिन्ह चेहरे पर दिखाई पडे । चतुर आहार दाता ने दूध से अजुलि भर दी और उस दुग्ध से वह ग्रास उतर गया अयवा वह दिन न जाने क्या अनिष्ठ दिखाता । यह घटना हमारे साम्हने की थी । वहा एक घटना और भयकर हो गई थी ।

महाराज ने अन्न छोड रखा था । फलो का रस आदि हरी वस्तुओं को छोड लगभग १८ वर्ष हो गए। घी, नमक, शक्कर, छाछ आदि पदार्थों को त्यागे हुए भी बहुत समय हो गया । उस समय चातुर्मास में धारणा का क्रम चल रहा था । केंसर का रोग अलग त्रासदायक हो रहा था । एक उपवास के पश्चात् दूसरे पारणा के दिन अतराम आ गया । तीसरा दिन उपवास का था, चौथे दिन अतराय आ गया पाचवा दिन फिर उपवास का था । छटवें दिन आहार ले पाए थे । ऐसे अन्तराय की भीषण परपरा दो-तीन अवसर पर आई । इससे शरीर बहुत क्षीण हो गया । डग चलना भी कठिन हो गया । इतने में वर्षा आ गई। शीत का वेग बढ गया। शरीर तो दिगम्बर है ही । दो-तीन बजे रात के जोर की खासी आई और उस समय भीषण स्थिति हो गई । सूर्योदय होने पर हम महाराज के दर्शन का पहुचे तब महाराज ने कहा—'आज रात को हमारा काम समाप्त हुआ सा प्रतीत होता था ।" सुनते ही चित्त घबडा गया ।

मैंने पूछा—"महाराज, क्या हुआ ?"

अद्भुत आत्म बल महाराज ने बताया जोर की खासी आई और उसमें से श्वास बाहर निकली वह कुछ मिनिटो तक खिंचो । नाडी भी जाती रही, शरीर भी शून्य सा पड गया,

समय के उपरान्त सब बातें सुधार के रूप में परिणित हो गईं ।" उस समय महाराज के मुख से कठिनता से शब्द निकलते थे, किन्तु दीनता या घबड़ाहट या कराहना आदि का लेश मात्र भी नहीं था । आत्मा में अद्‌भुत बल उस समय दिखता था ।

वहाँ मध्यान्ह के बाद दो बजे के लगभग दशलाक्षणी का शास्त्र होता, था। शास्त्र वाचन मैं ही करता,था । महाराज ने कहा "आज हम शास्त्र में नहीं जा सकेंगे । आप जाकर शास्त्र बाच लेना ।" मैंने कहा 'महाराज ! आपकी सेवार्थ ही मैं यहाँ आया हूँ । लोगों को शास्त्र सुनाने नहीं आया हू । मैं आप ही के पास रहूँगा ।" उस समय महाराज की कुटी के समक्ष ही मैं शास्त्र का वाचन मैं करता रहा । धीरे धीरे महाराज की प्रकृति मे परिवर्तन होता चला, किन्तु उस विपत्ति के समय महाराज की स्थिरता, धर्म की श्रद्धा, तथा आत्मबल कभी भी नही भुलाया जा सकता है ।

आश्चर्य जनक शारीरिक सामर्थ्य

एक दिन महाराज बोले "कवलाना सदृश चिंताजनक अवस्था मोडलिंब ग्राम में हो गई थी। कुटी के बाहर तक जाने की सामर्थ्य नहीं रही थी। उस समय ब्र० जीवराज गौतमचन्द जी दोसी महाराज के दर्शनार्थ आए थे । ब्रम्हचारी जी को महाराज की शरीर स्थिति खतरनाक दिखी और उनने महाराज को समाधिमरण लेने की सलाह दे दी ।"

महाराज ने कहा,—"तुम्हे हमारे मरने की क्यो फिकर होती है ? हम अपना हाल स्वय जानते हैं तपस्या करते लगभग चालीस वर्ष व्यतीत हो गये । हमारा अन्तिम समय कब निकट आया है, यह हमें स्वय ज्ञात हो जायगा। सलाह की जरूरत नहीं है ।"

इसके अनतर दूसरे दिन महाराज ने वहाँ से विहार कर दिया । जो एक दिन पहले चार डग भी नही जा सकते थे आज वे दो तीन मील चले, दूसरे दिन बहुत अधिक चले। लोगो को चकित करते हुए महाराज बारामती आ गये और वहाँ के अनुकूल जल पवन से उनका स्वास्थ्य सुधरने लगा ।

मैंने पूछा,—"महाराज जब आप में तनिक भी हिलने की शक्ति नहीं थी, तब आप इतनी दूर कैसे जा सके ?"

महाराज बोले—"भगवान की कृपा है ।"

जब भी कोई बड़ा काम हो जाता है तो वे उस का श्रेय अपने को न

देकर जिनेंद्र भक्ति को देते हैं। उनकी जिनेन्द्र भक्ति, वीतराग शासन पर श्रद्धा अद्‌भुत है। आत्मबल भी असाधारण है। इन दो पतवारो के द्वारा उनकी जीवन नौका विपत्ति के मध्य से सकुशल आगे बढती रही है।

प्रतीत होता है कि स्वामी समंतभद्र के इस कथन पर उनका प्रगाढ़ विश्वास है "जिनेन्द्र के चरण युगल दुःख रूप समुद्र में नौका का कार्य करते है अर्थात् विपत्ति काल में वीतराग प्रभु की भक्ति करने से यह जीव सकट के समुद्र के पार पहुच जाता है—"क्लेशाम्बुधेर्नौ. पदे"।

जैसे जैसे महाराज की तपश्चर्या द्वारा कर्मों की निर्जरा होती थी, वैसे वैसे उनका आत्मबल और प्रभाव बढता जाता था। कोन्नूर में सेठ खुशालचन्द जी पहाडे तथा ब्र० हीरालाल जी श्रमणबेलगोला जाते हुए रास्ते में इन तपोमूर्ति के दर्शन निमित्त रुक गये। आठ दिन तक इनके जीवन का निरीक्षण करते रहे। उस सत्समागम की सुखद स्मृति स्वरूप दोनो सत्पुरुषो ने सुस्वादु अहार का त्याग करके नीरस भोजन का नियम ले लिया। श्री पहाडे कांग्रेस के प्रभावशाली कार्यकर्ता थे। वह समय १९२३ का था जबकि सारे देश में गान्धी जी के द्वारा सचालित अहिंसात्मक असहयोग द्वारा लोक जागृति से अंग्रेजी शासन काप रहा था। उस समय सारे देश के साथ लोक-नेता पहाडे जी तिरंगे झंडे को प्रणाम करते हुए पढा करते थे "इसकी शान न

रत्नत्रय ध्वजधारी श्रमणराज

जाने पावे, चाहे जान भले ही जावे।" जब रत्नत्रय ध्वजधारी महाराज के समीप में आये तब उनका हृदय बोला, "तुम किस जड ध्वज के पीछे जान देने को दौडते हो, तुम्हारा सच्चा कल्याण इन मुनिनाथ की शरण में आ, रत्नत्रय ध्वज को प्रणाम करने में है। वह रत्नत्रय ध्वज विश्व विजयी है। उसे धारण करने वाला प्राणी त्रिलोकीनाथ बनता है। ऐसे आत्म ध्वज की आन के लिये जान पर खेलना हितकारी होगा।"

दोनो का हृदय इस महान आत्म चुम्बक से खिच गया। हृदय में यही निश्चय होता था कि शांति-सिन्धु के पास से कुछ रत्न अवश्य लेना चाहिये। अंतःकरण में ऐसी भावना होती थी कि ऐसे गुण रत्नाकर का सानिध्य छोड दूसरी जगह भटकना अच्छा नही है। फिर भी भगवान बाहुबलि की वदना के लिये निकले हुये ये होनहार मुनि युगल रवाना हो गये। भगवान बाहुबलि की वीतरागता से भरी सप्राण सी प्रतीत होने वाली मूर्ति ने इन्हे अपूर्व प्रकाश दिया। राग का बधन काटने की समुचित प्रेरणा

प्रदान की।

तीर्थयात्रा से लौटने के बाद उनका मनमधुकर महाराज के चरण कमलों के सौरभ की ओर खिचता जा रहा था। महाराज का जीवन उपसर्गो के सहने से विरागता और आध्यात्मिक दीप्ति का केन्द्र बन रहा था। अग्नि के ताप को सहनकर जैसे स्वर्ण शुद्ध और दीप्तिमान होता है वैसी ही उनकी अवस्था थी। कोन्नूर में सर्प का उपसर्ग शान्त भाव से सहन करने की चर्चा जिस किसी व्यक्ति के कान में पडती उसका मन इन गुरुदेव की वदना के लिए लालायित होता था। यहाँ आने वाले को महाराज का जीवन कल्पवृक्ष के समान प्रिय और निरतर आश्रय योग्य लगता था। नाटक कार रामचद्र जी ने ब्रह्मचर्य प्रतिमा ली, और भी व्यक्तियो के परिणाम इन व्रत निधान के पास से सयम प्राप्त करने के हो रहे थे। श्री खुशालचद जी पहाड और श्र हीरालाल जी का पुण्य उनको पुन यहा खेंच कर लाया। चातुर्मास के बाद जब महाराज बाहुबलि पहुचे तो खुशालचद जी ने क्षुल्लक दीक्षा धारण की, उनका नाम चदसागर रक्खा गया, हीरालाल जी ने भी क्षुल्लक दीक्षा ली और वे वीरसागर कहे जाने लगे।

समडोली चातुर्मास

यहा से विहार करते हुए महाराज सहडोली ग्राम पहुचे। वहा इनने चातुर्मास किया। यहा दूर दूर के हजारो व्यक्तियो ने महाराज के दर्शन का लाभ किया। समडोली के पाटील महाराज के बडे भक्त थे। सघ को वर्षाकाल में कोई कष्ट न हो इसलिये सारी बस्ती में नवीन सडको का निर्माण हुआ। वहा ऐसा लगता था मानो कोई बडा भारी मेला चार माह के लिये लगा हो। बाहर से आने वाले लोगो की सर्व प्रकार से सुव्यवस्था थी। अपना कुटुम्बी मान लोग धार्मिको का स्वागत करते थे।

दक्षिणप्रान्त में सयम की अनुकूलता

इस प्रान्त में यह विशेष बात है कि कोल्हापुर बेलगाव सागली आदि के आसपास के निकटवर्ती ग्रामो में जैनियो की सख्या बहुत है। हजार घर वाले ग्राम में सहज ही पचहत्तर प्रतिशत जैनियो की सख्या पाया जाना साधारण बात समझी जाती है। यहाँ मुनि जीवन व्यतीत करने के लिये सर्व प्रकार की अनुकूलता पायी जाती है। श्रावक समुदाय प्राय कृषिजीवी हैं। वे शुद्ध खानपान किया करते हैं। शुद्ध घी, दूध, जल, भोजनादि की स्वत अनायास व्यवस्था पायी जाती है। जिस तरह अन्य प्रान्तो में साधु

के आहार कराने के लिए आहार आदि की व्यवस्था करने में लोगों को अपने प्रान्त में फैले शिथिलाचार के जाल के कारण कठिनता मालूम पड़ती है वैसी स्थिति यहाँ नहीं है। यह प्रान्त समशीतोष्ण कटिबंध में है। यहाँ न ग्रीष्म का संताप प्रचंडता दिखाता है और न ठंड का प्रकोप ही असह्य पीड़ा उत्पन्न करता है। ऐसी स्थिति में यह भूमि संसार विरक्त व्यक्तियों को श्रेष्ठ दिगम्बर मुद्रा धारण करने को सहज प्रेरणा देती है।

इस प्रान्त में विद्यमान लाखों जैनियों की संख्या देखकर यह बात अत्यन्त दृढ़ता पूर्वक कही जा सकती है कि अब तक की जनगणना में दिगम्बर जैनियों की संख्या लगभग ५ या ६ लाख और उतनी ही श्वेताम्बरो की मानना पूर्णतया मिथ्या है। वास्तव में जैनियों की संख्या अत्यधिक है। सरकारी कर्मचारी प्रमाद स्वार्थ या सांप्रदायिकता के आधीन हो जैनियों को जैन न लिखकर हिन्दू लिख दिया करते हैं। रहन सहन व्यवहार आदि में हिन्दू भाइयों के समान प्रवृत्ति देखकर अनेक जगह जनगणना करने वाला धर्म के स्थान में पहले से ही हिन्दू लिख लिया करता है। इस भूल का भेद पाने के लिये अखिल भारतीय बनने वाली जैन प्रतिनिधि संस्थाओं को स्वयं जैन जन गणना करना चाहिये। यह विषय शांत सुव्यवस्थित सक्रिय सेवा चाहता है। बाजार में वस्तु विक्रेताओं से विज्ञापन बाजी में प्रतिस्पर्धा करने की पद्धति द्वारा साध्य नहीं है। हमारी दृष्टि से कुछ सहृदय उत्साही व्यक्ति और कुछ उदारचेता पुरुष मिल जाय तो इस दिशा में व्यवस्थित कार्य कर सकते है। प्रायः देखा जाता है कि चार दिन चमकने वाली क्षणिक कीर्ति की लोलुपता-वश हमारे प्रतिष्ठा प्रेमी कार्यकर्त्ता उन कामो में हाथ लगाना मुख्य कर्तव्य मानते है, जिसमें सहज ही कीर्ति का भंडार मिल जावे। सच्ची सेवा करने करने वाले व्यक्ति यश को नगण्य गिनते हुए कार्य की पवित्रता और महत्ता पर ध्यान दिया करते है। वर्तमान नवीन सभ्यता के आक्रमण के युग में जिनधर्म के सेवको का कर्तव्य है कि वे नकली सेवा के कांचखंड का संग्रह कर संतुष्ट न हो। रत्नत्रय की समाराधना के क्षेत्र में तन, मन, धन से प्रयत्न करें। इस जीव का सच्चा कल्याण रत्नत्रय धर्म की समाराधना में है। इसीलिए तो शांतिसागर महाराज ने सम्पूर्ण अंतरंग–बाह्य परिग्रह को छोड़कर वीरमुद्रा धारण की है।

समडोली में वीरसागर जी ने निर्ग्रन्थ दीक्षा ली। श्री नेमण्णा ऐलक महाराज ने भी मुनि पद स्वीकार किया। आज वे उग्र तपस्वी परम

श्री वीरसागर नेमिसागर जी की मुनि दीक्षा

शान्त और सरलता की मूर्ति नेमिसागर महाराज के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है। जिस समडोली मे दो महान भाग्यो ने समता-पूर्ण निर्ग्रन्थ दीक्षा ली वह समताभाव को जगाने वाली समडोली साधर्मी समुदाय में महिमामय बन गयी । वहा चार माह पर्यंत धर्मामृत की वर्षा होती रही, उसे देख ऐसा लगता था कि वहा धार्मिक वर्षा का काल आ गया है।

महाराज जहा चातुर्मास में रहते हैं वहाँ धर्मामृत की वर्षा द्वारा अगणित जीवो का कल्याण होता है। आकाश से मेघमडल द्वारा की गई वर्षा चारो ओर हरित वनस्पति का सुन्दर साज सजाती है। इसी प्रकार इन महापुरुष की कल्याणकारी धर्मवर्षा के द्वारा आत्मकल्याण का उपवन भी हरा भरा हो जाता है। उससे जो जीव का कल्याण होता है उसका मूल्य रिजर्व बैंक की सारी सम्पत्ति से भी अधिक है। अपने स्वरूप की उपलब्धि का मूल्य यदि महान न होता तो उसकी प्राप्ति के लिए बडे बडे सम्राट चक्रवर्ती आदि अपने विशाल राज्य का क्यो परित्याग करते ?

आचार्य-पद

समडोली में शांतिसागर महाराज ने जो श्रमण संघ का निर्माण किया, उसके कारण चतुःसंघ समुदाय ने उन्हे आचार्य परमेष्ठी के रूप में पूजना प्रारंभ किया।

आचार्य पद का स्वरूप

आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में आचार्य पद की बड़ी प्रतिष्ठा है। मूलाचार में लिखा है "जो निर्ग्रंथ मुनि ज्ञान, दर्शन, वीर्य तथा तप और चारित्र रूप पंच आचारो का निरतिचार पालन करता है, दूसरों को इन पंच आचारो में लगाता है तथा इनका उपदेश देता है उसे आचार्य कहते हैं।"[1] धवलाटीका में लिखा है, "जो पंचविधि आचार का पालन करते हैं, दूसरो से पालन कराते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं।"[2]

आगम में लिखा है, "जिनकी बुद्धि जिनागमरूप जलधि के मध्य में स्नान द्वारा निर्मल हो गई है, जो शुद्धता पूर्वक छह आवश्यकों का पालन करते हैं, मेरु के समान अकंप हैं, वीर हैं, सिंह सदृश हैं, हैं, तथा श्रेष्ठ हैं, वे आचार्य कहलाते हैं।"[3]

"जो देश, कुल तथा जाति से शुद्ध हैं, सौम्य मूर्ति हैं, बाह्य तथा अंतरंग परिग्रह उन्मुक्त हैं, जो गगन के समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं।"[4]

"जो संग्रह तथा शिष्यों के दोष दंड द्वारा निग्रह करने में प्रवीण हैं, सूत्रों के अर्थ चिंतन में विशारद हैं, विश्रुत कीर्ति हैं, जो

---

१ आयारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं।
उवदिसदि य आयारं एसो आयारवं णाम ॥
४२५ मूलाचार

२ पंचविधमाचारं चरन्ति, चारयन्तीत्याचार्याः ॥
पृ. ४८, भाग १ धवलाटीका

३ पवयण-जलहिज लोयरण्हायामल-बुद्धि–सुद्धछावासो।
मेरुव्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वज्जो ॥

४ देसकुल जाइसुद्धो सोमंगो संगभंग उम्मुक्को।
गयणव्व णिरुवलेवो आयरियो एरिसो होई ॥

सारण अर्थात आचरण करने में, वारण अर्थात दोषों का निवारण करने में तथा व्रतों की रक्षा करने वाली क्रिया के साधन में निरन्तर रहते हैं उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिए।[1]

• आचार्य वीरसेन स्वामी ने लिखा है—

जो आचारांग के धारक हों अथवा तत्कालीन जिनागम तथा अन्य शास्त्रों के पारगत हो, मेरु के समान निश्चल हों, पृथ्वी के समान सहनशील हों तथा सागर के समान मल दोषों को दूर करने वाले हों, तथा जो सात प्रकार के भय से रहित हों, वे आचार्य हैं।[2] प्राकृत आचार्य भक्तिमें लिखा है–

आचार्य परमेष्ठी उत्तम क्षमा के द्वारा पृथ्वी सदृश हैं, निर्मल भाव की अपेक्षा स्वच्छ जल समान हैं। कर्मेन्धन के दहन करने से अग्नि रूप हैं, परिग्रह रहित होने से पवन तुल्य हैं।[3]

जो गगन के समान निर्लेप हैं, सागर सदृश अक्षोम्य हैं, इस प्रकार गुणों की राशि मुनि श्रेष्ठ आचार्य परमेष्ठी के चरणों को शुद्ध हृदय से प्रणाम करता हूं।[4]

वंशकुल परंपरा की शुद्धता होने पर भावों में उच्चता आती है, इसी कारण सोमदेव सूरि ने अपने यशस्तिलक में लिखा है "दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णा." (पृष्ठ ४०५)—मुनि दीक्षा के योग्य त्रैवर्णिक ही हैं। इसी कारण आचार्य की स्तुति में उनकी कुलीनता का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"देस कुलजाइ सुद्धा विसुद्ध मण वयण काय संजुत्ता।
तुम्हं पाय पयोरुह मिह मंगल मत्थु मे णिच्चं ॥"

---

१ संगहण-णिग्गहण कुसलो सत्तत्थ विसारओ पहियकित्ती।
सारण-वारण-साहण-किरियुज्जुत्तो हु आइरियो ॥

२ आचारांगधरोवा तात्कालिक–स्वसमय–परसमय
पारगो वा मेरुरिव निश्चलः, क्षितिरिव सहिष्णुः,
सागर इव बहिः क्षिप्तमलः सप्तभय विप्रमुक्त आचार्यः ॥
धवलाटीका भाग १ पृ. ४८, ४९

३ उत्तमखमाए पुढवी पसण्णभावेण अच्छजलसरिसा।
कम्मिंधण दहणादो अगणी वाऊ असंगादो ॥

४ गयणमिव णिरुवलेवा अक्खोहा सायरुव्व मुणिवसहा।
एरिस गुणणिलयाणं पायं पणमामि सुद्धमणो ॥

"जो देश से शुद्ध है, पितृ पक्ष तथा मातृ पक्ष से शुद्ध है, निर्मल मन, वचन, शरीर युक्त है, ऐसे हे आचार्य परमेष्ठी ! आपके चरणकमल मेरा निरन्तर कल्याण करें।'

'महाबंध के मंगल श्लोक में लिखा है, जिनने रत्नत्रय रूपी तलवार के प्रहार से मोह रूपी सेना के मस्तक को विदीर्ण कर दिया है तथा भव्य जीवों का परिपालन किया है, वे आचार्य महाराज प्रसन्न होवें।"[1]

आचार्य परमेष्ठी का, वीतरागशासन होता है, जबकि राजाओं का सराग शासन होता है। आचार्य महाराज के शासन में रहने वाला गुरु-प्रसाद से स्वर्ग, मोक्ष की सामग्री को प्राप्त करता है किन्तु राजा के प्रसाद में ऐहिक कुछ सामग्री मिल जाती है—"राजा प्रसन्न गज भूमि दानम्," राजा प्रसन्न होने पर हाथी भूमि का दान देता है, किन्तु आचार्य प्रसन्न होते हैं तो वे शिष्य को अपने समान बना लेते हैं। अभी समडोली में वीरसागर जी तथा नेमिसागर जी को निर्ग्रन्थ दीक्षा देकर महाराज ने अपने समान बना ही लिया। इस प्रकार इन आचार्य परमेष्ठी के साथ सतुलन करने पर राजा का पद बहुत ही लघु ज्ञात होता है।[2] इसी से राजा भी इन महाप्रभु के चरणों की रज के द्वारा अपने जीवन को धन्य मानता है।

आचार्य पद और राजा के विषय में कुलीनता की समान रूप से मान्यता मानी गई है। नीतिवाक्यामृत में लिखा है—

स्वजातियोग्यसंस्कारहीनानां राज्ये प्रव्रज्यायां च नास्त्यधिकारः ॥

(नीतिवाक्यामृत ६९. पृ २४३)

स्वजाति के योग्य संस्कार हीनों को न राज्य का अधिकार रहता है, न दीक्षा का ही अधिकार होता है। नीच व्यक्ति की अपात्रता के कारण इन दो पदों के अयोग्य कहा है।

आज लोकतंत्र के बल पर कोई कहे कि हम नीचों को ही सिर पर बैठा लेंगे, इसमें क्या दोष है? इस शंका का समाधान सोमदेव सूरि इस प्रकार करते हैं "जिस प्रकार उदर में स्थापित करने पर घना

---

१ तिरयण-खग्ग णिहाए णुत्तारिय मोहसेण्ण सिरणिवहो।
आइरिय राउ पसियउ परिवालिय भवियजिय लोओ॥

२ महापुराण में निर्ग्रंथ दीक्षा को वीर दीक्षा कहते हुए बड़ा सुन्दर

वात संबंधी विकृति को उत्पन्न करता है, तद्वत् अत्यन्त स्नेह करने पर भी नीच अपने संस्कार के अनुसार विकार किए बिना नही रहता है ।"

चणका इव नीचा उदरस्थापिता अपि नाविकुर्वाणास्तिष्ठन्ति ॥

(नी वा. पृ० २८३-३०)

यहाँ यह भी शका हो सकती है, कि जिस प्रकार राजा को प्रजा के सुखदु:ख की निरन्तर चिन्ता रहती है, उसी प्रकार आचार्य को चिन्ता रही तो उनका निर्ग्रंथपना विपत्तिपूर्ण हो गया । घर के कुटुम्बियो की चिन्ता छोड़कर दूसरो की चिन्ता ले ली । जिसके मस्तक पर मुकुट विराजमान रहता है, वह बेचैन रहा करता है । यह सकट वीतराग आचार्य के शासन में नही है। सघ के साधुओ को सन्मार्ग में लगाते हुए भी आचार्य की उनके विषय में रचमात्र भी आसक्ति नही है । विचारवान सहज ही सोच सकता है, जिस शरीर को योग्य आहार पानादि देते हुए भी जब वे अपनी चैतन्यज्योति को

आचार्य श्री का शासन आसक्ति शून्य है

वर्णन किया है । बाहुबलि के दीक्षा लेने के बाद भरतेश्वर के अन्य बन्धु चक्रवर्ती को प्रणाम नही करना चाहते थे, उनने भगवान वृषभनाथ प्रभु के चरणो में उपस्थित होकर इस प्रकार प्रार्थना की थी—

"परप्रणामविमुखी भयसगविवर्जिताम् ।

वीरदीक्षा वय धर्तु भवत्पार्श्वमुपागता· ।।" महापुराण ३४—१०९

भगवन् ! हम आपके समीप वीर दीक्षा धारण करने को आये है, क्योकि अन्य लोगो को प्रणाम करने से रहित है, भय तथा सग अर्थात परिग्रह रहित है ।

दूसरो को प्रणाम करने में तुम्हें क्या आपत्ति है इसका उत्तर देते है—

"युष्मत्प्रणमनाभ्यासरस दुर्ललितशिरः ।

नान्यप्रणमने देव धृतिबध्नाति जातु न ।।" महापुराण १०४

देव ! आपको सदा प्रणाम करने के अभ्यास के रस की आदत युक्त हमारा मस्तक अब दूसरो को प्रणाम करने को तत्पर नही होता है । इस वीर दीक्षा को धारण कर वीरसागर महाराज का चरितार्थ हो गया । नेमिसागर महाराज ने भी इस दीक्षा को लेकर भगवान नेमिनाथ प्रभु के पथ का अनुसरण किया । दोनो मुनिराज आज भी निर्दोष वृत्ति से अपने व्रतो का पालन करते हुए स्वपरहित मे सलग्न है ।

निरन्तर पृथक अनुभव करते हैं, तब बाह्यसपर्क में आने वालो के साथ मोह और ममत्व कैसे हो सकता है ? धर्म के परिवार की वृद्धि करते हुए रत्नत्रय का पोषण करने के कारण आचार्य परमेष्ठी तो अधिक विशुद्धता को प्राप्त करते हैं।

अब अपनी महान तपश्चर्या के प्रसाद से सत्पुरुष का आकर्षण कर निर्ग्रंथ मुनि श्री शातिसागर स्वामी ने धर्म की गगा बहाकर पुण्य तीर्थ का निर्माण कर ससार पूज्य आचार्य पद को प्राप्त कर लिया। आचार्य महाराज के व्यक्तित्व से प्रभावित होते हुए भी प्रत्याख्यानावरण कर्मोदय से जो सकल सयम के पथ पर चलने में असमर्थ थे, वे महान सयमी गुरुदेव की शरण में महिनो समय देकर अपने जीवन को पवित्र बनाने लगे। आहार दान देकर पचसूत्र क्रिया मे उत्पन्न दोषो की शुद्धि में तत्पर रहने लगे। जो गुरुदेव के सानिध्य में आता वह व्रताचरण रूपी प्रसाद को पाए बिना नहीं रहता था। इस प्रकार जहाँ देश में और बाहर शिथिलाचार था, अव्रती जीव की वृद्धि हो रही थी, वहाँ आचार्य श्री के प्रसाद से बडे से बडे कठोर व्रतो को लेने का साहस स्त्री और पुरुषो के मन में जागृत होता था। इस प्रकार महाराज का धार्मिक सघ वेग से बढता जाता था।

इस दुषमा काल में विषयभोग की सरिता बह रही है। सब उसी में स्वेच्छा से डुबकी लगाते हैं। आगम भी कहता है इस काल की ऐसी ही प्रवृत्ति होगी, फिर भी आचार्य श्री का अपूर्व व्यक्तित्व असाधारण रूप से सयम के भावो को जगा रहा था। यह काल असयम पूर्ण है, यह प्रत्येक के अनुभव गोचर हो रहा है। ऐसी ही सूचना महापुराणकार के कथनानुसार चक्रवर्ती भरतेश्वर के स्वप्न से भी प्राप्त हो चुकी थी।

बात यह है जब भरतेश्वर को सोलह स्वप्न दिखे तब उनने आदिनाथ प्रभु के समीप जाने का निश्चय किया। उनने भगवान के पास जाकर जब प्रणाम किया, तब चक्रवर्ती को अवधि ज्ञान प्राप्त हो गया।[1]

भक्ति पूर्वक भगवान वृषभनाथ के चरण युगल को प्रणाम करते ही भरतेश्वर के विशुद्धियुक्त परिणामो के कारण अवधिज्ञान उत्पन्न

---

१ भक्त्या प्रणमतस्तस्य भगवत्पादपकजे ।
विशुद्धिपरिणामागमवधिज्ञानमुद्बभौ ॥

महापुराण ४१-२८

हो गया ।

चक्रवर्ती ने अपने स्वप्न भगवान के समक्ष भक्ति पूर्वक निवेदन किए, तब भगवान की दिव्यवाणी द्वारा उनका समाधान हुआ। चक्रवर्ती ने शुष्क वृक्ष देखा था, उसके विषय में भगवान ने कहा था—

"पुसा स्त्रीणा च चारित्रच्युतिः शुष्कद्रुमेक्षणात्"

'महापुराण ४१-७९'

शुष्क वृक्ष दर्शन का यह परिणाम होगा कि पचम काल में पुरुषो तथा स्त्रियो के चारित्र में शिथिलता पाई जायगी। इस प्रकार अधर्म का प्रवृत्तिही युग का धर्म है, उसके विरुद्ध पौरुष की वृत्ति को जगा सयम की प्रवृत्ति का प्रसार आचार्य श्री के सातिशय पुण्य एव प्रभाव को सूचित करता है। वास्तव में इस सूक्ति में पर्याप्त तथ्य है कि वीर पुरुष अपने पराक्रम के द्वारा नवीन युग का निर्माण कर सकते है।

पुण्यमूर्ति महाराज का सघ जिस ग्राम नगर में पहुचता वहा धर्म तथा आत्मकल्याण की दीपमालिका सी सज जाती थी। हर प्रकार की सुन्दर से सुन्दर शुभोपयोग की सामग्री महाराज के पुण्य से खिचकर वहा आ जाती थी। उत्कृष्ट शास्त्र चर्चा, तत्व प्रवचन, सुन्दर सगीत, कीर्तन आदि के द्वारा ऐसा लगता था कि महाराज के समीप आते ही पाप प्रवृतियो पलायन हो जाती हो। विहार करते हुए आचार्य महाराज विक्रम सवत् १९८१ में चातुर्मास के लिए कुभोज में ठहर गए।

कुभोज चातुर्मास

अब तो जहाँ महाराज का सघ रहे वहा आनन्द की आश्चर्यप्रदधारा बहने लगती थी। जगल में भी मचमुच में मगल हो जाता था। ऐसे आनन्द से समय व्यतीत हुआ कि चार माह चार दिन की तरह बीत गए।

आचार्य सघ अब कुथलगिरि तीर्थ की ओर रवाना हो गया। मार्ग में अनेक गृहस्थ साथ में हो गये, ताकि पात्र दान का पुण्य लाभ लें और महाराज की अपूर्व सेवा का सौभाग्य भी प्राप्त करें। जब सघ पढरपुर पहुचा तो वहा बहुत बडा जन समुदाय एकत्रित हो गया था।

पढरपुर की तरफ मुनि विहार का यह अवसर बहुत काल के बाद आया था। इससे भय होता था कि कही कोई अनिष्ट घटना न हो जाय, कारण वहा अन्य सप्रदाय वालो की प्रबलता है। किन्तु महाराज के पुण्य प्रताप से वहाँ खूब प्रभावना हुई और जैन धर्म का जयजयकार हो गया।

इसके अनंतर संघ कुंथलगिरि पहुंचा । देशभूषण कुलभूषण के निर्वाण स्थल की भक्ति पूर्वक वन्दना पूजा आदि के पश्चात संघ सावरगांव पहुंचा। वहां प्रतिमा जी का वज्रलेप हुआ था । उसकी प्राण प्रतिष्ठा का समारंभ होना था । वह अतिशय क्षेत्र है । महाराज के पधारने से वहां का उत्सव भी सप्राण हो गया था ।

इसके पश्चात संघ सोलापुर आया । यहां जैन समाज के समान जैनेतरों में भी आचार्य श्री का बड़ी भक्ति पूर्वक हार्दिक स्वागत किया । हिन्दुओं तथा मुसलमानों ने भी पूज्य श्री के प्रति उच्च भक्ति और सम्मान का भाव व्यक्त किया था । अब महाराज का संघ जिस किसी जगह भी पहुंचता वहां बिना पर्व के पर्व दिखता था, बिना उत्सव के महोत्सव हो जाता था, बिना विशेष प्रयत्न के महान विशुद्धता उत्पन्न होती थी, जिससे बड़े बड़े महत्व के मोक्षोपयोगी तथा जिनेन्द्र शासन की प्रभावना वर्धक कार्य हो जाते थे । महाराज की विवेकपूर्ण प्रवृत्ति से संयम की बात कटु न लग प्रिय और आकर्षक लगती थी । श्रेष्ठ आचरण करने वालों की बात ही निराली है । उनकी मूर्ति भी सदाचरण का जोरदार प्रचार कर हिंसादि पाप प्रवृत्तियों का निर्मूलन कर रही थी, यह बात उस समय सबके नेत्र गोचर होती थी । अब महाराज अधिक उपदेश नहीं देते थे उनका जीवन ही स्वयं उपदेश देता हुआ लोगों को सत्कार्यों तथा उज्वल चरित्र और प्रेरित करता था । हमें तो आचार्य ही एक सिद्धहस्त चिकित्सक के रूप में प्रतीत होते हैं कि जिनके द्वारा दी गई संयम रूपी औषधि मोह रोगों को तत्काल शांति प्रदान करती थी । अतः वे पीयूषपाणि वैद्य के रूप में दिखते थे। वे रत्नत्रय की संजीविनी देकर रोग दूर करते थे। यह कला महाराज ने जिनेन्द्र की आराधना द्वारा प्राप्त की थी । महाकवि धनंजय ने भगवान वृषभनाथ प्रभु के स्तोत्र में उनको बाल वैद्य बताते हुए लिखा है—

रत्नत्रय संजीविनी दाता वैद्य

"भगवन ! अपने दोषों के कारण पीडित होने वाले बालक के सदृश जगत के जीवों को आप नीरोगता प्रदान करते हैं क्योंकि बालक के समान वे भी

---

१ व्यापीडितंबालमिवात्मदोषैरुल्लाघतां लोकमवापिपस्त्वम् ।
हिताहितान्वेषणमांद्यभाजः सर्वस्यजन्तोरसि बालवैद्यः ॥५॥

अपनी ही अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा विपत्ति प्रद पाप के पथ में प्रवृत होते हैं। देव ! हित और अहित के खोजने में प्रमादशील सपूर्ण जीवो के लिए आप बाल्वैद्य तुल्य है।"

वागभट्ट ने अपने अष्टाग हृदय में भगवान को बड़े सुन्दर शब्दो में अपूर्व वैद्य के रूप में स्मरण कर प्रणाम किया है, क्योकि भगवान के द्वारा रागादि दोषो का विकार दूर किया जाता है।

तीर्थंकर भगवान की निरन्तर सवा से प्राप्त पुण्य के प्रसाद से आचार्य श्री भी विवक पूर्वक भवरोग दूर करने की औषधि दिया करते थे। इस औषधि से आत्मा की शुद्धि होती थी अत पहले आचार्य श्री ने स्वय की वृत्ति को परिशुद्ध बनाया तथा विविधतपो द्वारा विशेष शुद्धिता का सपादन करते रहते थे, इस कारण उनके द्वारा सर्व साधारण का अकथनीय कल्याण होता था। जो भक्ति पूर्वक उन्हे प्रणाम करता था उसके पाप कर्मो की निर्जरा होती थी और पुण्य का लाभ होता था। सतत सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह अस्तेयभाव, वीतरागता की श्रेष्ठ आराधना द्वारा ऐसी शक्ति आत्मा में उद्भूत होती थी कि उसके समीप आगत व्यक्ति उनके प्रभाव में आए बिना नही रहता था। यही प्रभाव तो सिंहादि क्रूर जीवो में शांति भाव उत्पन्न कर दिया करता है।

आज का युग पुद्गल के प्रभाव को समझने और उसे प्रकाशित करने के कार्य में लग गया है। उसे आत्मा का प्रभाव कैसे ज्ञात हो सकता है? कोयले की खदान में काम करने वाले का मुख जैसे श्याम होता है, ऐसी ही पुदगल की समाराधना के फलस्वरूप कालिमा की वृद्धि हो रही है। वहाँ रत्नो का उज्वल प्रकाश कहा से आ सकता है, यदि आत्मा की उज्वल आराधना की जाय तो कितना कल्याण, आनन्द, शांति, और विशुद्धता का लाभ होता होगा, यह बात केवल आचार्य शातिसागर महाराज के जीवन को देखकर जानी जा सकती है कि एक पवित्र आत्मा ने प्रहरी की भांति अध्यात्माओं को जगाना प्रारम्भ कर दिया तो पचमकाल रूपी डाकुओ के शासन में भी भव्यजीव अपने रत्नत्रय की सम्हाल करते हुए मुक्तिपुरी की ओर बढते जाते है।

आचार्य महाराज इस युग मे एक आश्चर्यप्रद विभूति प्रतीत होते हैं। सब कहते है यह कलिकाल है किंतु जहा महाराज पहुचते

धर्मयुग प्रवर्तक सत — थे, वहाधामिकता की अभिवृद्धि देखकर ऐसा लगता था मानो चतुर्थ काल उस जगह छुपा हुआ था जो उनके आते ही व्यक्त रूप में प्रगट हो गया। सब लोग यह कहते हैं कि आज का समय ऐसा है कि चंचल चित्त को कोई भी स्थिर नही कर सकता है। किन्तु पूज्य श्री ने चित्त को ऐसा स्थिर किया कि उसमें चचलता का स्थान ही नहीं है। एक बार मैंने महाराज से पूछा था—"महाराज ! आप निरन्तर शास्त्र स्वाध्याय आदि कार्य करते रहते हैं, क्या इसका लक्ष्य मनरूपी बंदर को बाधकर रखना है, जिससे वह चचलता न दिखावे।"

महाराज बोले—"हमारा बंदर चचल नही है।"

मैंने कहा—"महाराज ! मन की स्थिरता कैसे हो सकती है, वह तो चचलता उत्पन्न करता ही है ?"

महाराज ने कहा—"हमारे पास चंचलता के कारण नही हैं। जिनके पास परिग्रह की उपाधि रहती है, उनको चिंता होती है, उनके मन में चंचलता होती है। हमारे मन में चचलता नही है। हमारा मन चचल होकर कहाँ जायगा ?" इस बात के स्पष्टीकरण के हेतु महाराज ने एक उदाहरण दिया कि "एक पोपट-तोता जहाज के ध्वज के भाले पर बैठ गया। जहाज मध्य समुद्र में चला गया। उस समय वह पोपट उडकर बाहर जाना चाहे, तो कहाँ जायगा ? उसके ठहरने का स्थल भी तो चाहिए, इसलिए वह एक ही जगह पर बैठा रहता है। इसी प्रकार घर, परिवार आदि का त्याग करने के कारण हमारा चचल मन होकर जायगा कहां, यह बताओ ?

चिंतामुक्त आतमन

हमारा मन अन्यत्र आश्रय न होने से अपने आप आत्मा की ओर आकर टिकता है।" महाराज कहने लगे—"हम तो कही भी आत्मा का ध्यान कर सकते हैं, क्योंकि हमारे मन को बाहर विश्राम करने का स्थान ही नहीं है।" एक बार ध्यान के विषय में जब हमने चर्चा चलाई, तब महाराज बोले "हमारे चित्त में गडबडी तथा चिन्ता नही है। हमें मोक्ष पाने की चिन्ता नहीं है। अनादि काल से संसार में रहे, तो जल्दी क्यो ? दो चार भवो में चले जावेंगे, उतावली किस बात की। हमें शास्त्र की भी चिन्ता नहीं है। उसे पढना सुनना जरूरी है इसमे पढते है, सुनते है। पढ़ना ही चाहिए, ऐसी बात नही है। मुख्य रहस्य जब समक्ष में आ गया, तब दस बार पढने में या एक बार पढने में क्या बात है ?"

आत्मा के ध्यान के विषय में जब पूज्य श्री से चर्चा चलाई, तब वे महामुनि बोले—"आत्मध्यान में शरीर का भी पता नहीं चलता है, तब अन्य बाह्य बातो का क्या पता चलेगा ?" उनने कहा—"आत्मा के ध्यान में इद्रो का सुख नहीं है। वहा आत्मा का आनन्द है।" इद्रो के विषय जनित सुख के विषय में महाराज ने कहा—"वह तो पागल का सुख है।" कितनी महत्व की बात है यह, सुख का कितना सूक्ष्म विश्लेषण है। सचमुच में स्वरूप को भूलने वाला पागल की भाति फिरने वाली आत्मा, सुख शून्य बाह्य वस्तुओ में सुख खोजती है, वहा उसका सद्भाव कहता है और मानता है कि मैंने उनमें ही सुख पाया है। यह सुख यथार्थ में पागल का ही सुख है। पागल की प्रवृति और कल्पना म तर्क, युक्ति विचार का सपर्क नही होता है। जैसा उसे सूझ जाय, वैसा वह मानता है। मिथ्यात्व के आधीन समस्त प्राणी ऐसे ही सुख के फेर में फसे हुए है।

आत्म ध्यान की स्थिति पर प्रकाश

आचार्य महाराज कहने लगे—"मोह की दीवाल तोड देने के बाद आत्मा भीतर आता है, बाहर जाता है। भीतर आने पर उसके हिंसा अहिंसा का भी विकल्प नही रहता है। दूसरे जीवो के मरने से, या रक्षण से हमारी आत्मा का क्या सबध है ?" यह कथन सूक्ष्म निश्चयनय की अपेक्षा है। उसी उज्वल प्रकाश में पूज्य श्री कहने लगे—"आत्म ध्यान में अंतर्जल्प भी नहीं होता है। शरीर व्यतिरिक्त आत्मा में लीनता होती है। मोह का बधन हटे बिना अतर्जल्प कैसे बन्द होगा ?" सब पदार्थों का संबध न रखने पर, सब पदार्थों को छोडने पर अतर्जल्प क्यो और कैसे होगा ? उस आत्मध्यान मे इन्द्रिय जनित सुख नही है, दु.ख नही है।"

इस चर्चा में निमग्न होकर महाराज के श्रीमुख से निकलते हुए प्रत्येक शब्द अमृतरूप दिखते थे, जिनके ऊपर अनुभव की मुद्रा लगी हो। अकस्मात् उनके मुख से ये शब्द निकल पडे—"अरे ! जब हमारा के अभ्यास से आत्मा का परिचय होता है, तब उसमें सारा जीवन लगा देने से वह क्यो नही होगा ? हम बाजार में भी ध्यान कर सकते है। आत्मध्यान में बाजार क्या करेगा ?" महाराज ने कहा,—"ध्यान करते समय कितने मिनिट ध्यान में बैठते है, यह भी ध्यान नही रहता है।" उनने यह भी कहा था कि "ध्यान करने में आरम्भ में कठिनाई मालूम पडती है, पश्चात् यह अभ्यास से सरल हो जाता है।"

ध्यान में क्या होता है, इस संदेह का निवारण करते हुए अपनी अनुभवपूर्ण वाणी में महाराज ने कहा––'ध्याता ज्ञान से ज्ञान को ढूढ़ता है। ध्याता भाव मन से बाहर आता है, पीछे वापिस जाता है। आत्मा अपने स्वरूप को छोड़कर बाहर कहाँ जायगी? अभ्यास से सब काम सरल हो जाता है? मार्ग से चलने से सफलता मिलती है। मार्ग छोड़कर चाहे प्राण भी दो, चाहे उपवास करो परमार्थ की प्राप्ति नही होगी। कुछ उपवास में आत्मा नही है।"

महाराज ने कहा––"जल की गिरती हुई धारा में भी मछली ऊपर चढ़ा करती है, इसी प्रकार ज्ञानी भी अपने स्वरूप में चढ़ता है।"

मैंने पूछा––"महाराज! यदि उपवास में आत्मा नही है तो क्या व्रत उपवास व्यर्थ है। आप क्यों उपवासादि कठोर तप करते हैं?"

उपवास के विषय में अनुभव

महाराज ने कहा––"अल्प आहार से या उपवास से प्रमाद कम होकर विचार शक्ति बढती है।" इससे उनकी उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है। प्रमाद कम हुआ और विचार शक्ति की वृद्धि हुई, तो आत्मा अपनी ओर उन्मुख होने की सामग्री प्राप्त कर लेता है।

मैंने कहा––"महाराज! एक बड़े अध्यात्मवादी समाज प्रसिद्ध विद्वान से मैंने पूछा था, कि आपकी आत्मा को बहुत शांति का लाभ हुआ होगा," तब उनने कहा था, "हमें तनिक भी शांति नहीं है। आत्मा में भयंकर अशांति ही अनुभव में आ रही है। आपका अनुभव क्या है?"

महाराज बोले––"हमारी आत्मा में अशान्ति होती ही नही। कैसे भी कारण आवें, हमारी आत्मा में हमेशा शांति ही रहती है, क्योंकि हमने अशांति के कारणों को हटा दिया है। अशांति के कारण नही हैं, तब अशांति क्यों होगी?" उस समय समझ में आया कि क्यों आचार्य श्री को शांतिसागर कहते हैं। यह भी महाराज बोले––"यह ध्यान आसन्न भव्य जीव के होता है।"

जिस सम्यक्त्व के होने पर संसार का बंधन नष्ट होता है, उसके विषय में पूज्य श्री से चर्चा चली, तब महाराज ने कहा "शुद्ध आत्मा का अनुभवना सम्यक्त्व है। तत्वार्थ श्रद्धान तो उपचार सम्यक्त्व है।" उनने यह भी महत्व की बात कही, "सम्यक्त्व समझते नही तो व्रत करके जाना चाहिए वहाँ से विदेह पहुचकर तीर्थंकर भगवान के पास

चाहिए। वहां उनकी दिव्यध्वनि से सब कुछ तत्व समझ में आ जायगा।"

आत्मा और भगवान दो नही है

महाराज ने कहा—"हम खातरी से कहते हैं कि सम्यक्त्व की महिमा ऐसी है कि उससे मोक्ष अवश्य मिलेगा। आत्मा की रुचि सम्यक्त्व है। जब आत्मा नही मालुम तब किस पर श्रद्धान करोगे? भगवान को देखे नही किस पर श्रद्धान करोगे? शास्त्र गुरु मूर्ति मन्त हैं। आत्मा अमूर्तीक है, उस पर कैसे श्रद्धा करोगे? वस्तु आपको मालूम नही है। अरे! आत्मा और भगवान दो नही है। इसे देखा तो उसे देखा। अक्षर मे सम्यक्त्व नही है।

आत्म प्रशंसा के प्रति उनकी धारणा

लोग महाराज की स्तुति करते है, प्रशसा करते है। उससे वे संतुष्ट होते होंगे ऐसी जिनकी धारणा है वे उनके इन वाक्यो को बांचे "हमारी मिट्टी की क्या प्रशंसा करते हो? हमारी कीमत क्या है?"

शरीर के प्रति अनात्मीयभाव होने से महाराज कहने लगे—"यह मकान दूसरे का है। जब मकान गिरने लगेगा तो दूसरे मकान में रहेंगे।"

कोरा उपदेशक धोबी तुल्य है

अपने स्वरूप को बिना जाने जो जगत में चिल्लाकर उपदेश दिया जाता है, उसके विषय में पूज्य श्री ने बड़े अनुभव की बात कही थी, "जब तुम्हारे पास कुछ नही है तब जग को तुम क्या दोगे? भवभव में तुमने धोबी का काम किया। दूसरों के कपड़े धोते रहे और अपने को निर्मल बनाने की ओर तनिक भी विचार नही करते। अरे भाई! पहले आत्मा को उपदेश दो नाना प्रकार की मिथ्या तरगो को हटाओ, फिर उपदेश दो। केवल जगत् को धोते बैठने से शुद्धि नही होगी। थोड़ा भी आत्मा का कल्याण कर लिया, तो वह बहुत है।"

आज भगवान का दर्शन यहा नही है, श्रुतकेवली नही है, तब आत्म कल्याण का क्या मार्ग होगा? इसका स्पष्टीकरण करते हुए महाराज ने कहा— "भगवान की वाणी का शरण लो उस वाणी में बड़ी शक्ति है। उसके अनुसार काम करो। जो इच्छा होगी वह मिलेगी यह हम खातरी से दृढ़तापूर्वक कहते हैं। मार्ग से चलो, तो मोक्ष सरल है।"

सुन्दर शंका

कोई तत्वज्ञ कह सकता है "महाराज! आपने इंद्रियों के सुख का त्याग किया और आप ही व्रतो का उपदेश दे स्वर्गादि के सुखों को प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार आप अपनी

वाणी से साक्षात नही तो प्रकारान्तर से विषय सुखो से सम्बन्ध कराते हैं इससे आप के व्रतो को दोष लगता होगा क्योकि आपने पाप का मन, वचन, काम, कृत, कारित, अनुमोदना रूप से त्याग किया है अत आपको व्रत का उपदेश नही देना चाहिए ?

ऐसे सदेह को दूर करते हुए आचार्यश्री बोले– "तुम्हे स्वर्ग में सुख मिले और तुम स्वर्ग में खूब विषय सुख भोगो इसलिए तुम्हें उपदेश नही देते हैं। हमारा उद्देश्य यह है कि व्रताचरण के द्वारा तुम देवगति को प्राप्त करके विदेह में जाकर केवलीभगवान का दर्शन करो। वहा तुम्हे भवावलिका बोध होगा। यदि सम्यक्त्व नहीं होगा तो वह तुम्हे केवली के दर्शन से मिल जायगा। इस प्रकार व्रताचरण तुम्हे मोक्ष प्राप्ति का कारण होगा।"

महत्वपूर्ण समाधान

कितना सुन्दर और हृदयग्राही समाधान है यह। इस प्रकाश में उन भाइयो को भी सोचना चाहिए जो व्रताचरण को व्यर्थ की चीज समझते हुए स्वय उसकी उपेक्षा करते हैं और दूसरे अज्ञ भाइयो को उस पथ से विमुख बनाते हैं। अनादि कुसस्कारवश जीव आहार, भय, मैथुन और परिग्रह रूप सज्ञा चतुष्टय के अधीन हो आत्मपथ और सयम की ओर आने से डरता है। अन्य पर्यायों में सयम की अनुकूलता नही रहती है। सयम का सुवास युक्त अमृत पुष्प मनुष्य भव रूपी भूमि में ही होता है। अतएव सयम को भूल विषयो की ओर जाने का साक्षात न सही तो प्रकारान्तर से उपदेश देना कैसे मगल मार्ग माना जाय ? बिना ससार के निकट हुए तथा काललब्धि आदि साधनों को प्राप्त किए समयक्त्व नही मिलता है। उतने काल तप, व्रताचरण द्वारा जीव दुर्गतियो में परिभ्रमण के सकट से बचकर शातिपूर्वक काल व्यतीत कर सकता है। पूज्यपाद ऋषि ने लिखा है—

"व्रताचरण द्वारा देवपर्याय का लाभ अच्छा है। असयम के कारण नरक के कष्ट भोगना ठीक नही है। जो छाया में बैठा हुआ तथा जो धूप में बैठा हुआ अपने मित्रादि की प्रतीक्षा कर रहा है उनमें बड़ा अन्तर है।" जब तक वज्रवृषभ सहनन आदि निर्वाणोपयोगी पूर्ण सामग्री नही प्राप्त होती है, तब तक व्रताचरण की उपेक्षा कर नरकादि में सकट को सहन करने की अपेक्षा सयम की साधना द्वारा दिव्य पद प्राप्तकर निर्वाण के योग्य सामग्री को जुटाना विवेक मानव का कर्तव्य होगा। सयमी जीवन हर दृष्टि से हितकारी है। यदि सम्यक्त्व है, तो वह सम्यक्त्व की प्राप्ति

समर्थ साधनों का सुयोग प्राप्त कराए बिना न रहेगा। अतः सम्यक्त्व की अत्यधिक भक्तिवश संयम का तिरस्कार करना अपने हाथों अपने पैरों पर कुठाराघात करना है। संयम, व्रताचरण, जिनेन्द्रपूजन आदि के प्रति विद्वेष के भाव जगाना जीव को मीठी जहर की गोली खिलाने सदृश है,' अतएव आचार्य महाराज अपने विहार में सर्वत्र संयम का मोदक प्रत्येक प्राणी को देते थे (जो मुद अर्थात् आनंद देता है उसे मोदक कहते हैं)। ऐसी आनंददायिनी सामर्थ्य संयम में है। अजितेन्द्रिय, विषयाभिलाषी, भोगोन्मुख जीवन जगत में भी विनिंदित होता है। सम्यक्त्व के नाम पर विषय भोग का हलाहल पीना और पिलाना कैसे कल्याणकारी होगा? अतएव यहां वहां न भटककर आचार्य श्री के चरणों में शांति लाभ लेने में कल्याण की प्राप्ति है।

भगवान जिनेंद्रदेव की वाणी जिन द्वादशांगों के रूप में निबद्ध की गई है, उनमें प्रथम अंग आचारांग के नाम से प्रख्यात है। आत्मा विषयक शास्त्र' आत्मप्रवाद नामक पूर्व के रूप में बताया गया है।

परमात्म प्रकाश टीका से ज्ञात होता है कि तीर्थंकर भगवान से मुख्य प्रश्न कर्ता ने साठ हजार प्रश्नों में अंतिम प्रश्न आत्मा के विषय में पूछा था। इससे आत्मा की चर्चा बालक्रीड़ा के कन्दुक सदृश समझना या समझाना योग्य नहीं है। परमात्म प्रकाश टीका में महत्वपूर्ण शब्द ये हैं "सर्वागमप्रश्नानतरं सर्वप्रकारोपादेयं शुद्धात्मानं पृच्छतीति" (पृ. २०)। ऐसे विवाद का निर्णय आचार्य श्री के इन अमूल्य शब्दों से होता है "सम्यक्त्व और चारित्र का बडा सम्बन्ध है, तब एक की ही प्रशंसा क्यों?"

एक बार महाराज ने बताया —' गिरनार जी की यात्रा से लौटते समय कानजी साधू हमको दूर तक लेने गये। सोनगढ में आकर हमने कानजी से एक प्रश्न पूछा—"इस दिगम्बर धर्म में तुमने क्या अच्छा देखा? और तुम्हारे धर्म में क्या बुरा था?" इस प्रश्न के उत्तर में कानजी ने कुछ नहीं कहा। आध घंटे तक मुख से एक भी शब्द नहीं कहा।" इस पर आचार्य श्री ने कानजी साधु से कहा —"हम तुम्हारा उपदेश सुनने नहीं आये हैं। हमें तुम्हारा भाव जानना है।"

इसके पश्चात् क्या हुआ, उसे महाराज ने इस प्रकार बताया— 'कानजी ने पूछा "महाराज! समयसार की एक गाथा में कहा है नव पदार्थ भूतार्थ हैं, यह गाथा प्रक्षिप्त मालुम पड़ती है क्योंकि जीव पदार्थ ही भूतार्थ

हो सकता है ?" इसके बाद समायिक का समय आ जाने से महाराज उठ गए। प्रश्न का उत्तर नहीं हुआ।' महाराज ने कहा "समायिक के समय मन स्थिर रहता है। उस समय हम विचार करते हैं। सामायिक के बाद हमने पूर्वापर प्रसंग की गाथाएं देखी, फिर कहा — अज्ञानी किसान को भी सम्यक्त्व खोजना है उसे सम्यक्त्व कहा मिलेगा ? जीव में मिलेगा, यही उत्तर होगा। पुनः प्रश्न होगा, जीव कहां मिलेगा ? इसका उत्तर होगा कि जीव नव पदार्थों में मिलेगा। जीव का संबंध आस्रव, बंध, संवर आदि के साथ है। जीव इकाई के सामान है शेष सब उसके साथ शून्य के समान है। इससे समयसार की गाथा प्रक्षिप्त नहीं हो सकती।" महाराज के इस विवेचन को सुनकर कानजी चुप हो गए। इस प्रबल तर्क के विरुद्ध क्या कहा जा सकता था ?

व्यवहार निश्चय का सुन्दर समन्वय

अनेक विद्वान बंधुओं ने पूज्य श्री की सेवा में निवेदन किया—"कि लोग निश्चय तप के नाम पर व्यवहार धर्म को छोड़ते जा रहे है, सो यथार्थ में ठीक मार्ग क्या है ?"

महाराज बोले—"व्यवहार फूल के सदृश है। वृक्ष में सर्वप्रथम फूल आता है। बाद में उसी पुष्प के भीतर फल अंकुरित होता है और जैसे जैसे फल बढ़ता जाता है, वैसे वैसे फूल संकुचित होता जाता है, और जब फल पूर्णवृद्धि को प्राप्त हो जाता है, जब पुष्प स्वयं पृथक हो जाता है। इसी प्रकार प्रारम्भ में व्यवहार धर्म होता है, उसमें निश्चयधर्म का फल निहित रहता है। धीरे धीरे जैसे निश्चय तप रूपी फल बढ़ता जाता है, वैसे वैसे व्यवहार तप रूपी पुष्प स्वयं संकुचित होता जाता है, अन्त में निश्चय की पूर्णता होने पर व्यवहार स्वयं घट जाता है। चारित्र पालन की अपेक्षा पहले निश्चय, पीछे व्यवहार कहा जा सकता है, कारण पहले मुनिधर्म का प्रतिपादन होता है, उसमें असमर्थ के प्रतिबोधन के लिए पश्चात् व्यवहार कहा जाता है। यह बात चारित्र के बारे में ही है। सम्यक्त्व के बारे मे नहीं। पहले सम्यक्त्व मिथ्यात्वी जीव के होता है अतः उसके पूर्व मे व्यवहार लागू होता है, पश्चात् निश्चय होता है।"

आचार्य महाराज ने जो व्यवहार को पुष्प और निश्चय को फूल के रूप में समझाया, वह बड़ा सुन्दर कथन है। निश्चय की वृद्धि होने पर व्यवहार स्वयं कम होते होते घट जाता है, छोड़ा नहीं जाता है।

महाराज ने कहा—"द्रव्यानुयोग मार्ग का निश्चय कराता है। चरणानुयोग पाव सदृश है। मार्ग का निश्चय करके यदि पाव न हिलाए जाँय, तो लक्ष्य पर कौन पहुच सकता है।"

एक दिन महाराज के सामने यह चर्चा चली कि आज का जमाना खराब है, शिथिलाचार का युग है। पुराना रग ढग बदल गया, अतः महाराज को भी अपना उपदेश नए ढग का देना चाहिए। महाराज बोले—"कौन कहता है जमाना खराब है। तुम्हारी बुद्धि खराब है, जो तुम जमाने को खराब कहते हो। जमाना तो बराबर है। सूर्य पूर्व में उदित होता था, पश्चिम में अस्त होता था, वही बात आज भी है। अग्नि उष्ण थी, जो आज भी उष्ण है। जल शीतल था, सो आज भी शीतल है। पुत्र की उत्पत्ति स्त्री से होती थी, आज भी वही बात है। गाय से बछडा पहले होता था, यही नियम आज भी है। इन नियमों में कोई भी अन्तर नही पडा है, अब जमाना बदल गया है यह कहना ठीक नही है। जमाना बराबर है। बुद्धि में भ्रष्टपना आ गया है। अतः उसे दूर करने को पापाचार के त्याग का उपदेश देना आवश्यक है।"

कितना मार्मिक उत्तर है यह। ऐसे ही मार्मिक उत्तर कठिन से कठिन, जटिल से जटिल प्रश्न के समाधान में पूज्य श्री के द्वारा प्राप्त होते है।

इतना होते हुए भी महाराज विवेक के काश में अपने नियमो पनियमो को ऐसा रखते है, जिससे लोगो को कष्ट भी न हो तथा उनके सिद्धात का व्याघात भी न हो।

वृत्ति परिसख्यान तप के अनुभव

एक बार की बात है। महाराज वृत्ति परिसख्यान तप में बडी कठिन प्रतिज्ञाए लेते थे, और उनके पुण्योदय से प्रतिज्ञा की पूर्ति होती थी। एक दिन महाराज ने प्रतिज्ञा की थी, आहार के लिए जाते समय यदि तत्काल प्रसूत बछडे के साथ गाय मिलेगी तो आहार लेंगे। यह प्रतिज्ञा उनने अपने मन के भीतर ही की थी और किसी को भी इसका पता नही था। अन्तराय का उदय नहीं होने से ऐसा योग तत्काल मिल गया और महाराज का आहार निरतराय हो गया।

एक समय उनने यह प्रतिज्ञा की, कि कोई जवाहरात थाली में रख-कर पडगाहेगा, तो आहार लेंगे, अन्यथा उपवास करेंगे। यह घटना कोल्हापुर की है। उस दिन वहाँ के नगर सेठ के मन में थाली में बहुमूल्य जेवर जवाह-रात रखकर पडगाहने की इच्छा हुई। अत यह योग मिल गया। दातार

मुनि श्री वधमान सागर महाराज ।

सेठ को उत्तम पात्र का आहार मिला, इस प्रसन्नतावश और आहार निरन्तराय हो जाय इस चिन्तावश सेठजी को यह ध्यान नहीं रहा कि मैं बहुमूल्य आभूषणों आदि को उठाकर भीतर रख दूं। वे बाहर के बाहर ही रह गए ज्योंही महाराज का आहार प्रारंभ हुआ, कि सेठजी को अपनी बहुमूल्य सामग्री का स्मरण हो गया। उस समय उनकी मानसिक स्थिति अद्भुत थी। यहाँ उत्तम पात्र की सेवा का श्रेष्ठ सौभाग्य था और वहाँ हजारों का धन जाने की आशंका हृदय को व्यथित कर रही थी। आचार्य महाराज की दृष्टि में ये सब बातें पहले से ही थीं। उस समय सेठजी की मनोव्यथा देखकर महाराज के मन में दया का जागरण हुआ। अतः भविष्य में उनने ऐसी प्रतिज्ञा न करने का निश्चय किया। आहार के बादही सेठजी बाहर आए तो वहाँ आभूषणों की थाली नहीं थी। इस बीच में क्या हुआ था, जो उपाध्याय वहाँ आया था उसकी दृष्टि सौभाग्य से आभूषणों पर पड़ गई थी अतः उसने अपने विवेक की प्रेरणा से उस सामग्री को पहले ही सुरक्षित स्थान पर रख दिया था, इससे कुछ भी क्षति नहीं हुई।

उनके अन्तःकरण में दूसरे के दुःख में यथार्थ अनुकम्पा का उदय होता है। एक दिन वे कहने लगे—"लोगों की असंयम पूर्ण वृत्ति को देखकर हमारे मन में बड़ी दया आती है, इसी कारण हम उनको व्रतादि के लिए प्रेरणा देते हैं। जहा जिस प्रकार के सदाचरण की आवश्यकता होती है, उसका प्रचार करने की ओर उनका ध्यान जाता है। बेलगाव, कोल्हापुर आदि की ओर जैन भाई ग्रहीत मिथ्यात्व के फेर में थे, अतः महाराज उस घर में ही आहार लेते थे जो मिथ्यात्व का त्याग करता था। उनकी इस प्रतिज्ञा के भीतर आगम के साथ सुसंगति थी। मिथ्यात्व की आराधना करने वाला मिथ्यात्वी होगा। मिथ्यात्वी के यहा का आहार साधु को ग्रहण करना योग्य नहीं है। उसके श्रद्धादिगुणों का सद्भाव भी नहीं होगा।

उत्तर प्रान्त में शिथिलाचार सुधारने हेतु प्रतिज्ञा

अब संयम का सूर्य दक्षिणायन के बदले उत्तरायण होने जा रहा था। उत्तर की ओर जो खान पान में शिथिलता थी, उसका सुधार किया जाना जरूरी था। प्रायः प्रत्येक घर में पानी भरने का कार्य जो व्यक्ति करता है वह मांस भोजी रहा करता था। उसके घर में और भी अशुद्धताएं हो जाया करती हैं, जिनका उसे अपने हीन कुल के कारण ध्यान नहीं होता है। जैसे चमार के हाथ का पानी पीने वाला ऐसा पानी नहीं प्राप्त कर सकेगा, जिसका

घगड़े से सम्बंध न हो। मूल बात इतनी है,हीन आचरण और हीन संस्कार वाले वर्ग के हाथ का जल यदि भोजनालय में आता है और उससे आहार बनता है तो वैसा अशुद्ध जल निर्मित आहार महाव्रती साधु की श्रेष्ठ अहिंसा की साधना के अनुकूल कैसे होगा - यह बात दूर तक सोचकर महाराज ने आगे यह प्रतिज्ञा की थी कि जो शूद्र जल का त्यागी होगा, उस जैनी के ही हाथ का आहार लेंगे।

उक्त नियम का महत्व

कोई कोई यह सोचते है कि साधु को जहां भी योग्य भोजन मिला उसे लेने में आना कानी नही करना चाहिये। यह विचार महाव्रती की श्रेष्ठ वृत्ति के प्रतिकूल है। जिनेन्द्र की भक्तियुक्त तथा जिनवाणी को प्राण माननेवाले व्यक्तिके द्वारा ही शुद्धि रीति से जल-गालन, निर्दोष आहार बनाना आदि का कार्य बनेगा। उसमें ही दाता के सात गुण होगे, वही नवधाभक्ति कर सकेगा। दूसरा आदमी अपनी भिन्न धार्मिक श्रद्धा तथा आचरण के कारण दाता के गुण से हीन होगा। कदाचित् तर्क के लिये नियमो की लम्बी सूची के द्वारा ऐसी व्याख्या बना भी दें जिससे शूद्र का नाम न लेना पड़े तो भी कार्य नही बनता, कारण सर्वसाधारण में जो प्रचलित अर्थ शूद्र शब्द से ज्ञात होता है, वह उस लम्बी सूची के द्वारा सिद्ध नही होता। गृहस्थ यदि स्वय अशुद्ध आहार करे और साधु को लक्ष्य करके ही शुद्ध बनावे तो वह भी योग्य नही है। अमृतचंदसूरि ने पुरुषार्थ सिध्युपाय मे लिखा है कि श्रावक "कृतमात्मार्थं मुनये ददाति" (१७४) अपने लिए बनाये गये आहार को मुनिराज को दान करता है। अतः गृहस्थ को शुद्धाहार का भोजी होना आवश्यक है। आहार में सर्वत्र व्यापक तत्व के रूप में जल ही पाया जाता है, जल का नियम होने से अनेक प्रकार के अशुद्ध पदार्थों के सेवन का सबध अनायास टूट जाता है। ऐसे अनेक कारण थे, जिन पर गहरा मनन चिंतनकर महाराज ने उत्तर की ओर विहार करते समय शूद्र जल त्याग की प्रती। दातार के लिये आवश्यक नियम कर दिया। इसी प्रकार, सुसंस्कारों के प्रचारार्थ यज्ञोपवीत ग्रहण को भी आवश्यक बताया।

आचार्य श्री का प्राण आगम है। आगम तीर्थंकर भगवान की वाणी है। तीर्थंकर भगवान सर्वज्ञ होने पर ही धर्म की देशना करते हैं। उनके निर्दोष आगम के अनुसार आचार्य श्री ने नियमादि का प्रचार किया। किन्तु आज की राष्ट्रीय पद्धति के भक्तों की समझ में यह आए

बिना न रहेगा, कि यह आचरण आचार्य श्री के महान औदार्य के अनुरूप नहीं है। यह भ्रम है अतः शूद्रों के उद्धार के विषय में पूज्यश्री के विचारों की चर्चा कर देना उचित जचता है, जिससे पता लगेगा कि शूद्रों का सच्चा हितचिंतक तथा उद्धार करने वाला कौन है ?

एक बार महाराज से पूछा–"महाराज हरिजनों के उद्धार के विषय में आपका क्या विचार है ?"

हरिजनों के प्रति प्रेम पूर्ण दृष्टि

महाराज कहने लगे—"हमें हरिजनों को देखकर बहुत दया आती है। हमारा उन बेचारों पर रंचमात्र भी द्वेष नहीं है। हम गरीबी के कारण वे बेचारे अपार कष्ट भोगते हैं। हम उनका तिरस्कार नहीं करते हैं। हमारा तो कहना यह है उन दीनों का आर्थिक कष्ट दूर करो, भूखों को रोटी दो। तुमने उनके साथ भोजन कर लिया तो इससे उन बेचारों का कष्ट कैसे दूर हो गया?

वे तथा अन्य साधु सभी हमारे भाई हैं

उनने कहा—"भंगी आदि सब हमारे भाई हैं। सब पर दया करना जैनधर्म का मूल सिद्धांत है। अन्यमती सभी साधु भी हमारे भाई हैं। हम पूर्व में कई भव नीच पर्याय को धारण कर चुके है। हरिजनों के प्रति हमारा द्वेष भाव नहीं है।" उनने कहा—"तुम कई मंजिलेवाले भवनों में रहो और वे झोपड़ी में पड़े रहें। वे आवश्यक अन्नवस्त्र भी न पा सकें। इसकी फिकर न करके तुम उनके साथ खाने को कहते हो। साथ में खाने से आत्मा का उद्धार नहीं होता है। जीवन का उद्धार होता है, पाप का त्याग करने से। उनको शराब, मांस, मधु सेवन का त्याग कराओ। निरपराधी जीव की हिंसा का त्याग कराओ। उनकी गरीबीका कष्ट दूर करो। प्रत्येक गरीब को उचित भूमि दो, इसके साथ शर्त हो, कि वह मद्य, मांस, शिकार का त्याग करे तथा निरपराध जीवन का वध न करे।"

शूद्रों का सच्चा उद्धार कैसे हो ?

महाराज ने यह भी कहा—"बेचारे शूद्रों तथा गरीबों का उद्धार राजसत्ता कर सकती है। वह हमसे पूछे तो हम उसके उद्धार का सच्चा मार्ग बतावें।" महाराज ने जयपुर में जब चातुर्मास किया था, उस समय अस्पृश्योद्धार के नाम पर बड़े बड़े लोगों ने मेहतरों के यहा का मैला एक दिन साफ किया था, उस समय जयपुर का एक चतुर मेहतर कह रहा था—"महाराज ये लोग हमें

कुछ लेते देते नही है, और अब हमारी रोजी छीनने को भी तैयार हो रहे है ।"

महाराज ने कहा—"जब हम निरन्तर एकेन्द्रिय जीवो तक का रक्षण करते है, तब बेचारे पचेन्द्रिय मानव पर्यायवाले गरीब भाइयो के हित का ध्यान स्वय सदा आता है । उनका सच्चा उद्धार उनको सदाचार पथ में लाने म और उनका भूमि देकर अजीविका की व्यवस्था करने में है ।"

पूज्य श्री ने अपने उपदेश द्वारा अनेक हरिजनो का सच्चा उद्धार किया है । पाप प्रवृत्तियो का त्याग ही आत्मा को ऊचा उठाता है । महाराज के प्रति भक्ति करने वाले बहुत से हरिजन मिलेंगे । उनने अपनी करुणा वृत्तिद्वारा सभी दीन दुखी जीवो को सत्पथ पर लगाया है ।

उद्धार का भाव, जीवन को पवित्र बनाना

लगभग आठ वर्ष पूर्व हमें शेडवाल (रत्नत्रयपुरी) में आचार्य महाराज का व्रतधारक शूद्र शिष्य मिला था । उसने मद्य मास आदि का त्याग कर अष्ट मूल गुण लिए थे । वह रात्रि भोजन नही करता था यद्यपि आजकल बडे–बडे धार्मिक परिवार के लोग लक्ष्मी के मद में आकर इस जैन कुल परम्परागत प्रसिद्ध क्रिया को भूल गये है । उस हरिजन भाई का जीवन बडा सुन्दर था । वह कहता था में अष्टमी चतुर्दशी को व्रत करता हू । आज के हरिजन भक्त बनने वाले जैन भाई ऐसे मिलेंगे जिन्हे दूसरो को व्रत पालन करते देख कष्ट होता है । इतने महान अव्रती वे बन गये है । हमें अनेक धनी मानी परिवारो के व्यक्तियो का निकट जीवन देखने का मौका मिला है जो समाज सेवा और लोक के अहकार का मुकुट मस्तक पर बाधे हुए आनदित होते है । किन्तु प्राथमिक स्थिति वाले जैन के लिए कुल परम्परागत क्रिया यें उनमें विलुप्त होती जा रही है । ऐसे लोग इस हरिजन भाई के जीवन को अपना गुरु बनावें तो कल्याण हो ।

सहभोजन आदि से आत्मा का उत्थान मानना भ्रम है ।

जिनने साथ खाने पीने तथा वैवाहिक सबध द्वारा आत्मा का उद्धार माना है उनकी आत्मा पुद्गल के पक में आकठ निमग्न प्रतीत होती है, कारण आचार्य अमृतचद ने तत्व को निवृत्ति रूप बताया है । भोग और विषय सेवन से आत्मा का उद्धार [illegible] इस पागल जीव ने नरक निगोद आदि में अनत काल बिता[illegible] हरिजन भाई यद्यपि अब स्वर्गवासी हो [illegible] का कथन

आज भी प्रकाश देता है। वह कहता था—"आचार्य महाराज ने मेरा सच्चा उद्धार कर दिया मेरी आत्मा बहुत सुखी है, मेरा उद्धार गुरु महाराज ने व्रत देकर कर दिया। उनके उपकार को मैं जन्म जन्मांतर में भी नहीं भूलूंगा। मेरी यह जरा भी लालसा नहीं है कि मैं बड़े लोगों के साथ भोजन करू या वे मेरे साथ भोजन करें इससे आत्मा का उद्धार क्या होगा?"

यथार्थ में आचार्य श्री का शरीर जिस तरह दिगम्बर है और उस पर कोई आवरण या आडंबर नहीं है इसी प्रकार उनकी प्रवृत्ति और उपदेश में पाखंड, दंभ या प्रदर्शन पटुता नहीं है। उनके कार्यों में घृणा या दुर्भाव की कल्पना अज्ञान की बात है। वे सत्य और अहिंसा समर्थित आगमानुकूल कार्य करने में जनता के मत से प्रभावित नहीं होते। सच्चा नेता तो वही होता है जो बीमार जनता की कुरुचि की उपेक्षा कर उसे स्वस्थ बनाने वाली उपदेश रूपी औषधि देने में भय नहीं खाता।

महाराज ने दक्षिण के लोगों में कुदेव भक्ति रूपी रोग देख उसके त्याग रूप औषधिदान द्वारा लोगों की श्रद्धा निर्मल की थी। उत्तर के लोगों में शुद्ध आहार पाने में शिथिलता की वृद्धि देख उनने शूद्रजल त्याग करने वाले के हाथ का जल पीने की प्रतिज्ञा लेनेवाले के हाथ से आहार लेने का नियम रखा था। इस कार्य में जिन शूद्रभक्त लोगों को कटुता और दुर्भावना का सद्भाव दिखता था उनका भ्रम निवारण आचार्य श्री की वर्तमान प्रवृत्ति से हो जाना चाहिये। आजकल ब्राह्मणों तक में मांस और सुरापान का प्रचार होते देख उनने यह नियम लिया है कि वे जिन भगवान की आराधना करने वाले के हाथ का जल ग्रहण करने वाले से ही आहार लेंगे।

स्वावलंबी जीवन को प्रेरणा

उनके इस नियम ने स्वावलंबी जीवन को बहुत प्रेरणा दी है। बड़े से बड़े परिवार के नरनारी अपने हाथ से भरकर पानी लाने में लज्जित नहीं होते। झूठी प्रतिष्ठा के नाम पर परावलंबन की प्रवृत्ति को बदलकर स्वावलंबन की उज्वल शिक्षा प्रदान की है।

इस प्रसंग में एक जापानी युवक की बात लिखना उपयोगी प्रतीत होता है। एक भारतीय बाबू के यह वर्तन मांजने वाला नौकर

जापानी का अनुभव

नही आया इससे वे बडे परेशानसे दिख रहे थे। इतने में पडोस के जापानी सज्जन उस बाबू के यहा आये और अपने हाथ से उसका बर्तन मांजकर कहने लगे, 'कि आपके लिये स्वावलबन की भूल सेवक का आश्रय लेना अमगल रूप है।" उसने कहा, "महाशय! चोरी दुराचरण आदि बुरे कामो के करने में सकोच होना चाहिए। अपने हाथ से अपना काम करने में सकोच करना बडी भारी भूल है, तुम्हारी यह नियत रहती है कि कोई हतभाग्य मिल जाय जो तुम्हारी सेवा करे। दूसरो को दास देखने वाला स्वय दासतापूर्ण जीवन बिताता है।" अब्राहमलिकन ने यह कहा था "मै दास नही बनना चाहता इसलिए मै स्वामी भी नही बनूगा।"[१] इस दृष्टि से आचार्य श्री की प्रतिज्ञा शरत्चद्र के समान चमकती है।

कोई कोई अपने को सर्व विद्या पारगत मान कहते है, महाराज को ऐसी लोकोत्तर बातें यहां सूझती है शास्त्र, में ऐसी पद्धति नही देखने में आती है ?"

सयम तथा जिनेंद्र भक्ति द्वारा अपूर्व दृष्टिलाभ

इस सदेह का सामाधान कठिन नही है। विचित्र करता शक्तियो का विकास जिनेन्द्र भक्ति और सयम साधना के द्वारा हुआ करता है। सयमी जीवन के प्रशान्त क्षणो में बडे महत्व की बातें निर्भय आत्मा में स्वय प्रकाशित होती है जिन्हें बडे बडे शास्त्रज्ञ नही जानते। भारतीय जीवन में जादूगर के समान जागृति करने वाले गान्धी जी का यह अनुभव महत्व पूर्ण है–

गांधी जी का अनुभव

मैने अपने जीवन में जो भी अद्भुत कार्य किए हैं, वे तर्क से प्रेरित होकर नही किए है, किन्तु निसर्ग प्रवृत्ति (instinct) से वे हुए हैं। सन् १९३० की डाडी की नमक यात्रा को ही लीजिए। मुझे इस बात की तनिक भी शका नही थी, कि नमक कानून को भग करने से वह किस प्रकार समाप्त हो जायगा। प० मोतीलाल नेहरू तथा अन्य मित्र घबडा रहे थे और वे यह नही

---

१ As I would not be a slave, so I would not be a master, who ever differs from this to the extent of difference is no democract.

RadhaKrishnan. 'Religion and society' p. 89

जानते थे, कि मैं आगे क्या करूंगा। मैं भी उनको कुछ नहीं कह सकता था, कारण मुझे भी इस बात का पता न था। किन्तु प्रकाश के सदृश वह विचार आया और तुम्हे मालुम है कि वह सारे देश को एक छोर से दूसरे छोर तक हिला देने में पर्याप्त था"[१]

महान तपश्चर्या द्वारा जब अनादि के कर्मों का ध्वंस होकर आत्मा के अनंतगुण अभिव्यक्त हो जाते हैं तब विशेष पदार्थों का बोध हो जाना कैसे आश्चर्यप्रद होगा ? सांख्य दर्शन में सात्विक गुण को प्रकाशक कहा है---"सत्वं लघुप्रकाशकम्"।

अहिंसा पूर्ण निर्दोष और श्रेष्ठ तपश्चर्या के क्षेत्र में आचार्य श्री का अप्रतिम स्थान है। कठिन से कठिन स्थिति में धैर्य को धारण करते हुए आत्मत्व के प्रकाश द्वारा जीवन को संस्कृत बनाना उनकी विशेषता है। जयपुर में खानियों की नशियां में पूज्य श्री ने निवास किया था। एक दिन

जयपुर में भयंकर संकट आने पर अपार स्थिरता

नशिया के द्वार को किसी भाई ने भूल से बन्द कर दिया, पवन पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुंचने से महाराज को दम घुटने से मूर्छा आ गई। उसके पूर्व में चिल्लाकर दरवाजा खुलवा लेना या बाहर जाने के लिए हो हल्ला करना उनकी आत्मनिष्ठा पूर्ण पद्धति के प्रतिकूल है। अतः भीषण परिस्थिति आने पर प्रतीकार के स्थान में वे आत्म शक्तियो को केन्द्रित करके विपत्तियों का स्वागत करने में संलग्न हो जाते है। उनके कोष में विपत्तियों के प्रति नकार रूप शब्द का अभाव है। कुछ काल के पश्चात् जब द्वार खोला गया तब महाराज मूर्छा की स्थिति में पाए गये। ऐसी ही स्थिति समडोली ग्राम में भी हुई थी। ऐसी स्थिति में उनमें घबड़ाहट

---

१ "Whatever striking thing I have done in life, I have not done prompted by reason, but by instinct. Take the Dandi salt march of 1930, I had not the ghost of asuspicion how the breach of the salt law would work itself out, Pandit Motilal and other friends were fretting and did not know what I would do, and I told them nothing as I myself knew nothing about it. But like a flash it came and as you know it was enough to shake the country from one end to another."

L. Fischer : 'Mahatma Gandhi' P. 329.

के व्यक्तियो का देखना, बडे बडे लोकसेवको के स्वागतार्थ लाखो व्यक्तियों के देखने को जाने में और आत्मशांति के लिए शांतिसागर महाराज के पास दर्शनार्थ जाने में बडा अतर है। यहा दर्शन का भाव चितामणि तुल्य विभूति का दर्शन कर आत्मा को अक्षय सुख के पथ में लगाना है।

आचार्य श्री का सघ बढता हुआ अतिशय क्षेत्र दहीगाव तथा नाते-पुते होते हुए फलटण पहुचा। उनने वहां के भव्य जिनालयो का दर्शन किया। फलटण के राजा साहब ने आकर महाराज का दर्शन करके अपने को कृतार्थ माना। धर्म की अच्छी प्रभावना हुई।

कुम्भोज चातुर्मास

इसके अनतर सघ का शुभागमन अतिशय क्षेत्र बडगांव की तरफ हुआ। वहां से चलकर सघ बारामती पहुचा। उस समय वहा पचकल्याणक महोत्सव था। आचार्य श्री के अलौकिक पुण्य से वह महोत्सव चिरस्मरणीय हो गया। पश्चात् कोल्हापुर सागली की तरफ विहार करते हुए महाराज बाहुबलि, कुम्भोज पहुचे। वहा ही उनने १९२७ सन् का अपना वर्षायोग व्यतीत किया। बहुसख्यक श्रावक, श्राविकाओ ने गुरुदर्शन का लाभ ले पुण्योपार्जन किया। अनेक व्यक्तियो ने प्रतिमा स्वरूप व्रत ग्रहण किए थे।

का लेश मात्र भी नही था। मेरुवत स्थिरता थी। एक बार ज्येष्ठ की भीषण उष्णता के समय मध्यान्ह की सामायिक के पश्चात महाराज बडवानी की ओर डामर की सडक पर लगभग २०० मील पैदल गए थे। पृथ्वी साक्षात अग्नि स्वरूप प्रतीत होती थी। उस समय वे यही सोचते थे कि कर्मों के सताप की अपेक्षा यह ताप कुछ भी नही है। अत उसकी उपेक्षा करते हुए ये वासनाओ के विजेता आध्यात्मिक वीर शिरोमणि आगे बढते जा रहे थे। इस उष्णता ने उनके चिर[1] नीरोग शरीर के पीछे नेत्रो में व्याधि उत्पन्न कर दी। किन्तु नेत्रो की व्याधि के स्थान में आत्मा में लगी हुई कर्मों की व्याधि का उन्हे विशेष ध्यान है और इसलिए आत्मा की नीरोगिता के हेतु वे जिनवाणी का रसायन सेवन करते है और आत्मा के पोषण को सतत तत्पर रहते है। वे किसी भी मूल्य पर आत्मा को निर्बल नही बनाना चाहते है। आत्मा का पोषण होता है तो वे मृत्यु को परम उपकारी बधु मानते है। उनकी प्रिय वस्तु वही है, जो आत्मा की शक्ति का सवर्धन कर उसे नीरोगिता प्रदान करती है। इसी दृष्टि की प्रधानता वश उनने उत्तर प्रात के विहार में भयकर शीत तथा उष्णता की व्यथा को विना मानसिक क्लेश के सहन किया है।

प्रतापगढ में महाराज का चातुर्मास था। शरीर में चर्मरोग हो गया था। 'शरीर व्याधि मदिरम,' उसमें रोगो को आने का कोई समय या मुहूर्त नही है। एक गुरुभक्त ने वाष्प (Steam) के प्रयोग द्वारा चिकित्सा की। वाष्प का वेग मस्तक को स्पर्श कर गया, तत्काल वे मूर्छित हो गए। दृष्टि फिर गई। जिव्हा बाहर निकल आई। सब लोग घबडा गए। कुछ समय बाद चैतन्य आया किन्तु महाराज के मुख से काराहना, व्यथा या पीडा का सूचक कोई भी शब्द नही निकला था। उनकी भेद विज्ञान तथा वैराग्य की धारा इतनी सच्ची और सप्राण है, कि वे सोते, जागते, मूर्छित अवस्था में भी शरीर के प्रति ममता नही दिखाते।

इस प्रकार अपनी अद्वितीय आत्मनिष्ठा और महाव्रत की श्रेष्ठ समाराधना के फलस्वरूप उनका अद्भुत विकास हो रहा था। सर्वत्र उनका सुयश फैल रहा था। अन्य लोग उनके दर्शन के लिए सर्वत्र लालायित हो रहे थे। यह दर्शन राजनीति के नेताओ का दर्शन नही था। यह तरन तारन श्री गुरु की मनोयोग तथा भक्ति पूर्वक वदना थी। राज परिवार

से व्यक्तियो का देखना, बडे बडे लोकसेवको के स्वागतार्थ लाखो व्यक्तियों के देखने को जाने में और आत्मशांति के लिए शातिसागर महाराज के पास दर्शनार्थ जाने में बडा अतर है। यहा दर्शन का भाव चिंतामणि तुल्य विभूति का दर्शन कर आत्मा को अक्षय सुख के पथ में लगाना है।

आचार्य श्री. का सघ बढ़ता हुआ अतिशय क्षेत्र दहीगाव तथा नाते-पुते होते हुए फलटण पहुचा। उनने वहांके भव्य जिनालयो का दर्शन किया। फलटण के राजा साहब ने आकर महाराज का दर्शन करके अपने को कृतार्थ माना। धर्म की अच्छी प्रभावना हुई।

कुम्भोज चातुर्मास

इसके अनतर सघ का शुभागमन अतिशय क्षेत्र बडगाँव की तरफ हुआ। वहाँ से चलकर संघ बारामती पहुँचा। उस समय वहा पचकल्याणक महोत्सव था। आचार्य श्री के अलौकिक पुण्य से वह महोत्सव चिरस्मरणीय हो गया। पश्चात् कोल्हापुर सागली की तरफ विहार करते हुए महाराज बाहुबलि, कुम्भोज पहुचे। वहा ही उनने १९२७ सन् का अपना वर्षायोग व्यतीत किया। बहुसख्यक श्रावक, श्राविकाओं ने गुरुदर्शन का लाभ ले पुण्योपार्जन किया। अनेक व्यक्तियो ने प्रतिमा स्वरूप व्रत ग्रहण किए थे।

तीर्थ-पर्यटन

शिखर जी की वंदना का विचार

इस अवसर पर बंबई के धर्मात्मा तथा उदीयमान पुण्यशाली सेठ पूनमचंद घासीलाल जी जोहरी के मन में आचार्य श्री शांतिसागर महाराज के संघ को पूर्ण वैभव के साथ सम्मेदशिखर जी की वंदनार्थ ले जाने की मंगल भावना उत्पन्न हुई। उनने गुरुचरणों में आकर प्रार्थना की। आचार्य श्री ने संघ को शिखर जी जाने की स्वीकृति प्रदान कर दी। वैसे पहले भी महाराज की सेवा में शिखरजी चलने की प्रार्थना की गई थी, किन्तु प्रतीत होता है, कि काललब्धि उस समय नहीं आई थी और यही पुण्य निश्चय की मंगल-वेला थी, इससे आचार्य महाराज की अनुज्ञा प्राप्त हो गई। यह निश्चय जिसे भी ज्ञात हुआ, उसे आनन्द और आश्चर्य दोनों प्राप्त हुए। आनंद होना तो स्वाभाविक है, कारण धार्मिक समुदाय शिखर जी के आध्यात्मिक महत्व को सदा से मानता चला आ रहा है क्योंकि वहाँ से सदा तीर्थंकर ने निर्वाण प्राप्त किया है, तथा आगामी भी निर्वाण स्थल को महत्ता शिखरजी को ही प्राप्त होगी। यह तो हुंडावसर्पिणी काल का प्रभाव है जो चार तीर्थंकर दूसरे स्थान से मुक्त हुए। उनमें वृषभनाथ तीर्थंकर का कैलाश पर्वत से मोक्ष हुआ। जिनसेन स्वामी ने भगवान वृषभदेव को सहस्त्रनाम पाठ में महादेव लिखा है:—

"महाध्यानपतिर्ध्याता महाधर्मा महाव्रता
महाकर्मारिरात्मज्ञो महादेवो महेशिता"

महामुन्यादिशतम ॥ ७ ॥

हमें तो प्रतीत होता है, कैलाशवासी शंभू महादेव भगवान वृषभनाथ हे। हिन्दू पुराणों को वैज्ञानिक तथा समन्वयशील दृष्टि से देखनेवाले व्यक्ति उक्त कथन का समर्थन करेंगे। अंगदेशीय चंपापुरी से वासुपूज्य भगवान का मोक्ष हुआ। नेमिनाथ प्रभु ने गिरनार को अपना निर्वाण धाम बनाया। महावीर प्रभु ने पावापुरी को निर्वाण भूमि बनाया। शेष बीस तीर्थंकरों तथा अगणित मुनियों ने सम्मेद शिखर से मोक्ष को प्राप्त किया। निर्वाण क्षेत्र की पूजा में पढ़ते हैं —

"बीसों सिद्ध भूमि जा ऊपर, शिखर सम्मेद महागिरी ऊपर।
एक बार वंदे जो कोई, ताहि नरक पशुगति नहिं होई॥"

यहां कोई कोई 'एक बार वंदे' के स्थान में 'भाव सहित वंदे' पाठ रखना ठीक सोचते हैं, किन्तु 'एक बार वंदे' पाठ में 'भाव सहित वंदे' का भाव विद्यमान है। 'वदना' शब्द में पूज्यता की दृष्टि पाई जाती है। जैसे 'देखना' और 'दर्शन करना' शब्द में अन्तर है। दर्शन में भी देखना होता है, किन्तु उसके साथ आदर की भावना भी रहती है। 'मैं नौकर को देख रहा था' के स्थान में कोई भी विचारक यह भाषा नही बोलेगा 'मैं नौकर के दर्शन कर रहा था।' इसी प्रकार 'वंदना' शब्द के भीतर पवित्रतापूर्ण अन्तःकरण का भाव विद्यमान है।

शिखर जी को विशेष महत्व क्यों?

यहा कोई तत्वप्रेमी यह शंका कर सकता है, कि सभी भूमियां समान हैं, शिखर जी को अधिक महत्व देने का कारण क्या है? जहां तक निर्वाण प्राप्त आत्माओं की मंगल स्मृति का सम्बन्ध है, वह कार्य किसी भी शान्त एकान्त स्थल पर संपन्न किया जा सकता है। आचार्य शांतिसागर महाराज सदृश मुनिवर तो सदा निर्वाण भक्ति पढते हुए संपूर्ण निर्वाण स्थानो को प्रणाम करते ही हैं, फिर सम्मेदशिखर जाने का महान आरम्भ किया जाना, धन खर्च होना, मार्ग का कष्ट उठाना क्या महत्व रखता है। अध्यात्म शास्त्र वाले भी बताते हैं "आत्मन्! तुम्हे बाहर तीर्थों की वदनार्थ फिरने की जरूरत नहीं है, असली तीर्थ तेरी आत्मा ही है।"

यह शंका सार शून्य है। निर्वाण भूमि के द्वारा आत्मा पर विशिष्ट प्रभाव पड़ने का खास कारण है। शिखर जी सदा से सिद्ध भूमि रूप से आगम में प्रसिद्ध है। वहा-जगत का अनंत उपकार करने वाले धर्म-तीर्थंकरों का उस समय आगमन होता है, जबकि विशुद्धता की पराकाष्ठा को प्राप्त होते हैं। उस समय उनके परमौदारिक काय होता है।

उनके अतिशयों में बताया गया है—

"योजनशत इक मे सुभिख, गगन गमन मुखचार।
नहि अदया, उपसर्ग नहि, नाही कवलाहार॥"

जिस स्थल में तीर्थंकर केवली का विहार होता है, वहां आसपास सौ सौ योजन पर्यन्त सुभिक्ष हो जाता है; इसका कारण यही है कि उनके द्वारा परित्यक्त पुद्गल के परमाणुओं में इतनी उच्चता रहती है कि सर्वत्र सुख और समृद्धि की सृष्टि का ही दर्शन होता है। जो काम अरबो मन खाद (Manure) के द्वारा संपन्न न हो, ट्रेक्टरो की राशि द्वारा

पूरा न हो, तथा जिस समृद्धि को अवतरितकर भू को शस्य-श्यामला बनाने की सामर्थ्य पुरुष प्रयत्न साध्य न हो, वह कार्य परमौदारिक शरीरधारी तीर्थंकर केवली के परम पवित्र शरीर से विनिर्गत परमाणुओं द्वारा अनायास सिद्ध हो जाता है। उन भगवान की सामर्थ्य और उनके प्रभाव के विषय में समंतभद्र स्वामी लिखते हैं कि—

"अवापदार्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुत, त्रिलोकपूजातिशयास्पदपदम्"

भगवान पार्श्वनाथ तीर्थंकर ने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय का नाश करके जो अर्हन्त का पद प्राप्त किया है, उसकी महिमा अचिन्त्य है—उसका चिंतन करने की सामर्थ्य हममें नहीं, वह अद्भुत है "उसे देखकर चकित होना पडता है तथा वह त्रिलोक के पुण्यवान प्राणियों के द्वारा वंदना की वस्तु है।" इस प्रकार अचिंत्य और अद्भुत सामर्थ्य संपन्न परमाणुओं का प्रभाव केवल केवलीभगवान के शरीर रूप परिणत होने से होता है। वह शरीर अयोगकेवली रूप उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात जिस भूमि में रह जाय, तथा जहा उसके कण कण समा जाय वहा की लोकोत्तरता मानने में कैसे संदेह हो सकता है? उनके उस परम पूज्य, परिशुद्ध शरीर का अंतिम संस्कार जिस भूमि में सदा से होता आ रहा है, उसकी विलक्षणता को कौन विचारक न मानेगा? 'निर्वाण भक्ति' में लिखा है, कि "भगवान के निर्वाण होने के पश्चात् देवताओं ने आकर निर्वाण पूजा की तथा अग्निकुमार नामक भवनवासी देवेन्द्रों के मुकुट से उद्भूत अग्नि तथा सुगंधित चंदन धूप आदि के द्वारा उनके शरीर का अंतिम संस्कार किया, तथा उस भस्म की पूजा की।" [१]

एक बात विशेष महत्व की यह है, कि मुनि जीवन की कठिन साधना का एकमात्र लक्ष्य या केन्द्र है निर्वाण को प्राप्त करना। अतएव निर्वाण, निर्वृत्ति, मोक्ष, मुक्त संबंधी सामग्री उनकी आत्मा को ध्येय की ओर

१ "परिनिर्वृत जिनेन्द्रविबुधा ह्यथाशु चागम्य।
देवतरुरक्त चंदन कालागुरुसुरभिगोशीर्षैः ॥१८॥
अग्नीद्राज्जिनदेह मुकुटानल सुरभिधूपवरमाल्यैः।
अभ्यर्च्य गणधरानपि गता दिवं ख च वनभवने ॥१९॥
पृ २२६

निर्वाण भूमि निर्वाणमुद्राधारी मुनि के लिए विशेष आलोकप्रद है

साहस पूर्वक बढने को महान मौनोपदेश देती हुई प्रेरणा करती सी प्रतीत होती है। इस दृष्टि से श्रमणों के लिए निर्वाण भूमि गमन की असाधारण उपयोगिता नही भुलाई जा सकती है। जिस भूमि पर निरतर हिमपात होता है, वहाँ शीतलता के कारण नष्ट हुई वृक्षराशि पुनः नही बढती है। उस हिमपात के प्रभाव से पृथ्वी की उर्वरा शक्ति का विपरीत परिणमन होता है। इसी प्रकार कषायाग्नि पर वीतराग भाव रूप अनत हिमपात द्वारा कर्मबीज को दग्ध करने वाली श्रेष्ठ आत्माओ के जीवन के श्रेष्ठ क्षण जहाँ व्यतीत हुए हो, जहाँ उन्होने अनंतकल्याणदाता अक्षय शाति रस की दिव्यवाणी द्वारा वर्षा की है, तथा जहाँ उनके सिद्ध होते समय परमऔदारिक शरीर का अग्नि में सस्कार किया गया हो, वहाँ वन्दक आत्मा में विशेष विशुद्धता उत्पन्न हो, उसका मोह-ज्वर मद हो तथा आत्मा की निरोगता बढे इसमें क्या आश्चर्य है, क्या असभव है क्या अतिशयोक्ति है? ऐसी महत्ता का अनुभव करना विकसित मस्तिस्क का नही प्रबुद्ध अंत करण का कार्य है।

निर्वाणस्थल परमार्थतः वीर भूमि है

निर्वाणभूमि का दर्शन करना मुनियो का कर्त्तव्य भी है। निर्वाणभूमि परमार्थत वीर भूमि है जहा सिद्ध बनने वाली वीर आत्माओ ने अनादिकाल से आत्मा को अनत दुःखो में डुबाने वाली कर्म सैन्य का आत्यतिक क्षय किया है। मुनियो की निर्ग्रंथ दीक्षा को वीर दीक्षा कहते हैं। ये ही वीर है जो कर्मो के उदय से जरा भी न घबराते हुए रत्नत्रय रूप खड्ग के द्वारा कर्मों के सहार में सतत समुद्यत रहते है। महावीरो के पराक्रम के श्रेष्ठ क्षण जिन स्थलो पर व्यतीत हुए उस जगह पहुँचकर उनका अभिवादन करना, उनकी वीर भक्ति का विशेष अग माना जायगा। अत: निर्वाण स्थल की वदनार्थ जाना अत्यन्त समुज्ज्वल कार्य है। इतना अवश्य है कि उस वदना के हेतु जाते समय मन को पापवासनाओ से धोकर जाना आवश्यक है। उसके द्वारा यदि जीवन में मधुरता न आई, पवित्रता का वसत जीवन को श्रीसपन्न न बना सका तो कहना होगा मछली सिन्धु के मध्य में रहते हुए भी प्यासी की प्यासी ही रही है। इस प्रकरण में हमें एक मुस्लिम हाजी से सुना यह शेर स्मरण आता है—

"मक्का गये मदीना गये, बन कर आए हाजी ।
आदत गई न इल्लत गई, फिर पाजी के पाजी ।।"

यथार्थ में मोही तथा पापवासनासक्त व्यक्ति की यही अवस्था होती है । वे पाजी के पाजी रहते है, किन्तु जिनका संसार निकट हो जाता है जो अतःकरण पूर्वक मोक्ष के लिये प्रयत्न करते हैं उनको कितना लाभ होता है, यह लिखने की नही, अनुभव की वस्तु है ।

'सागरधर्मामृत' में लिखा है कि गृहस्थ को तीर्थयात्रादि अवश्य करना चाहिये, क्योंकि इससे दर्शन की विशुद्धता होती है । इस दृष्टि से तीर्थयात्रा मुनि जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी है, तथा गृहस्थ के लिए भी हितकारी है । निर्वाण भूमि निर्वाण प्राप्त करने की पिपासा को जगाया करती है । वहा जाकर विचारक आत्मा हृदय से यही कहेगा–

"खुद को खुद ही में ढूढ, खुद को तू दे निकाल ।
फिर तू ही खुद कहेगा, खुदा हो गया हूँ मैं ।।"

सपूर्ण बातो को विचार कर ही शातिसागर महाराज ने शिखरजी की ओर संघ के साथ विहार की स्वीकृति दी थी। यह हर्षप्रद समाचार कार्तिक कृष्ण प्रतिपदा वीर सवत २४५३, सन् १९२७ में इन शब्दो में प्रकाश में आया "संघ विहार–शिखरजी की यात्रा—सपूर्ण दि० जैन समाज को सुनाते हुए आनन्द होता है कि हम कार्तिक के आष्टान्हिक पर्व के समाप्त होते ही मुनि, आर्यिका, श्रावक,श्राविका समवेत चतुर्विधसघ को चलाने वाले हैं । यह संघ कुमोज (बाहुबलि पहाड) कोल्हापुर दक्षिण की तरफ से निकलेगा और शिखरजी की यात्रार्थ प्रयाण करेगा । श्री रत्नत्रयपूत परमशात दशलाक्षणिकधर्म विभूषित १०८ श्री आचार्य शातिसागर महाराज मुनि सघ सहित साथ में विहार करेंगे । इस सघ में तीनचार मुनि, तीन ऐल्लक व एक क्षुल्लक व करीब पाच छह ब्रह्मचारी तथा दो तीन आर्यिकाओ ने विहार करना निश्चय कर लिया है । इनके सिवाय और भी कुछ मुनि ब्रह्मचारी ऐल्लको के इस मुनि सघ के साथ में निकलने का अदाज है । चतुर्थकाल के मुनीश्वरों का जैसा कुछ स्वरूप था ठीक वैसा ही स्वरूप परमशात आचार्य श्री १०८ शातिसागर महाराज का है । आज पर्यन्त यह सघ दक्षिण में ही विहार करता था, परन्तु भव्यों के पुण्योदय से अब आगे इनका विहार उत्तर प्रात में होगा । इस कारण सर्व ही समाज

शिखरजी विहार की विज्ञप्ति

को धर्म का लाभ होगा। (१) यह संघ दक्षिण महाराष्ट्र से श्री शिखर जी पर्यन्त पैदल रास्ते से जायगा। (२) संघ के साथ आनेवाले धर्म बांधवों की सर्व प्रकार की व्यवस्था की जायगी। किसी को किसी प्रकार का कष्ट न हो ऐसी सावधानी रखी जायगी। (३) संघ रक्षण के लिए पोलिस का इंतजाम साथ में किया गया है। (४) संघ के साथ में श्री जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा का समवशरण रहेगा। (५) संघ में धर्मोपदेश तथा धर्मचर्चा का योग रहे, इसलिए विद्वान पंडितों की योजना की गई है। (६) संघ में औषधि द्वारा रोग चिकित्सा का इंतजाम रहेगा। (७) संघ में भोजन सामान का इंतजाम रहेगा जिससे कि अतिथियों के योग्य शुद्ध सामान भी मिल सके। (८) संघ में जो जितने दिन पर्यन्त चाहेंगे, रह सकेंगे। जो पूरी यात्रा करना चाहेंगे, उनका खास इंतजाम किया जायगा। सर्व बांधवों को इस प्रकार से विशेष लाभ होना समझकर ही ऐसा इंतजाम रक्खा गया है। गरीब बांधवों की भी सर्व प्रकार की तजवीज रहेगी। इसलिए सर्व बांधवों को चाहिए कि वे इस मौके को जाने न दें। पुनः ऐसा लाभ न मिलेगा। संघ के साथ यात्रा करने वाले श्रावकों को धर्मोपदेश, सुपात्रदान, तीर्थवंदना, आदि अपूर्व लाभ होंगे। त्यागी ब्रह्मचारी जनों को विशेषता से सूचित किया जाता है कि वे संघ में आकर शामिल हों, जिससे संघ की शोभा बढ़े। इसी प्रकार विद्वानों को भी संघ के साथ शामिल होना चाहिये। यही हमारी प्रार्थना है।' समाज सेवक पूनमचन्द घासीलाल जोहरी, जोहरी बाजार, बम्बई नं० २।"

यह समाचार महत्वपूर्ण तो था ही साथ में एक नवीन बात का द्योतक था। उत्तर की ओर दिगम्बर मुनि संघ का विहार कई पीढ़ी से लोगों के कर्ण गोचर नहीं हुआ था, अतएव ऐसी शंका उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं है, कि स्वाधीन वृत्तिवाले मुनिराज का गृहस्थों के आश्रित संघ का बनकर चलने में उनकी स्वाधीनता की क्षति होगी अतः यह कार्य कैसे निर्दोष तथा उज्वल समझा जायगा?

इसका समाधान यह है कि मुनिराज अपने मूल्य गुणों का बराबर पालन करते जायँ यह मुख्य बात है, इसमें दोष नहीं आना चाहिए। संघमें सम्मिलित होकर साधर्मीयों के साथ विहार करने में रत्नत्रय धर्म की वृद्धि होती है, जिनधर्म की प्रभावना होती है, सामुदायिक पवित्र शक्ति के द्वारा

बहुत जीवो का हित होता है, अतः इसमें बाधा की कल्पना अयोग्य है। श्रावकों के अधीन मुनिराज की प्रवृत्ति नही है। मुनिराज के सुभीते को देखकर ही भक्त, सवव्यवस्थापक सेवक के रूप में कार्य करते है। स्वामी के रूप में मुनिराज शोभीत होते है। धर्मात्मा श्रावक तो उनके चरणो का दासानुदास मान सोचता है। जो गृहस्थ अपने को, स्वामी समझ अधिकार दिखाने का प्रयत्न करे, वह विचारवान श्रावक नही कहा जा सकता है।

यह सघ की पद्धति नवीन नही है। शास्त्रो में इसके उदाहरण मिलते है। पार्श्वनाथ चरित्र से ज्ञात होता है कि महाराज अरविन्द ने राज्य का परित्याग करके मुनिपदधारण कर लिया था। अपनी आयु थोडी जानकर उनने सघ को छोड कर आत्मशोधन का कार्य प्रारम्भ कर दिया। वे अनेक वैश्यो के साथ जिन मदिरो की वदनार्थ निकले थे। सघस्थ श्रावको में मुख्य श्रेष्ठिवर शशिगुप्त थे। लिखा है—

दयानिधि मुनिराज अरविन्द गुणयुक्त सब को छोडकर आत्मा को सस्कृत करने के लिए जिन भवनो की वदना के हेतु श्रीमन्त व्यापारियो के *साथ गए।*[1]

वे मुनिराज पापपक विनाशन करने में समर्थ आगमानुसार धर्म कथा को विनयशील शशिगुप्त आदि वैश्यवरो को कहते थे।[2]

पूर्व विदेह की पुडरीकणी नगरी के वैश्यनायक ने सागरसेन मुनि राज के विहार करते समय साथ दिया था, ऐसा अशग कवि कृत महावीर चरित्र से ज्ञात होता है।

आज के युग में परमार्थ भावना का प्रदीप स्नेह का अभाव होने से बुझता जा रहा है। लोग स्वय तीर्थयात्रा तथा धार्मिक प्रवृत्तियो के विषय में शैथिल्य सपन्न होते जा रहे हैं ऐसे समय पर एक व्यक्ति का विशाल धार्मिक

---

१ परिहृत्य गुणी गुणान्वय विदधान, पुनरात्मसस्क्रियाम्।
जिनचैत्यगृहाण्विवदिपुः सह सार्थेन ययौ दयानिधि ॥
॥ ३–६२ ॥

२ विनयावनतामस शशिगुप्त प्रमुखान्वाणिग्वरान्।
मलकर्दम मर्दनक्षमामशिपद्धम कथा यथागमम् ॥ ३–६४ ॥
'वादिराज 'पार्श्वनाथचरित्र'

संघ को शिखरजी तक ले जाने का निश्चय अवश्य आश्चर्यप्रद होगा। कोई यह सोचते होंगे कि संघ संचालक अनेक करोडो के अधिपति होंगे तभी बडे विशाल संघ चलाने के लिए उनने रुपयों को पानी की तरह बहाया होगा यह कोरी कल्पना ही है। संघ संचालक महानुभाव उदीयमान पुण्यशाली जिनधर्म के प्रगाढ, श्रद्धालु और आचार्य शांतिसागर महाराज के चरणों में अनन्य अनुराग रखने वाले थे। उनके पास यदि पूंजी थी, तो पुण्य की संपत्ति थी। जिनेन्द्रदेव की स्तुति में कविमनरंगलाल ने लिखा है–

"जाके मन तेरे भरन दोय ता गेह कमी कबहू न होय ॥"

संघ संचालक का परिवार

यथार्थ में उस समय संघ संचालक सेठ पूनमचंद घासीलाल जी के पास यही पूंजी ही वास्तविक पूंजी थी। इसका कारण है कि प्रतापगढ से व्यापार निमित्त ये आज से लगभग ४८ वर्ष पूर्व सं. १९६० में बंबई आये थे। उस समय इनके पास शतक प्रमाण भी रजत मुद्राएं नही थी। दो वर्ष पर्यन्त चादी की दलाली के पश्चात् घासीलाल जी ने अत्यन्त भाग्यशाली ज्येष्ठ पुत्र गेंदनमल जी के साथ मुक्ता की दलाली प्रारंभ की। संवत् १९६९ में गेंदनमलजी तथा उनके अनुज दाडिमचंद जी केवल दो सहस्र रुपया लेकर मोती लेने को अरबस्तान गए। वहा से आने पर मूलधन द्विगुणित हुआ। इनके मधुर स्वभाव, प्रेमपूर्ण वाणी, सच्चे व्यवहार से मोतीबाजार में लोगो का प्रेम बढता गया। इनकी साख खूब बढती गई। अरबस्तान में भी इन जवेरी बंधुओ का प्रेम, प्रभाव तथा प्रमाणिकता का स्थान बढता जाता था। जो भी इनके संपर्क में आता वह इनके गुणो के कारण अथवा पुण्य के कारण आकर्षित हो इनका बने बिना नही रहता था। व्यापार को चमकने के लिये जो जो साधन आवश्यक माने जाते हैं वे सब यहा थे, इससे इनका विकास हो चला। इनके बढते हुए वैभव की स्थिति प्रारंभिक अल्पतम पूंजी को देखते हुए पार्श्ववर्ती लोगो को विस्मित करती थी। सुभाषितकार का कथन अक्षरशः सत्य है 'व्यापारे वसते लक्ष्मीः'–व्यापारी लक्ष्मी का वास है। अंग्रेज कवि गोल्डस्मिथ ने इसे बुरा कहा है "जहां धन की वृद्धि होती है, किन्तु मनुष्यों के सद्गुणों का ह्रास होता है।"[१] यहाँ ऐसी स्थिति नहीं थी। देवपूजा, गुरुभक्ति

१ 'Where wealth accumulates and men decay'

स्वाध्याय, सयम, दान आदि आवश्यक कार्यों में तीनो भाई सेठ गेंदनमल जी, दाडिमचदजी, मोतीलालजी अत:करण पूर्वक सलग्न रहते थे। धन की मादकता ने उन पर कोई असर नही डाला था। लक्ष्मी ने उनके विवेक चक्षुओ का बद नही किया था, प्रत्युत लक्ष्मी ही पुण्य सचय करने वाले इस धर्मशील परिवार का अनुगमन कर रही थी। जैसे जैसे धन बढता था, वैसे वसे त्याग, परोपकार, धर्मभक्ति, नम्रता आदि सद्गुण वृद्धिगत होते जा रहे थे। प्रतीत होता है, इनके हृदय में धन के विषय में यह बात घर कर गई थी, कि पुण्यक्षय होने पर लक्ष्मी का नाश होता है, दान देने से धन कभी भी नष्ट नही होता, अतः सदा पात्र दान करना चाहिये।

मुक्ता के व्यापारी का मुक्तहस्त हो मुक्ति के हेतु मुक्ति के साधक की मुक्त भूमि दर्शनकी कामना पूरा करने का निश्चय

इनने सोचा 'आचार्य शातिसागर महाराज से बढकर विशुद्ध चरित्र, रत्नत्रयालकृत श्रेष्ठ पात्र और कौन मिलेगा? अतः उनकी सेवा में शक्ति की परवाह भी न करके धन को मुक्त हस्त होकर लगा दो।' मुक्ता के व्यापारी होने से मुक्ता युक्त हस्त तो सदा ही रहा करता था। किन्तु वह मुक्ता के बधनयुक्त रहता है, दान देते समय ही खुला हाथ होने से वह मुक्तहस्त कहा जाता है। धन कमाने का नशा किसे नही होता है, और बातो का भी नशा दुनिया म देखा जाता है, किंतु धन खर्च करने का नशा जिन्हें देखने की इच्छा हो, वे गेंदनमल जी को उस समय देखते, जब वे सघ विहार के लिए प्रार्थना करने के पश्चात् नोटो के बडल को ट्रक में रखकर व्यवस्था करने वाले श्रावको को सौपते थे। उस समय वे न नोट गिनते थे और न उन श्रावको से बिल मागते हो, जैसा कि सामान्य तथा धनिको की शैली होती है। इस प्रकार का खर्चा सचमुच बेहिसाब था, गणना रहित था। मालूम होता है, गेंदनमल जी बबई आते समय देश से लाई मात्र पूजी को अपनी सोचते थे और शेष सबको श्रेष्ठ कार्य निमित्त लगाने की वस्तु मानते थे। रत्नाकर के पास से प्राप्त रत्नो की कमाई को रत्नाकर रत्नत्रय के आकर महामुनि की अर्चा निमित्त व्यय करना वे उचित समझते थे और सोचते थे, "रत्नाकर! त्वदीय वस्तु, तुभ्यमेव समर्पये।"

ऐसे हृदय के धनी गुरुचरण भक्त, पचपरमेष्ठी की सतत आराध-

नामें निरत श्रावकोत्तम सेठ पूनमचन्द घासीलाल जवेरी संघ के प्रमुख सेवक थे। सब उनको संघपति कहते हैं, किन्तु वे अपने को संघ का सेवक सोचते थे। उनको संघ के पति, प्राण, स्वामी, संघसर्वस्व, आचार्य शांतिसागर महाराज दिखते थे।

चातुर्मास पूर्ण होते ही रत्नत्रय धर्म की प्रभावना करनेवाला धर्म-संघ पंचपरमेष्ठियों की वंदना कर प्रस्थान करने को उद्यत हो गया। दूर दूर के लोग गुरुदर्शन को आ गए। अब इन तपोनिधि गुरुराज का पुनः कब दर्शन होगा ऐसा दक्षिण की धार्मिक जनता सोचने लगी। इन अकारण बंधु का वियोग बहुत समय के लिए हो रहा है, यह विचार कर उनका हृदय बड़ा दुःखी हो रहा था। अनेक लोग तरुण, वृद्ध, नर, नारी, मंगलमय पंचपरमेष्ठी का स्मरण कर यही आकांक्षा कर रहे थे, कि पूज्य श्री की यात्रा सिद्ध संपन्न हो।

एक वृद्ध पंडित जी की सलाह

एक नामांकित वृद्ध पंडित जी पूज्य श्री के समीप आए। सभा को प्रणाम कर बड़े ममत्व के साथ कहने लगे, "उत्तर की जनता वक्र प्रकृति की है। वहां कभी दिगम्बर मुनियों का विहार हमारे जीवन में नहीं हुआ है, अब आपका संघ जाता है, इसको देखकर विद्वेषियों द्वारा विघ्न प्राप्त होगा, तब धर्म पर संकट आ जायगा। अतः यह उचित होगा कि पहले आप किसी देवता को सिद्ध कर लेवें। इससे कोई भी बाधा नहीं होगी।"

महाराज का मार्मिक तथा भक्तिरस युक्त उत्तर

महाराज बोले—"मालूम होता है, अब तक आपका मिथ्यात्व नहीं गया, जो हमें आगम की आज्ञा के विरुद्ध सलाह दे रहे हो।"

पं. जी बोले—"महाराज! आपका भाव मेरे ध्यान में नहीं आया। स्पष्टीकरण की प्रार्थना है।" महाराज ने अपने भाव स्पष्ट करते हुए पूछा "क्या महाव्रती अव्रती को नमस्कार करेगा?"

पं. जी बोले—"नहीं महाराज, व्रती अव्रती को नमस्कार नहीं करेगा।"

महाराज बोले—"विद्या या देवता सिद्ध करने के लिए नमस्कार करना आवश्यक है। देवता अव्रती होते हैं। तब क्या अव्रती को प्रणाम करना महाव्रती को क्या दोषप्रद नहीं होगा?" पं. जी जब इस युक्तिवाद को सुनते ही चुप हो गए तब महाराज ने कहा—"डरने की

क्या बात है ? हमारा पचपरमेष्ठी पर विश्वास है। उनके प्रसाद से विघ्न नहीं आयगा और कदाचित् पाप कर्म उदय से विपत्ति आ जाय तो हम उसे सहन करने को तैयार हैं।" महाराज का अदम्य उत्साह, महान युक्तिवाद और प्रगाढ आत्मविश्वास देखकर उन पं० जी का ममत्ववश शकाशील हृदय भी बदल गया और उनकी आत्मा भी कह उठी "प्रभो ! अच्छा है, अपने विहार से उत्तर की भूमि में धर्म की धारा प्रवाहित कर भव्य जीवो को उपकृत कीजिए। जिनेन्द्र देव के प्रसाद से आपका मार्ग मगलमय हो। जिन आचार्य परमेष्ठी का स्मरण नाम पाठ विघ्न विघातक होता है स्वय उनके ही मार्ग में अमगल मूर्ति विघ्न कैसे आवेंगे ? पवन के समक्ष पतग, मच्छर नही आते हैं ? पवन, पतग विरोध का एक आख्यान प्रसिद्ध है—

मगलमय आचार्य परमेष्ठी के पथ में विघ्न कैसे टिकेंगे ?

कहते है एक बार ससार की व्यवस्था में सलग्न विधाता का दरबार लगा हुआ था। उस समय मच्छर महाशय ने अपनी मुसीबत की कथा करुण शब्दो में सुनाई, कि पवन हमें सदा सताया करती है। हम किसी जीवित प्राणी के शरीर पर बैठकर अपना रस पान करते हैं, तो यह हमारे रग में सदा भग डाल दिया करती है। हमने इसका कभी भी कोई नुकसान नहीं किया है, किन्तु यह सदा हमारे साथ शत्रुता का व्यवहार करती है।

विधाता ने वादीप्रतिवादियो को दूसरे दिन उपस्थित होने का आदेश दिया। मच्छर महाशय अपनी सफलता की कल्पना में मस्त हो मन ही मन गायन में मग्न हो बहुत पहले से ही न्यायालय में बैठे थे। इतने में समय हुआ, इनका पुकारा हुआ। मच्छर ने विधाता को प्रणाम

गया। अभी लक्ष्यगत स्थान को पहुंचने में बहुत देर है। यात्रा भी पैदल है, किन्तु पवित्र पर्वतराज की मनोज्ञ मूर्ति महाराज के समक्ष सदा विद्यमान रहती थी कारण दृष्टि उस ओर थी। संकल्प भी तद्रूप था। आत्मा पर्वतराज के उन्मुख थी। प्रारम्भ में लगभग दो सौ नर नारियो, साधु साध्वियो समलकृत सघ था। आचार्य श्री शातिसागर महाराज के समान निर्ग्रन्थ मुद्राधारी रत्नत्रय समलकृत मुनित्रयी के मगल नाम नेमिसागर महाराज, वीरसागर महाराज, अनतकीर्ति महाराज थे। पायसागर नाम से भूषित ऐलक पदाधिष्ठित तीन श्रेष्ठश्रावक ऐनापुर, गोकाक तथा शिया-पुर के थे। नाम और पद में तीनो ही समान थे। क्षुल्लक मल्लिसागर थे, गलतगेवाले, पायसागर जी ज्लगाव वाले, क्षु० अनतकीर्ति कर्वी शियापुर वाले भी थे। क्षुल्लिका माता शांतिमती, ब्र०क्षु० चद्रमती, क्षु० अनंत मती नाम की तीन क्षुल्लिकायें थी। एक ब्रह्मचारिणी बाई थी। ब्र० दादा धोदे नांगली वाले, ब्र० आणप्पालेंडे ब्र० म्हैसालकर ब्र०. पारिसप्पा धोदे पायसागर जी उगाकर, ब्र देवप्पा, ब्र देवलाल ग्वालियर, ब्र हजारीलाल एटा, प. नदनलाल जी वैद्य भी साथ में थे। प नंदनलाल जी वैद्य वातपित्त कफ जन्य रोगों को दूर करने की दवा देते थे। कुछ समय पश्चात् वे ही महानुभाव निर्ग्रन्थ दीक्षा लेकर रत्नत्रय की औषधि देकर आत्मा के रोग को दूर करते हुए आध्यात्मिक वैद्य के रूप में सुधर्मसागर महाराज नाम से सर्वत्र विख्यात हुए। प. उल्फतरायजी रोहतक वाले, कीर्तनकार श्रीजिनगोडा पाटील मांगूरकर, श्री गगाराम आरवाडे कोल्हापुर, भी साथ में थे।

अपूर्व आनंद तथा सदा शुभोपयोग की प्रवृत्ति

सघ मे रहनेवाले कहते थे, ऐसा आनद, ऐसी सात्विक शान्ति, ऐसी भावो की विशुद्धता जीवन में कभी नही मिली, जैसी आचार्य श्री के सघ में सम्मिलित होकर जाने में प्राप्त हुई। आर्तध्यान और रौद्रध्यान की सामग्री का दर्शन भी नही होता था। निरतर धर्मध्यान ही होता था। शुभोपयोग की इससे बढिया सामग्री आज के युग में कहा मिल सकती है? वह रत्नत्रयधारियो तथा उपासको का सघ रत्नत्रय की ज्योति को फैलाता हुआ आगे आगे बढता जाता था। सघ में सर्व प्रकार की प्रभावक उज्वल सामग्री थी।

मनोज्ञ जिनबिम्ब, बहुमूल्य नयनाभिराम रजत निर्मित तथा स्वर्णशिला सज्जित देदीप्यमान समवशरण आदि के दर्शनार्थ सर्वत्र ग्रामीणो तथा इतरे

लोगो की बहुत भीड हो जाती थी । हजारो व्यक्ति महाराज को देखते ही मस्तक को भूतल पर लगा प्रणाम करते थे। वे जानते थे 'ये नागाबाबा साधु परमहस हैं। पूर्व जन्म की बडी कमाई के बिना इनका दर्शन नही होता है।' उन हजारो लाखो लोगो ने महाराज के दर्शन द्वारा असीम पुण्य का बध किया । बध का कारण जीव का परिणाम होता है । शुभ परिणामो से पुण्य का सचय होना स्वाभाविक है ।

वैभव सम्पन्न श्रावको से सुसज्जित इस सघ का सध्या को जहा भी विश्राम होता था, वहा बडे दूर दूर से ग्रामवासियो के आवागमन का ताता लग जाता था । इससे जगल में मगल की कल्पना साकार बन गई थी । मगलमय उद्देश्य को लेकर मगलात्मक श्रमण समुदाय सुसज्जित सघ अन्वर्थत मगलमय दिखता था ।

जहा सूर्य अस्तगत हुआ वहा आचार्य श्री आदि महाव्रती उच्चसाधुगण रुक जाते, अपनी कुटी में बैठकर आत्मध्यान में लीन हो जाते थे । योग्य समय पर विश्राम करते थे । प्रभात में सूर्योदय के प्रकाश से भूतल के आलोकित होते ही उनका विहार प्रारभ हो जाता था । लगभग सात आठ मील पहुचकर वे साधुगण शौचादि से निवृत्त होते थे । श्रावक और श्राविकाए मोटर द्वारा पहले से वहा पहुचकर आहार की पूर्ण तैयारी कर लेते थे । अस्थायी उपयोग के लिए तबू वगैरह लग जाते थे । वहा भाग्यवान श्रावक उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रो की प्राप्ति के हेतु द्वाराप्रेक्षण करते थे । तपस्वियो तथा उच्च श्रावको आदि की दानरूप वैयावृत्य द्वारा सेवा की जाती थी । तत्पश्चात् त्यागी मण्डल मध्यान्ह की सामायिक में निमग्न हो जाता था, तथा श्रावक लोग अपने भोजनादि कार्यों को करते थे । सामायिक पूर्ण होते ही महाराज का यत्रवत् विहार आरभ हो जाता था । प्रतिदिन लगभग ८ कोस जाने का क्रम रहता था ।

कोई कोई यह सोचते है, कि साधु को बहुत धीरे धीरे चलना चाहिए । इस विषय में आचार्य महाराज से एक बार मैंने पूछा था कि "महाराज जल्दी चलने से क्या साधु को दूषण नही आता है ?" महाराज ने कहा—"यत्नाचार पूर्वक चलने से दूषण नही आता है ।" वे आचार्य की आज्ञा के विरुद्ध रचमात्र भी प्रवृत्ति नही करते थे । दुर्भाग्य की बात यह है, कि उत्तरप्रात में बहुत समय से मुनियो की परपरा का लोप सा हो गया था, अत मुनि जीवन सम्बन्धी आगम का अभ्यास भी शून्य सम हो

महाराज की प्रवृत्ति आगम सम्मत है

गया, ऐसी स्थिति में अपनी कल्पना के ताने बाने बुनने वाले करणानुयोग, द्रव्यानुयोग शास्त्रों का अभ्यास करने वाले श्रावक मुनि जीवन के विषय में अपनी आलोचना का चाकू चलाया करते हैं। ऐसे ही आलोचक कुछ विद्वानों के सम्पर्क में आकर हमारा भी मन भ्रांत हो गया था, और हमने भी लगभग आठ माह तक आचार्य महाराज सदृश रत्नमूर्ति को काँचतुल्य सामान्य वस्तु समझ बैठा था। पुण्योदय से जब गुरुदेव के निकट संपर्क में आने का सुयोग मिला तब अज्ञान तथा अनुभव शून्यता जनित कुकल्पनाएं दूर हुई। दुःख तो इस बात का है कि तर्क व्याकरण आदि अन्य विषयों की पंडिताई प्राप्त व्यक्ति चरित्र के विषय में अपने को विशेषज्ञ मान उस चरित्र की आराधना में जीवन व्यतीत करने वाले श्रेष्ठ सन्तों के गुरु बनने का उपहास पूर्ण कार्य करते हैं।

एक छोटा सा उदाहरण है। सन १९४७ में पूज्य श्री का चतुर्मास सोलापुर में था। वहां वे चार माह से अधिक रहे, तब कुछ तर्कशास्त्रियों को आचार्य श्री की वृत्ति में आगम के अपलाप का खतरा नजर आया, अतः आगम के प्रमाणों का स्वपक्ष पोषक संग्रह प्रकाशित किया गया। उसे देखकर मैंने सोलापुर के दशलक्षण पर्व में महाराज से उपरोक्त विषय की चर्चा की। उत्तर में महाराज ने कहा—"हम सरीखे वृद्ध मुनियों के एक स्थान पर रहने के विषय में समय की कोई बाधा नहीं है।" उनने हमसे पूछा "यह चर्चा मूलगुण सम्बन्धी है या उत्तरगुण सम्बन्धी है ?"

मैंने कहा—"महाराज यह तो उत्तरगुण की बात है।"

महाराज बोले—"मूलगुणों को निर्दोष पालना हमारा मुख्य कर्तव्य है। उत्तरगुणों की पूर्णता एकदम से नहीं होती है। उसमें दोष लगा करते हैं। पुलाक मुनि के क्वचित कदाचित मूलगुण तक में विराधना हो जाती है।" उत्तर सुनकर मैं चुप हो गया। उस समय समझ में आया कि कई ऐसी कल्पनायें हम वर्तमान मुनि पर लादते हैं और यह नहीं जानते कि आगम परंपरा क्या कहती है ? महाराज तो जगत् के तरफ पीठ दे चुके हैं। उनके ऊपर राजनीतिज्ञों सदृश उत्तरदायित्व का भार लाद नेताओं के

राजनीतिज्ञों से प्रकाश पाने का विचार भ्रांत है

समान उनके वक्तव्यों को प्राप्त करने की कल्पना वाले भाई भूल जाते हैं कि ये आत्मोन्मुख मुनिराज दुनिया की झंझटों को छोड़ चुके हैं जिन राजनीतिज्ञों को गौरव

की वस्तु मान आज लोग उनसे प्रकाश पाने की आकांक्षा रखते हैं। और उनके पथ पर चलने की इन गुरुओं से आशा करते हैं वे बड़े अंधकार में हैं। राजनीतिज्ञों की महिमा को समझने के लिए भारत के प्रधान मन्त्री तथा कांग्रेस के अध्यक्ष पंडित जवाहरलाल नेहरू सदृश अनुभवी नेता के ये उदगार ध्यान देने योग्य हैं, इनसे पता लगेगा कि राजनीति के पंक से आत्मविकास प्रेमियों को अपना संरक्षण करना आवश्यक है। "ये नुमायशी मिनिस्टर लोग" शीर्षक निबन्ध में श्री नेहरू ने लिखा था "इंगलैंड के तीसरे जार्ज का कहना था कि राजनीति तो गुंडों का पेशा है। शरीफ आदमियों का नहीं; यह तो सच है कि हम सब लोग जिन्होंने इस कीचड़ में हाथ सान लिए हैं, कभी कभी इससे तंग आजाते हैं और कभी तो बिल्कुल नफरत और खीझ होने लगती है ·· राजनीति के पेशे में नेता बनने के लिए किसी भी ट्रेनिंग की जरूरत नहीं है। हर ऐरा-गेरा अपने देश वासियों पर शासन करने के लिए समर्थ समझा जाता है। रोमारोला ने यह सुझाव पेश किया है कि युद्ध के खिलाफ आवाज उठाने के बजाय इन युद्ध छेड़ने वालों के खिलाफ आवाज उठाई जाय और इन राजनीतिक नेताओं को निर्वासितकर दिया जाय।" (संगम मासिक पत्र पृ० ८४ दीपावली अंक वर्ष २००६)

राजनीतिज्ञों की नेहरू जी द्वारा खरी आलोचना

अतः राजनीतिज्ञों के पथपर श्रमणों के चलने की सूझ वालों को यह सोचना चाहिए कि श्रमणों की छाया में रहने वाले राजनीतिज्ञों का कल्याण है अन्यथा राज्यधुरंधरों का भविष्य जीवन-सूर्य के अस्तंगत होने के उपरांत निकृष्ट पर्याय की प्राप्ति के सिवाय अन्य नहीं होता है। नीतिवाक्यामृत में आचार्य सोमदेव ने राज्य को प्रणाम किया है जिसके फल त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ तथा काम पुरुषार्थ है - "धर्मार्थ काम फलाय राज्यानमः" (धर्म समुद्देश पृ. ७)। धर्मानुगामिनी न हो धर्म और धार्मिक सहारिणी होती हो तो राज्य को नरक का कारण कहा है—"अन्यथा पुनर्नरकायैव राज्यम्" (पृ.४०९ अन्वीक्षिकी समुद्देश सूत्र ४२)। अतः धर्मानुशासन से बाहर जानेवाली राजनीति कही जाने वाली किन्तु परमार्थतः व्याघ्र सदृश नीति वालों को धर्मानुशासितों से सदा प्रकाश प्राप्त करते रहना श्रेयस्कर है।

धर्मकी छत्रछाया में राज्यपुरुषों का कल्याण

उस राज्य शासन की भक्ति के अतिरेक वश राष्ट्रीय कामों में अपरिमित धन का व्यय किया जाना प्रसन्नता और गौरव का अंग

समझा जाता है, उनके सम्मेलनो म जाकर नेता रूपी प्रभुका दर्शन कर जीवन कृतार्थ सोचा जाता है, किन्तु रत्नत्रय धर्म की महिमा को विश्व के समक्ष प्रकाशित करनेवाले समारभो महोत्सवो आदि को अपव्यय कहा जाता है। आवश्यकता है कि जीवन की विशेपता को सोचते हुए उन सभी का स्वागत किया जाय, भक्ति की जाय जिसके द्वारा रत्नत्रय के दीप को प्रदीप्त करने योग्य सामग्री प्राप्त होती है। उस प्रिय प्रदीप की प्राप्ति के लिए चद्रगुप्त सदृश नरेशो ने विशाल साम्राज्य को भी धूल समझकर छोडा और भद्रबाहु स्वामी के निर्ग्रंथ पथ पर प्रवृत्ति की। जैनशासन में कृत कारित, अनुमोदन द्वारा पुण्य पाप का बध होना बताया गया है। दान कोई देता है, पीडा होती है दूसरे के पेट में। अद्भुत बात है। यहाँ सोचने की बात है कि हर व्यक्ति ने अपने श्रम या उद्योग से धन कमाया। उसे वह श्रद्धानुसार मोक्ष मार्ग के काम में लगाता है, तो विलक्षणदृष्टिवाले विचक्षण उसे ऐसी अमनोज्ञ बातें सुनना शुरू करते हैं, कि दूसरे व्यक्ति को कृपणराज की शिष्यता स्वीकार करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। अतः मोक्ष मार्ग के साधनो का तिरस्कार, निरादर करना श्रेयस्कर नही है।

रत्नत्रय के हेतु द्रव्य लगाना अपव्यय नही

कुछ समालोचना के शौकीन साधुओ को ही अपनी लोह लेखिनी के आक्रमण का केन्द्र बनाते समय यह नही विचारते कि समस्त व्यसनो में लिपट अत्यन्त दुराचारी दुष्ट व्यक्ति के प्रति उनके मनमें वात्सल्य पैदा होता है, उपगूहन का भी भाव जगता है, स्थितिकरण की दृष्टि उत्पन्न होती है किन्तु इस भीषण काल में असिधाराव्रत से भी भीतिप्रद दिगम्बर मुनि का जीवन बितानें वाली वीर आत्माओ के प्रति तनिक भी आत्मीयता का भाव उत्पन्न न होकर जन्म जन्मान्तर के शत्रु सदृश व्यवहार करने की कुबुद्धि उत्पन्न हो जाया करती है। साक्षरो की विपरीत प्रवृत्ति देखकर साधारण समाज अपना मार्ग निश्चय नही कर पाती है।[1]

साधुओ के आलोचको का कर्त्तव्य

इसे ध्यान में रखकर मैंने एकबार आचार्य श्री से पूछा—"शिथिलाचरण वाले साधु के प्रति समाज को या समझदार व्यक्ति को कैसा व्यवहार रखना चाहिए?"

---

१ साक्षरा विपरीताश्चेद्राक्षसा एव केवलम्।
सरस विपरीतश्चेत्सरसत्व न मुचति॥

शिथिलाचारी के प्रति क्या किया जाय ?

महाराज ने कहा—"ऐसे साधु को एकान्त में समझाना चाहिए। उसका स्थितिकरण करना चाहिए।"

मैंने पूछा—"समझाने पर भी यदि उस व्यक्ति की प्रवृत्ति न बदले तब क्या कर्तव्य है ? क्या पत्रो में उसके सम्बन्ध में समाचार छपाना चाहिए या नही ?"

महाराज ने कहा—"समझाने से भी काम न चले, तो उसकी उपेक्षा करो, उपगूहन अग का पालन करो, पत्रों में चर्चा चलने से धर्म की हंसी होने के साथ साथ अन्य मार्गस्थ साधुओ के लिए भी अज्ञानी लोगो द्वारा बाधा उपस्थित की जाती है।" महाराज के यह भी कहा था कि "मुनि अत्यन्त निरपराधी है। मुनि के विरुद्ध दोष लगाने का भयकर दुष्परिणाम होता है, श्रेणिक की नरकायु का कारण निरपराध मुनि के गले में सर्प डाला जाना था। अतः सम्यग्दृष्टि श्रावक विवेक पूर्वक स्थितिकरण उपगूहन, वात्सल्य अग का विशेष ध्यान कर सार्वजनिक पत्रो में चर्चा नही चलाएगा।"

साधु जीवन खिलवाड की वस्तु नही है

मैंने कहा—"महाराज एक धनी सेठ जी मेरे पीछे लग गये कि एक मुनिराज उनको ठीक नही लगते उनके विरुद्ध आन्दोलन करो, तब मैंने उनसे कहा एक दिगंबर मुनि का जीवन सामान्य वस्तु नही है। सर्व साधारण के समक्ष उनके विरुद्ध चर्चा का ढोल पीटना मैं ठीक नही सोचता। हा! एकान्त में उनके विषय में कडी भी चर्चा करना उचित होगा।"

मैंने यह भी कहा था—"शरीर पर फोडा होने डाक्टर उस पर चाकू मारकर उसके विकार को दूर करने मे सकोच नही करता है, किन्तु सर्व साधारण रूपी मक्खी उस पर न बैठे और घाव के जहर को न बढावे, इसी कारण उसपर पट्टी बाधकर उपगूहन की दृष्टि का उपयोग लेना लाभप्रद होगा, अन्यथा हानि की सभावना है।"

इस पर महाराज ने कहा—"ठीक है, सम्यक्त्वी श्रावक ऐसा ही कार्य करेगा।"

इस प्रसंग में यह भी चर्चा करना उपयोगी दिखता है कि कभी कभी ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो न शास्त्र जानते है, न जिनने स्वाध्याय ही किया है किन्तु वे भी बड़े बडे शास्त्रज्ञो के गुरु बनकर त्यागी और व्रती व्यक्तियो के चरित्र को दोषी कहते है और दूसरे की नही सुनते। उनको पूज्य

आचार्य महाराज की बात ध्यान में रखना चाहिये कि इस विषय को सार्वजनिक चर्चा का विषय न बनाकर योग्य चिकित्सा करना चाहिये ।

जिस प्रकार बड़े महत्व और सावधानी के साथ कोई अपनी निधि की रक्षा करता है, इसी प्रकार इस रत्नत्रय निधि भूषित आत्मा के विषय में ध्यान रखना चाहिये । आज के युग में इस पथ पर चलना यथार्थ में आग के साथ खेल करना है । दुर्दम्यवासनाओं का दमन करके उनको दास बनाने का काम लम्बी बातें करने से या आज के नेतृत्व की गद्दी पर समासीन होने से या सरस्वती सदना से सम्मान प्राप्त करने से कई गुना कठिन काम है । इस अध्यात्मकला के कार्य के आगे वैज्ञानिक प्रवीणता तथा आविस्करण कला नगन्य दिखती है ।

जिस जिनेन्द्र भक्त की दृष्टि में मुनि जीवन निधि से भी बड़ा दिखेगा, वह तो उसके साथ खिलवाड़ न कर उसके विषय में प्राणाधिक सावधानी, सतर्कता रखेगा ।

आशाधर जी ने लिखा है—

"विवेकीगृहस्थ का कर्तव्य है, कि वह जगत के बंधु जिन धर्म की परंपरा को चलाने के हेतु दिगम्बर मुनियों के उत्पन्न करने का प्रयत्न करे तथा विद्यमान मुनियों के श्रुत ज्ञानादि गुणों के द्वारा उन्नत करने के लिये प्रयत्न करे, जिस प्रकार गृहस्थ अपनी संतति की उत्पत्ति द्वारा वंशपरंपरा चलाने का प्रयत्न करता है, तथा संतान को गुणी बनाने का उद्योग करता है ।"[1] जो व्यक्ति अपने प्रयत्नों की विफलता देखकर उत्साहहीन हो रहे हैं, उनके चित्त में स्थिरता के लिए वे कहते हैं—[2]

"पंचमकाल के दोष से मुनियों के गुणों के विकाश की सिद्धि नहीं होने पर भी इस विषय में प्रयत्न शील श्रावक श्रेयोभाजन होता ही है । कदाचित गुणों के द्योतन कार्य में सिद्धि हो गई तो गुणों के द्योतन करने वाले का, साधर्मी जनों का तथा साधारण जनता का महान उपकार

---

१ जिनधर्मं जगद्बंधुमनुबद्धुमपत्यवत् ।
यतीन्जनयितुं यस्येत्तथोत्कर्षयितुं गुणैः ॥७१॥

२ श्रेयोयत्नवतोस्त्येव कलिदोषाद् गुणद्युतौ ।
असिद्धावपि तत्सिद्धौ स्वपरानुग्रहो महान् ॥७२॥

'सागारधर्मामृत' अध्याय २

होगा कारण सच्चे त्यागी के कारण ही धर्म की रक्षा, स्थिति, वृद्धि तथा सच्ची प्रभावना होती है। इससे त्यागी संख्या के निर्माणार्थ तथा उसे गुण मंडित बनाने में प्रयत्न करना चाहिये।"

वासनाओं पर अंकुश लगाना सरल नहीं है

वासनाओं का वेग बड़े बड़ों को विचलित कर देता है, अतः विचलित होने वालों की बुराईयों के विज्ञापन से अन्य मोक्षापद में प्रवृतों का मार्ग विशेष कंटकाकीर्ण हो जाता है, और नवीन मुमुक्षुओं के निर्माण में भयंकर अड़चनें होती है, अतः विवेक प्रकाश में पूर्वापर विचार कर कार्य करना चाहिये। चिकित्सक रोगी के अंग का दूषित भर सुधार करता है, जरूरत पड़ने पर वह सड़े अंग को काट भी देता है, ऐसा ही कार्य प्रायश्चित विधि में आचार्य करते हैं। इसलिये इस समस्या को तरुणाई के जोश में सुलझाने के स्थान में बड़े दूरदर्शी, मानव स्वभाव के पारखी, परमागम के प्रेमी पुरुषों के परामर्श तथा मुनियों या मुनि-तुल्य मानस वालों के साथ विचार कर सुलझाने का उद्योग करना कर्तव्य है। एक विद्वान ने लिखा है–

–"अग्नि और जल के समान वासनाओं की भी स्थिति है। वे हमारे आधीन होने पर अच्छी सेवा करते हैं किन्तु वे अयोग्य स्वामी हैं। वासनाओं को दास बनाना हितकारी है उनका दास बनना अकल्याण प्रद है।"[१]

इस दृष्टि से वासनाओं पर अंकुश प्रहार करने वाली उज्वल आत्माओं की महिमा को विषयों का दास सहज ही नहीं समझ पाता है, अतः उनके विषय में विचार करते समय श्रावकों को पूर्ण सतर्कता और सावधानी से कार्य करना चाहिए। जिनका व्यक्तित्व महान होता है, उनके समक्ष बड़े बड़े लोग स्वयं झुकाकर करते हैं। आचार्य महाराज के पवित्र व्यक्तित्व के संपर्क में जो भी पुण्योदयवश आता था, वह आत्मा के लिए अपूर्व प्रकाश पाता था अहिंसा और अपरिग्रह के प्रतीक, महाराज का संघ बढ़ता चला आ रहा था। अब संघ सांगली रियासत में आ गया। मार्गशीर्ष वदी सप्तमी को सांगली राज्य के अधिपति श्रीमन्त राजा साहब, महाराज के दर्शनार्थ पधारे उनने अवर्णनीय

---

१ " It is with our passions, as it is with fire and water, they are good servant, but bad masters. "

आनन्द प्राप्त किया। आचार्य महाराज ने सच्चे धर्म का स्वरूप बताते हुए राजधर्म पर प्रकाश डाला। सच्चे क्षत्रियो की यह जानकर बडा हर्ष होता है कि जैनधर्म का प्रकाश फैलाने का श्रेय जिन तीर्थंकरो को था वे क्षत्रिय कुलावतस ही थे। अहिंसा के ध्वज को सम्हालने वाले क्षत्रिय वीर ही रहे है। इस बात के प्रमाण वैदिक साहित्य में प्राप्त होते है कि पशु बलिदान का मार्ग ब्रम्हज्ञाता कहे जाने वाले ब्राम्हणो द्वारा पोषित था और अहिंसा को परम धर्म बता प्रेम की गगा प्रवाहित करने का श्रेय पराक्रमी क्षत्रिय नरेशो को था। यह महत्व की साथ ही साथ आश्चर्य की भी बात थी, कि जिस वीर हाथ में यम की जिव्हा समान लपलपाती तलवार रहती थी वह जीवन का मूल्य जान जीवो को अभय देता था और जो ब्रह्म की बातें बनाते थे वे जीवो को अग्नि में स्वाहा करने का जाल फैलाते थे। पुराना जाल ग्रथो में जीवित है, उपदेशो के रूप में भी विद्यमान है इस कारण आज भी अगणित जीव धर्म के नाम पर व्यक्तिगत स्वार्थ के पोषणार्थ मारे जाते है। .

दूसरे प्राणियो के प्राणो का घात करते हुए जीव अपने सुखीजीवन का निर्माण करना चाहता है, इससे बडी स्वार्थपरता (Selfishness) तथा खुदगर्जीपना (Self-centred) कहा होगा? जिनको दूसरे के दुख दर्द का जरा भी ध्यान नही है वे विशाल हृदययुक्त (Enlarged self) व्यक्ति कैसे कहे जा सकते है? इस अहिंसा तत्वज्ञान को विस्मृत करने के कारण ही बर्ट्रेंड रसेल ने धार्मिक सतो के जीवन में स्वार्थपरता, खुदगर्जीपने की दुर्गन्ध का दर्शन किया है।[1]

विवेकानद रामकृष्ण द्वारा मासाहार को प्रेरणा

प्रतीत होता है कि रक्त की धारा से परितृप्त मानी जाने वाली काली की भक्ति के कारण ही विवेकानंद सदृश विचारवान व्यक्ति भी निरामिष आहार के विरुद्ध पक्ष का समर्थन करते थे। श्री शरत् चक्रवर्ती ने लिखा है कि बेलूडमठ मे शिष्य ने स्वामी जी से पूछा था "मछली तथा मास खाना क्या उचित तथा आवश्यक है?"

स्वामी जी ने कहा—"खूब खाओ भाई। इससे जो पाप होगा वह मेरा। देख! वैदिक तथा मनु के धर्म में मछली और मास खाने का

१ Vide 'Among the Great'-Bertrand Russel
By D K. Roy PP 128-129

विधान है।"

शिष्य ने कहा— "देश में हम दोना समय मछली भात खाते हैं।"

स्वामी जी बोले— "खूब खाया कर।"[1]

श्रीरामकृष्ण परमहंस सम्बन्धी "श्री रामकृष्ण वचनामृत" (पृ० २२५) से ज्ञात होता है कि वे भी अपने शिष्य विवेकानन्द के समर्थक रहे हैं। विवेकानद ने एक व्यक्ति के मास भक्षण के विषय में स्वामी जी से चर्चा की—"इसने (भवनाथने) पान और मछली खाना छोड दिया है?"

स्वामी रामकृष्ण बोले—"क्यो रे (भवनाथ से हसते हुए) यह क्या किया? इससे कुछ नही होता। कामिनी-कांचन का त्याग ही त्याग है।"

अहिंसा की साधना के लिए विश्वविख्यात गाँधी जी तक सी० एफ० ऐंड्रूज को जीवो के प्रिय प्राणो के घात से निष्पन्न मांस सेवन करते हुए भी श्रेष्ठ अहिंसको में गिनते थे।[2] इन भिन्न भिन्न दृष्टियों के द्वारा उत्पन्न भ्राति का निवारण 'ज्ञानार्णव' के इस महत्वपूर्ण पद्य से होता है—

"हिंसा करने वालो की निस्पृहता, बडप्पन, निरीहवृत्ति, कठोरतप, काय क्लेश तथा दान व्यर्थ है।"[3] सम्राट् भरतेश्वर ने राजमडल के समक्ष अपने उपदेश में बताया था, कि जो जीव रक्षण में उद्यत है, वे ही क्षत्रिय हैं। "रक्षणाम्युद्यता येऽत्र क्षत्रियाः स्युः।" धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सम्राट् ने कहा था—"धर्मोह्यापत्प्रतिक्रिया" (४२-११५) विपत्ति का निवारण करना धर्म है। प्राणो का घात करने से बढकर और कौन विपत्ति हो सकती है। अत परमधर्म प्राणरक्षण मानना होगा। दूसरे

---

१ विवेकानदजी के संग में पृष्ठ, २६७, २६८, २६९

२ यूनान का जगतप्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात मृत्यु के एक क्षण पूर्व अपने मित्र से कहता है—"क्रीटो! मैंने एस्क्लिपियस को एक मुर्गा चढाने का प्रण किया है, उसे चढाना तू भूल मत जाना।" क्रीटो ने कहा—"यह हो जायगा।"

'महात्मा साक्रटीज', पृ० २३५।

३ 'निस्पृहत्व महत्व च नैराश्य दुष्टकर तप।
कायक्लेशश्च दान च हिंसकानामपार्थकम् ॥८-२०॥"

जीव को अभय देने से क्या लाभ होगा इसके विषय मे चक्रवर्ती सम्राट् ने कहा था—

"यह धर्म विपत्तियों से बचाता है, यही धर्म मनोवांछित फलदाता है। यही धर्म आगामी कल्याणकारी है। इस धर्म के द्वारा जीव सुखी होता है।"[१]

राज्यधर्म पर प्रकाश

राज्यधर्म के सम्बन्ध में पूज्य महाराज के बडे तर्क शुद्ध विचार हैं। महाराज का कथन है—"रामचद्र, पाडव ने राज्य किया था। उनका चरित्र देखो। जब दुष्टजन राज्य पर आक्रमण करें, तब शासक को रोकना पडता है। दूसरे राज्य के अपहरण करने को नही जाना चाहिए। निरपराध प्राणी की रक्षा करना चाहिये। राजा का कर्तव्य है, कि सकल्पी हिंसा बद करे। निरपराधी जीवो की रक्षा करे। शिकार न खेले, न खिलावे। देवताओ के आगे जीव के बलिदान को बद करावे। दारू, मास खाना बद करावे। परस्त्री-अपहरण को रोके। राजनीति में राजा अपने पुत्र को भी दड देता है। जुआ, मास, सुरा वेश्या, खेट (शिकार) चोरी, परागना परस्त्री के सेवन रूप सात व्यसन हैं। इन महापापो को रोकना चाहिये। सज्जन का पालन करना और दुर्जन का शासन करना राजनीति है। सत्य धर्म का लोप नही करना चाहिये। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तथा अतिलोभ ये पाच पाप अधर्म हैं। इनका त्याग धर्म है। अधर्म को ही अन्याय कहते हैं। जिस राजा के शासन में प्रजा नीति से चले, उस राजा को पुण्य प्राप्त होता है। अनीति से राज्य करने पर, उसे पाप प्राप्त होता है।"

महाराज ने कहा—"राजनीति तो यह है, कि राज्य भी करे तथा पुण्य भी कमावे। पूर्व में तप करने वाला राजा बनता है। दान देने वाला धनी बनता है। राज्य पर यदि कोई आक्रमण करे तो उसको हटाने के लिए प्रति आक्रमण करना विरोधी हिंसा है, उसका त्याग गृहस्थी के नही बनता है उसे अपना घर सम्हालना है और चोर से भी रक्षा करना है।"

सज्जनराजा गरीबो के उद्धार का उपाय करता है। गरीब दो प्रकार के हैं, जो हृष्ट पुष्ट गरीब आजीविकाविहीन हैं, उनको आजीविका से लगाना चाहिये। जो गरीब अगहीन हैं, अतिबालक अथवा अतिवृद्ध हैं

---

१ "धर्मोरक्षत्यपायेभ्यो धर्मोऽभीष्ट फलप्रदः।
धर्मःश्रेयस्करोमुत्र धर्मेणाभिनदयुः ॥११६—महापुराण ॥

जिनमें कमाने की शक्ति नहीं है, उनका रक्षण करना चाहिए।" महाराज ने कहा—"जो पंच पाप करता है वह पापी है, जो उन्हें छोड़ता है वह पुण्यवान है। पंचपाप की पुष्टी से राज्य करना अन्याय है। प्रजा का अपने बच्चे की तरह पालन करना राजनीति है।"

आचार्य श्री का उपदेश सुनकर सागली नरेश की आत्मा बड़ी हर्षित हुई। धर्म के अनुसार आचरण करने वाले महापुरुषों की वाणी का अंतस्तल तक प्रभाव पड़ा करता है, कारण धर्म अंतःकरण की वस्तु है। अंतःकरण जब धर्माधिष्ठित हो जाता है, तब प्रवृत्ति में भी उसकी अभिव्यक्ति हुए बिना नहीं रहती।

सागली में संघ संचालक जवेरी बंधु का सम्मान

सागली के समस्त श्रावकों ने संघ संचालक जवेरी बंधु का सम्मान करते हुए निम्नलिखित अभिनंदनपत्र भेंट किया—

"श्रीमान जिनभक्ति परायण सेठ पूनमचंद घासीलाल जोहरी मुम्बई के प्रति, हम सागली के समस्त दिगंबरी श्रावक मिलकर आपको भारी आनंद के साथ यह मान पत्र देते हैं।

श्री १०८ शांतिसागर आचार्य महाराज व उनके संघ को साथ में लेकर आप परम पूज्य श्री शिखरजी क्षेत्र की वंदना करने को निकले हैं, अपने न्यायोपार्जित धन को ऐसे पुण्य कार्यों में खर्च करते हैं और सातिशय पुण्य को बांध रहे हैं, इसको देख हमको अत्यन्त आनंद हो रहा है। इधर कुछ समय से दिगंबर साधुओं के संघ दृष्टिगोचर नहीं हो रहे

दर्शन शीघ्र ही लौटने पर हों यह जिनेश्वर के समीप हमारी उत्कृष्ट भावना है। वीर संवत् २४५४, मार्गशीर्ष वदी ५, रविवार; समस्त श्रावक सांगली" रजत करंडक में अभिनंदन पत्र भेंट किया गया था। श्रेष्ट गुरु सेवा से सर्वत्र सन्मान और आदर प्राप्त करना धर्म का ही प्रसाद है।

कोल्हापुर के श्रीमंत भूपालप्पा जिरगे ने सांगली आकर बहुमूल्य वस्त्रों द्वारा संघपति का सम्मान किया। श्रीमान राज्यमान्य सीमंधर आरवाडे के यहाँ आचार्य जी का आहार हुआ। उस आहारदान की विधि से यह स्पष्ट हो जाता है, कि किस प्रकार दिगम्बर मुनि बिना याचना के

गृहस्थ द्वारा योग्य विनय प्रार्थना किए जाने परहीं आहार ग्रहण

आत्म सन्मान की पूर्णतया रक्षापूर्वक भक्ति, प्रेम तथा श्रद्धा भाव युक्त विवेकी श्रावक के द्वारा अर्पित शुद्ध आहार लेते हैं। गृहस्थ करुणा भाव से इनको आहार नही देता, भक्ति वश पुण्य संचय के हेतु वह इन अहिंसा मूर्तियो की आत्म साधना में सहायक बनने की दृष्टि से आहार अर्पण करता है। यदि साधु की प्रतिज्ञा के अनुकूल आहार मिला तो वे लेते हैं अन्यथा नही। भोजन के प्रति उनकी आसक्ति या लोलुपता नही है। दातार उनके चरणों को प्रणामकर, उनकी पूजाकर प्रार्थना करता है, "भगवन ! मेरे गृह को कृतार्थ कीजिए।" अतः उनके आहार ग्रहण करने में भिक्षुक का भाव नही है। वे माँगते ही नहीं है अतः मागने वाले के साथ तुलना नहो हो सकती है। गृहस्थ उनको अपना श्रेष्ठ आध्यात्मिक अतिथि तथा आत्म साधना के परिवार का प्रमुख कुटुम्बी मानता है। अतएव पाश्चात्य जगत के प्रकाण्ड पंडित रसेल बर्ट्रेंड का बुद्ध के विषय में कहा गया दोष, कि (He lived on the alms of the piou ("वह धार्मिक पुरुषों की भिक्षा पर जीवन निर्वाह करते थे" जैन मुनि के विषय में चरितार्थ नही होता है। श्रावक जब मुनिराज को अपने धार्मिक परिवार का श्रेष्ट पुरुष मानता है, तो उसका अपने आत्मीयजन के प्रति भेंट अर्पण करना उचित है।

कोई यह सोचे कि बिना कुछ दिए हुए मुनि का भोजन लेना मुफ्त का माल लेना हुआ, यह भ्रम है। मुनिराज जिस गृह में आहार करते हैं, उसकी आत्मा को इतनी पवित्रता और पुण्य की सामग्री प्राप्त होती है, कि उनके सतुलन में आहार का मूल्य नगण्य रहता है। अतः आध्यात्मिक संपत्ति के लाभ की लालसा से श्रावक

लोग आहार देने के सौभाग्य के लिए बड़ा श्रम करते हैं, महिनों प्रवास करते हैं, विशुद्ध द्रव्य व्यय करके दूर दूर जा इन श्रमणों को खोजकर उनको सत्कृत करने का सौभाग्य प्राप्ति निमित्त हृदय से प्रयत्न करते हैं। अर्थशास्त्री का प्राण 'द्रव्य' उनके सामने पानी के समान है। सेवा का सौभाग्य उनके लिए रत्नराशि से बढ़कर है। अत अपनी संपत्ति का स्वामी स्वेच्छापूर्वक आध्यात्मिक संत की सेवा में वाछनीय सामग्री समुपस्थित करता है, और सदा सेवार्थ तत्पर रहता है, ऐसी स्थिति में उन स पुरुषो के विषय में असत् आरोप की बात सोचना अभद्र कार्य है।

मिरज नरेश द्वारा भक्ति

सागली संघ सानंद प्रस्थान कर मिरज पहुचा। महाराज के शुभागमन का समाचार मिलने पर वहा के नरेश आचार्य श्री के दर्शनार्थ पधारे। महाराज का दर्शन कर संत समागम से उनने अपने को धन्य समझा।

यहा से चलकर संघ अथर्णी होता हुआ अतिशय क्षेत्र बावानगर पहुचा। पश्चात् संघ बीजापुर आया। यहाँ सार्वजनिक सभा में मुनि वीरसागर महाराज तथा ऐलक पायसागरजी का प्रभावशाली उपदेश हुआ।

अक्कल कोट में शाहीस्वागत तथा धर्म प्रभावना

वहा से चलकर संघ मगसिर सुदी ६ को अक्कल कोट पहुचा। यहा सरकारी बाजे द्वारा संघ का भक्ति पूर्वक स्वागत किया गया। दो बजे दिन को नमिसागर मुनिराज तथा ऐलक नेमिसागर जी का केशलोच हुआ। उस समय राज्य के उच्च अधिकारी महोदय ने कचहरी की छुट्टी कर दी जिसमे राजकर्मचारी भी केशलोच को देख सकें। संघ के दर्शनार्थ बहुत लोग आए थे। केशलोच को देखकर जैन साधुओं की आत्म-निमग्नता, वीतरागता, निस्पृहता, अहिंसापरता का गहरा प्रभाव हुआ।

एक बार मैंने आचार्य महाराज से पूछा था—"महाराज! आप लोग केशों को उखाडते जाते हैं, मुख की मुद्रा मे विकृति नहीं आती, मुख पर शांति का भाव पूर्णतया विराजमान रहता है, क्या आपको कष्ट नहीं होता?"

केशलोच पर अनुभव पूर्ण प्रकाश

महाराज ने कहा था—"हमें केशलोच करने में कष्ट नहीं मालूम पडता। जब शरीर म मोह नहीं रहता है, तब शरीर-पीडा होने पर भावों में संक्लेश नहीं होता है।" एक बात और है, निरन्तर वैराग्य भावना के कारण शरीर के प्रति मोह भाव दूर हो जाता है, अत आत्मा से शरीर को भिन्न देखने वाले इन तप-

स्त्रियों को केशलोंच आत्मविकास का कारण होता है। अन्य सप्रदाय वालों के अंतःकरण पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। अहिंसा और अपरिग्रह भाव के रक्षणार्थ यह कार्य किया जाता है। यथार्थ में सुख दुःख का संवेदन मनोवृत्ति पर अधिक आश्रित रहता है। जब मन उच्च आदर्श की ओर लगा रहता है, तब जघन्य सकटों का भान तक नहीं होता है। इसे देखकर यह भी समझ में आता है, कि मुनिराज जिस प्रकार शरीर से दिगम्बर होते है, उसी प्रकार इनका मन भी वासनाओं के अम्बर से उन्मुक्त रहता है।

इसके पश्चात संघ ने निजाम राज्य में प्रवेश किया। इसके कुछ समय पूर्व आलंद के सेठ माणिकचन्द मोतीचन्द शहा तथा वालचन्द जी कोठारी वकील गुलबर्गा ने निजाम रियासत के धार्मिक विभाग के पास प्रार्थनापत्र ता: १वह्. १३३७ फ. (सन १९२८ में) दिया, उस पर श्री दिगम्बर आचार्य महाराज के सघ को विहार के लिए स्वीकृति प्राप्त हो गई तथा मार्ग में सघ को कोई तकलीफ न हो इससे तत्कालीन पुलिस सुप्रिनटेंडेंट मौलवी मुहम्मद जलालुद्दीन ने दो पुलिस के सिपाहियों को दिगम्बर मुनि संघ के साथ साथ रहने की विशेष आज्ञा तारीख ३ वहमन १३३७ फ० को दी थी। उसमें लिखा था 'मुहम्मद जलालुद्दीन मोहतमिम कोतवाली जिला गुलबर्गा की ओर से मि० वालचन्द कोठारी बी० ए० एल० एल बी० वकील गुलबर्गा निवासी के नाम उत्तर निवेदन है कि आपके प्रार्थना पत्र पर अब्दुल करीमखा और आवाजीराव नामक दो जवान (सिपाही) आज ता ३ बहमन सन् १३३७ फसली को एक माह के लिए रवाना किए जाते हैं अतः समय अवधि की समाप्ति पर दो इंफन्ददार सन १३३७ फसली को वापिस कर दिए जावें।

निजाम राज्य प्रवेश

जब सघ नागवरी पहुंचा तब वहा स्व. सेठ लीलाचन्द हेमचन्दकी धार्मिक सेठानी राजूबाई ने सारे सघ तथा अन्य यात्रियो का वड़े आदर पूर्वक भोजन सत्कार किया। यहा आहार के उपरात सामायिक हुई। तत्पश्चात् सघ आलन्द की ओर विहार हुआ।

आलंद की जैन समाज ने उत्साह पूर्वक संघ का स्वागत किया। यहा संघ सेठ नानचन्द सूरचन्द के उद्यान में ठहरा था। पहले ऐसी कल्पना होती थी, कि कहीं कुछ सकीर्ण चित्तवाले अन्य संप्रदाय के लोग विघ्न उपस्थित करें, किन्तु महाराज शांतिसागर जी के तपोबल से ऐसा अद्भुत परिणमन हुआ कि ब्राम्हण, मुसलमान, लिंगायत,

आलंद में प्रभावना

हिन्दू आदि सभी धर्म वाले भक्तिपूर्वक दर्शनार्थ आए और प्रसाद के रूप में पवित्र धर्मोपदेशो तथा कल्याणकारी बातें साथ में लेते गए। आलद में सरकारी अधिकारियो और सारी जनता से दिगम्बर मुनियो के दर्शन से अपने जीवन को कृतार्थ किया।

यहा मगासिर सुदी १० को वीरसागर महाराज का केशलोच हुआ। उस समय जनता की बडी भीड थी। वहा के बडे बडे अधिकारी भी उपस्थित थे। उस दिन शहर का कसाईखाना बन्द कर दिया गया था। जिस दिन आचार्य महाराज का आहार सेठ माणिकचन्द मोतीचद के यहा निर्विघ्न हुआ उस दिन आनन्द मग्न होकर उन सेठ साहब ने शेडवल अनाथ छात्राश्रम को विशेष दान दिए। यह इस बात को सूचित करता है, कि ये साधु जनता को कितने प्रिय होते हैं और उनका आहार भार नही होता है वह दातार को आभारी करता है। वह जीवन भर उन स्वर्ण क्षणो का स्मरण करता है। जबकि श्रेष्ठ अहिंसा के आराधक महापुरुष द्वारा उसका गृह पवित्र किया गया था।

एक दिन कसाई खाना बन्द किया गया

आलद से गुंजोटी जाने का मार्ग मोटर के जाने के अयोग्य था, अत गुरुभक्त श्री हीराचन्द माणिकचद शहा ने वह रास्ता तुरन्त ठीक कराया। सघ गुंजोटी में सेठ देवचन्द घनजी के उद्यान में ठहरा। आचार्य श्री का आहार सेठ गुलाबचद देवचन्द के यहा हुआ। उनने पाच हजार रुपया शडवाल अनाथाश्रम को दान में दिए। गुरु दर्शनार्थ तथा उनके अहिंसामय उपदेश को सुनने जनता और अधिकारी लोग आते थे।

गु जोटी ग्राम की विशेष बात

इसके अनन्तर एक विशिष्ट घटना यह हुई कि आचार्य श्री ने आगे विहार का निश्चय कर राघ को आज्ञा दे दी जब यह बात जनता और राज्य के अधिकारी वर्ग को विदित हुई तब उनने महाराज से अनेक बार रुकने की प्रार्थना की, किन्तु उसका कुछ असर न हुआ, कारण महाराज सत्य महाव्रती है। जो वाणी मुख से निकल जाय उसका प्राणपण से पालन करते हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि ये महापुरुष सदा आत्माराधन में तत्पर रहते है। जनता की भक्ति उसका प्रेम न इन्हे हर्षित करता है, और न नीचो का दुष्ट व्यहार इनको दु खी ही करता है।

सत्यव्रती मुनि का वचन पालन

ये वीतराग तपस्वी दोनों अवस्था में साम्य संपन्न मानसिक संतुलन को सम्यक प्रकारसे सुरक्षित रखते हैं। व्यापारिक मनोवृत्ति इनकी नहीं रहती, अन्यथा लाभ की कल्पना कर पूज्य श्री, अपने प्रस्थान के कार्यक्रम को बदल देते। ये सत्य महाव्रती मुनिराज निश्चय पूर्वक जो वचन कह देते हैं उसकी पूर्ति किए बिना नहीं रहते हैं। इस प्रतिज्ञापूर्ति के हेतु प्राणों की आहुति को भी तैयार होते हैं। एक बात और है कि वे गंभीर विचार के उपरांत ही अपना पक्का निश्चय करते हैं। विचाराधीन बात में फेरफार हो सकता है। इनका निश्चय तो हिमाचल से भी अधिक दृढ़ होता है। लाभ की लोलुपता लौकिक लोगों को लुभा लिया करती है, किंतु इन संतों को सिद्धांत संरक्षण का ही सदा ध्यान रहता है।

इन श्रमणों के जीवन का निकट से निरीक्षण करने पर विवेकी व्यक्ति को बोध होगा कि ये आत्मशुद्धि तथा लोक कल्याण में कितने व्यस्त रहते हैं। ये रागद्वेष, मोह, क्रोध, कलह मायामयी दुनिया के कदम पर कदम न रख आत्मोत्कर्ष के पथ पर चलते हैं। इससे कोई कोई यह सोचते हैं, ये जीवन संग्राम से डरकर भागते हैं। अंग्रेज लेखकों का अनुसरण करते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं—[१]

क्या जैन मुनि जीवन से दूर भागते हैं?

'बुद्ध धर्म तथा जैन धर्म ने जीवन से दूर रहने पर जीवन से दूर भागने पर जोर दिया है।' ये उद्‌गार जैन गृहस्थों के विषय में तनिक भी नहीं लागू होते हैं, कारण गृहस्थाश्रम में लौकिक जीवन यथार्थ न्याय पूर्ण प्रवृत्ति का जैन आगम में उपदेश है, तथा यह देखने में आता है कि अपने तथा सार्वजनिक कार्यों में जैन गृहस्थ योग्य भाग लेता है, राष्ट्र और जगत की समृद्धि और सेवा में हाथ बटाता है।

जैन मुनि के विषय में भी यह कथन असंगत है, कारण सच्चे जीवन में उनकी प्रवृत्ति होती है। मोही जगत के समान उनकी जीवन धारा न देखकर उन्हें जीवन के उत्तरदायित्व से दूर भागने वाला बताना

---

१ " Budhism and Jainism rather emphasised the abstention from life--running away from life"

Jawaharlal Nehru : 'Discovery of India' p. 83

न्यायोचित नही हैं। उनका मुख्य लक्ष्य है आत्मा से राग, द्वेष, मोह, माया आदि कल्कों को दूर कर उसे पूर्ण पवित्र, सर्वज्ञ, परज्योति स्वरूप परमात्मा बनाना, अतः उनको ससार के जाल से अपने आपका बचाना आवश्यक है। जिस पुद्गल की आराधना को जडवादी, जीवन मानता है, उसे ये महात्मा मुनीन्द्र मत्यु मानते हैं। इनका लक्ष्य अमृतत्व को प्राप्त करना है, जिस पर कालबली का जोर नही चलता है। पाश्चात्यो के यहा स्वाधीनता का जो स्थान है, वही स्थान इन श्रमणो की दृष्टि में मुक्ति का है। शत्रु चाहे भीतरी हो या बाहरी उनके बधन में पडना ही पराधीनता है। काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओ का बधन काटने पर ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। इससे ये मुनिराज उन प्रसगो से दूर रहते है जो आत्मा को अतरग शत्रुओ का कैदी बनाता है।

ये विवेकी वासनाओ की दासता को नरक से भी भीषण वस्तु मानते है, अत वासना-विजय के हेतु ये अपने संपूर्ण इद्रिय सम्बन्धी सुखो का छोडकर आत्म शुद्धि के श्रेष्ठ उद्योग में सलग्न होते है। उस कार्य के लिए ये कम से कम समय निद्रा में लगाते है। अल्प सात्विक आहार लेकर निरतर जागृत रहते है। अध्यात्मवाद के सूर्य को देखने का जिन आखो को अभ्यास नही है, वे चक्षुगोचर कार्य सलग्नता को ही काम मानते है।

डा टैगोर ने लिखा है—"यूरोप में लगाम पहने हुए मरना एक गौरव की बात समझी जाती है।" काम कैसा ही हो, आखिरी जीवन पर्यन्त जोश के साथ हाथ पैर हिलाते हुए मर जाना श्रेष्ठ कार्य सोचा जाता है। इस दृष्टि के विषय में रवि बाबू ने लिखा है—"जब किसी जाति को इस कर्म चक्र में घूमने का चसका लग जाता है, तब फिर पृथ्वी में शाति नही रह पाती।" बहुत समय पहले व्यक्त किए कवीन्द्र रवीन्द्र के उपरोक्त उद्गार आज के युग में पूर्ण सत्य प्रमाणित होते है।

भोग के रोगी मुनियो की महत्ता को नही समझ पाते

आज का जगत् यथार्थ में ज्वाला मुखी के मुख पर बैठा हुआ दिखता है। एक चिनगारी कही से पहुची, कि विस्फोट द्वारा प्रलय का दृश्य उपस्थित होने में देर न लगेगी। ये भोग के रोगी स्वस्थ वीतराग सतो और सस्कृति के सत्य स्वरूप को अपनी मलिन दृष्टिवश निर्दोष रूप से देख ही नही पाते है। आध्यात्मिकता के शव पर निर्मित जडवाद का प्रासाद मृत्यु के मदिर से तनिक भी भिन्न नही है। अतः उसे यमालय के सिवाय अन्य उपयुक्त नाम नही

आत्म–विद्या की कसौटी पर कसने पर ज्ञात होगा, कि आज की सभ्यता बर्बरता का स्वर्ण संस्करण(Golden Edition) है। नागनाथ और सापनाथ में क्या अंतर है ? भोग प्रधान संस्कृति भी विकृति का मोहन रूप है । रवीन्द्र बाबू ने सुन्दर बात कही है, "यह स्वीकार करना होगा, कि संतोष, संयम, शांति और क्षमा ये सभी सर्वोच्च सभ्यता के अंग हैं। इनमें चढ़ा ऊपरी रूपी चमक-दमक पत्थर की रगड़ का शब्द और चिनगारियों की वर्षा नहीं है ।" उनके ये शब्द बड़े अनमोल है, "इनमें हीरे की शीतल, शांत ज्योति है । उस रगड़ के शब्द और चिनगारियों की इस स्थिर, सत्य ज्योति से बढ़कर कीमती समझना कोरा जंगलीपन है ।"

संस्कृति का आधार-स्तंभ मुनियो का जीवन

श्रमणो ने वासनाओ की विजय संस्कृति का आधार स्तंभ माना है । जैसे जैसे वासनाओ की विजय बढ़ती जाती है, वैसे वैसे आत्मा का विकास होता जाता है । उस आत्म विकास के हेतु ही जैन मुनि पर-पदार्थो का त्याग करते है और उन वस्तुओं के प्रति आत्मा में छुपी ममता के बीजों के विनाशार्थ निरंतर उद्योग करते हैं ध्यान करते हैं । रवि बाबू के इन शब्दों में कितना सत्य है, "वासना को छोटा करना ही आत्मा को बड़ा करना है । यूरोप मरने को भी राजी है, किन्तु वासना को छोटा करना नही चाहता । हम भी मरने को राजी हैं, किन्तु आत्मा को उनकी परम गति– परम संपत्ति से वंचित करके छोटा बनाना नहीं चाहते । " इस वासना विजय के कार्य मे संलग्न आत्मा की दौड़ धूप नही दिखती है, अतः स्थूल दृष्टि वालों को वह क्रिया शून्यता सी प्रतीत होती है । उनके विषय में वे कहते हैं, "यह निश्चेष्ट भाव या निठल्लापन नही है । संसार की दृष्टि से वह जड़ता जान पड़ती है । परंतु वास्तव में वह जड़ता नही है, जैसे पहियें के अत्यंत घूमते रहने पर वह दिखाई नही पड़ता, वैसे ही वह अनंत गति निश्चेष्टता सी जान पड़ती है ।" ('स्वदेश')

इन मुनिजनों के समीप जाकर देखने पर पता चलता है, कि इनका प्रत्येक क्षण अनमोल है । उसका अपव्यय करना वे नहीं जानते । अपने जीवन के क्षणों को निद्रा के लिए देते हुए भी इनको बड़ा संकोच होता है, अतः प्रयत्न करते हैं, कि कम से कम नीद आवे । इससे निद्रा विजय तप की भी साधना करते हैं । आचार्य शांतिसागर महाराज ने इस तप की भी खूब साधना की है । एक दिन मैंने सात दिसबर सन् १९५१ को सुप्रभात

के समय आचार्य महाराज से पूछा था। "महाराज ! आजकल आप कितने घंटे जाप किया करते हैं ?"

महाराज ने कहा था—"रात को१ बजे से ७ बजे तक, मध्यान्ह में तीन घंटे तथा सायंकाल में तीन घंटे जाप करते हैं।" इससे सहृदय सुधी सोच सकता है, कि इन पुण्य श्लोक महापुरुषों का कार्यक्रम कितना व्यस्त रहता है। ये जीवन से भागते हैं यह कथन असत्य की पराकाष्ठा है, जैसे सूर्य को कलंक का पुंज कहना। सत्य कथन तो यह होगा कि ये मृत्यु से, आत्मा की मृत्यु से दूर जाते हैं। It is not escape from life, rather it is escape from death. अतः श्री नेहरू का आक्षेप पूर्णतया अपरिचय मूलक है।

प्रबुद्ध मानव की चेष्टा कोल्हू के बैल के समान जुते रहने सदृश नहीं रहती। पुद्गल की संगति से यह जीव कोल्हू के बैल सदृश क्रियाशीलता में जुटा रहता है। उससे उसका कुछ हित नहीं होता है। कविवर बनारसी दास जी ने लिखा है कि मोह के ससर्ग वश जीव की कोल्हू के बैल के सदृश स्थिति होती है, किन्तु मुनिजन मानव के समान विवेकपूर्ण क्रिया करते हैं। वे बैल को भला अपना आदर्श क्यों बनावेंगे ? उस बैल का चित्रण कविवर ने इस प्रकार किया है—

पाटी बंधे लोचन सों सकुचे दबोचनि सों,
कोचनि को सोच सो निवेदे खेद तनको।
धाइबोही धंधा अरु कंधा माहि लग्यो जोत,
बार बार आर सहै कायर ह्वै मन को।
भूख सहै प्यास सहै दुर्जन को त्रास सहै,
थिरता न गहै न उसास लहै छिन को।
पराधीन घूमै जैसो कोल्हू को कमेरो बैल,
तैसोई स्वभाव 'भैया' जगवासी जन को ॥७९॥

नाटक समयसार

उपनिषद् की प्रार्थना में कहा गया है– "तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय"–माता ! हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले चल, मृत्यु से अमृत पद को प्राप्त करा। उसका मार्ग सर्वांगीण अहिंसा का पालन करना है। जब संपूर्ण छोटे बड़े जीवों के प्राणों के प्रति सम्मान का भाव नहीं जागृत होता है, तब तक बकराज की भांति अहिंसा की बाहरी नकल जीव को

श्रेयोमार्ग पर नही पहुचाती है। अपनी दुष्टवृत्ति शोधन किये विना लोग चिकित्सा सम अहिंसा धर्म रूप औषधि को ही बुरा कहते हैं, जैसे अकुशल कारीगर अपने काम करने के औजारो को बुरा बताता है, इसी प्रकार अपनी हीन प्रवृतियो को न सुधारकर कल्याण प्रद धर्म को दोषपूर्ण कहने लगते हैं। विवेकी व्यक्ति ऐसे भ्रम जाल में न फसकर सत्पथ में सलग्न रहते हैं। उस श्रेयो मार्ग का दर्शन इन श्रमणो की जीवन चर्या में विद्यमान रहता है। इनके द्वारा हिंसादि पापो के परित्याग का जो उपदेश दिया जाता है, वह लोगो के नैतिक स्तर को स्थायी रूप से इतना उन्नत कर देता है जितना राज्य का कठोरतम दड भी नही कर पाता है। दड की भीति अन्त करण अथवा मनोवृत्ति को नही बदल सकती है। किन्तु इन योगियो का विशुद्ध जीवन सत्पात्रो के हृदय का परिवर्तन करके उसे आलोकपूर्ण कर देता है, फिर उसकी आत्मा स्वय उसके लिए मार्ग दर्शन बन जाती है। इन श्रमणो के निमित्त से लोक कल्याण के लिए अनेक सस्थाए खुल जाती हैं, गरीबो के हितार्थ बडे बडे काम हो जाते हैं। इस प्रकार यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो एक व्यक्ति मुनिपद को धारण कर अगणित व्यक्तियो का लौकिक, नैतिक, तथा आध्यात्मिक हित करता है। उस लौकिक हित का परमार्थ जीवन से परपरागत सबध रहता है।

अपने निश्चय के अनुसार गुन्जोटी से समारोह पूर्वक संघ का प्रस्थान हो गया। पौष वदी दूज को सघ लातूर पहुचा। यहां सेतवाल समाज के भट्टारक विशालकीर्ति जी की गद्दी है। उनने आचार्य श्री को प्रणामाजलि अर्पित की तथा—सघपति जी को मानपत्र दिया। वहा से चलकर सघ १५ दिसम्बर को नादेड पहुचा। वहा स्वागत के जुलूस में जिलाधीश आदि अधिकारी भी सम्मिलित थे। स्टेट के घुडसवार तथा पुलिस सर्व

विदर्भ प्रात में प्रवेश

प्रकार की सुव्यवस्था करते जाते थे। चन्द्रसागर जी ने, जो कुछ समय के लिये नादगाव चले गये थे, लगभग दो सौ श्रावको सहित नादेड में आकर सघ को वर्धमान बनाया। एक दिन वहा रहकर सघ ने १७ दिसम्बर को प्रस्थान किया यहा तक ही निजाम की सीमा थी। अत स्टेट के कर्मचारियो और अधिकारियो ने सद्भावना पूर्वक आचार्य महाराज को प्रणाम किया और वापिस लौट आये। यह आचार्य श्री का आत्मबल था जिससे निजाम स्टेट में से विहार करते हुए तनिक भी गडवडी नही हुई, किन्तु

वीतराग गुरुओ का गौरव बढा ।

अब सघ स्टेट के बाहर उमरखेड में ता० २० दिसम्बर को पहुच गया । इसके पश्चात ता० २१ को सघ पुसद के लिए रवाना हुआ । कारजा की धार्मिक मडली ने प देवकीनन्दन जी व्याख्यानवाचस्पति के नेतृत्व में पूज्य श्री से कारजा होकर विहार करने की अनुनय विनय की। किन्तु वह रास्ता चक्कर का पडता था, इससे उनकी प्रार्थना अस्वीकृत हुई । पुसद में आसपास की बहुत जैन जनता ने आकर गुरुदर्शन का लाभ लिया। इसके पश्चात ता० २३ दिसम्बर को सघ डिगरस आया। दूसरे दिन दाला पहुचा। वहा लगभग दो हजार श्रावको का समुदाय एकत्रित हो गया था । आचार्य श्री का उपदेश सुनकर भव्यात्माओ को अवर्णनीय आनन्द मिला था। उनका एक एक शब्द बडे प्रेम, बडी भक्ति और अतिशय श्रद्धापूर्वक सुना गया था ।

इसके पश्चात सघ २६ दिसम्बर को यवतमाल पहुचा । यहां खाम गाव के श्रावकों ने सर्व सघ को भोजन कराया । यहा प्रद्युम्नसाव जी कारजा वालो के यहा पूज्य आचार्य श्री का आहार हुआ । रात्रि के समय श्री जिनगौडा पाटील का मधुर कीर्तन हुआ । श्री पाटील गोवि दरावजी ने सघ के लिए दूध, लकडी, का प्रबध वर्धा पर्यन्त करके अपनी भक्ति तथा प्रेम भाव व्यक्त किया था । ता० २८ को सघ पुलगाव पहुचा । बालू के बोरे डालकर कृत्रिम पुल बनाने की कुशलता तथा गुरु भक्ति श्री जमनालाल जी झाझरी ने प्रदर्शित की । यहां सुन्दर जुलूस निकाला गया था। सघ ३० दिसम्बर को वर्धा पहुचा । आचार्य महाराज तथा अन्य त्यागियो का उपदेश हुआ । यहा से सघ रवाना होकर २ जनवरी सन् १९२८ को नागपुर के समीप पहुच गया ।

नागपुर और वर्धा के मध्य का मार्ग बहुत खराब था। उसे नागपुर जैन समाज ने तत्परता पूर्वक ठीक कराया । रत्नत्रय मूर्ति आचार्य महाराज ने मुनिसघ सहित तीन जनवरी सन १९२८ को नागपुर नगर में प्रवेश किया । जुलूस तीन मील के लगभग लम्बा था । उसमें छत्र, चमर, पालकी ध्वजा आदि सोने चादी आदि की सामग्री थी, इससे उसकी शोभा बडी मनोरम थी । नागपुर नगर वासियो के सिवाय प्रात भर के लोग जैन अजैन तथा अधिकारी वर्ग आचार्य श्री के दर्शन द्वारा अपने को कृतार्थ करने को खडे थे । लोगो की

नागपुर

धारणा है कि इतना सुन्दर विशाल भव्य और भक्ति युक्त जनता का जुलूस पुनः नागपुर में अब तक नही निकला।

अंजनी से चलकर गुरुदेव के सीताबर्डी में पूजा के अनन्तर जुलूस शांतिनगर की ओर चला। यह नवीन स्थान बाहर से आये हुए हजारों जैनियों के निवास के लिए बनाया गया था। आज भी वह स्थान आचार्य श्री के नाम से विख्यात है। जुलूस की शोभा दर्शनीय थी। जहा देखो वहां भक्त जनता गुरुदेव पर सुवास युक्त पुष्पो की वर्षा कर रही थी। भीड़ इतनी अधिक थी कि जब महल के पास श्रीमंत भोंसले सरकार रघू जी महाराज ने जुलूस रोकने लिए प्रार्थना करवायी तब प्रयत्न करने पर भी जनता के प्रवाह को रोकना अशक्य हो गया। अवर्णनीय वैभव, शोभा तथा उल्लास के साथ जुलूस शांतिनगर में पहुंचा। जहा लगभग आठ दस हजार जैन बंधुओं के निवास का प्रबंध था। प्रबंध व्यवस्था सुन्दर थी। बाहर के जैन बंधुओं के लिए हर प्रकार की सामग्री देने की व्यवस्था समाज ने की थी।

अपूर्व स्वागत

तीन दिन पर्यन्त वह स्थल सजीव शांतिनगर दिखता था। वहाँ पर आर्तध्यान, रौद्रध्यान के बदले धर्म की धारा प्रवाहित हो रही थी। नागपुर राजधानी का स्थान है किन्तु तीन दिन पर्यन्त लोगों का शांतिनगर का आकर्षण देख ऐसा लगता था कि वहाँ दूसरी राजधानी बन गई है।

शांतिनगर मे निवास

महाभारत में लिखा है—"कि नागनरेश श्रमणों के उपासक थे। नागकुलीन राजा तक्षक नग्न श्रमण हो गया था।"[१] दिगम्बर मुनियोंके प्रति नागपुर प्रांतीय जनता की भक्ति ने पुरातन कथन की प्रामाणिकता प्रतिपादित कर दी थी। हमें तो ऐसा लगता है कि नाग युगल को सुर पदवी प्रदान करने वाले भगवान पार्श्वनाथ की निर्वाण भूमि के दर्शनार्थ जाने वाले न महामुनि तथा उनके संघ के प्रति लोगों ने अपार भक्ति प्रगट की जो इस विचार की पुष्टि करता था कि यह नगर यथार्थ में नागपुर (फणिपुर) ही है। नागमंडल के नायक पद्मावती धरणेंद्र ने सदा ही प्रभु पार्श्वनाथ की

नागपुरके नागरिकों की भक्ति का कारण

---

१ "सोऽपश्यत् नग्न श्रमणं आगच्छन्तम्"
महाभारत आदिपर्व —हिन्दू धर्म समीक्षा पृ. १३५

भक्ति करने वालो की सदा सहायता की है और उनके सकट दूर किये है। वास्तव में उस नाग युगल का सौभाग्य अवर्णनीय था। कवि भूधरदास ने जो लिखा है वह पूर्णतया सत्य है —

"नाग युगल के भाग की महिमा कही न जाय।
जिन दर्शन प्रापति भई मरण समय सुखदाय॥"

इस अपूर्व उपकार को सदा स्मरण रखते हुये कृतज्ञ जीव, प्रभु पार्श्वनाथ का प्रेम से नाम लेने वालो की वामना पूर्ण करते है। इसीलिए भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि काशी वासी एक भक्त कवि ने लिखा है—

"वामासुत की सेवा करिये काहे मन में शका धरिये।
पद्मा जाकी दासी कहिये जो जो सुख मागो सो लहिये॥"

नागपुर का इतवारा बाजार, सराफा बाजार तीन दिन पर्यन्त बद रहे थे। यथार्थ में देखा जाय तो कहना होगा कि इन रत्नत्रय मूर्ति को प्राप्त कर पारलौकिक धनसचय में चतुर व्यापारी निमग्न थे, इसी दृष्टि को प्राधान्य दे उनने बडे बडे दरवाजे बनवाये थे। तोरण, वदनमाला, आदि से सजाया था। इसलिये नगर बडा नयनाभिराम लगता था। वहा ऐलक चद्रसागर तथा पायसागर' ऐनापुर वालो का केशलोच हुआ था। लगभग १५ हजार जनता उपस्थित थी।

धर्म पुरुषार्थ पर विवेचन

उस अवसर पर धर्म पुरुषार्थ के विषय में महाराज का मार्मिक उपदेश हुआ। वास्तव में जिनका जीवन धर्ममय है और जो धर्ममूर्ति है, वे ही धर्म के विषय में अधिकारपूर्वक बात कह सकते हैं और उनसे ही श्रोताओं का हृदय मगल प्रकाश प्राप्त करता है। पापाचरण में निमग्न बुद्धिजीवी व्यक्तियों के मुख से धर्म के प्रतिपादन में सप्राणता नही दिखती।

महाराज ने कहा था— "हिंसा आदि पापो का त्याग करना धर्म है। इसके बिना विश्व में कभी भी शाति नही हो सकती। इस धर्म का लोप होने पर सुख तथा आनद का लोप हो जायगा। धर्म का मूल आधार सब जीवो पर दया करना है। यह धर्म, जीवन से भी बहुमूल्य है इसके रक्षण के लिए प्राणो का भी मोह नही करना चाहिए। इस धर्म को भूलने वाला जीव कभी भी सुख नही पाता। पुराण, ग्रंथो में इस बात के प्रमाण मिलते है कि इस धर्म का पालन करने वाले छोटे जीवो ने भी सुख प्राप्त किया और उसे भूलने वालो ने दुर्गति में जा दुःख भोगा

है। इस धर्म के द्वारा जीव सुखी होता है, सब प्रकार का वैभव पाता है इसलिए इस धर्म पालन करने में प्रत्येक विवेकी जीव को लगना चाहिए।" महाराज का यह भी कथन है "यदि धर्म डूबता है तो हमें अपने जीवन की भी चिन्ता नहीं।" उनका यह कथन पूर्णतया ठीक है। जब भी धर्म और कर्तव्य के मार्ग में विपत्ति आयी है तब उनने प्राणों की बाजी लगायी है और उनकी धर्मभक्ति से विपत्ति की घटा सदा दूर हुई है। उनका यह भी कथन है कि, "समता जैनधर्म का मूल है।

धर्म का मूल दया और समता है

जिनेन्द्र की वाणी के अनुसार चलने में कल्याण है। शक्ति के अनुसार धर्म का पालन करो। यदि हिंसादि पंच पापों के त्याग की शक्ति नहीं है, तो एक का ही त्याग करो। शक्ति के अनुसार त्याग करने में भलाई है। मार्ग को उल्टा करने में बड़ा पाप है। दयापूर्ण अंतःकरण वाला जैन है। जैन जाति नहीं है। जैन धर्म है। जैनधर्म को धारण करने का सबको अधिकार है। जैनधर्म धारण करने का किसी को भी निषेध नहीं है।" चांडाल, धीवरादि ने जैन धर्म धारण कर स्वर्ग लोक पाया है। स्वर्ग की कोई कीमत नहीं है। महत्व है मोक्ष का। शूद्र भी देव पद पायगा। वहां से मनुष्य ही मोक्ष को प्राप्त करेगा। जैन धर्म के द्वारा जीव का दुःख दूर होता है।"

सुख के लिए कर्मों का बंध बंद होना चाहिए

एक बार मैंने महाराज के मुख से यह सुना कि जैन धर्म के द्वारा जीव को सुख मिलता है, तब मैंने पूछा, "महाराज! इस जैन धर्म ने आपको जितना दुःख दिया, उतना किसी दूसरे को नहीं दिया, तब आपका कथन कैसा है कि यह सबको सुख का दाता है?"

महाराज ने मेरी ओर देखकर पूछा,--"तुम्हारा क्या अभिप्राय है, स्पष्ट करो?"

मैंने कहा, "महाराज! इस जैनधर्म ने आपको गृह, वस्त्र, वैभव, कुटुम्ब आदि से पृथक करा दिया। श्रीमन्त परिवार के मुख्य पुरुष होते हुए भी आपके पास कोई भी सामग्री नहीं है जिससे आप शरीर के कष्ट का निवारण कर सकें। इस जैन धर्म की शिक्षा के कारण आप, आठ दस दिन तक भी भूख और प्यास का कष्ट उठाते हैं। इस धर्म के कारण ही आप दंश, मशक, नग्नता आदि के भयंकर कष्ट भोगते हैं। यदि आपने इस धर्म को न धारण किया होता, तो आप सब प्रकार सुखी रहते?"

महाराज ने कहा—"इस धर्म ने हमें अवर्णनीय निराकुलता दी है। बडी शाति प्राप्त हुई है। बाह्य परिग्रह आदि से सुख पाने का भ्रम है। उनके त्याग से सच्चा आनन्द मिलता है। उपवास आदि हम इस लिए करते है कि पूर्व में बांधे गए कर्मो की निर्जरा हो जाये। अग्नि के ताप के बिना जैसे सुवर्ण शुद्ध नही होता उसी प्रकार तपश्चरण के बिना सचित कर्मों का नाश नही होता। व्रताचरण के द्वारा कर्मो का सवर होता है। और कष्ट सहन करने से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है। जैन धर्म ने हमें दु ख दिया यह समझना भूल है। इसने हमें बडा सुख दिया, बहुत शाति दी।"

महाराज ने कहा—"सुख के लिए कर्मों का बध बद होना चाहिए। कर्मों के सवर का उपाय जिन भगवान ने चारित्र का पालन कहा है। पुराने बध कर्मो का नाश भी आवश्यक है। वह कर्मो के समान है। जब जीव ने कर्जा लिया है, तब उसे चुकाना ही पडेगा, चाहे समता भाव से कर्मो का फल भोगो चाहे सक्लेश पूर्वक भोगो। भोगना पडेगा अवश्य। अत हम कर्मो की निर्जरा के लिए कायक्लेश आदि करते है।"

शाति के बिना त्यागी नही

महाव्रतों के पालन से उनकी आत्मा को अवर्णनीय शाति है। एक दिन सन १९५० में एक स्थानक वासी साधु महोदय आचार्य महाराज के पास गजपथा तीर्थ पर आए। उनने कहा—"महाराज! शाति तो है न?"

महाराज ने उत्तर दिया—"त्यागी को यदि शाति नही तो त्यागी कैसे?" एक भाई ने पूज्य श्री से पूछा— "महाराज जैनधर्म की घटती का क्या कारण है जबकि उसमें जीव को सुख और शाति देने की विपुल सामग्री विद्यमान है?"

जैन धर्म की घटती का कारण

महाराज ने कहा—"दिगम्बर जैन धर्म कठिन है। आजकल लोग ऐहिक की तरफ झुकते है। मोक्ष की चिन्ता किसी को नही है। सरल मार्ग पर सब चलते हैं। जैनधर्म की क्रिया कठिन है। अन्यत्र सब प्रकार का सुभीता है। स्त्री आदि के साथ भी अन्यत्र साधु रहते है। अन्यत्र साधु प्यास लगने पर पानी पी लेगा, भूख लगने पर भोजन करेगा। ९६ दोषो को टालकर कौन भोजन करता है?"

महाराज ने कहा—"इसी कारण दि० जैन साधुओ की सख्या लगभग ४० के भीतर है। दि० जैन मुनि प्राण जाने पर भी मर्यादा का पालन करते है। धूप में बिना जल ग्रहण किए मर गए, तो परवाह नहीं।

किन्तु साधु पानी नहीं पियेगा।"

समतभद्र स्वामी की महत्वपूर्ण वाणी

इस संबंध में स्वामी समंतभद्र ने युक्त्यनुशासन में लिखा है कि जिनेन्द्र का शासन दया, दम, त्याग, समाधि आदि के प्रतिपादन की अपेक्षा अद्वितीय है, फिर भी जगत उसका पालन क्यों नही करता है? उसके दो कारण है। साधारण कारण तो है, काल की विपरीतता। असाधारण कारण यह है कि श्रोताओ का अंतःकरण दर्शन मोहनीय के उदय से आक्रांत है। अतः उनमें धर्म की जिज्ञासा का अभाव है। दूसरा कारण है प्रवक्ता का वचनाशय। सामर्थ्य सम्पन्न, सच्चरित्र, सम्यक श्रद्धावान, वक्ताओं की प्राप्ति दुर्लभ है। इस कारण तार्किक समंतभद्र की दृष्टि से श्रेष्ठ होते हुए भी जैन शासन का सम्यक प्रसार नही होता है। उनका महत्वपूर्ण अनुभव इस पद्य में व्यक्त किया गया है—

"भगवन् आपके अनेकांत सिद्धांत के एकाधिपत्य लक्ष्मी की प्रभुता की सामर्थ्य के अपवाद का कारण कलिकाल है अथवा श्रोताओं का कलुषित अंतःकरण है अथवा वक्ता का वचनाशय है।"[1]

व्यावहारिक दृष्टि से विचार

इस सम्बन्ध में व्यावहारिक दृष्टि से यह भी बात विचारणीय है कि अभी पचम काल के इक्कीस हजार वर्ष काल में से केवल २४७८ वर्ष व्यतीत हुए हैं। अभी १८५२२ वर्ष पर्यन्त जिन शासन का सद्भाव रहेगा, धर्म का लोप नही होगा ऐसी सर्वज्ञ तीर्थंकर महावीर भगवान की वाणी है, अतएव समर्थ पुरुष, चरित्रनिष्ट व्यक्ति उचित रीति से अनेकान्त विद्या का प्रकाश फैलावें, तो अनेक निकट ससारी जीवो का कल्याण कर सकता है। उपरोक्त कथन का भाव यह है कि पहले के समान प्रकाश फैलाने का अब काल नही है। ढलते सूर्य के समान स्थित हैं फिर भी सम्यक्त्वी जीव मार्ग प्रभावना के हेतु पुरुषार्थ करता है, और सफलता न होने पर दुःखी नही होता है।

नागपुर में आचार्य महाराज के असाधारण व्यक्तित्व के प्रभाव से बहुत धर्म प्रभावना हुई, इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस प्रकार की निष्कलक चरित्रनिष्ट आत्मा हो तो धर्म की प्रभावना को कौन रोक

---

१ "कालः कलिर्वा कलुषाशयोवा। श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाशयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी प्रभुत्व शक्तेरपवादहेतुः" ॥ ५ ॥
'युक्त्यनुशासन'

सकता है ? हजारों श्रावकों ने अष्ट मूलगुणों का धारण करके व्रतों के द्वारा संस्कृत होने के प्रतीकसम यज्ञोपवीत को धारण किया।

भ्रष्टाचार का तीव्र निषेध

उस समय शीतलप्रसाद जी ने पुनर्विवाह को शास्त्र सम्भव बता अपने प्रचार का कार्य प्रारभ किया था, आचार्य श्री के प्रभाव से वह असत्प्रचार जनता में अपना विष न फैला पाया। इस प्रकार शील धर्म के रक्षण में लोगो की दृढ़ता और बढ़ी।

नागपुर में धर्म प्रभावना की चंद्रिका प्रकाश दे रही थी, तब एक मधुर समाचार संघपति सेठ पूनमचद घासीलाल जी जवेरी को बबई के तार से ज्ञात हुआ कि आपको एक लाख रुपया का लाभ हुआ है। इससे उनको तो हर्ष होना स्वाभाविक है। धार्मिक समाज को भी बडा आनद हुआ, क्योंकि ऐसे धर्मात्माओं और परोपकारी पुरुषो का अभ्युदय कौन नही चाहता है?

इस समाचार ने संघपति के चित्तमें न अहंकार उत्पन्न किया और न उस द्रव्य के प्रति तृष्णा का भाव ही उनके हृदय मे जगा। यद्यपि साधारण मनुष्य में विकृति आए बिना नही रहती है। इस प्रसंग में रवीन्द्रनाथ टैगोर की यह सूक्ति बड़ी महत्वपूर्ण प्रतीत होती है—

भीख की झोली रुपये की थैली से बोली "क्या तू यह भूल गई कि हमारा और तेरा एक कुटुम्ब है।"

रुपये की थैली ने कहा—"मेरी थैली में जो कुछ है, वह यदि तुम्हारी झोली में चला जाय, तो तुम भी निश्चय ही पारिवारिक संबंध भूल जाती।" इस प्रकार धन के द्वारा मनोविकार आना चाहिए था, किन्तु आचार्य श्री के चरणो के सत्संग से उनकी आत्मा में स्वयं ये भाव हुए कि इस द्रव्य को शिखरजी मे जिनेंद्र पंचकल्याणक महोत्सव में लगा देना अच्छा होगा। गुरुचरणप्रसाद से जो निधि आई है उसे उनके पुण्य चरणों के समीप ही श्रेष्ठ कार्य में लगा देना चाहिए,

नागपुर में शिखरजी में पंचकल्याण का निश्चय

ऐसा उनके चित्त में भाव उदित हुआ। यह पूर्ण तया स्वाभाविक बात है, मुक्त-स्थल सम्मेदाचल को पहुचने का दृढ़ निश्चय है, मुक्ति के महान आराधक के चरणो का सानिध्य है, तब वे मुक्त हस्त रहे यह आश्चर्य की बात नही है ? भवितव्यता के समान बुद्धि होती है। संघपति को महान पुण्य के सिवाय अपार यश को भी

कमाना है, इसलिए उस आय को धर्म का प्रसाद सोचकर इनने शिखर जी में पचकल्याण महोत्सव में व्यय करने कापक्व का विचार किया। किन्तु अभी दो माह में ये महाराज के साथ शिखरजी पहुच सकेंगे फिर महोत्सव की कैसे शीघ्र व्यवस्था हो सकेगी यह समस्या कठिन दिखती थी।

पुण्योदय से सभी अनुकूल वस्तुओ का सानिध्य प्राप्त होता है। जवेरी परिवार ने सेठ राव जी सखाराम जी दोसी सोलापुर वालो के साथ परामर्श किया। नागपुर में उस समय विदर्भ और महाकोशल की बहुत जनता गुरुदर्शन को गई थी। हमारे पिता (सिंघई कुवरसेनजी)भी नागपुर सपरिवार गुरुदेव के दर्शनार्थ पहुचे थे। वहाँ उनके साथ परामर्श हुआ कि न्यूनतम समय में श्रेष्ठ कार्य को किस प्रकार सुन्दर तथा भव्य रूप मे पूर्ण किया जाय ? विचार विमर्श के बाद सेठ दाडिमचद जी सघपति, सेठ रावजी भाई तथा हमारे पिता जी का पचकल्याणक व्यवस्था के लिए जैनसमाज कलकत्ता से सहयोग लेने तथा अन्यव्यवस्था के उद्देश्य कलकत्ता एव शिखरजी जाने का निश्चय हुआ। रावजी भाई के साथ दाडिमचदजी का सिवनी आना हुआ। यहाँ विशाल मनोज्ञ तथा भव्य जिनमदिर की वदना कर उनको बडा आनद प्राप्त हुआ। यहाँ से पिताजी को साथ ले वे कलकत्ता गए। वहाँ प्रबध व्यवस्था की योजना तथा कार्य का आवश्यक प्रबध कर वे वापिसी में काशी आए थे। हम उस समय वहा न्यायशास्त्र का अध्ययन करते थे। वहा पंचकल्याणक को वार्ता विदित हुई थी।

अब तैयारी विद्युत वेग से आरभ हुई। सिवनी के महान दानशील श्रीमत सेठ पूरनसाहजी ने सन १९०९ में शिखरजी पर जो मुक्त हस्त हो दान देकर महिमा शाली पचकल्याणक कराया था, जिसमें भारतवर्ष के जैन बधु आए थे और श्रेष्ठ प्रबध सबके प्रशसा की वस्तु रहा, उसका निकट तम अनुभव हमारे पिताजी का रहने से इस १९२८ के फाल्गुन मास के महो सव के लिए उनका मार्गदर्शन योजनाए एव सहयोग बडे महात्वास्पद रहे।

नागपुर समाज ने चादी के पत्र में उत्कीर्ण सस्कृत में लिखा गया मान पत्र सघपति को सेठ मोतीसाव गुलाबसाव के हाथ से भेंट कराया था।

रत्नत्रय मूर्ति का धर्मसघ तीन दिन तक धर्मामृत वर्षा के उपरात ता. ६ जनवरी को भडारा के लिए रवाना हो गया। यदि सघ रामटेक,सिवनी के मार्ग से जाता तो विशेष धर्म लाभ होता, भव्यो का कल्याण भी होता

किन्तु वह रास्ता कुछ लम्बा सोचा गया, अत दूसरे मार्ग से रवाना हुआ।

जैन कलारो का स्थितिकरण

भडारा के पश्चात सघ साकोली पहुचा। वहाँ रोतवाल भाइयो ने सघ का दर्शन किया तथा दस बारह स्त्रियो ने पुनर्विवाह न करने की प्रतिज्ञा ली कारण इस समाज मे पुनर्लग्न की कुप्रथा कुछ काल से आ गई थी। ऐसा ही दक्षिण प्रात में हुआ। आचार्य महाराज के उपदेश के प्रभाव से लाखो व्यक्तियो ने पुनर्विवाह को हीनता का कारण स्वीकार करते हुए उसका प्रचार बद करने की सुदृढ प्रतिज्ञा की। साकोली मे बहुत से जैन कलार भाइयो ने महाराज का दर्शन किया। ये लोग पहले जैनी थे, जैसा उनके नाम से स्पष्ट होता है, किन्तु उपदेश न मिलने से और जैन तत्वों का परिचय न होने से वे अपने धर्म को पूर्णतया भूल गए। कुछ जैन कलारो ने महाराज से व्रत नियम लिए थे।

छत्तीसगढ प्रात के भयकर जगल के मध्य से सघ का प्रस्थान हुआ।

अगणित ग्रामीणो का व्रतदान द्वारा उद्धार

दूर दूर के ग्रामीण लोग इन महान मुनिराज के दर्शनार्थ आते थे। महाराज ने हजारो को मास, मद्य आदि का त्याग कराकर उन जीवो का सच्चा उद्धार किया था। पाप प्रवृत्तियो के परित्याग से आत्मा का उद्धार होता है। कुछ लोग सुन्दर वेशभूषा सहभोजनादि को आत्मा के उत्कर्ष का अग सोचते है, यह योग्य बात नही है। आत्मा के उत्कर्ष के लिए अत करण वृत्ति का परिमार्जन किया जाना, परिष्कृत बनाया जाना आवश्यक है। आचार्य महाराज का कथन यही है कि गरीबो का सच्चा उद्धार तब होगा, जब उनकी रोटी की व्यवस्था करते हुए उनकी आत्मा को मासाहारादि पापो से उन्मुक्त करोगे। इसी सम्बन्ध में वर्धा में सन १९४८ के मार्च माह में मैं वर्तमान राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद जी से मिला था,

पाप त्याग द्वारा ही जीव का उद्धार होता है

लगभग डेढ़ घटे चर्चा हुई थी। उस समय हरिजन सेवक पत्र के संपादक श्री मश्रुवाला भी उपस्थित थे। श्री विनोबा भावे से भी मिलना हुआ। मैंने कहा था कि गरीबो के हितार्थ कम से कम धर्म के नाम पर किया जानेवाला पशुओ का बलिदान बन्द करने के विषय में प्रचार कार्य होना चाहिए। सर्वोदय समाज को भी इसमें क्रियात्मक सहयोग देना चाहिए, किन्तु यह मगल योजना कार्यान्वित करने में उनने अपने को

असमर्थ बताया।

यही चर्चा सन १९४९ में मुबंई के गृहमंत्री श्री मोरार जी देसाई से चलाई थी, तब उनने कहा था कि सरकार की बात जनता सुनती नहीं है।

मौलिक सुधार को भूलना वृक्ष के स्थान में पत्तो का सींचना है

मौलिक सुधारों के स्थान में पत्तों के सींचने द्वारा वृक्षों को लहलहाता, हराभरा देखने की लालसा आजकल के लोक सेवकों के मन में स्थान कर गई है, अतः उसका अखबारी मूल्य और परस्पर प्रगति के विषय में 'अहोरूपं, अहोध्वनिः' सदृश धन्यवाद-प्रदान और आभार आदान से अधिक महत्त्व नहीं है। पत्र सिंचन भी कभी इष्ट साधक हुआ है? सच्चे लोक कल्याण की आकांक्षा करने वालों को आचार्य महाराज से प्रकाश प्राप्त करना चाहिए था, किन्तु उनकी दृष्टिमें इतनी महान् आत्मा नहीं दिखाई पड़ती है। मोहान्धकार वश ऐसा ही परिणमन होता है।

इस प्रसंग मे हमें महापुराण का एक कथानक स्मरण आता है। एक राजा अरविन्द थे। उसके शरीर में भयंकर दाह-व्यथा उत्पन्न हो गई। उसके अनुभव में आया कि यदि रक्त पूर्ण वापिका में वह स्नान करेगा, तो उसकी पीड़ा शान्त हो जायगी। अरविन्द

अरविंद नरेश का पथानुसरण ठीक नहीं है

नरेश ने राजकुमार को बुलाकर आदेश दिया कि पास के वन हरिणो को मारकर उनके रक्त से वापी भरवाकर स्नानार्थ तैयार करवाओ। जब युवराज वन में पहुंचा तो वहा दया के देवता दिगम्बर जैन गुरु का दर्शन मिल गया। गुरु चरणों में उसने प्रणाम किया। मुनिराज के अवधिज्ञान था। उसके द्वारा विचार कर उनने कहा "अरविन्द राजा की शीघ्र ही मृत्यु होनी है। तुम हरिणो का घातकर उनके रक्त द्वारा वापिका भरने का पापकार्य मत करो।" राजपुत्र के विश्वास कराने के लिए उनने कहा "तेरे पिता को विभगावधि हो गई है। अतः जिस प्रकार उसे जंगल के हरिणो का ज्ञान हो गया, उस प्रकार उससे पूछो, कि वहां कोई मुनिराज भी दिखते हैं या नहीं।" राजपुत्र ने पिता से पूछा, तो उसने कहा "वहा हरिण ही मुझे दिखाई देते हैं।" अतः मुनि वचन को सत्य जानकर राजपुत्र ने लाक्षा रस से वापिका भरवाई। उसे रक्त मानकर हर्षित हो राजा अरविंद उसमें घुसा और जब उसे लाक्षा का स्वाद आया तो क्रुद्ध पुत्र के वध को तलवार ले झपटा और गिर मर गया।

ऐसे ही आज दिन हिंसक प्रयोग तो समर्थ पुरुषों को श्रेयस्कर दिखाते

है, किन्तु महर्षि मुनिवर के महान अनुभव से लाभ लेकर मानवता को कलक मुक्त बनाने की बात उनके दृष्टि पथ में नही आती। बताए जाने पर भी नही दिखाती है। "सच्चा कल्याण पाप परित्याग है" इस आचार्य वाणी पर जब भी ध्यान चला जायगा, तब ही कल्याण की प्राप्ति होगी।

आगे राजनादगाव रियासत आई। वहा के श्वेताम्बर भाइयों ने भी दिगम्बर बधुओ के साथ पूज्यश्री के सघ का स्वागत, अभिवदन किया। दीवान आदि बडे अधिकारी लोग भी जुलूस में रह, तथा महाराज का उपदेश सुनने को भी आए थे।

यहा से चलकर सघ ता: १३ को दुरग पहुचा। यहाँ जहा भी जैनी भाई मिले, उनको अष्ट मूलगुणधारण पूर्वक यज्ञोपवीत दिया जाता था। कारण "सस्कारात् द्विज उच्यते" सस्कार के कारण त्रिवर्णवाला को द्विज कहते है। बिना सस्कार के शास्त्र की परिभाषा के अनुसार उच्चकुल वाले भी शूद्र सज्ञा को प्राप्त करते है। महापुराण में जिन मोक्षगामी पुरुषो का चित्रण किया गया है, उनके शरीर में यज्ञोपवीत का वर्णन किया गया है। यह व्रत चिन्ह है 'व्रतचिन्ह् दधत्सूत्रम्' (महापुराण)। इसी से आगम की आज्ञा को प्रामाण माननेवाले सघ के तत्वावधान में यह कार्य हुआ। इससे लाखों लोगो ने व्यवस्थित रूप से अष्ट मूलगुणो का नियम लिया। आत्मा के उत्कर्ष के लिए थोडा भी व्रत कारण हो जाता है। यमपाल चाडाल ने जरा सा अहिंसा व्रत लेकर देवताओ के द्वारा पूजा प्राप्त की। प्रतीत होता है उत्तर भारत में यवना के शासन काल में अत्याचार वश बहुत क्रियाए लुप्त हो जाने से इस कर्त्तव्य कर्म में विमुखता हो गई।

और उसने कोई विघ्न नही किया। महाराज के पुण्य प्रसाद से विघ्न का पहाड सत्प्रयत्न की फूंक मारने से उड़ गया। कुशलता से कार्य करने पर जो वस्तु प्रारंभ में अगुली से टूट जाती है, वही चीज अयोग्य व्यक्तियो का आश्रय पाकर कुठार से भी अछेद्य हो जाती है।

इस दिगम्बरत्व के विषय में मुनि जीवन अध्याय में विशेष प्रकाश डाला जा चुका है, अतः इसके संबंध में अधिक लिखना आवश्यक नही प्रतीत होता। दिगम्बरत्व के विषय में तर्क की तर्जनी उठाने वालो को यह जानना जरूरी है कि आत्मतल्लीनता तथा शरीर के प्रति निष्पृहभावना के कारण वस्त्रधारण की मनोवृत्ति ही नही रहती है।

न्याय निर्माताओ को मुनियों से प्रकाश प्राप्त करना चाहिए

कहते है कि जब आर्कमिडीज ने विशिष्ट गुरुत्व (Specific Gravity) सिद्धात को खोजा, तब उसे इतना असीम आनन्द हुआ था कि वह स्नानागार से नग्न ही निकल पडा और बाहर कहता रहा कि मुझे मेरी वस्तु मिल गयीं। इस वैज्ञानिक जगत मे प्रख्यात उदाहरण से यह बात स्पष्ट होती है, कि जब साधारण लौकिक पदार्थ की खोज के द्वारा हर्षित मानव अपने शरीर की सुध, बुध भूल सकता है, तब साक्षात् अमृत और आनन्द के भंडार रूप आत्मत्व की उपलब्धि होने पर उस व्यक्ति की शरीर के प्रति अत्यन्त उपेक्षा होना नैसर्गिक बातें है। ऐसे आत्मज्ञ सत्पुरुष को शरीर की समाराधना करना, उसे सजाना तथा उसकी निरंतर सेवा करना मुक्ति के शत्रु की भक्ति करने सदृश लगता है। आत्मध्यान द्वारा चैतन्य मय, आनन्द पुंज आध्यात्मिक विभूति की उपलब्धि होने के कारण दिगम्बर श्रमणो का ध्यान देह आदि की ओर नही जाता। यथार्थ में चित्त वृत्ति उस ओर जाकर लीन होती है, जहा उसे अच्छा लगता है। जैसे लौकिक कार्यों में लगे हुए लोग लाभ की लालच से शरीर आदि की सुध नही लेते इसी प्रकार आत्म रूप में निमग्न साधु लोग आत्म कथा तथा आत्मचिंतन की बातो के सिवाय अन्य विषयो में नीरसता का अनुभव करते हैं। सूर्योदय होने पर जैसे चद्र और तारिकाओ का समूह विलीन हो जाता है, इसी प्रकार निर्मल आत्मा की अनुभूति होने पर शरीर आदि को सुख देनेवाली सामग्री का ध्यान नहीं रहता। इन आध्यात्मिक विभूतियो के जीवन से न्याय निर्माताओ को प्रकाश प्राप्त करना था, किन्तु इसे भूल कोई कोई उनके सिर पर अपने कानून का

अकुंश रखने की यथोचित चेष्टा करते हैं ।

सन् १९५१ की बात है। नीरा जिला पूना में नवनिर्मित सुन्दर जिन मंदिर की प्रतिष्ठा के समय हजारों जैन बंधु आये थे । उस समय आचार्य शांतिसागर महाराज भी वहां विराजमान थे । पूना के जिलाधीश ने विवेक से काम न ले आचार्य शांतिसागर महाराज के विहार पर बंधन लगा दिया जिससे भयंकर स्थिति उत्पन्न होने की संभावना थी । उद्योगपति सेठ लालचन्द हीराचन्द सदस्य केन्द्रीय परिषद तथा मोतीचन्द भाई कान्ट्रेक्टर बम्बई ने गृहमन्त्री श्री मोरार जी भाई का समक्ष उक्त जिलाधीश के विवेक शून्य आदेश की ओर ध्यान दिलाया । इसलिए गृहमंत्री महोदय, ने जिलाधीश को विशेष आदेश देकर नादिरशाही आर्डर को वापस लेने की सूचना दी ।

नादिरशाही आर्डर

सन १९३८ में निजाम राज्य में मुनि विहार के विरुद्ध राज्याधिकारियों ने आदेश निकाला था उस समय आचार्य महाराज के आदेशानुसार हमें हैदराबाद जाने का अवसर मिला था। एक जैन प्रतिनिधि मंडल निजाम की कार्यकारिणी के तीन सदस्यों से चौदह सितम्बर को मिला था और उसने जैन मुनियों की पवित्र वृत्ति तथा उज्जवल जीवन चर्या आदि को समझाया था। जैन प्रतिनिधि मंडल की बातों से निजाम सरकार का भ्रम दूर हुआ था, इसलिए २ नवंबर सन् १९३८ को विशेष फरमान द्वारा मुनि विहार प्रतिबंध के आदेश को रद्द किया ।

रायपुर में धर्म प्रभावना के उपरान्त संघ २० जनवरी को रवाना होकर आरंग होते हुए संभलपुर पहुंचा। वहां से प्रायः जंगली मार्ग से संघ को जाना पड़ा । उस जगह इन दिगंबर गुरु के द्वारा सरल ग्रामीण जनता का कल्याण हुआ । रास्ते भर हजारों लोग इन नागा बाबा के दर्शन को दूर दूर से आते थे । इन्हें भगवान सा समझ वे लोग प्रणाम करते थे तथा इनके उपदेश से मांस खाना, शराब पीना, शिकार खेलना, आदि पापाचारों का त्याग करते थे । जहाँ देखो वहाँ दर्शन प्रेमियों का मेला सा लग जाता था । इस प्रकार सच्चा लोक कल्याण करते हुये आचार्य महाराज का संघ १२ फरवरी को रांची पहुंचा । वहां बहुत लोगों ने अष्टमूलगुण धारण किये । वहाँ के सेठ रायबहादुर रतनलाल सूरजमलजी ने धर्मप्रभावना के लिये बड़ा उद्योग किया था । आचार्य संघ के द्वारा यज्ञोपवीत ग्रहण करने का

संघ का रांची पहुंचना

उपदेश सुनकर कुछ लोगों ने शंका की कि महाराज यह तो वैदिक संस्कृति का चिन्ह है जैनियों को यज्ञोपवीत लेने का क्या कारण है ? आचार्य महाराज ने समझाया कि "आगम में यज्ञोपवीत संस्कार बताया गया है, वह रत्नत्रय धर्म का प्रतीक है। दान पूजा का अधिकार उसे प्राप्त होता जिसका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ हो।" महापुराण में द्विज उसे बताया है जिसका माता के गर्भ से तथा क्रिया से जन्म हुआ हो इस प्रकार संस्कार के द्वारा जन्म वाला द्विज कहलाता है ।

हरिवंश पुराण में लिखा है कि भगवान ऋषभनाथ के कंठ में यज्ञोपवीत था। महापुराण में चक्रवर्ती भारत के यज्ञोपवीत धारण करने का वर्णन है। भ्रमवश लोग जैन क्रिया को वैदिक क्रिया मान बैठे है। आचार्य महाराज के उपदेश से लोगों को संतोष हुआ तथा बहुतों ने जनेऊ लिए।

सम्मेद शिखर

फागुन सुदी तृतीय को शिखर जी को पहुचना

संघ हजारीबाग पहुंचा तब वहां के समाज ने बड़ी भक्ति प्रगट की। ऐलक पन्नालाल जी संघ में सम्मलित हो गये वहाँ से चलकर संघ फाल्गुन सुदी ३ को तीर्थराज शिखरजी के पास पहुच गया । उस समय सब को अवर्णनीय आनन्द की प्राप्ति हुई।

सम्मेदशिखर का दर्शन होते ही प्रत्येक यात्री के अंतःकरण में आनद का रस छलका सा पड़ता था। अगणित सिद्धों की सिद्धि के स्थल शिखरजी का सस्मरण जब पुण्य भावनाओं को जागृत करता है तब साक्षात दर्शन के हर्ष का वर्णन कौन कर सकता है ?

शिखर जी में भव्य पुरी का निर्माण

उस समय संघ का प्रत्येक व्यक्ति हृदय से आचार्य महाराज के प्रति कृतज्ञता प्रगट कर रहे थे, जिन गुरुराज के निमित्त से यह तीर्थ वंदना का सुयोग मिला था। मधुवन में पहुंचते ही वहाँ के सुन्दर जिन मंदिरों के दर्शन से श्रात यात्री को अपूर्व शांति तथा स्फूर्ति प्राप्त होती है। आचार्य संघ के पदार्पण के पहले ही भक्त भव्यों का समुदाय वहां पहुंचा था इससे वह स्थल भव्यपुरी समान दिखता था। निर्वाण भूमि का दर्शन, पंच कल्याणक का लाभ होने के साथ श्रेष्ठ रत्नत्रयमूर्ति आचार्य महाराज का दर्शन मिलेगा, इसलिए लाखों लोगों ने शिखरजी आकर एक विशाल धार्मिक नगर का दृश्य उपस्थित कर दिया। उससमयसभी ट्रेनो में अपार भीड़ थी। स्पेशल ट्रेनें पारसनाथ स्टेशन को

जल्दी जल्दी आ रही थी। जैन समाज अल्पसख्यक है, यह बात उस समय समझ में नही आती थी। रेलवे के टिकिट बाबू का कहना था, कि एक लाख बीस हजार टिकटें उसके हाथ मे आयी थी। मोटर आदि वाहनो द्वारा पहुचने वालो की गणना करना कठिन था। देखने में वह स्थान धर्मपुरी या अहिंसानगर के रूप में प्रतीत होता था। इस नगरी का प्रत्येक व्यक्ति पवित्र अहिंसा, सिद्धात के अनुसार प्रवृत्ति, करता था। इस पुरी के प्राण तथा आराध्य देव सतराज आचार्य शांतिसागर महाराज थे।

सच्ची धर्मपुरी या अहिंसा नगर का रूप

सघपति मुक्ता की कमाई को मुक्त भूमि में मुक्ति के हेतु मुक्तहस्त हो व्यय करने में सलग्न थे। जगल में लाखो लोगो का प्रबन्ध करने मे वास्तव में पानी की तरह खर्च होने वाले पैसे की ओर दानी बन्धुओ का ध्यान न था। वे बडे विवेकी और कुशल थे। उन्हे विश्वास था कि कल्पवृक्ष के समान आचार्य महाराज के उदार चरणो का जब आश्रय मिल गया है तब किस बात की कमी हो सकती है? उस धर्मपुरी में सभी लोग धर्म पुरुषार्थ की कमाई में लगे थे। आधीरात से हजारो नरनारी बाल बच्चो के साथ एक एक लालटेन ले भगवान पारसनाथ की जय बोलते हुए पर्वत पर जाने को उद्यत होते थे। लगभग दस कोस की यात्रा भगवान की भक्ति, श्रद्धा तथा आत्मबल के प्रसाद से अशक्त लोग भी प्रसन्नता पूर्वक पैदल करके आते थे। पर्वत पर घना जगल होने से वहा जगली जानवरों के निवास को कौन रोक सकता है? किन्तु प्रभु पारसनाथ का नाम वहाँ गूजते रहने से कभी भी किसी यात्री को किसी प्रकार का भय नही हुआ। भीषण जगल में जाते हुए ऐसा लगता है मानो नगर के बगीचे में ही जा रहे हो। जिन चिन्तामणि तुल्य पारस प्रभु का नाम दूर देश में जपने वालो का सकट क्षण में दूर होता है तब उन देवाधिदेव के निर्वाण स्थल में धार्मिक भक्तो को कैसे कष्ट हो सकता है? जैसे जैसे यात्री पर्वत पर चढता जाता है वैसे वैसे उसके परिणाम भी उज्वल और उन्नत होते जाते है। लाखो आदमियो की कोलाहल युक्त इस भव्यपुरी में रहते हुए भी आचार्य महाराज पूर्ण शाति भाव से आत्मदर्शन करते थे। मगलधाम गिरिराज ने उनकी आत्मा में विलक्षण विशुद्धता उत्पन्न कर दी थी। इससे असख्यात् गुण-श्रेणी रूप से कर्मों का क्षय होता जा रहा था।

मगल प्रभात का आगमन हुआ। प्रभाकर निकला। सामायिक आदि

पूर्ण होने के पश्चात् आचार्य महाराज वंदना के लिये रवाना हो गये। ये धर्म के सूर्य तभी विहार करते हैं जब गगन मंडल में पौद्गलिक प्रभाकर प्रकाश प्रदानकर ईर्या सिमिति के रक्षण में सहकारी होता है। महाराज भूमि पर दृष्टि डालते हुए जीवों की रक्षा करते पर्वत पर चढ़ रहे हैं। विशेष अभ्यास और शक्ति के कारण वे शीघ्र ही गंधर्व नाला के पास पहुँच गये। कुछ काल के अनंतर सीता नाला मिला। वह जल प्रवाह कहता था-"जिस तरह मेरा प्रवाह बहता हुआ लौटकर नहीं आता इसी प्रकार जगत् के जीवों का जीवन प्रवाह भी है"। ये दोनों निर्झर स्याद्वाद शैल से बहती हुई द्रव्य पर्याय रूप दृष्टि युगल के प्रतीक लगते थे। मार्ग की कंकर पत्थरों की पर्वाह न करते हुये महाराज शैलराज के शिखर पर पहुँचते जा रहे है। कुछ घंटो के उपरान्त भगवान कुन्थनाथ स्वामी की टोंक (निर्वाण स्थल) आ गई। उस स्थल पर विद्यमान सिद्ध भगवान को प्रणाम करते हुये अपनी ज्ञान दृष्टि के द्वारा वे स्थल के ऊपर सातराजू की ऊंचाई पर सिद्ध शिला पर विराजमान सिद्धत्व को प्राप्त भगवान कुन्थनाथ आदि का ध्यान कर रहे थे। उन महामुनि का ध्यान-मुद्रा से ऐसा प्रतीत होता था, मानो उनने अपने ज्ञानोपयोग द्वारा मुक्तात्माओं का साक्षात्कार कर लिया हो।

गंधर्व और सीता नाला स्याद्वाद दृष्टि के प्रतीक

शिखरजी शैल पर आचार्य महाराज

स्वामी समंत भद्र ने लिखा है कि जिस स्थान से भगवान का मोक्ष होता है उस स्थल पर इंद्र महाराज चिन्ह बना दिया करते हैं। भगवान कुन्थनाथ की टोंक ज्ञानधर कूट के नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ से मुक्त होने वाली छयान्नवे कोडा कोड़ी, छयान्नवे करोड़ बत्तीस लाख, छयान्नवे हजार सात सौ ब्यालीस मुनियों ने सिद्ध पद प्राप्त किया। ऐसे स्थान पर सिद्ध पूजा की जयमाल कितनी शांतिप्रद लगती है, यह प्रत्येक सहृदय सोच सकता है। वहाँ सिद्धों को प्रणाम करते हुये ये पद बड़े प्रिय लगते हैं:-

"विराग सनातन शांत निरंश निरामय निर्भय निर्मल हंस।
सुधाम विबोध निधान विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध समूह॥

इस प्रकार भावमय सिद्धों का गुण स्मरण आत्मा को आनंद विभोर बनाता है। आज हजारों मील पैदल चलकर शैलराज पर विराजमान बीस तीर्थंकरों के चरण चिन्हों का प्रणाम करते हुए तथा अगणित मुक्त आत्माओं

को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए श्रमणराज शांतिसागर महाराज को जो शांति मिली, जो प्रकाश प्राप्त हुआ उसका अनुमान राग रोगी आत्मा कैसे कर सकती है। कषायों का अभाव हुए बिना उस निर्मलता को कौन जान सकता है? अंधा आदमी नेत्र वाले के रूप, ज्ञान का वर्णन कैसे कर सकता है?

इस श्रेष्ठ तीर्थ पर श्रेष्ठ मुनि को देखकर सुरराज का मन भी उन्हें प्रणाम करने को तत्पर होता होगा। किसी चित्र के लिये उपयुक्त पृष्ठ-भूमि का होना आवश्यक है, आचार्य शांतिसागर की चरणपूजा के लिये यह स्थान अन्वर्तत पार्श्वभूमि रूप है। सचमुच में यह शैलराज पार्श्व-तीर्थंकर की भूमि ही तो है।

सुवर्ण भद्र कूट

वंदना करते हुये अंत में पारसनाथ भगवान की सुवर्ण भद्रकूट मिली। वहां से ब्यासी करोड, चौरासी लाख, पैंतालीस हजार, सात सौ ब्यालीस मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया था। वहां आकर भव्यात्मा पढ़ता है—

"जुगल नाग तारे प्रभू पार्श्वनाथ जिनराय।
सावन सुदि सातें दिवस लहे मुक्ति शिवराय॥"

वहां श्रान्त यात्री को शीतल समीर प्रेमपूर्वक भेंट करती हुई महान शांति तथा नवस्फूर्ति प्रदान करती है। वहां ऐसा मन लगता है कि जाने की इच्छा ही नहीं होती। कितनी पवित्र, मनारम, आनंददायनी यह निर्वाण-भूमि लगती है जहां *'गजराज'* के जीव ने रत्नत्रय के द्वारा *'जगराज'* का पद प्राप्त किया था। इस स्थल पर वादिराज आचार्य रचित पार्श्वपुराण का सुन्दर चित्र मनोमंदिर के समक्ष उपस्थित होता है जिसमें मुनि अरविंद मरुभूति के जीव गजराज को इस प्रकार समझाते थे "हे गजेन्द्र! सुपुष्ट सम्यक्त्व रूप हंस से शोभायमान मानस में— मानसरोवर में प्रेम कर अणुव्रत रूप पद्म के आकर, सरोवर में अवगाहन कर प्रिय और पुण्य जल को पी।"[1] इस उपदेश ने उस जीव को जो प्रेरणा दी उससे वह आत्मा विकसित हो पार्श्वनाथ तीर्थंकर बन मुक्ति मंदिर में पधारी। महान आत्मा बनने वाले जीव में संयम की ज्योति बहुत पहले से पहुंचकर असंयम के अंधकार को दूर किया करती है। आज का मनुष्य जिन नियमों

---

१ कुरु कुंजर मानसे रतिं दृढ सम्यक्त्व मरालराजिते।
त्वमणुव्रत पद्म सद्मनि प्रियपुण्याम्बु निगाह्य पीयताम्॥ ३-९०॥

को पालन करने में डरता हूँ वे नियम भगवान पारसनाथ ने गज की पर्याय में पाले थे। कवि भूधरदास कहते है–

"अब हस्ती सयम साधै, त्रस जीव न मूल विराधे।
सम भाव छिपा उर आनै, अरि मित्र बराबर जानै ।।
काया कसि इन्द्री दण्डै, साहस धरि प्रोषध मडे।
सूखे तृण पल्लव भच्छै, परमर्दित मारग गच्छै ।।
हाथी गन डोल्यो पानी, सो पीवे गजपति ज्ञानी।
विन देखे पाव न राखे, तन पानी पक न नाखे ।।
निज शील कभी नहिं खोवे, हथिनी दिशि भूल न जावे।
उपसर्ग सहै अति भारी, दुर्ध्यान तजै दुखकारी।।"

जिस धर्म के प्रसाद से तिर्यंच पर्याय तक के जीवो का उद्धार हुआ, वे जैनी बने और अत में जयशील होते हुए जिनेन्द्र सिद्ध परमात्मा बने उस धर्म की शरण लेने वाला विवेकी मानव किस सिद्धि और सफलता को नही पायेगा? आज तो भगवान पार्श्वनाथ का नाम सचमुच म सम्पूर्ण सिद्धियो और सफलताओ को प्रदान करता है। उनका नाम धारण करने वाला पाषाण पारस पाषाण बनकर लोह को सुवर्ण बनाता है तो जो पुण्यात्मा उनका नाम विवेक पूर्वक लेता रहेगा वह क्या न कर्मों का नाश कर अविनाशी शाति को प्राप्त करेगा?

पार्श्वनाथ भगवान की टोक में पूर्णशान्ति तथा स्फूर्ति प्राप्त करने के पश्चात महाराज ने पर्वत से उतरना प्रारभ किया। उस समुन्नत टोक पर चलते और उतरते हुए मुनियों की शोभा बडी प्रिय लगती है। उद्यान की शोभा पुष्पो से होती है, जलाशय का सौदर्य कमलो से होता है, गगन की शोभा चद्र से होती है, इसी प्रकार पुण्य भूमि की सुदरता महामुनियो से होती है। उस प्रकृति के भडार शैलराज पर चलते हुए आचार्य महाराज की निर्ग्रन्थ मुद्रा उन्हे प्रकृति का अविच्छिन्न अग सा बताती थी।

अब प्रभात का सूर्य आकाश के मध्य म पहुच गया, इससे आचार्य शातिसागर महाराज एक योग्य स्थल पर आत्म ध्यान में बैठ गये। आज की सामायिक की निर्मलता और आनन्द का कौन वर्णन कर सकता है, जब कि उसकी कल्पना भी नही की जा सकती? आज बीस तीर्थंकरो की निर्वाण भूमि की वदना करके निर्वाण मुद्राधारी मुनिराज आत्मा और परमात्मा के स्वरूप के चितन में निमग्न है। आज की निर्मलता क्या–

धारण है। समता अमृत से आत्मा को परितृप्त करने के पश्चात् उन मुनिनाथ ने पुन: मधुवन की ओर प्रस्थान किया। उस समय उनकी पीठ पर्वत की ओर थी किन्तु उनके अत:करण के समक्ष तीर्थंकरो के चरण अवश्य आते थे। महाराज की स्मरण शक्ति भी तो सामान्य नहीं है। आज भी उनकी स्मृति वदना के सस्मरण सुस्पष्ट जागृति कर लेती है, तब उस समय की सुस्पष्टता का तो क्या कहना है? उतरते समय एक गधर्व नाला मिलता है। ऊपर से नीचे आने में व्यवहार पथ का ही अवलबन होता है, इस बात को वह एक निर्झर सूचित करता हुआ प्रतीत होता था। आगे मधुवन के समीप आने पर भील आदि जगली लोगो का मधुर गीत सुनाई देता है। वे गा रहे थे—

"तुम तो भला विराजा जी।
सावरिया पारसनाथ शिखर पर भला विराजाजी ॥
देस देस का जतरी आया पूजा भाव रचाया।
आठ दरवलें पूजा कीनो मनवांछित फल पाया॥ टेक ॥

नीचे आ जाने पर हृदय पुन उस पुण्यधाम को प्रणाम करना चाहता है, जहा चरण चिन्हो को प्रणाम करके वदना नीचे आये है, अत वह इन शब्दो द्वारा वदना करता है—

"प्रथम कुथुजिन धर्म सुमति अरु शाति जिनदा। विमल सुपारस अजित पार्श्व मेटे भव फदा।
श्री नमि अरहजुमल्लि श्रेयास सुविधि निधि कथा प्रभु महाराज और मुनिसुव्रत चदा ॥
शीतलनाथ अनंत जिन सम्भव अभिनदन जी। वीस टोक पर वीस जिनेश्वर भाव सहित नित वद जी ॥

मधुवन के जिन विम्बो की वदना करके आज की तीर्थ वदना पूर्ण हुई। इसके पश्चात् महाराज चर्या को निकले। भाग्यशाली दातार को आज आहार दान का श्रेष्ठ सौभाग्य मिला। उसने अपने को कृतार्थ माना सो स्वाभाविक है। दर्शको को जब महान आनंद आता है, तब अतिथि सत्कार करने वाले दातार को क्यो न अपार हर्ष होगा? कारण, महाराज सदृश सर्व गुण सपन्न अतिथि का दर्शन आज दुर्लभ है।

दक्षिण में निर्ग्रंथ मुनि परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है, इससे जैन क्रियाओ का सुव्यवस्थित पालन होता चला आ रहा है।

कई ऐसी क्रियाएं है, जिनको लिखना कठिन प्रतीत होता है और उनका प्रत्यक्ष प्रयोग देखकर समझना सरल कार्य होता है।

सूक्ष्म चर्चा

एक दिन महाराज ने कहा—"कोई कोई मुनिराज कमण्डलु की टोटी को साम्हने मुह करके गमन करते है, यह अयोग्य है।"

मैंने पूछा—"महाराज! इसका क्या कारण है, टोटी आगे हो या पीछे हो। इसका क्या रहस्य है?"

महाराज ने कहा—"जब सघ में कोई साधु का मरण हो जाता है, तब मुनि टोटी आगे करके चलते है, उससे संघ के साधु के मरण का बोध हो जायगा। वह अनिष्ट घटना का सकेत है।"

मैंने पूछा—"महाराज! टोटी साम्हने करके यदि चला जाय, तो और भी कोई दोष आता है?

महाराज ने कहा—"टोटी साम्हने करके चलने से छोटे कीडे टोटी के छिद्र द्वारा भीतर घुस जावेंगे, और भीतर के पानी में उनका मरण हो जायगा। टोटी पीछे करके चलने में यह बात नही है।"

इस उत्तर को सुनकर आचार्य महाराज की सूक्ष्म विचारपद्धति और तार्किक दृष्टि का पता चला कि वे कितनी बारीकी से वस्तु के स्वरूप के विषय में विचार करते है। उनका ऐसा समाधान होता है कि वह अत करण को पूर्ण सतोष प्रदान करता है।

महाराज की सिद्ध भक्ति

अभी सन् १९५१ के बारामती चातुर्मास में आश्विन मास में महाराज के दर्शनार्थ देश विदेश में अपने वाणिज्य विषयक चातुर्य के लिए विख्यात सेठ वालचद हीराचद बंबई वाले आए। इतने महान व्यक्ति को कर्म चक्र के विशेष उदय युक्त देखकर आश्चर्य होता था, कि उनके पास करोडो रुपया है और कैसे आज उस धन को सर्व शक्तिमान कहते है। वाशिगटन ने सर्व शक्तिमान डालर, 'विश्व की पूजा का महान पात्र'[१] शब्द द्वारा अमेरिकन सिक्के डालर की महिमा कही थी। वह धन उनके तनिक भी काम में नही आ रहा था। वे बोल नही सकते थे। हाथ पैर सब अकड गए थे। रोटी भी हाथ से नही खा सकते थे। आचार्य

---

१ "The Almighty Dollar, that great object of universal devotion."

स्पष्ट शब्द न निकले ।

उस समय मैंने कहा—"सेठ जी ! आपका बड़ा भाग्य है जो आप श्रेष्ठ महात्मा का दर्शन कर रहे हैं । आपने करोड़ों रुपया कमाए, श्री के दर्शनार्थ आए । प्रणाम करने की शक्ति नहीं, बोलने म देश विदेश का पर्यटन किया । जहाज, हवाई जहाज, मोटर का कारखाना खोला बड़े बड़े काम किए, किंतु ये सब आत्मा के लिए कुछ भी कल्याण साधक न हुए । आपके समस्त उद्योग करते हुए भी धन वैभव आपके शरीर की व्यथा को दूर नहीं कर सका, अतः आप महाराज, को प्रणाम कीजिए और 'णमो अरिहंताणं,' आदि पंच नमस्कार मंत्र की मन में जाप दीजिए । आचार्य महाराज का जब बने तब आकर दर्शन कीजिए ।"

यह सुनकर महाराज बोले—"हम जानते हैं ,इनको । सेठ जी को केवल 'णमो सिद्धाणं' का जाप करना चाहिए । यह सरल होगा और यह श्रेष्ठ भी है। इससे सब दुःख दूर होते हैं।" सेठ बालचंद ने अपने अस्पष्ट शब्दों द्वारा गुरु वाणी को स्वीकार किया ।

इससे यह भी ज्ञात हुआ कि महाराज की भक्ति सिद्ध भगवान पर अत्यधिक है। वह सिद्ध भक्ति ही तो उनको सिद्ध क्षेत्र पर ले आई जिसके प्रसाद से शिखरजी में लाखो लोग आ गए। कुंदकुंद स्वामी ने समयसार के मंगलाचरण में इन्ही सिद्धो को नमस्कार किया है ।

महाराज के आने के बाद अगणित मनुष्यो ने मधुवन के जंगल को एक विशाल नगर का रूप दे दिया । जहा देखो, वहा आदमी ही आदमी दिखता था। सब स्थान भर गए थे । व्यवस्थापको को आशा नहीं थी कि इतने लोग आवेंगे किन्तु आचार्य महाराज के नाम का जादू था । लोग सोचते थे तीर्थराज की वंदना होगी । पंचकल्याणक महोत्सव होंगे और पंचमकाल में चतुर्थकाल के साधुओं सदृश आत्मतेजधारी आचार्यदेव का दर्शन भी करेंगे। जैन समाज के प्रमुख श्रीमान, विद्वान, त्यागी, लोकसेवक, कलाकार पहुचे थे ।

चारों ओर जिन धर्म की ही महिमा सुनाई पड़ती थी । फाल्गुन का मास होने से ऋतुराज ने वनश्री को सौन्दर्य समन्वित कर दिया था। भिन्न भिन्न देश के व्यक्तियों के विविध वर्णों की वेषभूषा से नेत्रो को प्रिय अभूतपूर्व दृश्य उपस्थित हुआ था । प्रभात का काल और भी मनोरम

प्रतीत होता था। हजारों व्यक्तियों के मुख से जागरण के समय 'णमोअरिहंताण' आदि मंगलमंत्र का उच्चारण होता था। कहीं कहीं कोई लोग बड़े लय और राग के साथ प्रभाती पढ़ते हुए चौबीस तीर्थंकरों का गुणगान करते थे —

वंदों जिन देव सदा चरण कमल तेरे। चरणकमल तेरे चरणारविंद तेरे।
ऋषभ अजित संभव अभिनंदन गुण केरे सुमति पद्म श्री सुपार्श्व चंदाप्रभु केरे।
पुष्पदंत शीतल श्रेयांस प्रभु मेरे, वासुपूज्य विमलनंत धरम जस उजेरे॥
शांति कुंथु अरह मल्लि मुनिसुव्रत मेरे, नमि नेमि पार्श्वनाथ वीर धीर मेरे
लेतनाम अष्टयाम छूटतभाव फेरे जन्म पाय जादुराय चरनन के चेरे॥ टेक॥

प्रभु नाम स्मरण बेला में विविध गीतों के द्वारा वह धर्म महोत्सव सजीव दिखता था। प्रभात में गाया जानेवाला यह पद कितना सुन्दर है-

"प्रात भयो सुमर देव पुण्य काल जात रे॥
चूकत यह अवसर फिर पाछे पछतात रे॥ टेक॥
लाभ औ अलाभदोय मेट सके नाहि कोय।
होनहार होंन सोय काहि सटपटात रे॥ टेक॥
पुत्रादिक दूरदार चित्ततें उतारि नार।
नींदड़ीनिवार के ध्यान कों भुलाव रे॥ टेक॥
कान जे कुरग जान, चंचल मन रुचि पिछान।
याके वश आन तेरो फलो खेत खात रे॥ टेक॥
जगतराम प्रभु को नाम जपो जो विचार काम।
सर्व सिद्ध होय काम, गुरुजी बतात रे॥ टेक॥

पर्वत पर जाने वाले यात्रियों के मुख से जिन स्तुति से पर्वत मुखरित होता हुआ जिन गुण गान में प्रवृत्त सा दिखता था। कोई पारस प्रभु की भक्ति में यह पढ़ते थे-

"सामलिया महाराज दूरदि से आये तेरे दर्शन को॥टेक॥
दर्शन दीजे बाबा लागू थारे पाँय, जनम जनम के पातक जाँहि॥

कवाड़ प्रान्त वाले कवई में, महाराष्ट्र प्रान्त वाले मराठी में जिन स्तवन करते जाते थे, कोई संस्कृत में प्रभुवदन पढ़ते थे। इस प्रकार विविध भाषाओं में जिनेन्द्र पुण्य नाम स्मरण सुनाई पड़ता था। वहाँ तो यह प्रतीत होता था, कि लोगों के आगे उस समय धर्म सचय का ही कार्य मुख्यतम बन गया। बिना धर्ममय हुए कर्मो का बंधन कटेगा भी

कैसे ? पूजन भी बडे वैभव के साथ होती थी। अपार जन समुदाय होने के कारण जन-रव विपुल था। हजारो व्यक्ति भिन्न भिन्न स्थानों पर खड़े खड़े अष्ट द्रव्य से पूजा करते थे। कोई साथ में राग रागनियो सहित पूजन पढ़ते थे। अष्ट द्रव्य से पूजन करने को कोई कोई लोग अर्वाचीन वस्तु कहते थे, और प्रमाण में बताते थे कि देवता लोग दिव्य गंध, पुष्प धूप, चूर्ण वस्त्र तथा स्नान द्वारा भगवान की पूजा करते हैं। इस भ्रम का निराकरण तिलोयपण्णत्ति से हो जाता है क्योकि नदीश्वर द्वीप में देवता लोग अष्ट द्रव्यो से ही पूजा करते थे। यथा---

एक अंजनगिरि, चार दधिमुख, और आठ रतिकर पर्वतो के शिखर पर उत्तम रत्नमय एक एक जिनेन्द्र मंदिर है।[1]

इन मंदिरो में देवगण जल, गध, पुष्प, तदुल, उत्तम नैवेद्य, फल दीप, धूपादिक द्रव्यो से जिनेन्द्र प्रतिमाओ की स्तुतिपूर्वक पूजा करते हैं।[2]

तिलोण्णत्ति सदृश प्राचीन आगम के आधार मिल जाने से शोध के नाम पर बनाया जाने वाला हवाई किला समाप्त हो जाता है।

देवता लोग भगवान की दिव्वेण वासेण-दिव्य वस्तु से पूजा करते हैं। इसका स्पष्टीकरण आचार्य यतिवृषभ ने किया है कि नदीश्वर में देवता लोग दिव्य चदोवा आदि के द्वारा भगवान की पूजा करते हैं। वे देव विस्तीर्ण तथा लटकते हुए हारो से सयुक्त तथा नाचते हुए चमर व किंकिणियो से युक्त अनेक प्रकारके चदोवा आदि से जिनेश्वरकी पूजा करते हैं।[3]

महान जैन महोत्सव

शिखरजी में जिनेन्द्र पचकल्याणक महोत्सव में बडे वैभव के साथ जिन भगवान की महापूजा होती थी। भारतवर्षीय दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी का उत्सव इन्दौर के धन कुबेर सर राव राजा दानवीर सेठ हुकुमचद जी की अध्यक्षता में बडे उत्साह और उल्लासपूर्वक पूर्ण हुआ था। उस समय भीड अपार थी।

---

१ एक्क-चउक्कट्ठ जण दहिमुह रइयर गिरीण-सिहरम्मि।
चेट्ठदि-वर रयणमओ एक्केक्क-जिणिंद पासादो ॥५-७०॥

२ जल-गध-कुसुम-तदुल-वरचरु-फल-दीव-धूव पहुदीण।
अच्चते थुणमाणा जिणिंद पडिमाणि देवाण ॥५-७२॥

३ णच्चतचमर किंकिणि विविह विताणादियाहि वित्ताहि।
ओलंबिद हारेहि अच्चति जिणेसुर देवा ॥५-११२॥

लाउडस्पीकर का उस समय अपने देश में आगमन न हुआ था, अतएव महोत्सव में लोगों का हल्ला ही हल्ला सुनाई पडता था। दिगम्बर जैन महासभा का नैमित्तिक आधिवेशन ब्यावर के धार्मिक सेठ तथा आचार्य श्री के परमभक्त मोतीलाल जी रानी वालों के नेतृत्व में हुआ था। उस समय समाज के बधन शिथिल करने वाले विधवा विवाहादि आन्दोलनों के निराकरण रूप धर्म तथा समाज उन्नति के प्रस्ताव पास हुए थे। महोत्सव की स्मृति में शिखर जी पर एक संस्कृत में शिलालेख लगाया गया है उसमें महोत्सव का सब हाल सक्षेप में ज्ञात होता है तथा आचार्य महाराज के सघ का भी विवरण विदित होता है।

(संस्कृत लेख का सार)

श्री शातिसागरदिगबराचार्यसघः।

श्रीदिगबरजैनधर्ममुद्योतयन् महाप्रतापिदिगन्तकीर्तिपचमजार्जनाम्नो वृटिशसम्राजः शासने प्रवर्तमाने काशीनिकटवर्तिनः श्रीसिद्धमहाक्षेत्रसम्मेदाचलस्याधित्यकाया समागत।

दक्षिणमहाराष्ट्रराजधानी-कोल्हापुरान्तर्गतस्य निकटवर्तिनो भोजग्रामस्य पाटील भीमगौडा-सत्यवतीति जनकजनन्योरय महात्मा श्रीशातिसागर रामजनि।

दीक्षित्वा चैकदा पर्यटन् तत्क्षोणीप्रदेशमवर्णनीयानेकगुणमण्डितत्वाच्चतुर्विधेन सघेन मिलित्वाऽऽचार्यपदत्वमध्यारोपित। निकटवर्तिनो बाहुबलिनामपर्वतस्याधित्यकाभूमौ वीरनिर्वाणसवत्सरस्य २४५४ तमस्य वर्षायोग सजग्राह। एतद्वर्षायोग समाप्य मार्गशीर्षकृष्णतृतीयादिने ततः सिद्धक्षेत्राणि वदितु सघेन सह उत्तरस्या दिशि विहारमारेभे।

एव कोल्हापुर, सागली, मिरज, अथणी, बीजापुर, अक्कलकोट, आलद, लातूर, नागपुर, रायपुर, बिलासपुर, राची, हजारीबाग, इत्यादीन् राजधानीनगरखेटादीननेकान पर्वतान् नदीश्च लङ्घः पश्यन् तथा च कोल्हापुर-फलटण-सागली-मिरजादिनगरनाथै निजामराज्याधिपति-नब्बाबमहोदयैश्च सम्मानित सन तत्र तत्र च धर्मोपदेशेन लोकान् मोक्षमार्गे दृढयन स्वसघं च तत्र नियोजयन् सघेन सह सार्धत्रममासेषु सम्मेदपर्वतमाजगाम, वीरनिर्वाण २४५४ विक्रमाब्द १९८४ खृष्टाब्द सन् १९२८ तमे शाकाना च २८५० तमे फाल्गुनमासे शुद्धतृतीयादिने।

एततृफाल्गुनस्य चाष्टाह्निकमहापर्वपर्यन्तमेनामेव भूमिमलचकार । सघोऽय मुबापुरीप्रवासिना प्रतापगढनगरवास्तव्येन रत्नव्यापारिणा दिगम्बर-जैनधर्मपरायणेन श्रेष्ठिना घासीलालेन अनेकधर्मपरायण श्रावकश्राविका-समुदायं संघेन सहाऽऽहारादिविविधवैयावृत्य गृहस्थधर्मस्यावश्यक परिपाल-यितुमादाय तत्समुदायस्यावश्यकता प्रकटयितुं नानाविधावश्यकसामग्रीरक्षार्थं राजकीयान् कर्मचारिण. (पोलिस) श्रीमज्जिनेंद्रवन्दनार्थं श्रीजिनसमव-सरणमश्वनृपभशकटीतैलशकटीप्रभृतिगृहस्थजनोपयोगिवाहनसमुदाय च गृहीत्वा सर्वविघ्ननिजद्रव्यय श्रीजिनधर्मप्रपूर्णभविततोऽङ्गीकृत्य प्रोत्साह्यानीत ।

पिताऽस्य नाम्ना पूनमचन्द्र श्रेष्ठी माता च जडावबाई ।

नयोऽस्य पुत्रा नाम्ना गेंदनमलो दाडिमचन्द्रो मोतीलालश्च एतेऽपि च संघसेवारताः पितुराज्ञया सहैव शश्वदासन् ।

। संघपरिचयः ।

संघेऽस्मिन्नाचार्यवर्यान् श्रीशातिसागरपरमेष्ठिन सेवमानास्त्रयो दिग-म्बरा मुनिश्रेष्ठा शिष्योत्तमा श्री १०८ परमपूज्यो वीरसागरौनेमिसागरौ अनन्तकीर्तिश्चेत्यासन् । चन्द्रसागरादयश्चत्वार ऐलकपदधरास्तथाऽन्ये च आर्यिकाक्षुल्लकब्रह्मचारिप्रभृतयो गृहविरतास्तपस्विन पञ्चदश सहासन् । गृहनिरतास्तु श्रावका श्राविकाश्च शतशो धनिनश्च प्रयाणप्रारम्भाद् गुरून् सेवमानाः सहाजग्मु ।

देवाधिदेवस्यार्हत्प्रभो समवसरणयुक्ताः प्रतिमाः श्रावकाणा देवपूजा-कर्मनिर्वाहार्थं संघेन सहानीता ।

तद्व्यवस्थापनाय कोल्हापुरात् स्वस्तिश्री उगारकर–पायसागरस्वामी सहागता ।

तत्रत्यकार्यविवरणम्--

श्रीशांतिसागराचार्यवर्यैः षद्द्रव्य–सप्ततत्त्व–नवपदार्थ-अहिंसा स्या द्वादादि–सैद्धांतिकविषयेषु तथाऽष्टादशदोषविनिर्मुक्तसर्वज्ञाप्तोपदिष्ट–रत्न त्रयस्वरूप मोक्षमार्गमक्षुण्ण रक्षितु सज्जातिविधायक आगमविहित अनादि-सिद्धवर्णव्यवस्था-शीलधर्म-उच्चकुलभेद-व्यवस्थादिविषयेषु च सततमत्र धर्म उपदिश्यते स्म । एतेषामुपदेशादेव सघपतिनाऽत्र विपुलधन व्ययीकृत्य अर्हं प्रभो पञ्चकल्याणकमहो त्सवपूर्वक फल्गुनशुद्ध-दशमीदिने प्रतिष्ठा कारिता । श्रीसम्म दशैलस्योपरि प्रत्यह दिगम्बरजैनैरभिषेकपूजनादिविधान सतत नियतेस्म।

अखिलभारतवर्षीय दि० जैन महासभाया दि० जैनशास्त्रिपरिषदश्चात्र महासम्मेलने सघपतिनाऽधिवेशने कारिते। तत्र धर्मसमाजरक्षणोपायाअनेके निर्णीता।

अस्मिन् महामहमहोत्सवे दक्षिण कर्नाटक द्राविड महाराष्ट्र वऱ्हाड बुन्देलखड मारवाड गुजराथ राजपूताना पजाब बगाल आसाम आगरा दिल्ली कलकत्ता मुम्बई-प्रमुखेभ्यः सर्वप्रातेभ्यो दिगम्बरजैनसमाजो लक्षावधि समागत्य सगत आसीत्।

एतत्समये अखिलभारतवर्षीयदिगम्बरजैनमहासभाया सघसचालननिर्वहणतज्जनिताखिलजनधर्मलाभप्रदानेन कृतज्ञता प्रदर्शयितुमखिलजनसमर्थनानुमोदनपूर्वक श्रेष्ठी घासीलालस्तत्पुत्राश्च द्वयोपि (गेंदनमलो दाडिमचन्द्रो मोतीलालश्च) "सघभक्तशिरोमणिः" इति पदव्या समलङ्कृताः।

एतन्मुनिसघेन चतुसघसमन्वितेन दिगम्बरजैनधर्मस्य वर्णनातीता महती प्रभावना सजातेत्यखिलविदितमास्तामिति शम्।

जिस समय सघ शिखर जी पहुचा था, उस समय दक्षिणप्रात में अनेक जगह पर भगवान की पूजा, अभिषेक आदि करके लोगों ने हर्ष प्रगट किया था। लोगो को इस प्रकार दिगम्बर मुनि सघ के विहार की वार्ता कई पीढियों से अज्ञात थी, अत मार्ग विघ्नो के आने का बडा भय सोचा था। एक प्रमुख पडित महोदय ने सद्भाववश आचार्य जी से विद्या सिद्धि को कहा ही था, किन्तु वह कुछ न वह करके सर्व सिद्धि के अधिनायक भगवान जिनेन्द्रदेव की भक्ति का अविलबन ले सघ सानन्द अपने लक्ष्य स्थान पर आ गया, और कोई सकट न होकर अवर्णनीय धर्म प्रभावना हुई। यह सब आचार्य शातिसागर महाराज की अप्रतिभ भक्ति, प्रगाढ जिन धर्म पर श्रद्धा तथा परम विशुद्ध चरित्र के द्वारा सानद सपन्न हो गया। अब तो वह महोत्सव पवित्र स्मृति की वस्तु है। सभी प्रांत के श्रावकोने आचार्य महाराज से अपने विहार द्वारा अन्य प्रातो को पवित्र करके जिन शासन की प्रभावना करने की प्रार्थना की। लोक त्याग तथा दि० जैन धर्म की प्रभावना का विचार कर आचार्य महाराज ने अब तीर्थ वदना के साथ साथ सर्वत्र धर्म प्रभावनार्थ विहार करने का पवित्र निश्चय किया।

आष्टाह्निक महापर्व सम्मेदाचल के सानिध्य में व्यतीत करने के उपरात चैत्र वदी १ को सघ ने शिखरजी से प्रस्थान कर दिया। इतने

शिखरजी से प्रस्थान

दिनो से शिखरजी के दर्शन की उमंग थी, वह पूरी होगई इससे सिद्ध उद्देश्य हो अन्य तीर्थों के दर्शनार्थ रवाना होकर महाराज वडाका नदी पर दो दिन ठहर कर तीसरे दिन गिरडी पहुचे। सघ वहां तीन दिन ठहरकर वासुपूज्य भगवान के निर्वाण स्थान चपापुर के लिए रवाना हुआ। रास्ते में बैंगावाद में क्षत्रियो का महासम्मेलन था। उस समय क्षत्रिय समाज ने आचार्य महाराज का वडे आदर भाव से दर्शन किया और अमूल्य आशीर्वाद तथा कल्याणप्रद उपदेश प्राप्त किया।

चैत्र वदी त्रयोदशी को सघ मदारगिरि के निकट पहुचा। सघ यहाँ तीन दिन ठहरा, पश्चात् विहार कर चैत्र सुदी तीज को भागलपुर आया।

वहा नाथनगर के पास चपापुर में वासुपूज्य भगवान के चरण चिन्ह है, प्रतिमा जी भी वडी भव्य है। उनके दर्शन कर सबने बडी शाति

चपापुर वासुपूज्य भगवानकीनिर्वाण भूमि

प्राप्त की। यहाँ से वासुपूज्य भगवान ने निर्वाण प्राप्त किया था। पचवालयति तीर्थंकरो म वासुपूज्य भगवान का सर्व प्रथम नाम स्मरण किया जाता है। बालब्रह्मचारी तीर्थंकरो में वासुपूज्य भगवान के विषय में कवि कहते हैं—

'वासुपूज्य वसुपूज तनुज पद वासव सेवत आई।
बालब्रम्हचारी लख तिनको शिवतिय सन्मुख धाई॥"

वहा से चलता हुआ सघ राजगृही आया। भगवान महावीर प्रभु के समवशरण में मुख्य प्रश्न कर्त्ता का गौरव जिन श्रेणिक महाराज (बिम्बसार) को प्राप्त हुआ, उनकी राजधानी यही स्थान थी। यहा पच पहाडी की वदना की जाती है। राजगृही के पूर्व में चतुष्कोण आकार वाला ऋषि शैल है। दक्षिण में वैभार गिरि, नैऋत्य दिशा में विपुलाचल में दोनो त्रिकोण है, पश्चिम, वायव्य तथा उत्तर दिशा में धनुपाकार छिन्न नाम का पर्वत है। ईशान दिशा में पाडु पर्वत है। पाचो ही पर्वत कुश समूह से वेष्टित है।

यहा वासुपूज्य भगवान के सिवाय शेष २३ तीर्थंकरो का समवशरण

---

१ "वासुपूज्य जिनाधीशादितरेषा जिनेशिना।
सर्वेषा समवस्थानं पावनोरुवनातरा:॥ ३-५७॥
'हरिवंश पुराण'
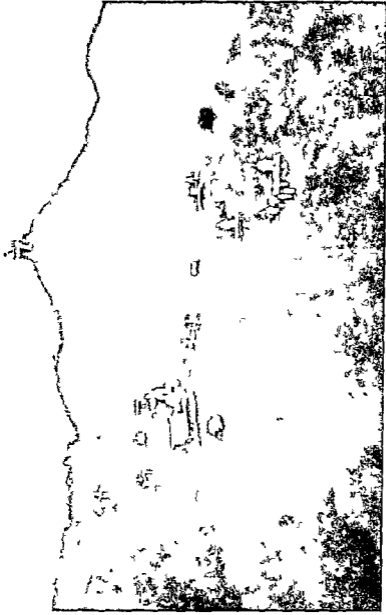
श्री तीर्थ सम्मेदशिखर जी की पार्श्वनाथ भगवान की टाक (निर्वाण स्थल) जिसके दर्शनार्थ महाराज ने हजारों मील पैदल यात्रा की थी।

आया था। हरिवंश पुराण में लिखा है —

"पंचशैलपुरं पूतं मुनिसुव्रतजन्मना" (३-५२)

यह पंच शैलपुर राजगिरि भगवान मुनिसुव्रत के जन्म के द्वारा पवित्र है। भगवान महावीर तीर्थंकर को ऋजुकूला नदी के तीर पर, जो जृंभिक ग्राम के पास थी, वैसाख सुदी १० को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। इसके पश्चात् ६६ दिन तक भगवान की दिव्य ध्वनि नहीं हुई। भगवान को केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद धर्मतीर्थ की उत्पत्ति होनी चाहिये थी, किन्तु दिव्यध्वनि नहीं खिरी।

इस सम्बन्ध में जयधवला टीका में लिखा है—

प्रश्न—छयासठ दिन तक भगवान की दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरी?

उत्तर—गणधर न होने से उतने दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी।

प्रश्न—सौधर्मेन्द्र ने केवलज्ञान प्राप्त होते ही गणधर को क्यों नहीं लाए?

उत्तर—नहीं, काललब्धि के बिना गणधर को लाने की शक्ति के अभाववश इंद्र असमर्थ था।

प्रश्न—जिसने अपने पादमूल में महाव्रत स्वीकार किया है, ऐसे पुरुष को छोड़कर अन्य के निमित्त से दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती है?

उत्तर—ऐसा स्वभाव है। स्वभाव के विषय में तर्क नहीं किया जा सकता है, अन्यथा कोई व्यवस्था नहीं रहेगी।"[1]

भगवान महावीर स्वामी ने धर्मतीर्थ का उपदेश कहां दिया? इसके समाधान में जयधवलाटीका में लिखा है—

विपुलाचल पर वीर प्रभु का समवशरण

जब महामंडलीक श्रेणिक महाराज अपनी चेलना रानी के साथ सकल पृथ्वीमंडल का उपभोग करते थे, तब मगधदेश के तिलक के समान राजगृह नगर की नैऋत्य दिशा में स्थित, सिद्ध तथा चारणों के द्वारा सेवित विपुला-

---

१ "दिव्य ज्झुणीए किमट्ठं तत्था पउत्ती? गणिंदा भवादो। सोहम्मिदेण तक्खणे चेव गणिंदो किण्ण ढोइदो? ण, काललद्धीए विना, असहेज्जस्स देविंदस्स तड्ढोयण सत्तीए अभावादो। सगपाद मूलम्मि पडियण्ण महव्वयं मोत्तूण अण्णमुद्दिस्सिय दिव्वज्झुणी किण्ण पयट्ठदे? साहाविमादो। णच सहाओ परपज्जणिओगारुहो, अव्ववत्था वत्तीदो।" जयधवला पृ० ७६

चल पर्वत पर बारह गणो-सभाओ से वेष्टित भगवान महावीर ने धर्मतीथ का कथन किया । तिलोय पण्णत्ति में लिखा है—

देव और विद्याधरो के मन को हरण करने वाले, सार्थक पचशैल नगर-राजगृही में पर्वतो में श्रेष्ठ विपुलाचल पर श्री वीर जिनेन्द्र क्षेत्र की अपेक्षा परमागम रूप अर्थ के कर्ता हुए ।[1]

भगवान की ६६ दिन पर्यन्त वाणी नही खिरी । अन्त में श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के प्रभात में विपुलाचल पर धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति हुई ।[2] हरिवश पुराण मे लिखा है—

भगवान ६६ दिन पर्यन्त अनेक बार मौन के साथ विहार करते हुए जगत में विख्यात राजगृह नगर को प्राप्त हुए । वहा वे विपुल श्री सपन्न विपुलाचल पर्वत पर लोगो को उपदेश देने के लिए चढे, जैसे सूर्य उदयाचल पर आरोहण करता है ।

राजगिरि आते ही जैन सस्कृति के ज्ञाता के चित्त म महावीर भगवान के विपुलाचल पर समवशरण आने की तथा धर्मामृत वर्षा की आगमोक्त बात स्मृति पथ में आए बिना नही रहती है ।

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है "कि केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर सभी जिनो का परमौदारिक शरीर पृथ्वी से पाच हजार धनुष ऊपर चला जाता है । उस समय सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से कुबेर विक्रिया शक्ति के द्वारा सभी तीर्थ करो के समवशरणो की विचित्र रूप से रचना करता है ।

उस समवशरण में चढने के लिए आकाश में चारो दिशाओ में से प्रत्येक दिशा में ऊपर ऊपर बीस हजार सुवर्णमय सीढिया होती हैं । वे सीढियां एक हाथ ऊची और एक हाथ विस्तार युक्त थी ।"[3]

---

१ सुर-खेमर-मणहरणे गुणणामे पचसेलणयरम्मि ।
विउलम्मि पव्वदवरे वीरजिणो अट्ठकत्तारो ॥ १–६५॥

२ वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुल पडवाए ।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥६९॥ तिलोयपण्णत्ति

३. इससे ज्ञात होता है कि भगवान का समवशरण बीस हजार हाथ ऊचाई पर आकाश में रहता है । यह ५ मील ५ फर्लांग तथा १०० गज प्रमाण होता है । इतने ऊचे समवशरण होने से भव्य जीव ही वहा दर्शनार्थ जाते होगे । पापी जीवो की भावना ही उस तरफ नही होती होगी। ऐसा प्रतीत होता है।

विपुलाचल की मधुर स्मृति

विपुलाचल पर चढते ही मन में विविध प्रकार के विचार उत्पन्न होने लगते हैं। आगम के अनुसार समवशरण द्वादश सभा, समानायक महाराज श्रेणिक, रानीचेलना, गौतम गणधर आदि का जो वर्णन पढा है सुना है, उसकी पवित्र और मधुर स्मृति आ जाती है और आत्मा को आनंद विभार कर देती है।

इस पचपहाडी पर जब आचार्य महाराज संघ सहित चढ़े, तब बहुतो को स्मरण आया होगा कि इस पहाड़ीपर स्वयं चढते समय विकट रास्ता होने से जब कष्ट होता है, तब शांतिसागर महाराज गृहस्थावस्था में यहां आए थे उस समय उनने किस प्रकार एक व्यक्ति को पीठ पर रखकर वात्सल्य भाव से पर्वत पर चढाया होगा। उससे उनके महान बल का अनुमान लोगों को बहुत स्पष्टता से हुआ होगा।

वीर निर्वाण भूमि पावापुरी पहुचना

राजगिरि की वंदना के पश्चात् संघ ने महावीर भगवान के निर्वाण से पुनीत पावापुरी की ओर प्रस्थान किया। जब पावापुरी का पुण्य स्थल समीप आया तब वहां की प्राकृतिक शोभा मनको अपनी ओर आकर्षित करने लगती। जलमंदिर में भीतर भगवान महावीर प्रभु के चरण चिन्ह विराजमान है। तालाब लगभग आधा मील लम्बा तथा उतना ही चौडा होगा। उस सरोवर में सदा मनोहर कमल शोभायमान होते है। मध्य का मंदिर श्वेत संगमर्मर का बडा मनोज्ञ मालुम होता है। पूर्णिमा की चांदनी में उसकी शोभा और भी प्रिय लगती है। सरोवर के कारण मंदिर का सौन्दर्य बडा आकर्षक होता है। भगवान का अंतरंग जितना सुन्दर था, उनका शरीर जितना सौष्ठव संपन्न था, उतना ही बाह्य वातावरण भी भव्य प्रतीत होता है। सरोवर में बडी बडी मछलियाँ स्वच्छंद क्रीडा करती हैं, उन्हें भय का लेश भी नही है, कारण प्राणी मात्र को अभयप्रदान करने वाली वीर प्रभु की अहिंसा की शुभ मुद्रिका छिटक रही है। मंदिर के पास पहुचने के लिए सुन्दर पुल बना है। विदेशी भी पावापुरी के जल मन्दिर के सौन्दर्य की स्थायी स्मृति फोटो के रूप में साथ ले जाया करते है।

पावापुरी की वंदना से बढकर सुखद और कौन निर्वाण स्थल होगा? यहाँ पहाडीकी चढाईका नाम निशान नही है,लम्बा जाना नही है। शीतल गंभीर संयुक्त जल मन्दिर जाने के बाद मध्य में वहाँ से निर्वाण पद प्राप्त करनेवाले प्रभु वर्धमान जिनेन्द्र के चरण चिन्ह विद्यमान हैं, जो निर्वाण स्थल के स्मारक है। आचार्य यति वृषभ ने लिखा है कि "वीर भगवान ने कार्तिक

कृष्णाचतुर्दशी के प्रभात काल में स्वाति नक्षत्र रहते हुए पावापुर से अकेले ही सिद्धपद प्राप्त किया था, उनके साथ में और कोई मुनि मोक्ष नहीं गए। भगवान पार्श्वनाथस्वामी के साथ में छत्तीस मुनियों ने श्रावण सुदी सप्तमी को सध्या प्रदोष काल में संम्मेदाचल से मोक्ष प्राप्त किया था।

निर्वाण काल तथा आसन

भगवान् ऋषभदेव ने चौदह दिन पूर्व, महावीर स्वामी ने दो दिन पूर्व, शेष बावीस तीर्थंकरो ने एक माह पूर्व, योग से विनिवृत्त होने पर मुक्ति को प्राप्त किया है। भगवान ऋषभनाथ, वासुपूज्य, नेमिनाथ, पल्यक बद्ध आसन से तथा शेष इक्कीस तीर्थंकरों ने कायोत्सर्ग आसन से मोक्ष प्राप्त किया था। इससे जलमंदिर में जाकर सिद्ध पद प्राप्त महावीर भगवान के विषय में चितवन करते समय उनकी कायोत्सर्ग आसन का ध्यान करना उचित है।

वर्धमान भगवान के सातग्रंथों में से पूर्वधर, तीन सौ, शिक्षक अर्थात उपाध्याय निन्यानवे सौ, अवधिज्ञानी, तेरह सौ, केवली, सात सौ विक्रिया ऋद्धिधारी नौ सौ, विपुलमति वाले पांच सौ, और वादी मुनि चार सौ थे। छत्तीस हजार आर्यिकाओं की संख्या कही है। प्रमुख आर्यिका चंदना थी।

वास्तविक सिद्ध-भूमि

वासुपूज्य भगवान की भांति मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा वीरनाथ जिन भी बालब्रह्मचारी तीर्थंकर हुए हैं। पावापुरी का पुण्यस्थल वीरप्रभू की पवित्र स्मृति को जागृत करते हुए बताता है, कि यथार्थ में ये पूर्ण सिद्ध निकले जो संपूर्ण कर्मों का नाशकर वहां से सिद्ध स्थल में विराजमान हो गये। उन वीर प्रभु की अचिन्त्य महिमा है। आचार्य कहते हैः—

"ये वीर पादौ प्रणमंति नित्यं ध्यानस्थिताः सयमयोगयुक्ताः।
ते वीतशोका हिमवंती लोके ससारदुर्गं विषमं तरंति॥"

जो जीव ध्यान में स्थित होकर तथा सयम और योग से संयुक्त होते हुए वीर भगवान के चरणों को सदा प्रणाम करते हैं, वे जगत में वीतशोक होते हैं तथा विषम संसार के संकटों के पार पहुँचाते हैं। आज उन्ही वीर प्रभू का तीर्थ प्रवर्तमान है। उन प्रभू की सुन्दर शब्दों में इस प्रकार स्तुति की गई हैः—

"वीरः सर्व सुरासुरेंद्र महितो वीरं बुधाः संश्रिताः।
वीरेणाभिहतः स्वकर्म निचयो वीराय भक्त्या नमः॥

वीरातीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपः ।
वीरे श्री द्युतिकांति कीर्ति धृतयो हे वीर! भद्रं त्वयि ॥"

"वीर भगवान सकलसुर सुरेन्द्रो के द्वारा स्तुत है, महान ज्ञानी पुरुष वीर का आश्रय लेते है, वीर के द्वारा अपने कर्मो का समुदाय नाश किया गया, वीर के लिए भक्ति पूर्वक नमस्कार है। यह अतुल तीर्थ वीर से उत्पन्न हुआ, वीर की तपश्चर्या घोर है, वीर में श्री अहिंसा, धर्म, कान्ति, है। हे वीर! आप में कल्याण का निवास है। यहा समस्त कारको द्वारा वीर भगवान का वर्णन करते हुए उनके गुणो का वर्णन किया है।

वीर में महाराज की भक्ति आत्म तेज के ही

आचार्य महाराज की वीर भगवान में बडी भक्ति तथा श्रद्धा है। एक दिन मैंने पूछा—"महाराज! आपकी तपस्या कारण बडे बडे असभव दिखनेवाले काम सभव हो जाते है।"

महाराज बोले— "इसमे हमारा कुछ नही है। यह सब महावीर भगवान की कृपा है।"

गया पहुचना

उन तीर्थंकर महावीर प्रभु की निर्वाण भूमि की साक्षात् वदना करके सघ गुणावा आया और उसने भगवान के मुख्य गणनायक गौतम स्वामी के निर्वाण स्थल की सभक्ति वदना की और उनकी अद्भुत, आध्यात्मिक, विकासपूर्ण जीवन का स्मरण कर सिद्ध पद प्राप्त आत्मा को प्रणाम। किया पश्चात् संघ बढता हुआ वैशाख सुदी ९ को हिन्दुओ के मुख्य तीर्थ गया पहुंचा। जैन, अजैन जनता ने बडे प्रेम और भक्ति पूर्वक सघ का स्वागत किया। गया हिंदूसभा ने महाराज के शुभागमन की सूचना की विज्ञप्ति प्रगट कर नगरवासियो से उनके स्वागतार्थ प्रेरणा की थी। महाराज के उपदेश से हिन्दू, मुसलमान आदि अन्य धर्म के लोगों ने भी बहुत लाभ उठाया, मद्य, मास का बहुतो ने त्याग किया।

इस समय भीषण गर्मी पडती थी। किन्तु महाव्रती साधुओं के नियम जीवन भर को अटल रहते है। इस काल में पानी पीते ही क्षण भर में उदराग्नि द्वारा भस्म हो जाता था, फिर भी मुनीश्वर आहार के समय ही जल पीते थे और फिर उष्णकाल में विहार भी करते जाते थे। गरम पवन आग की लपटो का स्मरण कराती थी। लोग घबडा उठते थे। किंतु महाव्रती मुनिराज अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन करते हुए समता भाव पूर्वक कष्टो को सहन करते थे। इससे पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है।—

सोनभद्र मार्ग में विशाल सोनभद्र नदी मिली। प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में सोनभद्र को नद लिखा है। इसके दोनो तरफ रेल्वे स्टेशन है। एक सोन ईस्ट बैंक और दूसरा सोन वेस्ट बैंक कहलाता है। सोन के एक तट पर डेहरी नामक बस्ती है, उसे डेहरी आन सोन कहते है। अब उसके पासही एक औद्योगिक नगर 'डालमिया नगर' नाम का बस गया है। वैसाख सुदी षष्ठी को सघ ससराम नामक ऐतिहासिक नगर के समीप पहुचा। यहाँ बहुत जनता ने गुरुदेव के दर्शन किये और अहिंसादि के नियम लेकर मद्य, मासादि का त्याग किया। सघ बस्ती से तीन मील दूरी पर एक आम्रवन के नीचे ठहरा था। यहा चद्रसागर जी का केशलोच हुआ था।

काशी वैशाख सुदी चौदस को सघ मुगलसराय पहुचा। पूर्णिमा को संघ से लोग काशी पहुचकर भेलूपुरा की धर्मशाला में ठहर गया। जेठ प्रतिपदा के प्रभात में मुनिराजो ने काशी के लिए प्रस्थान किया। बडे वैभव के साथ हजारो लोगो ने महाराज का स्वागत किया। गाजे बाजे के साथ जुलूस निकला। काशी तो भारत की सास्कृतिक राजधानी है। वहां के बडे बडे विद्वानों तथा तपस्वियों ने महाराज का दर्शन करके तथा उपदेश सुनकर आनद प्राप्त किया। मुनिगण आहार के लिए नगर में जाते थे। कभी कभी मैदागिनी के मदिरो का दर्शन भी किया करते थे। इन दिगबर श्रमणो को राजपथ से जाते जाते देखते हुए काशी के वैदिक विद्वानो तथा सब हिन्दू भाइयो को बडा हर्ष होता था, कि आज दिन भी ऐसे निर्विकार परमहस वृत्ति वाले तपस्वी लोग भूतल को पवित्र कर रहे है।

पारस-सुपारस की जन्मभूमि होने से सच्ची शिवपुरी काशी को शिवपुरी कहते है। 'शिव' शब्द कल्याण का द्योतक है। महाकवि बनारसीदास इस नगरी को भगवान सुपार्श्वनाथ तथा पार्श्वनाथ स्वामी की जन्मपुरी होने के कारण सचमुच में शिवपुरी मानते है और इस सम्बन्ध में अन्य धारणाओं को कल्पना कहते हैं।

अपने 'अर्धकथानक' में उनने प्रारभ में लिखा है:—

"पानि-जुगल-पुट सीस धरि, मानि अनपो दास।
आनि भगति चित जानि प्रभु, वन्दो पास सुपास ॥१॥
गग माहि आइ धसी द्वै नदी वरुना असी।
बीचि बसी बानारसी नगरी बखानी है ॥
चरिवार देस मध्य गाउ तातें कासी नाँउ।

श्री सुपास पास की जनमभूमि मानी है ॥
तहाँ दुइ जिन शिवमारग प्रगट कीनी ।
तब सेती शिवपुरी जगत में जानी है ॥
ऐसी विधि नाम धरे नगरी बनारसी के ।
और भांति कहै सो मिथ्यामत वानी है" ॥ २ ॥

इसी काशीनगरी में महाराज विश्वसेन के यहा माता वामादेवी के गर्भ से भगवान पार्श्वनाथ प्रभु का पौष कृष्णा एकादशी को जन्म हुआ था । कहा भी है—

"जनमें त्रिभुवन सुखदाता, एकादसि पौष विख्याता
श्यामा तन अद्‌भुत राजै, रवि कोटिक तेज सुलाजै ॥"

भगवान जब आठ वर्ष के हुए उस समय का वर्णन करते हुए कवि उनके जीवन पर इस प्रकार प्रकाश डालता है—

'भये जब अष्टम वर्ष कुमार धरे अणुव्रत महा सुखकार ॥
पिता जब आन करी अरदास, करो तुम ब्याह करो मम आस ॥
करी तब नाहिं कहे जगचंद, किए तुम काम कषाय जु मंद ॥
चढ़े गजराज कुमारन संग, सु देखत गंग तनी सुतरंग ॥"

प्रभु गंगा के तट पर से जा रहे थे, और उसके सौंदर्य को देख रहे थे, कि उनकी दृष्टि एक पंचाग्नि तप करने वाले साधु पर पड़ी यह कमठ का जीव था । उसे देख कुमार के मन मे दया आई उनने कहा 'ऐसा हिंसा का तप मत करो ।' जब उस तपस्वी ने न सुना, तब इनने एक लकड़ी के भीतर जलते हुए नाग नागनी को दिखाया । इसको कवि ने इन शब्दों में चित्रित किया है—

"लख्यो इक रंक करै तप घोर, चहू दिसि अगनि बलै अति जोर ।
कही जिन नाथ अरे सुन भ्रात, करे बहु जीवन की मतघात ॥
भयो तब कोप कहे कित जीव, जले तब नाग दिखाय सजीव ॥',

उनको जलते हुए नाग युगल पर करुणा आई, अतः उन करुणा-निधान पार्श्व प्रभु ने मरणासन्न नाग युगल को जिननाम सुनाए, इससे उन जीवों का उद्धार हो गया । कवि कहता है —

"जिन्ह के वचन उर धारत जुगल नाग भए, धर्णेन्द्र पद्मावती पलक में ।
जाकीनाम महिमा सो कुधातु कनक करे, पारस पाखान नामी भयो है खलक में ॥

जिनकी जनमपुरी के प्रसाद हम आपको सरूप लख्यो भानुसो भलक में ।
सोईप्रभु पारस महारस के दाता, अब दीजे मोहि साता दृगलीला की ललक में ॥
(नाटक समयसार)

इस तपस्वी का क्रूर तप तथा नाग युगल का तड़फ तड़फकर मरण देख कुमार के हृदय में जगत के विषय में विविध विचार लहरियां उठने लगी, अन्त में उनने सब वैभव का त्याग करने का निश्चय करके पौष कृष्णा एकादशी को दिगम्बर मुनि की दीक्षा ग्रहण की ।

"कलि पौष इकादशी आई, तब बारह भावन भाई ।
अपने करलोंच सु कीना, हम पूजें चरण जजीना ॥".

प्रयाग तीर्थंकर युगल के जीवन से पुनीत काशी में कुछ काल व्यतीत कर आचार्य संघ ने ज्येष्ठ वदी चौथ को प्रयाग के लिए प्रस्थान किया । काशी और प्रयाग के बीच १२० मील का अन्तर है । ज्येष्ठ बदी त्रयोदशी को संघ प्रयाग पहुंचा और गंगा के तीर पर ही ठहरा । चौदस को गाजे बाजे के साथ संघ का जुलूस शहर से होता हुआ तथा जिन मंदिरों के दर्शन करता हुआ धर्मशाला में ठहरा। इस नगर का प्राचीन नाम तो प्रयाग ही है, किन्तु मुगलो ने अपने शासनकाल में इसे इलाहाबाद नाम से कहना आरंभ किया ।

यहां चार दिन से आचार्य शांतिसागर महाराज को ज्वर आने लगा इससे उनका शरीर क्षीण हो गया । इस कारण संघ को दस दिन तक ठहरना पडा। ज्येष्ठ सुदी चतुर्थी को मुनि वीरसागर जी तथा मुनि नेमिसागर जी का केशलोच हुआ। हजारों लोगो ने केशलोच देखा और जैन साधुओं की निस्पृहता तथा उत्कृष्ट तपश्चर्या की मुक्त कंठ से प्रशंसा की । ऐसा कौन वज्र हृदय होगा, जिसकी आत्मा ऐसी तपस्या देख कर भक्ति से नम्र न हो ? प्रयाग जैन संस्कृति का अत्यन्त प्राचीन काल से केन्द्र रहा आया है ।

भगवान ऋषभनाथ को नीलांजना अप्सरा की मृत्यु देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ ।[१]

---

१ नीलांजना का नाम हरिवंश पुराणमें तथा तिलोयपण्णत्ति में 'णीलंजसा' आया है
"जादवेरग्गा...उसहो णीलंजसाए मारणाओ" ॥ ति. प. ४-६१०॥
सोथ नीलांजसां द्रष्ट्वा नृत्यंतीमिन्द्रनर्तकीम् ।
बोधस्यापिनिबोधस्य निर्विवेदोपृयोगतः ॥९-४७॥
सेव्यमानः सुरैरीशः सिद्धार्थं वनमापसः ॥ हरिवंशपुराण ॥९-९२॥

पश्चात् उनने प्रयाग के अरण्य में दीक्षा ली थी, ऐसा कवि वृन्द्रावन ने लिखा है–

"कियो कचलौच प्रयाग अरण्य चतुर्यम ज्ञान लह्यो जगधन्य ॥"

तिलोयपण्णति में लिखा है कि चौबीस तीर्थंकरों में से भगवान नेमिनाथ द्वारावती नगरी में और शेष तीर्थंकर अपने अपने जन्म स्थानो में जिनेन्द्र दीक्षा को ग्रहण करते है ।

"भगवान ऋषभदेव चैत्र कृष्णा नवमी के तीसरे पहर उत्तराषाढ़ नक्षत्र में सिद्धार्थ वन में षष्ठ उपवास के साथ दीक्षित हुए ।" (अध्याय ४–श्लोक ६४३ तथा ६४४)

प्रयाग की पूज्यता का हेतु

भगवान का जन्म स्थान अयोध्यापुरी थी । दीक्षाधारण नेमिनाथ भगवान के सिवाय शेष तीर्थंकरो का जन्म-पुरी में हुआ था, ऐसा उपरोक्त आर्ष है, इससे प्रतीत होता है कि अयोध्या नगर प्रयाग तक विस्तृत रहा होगा और प्रयाग अयोध्या का अग रहा होगा । प्रतीत होता है जैसे काशी की पवित्रता का जैन सस्कृति के अनुसार कवि बनारसीदास ने वर्णन किया है, इसी प्रकार प्रयाग की पूज्यता का कारण आदिनाथ प्रभु का वहा के अरण्य मे दीक्षा ग्रहण करना रहा है, किन्तु अब सास्कृतिक सघर्ष वश वैदिक सस्कृति के श्रेष्ठ तीर्थ के रूप मे उसकी प्रसिद्धि हो गई और जैन दृष्टि लुप्त प्रायः प्रतीत होने लगी । वस्तुत. काशी के समान प्रयाग को भी जैन सस्कृति का मुख्य स्थल मानना होगा। वैदिक वाङ्मय काशी, कोशल, मगध को अहिंसात्मक विचार धारा का केन्द्र बताता ही है ।

प्रयाग, गंगा यमुना के सगम के रूप में विश्वमान्य है । यह इस बात का सूचक है कि भारतीय दृष्टि में पार्थक्य की नही, ऐक्य की पूज्यता थी, इसका प्रतीत सगम का समादर है । महत्व की वस्तु में धर्म का तत्व लगा देने की वैदिक पद्धति रही है ।

प्रयाग से ज्येष्ट सुदी अष्टमी, ता: २७ मई को संघ ने रीवा राज्य की ओर प्रस्थान किया ।

सघ असाढ बदी सप्तमी, १० जून सन् १९२८ को रीवां पहुचा । सरकारी हाथी, घोडे, बेंड आदि के साथ जनता ने बडा भव्य स्वागत करके

हुए संघ का जुलूस नगर में निकाला । कोई तार्किक पूछ सकता है कि इन निस्पृह, वीतराग मुनियों को जुलूस से क्या प्रयोजन है ?

यह सत्य है कि इनको इन वस्तुओं की जरूरत नहीं है, न इनके आने में इनका कृत, कारित, अनुमोदना, मन, वचन काय से सम्बन्ध है; किन्तु इसका लोक कल्याण के साथ सहज सम्बन्ध है । हजारों, लाखों जीव इन वीतराग महर्षियों के जुलूस को देखकर प्रणाम करते हैं, इनके चरण रज को मस्तक पर रखते हैं और अपनी पवित्र श्रद्धांजलि अर्पित कर पुण्य का संचय करते हैं । अतः इसका आध्यात्मिक महत्व बहुत है। लोगों में आध्यात्मिक तत्व की अभिवन्दना का उत्साह तथा उमंग उत्पन्न होती है।

बहुत लोगों ने आचार्य देव के पास से व्रत नियमादि ग्रहण किए थे। महाराज तो व्रत की निधि सर्वत्र बांटते थे, जिसके प्रसाद से यह जीव ऐसे वैभव को प्राप्त करता है, जिसको बड़े बड़े नरेन्द्र प्रणाम करते हैं देवेन्द्र तक जिसकी पूजा करते हैं । संयम के द्वारा क्या नहीं प्राप्त होता है ?

संयम का प्रसाद वितरण

इसलिए ये महासंयमी जगत भर के जीवों को संयमको संजीवनी पिलाते हुए तथा उनके मोह ज्वर को दूर करते हुए आगे बढ़ते जाते थे। लोक कल्याण तथा राष्ट्र हित की अगणित सफल योजनाओं द्वारा जीवों का जितना हित हो सकता है, उससे असंख्यात गुणित आत्म-कल्याण का पवित्र कार्य इन महापुरुष के निमित्त से हुआ तथा होता जायगा । जितेन्द्रिय संयमी तथा अहिंसा महाव्रती मानव के द्वारा आत्मकल्याण के साथ सहज ही इतना जनकल्याण और जीव हित हो जाता है, जितना कभी भी कोई नहीं सोच सकता है।

ता: ११ जून सन १९२८ को रीवा समाज ने संघ-भक्त-शिरोमणि परिवार को अपनी कृतज्ञता अथवा अपने वात्सल्य भाव का प्रतीक एक सन्मान पत्र भेंट किया था । उसमें लिखा था "यद्यपि आज तक अनेकों दानवीरों ने लाखों रुपयों के द्वारा धर्मायतन, तीर्थरक्षा, धर्मशालाएं तथा शिक्षा प्रचारादि अनेक शुभ कार्य कर पुण्य एवं सुयश प्राप्त किया है तथापि इस तरह अनुपम एवं अद्वितीय कार्य द्वारा अपनी कीर्ति को चिर स्मरणीय करने का श्रेय आपको ही है । आप ही की कृपा से हमसे अज्ञानांधकार में डूबते हुए अल्पज्ञों को आचार्य श्री शांतिसागर महाराज का संघ सहित दर्शन तथा सदुपदेश का लाभ हुआ है ।"

रीवा रियासत के पश्चात् सघ तारीख १६ जून को मैहर राज्य में पहुचा। आगे पलासवाडा ग्राम मिला। उसके समीप एक गृहस्थ महाराज के समीप आया। उसने भक्तिपूर्वक इनको प्रणाम किया। वह समझता था, ये साधु महाराज हमारे धर्म के नागा बाबा सदृश होंगे, जो गांजा, चिलम, तमाखू पीते हैं। हिन्दू नागा बाबा खानपान में यथेष्ठ प्रवृत्ति करते हैं। तमाखू पीते समय वे यह कहा करते हैं, कि भगवान भी चिलम पीते थे।

मैहर राज्य

महाराज के प्रति हिन्दू भक्त का अनुराग

"कृष्ण चले वैकुंठ में राधा पकडी बांह।
यहा तमाखू खाय लो वहाँ तमाखू नाँह॥"

कैसी कैसी विचित्र कल्पना मोह वश जीव कर लिया करता है। इन्द्र ने ब्रम्हदेवसे पूछा– 'हे चतुरानन ! इस भूतल में श्रेष्ठ वस्तु क्याहै ?" तब चारो मुखो से चतुरानन ने कहा–"तमाख ही।"[1] इस कलिकालमें सत्य का सूर्य मोह और मिथ्यात्व के मेघो से आच्छन्न है, अतः विषयवासनाओ की पुष्टि करनेवाले जीव के हितप्रदर्शक तथा परम आराध्य माने जाते हैं। इसी धारणावश वह भक्त महाराज से बोला–"स्वामी जी ! एक प्रार्थना है, अर्ज करू ?" महाराज ने कहा–"क्या कहना है, कहो ?"

वह बोला–"भगवन् ! थोडा सा गांजा मंगवा देता हू, उसको पीने से आपका मन चगा हो जायगा।"

गाजा पीने की प्रार्थना

महाराज ने कहा–"हमारा मन सदा चगा ही रहता है। हम लोग गांजा नही पीते हैं।" यह सुनते ही वह चकित हुआ। उसने कहा–"महाराज ! सब साधु पीते है, आप क्यो नही पीते ?"

महाराज ने उस भोले प्राणी को समझाया–"कि ये मादक पदार्थ है, इनके सेवन से जीव के भावो में मलिनता उत्पन्न होती है, इससे बडा पाप होता है, सच्चे साधु की तो बात ही दूसरी है, किसी भी मनुष्य को गांजा आदि मादक वस्तुओ को नही लेना चाहिए।" गाजा, भाग, चरस, मदिरा सब मादक द्रव्य की अपेक्षा भाई बन्धु ही हैं। यह बात उस गृहस्थ के ध्यान

---

१ बिडौजा पुरा पृष्ठवान्पद्मयोनिं धरित्रीतले सारभूतं किमस्ति।
चतुर्भि. मुखैरित्यवोचद्विरिञ्चि स्तमाखुस्तमाखु स्तमाखु स्तमाखुः॥

में आ गई। फिर भी गुरुदेव की भक्ति करना था, अतः प्रेम वश बोला, "महाराज ! थोड़ी मिठाई ला देता हूँ। उसे ग्रहण कर मुझे कृतार्थ कीजिए।"

महाराज ने कहा–"साधु के भोजन का नियम कठिन होता है, वह जैसा तैसा भोजन नहीं करता है।" उसके प्रेम को देखकर महाराज ने सोचा यह भद्र जीव प्रतीत होता है, अतः उसे उपदेश दिया। उसकी स्त्री ने जीवन भर के लिए अनछने जल का त्यागकर दिया और पुरुष ने परस्त्री त्याग व्रत लिया।

आज पढ़े लिखे लोग अनछना पानी पीने में अकल्याण नहीं देखते हैं किन्तु धर्म के सिवाय विज्ञान का भी समर्थन छने जल को प्राप्त है। अनछने जल में चलते फिरते अगणित त्रस्त जीव यंत्र से दिखते हैं, उनकी रक्षा के हेतु छना जल पीना आवश्यक है। मनुस्मृति में जो हिन्दू समाज का मान्य ग्रंथ है, लिखा है–

छनेजलके विषय में

"दृष्टि पूतंन्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं पिबेज्जलम।" देखकर पांव रखे, और छानकर पानी पिए। कहावत है,–"गुरु कीजे जान, पानी पीजे छान।" अगालित जल में बहुत छोटे कीडे पेट में चले जाते हैं जो भयंकर रोगों को उत्पन्न कर देते हैं। प्राचीन भारत में छने जलका आम रिवाज रहा प्रतीत होता है इसी कारण न्यायशास्त्र में घट के साथ पट का भी उदाहरण दिया जाता है। शब्द साम्य की दृष्टि से घट के साथ पट का भी मेल हो सकता है, हमें तो प्रतीत होता है कि घट और पट की समीपता के कारण ही न्याय शास्त्र में अन्योन्याभाव भाव आदि के उदाहरण में, "घटः पटो न" कहा जाता है।

सन १९५० में हम राणाप्रताप के तेजस्वी जीवन से सम्बन्धित चितौड़ गढ के मुख्य द्वार पर पहुंचे तो वहा एक घट को वस्त्र सहित देख मन में शंका हुई कि यहां घट पट का सम्बन्ध कैसे आगया तब हमें बताया गया कि यहा लोग प्रायः पानी छानकर पीते हैं। जैन संस्कृति की करुणा मूलक प्रवृत्ति का यह विशिष्ट सूचक भी है, किन्तु इस कार्य में बडे बड़े विद्वान तक शिथिलता दिखाते हैं।

एक काशी के आचार्य जैन पंडित जी को अनछना पानी पीते देखकर धार्मिक लोगों में संस्कृत शिक्षण के विरुद्ध गहरी प्रतिक्रिया दिखाई दी। कई कहने ही लगे "ऐसे विचित्र रत्नों को उत्पन्न करने को ही क्या धार्मिक समाज का द्रव्य लगाया जाना चाहिए?" पानी छानने के महत्व

को ध्यान में देखकर ही आचार्य महाराज ने उस भद्र महिला को पानी छानकर पीने को कहा।

आजकल रात्रि भोजन की बीमारी भी जैनसमाज में बड़े बड़े नगर निवासियों में बढ़ती जा रही है। जिस व्यक्ति के पास थोड़ी ही लक्ष्मी की कृपा हुई कि उसने रात्रि को भोजन करने में सगर्व कदम बढ़ाया। एक कोशाधीश जैन श्रीमान को मैंने देखा वे सब साधन संपन्न होते हुए भी रात्रि को भोजन करने लगे थे, और न करने वालों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे।

छनापानी तथा दिन का भोजन जैन परंपरा के वैज्ञानिक अंग

ऐसे लोगों को स्मरण रखना चाहिए कि थोड़े दिन पुण्य के फलरूप लक्ष्मी का लाभ ले लें, पश्चात् नीच पर्याय में जा कर्मों की ठोकरें खाना पड़ेगा, अतः नरजन्म को सफल करने के हेतु पापाचरण से विमुख रहना हितकारी है।

एक श्रृगाल ने रात्रि को भोजन छोड़ा था, उसके फल से उसने देव-पद प्राप्त किया था, तब मानव उस श्रृगाल से भी पिछड़ा रहा आवे, यह अच्छी बात नहीं दिखती है। गांधी जी रात्रि को भोजन नहीं करते थे, चाहे राष्ट्र हित का कितना ही बड़ा काम हो। एक बार काशी विश्व-विद्यालय में वे भाषण दे रहे थे। संध्या समीप होने से पं० मदनमोहन मालवीय ने लोगों के समक्ष कहा था, "हमारे भाई गांधी जी रात्रि को भोजन नहीं करते हैं, इससे सभा समाप्त की जाती है।" जो अत्यंत तुच्छ बातों के बहाने रात्रि को भोजन करते हुए अपने जैन कुल के गौरव की परवाह नहीं करते हैं उनको विवेक के प्रकाश में अपनी प्रवृत्ति को सुधारना चाहिए। प्रमुख जैन ही जब संस्कृति को विकृत करेंगे, तब उनका शुद्ध रूप कैसे रहेगा ?

कोई कहते हैं संस्कृति का खान पान से क्या सम्बन्ध है ? इसके उत्तर में कहना होगा कि शुद्ध आचार विचार का ही नाम तो संस्कृति है। पवित्र आचरण और पवित्र मनोवृत्ति से जीवन की मलीनता दूर होकर वह परिशुद्ध, परिष्कृत, परिमार्जित बनता है। इसे ही संस्कृत जीवन कहते मीठी मीठी, लच्छेदार बातें बनाना संस्कृति नहीं है। वह तो पथिक को फंसाने वाली व्याघ्र की बात है जो कहता था "इदं सुवर्ण कंकणं गृह्यताम" किन्तु इस माधुर्य के अन्तस्तल में नैसर्गिक क्रूरता का भाव छिपा हुआ था।

अतः विचारों की निर्मलता के संपादनार्थ आहार की शुद्धि आवश्यक

हैं, इसी से आचार्य महाराज जीवन के कल्याणार्थ उसका उपदेश देते हैं और भद्रात्मा उनके उपदेश को स्वीकार करते हैं।

आचार्य संघ जंगल के बीच से जा रहा था। एक वृद्धा की दृष्टि साधु महाराज पर पडी। उसकी तीव्र इच्छा हुई, कि इन बाबा के दर्शन अवश्य करूंगी। महाराज आगे थे, वह लाठी टेकती हुई उस ओर बढ़ती जा रही थी। उसकी दृढ़ता और भक्ति देख संघपति सेठ गेंदनमल जी आचार्य जी के पास पहुँचे, और अर्ज की, कि महाराज एक वृद्धा दर्शनार्थ आ रही है आपके दर्शनो की उसकी बड़ी तीव्र लालसा है। उस समय थोडा थोडा पानी बरसना प्रारंभ हुआ था, किन्तु फिर भी महाराज कुछ समय को रुक गए और उसके आने पर उसे भद्रात्मा देख आशीर्वाद देते हुए आगे बढे।

संध्या हो रही थी, उसी समय दो शिकारी मिले। उन्हें शिकार न खेलने को लोगो ने कहा। आचार्य महाराज के आगमन की वार्ता सुनाई। महाराज का दर्शन कर बिना शिकार किये वे लोग वापिस चले गए। आचार्य ही तो महान आत्मा हैं। उनके प्रभाव से समक्ष में हिंसा न हो सकी, यह बडी बात नही है। उनके चरण सेवक जिनेन्द्र के वचनो में श्रद्धा शील श्रावको में बहुत सामर्थ्य पाई जाती है। देहली के एक धार्मिक जैन भाई तीन वर्ष पूर्व अमेरिका गए थे। वहा कुछ अमेरिकन साथी इनके द्वारा मछली न मारने की प्रार्थना करने पर भी अपनी आदत से लाचार हो मछली मारने एक सरोवर पर गए। जैन महाशय भी वहा खडे खडे जिनेन्द्र का नाम जपते रहे और यही आकाक्षा कर रहे थे, कि आज मछलियो को अभय प्राप्त हो। वे इनके जाल में न फसें। काफी देर तक उन लोगो ने मछली मारने का प्रयत्न किया, किन्तु वह निष्फल रहा आया। उनकी समझ में आ गया कि श्री जैन की करुणामयी प्रार्थना की उपेक्षा करने से वे विफल मनोरथ रहे हैं, अत उनके चित्त में जैन-बधु के प्रति विशेष सम्मान की भावना उत्पन्न हो गई। वास्तव में देखा जाय, तो जिनेन्द्र के प्रति श्रद्धा रखकर यदि हम काम करें तो अवश्य पवित्र कार्य में सफलता मिलेगी।

प्रभावना

कटनी चातुर्मास

असाढ सुदी तीज को सघ कटनी से चार मील दूरी पर स्थित चाका ग्राम पहुच गया। वहा के स्कूल मे सघ को ठहराया गया। महाराज के उपदेश से प्रभावित हो मुसलमान हेडमास्टर ने मासाहार का त्याग कर दिया और भी बहुतो ने मांसाहार का त्याग किया।

मध्यान्ह की सामायिक के उपरांत कटनी की जैन समाज का एक जुलूस, जिसमें हिन्दू तथा मुसलमान भी शामिल थे, आचार्य सघ के स्वागतार्थ आया। बडे हर्ष के साथ जुलूस ने नगर में प्रवेश किया। दोनों जिन मदिरो की उनने वदना की। पश्चात् नवीन छात्रावास को आचार्य श्री ने अपने चरणो से पवित्र किया। इसी कारण उसे शान्ति-निकेतन यह अन्वर्थ नाम प्राप्त हुआ। ता० २२ जून सन १९२८ को आचार्य महाराज तथा नेमिसागर महाराज का केश-लोच हुआ, पश्चात् भगवान का पचामृत अभिषेक हुआ तथा पूजन की गई। आचार्य महाराज की भी पूजा की गई। आचार्य महाराज का त्याग धर्म पर मार्मिक उपदेश हुआ। इसके पश्चात् दूसरे दिन तारीख २३ को सेठ गेंदनमल जी सपरिवार मुबई वापिस चले गये। कटनी समाज ने सघपति का योग्य वस्त्रादि द्वारा सम्मान कर वात्सल्य भाव का परिचय दिया। उनको मानपत्र भी दिया था। सघपति ने जिस प्रकार आठ माह का समय गुरुसेवा में दिया, इसी प्रकार गुरुचरणो के भक्त दक्षिणके और भी भाई थे, वे सब अपने अपने स्थान को चले गये। कारण अब उनने देख लिया कि महाराज को उत्तर भारत की यात्रा कर धर्म की प्रभावना करना है और अब उत्तरप्रान्त के भाई गुरुसेवा का पवित्र उत्तरदायित्व उठाने को तैयार है, अतः अपने लौकिक कार्यो के हेतु उनको जाना पडा।

उत्तरभारत में सर्व प्रथम आचार्य शांतिसागर महाराज के सघ के चातुर्मास का सौभाग्य कटनी को प्राप्त हुआ। आचार्य श्री के जीवन को जिनने निकट से देखा, उनका अतःकरण उनके प्रति भक्तिपूर्ण बने बिना नही रहा। शिखर जी के महान् उत्सव मे इतना अधिक जनसमुदाय था और उस विशाल भीड के कारण ऐसी स्थिति थी, कि आचार्य श्री के जीवन के निकट निरीक्षण का सौभाग्य बहुत कम लोगो को मिला। ये तो

महान सन्त है, जिन्हें अपने जीवन का विज्ञापन कभी भी इष्ट नही रहा है, अत. सब सामान्य कीर्ति के सिवाय निकट से उनको देख सकें, ऐसा प्रथम अवसर उत्तर भारतवालो को कटनी में प्राप्त हुआ। कुछ शास्त्रज्ञो ने सूक्ष्मता से आचार्य श्री के जीवन को आगम की कसौटी पर कसते हुए समझने का प्रयत्न किया। उन्हे विश्वास था कि इस कलिकाल के प्रसाद से महाराज का आचरण भी अवश्य प्रभावित होगा, किन्तु अन्त में उनको ज्ञात हुआ कि आचार्य महाराज में सबसे बडी बात यही कही जा सकती है, कि वे आगम के वचन में बद्ध प्रवृत्ति करते हैं और अपने मन के अनुसार स्वच्छद प्रवृत्ति नही करते है। स्थानीय लोगो की प्रारम्भ में कुछ कम इच्छा थी, कि चातुर्मास का महान् भार हम कटनी वालो पर पडे, किन्तु चातुर्मास समीप आ जाने से दूसरा योग्य स्थान पास में न होने से कटनी को ही चातुर्मास के योग्य स्थान चुनने को बाध्य होना पडा।

सघपति ने ऐसे लोगो को कह दिया था— 'आप लोग चिन्ता न करें,यदि आपकी इच्छा न हो,तो आप लोग सहयोग न देना, सर्व प्रबन्ध हम करेंगे, अब चातुर्मास तो कटनी मेंही होगा।' इस निश्चय के ज्ञात होने पर सहज सौजन्यवश प्रारम्भ में उन शकाशील भाइयो ने महाराज के पास आना प्रारम्भ किया। उन्हें ऐसा लगने लगा, जिसे हम कांच सरीखा सोचते थे, वह स्फटिक नही, वह तो असली हीरा है।

उस समय उन्हे—अपने भाग्य पर आश्चर्य होता था, कि किस प्रकार अद्भुत पुण्योदय से उनको अनायास ही नही, अनिच्छापूर्वक ऐसी अपूर्व निधि प्राप्त हो गई। बस अब उनकी भक्ति का प्रवाह बढ चला। जो जितना प्रबल विरोधी होता है, वह दृष्टि बदलने से उतना ही अधिक अनुकूल भी बन जाता है। इद्रभूति ब्राह्मण महावीर भगवान के शासन का तीव्र विरोधी था, किन्तु उसने प्रभु के जीवन को सौन्दर्य देखा और उसमें अपूर्व सौरभ और प्रकाश पाया। अतः इतना प्रबल भक्त बन गया कि प्रभु के उपदेशानुसार निर्ग्रन्थ मुनि बन कर भगवान के भक्त शिष्यो का शिरोमणि बनकर गौतम गणधर के नाम से विख्यात हो गया। भावों की अद्भुत गति होती है। कटनी की समाज में आतरिक भक्ति का स्रोत उमड पडा, इससे आनन्द की अविच्छिन्न धारा भी बह चली।

बडे सुख, शाति, आनन्द और धर्म प्रभावना के साथ वहा का समय व्यतीत होता जा रहा था।

मैंने भी आचार्य श्री के जीवन का निकट निरीक्षण नहीं किया था। अतः मैं पूर्णतया श्रद्धा शून्य था। कार्तिक के अष्टान्हिका के समय काशी अध्ययन निमित्त जाते हुए एक दिन के लिए यह सोचकर कटनी ठहरा कि देखें इन साधुओं का जीवन कैसा है?

पास में पहुंच कर देखा, तो मनको ऐसा लगा, कि कोई बलशाली चबक चित्त को खेंच रहा है। मैंने दोष को देखने की दुष्ट बुद्धि से ही कार्य लेने का प्रयत्न किया था, किन्तु रंचमात्र भी सफलता नहीं मिली।

आचार्य महाराज को देखकर आखें नही थकती थी। उनके दो बोल कानों में अमृत घोल देते थे। उनकी तात्विक-चर्चा अनुभव पूर्ण एवं मार्मिक होती थी। वहाँ से काशी जाने की इच्छा नहीं होती थी। हृदय में यही बात आती थी, जब सच्चे गुरु यहां विराजमान हैं, तो इनके अनुभव से सच्चे तत्वों को समझा जाय।

पूरा आष्टान्हिका पर्व वहाही व्यतीत हो गया। महाराज का जीवन तो हीरे के समान ही दीप्तिमान था। उस समय उनके दर्शन से ऐसा ही आनंद आता था, मानो अंधे को आखें मिल गई हों, दरिद्र को निधि प्राप्त हो गई हो।

हृदय में यह भाव बराबर उठते थे, कि मैंने कुसंगतिवश क्यों ऐसे उत्कृष्ट साधु के प्रति अपने हृदय में अश्रद्धा के भावों को रखने का महान पातक किया? संघ के अन्य साधुओं का जीवन भी देखा, तो वे भी परम पवित्र प्रतीत हुए। 'सोना जानिए कसे, आदमी जानिए बसे'—सुवर्ण की परीक्षा कसोटी पर कसे बिना नहीं होती है, आदमी की जाँच के लिए उसके साथ कुछ काल तक बातचीत होना आवश्यक है। जीवन तो आत्मा का गुण है, वह पुद्गल लेखनी के द्वारा कैसे बताया जा सकता है? प्रत्यक्ष संपर्क से ज्ञात हो जाता है, कि इस आत्मा में कितनी पवित्रता और प्रकाश है? मेरा सौभाग्य रहा जो मैं आचार्य श्री के चरणों में आया और मेरा दुर्भाव धुल गया।

उस समय कटनी में महाराज की तपश्चर्या बडी प्रभावप्रद थी। सभी संघ के साधु ज्ञान और वैराग्य की मूर्ति थे। धार्मिकों के लिए तो वे अमृत-तुल्य लगते थे, हां, विषय लोलुपी लोगों के लिए वे विष तुल्य अवश्य दिखते होंगे। आचार्य श्री कम बोलते थे, किन्तु जो बोलते थे, वह अधिक गंभीर तथा भावपूर्ण रहता था। पूजन, भजन, तत्वचर्चा,

धर्मोपदेश में दिन जाते पता नही चला ।

वर्षायोग समाप्ति का दिन आ गया । अब कल संघ का कटनी से विहार होगा, इस विचार से लोगो के हृदय पर वज्राघात सा होता था । कितनी शांति, सुख, संतोषपूर्वक समय व्यतीत हुआ, इसकी घर घर में चर्चा होती थी

विहार

अगहन कृष्णा एकम का दिन आया । आहार के उपरांत महाराज ने सामायिक की और जबलपुर की ओर विहार किया । उस समय आचार्य महाराज में कटनी के प्रति रचमात्र भी मोह का दर्शन नही होता था । उनकी मुद्रा पर वैराग्य का ही तेज अकित था । हजारो व्यक्ति, जिनमें बहुसख्यक अजैन भी थे, बहुत दूर तक महाराज को पहुचाने गये । महाराज अब पुन: कटनी लौटने वाले तो थे नही, क्या ऐसा सौभाग्य पुन. मिल सकता है ?

कटनी की समाज के हृदय पर महाराज का आज भी शासन विद्यमान है । जब कभी वहा के श्रावको के समक्ष चर्चा आ जाती है तो वे आनन्द मग्न होकर उन पुण्य दिवसो का स्मरण कर लेते हैं । विशुद्ध जीवन के बिना ऐसा स्थायी पवित्र प्रभाव कैसे हो सकता है ? महाराज को आहारदान का सौभाग्य मिल जाय, इससे कटनी से श्रावको की मडली सघ के साथ रवाना हो गई ।

दूसरे दिन बिलहरी ग्राम पहुचे । वहा सघ का दो दिन वास्तव्य रहा । आसपास महाराज के श्रेष्ठ आध्यात्मिक जीवन की प्रसिद्धि हो चुकी थी । अत उस ग्राम में सरकारी अधिकारियो ने और जनता ने गुरुदेव के निमित्त से बहुत लाभ लिया । क्या कभी कोई सोच सकता है कि चमार लोग मासाहार छोड सकेंगे ? आज तो बडे बडे उच्च वशवाले मासाहार तथा अडे खाने की ओर बढ रहे हैं, तब आचार्य श्री के उपदेश से चमारो का मास भक्षण त्याग करना बहुत बडी बात है । सुसस्कृत और समुन्नत आत्मा का जीवन पर ऐसा अद्भुत असर पडता है, कि जिसकी स्वप्न में भी आशा नही की जा सकती, वह बात सरलतापूर्वक प्रत्यक्षगोचर हो जाती है ।

बिलहरी में चमारो द्वारा मासाहार त्याग

आज तो अहिंसा के प्रसाद से जन्म धारण करने वाला

मानव समाज में मांस भक्षी गिद्ध तुल्य अमंगलरूप है

भारतीय शासन मांसाहार प्रचार को अपना विशेष वर्तव्य मान बैठा है। वह देखे कि चर्मकार तक मांस का त्याग कर सकते हैं, तो अपने में बड़प्पन् का अहंकार करने वालों की और चमारों से अपने को बड़े मानने वालों को सोचना चाहिए कि इस विषय में वे चमारोंसे आगे रहना चाहते हैं या पीछे? यथार्थ बात यह है कि जो आत्मा अहिंसा से भूषित है, वह महान है, जो हिंसा में निमग्न है, वह कथमपि उच्च अथवा महान नहीं मानी जा सकती है। गो की महत्ता को मांस–जीवी गिद्ध कहीं प्राप्त कर सकता है? मांस भक्षी तो गिद्ध के समान अमंगल सूचक होता है, जैसे किसी घर पर गिद्ध आदि मांसभक्षी जानवरों का बैठना अकल्याण की सूचना देता है।

पिपरौद के रास्ते में सर्प राज का आतंक महाराज के प्रसाद से दूर हुआ

संघ ने बिलहरी से पिपरौद की ओर प्रस्थान किया, तो एक यात्री ने कहा– "महाराज रास्ते में एक भीषण सर्प है, वह जाने वालों का पीछा करता है, अतः वह रास्ता खतरनाक है।" सब लोग चिन्ता में पड़ गए। लोग यही चाहते थे, कि महाराज दूसरे रास्ते से चलने की आज्ञा दें। क्रुद्ध सर्प के रास्ते पर चलकर प्राणों के साथ खिलवाड़ करने से लोग डरते थे, किन्तु उनने ऐसे महान पुरुष के चरण पकड़े थे, जो जीवन भर निर्भीक रहा। अनेकों बार घटों सर्पराज जिनके शरीर पर काफी उपद्रव करके परीक्षा ले चुके, किन्तु उन शांति के सागर में अशांति का लेश न पाया।

आचार्य महाराज ने कहा–"घबड़ाओ मत और वे तो उसी रास्ते पर बढ़ते चले। महाराज के पुण्य प्रताप से सर्पराज बास-बिड़े पर सो रहा था, इससे निष्कंटक रास्ता कट गया। जिनेन्द्र भगवान के वचनों पर श्रद्धा रखने वालों का संकट ऐसा ही टल जाता है। मानतुंग मुनिराज ने लिखा है:–

"हे भगवान! जिस पुरुष के हृदय में आपके नाम रूपी नाग दमनी औषधि विद्यमान है। वह शंका रहित हो रक्त नेत्र वाले, समद कोयल के कंठ समान श्याम वर्ण वाला, क्रोधयुक्त, फण उठाकर आते हुए सर्पराज को अपने पैरों से लाघ जाता है।"

बारामती के सेठ चंदूलाल सराफ से हमने पूछा था–"आप

गुरुभक्तोंके महाराज के प्रभाव से सदा संकट दूर हुए हैं

महाराजकी सेवा में प्राय रहते हैं। क्या विशेषता उनके बारे में देखने में आई?" उनने कहा था—"महाराज के साथ में कभी भी कष्ट नही हुआ। कभी कोई संकट नही आया। भयंकर से भयंकर जंगल मे पड़े रहे, कभी भी चोरी नही हुई। कभी बीमारी की विपत्ति नही भोगने में आई।"

वे कहने लगे—"कदाचित संकट का समय आया और हम लोगो ने आचार्य महाराज पुण्य का स्मरण किया, तो उनका नाम लेते ही संकट दूर हुआ है।"

राहुरी में जल प्रलय से बचने में पूज्य श्री का प्रभाव कारण था

उनने एक घटना सुनाई। और भी अनेक लोगो ने उसका समर्थन किया। बंबई प्रान्तो में प्रसिद्ध अहमद नगर की तरफ जब महाराज का विहार हो रहा था। तब रास्ते में राहुरी स्टेशन मिलता है। महाराज ने विहार किया। संध्या हो चली थी। उस समय हम पास के ग्राम में रहना चाहते थे, किन्तु महाराज ने हम लोगो की प्रार्थना की परवाह नही की और वे दूर तक आगे बढ गये। लाचार होकर हमको भी उनकी सेवार्थ वहा पहुचना पडा। कुछ समय के पश्चात उस ग्राम के पास ऐसी भीषण वर्षा हुई, कि वहाँ कोई घर न बचा।"

पूर में सब बह गये। इस सम्बन्ध में मैंने महाराज से पूछा था—"महाराज! ऐसे प्रसंग पर आप क्यो उस गाँव के आगे बढ गए? क्या आपको वर्षा का ज्ञान हो गया था?"

महाराज ने कहा—"ऐसे अवसर पर हमारी आत्मा वहा रहने को नही बोलती थी। हमारी आत्मा जैसी बोलती है, वैसा हम करते हैं। किसी के कहने से कुछ नही करते हैं।" ऐसी पवित्र आत्मा का शरण लेने वाले को

इन महामुनि के चरणो की सेवा से समृद्धि लाभ

कहा विपत्ति होती है? शिखर जी में संघपति ने पंच कल्याणक महोत्सव में लाखो खर्च किए। संघ के साथ बहुत समय व्यतीत किया, इससे उनके पास की सम्पत्ति कम हो गई होगी, ऐसा कोई सोच सकता है, किन्तु यह भ्रम है; आचार्य शांतिसागर महाराज के चरण पकडने वालो का ऐसा विकास और अभ्युदय हुआ, कि जिसे देखकर लोग चकित हो जाते हैं।

एक बार एक उच्चकोटि के ज्योतिषशास्त्र के विद्वान को आचार्य महाराज की जन्म कुंडली दिखाई थी। उसे देखकर उनने कहा था, जिस

व्यक्ति की यह कुण्डली है, उसके पास तिलतुष मात्र भी संपत्ति नही होनी चाहिए, किन्तु उस आत्मा की सेवा करने वाले लखपती, करोड़पति होना चाहिए। उनने यह भी कहा था, कि इनकी शारीरिक शक्ति गजब की होना चाहिए। बुद्धि बहुत तीव्र बताई थी और उन्हे महान तत्वज्ञानी भी बताया था। दुर्भाग्य की बात है कि वे ज्योतिषी जी अब नही है, अन्यथा उनके द्वारा किया गया साधार (ज्योतिष शास्त्र की अपेक्षा) विवेचन महाराज के जीवन को समझने मे विशेष लाभ प्रद होता। महाराज के चरणों का आश्रय लेने से विपत्ति नही आती, यह साथ के लोगों ने भी देख लिया। उनको संकटमुक्त होने का हर्ष तो था ही, साथ ही महाराज के प्रति श्रद्धा और भी बलवती हो गई।

आगे चलकर संघ नें विपरीद ग्राम मे रात्रि व्यतीत की। मध्यान्ह की सामायिक के उपरान्त संघ ने तिवरी की ओर प्रस्थान किया। यहा सघ दो दिन ठहरा। साथ में दो गाड़ी लेकर लाड़नू के सेठ बच्छराज जी भी सपरिवार गुरु सेवा मे दत्त चित्त थे। सेठ बच्छराज जी के भाई सेठ तुलाराम जी अभी इस वर्ष सन १९५१ के भादो के बाद आचार्य महाराज की सेवा में बारामती आए थे। वे महाराज की सेवा मे सपरिवार कुछ दिन ठहरे थे। आज वे सभी भाई कोट्याधीश हैं। महाराज ने उनसे कहा था,—"तुमने अभी जो धन पाया, वह पूर्व पुण्य से प्राप्त किया है। पुरुषार्थ से इतना धन नही मिला है। अब आगे भी ऐसा धन प्राप्त करने के लिए प्रयत्न क्यों नहीं करते?" महाराज की बात ऐसी मधुर, मार्मिक तथा कल्याणप्रद रहा करती है।

इसके बाद संघ सलीमनाबाद आया। प्राचीनकाल में यह स्थान दि० जैन संस्कृति का बड़ा भारी केन्द्र रहा है, क्योंकि यहा के जगल में बहुत प्रमाण में जैन मूर्तियां प्राप्त होती है। यहां अच्छा मंदिर है। लगभग दस घर जैनियो के है। वहा से चलकर सघ सिहोरा आया। सिहोरा के पार्श्व में तीन मील दूरी पर एक गाव है, वहा के श्रावकों ने संघ से धर्म प्रभावना की प्रार्थना की, अतः आचार्य महाराज ने पार्श्ववर्ती ग्राम के लिए पार्श्वकीर्ति जी को दो दिन के लिए वहा जाने की आज्ञा दी थी; पश्चात् वे संघ में सम्मिलित हो गए थे। जब सघ आगे बढ़ा, तब भीषण वर्षा के सर्वचिन्ह दिखने लगे। उससे सब गृहस्थों को बड़ी चिन्ता होने लगी, कि वर्षा हो जाने से परिवार के बाल बच्चों को बड़ा त्रास होगा,

सर्दी भी भीषण हो जायगी। यह देख आचार्य श्री ने करुणा भाव से बाल बच्चो वाले श्रावको को साथ में न ले जाने को कहा, किन्तु उनके हृदय में गुरु चरणो के प्रति भक्ति थी, उनका साथ छोडने को जी नही हो रहा था, अत वे साथ में ही रहे। उनने सोचा मेघो के डर से ऐसी आत्मा की सेवा का सौभाग्य छोड देना महा मूर्खता होगी; इससे वे चरणो के पीछे लगे ही रहे। जब योग्य स्थान पर सघ पहुच गया और सघ के लोगो के ठहरने की व्यवस्था हो गई, तब वर्षा ने भूतल को जलमय कर दिया। लोगो को कष्ट नही हुआ।

आगे चलकर सघ गोसलपुर आया। वहा हिरन नामकी नदी पडती है। उसे पार करने के लिए नौका चलाने वालो ने पैसा नही लिया। उनको पैसा लेने को बहुत कहा, किंतु वे बोले—"ये तुम्हारे ही गुरु नही है ये महात्मा हम सबके गुरु है। उनकी सेवा करने के पैसे हम कदापि नहीं लेगे। "*यथार्थ में सभी लोग इनको अपना गुरु कहते है।* सन् १९५१ में नासिक काग्रेस के महाअधिवेशन में श्री अजित प्रसाद जी जैन पुनर्वास मत्री भारत सरकार आए थे। उनके साथ भारतीय पार्लियामेंट के सदस्य श्री बालकृष्ण शर्मा भी थे। मिनिस्टर जैन से चर्चा के प्रसग में मैंने कहा 'यहा से पास ही अपने आचार्य शान्तिसागर महाराज है।' श्री बालकृष्ण शर्मा बोलने लगे, "जैन लोग सोचते है कि आचार्य शातिसागर महाराज हमारे है, किन्तु यह बात ठीक नही है। आचार्य महाराज सबके है। उनके चरणो पर जितना जैनो का अधिकार है, उतना ही हमारा भी अधिकार है। वे तो विश्व की विभूति है।"

इन वाक्यो के भीतर गहरी सचाई छिपी है। ससार में जितने वेषभूषा है, वे मनुष्य मनुष्य में भेद पैदा करती है। परिग्रह का आवरण ही संसार का जाल फैलाना है। जब इन महान मुनिराज ने दिगबर मुद्रा धारण कर ली, तब ये सूर्य और चन्द्रमा के समान प्राकृतिक रूप में आ गए। सूर्य और चन्द्रमा को कौन नही अपनाता है, अपना नहीं मानता है, उनसे अपना कल्याण साधन नही करता है? इसी प्रकार व आध्यात्मिक विभूतिया प्रसुप्त मोही मानव को जगाती हुई कल्याण के मंदिर में प्रवेश के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। सच्ची सस्कृति को बूटनीति के माया जाल से निकालकर देखा जाय, तो ज्ञात होगा, कि इन्ही महात्मा के चरणो में विश्व सस्कृति का मार्ग छुपा हुआ है। दुनिया के कोने कोने

सर्वोदय का पथ इनका जीवन है

में हिंसक लोग एकत्रित होकर सांस्कृतिक समुत्थान की कर्णप्रिय बातें करते हैं । उसे सुनकर 'नौ सौ चूहे खाकर बिल्ली हज्ज करने चली हैं', यह सूक्ति याद आती है । भला वहा क्या संस्कृति की ज्योति होगी, जहा मास भक्षण, मदिरा पान तथा जीव वध सदृश पाप कृत्यों में जरा भी दोष नही दिखता है ? यहा तो संस्कृति का शव भी नही है । वह तो विशुद्ध पाखंड है । सर्वोदय का पथ इन्ही सतो के जीवन में है, उपदेश में है, प्रवृत्ति में है । अहकार को छोडकर सच्चे कल्याण के प्रेमियो को इनसे प्रकाश प्राप्त करना चाहिए ।

गोसलपुर में विमानोत्सव हुआ । मुनि नेमिसागर महाराज का केशलोच भी हुआ । बहुसख्यक ग्रामीणोने गुरु दर्शन द्वारा पुण्य का बंध किया ।

बडे २ नगरो में लाखो आदमियों की भीड इकट्ठी होती है । उसे देखकर बडी प्रभावना की कल्पना होती है, किन्तु परिग्रह के जाल में जकड़े हुए लोगो मे एक कान से सुनने के बाद दूसरे कान से उडा देने की अपरिहार्य आदत होती है । अत. वहा की प्रभावना प्राय: ऊसर भूमि में वर्षा सदृश होती है । ग्रामीणो में दिए गए उपदेश का ऐसा ही असर होता है, जैसे खेत के भीतर पानी के बरसने का होता है । दिगम्बर मुनिराज की पैदल यात्रा के द्वारा इतने जीवो का कल्याण होता था, जिसका घर बैठे आदमी अनुमान नही कर सकता है । भोले लोग इन सतो के पास आते है । उन्हे बातें बनाना नही आता है । इनका विशुद्ध जीवन देखकर वे सहर्ष कुछ व्रत ले लेते हैं । श्रद्धापूर्वक दृढता के साथ पालन करते हैं और आगामी उज्वल जीवन के योग्य अपार पुण्य का सचय करते हैं । इन सतो की महिमा यथार्थ मे भव्य जीव ही जानते हैं ।

आचार्य महाराज की आत्मा तपश्चर्या के द्वारा अत्यन्त पवित्र हो चुकी है, इससे उनकी आत्मा भविष्य के सम्बन्ध में महत्व की बातें प्राय: पहले से ही बता देती है । लोग पहले उस कथन को सामान्य वचन समझते है, किन्तु सत्य प्रमाणित होते देख महाराज के पूर्वकथित शब्द स्मरण में आ जाते हैं ।

भविष्य की बातो की पूर्व ही दर्शन

सन् १९४७ में महाराज ने वर्षायोग सोलापुर में व्यतीत किया था । मैं भी गुरुदेव की सेवा में व्रतों में पहुचा था । एक दिन व्रतों के समय पूज्य श्री के मुख

से निकला "ये रजाकार लोग हैदराबाद रियासत में बड़ा पाप, बड़ा अनर्थ कर रहे है। इनका अत्याचार सीमा को लांघ रहा है। इनको अब खतम होने में तीन दिन से अधिक समय नही लगेगा।"

महाराज के मुख से ये शब्द सुने थे। उसके दो चार रोज बाद ही सरदार वल्लभभाई पटेल के पथ प्रदर्शन के अनुसार हैदराबाद पर भारत सरकार ने पुलिस कार्यवाही (Police Action) रूप आक्रमण कर दिया, और तीन दिन के भीतर ही हैदराबाद ने भारत सरकार के समक्ष घुटना टेक दिया।

इसके अनंतर मैंने आचार्य महाराज से कहा—"महाराज! उस दिन आपके मुख से हैदराबाद का जो भविष्य निकला था, यह पूर्णतया ठीक निकला। यह बताइये, इसका कैसे पता चल गया, आप तो राजनीति आदि की खबरों से अत्यन्त दूर रहते है।'

महाराज ने कहा—"हमारा जैसा हृदय बोला, वैसा हमने कहा था।"

यथार्थ में जैन धर्म में ज्ञान के विकास के लिए मोहनीयकर्म के क्षय को प्रथम स्थान दिया है, वह महत्व की बात है। मोह शत्रु को जीतने से आत्मा में सहज विशुद्धता उत्पन्न होकर अद्भुत ज्ञान-ज्योति व्यक्त होती है, जैसे मेघ का आवरण दूर होने पर सूर्य का प्रकाश प्रगट हो जाया करता है।

एक बार सन् १९४८ की जनवरी मे आचार्य महाराज ने विहार करते हुए शिष्य मंडली से कहा था-"हमें हमारा हृदय कहता है कि देश में कोई भयंकर अनिष्ट शीघ्र ही होगा।" महाराज के इस कथन के दो चार रोज बाद ही गोडसे ने गाधीजी की निर्मम हत्या की थी। उस समय सब बोले,"महाराज के ज्ञान में भारी घटनाओं की विशेष सूचना प्रायः स्वतः आ जाया करती है।"

संघ के निमित्त से गोसलपुर समाज को अपार आनंद आया। जीवन में ऐसे पवित्र और मांगलिक अवसर कब कब आया करते है? अतः वहां श्री जी को विमान पर विराजमान कर जल-विहार उत्सव हुआ।

यहा मुनिराज का केश लोंच भी हुआ था। यहां के पश्चात् संघ १९ दिसम्बर को पनागर पहुंचा। वहां जैनियों के ५० घर है। शांतिनाथ भगवान की ऊंची और मनोज्ञ मूर्ति है। पहले यहा भट्टारक की गद्दी रही है। ता: १७ दिसम्बर को आचार्य शांतिसागर महाराज ने केश लोच किए।

केशो का शरीर से अलग करना कलक मोचन सरीखा कार्य है। यह अत्यत तुच्छ काम है किन्तु यही तुच्छ कार्य तपस्वियो की तपस्या का अग बन जाता है और वे मशीन आदि के बिना हाथ से ही उखाडे जाते है, तो दर्शको की आत्माओ को भी प्रभावित करते है और सभी लोग सोचने लगते है कि सच्चे साधु महात्मा तो ये लोग है, गांजा चरस पीने वाले व्यर्थ में साधु का नाम लगाकर उस पद को दूषित करते हैं। ऐसे व्यसना में लिप्त साधुओ से तो सदाचारी गृहस्थ लोग अच्छे है। जब तक इद्रिय जय नही होता है, तब तक साधु महाराज प्राय. स्वादु महाराज कहे जाने के पात्र है। आचार्य महाराज का केशलोच बड़ा अद्भुत होता है। उसमें अधिक समय नही लगता है। उसे देखकर ऐसा लगता है, कि यह पूर्व जन्म का अभ्यस्त सरीखा है। तिनका के तोडने के समान केशो का लाच प्रतीत होता है, किन्तु केश लोच कितनी साधना और मनोनिग्रह का काम है, इसके परीक्षण के लिए अपने सिर के बालो को खेंचकर अनुमान हो सकता है। अभी वाराणसी चातुर्मास मे आचार्य शांतिसागर महाराज का केशलोच देखकर मैंने पूछा था—"महाराज ! केशलोच में आपको कष्ट तो होता होगा ?"

महाराज बोले—"लगभग ४० वर्ष हो चले, तब से यह कार्य कर रहे है, अब कुछ नही मालुम पड़ता है।" यथार्थ में आचार्य श्री का इद्रिय दमन अपूर्व है।

पनागर के समारभ में जबलपुर की बहुत सी समाज भी आ गई थी। इससे वहाँ की शोभा और बढ गई थी। सघ का पनागर आना ही जबलपुर के भाग्य उदित होने के उपकाल सदृश था। धार्मिक लोग सोच रहे थे, यहाँ कब सघ आता है ? शनिवार के प्रभात में सघ जबलपुर के लिए रवाना हुआ।

जबलपुर

जबलपुर के अधारताल के पास लोगो ने योगिराज का भव्य स्वागत किया। सब ने आकर मिलौनीगज के मदिर की वदना की। पश्चात सघ गोलबजार की तरफ रवाना हुआ। हजारो नर नारियो का समुदाय इन संतराज के स्वागतार्थ इकट्ठा हुआ था। कटनी के बाद से अब आचार्य महाराज एक दिन के अतराल से आहार लिया करते है। कटनी में तो उनका त्याग बडा कठिन रूप में था। पांच पांच छह छह उपवास करना साधारण सी बात थी। यह होते हुए भी धार्मिक कार्यों में प्रमाद का लेश

नहीं था । महाराज का संघ जैन बोर्डिंग गोलबजार में विराजमान था। मुनियो के आहार के बाद जैन व्यापारी अपनी अपनी दुकानें खोलते थे। जब धर्म पुरुषार्थ का लाभ हो रहा है, तब चतुर समाज ने यही सोचा, कि अमूल्य अवसर पर उस धर्म निधि का संचय करना ठीक होगा। 'धर्मः सुखस्य हेतुः–"यही धर्म ही तो सुख का हेतु है।"

२९ दिसम्बर को जबलपुर के नागरिकों के विशाल समुदाय के समक्ष नेमिसागर मुनिराज का केशलोंच हुआ था। संघ के साधुओं द्वारा सदा धर्मामृत की वर्षा हुआ करती थी। आचार्य महाराज की आदत वचनगुप्ति की विशेष रहती है। अतएव लोग उनके उपदेश के थोड़े से शब्दों को बड़ा ध्यान देकर सुना करते थे। उनके प्रत्येक शब्द के पीछे अनुभव और गंभीर चिंतना का भाव प्रगट होता था। महाराज की वाणी में यह बड़ी बात है कि वह तत्काल अंतःकरण को शांति और आनंद प्रदान करती है। लोगों के मन में यही लगी रहती है, कि महाराज के मुख से कब शब्द सुनने में आते है। आचार्य महाराज सदा आगम के अनुसार ही कथन करते हैं। श्रुत का अभीक्ष्ण अभ्यास रहने से अंतकरण, विचार, बुद्धि अत्यंत परिष्कृत हो गई है। अतः वे कभी भी आगम के विरुद्ध एक शब्द नहीं कहेंगे। एक बार महाराज ने मुझसे कहा था–"हम

जिन वाणी की भक्ति

एक अक्षर भी आगम के विरुद्ध नहीं बोलते है। जिनधर्म, जिन वाणी में है। उस जिन धर्म से तुम्हे सर्व पदार्थ प्राप्त होगे। जिन वाणी के अनुसार प्रवृत्ति करना चाहिए। प्रायः देखा जाता है, परिस्थिति देखकर तथा लोगों को अनुरंजित करने के लिए लोगों के के मुख से ऐसी बात निकल जाया करती है कि शास्त्र पुराने जमाने में लिखे गए है, आज की स्थिति दूसरी है। आज वे रचे जाते तो उनका रूप दूसरा होता। ऐसी आगम के विषय में आचार्य महाराज की श्रद्धा नहीं है। उनकी अविचल श्रद्धा है कि जो कुछ आगम में लिखा है, वह सर्वज्ञ की वाणी है, अतः पूर्णतया सत्य, निर्दोष तथा अबाधित है।

उच्च मार्दव भाव

आचार्य महाराज का प्राण आगम है, उसके विरुद्ध न वे एक शब्द बोलेंगे, और न विपरीत प्रवृत्ति ही करेंगे। इतने बड़े आचार्य की नम्रता की कोई सीमा है जब वे कहते हैं– "यदि हमें एक बालक भी आगम लाकर बतायेगा, कि हमने भूल की है, तो हम तुरन्त अपनी भूल को सुधारेंगे।" एक बार महाराज ने कहा था–

"यदि हम आगम के विरुद्ध बोलेंगे, तो हमें दोष लगेगा। इससे हम सदा आगम के अनुकूल ही कहेंगे।" सत्य महाव्रत की भावना में अनुवीचि भाषण आगम परंपरा के अनुसार कथन करने का जो उल्लेख आचार्य उमास्वामी ने किया है; वह आदेश उनके हृदय में विद्यमान है। इससे प्राण जाने पर भी वे आगम के विरुद्ध एक शब्द भी नही कहते हैं।

मधु भक्षण में क्या दोष है?

एक दिन मैंने पूछा—" महाराज आज कल लोग मधु खाने की ओर उद्यत हो रहे है, क्योंकि उनका कथन है, कि अहिंसात्मक पद्धति से जो तैयार होता है, उसमें दोष नहीं है।" महाराज ने कहा—" आगम में मधु को अगणित त्रस जीवो का पिण्ड कहा है, अतः उसके सेवन करने में महान पाप है।"

मैंने कहा, "महाराज सन् १९३४ में मैं वर्धा आश्रम में गाधी जी से मिला था। उस समय वे करीब पाव भर शहद खाया करते थे। मैंने गाधी जी से कहा था कि—"आप अहिंसा के बारे में जिन महावीर भगवान के उपदेश को श्रेय देते है, उनने अहिंसा के प्राथमिक आराधकों के लिए मास, मद्य के साथ मधु को त्याज्य बताया है, अतः आप जैसे लब्ध प्रतिष्ठ अहिंसा के भक्त यदि शहद सेवन करेंगे तो आपके अनुयायी भी इस विषय में आपके अनुसार प्रवृत्ति करेंगे।" इस पर गाधी जी ने कहा था—"पुराने जमानें में मधु निकालने की नवीन पद्धति का पता नहीं था, आज की पद्धति से निकाले गए मधु मे कोई दोष नहीं दिखता है।" इस चर्चा को सुनकर आचार्य महाराज बोले—"मक्खी पुष्पो के भीतर के छोटे २ कीड़ो को और उनके रस को खा जाती हैं। खाने के बाद वह आवश्यकता से अधिक रस को वमन कर देती है। नीच गोत्री विकलत्रय जीव का वमन खाना योग्य नहीं है। वमन में जीव रहते है। वमन खाना जैन धर्म के मार्ग के बाहर की बात है। थूक का खाना अनुचित कार्य है।" महाराज ने यह भी कहा था " जो बात केवली के ज्ञान में झलकती है, वह साइन्स में नहीं आती।"

मक्खी का वमन मधु है। वमनभक्षण करना अयोग्य है

महाराज के संघ ने आधुनिक शिथिलाचार पूर्ण प्रवृत्तियों की आलोचना करके समाज का कुमार्ग में पतन रोका था। महाराज जो कहते थे, वह किसी के कहने से नही, हृदय की प्रेरणा से कहते थे। वे इतने उच्च ज्ञान वान हैं कि बड़े बड़े विद्वान उनसे समक्ष चर्चा करते समय अवाक् हो

जाते हैं। वे महाराज के प्रश्नों और युक्तिवाद का उत्तर नहीं दे सकते हैं, अतः उनको प्रभावित किये जाने की जो बात सोचते हैं, उनमें सत्य का अंश भी नहीं है। आगम के प्रमाण बनाकर कोई भी व्यक्ति आचार्य श्री को प्रभावित कर सकता है और आगम के विरुद्ध विधाता भी आकर उनकी श्रद्धा को विचलित नहीं कर सकता।

आज के युग में सामाजिक संगठन और सदाचार रक्षणार्थ सज्जातित्व की रक्षा को आवश्यक बताते थे। शीलधर्म के प्रचार को महाराज ने बहुत प्रेरणा दी। उनके महत्वपूर्ण व्यक्तित्व का और उपदेश का प्रभाव है, कि दक्षिण प्रान्त में जो धरेजा, पाठ, या पुनर्विवाह की कुछ समय से पृथा प्रचार में आई थी, उसका प्रचार बहुत मात्रा में न्यून हो गया, तथा उत्तर प्रान्त में जो बाबा शीतल प्रसाद जी के प्रयत्न से विधवा विवाह का व्यवस्थित आंदोलन आरंभ हुआ था, उसका भी तत्काल मूलोच्छेद हो गया। इस प्रकार आचार्य श्री ने स्वयं तथा संघ के साधुओं के द्वारा शील सदाचार का पोषण करके मोक्षमार्ग की उज्वल प्रवृत्ति को लाछन रहित रखा। लोक रुचि को देखकर लोक कल्याण को लक्ष्य में रखकर उपदेश देते थे। उनके हाथ से कटु औषधि भी लोगों को अच्छी लगती थी।

लोक रुचि नहीं, लोक कल्याण को देखकर उपदेश

आचार्य सोमदेव ने लिखा है "जो वक्ता श्रोताओं की इच्छानुसार उपदेश देता है, वह कलिकाल के अंग सदृश है। मार्ग दर्शक सन्मार्ग का दर्शन करने में प्रशंसा प्राप्ति के बदले कल्याण को विशेष रूप से विचारता है। पं. जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है।[१] 'यदि कोई व्यक्ति नेता है तो उसका कर्तव्य है कि वह मार्ग प्रदर्शन करे, न कि जनता की आज्ञा का पालन करे।' मार्ग दर्शक का कार्य चिकित्सक के सदृश समाज की नीरोगता का संपादन, संरक्षण तथा संवर्धन रहा करता है। प्रायः देखा जाता है अत्यन्त विवेकी व्यक्ति भी रोगाकुल हो अपथ्य सेवन की लालसा करता है। चिकित्सक रोगी की इच्छा के विरुद्ध लंघनादि, कटु और कठोर उपाय बताता है और कहता है, यदि तुमने हमारे कथनानुसार प्रवृत्ति न करके स्वच्छंदता दिखाई तो तुम्हारे जीवन की रक्षा

१ If he is a leader, he must lead and not merely follow the dictates of the crowd.
Mahatma by Dr. Tendulkar, forword Pt. Jawaharlal Nehru. P. XI

न होगी। इसी प्रकार मोग, मोह, तथा विषयान्ध व्यक्तियों को आचार्य महाराज आगमोक्त औषधि देते हैं, उनका करुणा पूर्ण हृदय यही चाहता है कि इस जीव का कल्याण हो तथा साथमें समाज मोक्षमार्ग में संलग्न हो जावे। ऐसे अवसर पर एक विचित्र बात देखने में आती है। बीमार व्यक्ति डाक्टर या वैद्य के पास जाता है और उसकी राय के अनुसार काम करता है। रोग के विषय में वह किसी वकील, जज या प्रोफेसर के कथन को महत्व नही देता है, कारण यह जानता है, कि ये शरीर शास्त्र में निष्णात नहीं हैं। अतः उस विषय मे ये प्रमाण नहीं माने जा सकते हैं। यही नियम आगम के विषय में लगना चाहिए, किन्तु उसमें अधिकार की बात तो दूसरी, उस विषय से पूर्णतया अपरिचित व्यक्ति उस विषय में जीवन भर साधना करने वालों के गुरु बनकर उसको ज्ञान देने का साहस करते हैं तथा अपनी विषयों के वशवर्ती मनोवृत्ति के अनुसार चलने का आग्रह करते हैं। वहा ये भूल जाते हैं, कि जिस विषय का हमें तनिक भी परिचय नहीं है, उसके बारे में अपने को विशेषज्ञ मान अभिमत देना सत्य के प्रकाश में अन्याय होगा।

कई लोग अखबारो के पाठी बन अपने को द्वादशांग का पाठी सामान तत्वतः निरक्षर भट्टाचार्य के भाई होते हुए भी गुरुकी वाणी को अपने अनुभव तथा अध्ययन शून्य ज्ञान की कसौटी पर कसकर अयोग्य बताने का साहस करते हैं और भक्ति लोगों को भ्रम में डालते हैं। ऐसे लोगों का तो आज बोल बाला दिखता है।

एक कवि कहता है—

"फूटी आख विवेक की भला करै जगदीस।
कंचनियां को तीन सौ धनीराम को तीस॥"

वातावरण से अप्रभावित हों, आगमोक्त कथन

ऐसे अवसर पर जनता के प्रमाण पत्र या प्रशंसा की तनिक भी परवाह न कर आगम के मार्ग का प्रतिपादन करना महापुरुषों का काम है। लघु आत्मा बाह्य वातावरण से प्रभावित होकर उस काम को ही करती है, जिसमें उसको प्रशंसा (Cheap Publicity) मिले। सत्पुरुष कष्ट सहते हुए भी न्याय के मार्ग पर चलना कल्याणप्रद मानते हैं। अतएव आचार्य संघ के द्वारा लोक कल्याण, सामाजिक सुव्यवस्था एवं सदाचार के रक्षणार्थ पश्चिम की पवन के विरुद्ध विधवा विवाहादि के निषेध का जोरदार

प्रचार किया जाता था । शील के पथ पर चलकर ही सती सीता नारी जाति के गौरव की निधि बनी । उसी पथ पर चलने से मातृजाति का हित है । महाराज के संघ द्वारा व्यवहार और निश्चय दोनों धर्मों का उपदेश दिया जाता था । साधारण जन समाज के लिए व्यवहार चरित्र, शील, संयम, सदाचार का उपदेश दिया जाता था; तत्वज्ञों के लिए उच्च चर्चा की सामग्री गुरुदेव तथा संघ के ज्ञानी, अध्ययनशील, चिंतक साधुओं द्वारा प्राप्त होती थी ।

जबलपुर बड़ा नगर है । जैनियों की संख्या भी लगभग पाँच छह हजार है । उनमें उच्चकोटि के विश्वविद्यालयों की उपाधिधारी भी अनेक व्यक्ति हैं । वे लोग स्वतंत्र विचार तथा आचार को पसंद करने वाले होते हैं । उनके हितार्थ चंद्रसागर महाराज, वीरसागर महाराज आदि धर्म की मार्मिक देशना करते थे । आचार्य श्री की वाणी तो दुग्ध में से घृत के समान सार बात को कहती थी । महाराज की प्रकृति कम बोलने की, अधिक ध्यान, मनन, चिंतवन करने की रही है । विशेषज्ञों के आने पर वे सूक्ष्म चर्चा जी खोल कर करते हैं, साधारण लोगों के समक्ष वे अपने शिष्यों द्वारा तत्वोपदेश दिलाते हैं, और बीच में कभी कभी अपनी अमृत वाणी से अनुभव की मधुर चर्चा करते हैं, जिनसे श्रोताओं का संशय टिक नहीं पाता ।

जो आचार्य महाराज के निकट आता है, उसे ज्ञात होता है कि वे अत्यन्त सुलझे हुए, प्रशान्त, निस्पृह, श्रेष्ठ जीवन वाले चिंतक तथा अप्रतिम अहिंसक सन्त हैं । उनकी सारी प्रवृत्तियां अहिंसा के भाव से भूषित हैं । कुछ लोग शांति सिंधु के समीप न आकर आदत से लाचार होने के कारण लोगों को भ्रमजाल में फंसाया करते हैं, जैसे समवशरण के पास रहने वाले तीव्र मिथ्यात्वी जीव लोगों को कहते हैं, यह सब इंद्रजाल है, यहां आपको नहीं जाना चाहिए । 'स्वभावो दुरतिक्रमः' स्वभाव का बदलना साधारण बात नहीं ।

'नीम न मीठी होय खाओ जो घी अरु गुड़ में'

जबलपुर में महाकौशल प्रांत के जैनियों का सदा आना जाना लगा रहता है, इससे वहां संघ के विराजने से प्रांत भर के लोगों ने लाभ लिया ।

सिवनी के जिनालय की चर्चा

एक दिन मैंने आचार्य महाराज को सिवनी के विशाल जैन मंदिरों का चित्र दिखाया । उस समय आचार्य श्री ने कहा—"जबलपुर से यह कितनी दूर है ?"

मैंने कहा—"महाराज ९५ मील पर है।"

महाराज बोले—"हम जब जबलपुर आए थे, तब तुमसे परिचय नहीं था, नहीं तो सिवनी अवश्य जाते।"

मैंने कहा—"महाराज! उस समय तो मैं काशी में रहकर विद्याभ्यास करता था, इसीसे आपसे वहां पधारने की प्रार्थना करने का सौभाग्य नहीं मिला।" मैंने मंदिर में चित्र को जब बताया था, तब अधिक प्रकाश न था, इस कारण एक व्यक्ति ने मुझसे कहा—"आप महाराज को दुबारा अच्छे उजेले में यह सुन्दर फोटो बता देना। मैंने ऐसा ही किया, तब महाराज बोले—"बार बार क्या बताते हो। हम जिस चीज को एक बार देख लेते हैं, उसे कभी नहीं भूलते हैं।" तब स्मरण आया, कि इसी कारण महाराज को अनेक शास्त्रों की असाधारण धारणा हो गई है। महाराज एक बार बताते थे "हम रात्रि को तत्वों के बारे में खूब विचार करते रहते हैं।" उसी तत्वचिंतन के पश्चात् जो अनुभवपूर्ण वाणी महाराज की निकलती है, वह बड़े बड़े विद्वानों को मुग्ध कर देती है।

एक बार महाराज जबलपुर के विशाल हनुमानताल के बारे में कहते थे, "वह मंदिर किले के सदृश है"। मढ़ियाजी के प्रशान्त वातावरण की भी उनकी स्मृति बराबर विद्यमान है।

जबलपुर में जिन धर्म की प्रभावना के उपरान्त विहार कर महाराज ने सहजपुर ग्राम को अपने चरणों से पवित्र किया। वहां फाल्गुन वदी तेरस को ऐलक पार्श्वकीर्ति का, जिनको मुनि होने पर लोग कुंथुसागर महाराज के नाम से याद करते हैं। सज्जातित्व आदि पर विवेचन हुआ।

कोई व्यक्ति यह कहे, कि उनको तो आत्मा की चर्चा करनी चाहिए थी, इन सामाजिक विषयों में साधुओं को पड़ने की क्या जरूरत है?

स्वच्छंदाचरणरूपी व्याघ्र से समाज के रक्षक

यह भ्रम पूर्ण विचार है। जिन समाज हित की बातों का धर्म से सम्बन्ध है, उनके विषय में यदि प्रभावशाली सन्मार्ग का प्रदर्शन न करें, तो स्वच्छंदाचरण रूपी व्याघ्र धर्म रूपी वत्स का भक्षण किए बिना न रहेगा। इन सन्मार्ग के प्रभावक प्रहरियों के कारण ही समाज का शील और संयम रूपी रत्न कुशिक्षा तथा पाप-प्रचार रूपी डाकुओं द्वारा लूटे जाने से बच गया।

किसी नगर में प्लेग की बीमारी फैली हो, तो वहा वीणा लेकर वादन करने में मग्न होने वाले गायक को कहा जायगा, इस समय आप वीणा के तारों को विश्राम करने दीजिए, यह समय गायन का नही है। रोगी व्यक्तियों को औषधि देकर उनके कष्ट निवारण का काल है, इसी प्रकार जन उच्छृंखलता की लपटें संयम के सदन को दग्ध करने को, स्फुलिंग फैंकना शुरू करें, तब उस अग्नि को प्रशान्त किये बिना श्रेयोमार्ग कहा मिलेगा ?

एक समय था, जब गृहीत मिथ्यात्वी जिनेन्द्र के शासन पर आक्रमण करते थे, उस समय समन्तभद्र अकलंक सदृश तार्किकों ने अपने तर्क-चक्र के प्रहार से जैन संघ का रक्षण किया। अब वह समय बदला और जैन संस्कृति और सदाचरण पर अपने ही भाइयो द्वारा प्रहार होना आरंभ हुआ, तब आगमज्ञ परम हितैषी आचार्य महाराज की दृष्टि में यही बात उचित जची, कि इस समय समाज में बढते हुए शिथिलाचार को रोकने का उद्योग करना चाहिए।

सहजपुर में सहज ही में अच्छी प्रभावना हुई। अन्य लोगों ने मद्य मांसादि का त्याग किया। बहुत से मुसलमानो ने हिंसा का त्याग किया। समर्थ आत्मा का प्रभाव पड़े बिना नही रहता। इस सन्मार्ग के उपदेश द्वारा भव्य जीवो को महाराज वह निधि दे रहे थे, जिससे यह जीव कर्मो की अनादि कालीन परतंत्रता के बंधन को काटकर एक दिन मृत्यु का विजेता हो शाश्वतिक, शान्ति और अनंत शक्ति का स्वामी बनेगा। यह कार्य भौतिक स्वाधीनता प्रदान के गौरव से अनंत गुणा महत्व रखता है। कारण, यह पुद्गल की परतन्त्रता को दूरकर आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य का मार्ग बताता है। इस परा विद्या के प्रकाश के आगे तीन लोक का राज्य तुच्छ है। आचार्य श्री के द्वारा यही प्रकाश प्राप्त होता है, जो हिये की आखें खोल देता है; तब आत्मदर्शन से बढकर और कोई बात चित्त को नही लगती है।

सहजपुर के बाद सहपुरा का भाग्य जगा। सारे गांव के लोग आराध्य देव के स्वागतार्थ लगभग दो मील पहले से इकट्ठे हो गये थे। सबने इन संतो की चरण रज से अपने को पवित्र किया और उनके दयामय उपदेश को माना। बहुत प्रभावना हुई।

संघ इसके बाद वाड़ी वाड़ा आया। वहां सैकड़ों व्यक्तियों ने शिकार,

शराब, मांसाहार आदि का त्याग किया । अनेक ग्रामों के जीवों का कल्याण करता हुआ संघ गोटेगांव पहुंचा । यहां लहुरीसेन भाई आए और उनने स्त्री पुनर्विवाह प्रथा के समर्थन में चर्चा चलाई तथा उनने समानाधिकार के बारे में प्रश्न किए, जिनका समाधानकारी उत्तर दिया गया । युक्ति के साथ आगम का आधार इन प्रश्नों को समझने में सहायता देता है । दिगंबर जैन आगम में सर्वत्र शील धर्म की ही प्रतिष्ठा स्थापित की गई है । विधवा विवाह नीचों का कार्य बताया गया है जिन व्यक्तियों का कषायोदय से शील के उज्वल पथ से पैर फिसल गया है, उनको आगामी अपनी असद् प्रवृति का समर्थन तथा प्रचार नही करना चाहिए । जितना भी पाप से बचा जाय उतना ही कल्याण होगा । जितना संयमपूर्ण जीवन व्यतीत किया जायगा, उतना ही सुख और शांति का लाभ होगा । जिन सामाजिक कुप्रथाओं से आगामी धर्ममय जीवन को बाधा आती है, उनके सुधार करने में हित ही होगा । जो रीति रिवाज धर्म की अभि वृद्धि करते हैं वे सदा सर्वत्र मान्य होने चाहिए । जो ऐसे न हो, वे कैसे आदर के पात्र होंगे ?

शीलधर्म की प्रतिष्ठा का स्थापन

इसके पश्चात संघ ने आसपास के अनेक ग्रामों में जा हजारों व्यक्तियों को मद्य मांसादि का त्यागी बनाने का प्रशस्त कार्य किया । जब संघ नेलखेरा गांव में आया, तब वहां के ब्राम्हणों आदि ने इन परम हंस सदृश गुरुओं का पुण्योपदेश सुनकर अनेक नियम लिए और अपना जैन धर्म के प्रति विद्वेष की भावना का परित्याग किया । इससे कभी न निकल सकने वाला श्री जी का विमानोत्सव बड़े उमग, उत्साह तथा प्रेमपूर्वक हो गया ।

यहां से संघ ने पिपरिया के लिए प्रस्थान किया, किन्तु रास्ते में कुआ खेरा ग्राम की अजैन जनता द्वारा स्वागत की प्रेमपूर्वक तैयारी होने से संघ को कुछ देर यहां ठहरना पड़ा । ऐलक पार्श्वकीर्ति महाराज के उपदेश हुए । बड़ा प्रभाव पड़ा । मांसादि त्याग का नियम शूद्र भाइयों ने लिया । बहुतों ने अनेक प्रकार के व्रत लिए । इससे जीवों का सच्चा हित होता है । अगणित लोगों का कल्याण हो जाता है और दुनियां को पता नहीं चलता है, कारण यह सेवा का काम अथवा उपकार का काम दिखावे से पूर्णतया शून्य रहता है ।

शूद्रादि द्वारा मद्य मांसादिक त्याग

राजनीतिज्ञों का संसार इससे विलक्षण होता है। वहा कार्य शून्य होते हुए भी श्रोताओंकी शीर्ष गणना को ही शीर्ष स्थान दे वक्ता की सफलता का निश्चय किया जाता है और इसी की चतुर्दिक में दुदुंभि बजाई जाती है। नैतिक जीवन को समुन्नत करने के विषय में राजनीतिज्ञों का प्रयास नही होता और यदि सामान्य शैली में उसका उल्लेख कर भी दिया तो, जनता का अन्तःकरण उससे प्रभावित नहीं होता है। यही कारण है जो हम स्वतंत्र भारत में भ्रष्टाचार का जनता में प्रवेश पाते है और उन बडे बड़े राजनीतिज्ञो तथा उनके पार्श्वचरो में भी उसी पाप प्रवृत्ति को वृद्धि गत रूप में देखते है।

यथार्थ में जीव का कल्याण आचार्य की सदृश वीतराग परम तपस्वी संतो को अमृत वाणी द्वारा होता है। साधारणतया रुपया पैसों को दृष्टि पथ मे रखते हुए कोई कोई कहते है, जो कम से कम मूल्य की वस्तुता है और अधिक से अधिक मूल्य की सामग्री देता है वह साधु है। यह परिमाण किसी तर्क की नीव पर अवस्थित नहीं है, यह तो (arbitrary) स्वेच्छानुसार की गई है। फिर भी इस दृष्टि से देखा जाय, तो इन संतों द्वारा जो कुछ जगत को प्राप्त होता है, वह तो अन-मोल है। रत्नो की राशि से भी उसकी कीमत नही आंकी जा सकती है। कारण इससे प्राणी को सच्चा जीवन प्राप्त होता है। जैसे कोई वैद्य वृक्ष की जरा सी छाल लाकर मरणोन्मुख राजा का प्राण बचाता है, तो राजा उसका मूल्य लाखो देता है, उस छाल का मूल्य उसके द्वारा सपा-दित कार्य की श्रेष्ठता के कारण बढ़ जाता है, इस दृष्टि से इन मुनीन्द्रो के द्वारा हुआ आत्म कल्याण इतना कीमती है, कि उनका एक उपदेश भव भव तक में कृतज्ञ जीव को उऋण नही कर पाता है।

सर्प युगल को पार्श्वनाथ भगवान ने मरते समय सात्वना के चार शब्द ही कहे थे, किन्तु उस जिनेन्द्र की वाणी से उस युगल ने देवपर्याय पाई, प्रभु पर कमठ ने जब उपसर्ग किया, तब उसे दूर किया, तथा आज भी जो पार्श्व-प्रभु का हृदय से स्मरण करता है, उसके संकट निवारण के लिए सहायता प्रदान करने को यह देवदंपति तत्पर रहा करता है। इस अपेक्षा से सतों द्वारा दिया गया उपदेश इतना मूल्यवान रहता है, कि विश्व बैंक की संपत्ति द्वारा भी उसकी कीमत नहीं आकी जा सकती। इतनी बड़ी वस्तु देते हुए भी वे समाज से कुछ भी नही मागते।

मुनियो का आयाचना व्रत रहता है। भक्तिवश लोग उनकी सेवा में आवश्यक वस्तुए अर्पण कर कृतार्थता का अनुभव करते हैं। इस सघ द्वारा जो जीवो का कल्याण हो रहा है, वह बडी विश्व कल्याण कान्फ्रेंसो, सम्मेलनो द्वारा सपन्न नही होता है। सच्चे कल्याण का प्रकाश वहा ही प्राप्त होता है, जहा ऐसे अहिसक, अपरिग्रह, सत्यनिष्ठ, सतजनो का वास होता है। राजनीति का क्षेत्र स्वय पकिल है। उसमें सलग्न लोगो को इन आदर्शो को देखकर अपने मुख तथा हृदय की मलिनता का शोधन करना आवश्यक है। वे भला कल्याण कहाँ से दे सकते हैं? बेचारा अधराज पथ प्रदर्शन का कार्य किस भाति कर सकता है? अत सच्चा कल्याण चाहने वाली और मानवता की रट लगाने वाली नेतागिरी को इन सच्चे मानवो से प्रकाश पाना चाहिए। इसके सिवाय मगल मदिर में प्रवेश का उपायान्तर नही है।

निस्वार्थ भाव वाले महानदाता

यहाँ से चलकर सघ पिपरिया पहुचा। वहा २० घर परवार समाज के हैं। विमानोत्सव हुआ। भगवान का महाभिषक हुआ। इसके पश्चात सघ कटरा ग्राम आया। वहां के ठाकुर साहब आदि बहुत लोगो न मद्य, मासादि का त्याग किया। आगे चलकर कोनी ग्राम मिला। यहा के सहस्त्र कूट चैत्यालय तथा बड़े २ मदिर मन का खेंचते है। इसी कारण सघ ने वहा तीन दिन निवास किया। आजकल कोनी में मेला लगना प्रारभ हो गया है। ऐसे धार्मिक निमित्तो से जीव को पुण्य सचय का अनायास सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। ये मदिर भट्टारक नरेन्द्र भूषण के निमित से बने थे। आज कोनी में श्रावको के घर नही है, किंतु वहा के जिन मदिर बताते है, कि जैनियो की अच्छी सख्या रही हागी। आज इस बात की आवश्यकता है कि अपने प्राचीन धर्मायतना, तीर्थों, मूर्तिया की सम्यक व्यवस्था निमित्त धर्मात्मा भाई द्रव्य का व्यय करें। लौकरुढि आदि के नाम पर तो हजारो रुपया व्यय करते हर्ष होता है, किन्तु धर्म के कार्य निमित्त उसका शताश भी निकालने मे कष्ट होता है। यह आवश्यक है कि धर्म प्रभावना तथा जीर्णोद्धार के हेतु अधिक द्रव्य व्यय किया जाय।

कोनी क्षेत्र दर्शन

यहाँ से चलकर सघ पाटन ग्राम मे दो दिन ठहरा। यहाँ करीब २५ घर जैनिया के है। लागो ने बडी भक्तिपूर्वक गुरुआ की सेवा की। अन्य जनता को भी बहुत लाभ पहुचा। जैसे आकाश से वर्षा हानी है, तो सभी खेतो को लाभ होता है, इसी प्रकार आचार्य महाराज से सघ

से यदि लाभ होता है, तो जैन तथा अन्य सभी भाइयो का हित होता है। महाराज की दृष्टि में सब मनुष्य एक से हैं। इतना ही नही सभी प्राणी उनको एक बराबर प्रतीत होते हैं। इसी से वे सब जीवो की रक्षा का उपदेश देते है। छोटे छोटे जीवो को भी वे अपना बन्धु मानते है और उनके प्रति बधु का व्यवहार करते है। निरन्तर पिच्छी के द्वारा ही उन छोटे जीवो का रक्षण करते हुए बन्धुत्व की भावना को कार्यान्वित करते हैं।

जब सघ का एक स्थान से दूसरे स्थान पर विहार होता था, तब मध्यवर्ती ग्रामो के हजारो जैन भाई-बहिन गुरुदेव के प्रति बडी भक्ति प्रदर्शित करते थे। अजैन लोग इन महात्माओ को अपने गुरु से भी बढकर पूजनीय मान बडी श्रद्धा से प्रणाम करते थे और हिंसा आदि पापो का त्याग करते थे। कटनी पहुचने पर समाज ने बडी भक्ति प्रदर्शित की। लोगों के भाग्योदय से सघ ने चार दिन वहाँ धर्मामृत वर्षा की। आगे जब सघ सिगरामपुर पहुचा तो वहाँ विमानोत्सव किया गया।

वैमनस्य दूर कर सौमनस्य स्थापन

जबेरा में जब सघ के चरण पड़े, तब वहाँ की समाज का वैमनस्य दूर होकर ऐक्य स्थापन हो गया। हाईकोर्ट भी जिस काम को न कर सके, वह काम इन मुनिराज के दर्शन मात्र से होता है। उच्च न्यायालय शासन सत्ता के बल पर अपने आर्डर–आज्ञा को लोगो पर लागू करता है, हृदय की कषायो को धोना उसकी शक्ति के बाहर की बात है, किन्तु आचार्य शांतिसागर महाराज के प्रसाद से वैमनस्य दूर होकर सौमनस्य का निर्माण होता है। हृदय निर्मल हो जाता है, वैर–विरोध दूर होकर एक अपूर्व स्नेहमयी सृष्टि हो जाती है। तपश्चर्या का प्रभाव बडा विचित्र होता है। जबेरा समाज ने अपने में ऐक्य स्थापन करके बडे उमग के साथ श्री जी का जल विहार उत्सव किया। जिस ग्राम, नगर में आचार्य सघ का पदार्पण होता है वहाँ धर्म का उपवन एकदम हरा–भरा हो जाता है, सब लोग और कार्यों को गौण कर धर्मनीति के सचय में समुद्यत हो जाते है। गाँव के बडे बडे प्रतिष्ठित ठाकुरो आदि ने हिंसादि के त्याग का नियम लिया।

यहाँ से चलकर सघ नोहटा गाँव पहुचा। यहाँ का मदिर जीर्ण स्थिति में था। इस गाँव के बाहर एक प्राचीन मनोज्ञप्रतिमा जी अष्ट

प्रातिहार्य युक्त अविनय की स्थिति में पड़ी थीं। आचार्य श्री के उपदेशानुसार वह मूर्ति मंदिर जी में लाई गई। जिन भगवान की मूर्ति जिनेन्द्र समान पूज्य है। कवि बनारसीदास लिखते हैं—

"जाकी भगति प्रभाव सो कीनो ग्रंथ निवाहि।
जिन प्रतिमा जिन सारखी, नमें बनारसि ताहि॥"

जिन प्रतिमा के विषय में महाकवि का कथन बहुत सुन्दर है—

"जाके मुख दरस सो भगति के नैननि को,
थिरता की बानी चढ़ी चंचलता बिन सी।
मुद्रा देखे केवली की मुद्रा यादि आवे जहाँ,
जाके आगे इंद्र की विभूति दिखे तिन सी॥
जाको जस जंपत प्रकाश जगे हिरदे में,
सोई सुद्धमती होई हुती जो मलिन सी।
कहत बनारसी सुमहिमा प्रगट जाकी,
सोहे जिनकी छवि है विद्यमान जिनसी॥"

दुःख है कि ऐसी पूज्य प्रतिमाओं के संरक्षण में लोगों का शोचनीय उपेक्षा का भाव है। अभी अभी प्रांतीय धारा सभा के एक सदस्य ने बताया था, कि उनको कटनी तथा जबलपुर के बीच में अनेक स्थलों पर इतनी अधिक जिन मूर्तियां मिलीं, कि जिनको सामान्य पाषाण सदृश सोचकर कहीं कहीं लोगों ने अपने मकानों में लगा रखा है। यदि

प्राचीन मूर्ति संग्रहालय की आवश्यकता

समाज एक प्राचीन मूर्ति संग्रहालय बनाने का कार्य करे, तो धर्म की सेवा के साथ पुरातत्व प्रेमी समाज का ज्ञान संवर्धन भी होगा। जबलपुर के पास मढ़िया जी के स्थान में आचार्य शांतिसागर महाराज रहे थे। वहाँ ही यदि मोहटा की प्राचीन मूर्ति के प्रति आदर भाव को आदर्श बना उक्त संग्रहालय का कार्य किया जाय, तो श्रेयस्कर होगा। आज सरकारी कानूनों का रूप रंग ऐसा दिखता है, कि उनसे मंदिरों का धन समाज के हाथ में संगृहीत नहीं रह पायगा, ऐसी स्थिति में जिन धर्म के आयतनों में विवेकपूर्वक उस द्रव्य का उपयोग का करना चतुरता का कार्य होगा।

किन्हीं लोगों की समझ ऐसी है, कि मंदिर की संपत्ति का स्कूल, पाठशाला आदि के काम में व्यय करना चाहिए। छात्रों को छात्रवृत्ति देना

चाहिए। गरीब जैनो को सहायता देना चाहिए। इस विषय में मैंने एक बार आचार्य महाराज से पूछा था–"महाराज ! मदिर के द्रव्य का छात्रवृत्ति दान, गरीब जनो की सहायता आदि के कार्य में उपयोग करना क्या उचित है ?"

धर्मादि की रकम का किसी काम में उपयोग हो सकता है ?

महाराज ने कहा–"उन कामो में द्रव्य देना योग्य नही है। मदिर की सपत्ति को जो भी श्रावक खायेगा, उसका अहित होगा।" महाराज ने बताया था–"मदिरो के जीर्णोद्धार के कार्य में यदि द्रव्य का व्यय करो, तो धर्म का रक्षण होगा"। धर्मादा के द्रव्य के उपयोग के बारे में जोशीले तरुण मनमानी व्यवस्था सोचते है, किन्तु इस सबध में आगम के प्रकाश में ही प्रवृत्ति करना श्रेयस्कर होगा। कई पडित नामधारी भाई भी लोकमत का समर्थन करके यश लूटने में कृतार्थता का अनुभव करते हैं। आगम की आज्ञा का लोप होकर दुर्गति का भय उनको नही रहता है। ऐसे प्रसग पर आचार्य महाराज से समाज को प्रकाश प्राप्त करना चाहिए। जिन कुदकुद स्वामी के प्रति समाज अत्युत्कट भक्ति दिखा अपने को कुद कुदान्वय वाला कहती है, तथा ऐसा ही लेख प्रतिमाओ में बाचती है, उन महर्षि की वाणी इस सम्बन्ध में क्या कहती है, उसे बडे ध्यान से पढना चाहिए और शान्त भाव से विचारना चाहिए, कि लोक-प्रवाह पतन की ओर ले जाने वाला है, या कल्याण की ओर। उनने रयणसार में लिखा है–[1] "जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिन पूजा, तीर्थ वदना विषयक धन को जो भोगता है, वह जिनेन्द्र के ज्ञानगोचर नरकगति के दुख को भोगता है।"

ऐसे दुखो से न पचायतो का प्रस्ताव बचा सकेगा, और न कुछ पडितो या दूसरो का दिया गया प्रमाण पत्र ही काम आयगा। अन्य सप्रदाय वालो के समान जैन धर्म में कर्मो के भोगने में कोई भी सिफारिश काम नही आती है। अतएव लोग विचारकर सोचें, कि मदिर के द्रव्य को उपरोक्त कामो के विपरीत मनके अनुसार कामो मे खर्च करने मे

---

१ जिण्णुद्धार-पइट्ठा-जिणपूजा-तित्थवदण-विसयधण।
जो भुजइ सो भुजइ जिणदिट्ठणिरयगई दुक्ख ॥३२॥"

उनको कितनी बड़ी विपत्ति भोगनी पड़ेगी। हमें लोकवाणी के स्थान में जिनेन्द्र की वाणी को मानना चाहिये।

जो भाई धर्मादा की रकम को अपने काम में लाते हैं, और समाज के बीच विषमता तथा विसंवाद के कारण बन जाते हैं उनको महर्षि कुंदकुंद स्वामी की यह चेतावनी भी चित्त में लाना चाहिए—

"भगवान की पूजादान आदि सम्बन्धी द्रव्य को लेने वाला व्यक्ति पुत्र तथा स्त्री से रहित हो जाता है, दरिद्र, पंगु, मूक, बधिर, अंधा तथा चांडालादि नीच पर्यायों में उत्पन्न होता है।"[1] एक धर्मात्मा भाई कहते थे, "जब हमारे पास धर्मादा का द्रव्य था, और हमने उसके हिसाब की सफाई नहीं रखी, तब बहुत कष्ट उठाते हुए भी हमारा व्यापारिक जीवन हीन ही रहा आता था, किन्तु जबसे हमने मंदिर की द्रव्य को जलते हुए अंगारे की भांति समझकर उसका अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध रंचमात्र भी नहीं रखा, तबसे जिस काम में हाथ लगाते हैं, श्री जी की कृपा से सफल मनोरथ होता है।

कुंदकुंद भगवान की यह वाणी भी धर्मादा की रकम से सम्बन्ध रखने वालों को हृदय में रखना चाहिये—

"पूजा-दान में अंतराय कर्म का फल क्षय रोग कुष्ट, मूलव्याधि, शूल, लूत, भगंदर, जलोदर, शिसिर, शीत तथा उष्ण की बाधाएं हैं।"[2]

इस आगम के प्रकाश में समाज, विद्वज्जन तथा अन्य शिक्षित लोग विचार लें, कि धर्मादा का द्रव्य मन के अनुसार स्वार्थ साधन करने योग्य नहीं है। वह परमार्थ की वस्तु है। जैसे बाहर लगाने वाली औषधि को यदि कोई खा जाय, तो कभी कभी वह रोग मुक्त करने के बदले में रोगी को ही समाप्त कर देती है; इसी प्रकार देव द्रव्य का मनमाना उपयोग विपत्ति का कारण होगा।

एक दिन मैंने आचार्य श्री से पूछा था—"महाराज! अब देव द्रव्य पर सरकार की बाज दृष्टि पड़ी है, ऐसी स्थिति में उसका क्या उपयोग

---

१ "पुत्तकलत्तविदूरो दारिद्दो पंगुमूकबहिरंधो।
चांडालाइ कुजादो पूजादाणाइदव्व हरो ॥३३॥"

२ "खयकुट्ठमूल मूलो लूनिभयंदर जलोदरसिसिरो।
सीदुण्हवाहिराई-पूजादाणंतराय कम्मफलं ॥३६॥"

हो सकता है ?"

महाराज ने कहा था-"अपने ही मदिर में उसका उपयोग करने का मोह छोडकर अन्य स्थानो के भी जिन मदिरो को यदि आत्मीय भाव से देखकर उनका रक्षण, व्यवस्था, जीर्णोद्धार आदि में रकम का उपयोग करोगे, तो विपत्ति नही आयगी ।"

धर्मादा की रकम का ठीक ठीक उपयोग करने से मनुष्य समृद्ध होता है, वैभव सपन्न बनता है । उसी द्रव्य को स्वय हजम करने लगे, तो सपत्ति को क्षय रोग लगता जाता है, आदमी पनपने नही पाता है । जिन प्रान्तो में मदिर के द्रव्य को जैनी भाई खाते है, वहा उनकी दरिद्रता की स्थिति देखकर दया आती है । अत इस विषय में सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति रखना श्रेयस्कर है ।

कभी २ बडे २ व्यापारी लोग धर्मादा के नाम से लोगो से द्रव्य लेते जाते है और उसका स्वार्थ साधनार्थ उपयोग करते है । यह पद्धति बिल्कुल उल्टी है । वह द्रव्य पारमार्थिक कार्यो के लिए अमानत के रूप में तुम्हारे पास है । उसके प्रति बेईमानी करना बहुत बडा पाप है । अमानत की वस्तु को खा जाने से राजदण्ड भी मिला करता है । अतएव समझदार व्यक्तियो का कर्तव्य है, कि जीर्णोद्धार आदि आवश्यक कार्यो के हेतु विपुल क्षेत्र विद्यमान है, उसकी उपेक्षा करके स्कूल, कालेज आदि पूर्णतया लौकिक कार्यों में परमार्थ सम्बन्धी द्रव्य का उपयोग करना उन दानियो के प्रति प्रामाणिक व्यवहार के प्रतिकूल है, जिनने उस कठिन कमाई के पैसे को मोक्ष मार्ग के हेतु अर्पण किया था । जिन्हे लौकिक कार्यों को प्रोत्साहन देना है, वे नवीन दान की धारा को उस ओर से लगवा सकते है, किंतु पूर्व प्रदत्त द्रव्य को आज बहुमत के बल पर रत्नत्रय के असाधनो में लगाना अच्छा है वा नहीं है, यह भगवान कुंदकुद स्वामी कथित परमागम के प्रकाश में स्वय विचार लेवे । हमें प्रतीत होता है, लोगो की आखें खोलने का भी महान कार्य

आगम की आज्ञा से डरना चाहिये लोकमत से नही

आचार्य श्री ने नोहटा ग्राम के बाहर की प्रतिमा जी को मदिर में विराजमान करने के उपदेश द्वारा सपन्न किया है । दुःख है कि कभी २ तरुण मडली, जो आजकल प्राय शास्त्रो का स्वाध्याय न करने में प्रवीण होती जा रही है, आगम पक्ष के समर्थको की बात सुनना तो दूर उनके प्रति तिरस्कार का व्यवहार करती है । यह कार्य बडा अनर्थ पूर्ण है । आगम-प्रेमियो का

कर्तव्य है, कि वे रचमात्र भी भय न करके सन्मार्ग का प्रतिपादन करें। जिनेन्द्र की आज्ञा से डरना चाहिए, लोगों से डरने से क्या प्रयाजन सिद्ध होगा ?

यहा से रवाना होकर सघ अभाना ग्राम पहुचा। यहाँ आचार्य शातिसागर महाराज का केशलोच ज्ञात कर लगभग तीन हजार श्रावको का समुदाय दूर दूर के ग्रामो से आ गया। सब भाइयो के भोजनादि की सुव्यवस्था गाव के मालगुजार सेठ डालचद गुलाबचद जी दमोह की ओर से हुई थी। श्री जी का विहार हुआ था। आचार्य महाराज का केशलोच देखकर लोगों के अत करण पर बडा प्रभाव पडता था। महाराज की पुण्यमूर्ति कुछ ऐसी अद्‌भुत है, कि उनकी तपश्चर्या का प्रत्येक कार्य हृदय को खीचता है। उनके व्यक्तित्व में असाधारण आकर्षक है। विलक्षण परमाणुओ से उनके शरीर की रचना हुई प्रतीत होती है। हमने देखा है, महाराज चुप बैठे हैं, किसी से कुछ नही कहते, फिर भी सैकडो व्यक्ति उनको देखने को ही बैठे रहते है। सभा में महाराज आये, तो ऐसा लगता है कि जीवन आ गया, बाहर गए, तो ऐसा लगता है, चेतना बाहर चली गई हो। उनके निमित्त से सहज ही धर्म की ओर भाव झुकते है।

आचार्यश्री के आदेश को पाकर चद्रसागर जी तथा पार्श्वकीर्ति ऐलक महाराज के भाषण हुए। उनने उस समय प्रचलित विवाद की बातों पर—स्त्री पुनर्लग्न तथा असवर्ण विवाह के दोषो पर प्रकाश डालते हुए शील-धर्म की महत्ता पर जोर दिया।

चरित्र हीनो की उन्नति क्षणिक होती है

आज वर्णसकर प्रवृत्तिवाले पश्चिम के गुरुओ के तत्वावधान में शिक्षित आर्य-भू-प्रसूत लोग भी अपनी सत्प्रवृत्तियो तथा उच्च आचार को छोड वहा की विषयो तथा इद्रियो का पोषण करने वाली हीन प्रवृत्तियो को आदर्श मानने लगे है, क्योंकि पश्चिम की आधिभौतिक उन्नति देखकर ये चकित हो गए है और अपने आध्यात्मिक विचार तथा आचार को उपेक्षा योग्य सोचते है। श्रावको का कर्तव्य है, कि सर्वज्ञ, वीतराग, तीर्थंकर परम-देव द्वारा प्रकाशित पथ पर प्रवृत्ति करें। कुछ क्षण पर्यन्त पूर्व पुण्योदय वश हीन प्रवृत्ति वालो की उन्नति भी दिखे, किंतु उसे क्षणिक जान मार्ग से भ्रष्ट नही होना चाहिये। हीन प्रवृत्ति सदा हीन ही रहेगी कवि का कथन है—

"कोटि जतन कोऊ करो परै न प्रकृतिहि बीच।
नल बल जल ऊचे चढे, तउ नीच को नीच॥"

आगम, युक्ति तथा अनुभव के प्रकाश में किया गया विवेचन समाज को सदेह मुक्त करने में बडा उपयोगी रहा। अभाना से लगभग ६ मील पर पिपरिया ग्राम मिला। यहा जिन मदिर है। यहा तीस, चालीस व्यक्तियो ने हिंसा, मद्य, मास का जीवन पर्यन्त त्याग किया। बडे आनद वैभव के साथ भगवान का अभिषेक तथा पूजन सपन्न हुए। यहा से तीन मील पर बादरपुर ग्राम है। यहा समाज ने विमानोत्सव किया। नेमिसागर महाराज का केशलोच हुआ। वहा से चलकर तिनगी ग्राम के जिनालय के दर्शन करके सघ पटेरा ग्राम में आया।

कुडलपुर

यहा से अतिशय क्षेत्र कुडलपुर तीन मील लगभग है। यह बडा सुन्दर क्षेत्र है। ६४ जिन मदिर है। कुडलाकृति पर्वत है। यात्रा बहुत सरल तथा सुखद है। यहा महावीर भगवान की पद्मासन प्रतिमा बडी भव्य, नयनाभिराम तथा प्रभावोत्पादक है। १४०० वर्ष प्राचीन है। उचाई लगभग १२ फुट है। मूर्ति यक्ष यक्षी सहित है।

ऐसी प्रसिद्धि है कि यवनराज औरगजेब की क्रूर दृष्टि इस मूर्ति पर पडी और उसने इस मूर्ति ध्वस के लिए कर्मचारियो को आदेश दिया, किन्तु कुछ चामत्कारिक घटनाओ ने उस अत्याचारी शासक के अत करण में मूर्ति के प्रति आदर भाव जागृत कर दिया। ऐसी जन-श्रुति है कि जब मूर्ति तोडने को अगुली पर छैनी का निर्मम प्रहार हुआ, तो मूर्ति से दुग्ध की धारा निकल पडी। इससे वह विस्मित हो गया था। दूसरी घटना यह हुई कि मधु मक्षिकाओ के प्रचण्ड आक्रमण से सैन्य दल भी घबडा उठा, इससे यह मूर्ति सौभाग्यवश आज तक सुरक्षित रह सकी। मूर्ति की श्रेष्ठ कला शिल्पी को अमर कर गई। स्थापत्य कला कोविदो के लिए भी कुडलपुर ऐसा ही तीर्थ है, जैसा कि वह आध्यात्मिक शाति प्रेमियो के लिए वदनीय पुण्य स्थल है। पर्वत पर का प्राकृतिक वातावरण मूर्ति की प्रशात, दिगम्बर तथा ध्यानमय मुद्रा के आनद को अत्यन्त उद्दीप्त कर देता है। मूर्ति को बडे-बाबा के नाम से पुकारते है। जन साधारण में बडे बाबा की भक्ति का चमत्कार अतिशय के नाम से प्रसिद्ध है। मूर्ति में अद्भुत् आकर्षण है। एक बार दर्शन करने से जी नही भरता, पुन पुन दर्शन करने की पुण्य लालसा जागृत होती है।

बुदेलखड केशरी महाराज छत्रसाल महावीर भगवान

महाराज छत्रसाल की महावीर भगवान के प्रति भक्ति

के बडे भक्त थे । उनके वंशज पन्ना नरेश आज भी कुंडलपुर को अपनी भक्ति का विशिष्ट स्थल मानते हैं। महाराज छत्रसाल के द्वारा भेंट में अर्पित एक बडा थाल मंदिर के भंडार मे विद्यमान हैं । मंदिर के बहिर्द्वार पर छत्रसाल महाराज के समय का एक शिला-लेख खुदा हुआ है । विक्रम संवत १७५७ में जो मंदिर के जीर्णोद्धार के उपरांत महापूजा हुई थी, उस समय उस समारंभ में महाराज छत्रसाल पधारे थे। इस क्षेत्र के संवर्धन के लिए समर्थ श्रीमानो तथा दानवीरो का ध्यान जाना आवश्यक ह । आध्यात्मिक प्रवृत्तियो के विकास के लिए यह अपूर्व स्थल है । महावीर प्रभु की मनोज्ञ मूर्ति, क्रूर, निर्दय, निर्मम मानव मे भी पवित्र तथा विशुद्ध भावो को जागृत किए बिना न रहेगी ।

इस क्षेत्र की वंदना से संघ को अपूर्व आनंद तथा बडी शांति मिली। आचार्य महाराज के आकर्षण से हजारो जैन यात्री इकट्ठे हो गये थे । फागुन सुदी चौदस को महावीर भगवान का महाभिषेक पूजन हुआ । धर्मोपदेश, तत्व-चर्चा, गुरुदर्शन आदि के द्वारा वह अष्टान्हिका का उत्सव चिरस्मरणीय हो गया । ऐसा महत्वपूर्ण सत्समागम जीवन मे फिर सुलभ नही है । सबके हृदय में आचार्य श्री के प्रति अगाध भक्ति थी । अत: उन पर संघ के धर्मोपदेशो का अच्छा प्रभाव पड़ा । जिनके भाव शिथिलाचारी बन रहे थे, उनकी शंकाओ का निराकरण होने से उनकी श्रद्धा सुदृढ हुई। यह यात्रा बहुत मंगलदायिनी हुई । अच्छी धर्म प्रभावना हुई ।

इसके पश्चात् संघ दमोह आया, वहा के दर्शन के उपरांत, वह ओरसा ग्राम गया । वहाँ एक विशिष्ट घटना हो गई।

आचार्य महाराज को वहा कष्ट न हो, इसलिए दमोह के सेठजी ने एक घर को साफ कराया था । महाराज के आने पर उनने कहा "महाराज

ओरसा ग्राम में दंश-मशक परीषह को साम्यभाव से सहन करना

यह घर आपके लिए ही हमने साफ करवाया है ।" विशेष कर अपने निमित्त से उद्दिष्ट किए गए घर म ठहरने पर गृहस्थ द्वारा किए गए सावद्य कर्म का दोष इन सर्व सावद्य त्यागी मुनिराज पर आयगा । इससे महाराज ने उस घर को अपने ठहरने के अनुपयुक्त समझा, अतएव वे रात भर बाहर की जगह मे ही ठहरे । दिगम्बर शरीर पर डास मच्छरों की बाधा का अनुमान किया जा सकता है । जब एक मच्छर भी अपने दंश

प्रहार और भनभनाहट से हमारी नीद में बाधा पहुचा सकता है, तब अगणित डास और मच्छर दिगम्बर शरीर को कितना न त्रास देते होगे ? महाराज ने उस उपद्रव को साम्य भाव से सहन किया। यह दिगम्बर मुनि श्री की श्रेष्ठ चर्या है। इसमें जरा भी शिथिलाचरण को स्थान नही है। यही कारण है, कि इस सिंह वृत्ति को धारण करने में जगत के बडे बडे वीर डरते है। महावीर प्रभु के चरणो का असाधारण प्रसाद जिन महामानवो को प्राप्त हुआ है, वे ही ऐसे कठोर एव भीषण कष्ट सकुल श्रमण जीवन को कर्म निर्जरा का अपूर्व कारण मान सहर्ष स्वीकार करते है। वे अपने हाथ से मच्छरो, डासो को भगाते भी नही है ऐसा करने से उनकी हिंसा होती है, अतएव वे डास शरीर का खून चूसते रहे, और मैं निर्विकार भाव से इस कष्ट को सहन करते रहे, माना ये शरीर उनका न हो। वास्तव में भेद विज्ञान की ज्योति के बिना महाव्रती की जीवन यात्रा सानन्द नही हो सकती। भेद-विज्ञान के प्रकाश में शरीर का चैतन्य पिण्ड आत्मा से पूर्णतया पृथक अनुभव करने वाले त वदर्शी महात्मा को शरीर की बाधा आने पर भी, सक्लेश नही होता। ऐसे विपत्ति के क्षणो में स्थिरता देखकर ही आत्मा की उच्चता का अवबोध होता है।

यहा से चलकर बासा ग्राम में सघ एक दिन ठहरा। वहा लगभग बीस घर श्रावकों के है। बहुत से अजैनो ने मासादि के त्याग का नियम लिया। यही प्रतिज्ञा बरखेडा के ५०-६० लोगो ने ली।

चार अप्रेल सन् १९२९ को सघ गढाकोटा पहुचा। यहा जैनियो के लगभग ५० घर है। छह मदिर है। समाज धार्मिक है। लोगो ने बडी भक्ति दिखाई तथा गुरुदेव के चरणो की पूजा करके अपने नगर को कृतार्थ अनुभव किया।

आगे सघ उबरा गाँव पहुचा। यहाँ का मदिर सुदर है। यहाँ से चलकर सघ शाहपुर पहुचा। यहाँ चैत्र सुदी १ स १९८६ मे चैत्रसुदी चौथ पर्यन्त सघ रहा। अजैना ने भी जैन भाइयोके साथ सन्तो के समादरम भाग लिया। यहाँ श्रीजी का विमान भी निकाला गया था। लगभग तीन सहस्र श्रावक आए थे। सघ के साधुओ के बड मार्मिक प्रवचन होते थे। वीरसागर महाराज न सप्त व्यसना के त्याग पर बडा प्रभाव शाली उपदेश दिया था। यहाँ से संघ का पचमी को विहार हुआ। वह पिंडरिया डुगरासा, बमोरी में धर्म प्रभावना तथा उपदेश दान करता हुआ सप्तमी को सागर पहुचा।

सागर में शांति के सागर

महाकौशल प्रांत में जबलपुर के पश्चात् दूसरे नम्बर का नगर सागर ही है। यहां कई हजार जैनी पाए जाते हैं। यहां परवार, गोलालारे, गोलापूरब जैनों की ही बहुलता है। इतर जैन उपजातियों का महाकौशल प्रांत में एक प्रकार से अभाव सदृश ही है। सागर में संस्कृत जैन विद्यालय के समीप ही संघ ठहरा था। प्रतिदिन संघ के द्वारा लोगों की शका का समाधान तथा अनेक प्रकार के संदेहों का निराकरण किया जाता था। संघ के प्रचार कार्य द्वारा बहुत लोगों का धर्म मार्ग में स्थितिकरण हुआ था। बेचारे भोले लोग उच्छृंखल प्रवृत्ति वाले अथवा चालाक लोगों द्वारा कुमार्ग में गिराए जाते हैं। मीठी २ बातें करके उनका मन खेंचा जाता है, जैसे छोटे बालक को मिठाई खिलाने के बहाने उसके आभूषण छीन लिए जाते हैं और कभी भी प्रिय प्राणों से बालक को हाथ धो बैठना पड़ता है।

हिन्दू पुराणों में कथा है, कि सागर में विष वास करता था, वहां अमृत भी था। प्रतीत होता है, इस स्थल में पहले धार्मिक तथा धर्म पोषक मर्यादाओं के उच्छेदक अनेक लोग शिथिलाचार रूपी विष पिलाने की प्रवृत्ति में तत्पर थे, किन्तु आचार्य श्री के समागम ने जनता को धर्मामृत पिलाया तथा विविध प्रतिज्ञारूप रसायन देकर पुष्ट किया। उस समय हिन्दु पुराणों की कथागत बात याद आती थी, कि सागर में विष के साथ अमृत भी वास करता है। आचार्य शांतिसागरजी ने अमृत पान कराकर जीवों का अकथनीय कल्याण किया।

जहां आचार्य महाराज का निवास था, वहां ही समीप में सप्तम प्रतिमाधारी एक ब्रह्मचारी जी का आवास था। वे संघ के दर्शन को न पहुंचे। एक दिन आचार्य महाराज ने वात्सल्यभाव से उनको पास में बुलवाया और कहा--"हमने सुना है, आप जैन-धर्म के ज्ञाता अच्छे विद्वान हैं, त्यागी हैं, हम आपके नगर में आए, किन्तु आप का हमारा वार्तालाप नहीं हुआ।"

ब्रह्मचारी जी ने कहा--"मेरी प्रतिज्ञा है कि मैं मुनियों को नमस्कार नहीं करूंगा।"

महाराज ने कहा--"हम कब कहते हैं कि तुम हमें नमस्कार करो। अन्य संप्रदायवाले हमें प्रणाम नहीं करते हैं, तो क्या हो गया? हम नमस्कार

के भूखे नहीं है । तुम्हारा मन जिसमें संतुष्ट होवे, वैसा करो।" महाराज ने उनसे कुछ पूछना चाहा, किन्तु उनने महाराज के ज्ञान की गहराई देखने की तथा गौरव को क्षति पहुंचाने की भावना से न्याय शास्त्र की कोई शंका बहुत लोगो के साम्हने ला दी । आचार्य महाराज की प्रतिभा, विशाल अध्ययन आदि का उनको पता नही था । साक्षात्कार भी नहीं हुआ था । अतः ज्ञान-मत्त मन को विश्वास था, कि मेरे न्याय के प्रश्न का उत्तर तो नही मिलेगा; किन्तु वे सचमुच में आश्चर्य के सिंधु में निमग्न हो गए जब आचार्य महाराज का यथार्थ उत्तर उनके समक्ष आ गया ।

इसके बाद महाराज ने लोगो के जानेके बाद एकान्त में एक मार्मिक प्रश्न किया, तो वे चुप हो गए। उनके पास उत्तर न था । महाराज ने कहा- "हमने तुमसे एकान्त में पूछा, जिससे तुम्हारे गौरव को क्षति न हो।" महाराज के निकट-सपर्क ने उनके चित्त में गहरी प्रतिक्रिया पैदा करदी। उनके विचारो में भूचाल सा आ गया । उनके ध्यान में भी आया, कि आचार्य महाराज का व्यक्तित्व असाधारण है । उस सपर्क से धीरे धीरे उनके जीवन में उच्च सयम की प्रेरणा उत्पन्न हुई । उनने दशमी प्रतिमा के व्रत लिए थे, और ग्रीष्म ऋतु का आगमन हुआ, तब चौबीस घटे में भोजन के साथ पिए गए जल के सिवाय पुन जल न मिलने से सुकुमार शरीर को अपार कष्ट होने लगा, उस समय उनके ध्यान में मुनि-जीवन की महत्ता पूर्ण रीति से आ गई । अब तो उनके मन में यह लालसा तक उत्पन्न हो गई है, कि कब शातिसागर महाराज द्वारा ग्रहण की गई जिन-मुद्रा द्वारा नरभव को सफल करूं । अब वे ही परोक्ष में इन श्रमण-राज को प्रणाम करते हैं ।

ऐसी ही अनेक व्यक्तियो की कथा है। अभी कुछ दिन पूर्व बबई में एक अहंकारी वृद्ध साहित्यिक मिले थे । वे बोले-"आप लोग तो आचार्य महाराज को सर्वज्ञ बताया करते हैं, यह बिल्कुल अयोग्य है।" मैंने कहा

अपरिचित शिक्षितो को अकल्याण की ओर ले जाते हैं। ऐसे विचार वाले बहुत जीवो का भ्रम दूर हुआ और उनकी समझ में आया, कि रत्नत्रय धारी इन महामुनिराज की शरण में अब तक न पहुचकर हमने भयकर भूल की।

सागर की जनता के अधिक अनुरोध से संघ ने वहा अधिक समय दिया। शाति के सागर आचार्य श्री के चरणो के प्रति सागर की जनता का विशेष प्रेम होना स्वाभाविक ही है। 'स्वपक्षदर्शनात् कस्य न प्रीतिरुपजायते। वहा से चलकर संघ वैशाख सुदी एकम को द्रोणगिरि सिद्धक्षेत्र पहुचा। इसे ही रेशदीगिरि के नाम से भी कहते है। यहा हजारो भाइयो ने दूर दूर से आकर गुरुदर्शन का लाभ लिया। महाराज पर्वत पर जाकर जिनालय में ध्यान करते थे। उनका रात्रि का निवास-पर्वत पर होता था। प्रभात होते ही लगभग आठ बजे महाराज पर्वत से उतरकर नीचे आ जाते थे। एक दिन की बात है कि महाराज समय पर न आए। सोचा गया कि सभवतः वे ध्यान में मग्न होगे। दर्शनार्थियो की लालसा प्रबल हो चली। साढे आठ, नौ, साढे नौ बजे और भी समय व्यतीत हो रहा था। जब विलम्ब असह्य हो गई, तब कुछ लोग पहाड पर गए। उसी समय महाराज वहा से नीचे उतर रहे थे। लोगो ने महाराज का जयघोष किया। चरणो को प्रणाम किया और पूछा—"स्वामिन! आज तो बडा विलम्ब हो गया, क्या बात हो गई?" वे चुप रहे। कुछ उत्तर नही दिया।" लोगो ने पुन: प्रार्थना की। एक बोला महाराज यहाँ शेर आ जाया करता है। कही शेर तो नही आ गया था? अत में स्वामी जी का मौन खुल ही पडा और उनने बताया कि 'सध्या से ही एक शेर पास में आ गया। वह रात भर बैठा रहा। अभी थोडी देर हुई वह हमारे पास से उठकर चला गया।" प्रतीत होता है वनपति यतिपति के दर्शनार्थ आया था।

द्रोणगिरि क्षेत्र

शेर का बहुत काल तक महाराज के पास बैठना

उस घटना के विषय में विचार करते हुए हमें निम्न लिखित समाधान समझ में आता है।

जब हम सन १९४७ में बबई, मंदिर-प्रवेश-कानून के विषय में बैरिस्टर सर वागा से परामर्श लेने पहुचे, तब प्रसगवश शांतिसागर महाराज शब्द सुनते ही उसके दिमाग में यह बात आई, कि ये किसी राज्य के महाराज

होगे। इससे वह बोल उठा "महाराज के केस की फीस कम नहीं होगी।" उसे योग्य फीस देकर परामर्श का कार्य तो हुआ, किन्तु तब से मेरे मन में यह बात थी, कि क्यों इनको सभी लोग महाराज कहते हैं ? इस वनराज आदि के प्रकरण को लिखते समय यह विचार आया कि यथार्थ में वे महाराज ही तो हैं। वन-राज व्याघ्र जिनके पास शांत भाव से आवे और जो शांत रहे आवें, सर्पराज देह से लिपट जाय, फिर भी जिनका धैर्य न डिगे, ऐसे पशु जगत् के जीवों के द्वारा विघ्न होने पर भी जो अपने स्थैर्य को अचल रखते हैं, यथार्थ में राजाओं के राजा ही तो हैं। वनराज, सर्पराज आदि भी जिनके पास आकर शांत हो गए, वे उन सबके राजा ही तो माने जायगे। नरों में श्रेष्ठ, नरपतियों के द्वारा पूज्य तथा मोह राजा के द्वारा भी पूज्य चरण होने के कारण क्यों न ये महाराज कहे जावेंगे ?

व्याघ्रराज देर तक क्यों बैठा ?

व्याघ्रराज इनके पास बहुत देर तक क्यों बैठा, इस प्रश्न का हमारी दृष्टि से यह उत्तर होगा, कि मृग-पति ने नरपति को देखकर सद्भावना व्यक्त की होगी। किसी नरेश की दूसरे नरेश से भेंट होने पर सहज सौजन्यवश मैत्री का व्यवहार व्यक्त किया जाता है। दूसरी बात, वह तो व्याघ्र था, किन्तु ये थे नरसिंह। इन नृसिंह के चरणों के समीप सादर शेर का बैठना उपयुक्त दिखता है। गुणभद्र स्वामीने मुनियों को नृसिंह लिखा है:-

"जिनने सर्व परिग्रह को छोडकर एकाकीपने का नियमधारण किया है, जो सर्व प्रकार के संकटों को सहन करने की सामर्थ्य समन्वित है, प्रावित शरीर को सहसा अपना सहायक सोचा था, इस विचार के सहसा आ जाने से जिनके चित्त में किंचित् लज्जा का भाव उत्पन्न हो गया है, जो अपने आत्म शोधन के कार्य में तत्पर है, कर्म रूप शरीर के निवारण के हेतु जिनने पल्यंक आसन बाँध ली है, जिनने मोह का ध्वंस कर दिया है, ऐसे नरों में सिंह सदृश महापुरुष पर्वत की गहन गुहा, अथवा एकान्त स्थानमें आत्मा का ध्यान करते हैं।"[१]

---

१ एकाकित्व प्रतिज्ञाः सकलमपि समुत्सृज्य सर्वंसहत्वात्।
भ्रात्याचिन्त्याः सहायं तनुमिव सहसाऽलोच्य किंचित्सलज्जाः।
सज्जीभूताः स्वकार्ये तदपगम-विधिं बद्धपल्यंकबन्धाः।
ध्यायंति ध्वस्तमोहा गिरिगहनगुहा गुह्यगेहे नृसिंहाः॥ २५८

२ Those who having renounced all, have taken the

एक बात और चित्त में आती है, कि इनके प्रेम का शासन प्राणी मात्र पर चलता है, क्रूर जीव भी जब इनके प्रति प्रेम करते है तब यह स्पष्ट होता है, कि इन महामुनिराज ने उनको भी अनुरंजित कर लिया है, अतः 'महाराज' शब्द का उपयोग बड़ा सामयिक और युक्ति-युक्त दिखता है। ऐसे विशुद्धि जनक स्थल पर आचार्यश्री ने बहुत शांति प्राप्त की और कर्मों की खूब निर्जरा की। महाव्रतियों की विशुद्धि प्रतिक्षण बढ़ती जाती है उसके ही कारण चिरकालीन कर्मों का क्षय हुआ करता है। द्रोणागिरि में श्री जी का बड़े वैभव के साथ अभिषेक-पूजन हुआ।

संघ वैशाख सुदी सप्तमी को बिजावर स्टेट के गोरखपुर ग्राम में पहुँचा। अष्टमी को घुहारा आया। इस प्रकार के विहार से हजारों लोगों को अहिंसादि व्रत ग्रहण का लाभ होता है। हिंसात्मक प्रवृत्तियों का परित्याग कराकर अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा अंतःकरण में अंकित कराना संतों का महान कार्य है। उनका जगत् को यही आशीर्वाद है।

कभी कभी कहने में आता है, कि ये महापुरुष लोक-सेवा करते हैं। यहाँ 'सेवा' के स्थान में 'हित' शब्द का प्रयोग करना उचित जंचता है, कारण ये जिनेन्द्रदेव और जिनके सिवाय वाणी दूसरों की सेवा नहीं करते है। जिसकी सेवा की जाती है, उसमें पूज्यता माननी पड़ती है। रत्नत्रयधारी महाव्रती साधु अव्रती की सेवा करेगा, यह कैसे संभव होगा? दुःखी प्राणी के दुःखों को दूर करेगा, कल्याण मार्ग में लगाएगा। दूसरी दृष्टि से विचारें, तो कहना होगा, साधु लोगों से लोकहित स्वभाव वश हो जाता है, जैसे सूर्य प्रकाश प्रदान करता है, ऐसा उसका स्वभाव है, ऐसे ही पर-हित-निरत होना ही संतों का स्वभाव है। जनता उनकी सेवा

---

vow of solicitude and are capable of enduring every thing, are somewhat ashamed on suddenly feeling that they erroneously considered the body to be a help-mate, those whose greatness is inconceivable, who are prepared for their work, who have adopted the seating posture (palyank-asana) for the purpose of getting rid of the (body) who have renounced delusion, meditate on a mountain, in a deep cave or in a concealed place (are brave) men like lions.

Atmanushasana Page 72, Sloka 258.'

करती है और आशीर्वाद के रूप में मेवा पाती है। जिन जिन जीवों का सौभाग्य था, उनने गुरुदर्शन का लाभ उठाया और मत से-नर जन्म को भूषित किया। ग्रीष्मऋतु की भीषणता होतेहुए भी आचार्यश्री की तपश्चर्या, उपवास आदि का क्रम पूर्ववत् ही रहता था।

ग्रीष्म

जहाँ जल के बिना क्षण भर भी चैन नही पड़ती है, वहाँ आचार्य महाराज कई दिन तक अन्न जल आदि का त्याग करते थे, और फिर धूप में पैदल विहार भी करते जाते थे। यह तपश्चर्या अन्य जीवो को चकित कर देती थी।

दिन जाते देर नही लगती। अब वर्षा ऋतु निकट आ रही है, इससे संघ ने ललितपुर की भूमि को अपने चातुर्मास द्वारा पवित्र करने का निश्चय किया।

ललितपुर

यहाँ रेलवे स्टेशन के समीप क्षेत्रपाल नामका स्थान है। वहाँ सुन्दर जिनमंदिर है। उद्यान भी है। आचार्य श्री ने इसस्थान को चातुर्मास के लिए सर्व दृष्टि से उपयुक्त समझा। ललितपुर में जैनियो की संख्या भी लच्छी है। इस चातुर्मास में धार्मिक मेला सा लग गया था। जी. आई. पी. रेलवे की मेन लाइन पर यह स्थान होने से सभी प्रांत के श्रावको के आने की सुविधा थी। कटनी चातुर्मास की अपेक्षा यहाँ आचार्य महाराज की तपश्चर्या पाषाण को भी द्रवित करने वाली थी। कटनी चातुर्मास के समय महाराज ने बहुत उपवास किये थे। यहाँ लगभग छह माह प्रमाण काल में लगभग चार माह से अधिक का समय उपवासो मे बीता था। उनने दशलक्षण पर्व में दश दिन को आहार छोड दिया था।

भारतवर्ष में लम्बे उपवास करने वाले व्यक्तियों [१] में गांधी का विशिष्ट स्थान रहा है, किन्तु उनके उपवासों में दिगंबर मुनियो सदृश चतुर्विध आहार का त्याग नही रहता था। सन १९४२ में गांधी जी ने लार्डलिनलियगो वायसराय के समय पर जो १० फरवरी को इक्कीस दिन

---

१ Gandhi had been taking water without salt or fruit juice,Nausea plagued him. His kidneys began to fail and his blood became thick. On the thirteenth day of the fast the pulse grew feeble and his skin was cold & moist, Kasturbai knelt before a sacred plant and prayed. She thought his end was near. Finally the Mahatma was persuaded to mix

का अनशन किया था, उस समय गांधीजी पहले केवल जल लिया करते थे, किन्तु जब तेरहवें दिन उनका शरीर ठंडा पड चला, नाड़ी क्षीण हो चली, तब गांधीजी ने पानी के साथ ताजी मोसंबी का रस लिया था। दो मार्च को गांधी जी ने ६ औंस प्रमाण नारंगी का रस जल में मिलाकर लिया था। इसके आगे भी वे नारंगी का रस लेते रहे थे। गांधीजी ने वायसराय लिनलियगो को अपने पत्र में लिखा था "सामान्यतया अपने उपवासो में जल के साथ थोडा नमक मैं लेता रहा हूँ, किन्तु अब मेरी प्रकृति जल को सहन नही कर सकती है इससे उसके साथ थोड़ा सा सतरे का रस (Juice of citress fruit) लेने का विचार है, ताकि पानी पिया जा सके—"[1]

ललितपुर आने पर आचार्य महाराज ने सिंह निःक्रीडित तप किया था। यह बडा कठिन व्रत होता है।

सिंह निःक्रीडित तप

इस उग्र तप से आचार्य महाराज का शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया। लोगो की आत्मा उनको देख चिन्तित हो जाती थी, कि किस प्रकार आचार्य देव की तपश्चर्या पूर्ण होती है। सब लोग भगवान से यही प्रार्थना करते थे कि हमारे धर्म के पवित्र स्तंभ आचार्य श्री की तपः साधना निर्विघ्न पूरी हो। आचार्य महाराज के न जाने कब के बधे कर्मों का उदय आ गया। उस तपश्चर्या की स्थिति में १०४, १०५ डिग्री प्रमाण ज्वर आने लगा। इस भीषण स्थिति में केवल केवल अर्हंत का ही नाम शरण था। वह जिन नाम ही उनका एक मात्र आश्रय था। विवेकी व्यक्ति थोडी देर के लिए उस स्थिति को विचारे कि क्रम क्रम से उपवास करते हुए सौ के लगभग सख्या हो जाने से शरीर क्षीण

---

few drops of fresh moossambi fruit juice with the drinking water on March 2nd. Kasturbai handed him a glass containgin six ounces of orange juice diluted with water. He sipped it for twenty minutes. He lived on orange juice for he next four days.

L.Fisher : the life of M. Gandhi P.418-519.

Usually during my fasts I take water with the addition of salt but now a days my system refuses water. This time, therefore I propose to add juice of citress fruit to water drinkable. (Ibid page 47)

हो गया हो, शरीर में १०५ डिग्री ज्वर हो, और फिर भी शरीर को एक बूद जल न देकर आगे पन्द्रह उपवास करने का सकल्प हो, साथ में धार्मिक क्रियाओ का पूर्णतया पालन भी हो। आज के कलिकाल में असंप्राप्ता-सृपाटिका-सहनन में ऐसी तपश्चर्या की कौन कल्पना कर सकता है ? जहा आज के युग में दिगम्बर मुनि के सद्भाव के विषय में चित्त शकित हो जाता था, वहा इतनी महान तपश्चर्या पूर्ण सावधानी और अप्रमत्त स्थिति का रहना इस बात के द्योतक है, कि उनकी आत्मा कितनी उच्च है ? ऐसे तपस्वियो को लक्ष्य करके ही प्रतीत होता है, कि कुदकुद स्वामी ने आज भी रत्नत्रय धारियो के लौकान्तिक देव होने की बात लिखी है, जहा से चयकर जीव नियमतः निर्वाण को प्राप्त करता है।

लौकान्तिक देव कौन होते है ?

लौकान्तिक होने वाले देवो के विषय में तिलोयपण्णत्ति में लिखा है—"इस क्षेत्र में बहुत काल तक बहुत प्रकार के वैराग्य की भावना करके सयम से युक्त मुनिराज लौकान्तिक देव होते हैं। सम्यक्त्व युक्त जो श्रमण स्तुति और निंदा में, सुख और दुख में, तथा बंधु और रिपु वर्ग में समान है, वही लौकान्तिक होता है। जो देह के विषय में निरपेक्ष, निर्द्वन्द्व, निर्मम, निरारभ और निरवद्य है, वे ही श्रेष्ठ श्रमण (मुनि) लौकान्तिक देव होते हैं। जो श्रमण सयोग और विप्रयोग में, लाभ और अलाभ में तथा जीवित और मरण मे सम दृष्टि होते है, वे ही लौकान्तिक देव होते हैं।

"सयम, समिति, ध्यान एव, समाधि के विषय मे जो निरतर श्रम करते हैं, तथा तीव्र तपश्चर्या को करते हैं, वे श्रमण लौकान्तिक होते है।" ॥६५०॥ पाच महाव्रतो से सहित, पाँच समितियो का चिरकाल तक आचरण करनेवाले और पाचो इन्द्रियो के विषयो से विरक्त ऋषि लौकान्तिक होते है। (अध्याय ८, श्लोक ६४६ से ६५१)

भयकर तप और ज्वर में तेजोमय मुख मडल

उस दुर्धर तपश्चर्या के समय शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया था, उसका एकमात्र अवलबन अन्न और जल भी जब न मिले, तब वह कैसे शक्ति-सपन्न होगा ? भीषण ज्वर चढ़ा है, फिर भी महाराज के मुख मडल पर एक अद्भुत आत्मतेज था। अग्नि में दाह से जिस प्रकार स्वर्ण की विशिष्ट दीप्ति दृष्टिगोचर होती है, वैसे ही तपाग्नि में तपाया गया उनका शरीर

तेजपूर्ण दिखता था। आचार्य लिखते हैं–

"जो जीव अज्ञान से अत्यन्त भीषण पाप कर्म का बंध करता है, वह उपवास से उसी प्रकार भस्म हो जाता है, जिस प्रकार अग्नि के द्वारा ईन्धन[1]।" उस समय वे आत्मचिंतन में मग्न रहते थे। आहार त्याग देने से मन विषयों की ओर नहीं जाता था। मन तो उनके अधीन पहले से ही था। अब वह अत्यन्त एकाग्र हो आत्मा या परमात्मा का अनवरत चिंतन करता था।

लम्बे उपवासों के विषय में चर्चा

ऐसी स्थिति में बाह्य वस्तुओं की ओर से मन को दूर करते हुए वे यही सोचते थे "मेरे लिए भगवान महावीर प्रभु का ही शरण है "भगव सरणो महावीरो"।

एक बार मैंने पूछा था " महाराज ! ऐसे लम्बे उपवासों के करते हुए आपकी निद्रा का क्या हाल रहता था ?"

महाराज ने कहा–"ऐसे समय में नींद नाम मात्र को आती थी।"

मैंने पूछा– " तब महाराज ! आप क्या सोचते थे ?"

महाराज– " उस समय हम आत्मा का ही विचार करते थे। और पदार्थों की तरफ चित्त स्वयं नहीं जाता है। हम आर्तध्यान, रौद्रध्यान उत्पन्न न हो इसकी सावधानी रखते थे।"

दो सप्ताह लम्बे उपवास के अनंतर पारणा का दिन आया, और उसके बाद पुनः दो सप्ताह लम्बा उपवास होना था। अतः यह आहार बड़ा महत्व का था। लेकिन यह भोजन महाव्रती मुनि का है, जो ४६ दोष और ३२ अंतराय को टालकर तथा खड़े होकर करपात्र में ही होगा। इस नियम में जरा भी अन्तर नहीं आ सकता है, प्राण भले ही चले जाय। मुनिराज आगम की आज्ञा का त्रिकाल में भी उल्लंघन नहीं करेंगे। मुनि जीवन को इसी से लोकोत्तर कहा गया है।

पारणा का प्रभात आया। आचार्य श्री ने भक्ति पाठ वंदना आदि मुनि जीवन के आवश्यक कार्यों को बराबर कर लिया। अब चर्या को रवाना होना है। सब लोग अत्यन्त चिन्ता समाकुल हैं। प्रत्येक नर नारी प्रभु से यही प्रार्थना कर रहा है कि आज का आहार निर्विघ्न हो जाय। क्षीण शरीर में

---

१ यदज्ञानेन जीवेन कृत पाप सुदारुणम्।
उपवासेन तत्सर्वं दहत्यग्निरिवेन्धनम्॥

खड़े होने की भी शक्ति नहीं दिखती, चलने की बात दूसरी है; और फिर खड़े होकर आहार का हो जाना और भी कठिन दिखता है। ऐसे विशिष्ट क्षणों में घोर तपस्वी महाराज उठे। आत्मा के बल ने शरीर को सामर्थ्य प्रदान की, ऐसा प्रतीत होता है।

अब वे चर्या के लिए निकले। एक गृहस्थ ने पडगाहा। विधि मिलने से महाराज वहां ही खड़े हो गए। उस समय उस गृहस्थ के पाव डर से कांपने लगे कि कहीं अंतराय हो गया तो क्या स्थिति होगी? उस समय एक एक क्षण बड़ा महत्वपूर्ण था। ऐसे अवसर पर चंद्रसागर महाराज की विचारकता ने कार्य किया। उनने तत्काल ही एक अपने परिचित दक्षिण के कुशल गृहस्थ से कहा– "क्या देखते हो, तुरन्त सम्हालकर आहार दान की विधि को संपन्न करो।" तदनुसार आहार दिया गया। वह भोजन क्या था? थोड़ी सी और गंठी–आँवले की कढी तथा अल्प प्रमाण में धान्य दिया गया। थोड़ा सा उष्ण जल खड़े २ ही उनने लिया, और तत्काल वे बैठ गए।

बस अब आहार पूर्ण हो गया। अब इस अल्प आहार के बाद आगे लगभग एक पक्ष के बाद ये उग्र तपस्वी मुनिराज आहार लेंगे। इस आहार के निर्विघ्न हो जाने से लोगों को अपार हर्ष हुआ।

इस प्रकार लम्बे उपवासों के बीच में ही प्रायः ललितपुर का चातुर्मास पूर्ण हो गया। बहुत कम लोग उनको आहार देने का सौभाग्य लाभ कर सके। जैनों के सिवाय जैनेतरों में जैन मुनिराज की तपश्चर्या की बड़ी प्रसिद्धि हो रही थी। आचार्य महाराज की अपने व्रतों के पालन में तत्परता देखकर कोई नहीं सोच सकता था, कि इन योगिराज ने इतना भयंकर तप किया है। दूर दूर के लोगों ने आकर घोर तपस्वी मुनिराज का दर्शन किया। धीरे २ वे तपः पुनीत पुण्य दिवस पूर्ण हो गए। अब चातुर्मास समाप्त होने को है। ललितपुर समाज ने कातिक सुदी नवमी से पूर्णिमा पर्यन्त रथोत्सव कराया। हजारों की संख्या में लोग आए। पूर्णिमा को रथ क्षेत्रपाल से बस्ती की ओर निकाला गया। उस समय आचार्यश्री का शरीर बहुत कमजोर था, किंतु आत्मा के बल से वे भी जुलूस में सम्मिलित हो गए और उनने शहर के मंदिरों की वंदना की, पश्चात क्षेत्रपाल आए। यथार्थ में महाराज में असाधारण शक्ति है।

भयंकर उपवासों के बीच अद्भुत स्थिरता तथा शक्ति

दो वर्ष हुए गजपंथा में व्रतों में महाराज का धारणा पारणा चल

रहा था। अन्न छोड़े हुए लगभग दो वर्ष हो चुके थे। तेरस तथा अनंत चौदस को उपोषण था। महाराज ने कहा—"आज हम गजपथा पर्वत की वंदना को जायगे।" उस अवसर पर मैंने महाराज के पैरो को कुछ क्षण दाबने का प्रयत्न किया, ताकि उनको पर्वत पर चढ़ने का कष्ट न हो, तब महाराज बोले—"पंडित जी! अभी हमारी भावना तो एकबार पुनः शिखर जी की वंदना करने की होती है। क्या करें, नेत्रों में काचबिन्दु रोग है, जो चलने की गर्मी से आंखो की ज्योति को क्षीण करता है, नही तो हम वहाँ जाते।" इतना कहते हुए वे उठे और उनने पर्वत की ओर प्रस्थान किया। धर्मशाला की कुटी से वह स्थान लगभग दो मील होगा। महाराज ने चलना प्रारम्भ किया। विश्वास था मार्ग में विश्राम करेंगे, किन्तु वे रुके नहीं। पर्वतपर चढ़ना प्रारम्भ किया। बहुतो की सांस भर आती थी। वे रुक जाते थे। किन्तु महाराज बिना कहीं रुके ऊपर पहुच गए। तब यह कोई कैसे मानेगा कि महाराज की अवस्था अस्सी की हो रही है, और इनका शरीर अन्नाहार न मिलने से क्षीण हो गया है? ऐसी शक्ति उनमें ऐसे क्षणा में दिखती है, जब कि दूसरा मजबूत आदमी चलना फिरना अपने लिए विपत्ति रूप ही समझेगा। महान तप करते हुये भी महाराज के अमूल्य उपदेश सुनने का सौभाग्य भव्य जीवो को मिल जाया करता था।

प्रस्थान

जब संघ ने मगसिर वदी पचमी को ललितपुर छोड़ा, तब लगभग चार, पांच हजार जनता ने दो, तीन मील तक महाराज के चरणो को न छोड़ा। अन्त में सबने गुरुचरणों को प्रणाम किया, और अपने हृदय में सदा के लिए उनकी पवित्र मूर्ति अंकितकर वे वापिस आ गये। उस दिन धार्मिक जनता को ऐसा लगता था, मानो आज वहा सूनापन छा गया हो। लगभग पांच सौ व्यक्ति तो सिरगन ग्राम पर्यन्त गुरुदेव के पीछे पीछे गए। प्रस्थान करते समय का दृश्य चिरस्मरणीय था। अकारण बधु विश्व हितकर संतो के चिरवियोग की

करुण दृश्य

कल्पना से हजारो नेत्रो से आसू बह रहे थे। चार माह का समय जो आचार्य महाराज के चरणो से अवर्णनीय शांति से बीता था, वह अब जनता को पुन दुर्लभ है। इससे ऐसा लगता था, मानो हृदय पर वज्रपात हो गया हो। संतो के समागम में यही विशेष बात है, कि उनके बिछुड़ने पर बड़ी असह्य पीड़ा होती है। इस अवसर पर कोई आचार्य महाराज के तरफ दृष्टि डाले, तो वहाँ

रचमात्र भी खेद नही है। वे तो परम वीतराग हैं । वे ससार को एक वृक्ष तुल्य देखते हैं, जिस पर पक्षी गण आकर बैठते हैं, प्रभात होते ही वे भिन्न भिन्न स्थान को चले जाते हैं । वैराग्य के प्रकाश मे मिलने का न सुख है और बिछुडने का दु:ख है ।

हमने अनेक बार देखा, सैकडो हजारो व्यक्ति दूर दूर से महाराज के दर्शनार्थ को आते हैं । उनको जाते देखते हुए उनके वैराग्य युक्त मुख पर राग की जरा भी रेखा नही दिखती है । यथार्थ में जो वैराग्य हृदयगत रहता है उस पर बाह्य वस्तुओ का सयोग तथा वियोग क्या असर कर सकता है ? ललितपुर का दृश्य देखनेवाला यह कहे बिना न रहेगा, कि ऐसे सतो के चरण जहा पडेगे, वहा चतुर्थकाल आकर कलिकाल को दूर भगाए बिना न रहेगा, अन्यथा एक दिगम्बर अकिंचन श्रमण के प्रति हजारो नरनारी समाज का इतना अनुराग क्यो ? क्यो वे इनको परम इष्ट मान इनके वियोग से व्यथित हो रहे हैं ?

अब आचार्य देव सिरगन पहुच गए । आज उस ग्राम वालो का भाग्य सूर्य जगा है । दूर दूर के ग्रामीणो ने आकर महाराज को प्रणाम किया, व्रत लिए और अपने भाग्य को सराहा । गाँव वाले श्रावको ने अपने को कृतार्थ माना, कि हमारे छोटे से ग्राम में सुरेन्द्र वद्य ऋषिराज के चरण पड गए । इसके अनतर आचार्य श्री ने बुदेलखण्ड के अनेक तीर्थों के दर्शन किए । पपौरा, चन्देरी, थूवोन, देवगढ आदि अनेक महत्वपूर्ण तथा कलामय तीर्थ बुदेलखण्ड के अतीत वैभव, धर्म प्रेम, तथा सुरुचि सस्कृत आध्यात्मिकता पर प्रकाश डालते है । सभी पुण्य स्थलो की वदना द्वारा

टीकमगढ नरेश पर प्रभाव

सघ ने अवर्णनीय आनद प्राप्त किया । पपौरा जाते हुए टीकमगढ में महाराज ठहरे थे । टीकमगढ नरेश से आचार्य श्री का वार्तालाप हुआ था । उससे टीकमगढ नरेश बहुत प्रभावित हुए थे । आचार्य महाराज में बडी समय सूचकता है । किस अवसर पर, किस व्यक्ति के साथ कैसा व्यवहार उचित और धर्मानुकूल होगा, इस विषयमें महाराज सिद्ध-हस्त हैं । टीकमगढ स्टेटमें जैनगुरु और जैनधर्म का बडा प्रभाव पडा । बुदेलखण्ड अपने गजरथो के लिए प्रसिद्ध रहा आया है वहाँ के पचकल्याण महोत्सवो से अजैन लोग बहुत प्रभावित हैं । उस भूमि में आचार्य महाराज जैसी आध्यात्मिक तेजस्वी मूर्ति का विहार करना बडा प्रभाव वर्धक हो गया । लोग तो

यही कहते सुने गए कि जीवन में ऐसा आनद फिर कभी नही आयगा और न कभी ऐसे सच्चे दिगम्बर मुनिराज के इस कलिकाल में फिर से दर्शन भी होगे ।

बुदेलखड के पुरातन वैभव केन्द्रो में विहार

चंदेरी की प्रसिद्ध चौबीसी का महाराज ने दर्शन किया। जिस प्रकार का वर्ण जिन भगवान का कहागया है, वही वर्ण उन तीर्थंकर की मूर्ति का है, यह विशेषता है । प्रतिमाए विशाल तथा मनोज्ञ भी है । थूवोन जी की विशाल मूर्तियो की हृदय से एक बार आरती उतार कर पुन उन्हे कौन भूलेगा ? ऐसे पुण्य स्थलो के दर्शन से आचार्य श्री को अवर्णनीय आनन्द प्राप्त हुआ। आज का वैभव शाली, अहकार पूर्ण मानव जब बुदेलखड में यत्र तत्र बिखरे जैन वैभव को देखता है, तब उसे उस भूमि की गौरव पूर्ण अवस्था समझ में आती है और वह नत मस्तक हो जाता है ।

आज जिन लोगो का मदिर के भडार के रुपया भारी लगते है, वे यदि उस संपत्ति का उपयोग ऐसे स्थल के जिन बिम्बो, जिनालयो के उद्धार तथा व्यवस्था में लगावे, तो उनके प्रति ससार कृतज्ञता प्रगट करेगा। अहारजी क्षेत्र में अत्यन्त मनोज्ञ भगवान शातिनाथ की मूर्ति को देख कर बडे बडे धर्मद्रोहियो तक का माथा झुक गया, मानो वे चक्रवर्ती कामदेव तीर्थंकर शातिनाथ का साक्षात्कार कर रहे हो । लोग अपने मदिर के प्रति जिस प्रकार आत्मीयता का भाव रखते है, वैसा ही प्रेम अन्य जिनालयो के प्रति हो जाय, तो स्थिति काफी सुधर जाय । बुदेलखण्ड के बडे बडे स्थान वाले ही यदि अन्य मदिरो का भी अपने मदिर का कुटुम्बी सा अनुभव करें, तो शीघ्र ही महत्वपूर्ण कार्य हो जाय । इसे भूलकर मदिर की रकम को ऐसे कामो में लाने में उत्साह दिखाते है, जिनके लिए परमागम आज्ञा नही देता है । अब भी अवसर है । सुबह का भूला यदि शाम को घर आ गया तो उसे भूला हुआ कोई नही कहता है । बुदेलखण्ड के जैन सास्कृतिक स्थलो को जब जैनेतर कलाकार देखता है, तब उसे आश्चर्य

---

१ द्वौ कुंदेन्दु-तुषारहार–धवलौ द्वाविन्द्रनील प्रभौ ।
द्वौ बधूक-सम-प्रभौ जिनवृषौ द्वौच प्रियगु–प्रभौ ।
शेषा षोडश–जन्म–मृत्यु रहिता सतप्त हेम-प्रभास्
ते सज्ञान दिवाकरा' सुरनुता सिद्धि प्रयच्छन्तु न. ॥

होता है, कि जो समाज अपनी शान के कामो मे लाखो खर्च कर देती है, जिसके बडे बडे पंजीपति अपने कुटुम्ब की प्रतिष्ठा के हेतु लाखो खर्च कर देते है, उन माई के लालो के हृदय मे यह भाव नही हुआ, कि इन तीर्थों का सचित्र सुन्दर परिचय सहित एलबम (चित्र–सग्रह) तो प्रकाशित करे, जिससे आज का उदार जगत् उन मूर्तियो, मदिरो की वदना करता हुआ उन दानियो के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करे। यह काम बिना दृष्टि में उदारता लाए नही बन सकता है। सस्कृति के पुजारी श्रीमानो की सुरुचि के योग्य यह विषय है। एक महोत्सव को ठाठ केसाथ सपन्न करने में, या एक शानदार इमारत बनाने आदि में जितना द्रव्य लगता है, उतना दान का निर्झर कदाचित ऐसे स्थल पर बह जाय, तो न जाने कैसा सास्कृतिक कलामय उपवन हरा हो जाय, और वह कितने विश्व के ज्ञान भ्रमरो का मधुर गुजन के हेतु स्वय वहा न खेंचेगा ? यह प्रभावना आगम समर्थित है, सद्विचार के अनुकूल है और आज के जगत् के द्वारा बदनीय भी है।

बुदेलखड के सास्कृतिक स्थलो में अकिचनता का साम्राज्य है। उसका दर्शन करते हुए इन महान महात्माओ को भी हमारे प्रमाद पर अवश्य दया आई होगी। अस्तु भवितव्य को विचारते हुए यह सत समुदाय आगे बढता जाता था। व्रतदान, धर्मोपदेश का कार्यक्रम तो सर्वत्र चलता ही है, जैसे सूर्य का उदय होकर अधकार को दूर करने का कार्य सदा चलता रहता है।

सोनागिरि अब सघ अगहन सुदी द्वादशी को पवित्र निर्वाण भूमि सोनागिरि जी आ गया। निर्वाण काण्ड में लिखा है —[1] सुवर्णगिरि के शिखर से नगकुमार अनगकुमार आदि साढे पाँच कोटि मुनियो न मोक्ष प्राप्त किया, उनको हमारा प्रणाम है। भैया भगवतीदास ने लिखा है—

नग अनगकुमार सुजान पाँच कोटि अरु अर्ध प्रमान।
मुक्ति गए सोनागिरि शीश ते वदो त्रिभुवनपति ईश ॥

सोनागिरि दतिया राज्य के सोनागिरि रेल्वे स्टेशन से लगभग दो मील की दूरी पर स्थित तीर्थ है। लगभग ७८ जिनमदिर बडे भव्य मालुम

---

१ णगाणगकुमारा कोडी पचद्ध मुणिवरा सहिया।
सुवणागिरिवर सिहरे णिव्वाण गया णमो तेसि ॥

पड़ते हैं। हैं वे पहाड़ी पर, किन्तु पहाड़ी, पहाड़ी सदृश नहीं दिखती। वंदना करने में शरीर को कोई कष्ट नहीं होता। मन्दिर बिल्कुल पास पास होने से वंदना में समय भी नहीं लगता। मंदिरों का समुदाय बड़ा मनोहर लगता है। सौन्दर्य अपूर्व दिखता है।

भगवान चंद्रप्रभु का मंदिर विशेष महत्वास्पद माना जाता है। जिस प्रकार शिखर जी में पार्श्वनाथ भगवान की टोंक यात्री का विशेष ध्यान आकर्षित करती है, उसी प्रकार यहाँ चंद्रप्रभु भगवान का मंदिर विशेष रम्य लगता है। उस मंदिर को विशेष अतिशय सम्पन्न भी मानते हैं। कैसा व्यथित, चिन्तित, भग्न मनोरथ व्यक्ति एक बार पर्वत पर पहुंच जाय, तो उसके चित्त में सहज ही शांति का भाव उत्पन्न हुए बिना न रहेगा। एक मान-स्तंभ चन्द्रप्रभु के मंदिर के आगे बन जाने से क्षेत्र का सौन्दर्य वृद्धिगत हो गया है। यहां बड़ी विशाल धर्मशालाएं हैं, जिनमें हजारों यात्रियों को स्थान मिल जाता है। सोनागिरि में धनिकों का प्रिय सोना तो नहीं दिखता है। हां! संयमी आत्माओं तथा मुमुक्षुओं को सारा पर्वत सोने का क्या, रत्नों से भी अधिक महत्व का प्रतीत होता है। परिग्रह का त्याग करने वाले मुनियों के लिये सोनागिरि हो, रत्नगिरि या पाषाणगिरि हो, सभी समान हैं। इसको सोनागिरि कहने का कारण सम्भवतः यह रहा होगा, कि यहां आकर नंगकुमार अनंगकुमार आदि मुनियों ने अपने जीवन को सुवर्ण के समान ऐसा शुद्ध बना लिया, कि आगामी उनमें कर्म रूपी कालिमा का सम्पर्क नहीं होगा।

यहां से मुनियों का जीवन सुवर्ण सम शुद्ध बना।

आचार्य संघ ने जब इस निर्वाण भूमि का दर्शन किया तब सभी मुनियों एवं श्रावकों को बड़ा आनन्द आया तथा महान शांति प्राप्त हुई। संघ के पधारने से हजारों नरनारियों से क्षेत्र में बड़े भारी धार्मिक समारंभ का आनन्द दिखाई दे रहा था। सोनागिरि में कोई विशेष समारम्भ जब कभी होता है, तो लगभग पन्द्रह-बीस हजार जैन भाइयों का समुदाय इकट्ठा हो जाना साधारणसी बात हो जाती है। बुन्देलखण्ड, ग्वालियर आदि के समीपवर्ती जैन बंधु ऐसे अवसर में आकर पुण्य संचय करने को सदा अग्रसर रहा करते हैं, तब फिर जहां दिगम्बर गुरुओं का संघ आचार्य शांतिसागर महाराज सदृश गुरुदेव के साथ पहुंचा है उस सोनागिरि में अपार जन समुदाय का आ जाना स्वाभाविक है।

चार व्यक्तियों की निर्वाण दीक्षा

आचार्य श्री की सोनागिरि यात्रा धार्मिक इतिहास की चिरस्मरणीय वस्तु बन गई, कारण अगहन सुदी पूर्णिमा को नौ बजे सवेरे ऐलक चतुष्टय–श्री चंद्रसागर जी, श्री पायसागर जी, श्री पार्श्वकीर्ति जी, श्री नमिसागरजी को आचार्य महाराज ने निर्वाणदीक्षा–निर्ग्रन्थपद प्रदान किया। पार्श्वकीर्ति जी का नाम मुनिराज कुंथुसागर रखा गया था। चार महाभाग्यों का एक साथ दिगम्बर दीक्षा धारण करना इस पंचमकाल की वर्तमान स्थिति में चौथे काल का दृश्य उपस्थित करता है।

कोई शंका शील बंधु कदाचित् यह सोचें, क्या लगता है, किसी को भी वस्त्र छोड़ने की दीक्षा दे दी; यह सदेह इस प्रसंग में अयोग्य है। आचार्य महाराज के पास से दीक्षा पाना बडा कठिन काम है। अनेक लोग उनके पास उत्साह लेकर व्रत मागने आते है, किन्तु महाराज पात्र की योग्यता देखकर ही व्रत देते है, अन्यथा इंकार कर देते हैं।

एक समय मेरे समक्ष एक धर्मात्मा भाई महाराज के पास आया। उसने जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य व्रत मन, वचन, काय से ग्रहण करने की इच्छा प्रगट की। विनयपूर्वक व्रत मांगा। आचार्य श्री ने उसके विषय में विचारकर व्रत देते समय काम से कुशील त्याग का ही व्रत दिया। एक तरुण आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लेने उनके पास पहुंचा। अत्यधिक आग्रह होने पर महाराज ने उसे केवल एक वर्ष को ही व्रत दिया।

एक व्यक्ति मुनि की दीक्षा मांगने आए। उस व्यक्ति के चरित्र से वे परिचित थे, अतः उनने उनको मुनि दीक्षा नही दी।

इससे यह पता चल जाता है, आचार्य श्री के पास से दीक्षा का पा लेना सफल जीवन का निश्चायक होता है। अंग्रेजी शिक्षा लेने कोई लंदन जाता है और यदि उसके पास केम्ब्रिज या आक्सफोर्ड का प्रमाण पत्र होता है, तो उसकी योग्यता के विषय में सन्देह नही किया जाता है, इसी प्रकार आचार्य महाराज से दीक्षा प्राप्त करने का जिस निकट–भव्य आत्मा को सौभाग्य मिलता है, उसके विषय में भी पूर्ण विश्वास उत्पन्न होता है।

सोनगिरि में जिन महानुभावों को निर्ग्रन्थ दीक्षा दी गई, उनने ऐलक के रूप में मुनिपद के लिये पर्याप्त पात्रता प्राप्त कर ली थी। जब

आचार्य महाराज ने उनके जीवन को तपे सोने के समान निर्मल, पवित्र तथा प्रिय पाया, तब सुवर्णसम जीवन वालो को सोनागिर में ही श्रमण दीक्षा से सस्कारित किया ? उन चारो मुनियो ने महाव्रती के रूप में कितना स्वपर कल्याण किया। कुथुसागरजी ने बडे बडे राज्यो में जाकर कैसी धर्म प्रभावना की है, यह गुजरात के जैनियो से पूछो, अजैन बडे अधिकारियो और विद्वानो से पूछो।

कुथुसागर जी के विषय में आचार्य महाराज का कथन

एक दिन आचार्य महाराज कुथुसागर जी के बारे में बताते थे "जब यह पहले आया था, तब इसको कुछ शास्त्र का बोध नही था। धीरे-धीरे पढने का योग लगाया। बुद्धि अच्छी थी। बहुत शीघ्र होशयार हो गया। सस्कृत मे कविता करने लगा। भाषण देने लगा था।" आज श्री कुथुसागर जी के सहसा जीवन प्रदीप बुझ जाने से प्रत्येक धार्मिक हृदय में मनोव्यथा पैदा होती है।

चद्रसागर महाराज का विशुद्ध चरित्र और आगम भक्ति को कौन भूल सकता है? उनका भी स्वर्गवास धार्मिक समुदाय को सताप प्रद रहा। सौभाग्य से पायसागर महाराज है। वे दक्षिण में अपने सुमधुर भाषण तथा तत्व प्ररूपणा द्वारा हजारो जीवो का कल्याण कर रहे है। मुनि नमिसागर जो महाराज कठोर तप करने में प्रसिद्ध है और उत्तरभारत तथा पजाब प्रात में धर्म प्रभावना कर रहे है।

सोनागिरि में दीक्षा लेने के वाले चारो मुनियो का जीवन तपे हुए सोने के समान निकला और विपत्ति की कसौटी पर कसे जाने पर उनकी दीप्ति बढी, घटी नही। ये चारो ही मुनि प्रारभ से ही महान नही थे। इनमें महानता का बीज था। ये उस सुवर्ण पाषाण के सदृश थे, जिसमें कीट कालिमा आदि लिप्त थी। रत्नपरीक्षक के रूप में महाराज ने इनको देख लिया। धीरे-धीरे अपने सपर्क द्वारा उनका जीवन इतना अधिक विकसित कर दिया, कि उनने मनुष्य जीवन की श्रेष्ठ-निधि निर्ग्रन्थ परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त की। सोनागिरि के इतिहास में यह सन १९२९ की आष्टाह्निक महापर्व की फाल्गुनी पूर्णिमा स्मरण योग्य बन गई, जब चार उज्वल आत्माओ ने महाव्रती बनकर अपने को, जगत को, और जैन सस्कृति को मगलमय बनाया।

अब सघ में सात मुनिराज हो गए। उनके बीच गुरु

आचार्य महाराज शोभायमान होते थे । सातो ऋषिराज परमागम प्रसिद्ध सात मुनिवरो का स्मरण कराते थे ।

सूर्य का प्रकाश होने पर ताराओ की ज्योति का पता नही चलता है, इसी प्रकार जिस निर्वाण भूमि सोनागिरि मे अनेक सतो ने निर्वाण दीक्षा धारण की, वहा अन्य व्रत धारण करने वालो की भी सख्या बहुत होते हुए भी उसका पृथक उल्लेख नही होता । अधिक धर्म की प्रभावना तथा 'नास्ति खलु धम्मो' का प्रचार हुआ । उस दिन धर्मात्मा पुरुषो ने देखा कि चरित्र रूपी सुवर्ण प्राप्ति में प्रेरणा देने के कारण यथार्थ मे वह सोनागिरि है । श्रमणसमन्वित होने से उसे श्रमण गिरि के रूप में भी स्मरण करना अच्छा और युक्ति युक्त भी लगता है । आजकल यह क्षेत्र अधिक समुन्नत दिखता है ।

यहा एक जैन पाठशाला चलती थी । वह क्षेत्र की शोभा थी तथा ऐसे पुण्य केन्द्रो में रहने वाले छात्रो के जीवन में सास्कृतिक भावनाओ को अकित करने में कारण रूप होती थी । छोटे स्थाना की पाठशालाओ के छात्रो में जो धर्म के सस्कार प्राप्त होते हैं, अब वे सस्कार बडे बडे नगरो के विद्यालयो में रखे गए छात्रो में दृष्टिगोचर नही होते है, कारण वहाँ वे लोग विद्या के अभ्यास से आर्थिक उन्नति की लालसा के लोभ का सवरण नही कर पाते हे, इस प्रकार उनका चित्त धर्म शास्त्र के अध्ययन की ओर नही लगता है । कठिनता से मनको लगाकर परीक्षा पास की जाती है और ऐसा अवसर देखा जाता है, जबकि धर्म शास्त्र के अध्ययन को भुला किसी विशिष्ट शिक्षण केन्द्र मे जा ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लें, जिससे किसी राजकीय दफ्तर में या अन्य लौकिक स्थान में नौकरी कर ले । यही कारण है, कि अब समाज हितार्थ योग्य विद्वानो का निर्माण बद सा हो गया है । यदि यही क्रम रहा, तो जिस प्रकार पडित प्रवर श्री गोपालदास जी वरैया के पूर्व में उच्च शास्त्रो के ज्ञाता विद्वानो का दर्शन दुर्लभ था, उसी प्रकार की स्थिति आज भी निकट भविष्य में उत्पन्न होती हुई दिखती है । अतएव जैन सस्कृति के सरक्षण की दृष्टि से सास्कृतिक शिक्षण के सम्बन्ध में गंभीर विचार आवश्यक है ।

धर्म विद्या के शिक्षण योग्य केन्द्र

ऐसा सोचा जाता था, कि सस्कृत की पढाई के साथ अग्रेजी का सयोग करना लाभप्रद होगा । इस विचार को प्रयोग के रूप में स्याद्वाद

महाविद्यालय काशी ने विशेष रूप में अपनाया। लगभग २० वर्ष के अनुभव ने यह बताया, कि उच्चकोटि के शास्त्रों का पूर्ववत् सुरुचि और श्रद्धापूर्वक अध्ययन नहीं होता, और छात्रगण लौकविद्या के लिए मुख्यता न दे रुचि सहित श्रमकर विश्वविद्यालयों में भर्ती होते हैं और ऐसी जगह पर सेवा वृत्ति स्वीकार कर लेते हैं, जहा धार्मिक संस्कार का प्राय विस्मरण हो जाता हैं। यह देखने म आया हैं, कि इन्हे जिन-दर्शन भारी लगने लगता है। रात्रि भोजन, अभक्ष्यभक्षण, अगालित जल का त्याग आदि अष्टमूलगुणो के स्थान में उनसे विपरीत वृत्ति को, ये नवीन संस्कृति को निहाल कर देने वाले लाल अपनाते है, और शिथिलाचार वालो की असयमी प्रवृत्ति का पोषण करते है। कोई कोई इन धार्मिक कार्यों से इतने विमुख हो जाते हैं कि विशिष्ट स्थिति में भी जैन संस्कृति की सेवार्थ अपने मूल्यवान समय को देना अपव्यय मानते हैं। इससे ऐसा दिखता हैं, कि श्रुतज्ञान रूपी जो जल विषयो की आग बुझाने को सचय किया था, वह स्वय तैल का काम कर रहा है। यह शास्त्र का दोष नही है, आधार का दोष है। अतएव हमारी राय में यह आवश्यक है कि आजीविका विहीन गृहस्थ की सतति होने मात्र से ही किसीको सांस्कृतिक रत्नागार के सरक्षणार्थ शास्त्रो में निपुण करने की ममता को कम किया जाय। बहुत छात्रों का नाम दिखाने का लोभ दूर किया जाय, और ऐसे सुसस्कृत परिवारके बालको को प्रयत्न पूर्वक प्राप्त किया जाय, जिनके घराने में धार्मिकता की कल्पलता बढी है, जो जिन शासन के अभ्यास को चिंतामणि रत्न समान मानते है, और जिन्हें शासन स्वाध्याय सहित गरीबी का जीवन अधिक आनद दायी लगता है, जो सदाचरण को ही सच्चा धन जानते हैं तथा जिनके अत करण में जिन धर्म के प्रति बडा ममत्व है, उत्कट अनुराग है, श्रेष्ठ भक्ति है।

नोवेलिस नामका विद्वान लिखता है—"तत्वज्ञान हमारा भोजन नही बनायेगा, किन्तु वह हमें हमारी आत्मा को प्रदान करता है, वह हमें स्वर्ग प्रदान करता है, वह ही उन महान सत्य तत्वो का बोध प्रदान करता हैं, जिनका हमारे अमर जीवन से सम्बन्ध है।"[1]

इस सम्बन्ध में अनुभवी शिक्षा विशेषज्ञ जेम्स मूड का कथन विचार-

---

१. Philosophy will bake no bread, but it gives us our souls, it gives us heaven, it gives us knowledge of those grand truths, which concern us as immortal beings "

पूर्ण है ।

"किन्तु ये उच्च आदर्श-पूर्ण बातें थोड़े व्यक्तियों को लक्ष्यकर ही कही जा सकती है, तथा इससे भी अल्प लोगों का उन पर चलने का साहस होगा। यदि विश्वविद्यालय केवल इस विषय की ही शिक्षा देने में दृढ़ विचार बद्ध है, जिसे मानवीय तत्वों का शिक्षण कहते हैं,तो उसके लिए यह आवश्यक है कि गाढ़े वस्त्र, कड़े बिस्तर तथा साधारण भोजन द्वारा जीवन व्यतीत करने पर जोर देवे ।"

उपरोक्त विशेषज्ञों के कथन में हमें अपनी शिक्षण संस्थाओं के विषय में पर्याप्त प्रकाश प्राप्त होता है। जिनका लक्ष्य संस्कृति की सेवा द्वारा जीवन को समलंकृत करना है, उनको अर्थ की अंध आराधना या दूसरों के समान उसे आराध्यदेव या मुख्य लक्ष्य मानना छोड़ना होगा । वीतराग संस्कृति के विकास के लिए अंतःकरण जितना अकिंचनत्व की भावना से परिपूर्ण तथा परिपुष्ट होगा, उतना ही कार्य वृद्धिगत हो सफल मनोरथ करेगा। धर्म प्रचार करने वालों की आत्मा में स्वयं धर्म का प्रकाश जरूरी है। बुझा दीप दूसरे दीपक को कैसे प्रकाश प्रदान करेगा ? वीतराग संस्कृति के प्रचारक के लिए सच्चा अर्थ रत्नत्रय दिखना चाहिए। जिसके हृदय में जिनेन्द्र भक्ति रहती है, उसको अभीष्ट वस्तुओं का अनायास लाभ होता है। संकट हरण विनती में वृन्दावन जी ने लिखा है :-

धर्म प्रचारकों की आत्मा में धर्म का प्रकाश

इक सेठ के घर में किया दारिद्र ने डेरा,
भोजन का ठिकाना भी न था साझ सबेरा ।
उस वक्त तुम्हे सेठ ने निज ध्यान में घेरा,
घर उसके में तुरतई किया लछमी ने बसेरा ।
हो दीनबन्धु, श्रीपति करुणा-निधान जी ।
अब मेरी व्यथा क्यों न हरो बार क्या लगी ॥

कई धनिक धर्मात्मा बताते है, पहले हम अत्यन्त निर्धन

१ "But such high counsels as these are addressed only to few and perhaps fewer still have heart to follow them If a university persists in teaching nothing, but what it calls the Humanities, it is bound to insist on rough clothing, hard beds and common food." Froudes Essays p. 63.

वीतराग की भक्ति से दरिद्रता दूर भागती है

थे, किन्तु जबसे वीतराग प्रभु की पूजा, अभिषेक आदि का कार्य किया, तब से श्री की दया से मनोवांछित वस्तु मिलने लगी। अतः धार्मिक जीवन वाला व्यक्ति यदि अर्थ के संकट में ग्रस्त हो भी जावे, तो जिन भक्ति उसके संकट का निवारण किए बिना न रहेगी।

ईसाई धर्म ने इस युग में अपना प्रचार कार्य करके विश्व में अपना विशेष स्थान बनाया। उसका कारण उसके प्रचार की प्रवीणता है। एक दिन मैंने प्रख्यात गांधीवादी तपस्वी प्रोफेसर भंसाली भाई से पूछा था, कि उनके जीवन पर किसकी छाप पड़ी, तब उनने बताया था "मैं बंबई के विल्सन कालेज में था। वहां के पादरियों के सेवा भावी जीवन को देखकर मेरा जीवन प्रभावित हुआ। उन पादरियों के ये नियम मुख्य आकर्षक लगे 'vow of service, vow of chastity, vow of poverty' सेवा का नियम, शील का नियम और अकिंचनता—गरीब रहने की प्रतिज्ञा। यथार्थ में ये नियम मनुष्य को लोक प्रिय बनाते हैं और उसका जनता के मानस में मान होता है। जैन संस्कृति के प्रचार हेतु काम करने वाले विद्वानों के लिए पूर्व में अकिंचनता का नियम आवश्यक है, अन्य व्यापारी वर्ग के होने से प्रत्येक व्यक्ति की धनाकांक्षा मर्यादातीत होती है, मिलता उतना ही है, जितना लाभांतराय का क्षयोपशम रहता है, किन्तु तृष्णा पर कोई भी नियंत्रण नहीं रहता है। शिक्षार्थी से पूछा जाय, पाठशाला अथवा विद्यालय में पढ़ने के उपरान्त तुम क्या करोगे, तो शायद ही कोई कहेगा कि हम तीर्थंकर महावीर प्रभु के शासन को प्रकाश में लाने में सेवाएं अर्पण करेंगे।"

धन को साध्य बनाने में संकट आता है

इसमें संदेह नहीं है कि धन का भी अपना महत्व है। वह धन साधन के स्थान में जब साध्य बन जाता है, तब श्रेष्ठ कार्यों को संपन्न करने में विपत्ति का पहाड़ खड़ा हो जाता है। आज जो जगत की दुर्दशा हो रही है, उसका कारण सुवर्ण का सीमातीत सम्मान तथा सिंहासन पर समासीन होना है। एक कवि कहता है:—

"सुवर्ण बंधुओं के बीच घृणा को उत्पन्न करता है, कुटुम्बों में विवाद पैदा करता है, मित्रों में भिन्नता को उत्पन्न करता है, तथा नागरिकों में कलह

को उत्पन्न करता है।"[1]

अध्ययन का लक्ष्य क्या हो

अतएव आचार्य शांतिसागर महाराज ने सोनागिरि पर्वत पर जिस चरित्र रूपी सपत्ति का वितरण कर चार ऐलको को मुनि बना दिया, उस सयम रूप सुवर्ण पर अनुराग रखने वालो के द्वारा ही धर्म का उद्योत होगा। शास्त्राध्ययन का क्या लक्ष्य हो, इसके विषय में एक जैन आचार्य कहते हैं, ज्ञान का लक्ष्य होना चाहिए मनुष्य इन्द्रियो की दासता से मुक्त हो उन इंद्रियो पर अपना अकुश लगा सके। उस सयम का ध्येय हो आत्मत्व की उपलब्धि।[2]

सयमाय श्रुत धत्ते, नरो धर्माय सयमम्।

हमारे धार्मिक विद्याश्रमो का लक्ष्य उपरोक्त प्रकार का होना चाहिए। जहा शिक्षा का लक्ष्य सयम के स्थान पर उच्छृखल तथा असयमी जीवन होता है, वहा शिक्षा मगलदीप के स्थान में दवाग्नि की भीषणता को धारण कर लेती है।

एक दिन शातिसागर महाराज के पास जैन शिक्षण सस्थाओ के विषय में चर्चा निकली, कारण उस समय मेरे ऊपर रामटेक के श्री शातिनाथ गुरुकुल की सर्व व्यवस्था का उत्तरदायित्व था। आचार्य श्री बोले "तुम लोग, जो शिक्षा सस्था चलाते हो, उसका सयमी जीवन से कोई भी सम्बन्ध नही रखते हो, अत. वहाँ से निकलकर किसी के भी परिणाम श्रेष्ठ सयम के पथ पर जाने के नही होते।" महाराज ने कहा "तुमने दूसरा के बच्चो को लिखा पढाकर, कमाने खाने योग्य बना दिया, तो तुमने धाय के समान काम किया, जैसे धाय दूसरो के बच्चो को दूध पिलाकर पोषण करती है। तुमने जैन सस्कृति तथा धर्म का क्या काम किया? आज सरकार स्वय राजकोष से सबको शिक्षित करने को रुपया लगाती है। तुमने अपनी शक्ति का उसमें उपयोग करके कौनसा मोक्षोपयोगी काम किया?"

---

१. Gold begets in brethren hate,
Gold in families debate,
Gold does friendship separate
Gold does civil wars create

२ Knowledge should be for sense control and that sense control should aim at self-realisation.

मैंने कहा– "महाराज ! तब फिर आपके विचार से शिक्षण संस्थाओं का क्या लक्ष्य होना चाहिए ?"

महाराज बोले– "पढ़ने वाले विद्यार्थियों में रत्नत्रय धारी बनने की भावना उत्पन्न होवे, ऐसी शिक्षा चाहिए। कम से कम रत्नत्रयधारी मुनियों की वैयावृत्य, सेवा, परिचर्या के योग्य भाव तो होवे।"

आचार्य श्री का भाव यही है कि शिक्षा का लक्ष्य संयमी जीवन होना चाहिए। जो महाव्रत धारण नहीं कर सकते, उनके अंतःकरण में सर्व विरति की लालसा होना तो आवश्यक है। जिसमें सकल संयम या सकल संयमी का अनुराग न हो, वह श्रावक भी तो नहीं कहा जा सकता है। इस कसौटी पर कसकर देखा जाय, तो ज्ञात होगा, कि कहाँ सुवर्ण सदृश शिक्षा है, और कहा नकली शिक्षा है। आचार्य महाराज ने जो शिक्षा का लक्ष्य बताया, उसका अभाव अधिकांश में देखकर प्रतीत होता है, कि हमारा कार्य कम सफल नहीं हुआ है।

एक बड़ी संस्था में शिक्षित शास्त्री विद्वान सिवनी आये थे। एक क्षुल्लक महाराज ने उनसे कुछ अध्ययन करने की इच्छा प्रगट की थी, तो वे शास्त्री महोदय थोड़ी देर के शिक्षण के अंधाधुन्ध रुपया मांग बैठे, फलतः उनसे काम नहीं लिया गया। ऐसे ही अनेक विद्वानों का अनुभव मिला। आज ऐसे ही विद्वान शास्त्र विक्रय के द्वारा अपनी आजीविका चलाने लगे, जिसको अकलंक स्वामी ने ज्ञानावरण के आस्रव का हेतु बताया है।[1]

आगम के विरुद्ध प्रवृत्ति वालों का जीवन सुखी नहीं देखा जाता है। परम पवित्र बुद्धि से यथोचित मूल्य न लेकर लोभी बनकर जिनवाणी के द्वारा अपनी आजीविका चलाने वालों के लम्बे जीवन पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होगा, कि वे परमार्थतः सुखी नहीं हैं। उनकी आगामी क्या गति होगी यह तो भगवान ही जाने ?

शालाओं के विकास में बाधक उनके सिर पर धनिकों का आसीन रहना है

एक बात और है, जो हमारी संस्थाओं के स्वाभाविक और स्वतंत्र विकास में कुठाराघात करती है, वह है धनिकों का संस्थाओं के सिर पर सवार हो, उनकी इच्छानुसार संचालन किया जाना। दान देने के पश्चात भी दातार उस धन के प्रति अपना ममकार कम नहीं करता है और धनवाला होने से स्वयं को सर्व गुणों का आगार सोच लिया करता है। हमें रामटेक गुरुकुल का खूब अनुभव है। एक

बार हमारे पास शिकायत आई थी, कि जब एक श्रीमान गुरुकुल में पहुचे तो लड़कों ने उन्हें प्रणाम नही किया। मैंने कहा "बेचारे बच्चे आपको क्या पहिचाने कि आप कौन है, अत. उनने आपका यथोचित सम्मान न किया होगा। इससे संस्था की क्या बुराई हो गई। आपने कभी यह भी पूछा है कि छात्र क्या पढ़ते हैं क्या नही पढते?" इस पर वे सज्जन चुप हो गए।

लक्ष्मी का लाड़ला सरस्वती सेवक का मूल्य नही जानता

ऐसा ही अर्थ के हाथ में सर्व अधिकार (all rights) देख मुझे अनर्थ होता हुआ प्रतीत हुआ। इसका फल हुआ कि मुझे उस उद्यान को छोड़ देना पड़ा, जिसके वृक्षों को कठिनता से लगाकर माली की भांति सम्हाल कर मैं कार्य कर रहा था। मेरी यही धारणा है, कि संस्कृति सरक्षणार्थ सचालित सस्था में छात्रों के गुण (quality) पर मुख्य ध्यान जाना चाहिये, संख्या पर (quantity) गौण दृष्टि होनी चाहिए।

दूसरी बात यह है, कि छात्रों का स्वाभाविक विकास होना चाहिये। मने कुछ संस्थाओंके छात्रो को देखा है, जिन पर जबरदस्ती आचार का भार लादा गया है किन्तु उसे उनकी आत्मा नही चाहती। फलतः उनका आगामी जीवन प्रतिक्रियावश संयम का शत्रु बनता है। अतएव आवश्यकता है कि शिक्षा संस्थाओं के विषय में आचार्य श्री सदृश महर्षिके चरणो के समीप इस जिनेन्द्र संस्कृति के विकास के विषय में सोचा जाय। धनिकों की मनोवृत्ति के विषय में विख्यात लेखक बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा है—

"यदि तुम चाहते हो, कि धनी लोग अपना धन देवें, तो वे अपनी शर्तें अवश्य लादना चाहेंगे? बताओ, क्या वे नही चाहेंगे? इसका मतलब यह हुआ, कि वे शिक्षण पद्धति के निर्धारण में हस्तक्षेप करने का आग्रह करेंगे और क्या ऐसा करना खतरनाक नही होगा?"[1]

वीतराग प्रभु की संस्कृति का संरक्षण तथा संवर्धन ऐसे लोगों के तत्वावधान में हो, जिनके हृदय मे उस संस्कृति के प्रति पूर्णश्रद्धा हो, जो ज्ञान के धनी हो और सम्यक्चारित्र को जो अपना प्राण मानते हैं। बिना

"If you want the rich men to come out with their donations, they will want to impose their own conditions, won't they? That's to say, they will insist on having their way in the regulations of the educational policy and won't that be disastrous?" (Among The Great" P. 123)—

चरित्रवान व्यक्तियों के पथ-प्रदर्शन के केवल पढ़े लिखों का कथन हृदय पर असर नही करता है।

आज हम देखते हैं, कि हमारे शास्त्री लोग भगवान की पूजा, अभिषेक का खूब महत्व बोलते है, किन्तु उस ओर प्रवृत्ति में प्रायः पूर्णतया पराङ् मुख रहते हैं। ऐसी स्थिति में लोगो का ध्यान सस्थाओ से विमुख होने लगा है। अतएव सोनागिरि सदृश सास्कृतिक केन्द्रों में ऐसे सुसंस्कृत व्यक्तियो के तत्त्वावधान में सत्पात्रो को परमागम में निष्णात करने का प्रक्रम हितप्रद होगा; तब ही ऐसे व्यक्ति बनेंगे, जैसा कि आचार्य शातिसागर महाराज चाहते हैं, अथवा उन्नति के स्वप्न का साकार रूप कैसे होगा ?

गवालियर

सोनागिरि में धर्मामृत की वर्षा करता हुआ संघ गवालियर पहुंचा, जहा पौष शुक्ला तृतीया को मुनि नेमिसागर महाराज का केशलोच हुआ। गवालियर प्राचीन काल से जैन संस्कृति का महान केन्द्र रहा है। गवालियर के किले में चालीस, पचास-पचास फीट ऊंची खड्‌गासन दस, पन्द्रह मनोज्ञ दिगम्बर प्रतिमाओ का पाया जाना तथा और भी जैन वैभव की सामग्री का समुपलब्ध होना इस बात का प्रमाण है, कि पहले गवालियर का राजवंश जैन सस्कृति का परम भक्त तथा महान आराधक रहा है। एक किले की दीवालो में बहुत सी मूर्तियो का पाया जाना इस कल्पना को पुष्ट करता है, कि यह स्थल सभवतः तीर्थ स्वरूप रहा हो। गवालियर में जो स्थान तानसेन नामक प्रसिद्ध गायक से सबधित बताया जाता है, वह पहले जैन मंदिर रहा है। गवालियर रियासत तो जैन मूर्तियों तथा जैन कला पूर्ण सामग्री का अद्‌भुत भण्डार प्रतीत होता है। गवालियर के जिनालय भी सुन्दर हैं। नगर में एक शातिनाथ भगवान की मूर्ति बडी मनोज्ञ, अति उन्नत तथा खड्‌गासन है। जैनियो में प्राचीन नाम गवालियर का गोपाचल प्रचार में रहा है, कारण वहा के भट्टारक जी के तत्वावधान में अनेक स्थानो की प्रतिमाओ की प्रतिष्ठाए हुई हैं। भट्टारक जी के रहने के स्थान पर शासन देवताओं की कलामय मूर्तिया दर्शनीय हैं।

जैन सस्कृति का महान केन्द्र

ग्वालियर की धार्मिक समाज ने संघ के आने पर खूब धर्म प्रभावना की। जहा जहा आचार्य महाराज का सघ पहुंचा, वहा वहां के लोग यही कहते हुए पाये गए कि ऐसा आनद, ऐसी प्रभावना कभी नही हुई। अजैन जनता भी जैन ऋषियो के श्रेष्ठ चरित्र से प्रभावित होती हुई जैन

संस्कृति के प्रति आदर भाव व्यक्त करती थी। अपूर्व जागृति तथा आध्यात्मिक प्रभावना हुई।

यज्ञोपवीत धारण करना जैन संस्कृति का अंग न होकर ब्राह्मण संस्कृति का चिन्ह है, ऐसी कुछ लोगों की शंकाएं थीं। उनका आगम के प्रकाश में निराकरण किया गया था। ब्राह्मणों में पाई जाने वाली सभी बातों के निषेध रूप में जो जैन संस्कृति का स्वरूप समझते हैं, वे दोनों संस्कृतियों के प्रति न्याय नहीं करते हैं। चक्रवर्ती भरत ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की थी। उस पर आदि जिनेश्वर ने कहा था—

हे आयुष्मन्! जो तुमने इन ब्राह्मण रूप से गृहस्थों की रचना की है, वे जब तक चतुर्थकाल है, तब तक उचित प्रवृत्ति-युक्त रहेंगे।[1] किन्तु कलियुग में इनकी प्रवृत्ति विपरीत हो जायगी और ये 'सन्मार्ग परिपन्थिन प्रवर्त्स्यंति'—सन्मार्ग के शत्रु रूप में परिणित हो जायगे। यह कथन बहुलता की अपेक्षा किया गया है। दक्षिण कर्णाटक आदि प्रांतों में जैन ब्राह्मण भी पाए जाते हैं, जो जिनागम के अनुसार क्रियाकांड में निपुण हैं। अतः जैन विचार और हिन्दू धर्म के विचारों में अन्तर है। यहां यज्ञोपवीत को सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान सम्यक्चारित्र का प्रतीक मानते हैं। यह बात हिन्दुओं के यहां नहीं है। हिन्दुओं में यज्ञोपवीत मान्य होने से यदि उसे जैन संस्कृति का अंग

जैन दृष्टि हिंदू दृष्टि में अंतर

न माना जायगा, तब तो बहुत गड़बड़ी हो जायगी। ओंकार की हिन्दुओं में भी मान्यता है, अतः क्या इससे जैन संस्कृति से ओंकार को भी पृथक् कर दिया जायगा? शब्द साम्य होते हुए भी अर्थगत भिन्नता है। जैन ओंकार को पंच परमेष्ठी का वाचक माना है।

ॐकार के स्वरूप में अंतर है

अरहंत, अशरीर (सिद्ध) आचार्य उपाध्याय मुनि के प्रथम अक्षरों से ओंकार की निष्पत्ति होती है (अ+अ+आ+उ+म्=ओम्)[2] ओं के

---

१ आयुष्मन् भवता सृष्टा य एते गृहमेधिनः।
ते तावदुचिताचारा यावत्कृतयुगस्थितिः॥
महापुराण पर्व ३१

२ अरहंता-असरीरा-आइरिया तह उवज्झया मुणिणो।
पढमक्खरणिप्पण्णो ओंकारो पंचपरमेट्ठी॥ द्रव्यसंग्रह

विषय में छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है' ॐ यह अक्षर उद्गीथ है, इसकी उपासना करना चाहिये।[1] इस पर शंकराचार्य की टीका में लिखा है, ॐ यह परमात्मा का सबसे निकटतम नाम है।[2] इसका प्रयोग किए जाने पर वह प्रसन्न होता है। जैसे जन साधारण अपना प्रिय नाम ग्रहण किये जाने पर प्रसन्न हुआ करते हैं। उपनिषद में लिखा है कि "निश्चय ही जो उद्गीथ है, वही प्रणव है और जो प्रणव है वही उद्गीथ है। इस प्रकार यह सूर्य ही उद्गीथ है, यही प्रणव है, क्योंकि यह सूर्य ही ॐ ऐसा उच्चारण करता ही गमन करता है।"[3] सूर्य के द्वारा उच्चारण किए जाने वाले ॐ शब्द की ध्वनि उपनिषद भक्त ही शायद सुन सकता होगा, क्योंकि वैज्ञानिक विचार वाला ऐसा शब्द नहीं सुनता है। उसे तो वह एक मधुर कल्पना ही प्रतीत होती है। यहां यह बात विचारणीय है, कि वैदिक संप्रदाय ने 'ॐ' का अवैज्ञानिक प्रतिपादन किया है, इसलिए जैन विचार भी उसी प्रकार होगा, यह धारणा न्याय संगत नहीं है। इसी प्रकार यज्ञोपवीत के विषय में ज्ञातव्य है। जैन दृष्टि में वह यज्ञोपवीत रत्नत्रय धर्म का प्रतीक है, इसलिए तत्वज्ञ उसका आदर करता है। आचार्य श्री के युक्ति तथा अनुभवपूर्ण उपदेश से लोगों ने यज्ञोपवीत को जैन शास्त्र की आज्ञा जान अंगीकार किया।

ग्वालियर राज्य में प्राचीन जैन वैभव की विपुल सामग्री को देख कर किस धार्मिक के हृदय में वेदना उत्पन्न न होगी, कि समाज के प्रमाद से उन महत्वपूर्ण स्थलों की उचित व्यवस्था अब तक भी न हो सकी। यदि कोई विवेकी दानी व्यक्ति अथवा संस्था इन संपूर्ण वैभव-स्थलों का सचित्र विवरण प्रकाश में लावे, तो जैन गौरव के प्रति जगत के अंतःकरण में उज्वल भावनाएं जगे बिना न रहेगी। आज दान देने वाले व्यक्तियों में इस बात का ध्यान रखने वाले लोग कम

जैन वैभव की सामग्री का सकलन प्रकाशन आवश्यक

१ ओमित्येतदक्षरमुद्गीथ मुपासीत (अ० १. खंड १)

२ ओमित्येतदक्षर परमात्मनोभिधान नेदिष्ठम्। तस्मिन्हि प्रयुज्माने स प्रसीदति प्रियनाम ग्रहण इव लोक।

३ अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो, यः प्रणव स उद्गीथ, इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति (अ. १, खण्ड ५) छ. उप.

हैं।' जो दान देने के साथ द्रव्य की सुव्यवस्था की बात सोचते हैं। कहीं कहीं दातार सर्पराज सदृश प्रहरी के निरीक्षण में अपने द्रव्य की व्यवस्था छोड़ देते हैं। उससे सम्यक्त्व के अगों का पोषण न होकर प्रहरी की स्वच्छंद वृत्ति की पुष्टि होती है। इसलिए विवेक के प्रकाश में दानवीरों को कार्य करना चाहिए। आख बन्द कर द्रव्य देने मात्र से हित की साधना कैसे हो सकती है ?

ग्वालियर नरेश का जैन धर्म तथा सस्कृति से अनुराग

ग्वालियर के नरेश जैन धर्म से प्रभावित रहे है, यह बात यहाँ की एतिहासिक जैन सामग्री से स्पष्ट होती है। स्व० महाराज माधोराव शिन्दे ने अशोक के समान धार्मिक उदार नीति को अपनाया था। जब कोलारस ग्राम में कुछ उपद्रवी ब्राह्मणो ने जैन रथ यात्रा में भयकर उपद्रव किया था, उस समय ग्वालियर महाराज ने पूर्णतया न्याय का सरक्षण करते हुए उपद्रव करने वालो को कठोर दड दिया था और जैन धर्म के गौरव की रक्षा की थी। उस समय मगरोनी के जैन सेठ राजाराम जी ने बड़ा पराक्रम दिखाकर बहुत से धर्मान्ध अत्याचारियों को तलवार के घाट पर उतारा था। जब महाराज ग्वालियर को उक्त वीर वणिक का वर्णन विदित हुआ, तब उनने सेठ राजाराम को विशेष सम्मान पूर्वक पुरस्कार प्रदान किया था। वर्तमान नरेश श्री जयाजीराव महाराज आज मध्यभारत के राजप्रमुख के रूप में अपने विचारवान प्रजा-वत्सल पिता का पदानुसरण कर रहे हैं। उनकी जैन सस्कृति के प्रति आदर भावना सुनी जाती है। सन १९५१ मई में रावराजा सरसेठ हुकुमचद जी इदौर के सन्मान समारभके अवसर पर महाराज जयाजीरावने अपने महत्वपूर्ण भाषण में कहा था—"आज चारो तरफ युद्ध का आतक छाया हुआ है और सत्य, शाति व अहिंसा की सद्भावनाए आज धूमिल पड़ गयी हैं। जितनी कि आज विषमता तथा हिन्सा के बीच हमें महर्षि महावीर के सत्य, शाति और अहिंसा के आदर्शों और सिद्धान्तो की जीवन में आवश्यकता है, उतनी कभी नही रही है। इस कारण आज उनके अनुयायिओं का प्रथम कर्त्तव्य है कि वे अपने समाज को सगठित करें और विश्वशाति के कार्य में ज्योतिर्धर का कार्य करें।"

जैन इतिहास के सम्बन्ध में उनने कहा था—"अब जबकि देश को स्वतन्त्रता मिल गई है, और परिस्थितियाँ बदल गई है, तो इन

(विदेशियों की) भ्रांतियों और केवल मतों के आधार पर निर्मित अटकलों का अंत हो जाना चाहिए। इसलिए मैं महासभा के उत्साही व्यवस्थापकों से निवेदन करूंगा, कि वे अपने प्राचीन इतिहास, उससे संबंधित घटनाओं और महापुरुषों के संबंध में शोध करवायें व प्रामाणिक साहित्य उपलब्ध करें। जिससे सत्य का प्रकाश उन महाविभूति के जीवन पर पड़ सके, जिनसे कि युगों से आप प्रेरणा और स्फूर्ति पाते रहे हैं। धार्मिक नीति के विषय में उनने कहा था– "मेरे पूज्य पिताजी की सदैव यही नीति रही थी, कि शासक को जाति विशेष की कृपा या विद्वेष से ऊपर रखा जाय और न्याय निष्पक्ष होकर किया जाय, इन्ही विचारों का समादर कर उनने कोलारस में विमान तथा रथ–यात्रा निकालने की आज्ञा प्रदान की थी। मैंने भी अपने शासक काल में उनके पद चिन्हों पर चलने का प्रयत्न किया है। मेरे शासन काल में जब पछार में विमान तथा रथ यात्रा निकालने का प्रश्न मेरे सामने प्रस्तुत किया गया, तो मैंने प्रत्येक धर्म की स्वतंत्रता को मान्यता देते हुए वहां भी विमान तथा रथ यात्रा निकालने की आज्ञा प्रदान की थी।"[1]

मुरेना यहां से चलकर संघ माघवदी दूज को प्रसिद्ध विद्वान् तथा जैन धर्म प्रभावक पं० गोपालदास जी बरैया की निवास भूमि मुरेना पहुंचा, जहां उनके द्वारा स्थापित जैनसिद्धांत विद्यालय विद्यमान है। पहले इस विद्यालय की जैन समाज में बड़ी प्रतिष्ठा थी। यह जैन समाज में धर्म विद्या के शिक्षण के लिये आक्सफोर्ड अथवा केम्ब्रिज के विद्या मंदिर सदृश माना जाता था। स्व० बरैया जी प्रतिभाशाली विद्वान थे। उनके प्रबल तर्क के समक्ष प्रमुख आर्य समाजी विद्वान दर्शनानन्द को शास्त्रार्थ में पराजित होना पड़ा था। कलकत्ते के प्रकाण्ड वैदिक विद्वानों ने उनके तर्कपूर्ण भाषण की बहुत प्रशंसा की थी। वे त्यागी तथा निस्पृह आदर्श चरित्र विद्वान थे। वे बिना पारिश्रमिक लिये धर्म के ममत्ववश शिक्षा देते थे। वे धन तथा धनिकों के दास नहीं थे। उनका जीवन बड़ा प्रामाणिक था। समाज के श्रेष्ठ विद्वानों में उनकी गणना होती थी।

उनकी कीर्ति से आकर्षित होकर निल्लीकार (दक्षिण) से एक

---

१. श्रीमंत राजप्रमुख का उद्घाटन भाषण (पृ. ४–६ देखो)

निर्ग्रन्थ मुनिराज १०८ अनतकीर्ति महाराज ज्ञान-लाभ के हेतु सन १९१९ के लगभग मुरैना पधारे थे, किन्तु दुर्दैव-वश उनकी कामना पूर्ण न हो पाई और शीघ्र ही उनका वहा स्वर्गवास हो गया।

वह घटना भी बडी विचित्र थी। मुरैना की मिट्टी में रेत का अश होने से वह गर्मी में भीषण उष्ण हो जाती है और ठंड में अत्यन्त शीतल होती है। उस जमाने में दिगम्बर मुनिराज का उत्तर भारत में कभी किसी को दर्शन नही हुआ था, अतः एक अज्ञ भक्त भाई ने सोचा, सर्दी की भीषणता से जब हमें असह्य पीडा होती है, तब इन दिगम्बर गुरु महाराज को बहुत कष्ट होता होगा, इससे उसने जिस कमरे में महाराज का निवास था, वहा एक सिगडी जलते हुए कोयलो से भरकर रख दी और कमरा बन्द कर दिया। उसने मन में सोचा, इसमें जो दोष होगा वह मुझे लग जायगा। रात्रि का समय है। महाराज ध्यान में है, कुछ बोलेंगे नही। कल कुछ कहेंगे तो देखा जायगा।

किसी को पता न था, कि मुनिराज को पुराना मृगी का रोग था, अग्नि का सपर्क पाकर अपस्मार का वेग हो गया। उससे मूछित होकर वे गिर गए और उनका पैर सिगडी की अग्नि के भीतर पड गया। पैर से जो रक्त की धारा बही, उसने उस अग्नि को बुझाया। होश में आने के बाद मुनिराज ने सच्चे महावीरो के समान दृढ मनोवृत्ति का परिचय दिया तथा शात भाव से द्वादश अनुप्रेक्षाओ के चितवन पूर्वक उस असह्य वेदना को सहन किया। कोई हल्ला नही किया, चुपचाप मौन ही रहे आए। प्रभात हुआ। दर्शनार्थी आए। भीषण दृश्य देखकर घबडा गए। सब समाज बडी दुःखी हुई, लेकिन एक का दुःख दूसरा कही बाट सकता है? सयम-अविरोधी उपचार किए गए, किन्तु वे फलप्रद न हुए। प्रायः मुनि जीवन में सयमी रहने से रोग आता नही है, और यदि कोई बीमारी असाता के उदयवश आई, तो शरीर को समाप्त होते में विलम्ब नही लगता है।

अनतकीर्ति महाराज के शरीर में धनुर्वात रोग ने आक्रमण किया। लोग किंकर्तव्य विमूढ थे। बडे बडे विद्वान थे, किन्तु कर्मों के प्रचण्ड प्रहार के आगे पडिताई क्या करेगी? उस रोग के कारण वे महाराज मूछित हो जाते थे। सारा पैर जला है। उसकी वेदना शात भाव से सहन करते थे। अब नया भीषण रोग आ गया। उस अवस्था में उनके मुख से कोई शब्द निकलते थे, तो "अरिहंता सीमधरा।" उस समय वे दुःखी श्रावको को उल्टा साहस

महाराज के गमन का भव्य दृश्य ।
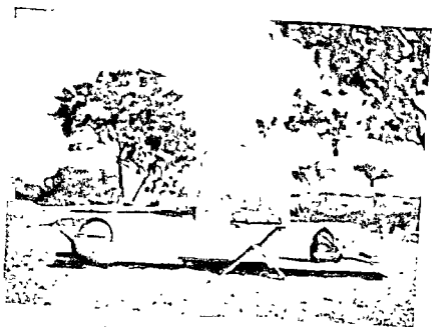
आचार्य श्री का आसन, कमडलु, पिछ्छी तथा शास्त्र ।

कुछ ग्रामवासियो के साथ आचाय महाराज।

आचाय श्री जैन मदिर के निर्माण की चर्चा करते हुए (लोणद मे)।

देते हुए कहते थे; "तुम क्यों घबड़ाते हो, शरीर नहीं चलता, उसे छोड देना, रत्नत्रय धर्म नहीं छोडना" यह कहकर पुन: "अरिहंता सीमंधरा" उच्चारण करते थे। उनकी स्थिरता, निस्पृहता, वैराग्यभाव आदि देखकर आदमी चकित हो जाता था। ऐसी स्थिति में दिखने लगता है कि इस आत्मा में भेद-विज्ञान का कितना उज्ज्वल प्रकाश है ? मूर्छा आने पर चुप हो जाते, अन्यथा 'अरिहंता, सीमंधरा' शब्द कुछ देर तक सुनाई देता था।

अब प्रभु का नाम लेते ऐसे प्राणों ने उर्ध्वलोक को प्रयाण कर दिया। देखा तो ज्ञात हुआ कि महाराज ने स्वर्गारोहण कर दिया। ऐसी विशुद्ध आत्मा का दाह संस्कार बस्ती के बाहर एक योग्य-स्थल पर किया गया था। इस कारण मुरैना अनंत कीर्ति मुनिराज की समाधिभूमि क्षेत्र के रूप में मान्य है।

पूज्य पं० गोपालदास जी वरैया के दिवंगत होने के बाद भी कुछ समय पर्यंत विद्यालय का गौरव वर्धमान रहा। पं० वन्शीधरजी न्यायालंकार पं० देवकीनंदनजी सिद्धांत शास्त्री, पं० माणिकचंदजी न्यायाचार्य सदृश उद्भट विद्वान शिक्षक थे।

उन दिनों में हमें भी वहां दो वर्ष विद्याभ्यास करने का सौभाग्य मिला था। उस समय शिक्षा प्राप्त विद्वान आज भी समाज के सेवकों में अपना विशेष स्थान बनाए हुए हैं। कार्य संचालकों की नीति में अन्तर आने से १९२२ में देवकीनंदनजी कारंजा आश्रम में चले गए। पं० वंशीधर जी न्यायालंकार ने १९२३ में स्थान बदल दिया। इस तरह श्रेष्ठ गुरु भक्त विद्वानों को बाध्य होकर जब बाहर जाना पड़ा, तब संस्था की स्थिति में अन्तर पड़ चला, और आज दिन यह कहना पड़ता है कि अब वह बात नहीं रही। वह सौरभ जाता रहा। गुरु गोपालदासजी के अनुराग वश धर्मात्मा दानी लोग आज भी संस्था को सहायता देते हैं।

पं० वरैया जी पुरुष पारस थे

प्रायः देखा जाता है, कि जब पुरुष पारस चला जाता है, तो उसके बाद उस स्थान के गौरव की रक्षा कठिन वस्तु हो जाती है। कवीन्द्र रवीन्द्र के दिवंगत होने के बाद शान्तिनिकेतन प्राणहीन सा दिखता है। गांधीजी के निधन के पश्चात सेवाग्राम भी ऐसा ही प्रतीत होता है। गुरु गोपालदास जी के बाद मुरैना विद्यालय की छाप लगाने की अब विद्वानों को जरूरत नहीं है। हमें याद है एक बड़े विद्वान को रैना

जाकर कुछ दिन इसीलिए रहना पड़ा था, कि वे लोगो से यह कह सकें हाँ भाई! हम मुरैना पढ़ आए है।" वे दिन अब कहा है ?

जिस विद्यालय में सिद्धान्त शास्त्रों का अध्ययन करने का हमें सौभाग्य मिला, उसके विषय में उपरोक्त शब्द हमे सत्यानुरोध से लिखने को विवश होना पड़ा। सुन्दर रीति से चलती हुई सस्था के पतन में प्राय: दो कारण दृष्टि गोचर होते है। एक तो यह कि वहाँ न्याय की प्रतिष्ठा नही रहती है अथवा सदाचरण के लिए स्थान नही होता है। समाज मे अपनी दलबदी के बल पर संस्था की उन्नति की आवाज उठाने को कौन रोक सकता है ? किन्तु संस्था की शुभ्रकीर्ति के सिवाय परीक्षा फल देखने से पता चल जाता है, कि इसमें सत्यांश कितना है और प्रचारपटुता (Advertisement) कितनी है। आज भी अच्छे धार्मिक बंधु संस्था के अभ्युदय के हेतु उद्योग करें, और निर्मल होकर कंटकों को दूर करें, तो स्याद्वाद-वारिधि, न्याय वाचस्पति पं० गोपालदास जी वरैया का पुण्य-स्मारक वीतराग सस्कृति की विकृति के मध्य चमका सकता है।

जब आज असंयम, उच्छृंखलता, भोग लिप्सा बधनमुक्त हो ससार को अपने आधीन बनाकर विचित्र विपदाओ का जाल बना रहे है तब आचार्य शांतिसागर महर्षि ने अपनी सिंह गर्जना से असंयम की तर्जना करते हुए समाज के उज्वल चरित्र निर्माण में आश्चर्यप्रद उन्नति दिखाई है। इसी प्रकार गुरुजी के स्मारक के संवर्धन का उपाय किया जाय, तो संस्कृति सेवी सच्चरित्र शास्त्रज्ञों की वृद्धि होना असम्भव नहीं है। जिसके हृदय में समाज की शैक्षणिक स्थिति के विषय में दर्द हो, उसे यदि समर्थ समाज-सेवियों का सहयोग प्राप्त हो जाय, तो संस्था शिक्षण क्षेत्र में ज्योतिर्मदिर की प्रतिष्ठा को पा सकती है। गुरु गोपालदास जी के अवर्णनीय उपकारों को स्मरण करते हुए उद्योग का किया जाना आवश्यक है।

आचार्य श्री के मोरेना पधारने पर शास्त्रीय परिषद का उत्सव क्षु० ज्ञानसागर जी के नेतृत्व मे हुआ। विद्यालय का अधिवेशन ग्वालियर राज्य के शिक्षण विभाग के अधिकारी रायबहादुर मुले की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। श्री जी को विराजमान कर रथ निकाला गया था। राज्य के सुप्रबंध के कारण किसी प्रकार का विघ्न नही आया। समाज के लगभग तीन हजार व्यक्ति रथोत्सव में थे। अजमेर के प्रख्यात दानी और महान धर्म सेवक रायबहादुर सेठ टीकमचन्द जी सोनी भी मुरैना पधारे थे। पन्द्रह

दिन पर्यन्त मुरैना में सम्यक्चारित्र रूप अमृत की वर्षा करके आचार्य संघ ने माघ सुदी एकम को धौलपुर के लिए प्रस्थान किया। धौलपुर की जनता ने संघ का बड़े आदर भाव से स्वागत किया। इस ओर कभी दिगम्बर साधु का विहार किसी ने न देखा और न सुना। संघ के पहुंचने से जैन धर्म की बहुत प्रभावना हुई।

राजाखेड़ा-काड वहा से संघ चला और ६ फरवरी सन् १९३० को राजाखेड़ा पहुँच गया। यहाँ भी धार्मिक समाज ने खूब स्वागत किया। जिनमंदिर के समीपवर्ती भवन में आचार्य महाराज सप्तर्षि शिष्यों सहित ठहरे। उसके साम्हने के चबूतरे पर सब त्यागी लोग ध्यान, अध्ययन, सामायिक करते थे। एक सभा मंडल पास में बनाया गया था, जहाँ तीन दिन तक धर्म प्रभावना हुई। कोई विघ्न का लेश भी न था। उस समय आचार्य महाराज के अंतःकरण ने विहार करने की प्रेरणा की, किन्तु आगत अनेक पंडितों आदि के आग्रह का विचार कर उनने विहार नहीं किया। चौथा दिन भी सानंद व्यतीत हो गया। पाँचवा दिन आया। राजाखेड़ा में कुछ पापी लोग, जो संभवतः बलि के वंशज होंगे, जन्मतः न सही, तो प्रकृति की अपेक्षा ही सही, संघ पर संकट का पहाड़ पटकने के पाप-प्रयत्न में जोर से संलग्न थे। इसी से आचार्य श्री के पवित्र अंतःकरण ने प्रस्थान करने का परामर्श किया था, किन्तु सद्भावना वश लोकानुरोध का विचार कर वे रुक गये थे।

अब पाँचवा दिन आया, किसे कल्पना थी, कि आज कल्पनातीत उपद्रव होगा, किन्तु सुयोग की बात कि उस दिन आचार्य महाराज चर्या के हेतु कुछ पूर्व निकल गए थे। आहार की विधि भी शीघ्र सम्पन्न हो गई। सब त्यागी लोग चबूतरे पर सामायिक करने का विचार कर रहे थे, कि आचार्य श्री ने आकाश पर दृष्टि डाली और उन्हें कुछ मेघ दिखाई दिए। यथार्थ में वे जल के मेघ नहीं, विपत्ति की घटा के सूचक बादल थे। उनको देखकर आचार्य श्री ने कहा "आज सामायिक भीतर बैठकर करो।"

गुरुदेव के आदेश का सब ने पालन किया। सब मुनिराज आत्मा में ध्यान में मग्न हो गए। सर्व जीवों के प्रति हमारे मन में समता का भाव है, यह उनने अपने मन में पूर्णतः चिंतवन किया और सामायिक प्रारम्भ किया। अन्य श्रावक लोग अतिथि-संविभाग के पश्चात् अपने २ भोजन में लगे।

इतने में क्या देखते हैं, लगभग पाच सौ गु डे नगी चमचमाती तलवार लेकर मुनि सघ पर प्रहार करने के हेतु छिद्दी ब्राम्हण के साथ वहा आ गए।

मुनिराज आज बाहर ध्यान नही कर रहे हैं, इससे उनकी आक्रमण करने की पाप भावना मन के मन में ही रही आई। उन नीचो ने जैन श्रावको पर आक्रमण आरम्भ किया। श्रावको ने यथायोग्य साधनो से मुकाबला किया। श्रावक लोगो ने जोर की मार लगाकर उन आततायियो को दूर भगाया था, किन्तु शस्त्र-सज्जित होने के कारण वे पुन बढते आते थे, ताकि जैन साधुओं के प्राणो के साथ होली खेलें। श्रावक भी गुरुभक्त थे। प्राणों की परवाह न करते हुए उनसे खूब लड़े। किसी का हाथ कटा, किसी की अगुली कटी, जगह जगह चोट आई।

इतने में सध्या को रियासत की सेना आई, तब यह नरपिशाचो का का उपद्रव रुका। छिद्दी ब्राम्हण पकड लिया गया। उस उपद्रव के समय सघ के साधुओ में भय का लेश भी नही था, वे ऐसे बैठे थे, मानो कोई चिता की बात ही न होवे। उनने अद्भुत आत्म सयम का परिचय दिया। उस समय मेघो ने भयकर वर्षा कर दी थी, इससे उपद्रवकारियो का मनोरथ सफल न हो पाया।

पुलिस के बडे अधिकारी मुनि महाराजो के पास आए। उनके दर्शन कर उनके मन में उपद्रवकारियो के प्रति भयकर क्रोध जागृत हुआ। वे सोचने लगे, ऐसे महात्मा पर जुल्म करने की उन नरपिशाचो ने चेष्टा कर बडा पाप किया। उनको कडी से कडी सजा देंगे।

प्रभात का समय आया। आचार्य महाराज ने यह प्रतिज्ञा की थी, कि जब तक तुम छिद्दी ब्राम्हण को हिरासत से नही छोडोगे, तब तक हम आहार न लेंगे।

पुलिस अधिकारियो ने कहा– "महाराज! बदमाशो के प्रति दया की बात आप क्यो कहते हैं?"

महाराज ने कहा– "हमारा उनके प्रति जरा भी विद्वेष नही है। हमारे निमित्त से वे कष्ट पाय, यह देखते हुए हम कैसे आहार करें?" साधु श्रेष्ठ का आग्रह देखकर उस समय उनको छोड दिया, शायद यह सोचकर कि पीछे न्याय के अनुसार इन पर कार्यवाही की जायगी। अभी तो इन तपस्वियो का आहार हो जाने दो। उस समय लोग उन पापी लोगोको धिक्कार देते थे,

प्राणतकारी शत्रु पर भी प्रेमभाव

उनका अंतःकरण भी स्वयं उनको धिक्कार देता था। सच्ची अहिंसा की प्रतिष्ठा तो ऐसे ही मुनियो में होती है। प्राण-घातक के लिए भी भाई की भावना आज की दुनिया में कौन रख सकता है। आचार्य महाराज को अब कर्मों के सिवाय और कोई भी शत्रु नहीं दिखता है।

गांधी जी के ये शब्द आचार्य शांतिसागर महाराज के विषय में कितने उपयुक्त दिखते हैं "बंधुत्व से यह मतलब नहीं है कि जो तुम्हारा बंधु बने और तुमसे प्रेम करे, उसके तुम बंधु बनो और उससे तुम प्रेम करो। यह तो सौदा हुआ। बंधुत्व में व्यापार नहीं होता और मेरा धर्म तो मुझे यह सिखाता है, कि बंधुत्व केवल मनुष्य मात्र से ही नहीं, बल्कि प्राणी मात्र के साथ होना चाहिए। हम अपने दुश्मन से भी प्रेम करने के लिए तैयार न होंगे, तो हमारा बंधुत्व निरा ढोंग है। दूसरे शब्दो में कहूँ, तो जिसने बंधुत्व की भावना को हृदयस्थ कर लिया है वह यह नहीं कहने देगा कि उसका कोई शत्रु है।"

दैव की मुख्यता का उदाहरण

आचार्य श्री के व्यवहार को देखकर कौन कहेगा, कि इनकी दृष्टि में भी कोई शत्रु नाम की प्राणधारी मूर्ति है? अपने अनन्त प्रेम से ये समस्त विश्व को मंगलमय बनाते हैं।

मैंने सन् १९४९ में कवलाना मे महाराज से दैव और पुरुषार्थ पर चर्चा छेड़ी थी। उस प्रसंग में धौलपुर की घटना का उल्लेख करते हुए उनने कहा था—"धौलपुर के राजाखेडा ग्राम में छिद्दी ब्राम्हण पांच सौ आदमी लेकर हमारे प्राण लेने आया था। उसके आने से एक घंटा पहले हम बाहर के बदले भीतर सामायिक करने बैठ गये थे। बाद में मूसलधार वर्षा आ गई। इसके अनंतर पुलिस के आने से वे लोग भाग गए।" इस घटना के द्वारा वे पुरुषार्थ के एकान्तवाद का निराकरण करते हुये कहने लगे "ऐसी स्थिति में दैव बलवान है"। काम करना हाथ में नहीं है। हाथ में होगा भी तो हम प्रतीकार न करेंगे। शेर मार्ग में आता है। वह खायगा, तो भी हम हटेंगे नहीं। हमारा कर्म पर दृढ विश्वास है। कर्म प्रतिकूल न होगा, तो समुद्र में भी फेंके जाने पर कुछ नहीं होगा।"

महाराज ने यह भी कहा था—"कोई गाली देता है, कोई प्रशंसा करता है। सब अपना अपना काम करते हैं। आत्मा को भी अपना काम करना

चाहिये, तब कल्याण हो। धर्म मार्ग पर चलोगे, तो मोक्ष मिलेगा। इसमें शंका क्या ? भगवान ने सड़क बताई है।"

एक दिन महाराज कहने लगे–'हमारी भक्ति करने वाले को जैसे हम आशीर्वाद देते हैं, वैसे ही हम अपने प्राण लेने वालों को भी आशीर्वाद देते हैं। उनका कल्याण चाहते हैं।" इन बातों की साक्षात् परीक्षा राजाखेड़ा के समय हो गई। ऐसे विकट समय पर आचार्य महाराज का तीव्र पुण्य ही संकट से बचा सका, अन्यथा कौन शक्ति थी, जो ऐसे व्यवस्थित षड्यन्त्र से जीवन की रक्षा कर सकता ?

इस प्रसंग पर ब्राह्मण वर्ण के विषय में भगवान ऋषभदेव का कथन किसे स्मरण न आयगा, कि इस कलिकाल में ब्रह्म का दर्शन करने वाले कुलों में प्रसूत पुरुष परमहंस वृत्ति वाले श्रेष्ठ संतो के तथा उनके शासन के प्रति अत्यन्त निर्दय व्यवहार करेंगे ? शिकारी हरिणो के प्रति बिना कारण विद्वेष धारण करते हैं, इसी प्रकार पापी जीव भी अकारण साधुओं के प्रति दुर्भावधारण करते हैं। कदाचित् आचार्य महाराज' का विहार हृदय की प्रेरणा के अनुसार हो गया होता, तो राजाखेड़ा काण्ड नही होता, किन्तु भवितव्य अमिट है। और भी जगह देखा गया है, भक्त लोग महाराज से अनुरोध करते है और करुणाभाव से वे लोगो का मन रखते है, तब गडबड़ी हुई है। जब महाराज ने आत्मा की आवाज के अनुसार काम किया है, तब कुछ भी बाधा नही आई है।

एक दृष्टि से राजाखेड़ा काण्ड का बडा महत्व है। कमठ के उपसर्ग से भगवान पार्श्वनाथ की महिमा अति विकसित हुई थी, इसी प्रकार इस संकट के द्वारा आचार्य श्री की आत्म–सामर्थ्य अधिक प्रकाशमान हुई। धौलपुर स्टेट ने तत्परता पूर्वक कर्तव्य पालन किया। साधुओं का मार्ग दूसरा है और शासकों का कर्तव्य पृथक है। महापुराण में आचार्य जिन सेन स्वामी ने लिखा है–

"नरेश यदि दण्ड धारण करने में शैथिल्य दिखावें, तो 'प्रजा में मत्स्य न्याय की प्रवृत्ति हो जाती है। जिस प्रकार बड़ा मत्स्य छोटे को खा जाता है, इसी प्रकार बलवान व्यक्ति निर्बल को विनष्ट कर देगा।

आगरा

राजाखेड़ा से चलकर संघ ता. १३ फरवरी सन् १९३०' को आगरा पहुंचा। बडा शानदार स्वागत किया गया था। १५ फरवरी को बेलनगज के मंदिर जी से रथोत्सव निकला था।

आचार्य शांतिसागर महाराज अपने सप्त दिगम्बर शिष्यों सहित रथ के आगे आगे थे। जुलूस कचेरीघाट, जुम्मा मसजिद, जौहरी बजार आदि मुख्य रास्तों पर से बड़े वैभव के साथ निकला था, कारण सोने चांदी का बहुमूल्य सामान होने से उसकी शोभा अधिक वृद्धिगत हो गई थी। हजारों आदमी 'जैन धर्म की जय', 'आचार्य शांतिसागर महाराज की जय'—घोष कर रहे थे। फाल्गुन वदी चौदस को मोतीकटरा में आचार्य महाराज का केश लोच हुआ था। लगभग पंद्रह हजार जनता इकट्ठी हुई थी।

आगरे में जैन समाज की अच्छी संख्या है। इससे महाराज के उपदेश से बहुतों ने लाभ लिया। महाराज के असाधारण व्यक्तित्व के प्रभाव से कठिन से कठिन नियम लेना भी लोगों को सरल लगने लगता था। यह तो महाराज के पास आने पर अनुभव में आता है, कि कड़ी प्रतिज्ञा लेने में उसकी कटुता नहीं दिखती। मेरा व्रत बड़ा है, मैं बड़ा व्रती हूं, यह अहंकार नहीं होना है। महापुराण में लिखा है कि चक्रवर्ती भरतेश्वर षट्खंड की विजय करते हुए जब वृषभाचल पर्वत पर अपनी विजय प्रशस्ति लिखने, गए तो उनका मान जाता रहा, कारण पर्वत पर पूर्व में षट्खंड विजेता अगणित चक्रवर्तियों के नाम अंकित थे। इससे चक्रवर्ती की यह धारणा बदल गई, कि मैं ही अकेला पृथ्वी का स्वामी नहीं हूं। मेरे सदृश अगणित हो चुके हैं। पश्चात् चक्रवर्ती ने काकिणी रत्न को लेकर पर्वत पर लेख लिखा, कि नाभिराज महाराज के पौत्र तथा भगवान वृषभनाथ के पुत्र ने षट्खंड से मंडित इस पृथ्वी को अपने अधीन किया है। महापुराणकार के महत्वपूर्ण शब्द ये हैं —

"चक्रवर्ती भरत ने काकिणी रत्न को लेकर जब लिखने की इच्छा की, तब उनकी दृष्टि हजारों राजाओं के नामों पर पड़ी। असंख्यात कोटि कल्पकाल में जो नरेश हो चुके हैं, उनके नामों से आकीर्ण पर्वत को देख चक्रवर्ती चकित हुए। इस कारण उनका मान कुछ ढीला पड़ा और वे कुछ लज्जित से हुए, यह भरत क्षेत्र अब दूसरों के शासन के आधीन नहीं रहा है, ऐसा भ्रम दूर किया। उनने स्वयं किसी एक चक्रवर्ती का नाम मिटाकर यही सोचा कि संसार में सभी लोग अपने अपने स्वार्थ में तत्परायण रहा करते हैं। (महापुराण सर्ग ३२)

पर्वत पर उनने अपने लेख में लिखा था "श्री नाभिराय के नाती श्री वृषभनाथ के पुत्र ने षट्खंड से मंडित इस पृथ्वी पर शासन किया।

सर्व नरेन्द्रो के विजेता ने लक्ष्मी को जानेवाली मानकर तथा जगत में विसर्पण शीला कीर्ति को इस पर्वत पर अचल बनाया।"

वृषभाचल पर जैसे चक्रवर्ती का अहकार दूर होता है, मन में मार्दव भाव जागता है, इसी प्रकार उग्र तपस्वी आचार्य महाराज को देखते ही बडे-बडे तपस्वियो का अहकार दूर होता है, और ऐसा लगता है, कि मै तो सयम के शिशु वर्ग में हूं। अभी तो मुझे बहुत मजिल तय करनी है। अपने व्रत के बोझे के हल्केपन की कल्पना हो जाने से उसका भार नही लगता है। सभवत यही मनोवैज्ञानिक कारण होगा, जो आचार्य श्री के समीप उपवासादि व्रतों को ग्रहण कर पालन करने में भारीपन नही लगता, व्यथा नही होती। उनकी अचल और स्थिर प्रवृत्ति को देखकर मनुष्य अपने मनमें सोचता है, "देखो इतनी घोर तप करते हुए भी ये अडिग रहते है। मै जरा सा नियम लेकर भी क्या डिग जाऊगा? मै भी मानव हूं। गुरुदेव का आदर्श स्मरण करते हुए अवश्य प्रतिज्ञा पालन में उत्तीर्ण होऊगा।"यह सोचकर बहुत लोगो ने महाराज के पास से विविध सयम ग्रहण किए। उनमे नियम लेने वाले बडे सुखी देखे गए। नागपुर में सन १९२६ के जनवरी में पधारने पर एक कामठी के ग्वाले ने दूध में पानी न मिलाने की प्रतिज्ञा कर ली थी, आज वह बहुत समृद्ध तथा सुखी है। ऐसा बहुत लोगो का अनुभव है। इसके विपरीत कहने वाले भी कोई कोई विषय लोलुपी होंगे, किन्तु वे नगण्य है।

सयम धारणा की प्रेरणा

डरकर बैठने से जीवन के अमूल्य क्षण व्यतीत होते है, न जाने किस क्षण यमराज आकर गला दबा दे, अतः विषयी लोगो की चक्करदार बातो के भ्रम में न फसकर सयमी जीवन की ओर सबको प्रवृत्त होना चाहिए। महाराज के जीवन द्वारा ही यह शिक्षा प्राप्त होती है। उनके सपर्क में रहने वाले कई भाई पहले त्याग शून्य थे, अब वे बढते बढते बडे से बडे त्यागी हो गए। एक मुनिराज सुनाते थे, कि हम पहले आचार्य महाराज का कमडलु हाथ में लेकर साथ में ही चलते थे, फिर उनके सत्सग से थोडा थोडा सयम पालने लगे, और अब हमारे हाथ में ही वह कमण्डलु आ गया।

आचार्य महाराज को सार रूप वस्तु रत्नत्रय दिखती है। उसके सिवाय पुद्गल का वैभव पूर्णतया सार रहित दिखता है। पुद्गल का वह रूप उनके मन को जचता है, जो वीतरागता की विमल ज्योति को जगाता

हैं। इसी से वे तीर्थंकरों आदि की चरण रज से पवित्र पर्वतों की वंदना के हेतु हजारों मील पैदल यात्रा को निकले हैं, किन्तु रागरंजित पुद्गल का वैभव उनके मन को नहीं खेंचता है। इसलिए उनने कलापूर्ण आगरा के २२ जिन मंदिरों का ध्यान से दर्शन किया, किन्तु जगत में विख्यात ताजमहल देखने की इच्छा भी न की, शाहजहां के किले को देखने की तनिक भी आकांक्षा न की, और भी कलामय कृतियों की ओर उनका मन नहीं गया। इसका क्या कारण है? क्या वे ललित कलाओं से द्वेष करते हैं? इसका यह कारण नहीं है कि आत्म सौन्दर्य का दर्शन करने से पुद्गल का वैभव उन्हें सारशून्य दिखता है, क्षणिक प्रतीत होता है तथा राग द्वेष के विकारों का संवर्धक होने के कारण आत्म सौन्दर्य का संहारक दिखता है? जिस इन्द्रधनुष को जगत देख हर्षित होता है, कविगण विविध कल्पनाओं द्वारा जिसे अद्भुत सौन्दर्य का पुंज मानते हैं, वही इन्द्रधनुष वैज्ञानिक की दृष्टि में साधारण वस्तु बन जाता है कारण वह उसके अंत-स्तत्व को जान चुका है कि वह इन्द्र का धनुष नहीं है। जल कणों के भीतर से सूर्य किरणें निकलने से यह वर्ण परिवर्तन होता है, इसी प्रकार आत्म विज्ञान वाले महामुनियों को बाह्य रागवर्धक सामग्री आकर्षण तथा आराधना की वस्तु नहीं दिखती है। उन्हें वीतरागता पूर्ण साधन सामग्री प्रिय लगती है। शाहजहां की कामिनी की स्मृति में खड़ा किया गया ताजमहल उनके मन में दर्शनेच्छा को नहीं जगाता, हां, श्रमण बेलगोला में बाहुबलि भगवान के चरण अवश्य उनके चित्त को खेचते हैं। विश्व पर्यटक और विख्यात लेखक प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ९ जुलाई सन १९५१ को बाहुबलि स्वामी के दर्शनार्थ पहुंचे थे। उनने लिखा है। "मैं आज यहां आया और इस आश्चर्यजनक मूर्ति को देखा और प्रसन्न हुआ।" बाहुबलि के चरणों में जाने से वीतरागता के भाव जगते हैं, मोह ज्वर मन्द होता है, आत्म कल्याण का भाव उनके चरणों की आराधना से जगता है। ये बातें आगरे के मकबरे में कहां हैं? वहां शाहजहां की अपनी रमणी के प्रति अत्यन्त उत्कृष्ट आसक्ति का चित्र समक्ष आता है। रोगी पुरुषों के लिए वह सौन्दर्य का भंडार दिखता है, वीतरागी के लिए वहां सौन्दर्य का एक कण भी नहीं है।

मुनियों को पौद्गलिक होते हुए भी नंदीश्वर द्वीप के अकृत्रिम जिनबिम्बों की परोक्ष वंदना करने से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह

दूसरी वस्तुओं में नही आता है। द्यानतराय जी ने लिखा है :--

"कोटि शशि भानुदुति तेज छिप जात है।
महा वैराग परिणाम ठहरात है।
वयन नहि कहे लखि होत सम्यक् धरम्।
भवन बावन्न प्रतिमा नमो सुख करम्॥ ९॥"

नंदीश्वर भक्ति में उन जिनेन्द्र बिम्बो को अप्रतिम-अतुलनीय कहा है-[१]

ऐसी आत्म सौन्दर्य को विकसित करनेवाली तथा अनंत सुख की जननी सामग्री की ओर ही मुनियो का मन जाता है, और अनंत दुखो को उत्पन्न करने में कारण भूत रागाग्नि को प्रदीप्त करनेवाली वस्तुओ में उनका मन विश्रान्ति नही पाता है। कदाचित् ऐसी वस्तु का सानिध्य हो जाय तो वे वैराग्य के प्रकाश में उस वस्तु के स्वरूप को विचारते हुए अपनी निर्मलता को अक्षुण्ण रखते हैं, जैसे विष की भस्म बनाकर योग्य अनुपान से सेवन करने पर वह विकार नही करता है। इसी प्रकार वीतरागता की दृष्टि से देखे गये पदार्थ विकृति नही पैदा करते हैं। श्रेयस्कर मार्ग यही हैं, कि अपनी निर्मलता वर्धक वस्तुओ का ही आश्रय लिया जाय।

इस कारण आगरा पहुंचकर विश्व विख्यात सौन्दर्य तथा कलामय स्थलों को न देखने वाले ये आत्मदर्शी महापुरुष क्या स्वय आश्चर्य के आगार नही हैं ?

यहाँ बडे बडे जैन विद्वान हो चुके हैं

सघ आगरा में पीर कल्याणी की नशिया में ठहरा था। आहार के लिए बेलनगज आदि मुख्य मुख्य भागो में मुनिराज जाते थे। सघ द्वारा आगमोक्त विषयो पर उपदेश हुआ करता था। इस आगरा का प्राचीनकाल में बडे बडे जैन कवियो से बडा सबध रहा है। पच मगल पाठ बनाने वाले कवि रूपचद जी, उच्च कवि भूधरदासजी आदि यहाँ के ही निवासी रहे हैं। प० गोपालदासजी के गुरु प० बल्देवदासजी भी आगरा में रहा करते थे।

हिन्दी जगत् के उज्वल आध्यात्मिक कवि बनारसीदास जी भैया भगवतीदासजी आदि का आगरे से घनिष्ठ सम्बध रहा है। आगरा के

---

१ "सर्वज्ञप्रतिमानामप्रतिमानाम्"

भव्य जीवों को धर्मामृत के द्वारा परितृप्त करते हुए सघ ने जैन धर्म की खूब प्रभावना की। आगरे मे संघ को एक ही बात आकुलता उत्पन्न करती थी कि मुनि पायसागर जी गोकाक वालो की प्रकृति बिगड गई थी और उनका शरीर क्षीण होने लगा था। अतः आचार्य महाराज ने एक ब्रह्मचारी तथा मुनि नेमिसागर जी को उनकी परिचर्या के हेतु आगरे में छोड़ा था। मुनि के बीमार होने पर वैयावृत्य की बात तो सबको महत्व की दिखेगी, किन्तु श्रावक की भी प्रकृति बिगड़ने पर आचार्य श्री का ध्यान प्रवचन-वत्सलता के कारण विशेष रूप से जाता है। आचार्य श्री श्रेष्ठ पुरुष होते हुए भी अपने को साधुओ मे सबसे छोटा मानते है।

एक बार कवलाना में १९४६ में ब्रह्मचारी फतेचन्द जी परवार भूषण नागपुर वाले बहुत बीमार हो गये। उस समय आचार्य महाराज उनके पास आकर बोले "ब्रह्मचारी! घबड़ाना मत, अगर यहा के श्रावक लोग तुम्हारी वैयावृत्य में प्रमाद करेंगे, तो हम तुम्हारी सम्हाल करेंगे।" जब ब्रह्मचारी जी से कवलाना में भेंट हुई, तब उनने आचार्य श्री की सान्त्वना और वात्सल्यभाव की बात कही। उससे ज्ञात हुआ कि महाराज गुणो के रत्नाकर है। उनके हृदय मे अगणित विशेषताए छिपी हुई है।

यहाँ मुनि नमिसागर महाराज को पायसागर जी की परिचर्या के लिए छोडकर आचार्य महाराज पूर्णतया निश्चिन्त होगए, कारण वैयावृत्य करनेवाले को जितना दृढ प्रकृति का होना चाहिये, वह बात उनमें खूब है। एक बार लगभग तीन वर्ष पूर्व अजमेर में नमिसागर महाराज के दर्शन हुए। वहा सर सेठ भागचद जी सोनी के यहा विधान महोत्सव में हमने चर्चा की, तब वे बोले, "नमिसागर बडी कडी प्रकृति का है।" उनकी कडी प्रकृति का उदाहरण इससे अच्छा और क्या होगा, कि आंखों की पीडा होने पर वे लाल मिर्च के पिसे हुए बीजो को आखों में आजते थे, और दाह होते समय जरा भी नही घबड़ाते थे। मैने नमिसागर महाराज से पूछा था, "आप यह क्या गजब करते है, इससे कष्ट नही होता है।" महाराज बोले, थोडी देर बाद नेत्रो में बहुत शीतलता आ जाती है।" उनकी उग्र तपस्या की उत्तरभारत के लोगो में पर्याप्त प्रसिद्धि भी है।

योग्य परिचर्या आदि होते हुए भी जब पायसागर जी की प्रकृति

नही सुधरी, तब कुछ दक्षिण के भाई आगरा आए और उनको अपने साथ कोल्हापुर ले गए थे।

आगरे से विहार करता हुआ आचार्य संघ चैतवदी ६ को फिरोजाबाद के मेले में पहुचा था। यहा जैन समाज अच्छी सख्या में है। पंडित गोपालदास जी बरैया के समान जैन धर्म के प्रभावक विद्वान प० पन्नालाल जी न्याय दिवाकर फिरोजाबाद निवासी ही थे। वे न्यायशास्त्र के अद्वितीय पडित थे, शास्त्रार्थ करने की कला में पूर्ण निपुण थे। उस समय भारतवर्ष के जैनियो में उनका आदर था। अन्य धर्मी विद्वान भी उनके नाम से घबडाते थे। यहाँ सात जिनमदिर है। यहा भगवान चद्रप्रभु स्वामी की एक हाथ ऊची बडी मनोज्ञ एव सातिशय प्रतिमा है। उनका दर्शन करते ही समतभद्र स्वामी का यह पद्य स्मरण में आए बिना नहीं रहेगा:—

"चन्द्रमा की किरणो के समान गौरवर्ण, जगत् में अत्यन्त रमणीय दूसरे चन्द्रमा के सदृश, हृदय में विद्यमान कषाय के बधन को जीतनेवाले, महान पुरुषो के द्वारा अभिवन्दनीय, मुनीद्र, जिन भगवान चद्रनाथ स्वामी को मैं प्रणाम करता हू।"

यह वही पद्य है, जिसे समन्तभद्र स्वामी ने पढा था और शिवपिंडी फट कर चद्रप्रभु भगवान की मूर्ति प्रगट हुई थी।

एक समय दक्षिण में आचार्य श्री के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि समतभद्र स्वामी के प्रणाम करते समय भगवान चद्रप्रभु की ही मूर्ति प्रगट हुई, अन्य तीर्थंकरो की मूर्ति क्यो नही प्रगट हुई? स्वयभू स्तोत्र में तो चौबीसो भगवान का स्तवन है"—

इस प्रश्न का उत्तर सामान्यतया अन्य विद्वान यही देंगे कि यदि शीतलनाथ भगवान की मूर्ति होती, तो भी शका उस विषय में उपस्थित की जाती? अतः उक्त प्रश्न का कोई महत्व का नहीं है।

मार्मिक समाधान

आचार्य महाराज ने ऐसा समाधान नही दिया था। उनने अपने उत्तर के साथ सुन्दर युक्तिवाद दिया था। महाराज ने कहा-"चौबीस तीर्थंकरो के विशेष भक्त चौबीस यक्ष यक्षी कहे गये हैं। भगवान

१ चद्रप्रभ चद्रमरीचिगौर चद्र द्वितीय जगतीवकान्तम्।
वदेऽभिवद्य महता मृगीन्द्र जिन जितस्वान्त कषायबधम्।

'चद्रप्रभु' की यक्षी ज्वालामालिनी है। ज्वालामालिनी यक्षी ने अपने विशेष आराध्यदेव चद्रनाथ स्वामी की मूर्ति प्रगट करके जगत मे उनके नाम का जयकार कराकर आनन्द का अनुभव किया। उस स्तोत्र में बीजाक्षर 'वन्दे' है। जिस क्षण वन्दे शब्द स्वामी समतभद्र के मुख से निकला, उसी समय चद्रप्रभ भगवान की अपूर्व प्रतिमा प्रगट हुई थी। आचार्य श्री के समाधान से उपस्थित उद्भट विद्वान उनके विशिष्ट अनुभव और क्षयोपशम से प्रभावित हो गए थे।'

वहाँ से चलकर सघ एटा आया। बाद में जलेसर पहुचा, पश्चात् हाथरस में धर्म प्रभावना तथा लोक कल्याण करता हुआ अलीगढ पहुचा।

मथुरा चातुर्मास

अलीगढ में संघ का भव्य स्वागत हुआ। खूब धर्म प्रभावना हुई। वर्षाकाल समीप आ जाने से सघ ने मथुरा पहुचकर चातुर्मास करने का निश्चय किया। मथुरा नगर प्राचीन काल से ही जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है।

समाज में यह प्रसिद्ध है कि अतिम अनुबद्ध केवली जम्बू-स्वामी का निर्वाण चौरासी मथुरा से हुआ है। कवि राजमल्ल ने जबू-स्वामी चरित्र में लिखा है –

"माघ शुक्ल सप्तमीके शुभ दिन में विपुलाचल पर्वत के शिखर से सुधर्म केवली ने मोक्ष प्राप्त किया। उस दिन भगवान जम्बू-स्वामी मुनि-राज को, जब दिन का आधा पहर बाकी था केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।"[1]

इसके पश्चात गंधकुटी में विराजमान होकर उन महाप्रभु ने मगध आदि बडे बडे देशो में तथा मथुरा आदि नगरो में विहार किया। इसमें केवली भगवान ने १८ वर्ष पर्यंत धर्मोपदेश देते हुए लोगों को आनद प्रदान किया। इसके अनतर उन केवली भगवान का विपुलाचल पर्वत से मोक्ष हो गया। वे अष्ट कर्मा से मुक्त होकर अविनाशी अनत सुख के स्वामी हो गये।[2]

---

१ तपोमासे सिते पक्षे सप्तम्या च शुभेदिने ।
निर्वाण प्राप सौधर्मो विपुलाचलमस्तकात् ॥११०॥
तत्रैवाहनि यामार्ध व्यवधानवति प्रभोः ।
उत्पन्न केवलज्ञान जम्बूस्वामि मुनेस्तदा ॥११२॥

२ विजहर्ष ततोभूमौ श्रितो गधकुटी जिन ।

इस कथन से यह ज्ञात होता है कि जबूस्वामी का मोक्ष मगध देश की राजधानी राजगृही के समीपवर्ती विपुलाचल पर्वत से हुआ था । जब स्वामी ने अनेक देशो में अठारह वर्ष पर्यंत विहार किया था, उनमें मथुरा का भी उल्लेख है । अत गध कुटी का आगमन मथुरा में मानना होगा; निर्वाण स्थल मानना असम्यक है ।

"मथुरा में वीर भगवान को, अहिच्छत्र में पार्श्वनाथ स्वामी को मै नमस्कार करता हूँ । जबूवन के मध्य से मोक्ष प्राप्त करनेवाले जबू मुनीश्वर की वदना करता हूँ ।"[1] हरिवशपुराण मे विपुलाचल पर्वतको विपुल श्रीयुक्त लिखा है–"आरुरोह गिरितत्र विपुल विपुलश्रिय' (३-६-२) अत वहा पर ही जबू वृक्ष का वन रहा होगा, यह मानना सगत दिखता है, कारण जबू स्वामी चरित्र में लिखा है –"ततो जगाम निर्वाण केवली विपुलाचलात्। इस कारण मथुरा को जम्बूस्वामी की निर्वाण भूमि मानना आगमोक्त बात नही है । ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर विदित होगा कि मथुरा ने जैन धर्म की प्राचीनता को प्रमाणित करनेवाली अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान की है ।

जैन सस्कृति का अत्यन्त प्राचीन केन्द्र

मथुरा के ककाली टीला की खुदाई में डा फुहरर ने अनेक महत्वपूर्ण जैन मूर्तिया प्राप्त की थी, जो लखनऊ के सग्रहालय में है । मथुरा के सग्रहालय में लगभग ९० दिगम्बर मूर्तिया है । हाल की खुदाई में और भी जैन मूर्तिया उपलब्ध हुई है, किन्तु वे सब प्राय खडित है । मथुरा की खुदाई में एक भी श्वेताम्बर मूर्ति नही प्राप्त हुई है । सभी दिगम्बर जैन मूर्तिया ही है।

मगधादि–महादेश–मथुरादि–पुरीस्तथा–।।११९।।
कुर्वन् धर्मोपदेश स केवलज्ञानलोचनः ।
वर्षाष्टदशपर्यन्त स्थितस्तत्र जिनाधिप ।।१२०।।
ततो जगाम निर्वाण केवली विपुलाचलात् ।
कर्माष्टकविनिर्मुक्त शाश्वतानदसौख्यभाक् ।।१२१।।
जबूस्वामीचरित्र–सर्ग १२

[1] महुराए अहिछित्ते वीर पास तहेव वदामि ।
जबु मुणिदो वदे णिव्वुइपत्तो वि जबुवणगहणे ।।
प्राकृतनिर्वाणकाड

मथुरा में एक देवनिर्मित बौद्ध स्तूप मिला है, जो शक सम्वत् ७९ का अर्थात् ईस्वी सन ७९+७८=१५७ का है। उसकी भाषा प्राकृत है और लिपि है ब्राह्मी। उस टीले में ११० जैन शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जो प्रायः कुशान वंशी राजाओं के समय के हैं। स्मिथ महाशय उनको ईसा की प्रथम तथा द्वितीय सदी का मानते हैं। एक खड्गासन जैन मूर्ति पर लिखा है। यह अरहनाथ तीर्थंकर की प्रतिमा ७९ सम्वत में देवों के द्वारा निर्मित इस स्तूप की सीमा के भीतर स्थापित की गई।"

महत्वपूर्ण स्तूप

इस स्तूप के विषय में फुहरर साहब लिखते हैं "यह स्तूप इतना प्राचीन है, कि इस लेख की रचना के समय स्तूप आदि का वृतान्त विस्मृत हो गया होगा। लिपि की दृष्टि से यह आदि लेख इंडोसिथियन संवत् (शक) अर्थात् १५० ईस्वी का निश्चित होता है। इसलिए ईस्वी सन से अनेक शताब्दी पूर्व यह स्तूप बनाया गया होगा। इसका कारण यह है कि यदि उसकी इस समय रचना की गई होती, जब कि मथुरा के जैनी सावधानी पूर्वक अपने हाल को लेखबद्ध कराते थे, तो इसके निर्माताओं का भी नाम अवश्य ज्ञात रहता।"[1]

इस विषय में स्मिथ महाशय का भी यही कथन है।[2] अतः

१ 'The stupa was so ancient that at the time, when the inscription was incised, its orgin had been forgotten. On the evidence of its character the date of the inscription may be referred with certainty to the IndoSythian era and is equivalent to A.D,150.Thestupa must therefore have been built several centuries before the begining of the Christian era, for the name of its builders would assuredly have been known, if it had been erected during the period when the Jains of Mathura carefully kept record of their donations.'

यह सम्भव है कि ईसवी सन् के पूर्व उसका निर्माण हुआ होगा और वह कम से कम प्राचीनतम बौद्ध स्तूप के बराबर प्राचीन रहा होगा।

ईसा से दो सदी पूर्व की जैन सामग्री

मथुरा संग्रहालय की दूसरी रिपोर्ट में लिखा है, कि मथुरा के ककाली टीला में ईसा से दो सदी पूर्व की महत्वपूर्ण जैन सामग्री उपलब्ध होती है।[1] रिपोर्ट के पृष्ठ ३९० ईस्वी सन १६२ की जैन तीर्थंकर वृषभनाथ की मूर्ति का उल्लेख है जो कि एक कुटुम्बिनी ने विराजमान की थी, तथा जिसने अपने पति, श्वसुर तथा गुरु के नाम का उल्लेख किया है।[2]

इस देव निर्मित स्तूप के विषय में यशस्तिलक चम्पू की कथा विशेष महत्व पूर्ण है। उसमें बताया है, कि मथुरा नरेश की महादेवी उर्मिला रानी ने अष्टाह्निका महापर्व के आगमन पर सदा की भांति मथुरा में जिन धर्म के रथ निकाले जाने में सपत्नी बुद्धदासी द्वारा विघ्न का जाल रचा देखा, तब चिन्तित हो महारानी ने सोमदत्ताचार्य के समीप जाकर कहा "भगवन् मैंने प्रतिज्ञा की है यदि आज से दो, तीन दिनमें होने वाले अष्टाह्निका की पूजामें पूर्व क्रम के अनुसार जिन भगवान की पूजा के हेतु मेरा रथ निकलेगा, तो मेरे शरीर स्थिति में कारण रूप वस्तुओं के प्रति मेरे मन में अभिलाषा है अर्थात् तब मैं अन्न-जल लूंगी, अन्यथा मेरी अभिलाषा नहीं है।"[3]

वज्रकुमार द्वारा धर्म प्रभावना का नगर

उस समय उपस्थित श्री वज्रकुमार मुनिनाथ ने कहा-"माता आप चिन्ता न करो, हम सरीखे आपके बालक के होते हुए अर्हन्त भगवान की पूजा में विघ्न नहीं आयगा।" इसके पश्चात् वज्रकुमार मुनिराज द्रुत

---

१ A famous jain establishment existed in kankalitila from the 2nd century B. C

२ Along the opposite wall of the rectangle in front of Bay No 2 is installed, the image of Jain Tirthankar Rishabhanath (B, 4) dedicated in the year 84 (A D 182) of Kushan king Vasudev by Kutambani who mentions the name of her husband, father-in-law & spiritual teacher.

३ "कि यद्येतस्मिन्द्वित्रि दिन भाविन्यष्टमहामहे पूर्वक्रमेण जिन पूजार्थं मथुरायां मदीयो रथो भविष्यति तदा मे देहस्थिति हेतुषु वस्तुषु साभिलाषं मनः अन्यथा निरभिलाषम्."

गति से विद्याधरपुर में पहुचे और भास्वर देव विद्याधर आदि को अपने आगमन का कारण मथुरा में जिनेन्द्र के रथ के विहार कराने की आवश्यकता बताई।

पश्चात् दैविक चमत्कार तथा वैभव के साथ मथुरा भगवान जिनेन्द्र के रथ का विहार हुआ और उनके निमित्त से मथुरा में अर्हन्त भगवान की प्रतिमा युक्त एक स्तूप की स्थापना हुई "मथुरायां नक्रचरंण परिभ्रमय्यार्हत् प्रतिविम्बाङ्कितमेकं स्तूप तत्रातिष्ठपत्।" अतः आज भी उस तीर्थ की देव निर्मित नाम से ख्याति है। "अतएवाद्यापि तत्तीर्थं देव निर्मिताख्यया प्रथते।" (यश ति पृ.-३१४-३१५ अध्याय ६ कल्प १८,) इसी कारण प्रभावनांग में वज्रकुमार का नाम समन्तभद्र स्वामी ने अपने रत्नकरंड श्रावका चार में लिखा है। इस वर्णन में आगत अद्यापि शब्द से विदित होता है कि सोमदेव सूरि के समय पर दसवीं सदी में वह स्तूप विद्यमान था। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से मथुरा की सामग्री का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है और उससे जैन धर्म की प्राचीनता पर महान प्रकाश पडता है।

रेवती रानी मथुरा की ही थी अमूढ दृष्टि अंग में प्रसिद्ध रानी रेवती मथुरा के नरेश महाराज वरुण की रानी थी। मथुरा के आसपास के टीलो में और भी महत्व पूर्ण ऐतिहासिक सामग्री छिपी हुई है। इससे मथुरा को जैन संस्कृति का महान केन्द्र मानना पड़ता है, किन्तु जम्बू स्वामी की निर्वाण भूमि माने जाने का आधार नही मिला। चौरासी मथुरा में जंबू स्वामी के चरणो का पूजा में कोई बाधा नही है मुक्ति लाभ करने वाली आत्माओ के चरणो की स्थापना दूसरी जगह भी हो सकती है। चरण तो मूर्ति का खण्ड होने से पूज्य नहीं होगा, अतः चरण चिन्हो की ही स्थापना की जाती है, और की जानी चाहिए। श्वेताम्बरी में चरणों की स्थापना करके पूजा करते है। शिखर जी का मुकदमा जब प्रीवि-कौंसिल में लदन गया था, तब वहां चरण और चरण चिन्ह पूजा का भेद उपस्थित हुआ था।

महा तपस्या चातुर्मास में आचार्य शांतिसागर महाराज मथुरा में रहेंगे, इससे ऐसा लगा मानो कृष्णपुरी मथुरा में पुनः वीतराग शासन की प्रभावना का पुण्य-युग अवतीर्ण हो गया हो। दूर दूर के हजारो लोगो ने आकर जीवित तीर्थ का दर्शन कर अपने को धन्य

माना था। आचार्य महाराज ने घोर तप करना प्रारभ कर दिया, सात सात, आठ आठ उपवास पूर्वक आहार लेना साधारण बात हो गई थी। देखने वाले जैन अजैन सभी लोग चकित होते थे। जो मथुरा पांच पाचसेर मिष्टान्न उडाने वाले बहुभोजी वर्ग के लिए विख्यात है, वहा आठ आठ दिन तक अन्न कण भी न ले और जल की बिन्दु भी न ग्रहण किए आध्यात्मिक साधना में बडी सावधानी के साथ सलग्न आचार्य श्री को देख किसके अन्त करण पर प्रभाव नही पडेगा ? मुनि नेमिसागर जी ने वसतरुद्रोदर व्रत प्रारभ किया था। श्री नमिसागर मुनि ने लघुसिंह निःक्रीडित व्रत किया था। और भी सघ के साधु महान तपश्चर्या में समुद्यत थे। लोगो को ऐसा लगता था, कि हम इस प्रसिद्ध मथुरापुरी में पुराण प्रसिद्ध सप्तऋषियो का ही तो दर्शन नही कर रहें है। महान तपश्चर्या, धर्म ध्यान में सलग्नता, षडावश्यक पालन पटुता आदि बातें उक्त भावना को प्रबुद्ध करने में विशेष कारण थी। ऐसी प्रभावना ऐसा उत्साव और तपस्वियो का समागम मथुरा के इतिहास में आदर पूर्वक स्मरण किया जायगा। आगम में धर्म की प्रभावना के कारणो में तपश्चर्या को भी हेतु बताया है। ऐसे उग्र तपस्वियो के द्वारा बडी प्रभावना हुई। दशलक्षण पर्व के पश्चात् आश्विन वदी तृतीया को मथुरा नगर में बडे वैभव के साथ जिन भगवान का रथ निकला था। जहा मथुरा में पहले से वर्षा न होने से सूखापन था वहा तपस्वियो के चरण पडते ही विपुल वर्षा द्वारा हरियाली लहलहानें लगी। साधारण जनता इसी प्रभाव से प्रभावित और आनदित थी। हजारो अजैन भाईयो ने भी रथोत्सव देखकर अपना जन्म सफल किया। विद्वेषी जन जब तक जिन बिम्ब का दर्शन नही करते है, तब तक तो उनकी दुष्ट भावना जीवित रहती है किन्तु जिनके नेत्र ध्यानपूर्वक जिन भगवान का दर्शन कर लेते है, तो वे भगवान की शात वैराग्य युक्त मुद्रा को देखकर मन में पछताते है कि क्यो हमने विद्वेष करने का पाप किया।

एक बार एक प्रख्यात ब्राम्हण एडवोकेट हमसे कहते थे 'हमारे घर के पास जैन मदिर था। बचपन में हमने सुन रखा था, 'हस्तिना पीड्य मानोपि न गच्छेत् जैन मदिरम।' इससे जैन मदिर कभी न गए। एक बार जैन मूर्ति का दर्शन अकस्मात हो गया। देखते ही भ्रम दूर हुआ। मन में बडा प्रेम पैदा हो गया।" उक्त द्वेषमूलक किवदन्ती का मूल यह

प्रतीत होता है कि जब समर्थ जैन श्रमणो और लोक सेवकों के प्रभाव से सर्वत्र जैनधर्म की वैजयंती फहराने लगी तब ग्रामीण भाइयो को उस प्रभाव से बचाने के लिए इस कहावत का जाल रचा गया, ताकि लोग जैन मंदिर में जाने से डरें। आज भी जहां कहीं भ्रमभाव विद्यमान है उसका कारण प्रत्यक्ष-परिचय (direet knowledge) का अभाव है। शिवपिंडी की पूजा करने वालो का दिगम्बरत्व के प्रति विरोध 'गुड खायं गुलगुले से परहेज करें' सदृश बात है।

आचार्य शांतिसागर महाराज की तपश्चर्या के प्रभाव से निर्विघ्न रथोत्सव निकला और विघ्न प्रिय लोगो ने अपने मन को बदल कर प्रेम से जिन मुद्रा के दर्शन द्वारा नेत्रो को सफल किया।

जैन महासभा की जन्मभूमि

इस युग के जैन समाज के प्रमुख नेता राजा लक्ष्मणदास सी. आई. ई मथुरावालो का नाम भारत भर में गौरव के साथ लिया जाता रहा है। इनके ही पूर्वजो ने चौरासी का विशाल जिन मंदिर बनवाया था, जो एक जबरदस्त किले के समान दिखता है। इनके ही नेतृत्व में समाज हितार्थ दिगम्बर जैन महासभा का जन्म मथुरा में हुआ था, जिसकी स्वर्ण जयंती गत वर्ष इदौर में वैभव के साथ मनाई गई थी, तथा जिसका उद्घाटन मध्यभारत के राजप्रमुख श्रीमंत महाराजा जयाजीराव शिन्दे ग्वालियर ने किया था।

इस महासभा में पहले सभी दिगम्बर जैन सम्मिलित हुआ करते थे। पहले इस महासभा का समाज में इतना अधिक गौरव था कि इसके उत्सव में लोग बडी भक्ति और श्रद्धा से भाग लेते थे। एक एक वार्षिक उत्सव पंचकल्याणक का आनंद प्रदान करता था।

सन १९२२ के लगभग दि० जैन परिषद नाम की एक और संस्था स्थापित हो गई। उसमें नई रोशनी के लोगो ने भाग लेना प्रारम्भ किया। इस विभाजन से महासभा का बल कम अवश्य पडा, किन्तु आगम के अनुकूल ही इसने सदा प्रवृत्ति की है। यदि गुटबन्दी का रोग इसे न लगा होता और यह सुयोग्य विचारवान व्यक्तियो के हाथ से सेवा लेती, तो महत्वपूर्ण धर्म तथा समाज की सेवा होती। फिर भी इतना सतोष का विषय है कि विपत्ति के क्षणों में महासभा भले ही पूर्ण क्रियाशील न रही हो, किन्तु इसने धर्म तथा आगम के विरोध में अपना कदम नहीं उठाया है। यदि इसको धर्म का सहारा न होता, तो संकट के क्षणो में जीवन

बचाना सभव न था। आज भी यदि यह पक्षपात की भावना त्याग जिनशासन के भक्त तथा सुयोग्य पुरुषो से सेवा का कार्य लेवे, तो सचमुच में समाज का प्रेम, ममत्व और विश्वास को प्राप्त कर सकः महासभा की स्वर्ण जयंती के समय पर मैने आचार्य शान्तिसागर मह से महासभा के विषय में उनके विचार पूछे, तब महाराज ने कहा "दि० जैन धर्म सरक्षिणी महासभा को हमारा आशीर्वाद है, क्योंकि वह सकट में नही डिगी है। आगे भी यह धर्म से नहीं डिगेगी ऐसी आशा है।"

इस महासभा ने आगम के ज्ञाताओं को उत्पन्न करने के उद्देश एक महाविद्यालय मथुरा में स्थापित किया था। योग्य व्यवस्था न हो वह लगभग १५ वर्ष से बन्द पडा हुआ है। सभा के और भी विभाग गति स्थिति में है। जिन भगवान के प्रसाद से वह सस्था समृद्धिशील हो शासन की महिमा को बढावे, यह मनोकामना है। अभी इस सस्था द्वारा जो समाज की सेवा हुई है उसका श्रेय रावराजा सर सेठ हुकु जी के महान प्रभाव तथा हार्दिक सहयोग को है। उनके विषय में अ महाराज ने ये शब्द कहे थे "हमारी अस्सी वर्ष की उमर हो गई, हिन्दु की जैन समाज में हुकुमचद सरीखा वजनदार आदमी देखने में आया। राज-रजवाडे में हुकमचद सेठ के वचनो की मान्यता है। निमित्त से जैनो का संकट बहुत बार टला है। उनको हमारा आशीर्वा वैसे तो जिन भगवान की आज्ञा से चलने वाले सभी जीवो को हा आशीर्वाद है।"

हुकुमचद जी के विषय में एक समय आचार्य महाराजने कहा था,' बार संघपति गेंदनमल और दाडिमचद ने हमारे पास से जीवन भर के ब्रम्हचर्य व्रत लिया, तब हुकुमचद सेठ ने इसकी बहुत प्रशसा की। समय हमने हुकुमचद सेठ से कहा 'तुमको भी ब्रम्हचर्य व्रत लेना चाहि हुकुमचद ने तुरन्त ब्रम्हचर्य व्रत लिया और कहा था 'महाराज! आगामी में भी ब्रम्हचर्य व्रत मिले। लौकान्तिक का पद पाकर पुन मनुष्य भ भी ब्रम्हचर्य का पालन करू'। हुकुमचद का ब्रम्हचर्य व्रत पर प्रेम है।"

दि० जैन महासभा को अपनी महत्वपूर्ण सेवाओ द्वारा अलकृत वाले और तन, मन, धन से काम करने वाले धर्मवीर सरसेठ भा

जो सोनी अजमेर वाले हैं जिनकी वश परपरा से वीतराग धर्म की श्रद्धा पूर्वक सेवा का उज्वल कार्य होता आया है। जिनधर्म की सेवा तथा आचार्य, शातिसागर महाराज सदृश गुरु की भक्ति करते समय इनको इस बात का अहकार तनिक भी नहीं सताता कि मैं कोट्याधीश हू। आज महासभा का अस्तित्व मुख्यरूप से इन दोनों महानुभावों के कारण है। आज आवश्यकता है ऐसे जीवन की, जो गौरवपूर्ण हो, और बातो के जमा खर्च के बदले सच्ची सेवा की सपत्ति से सपन्न हो।

समाज को उन्नत करने तथा जिन धर्म की प्रभावना का कितना बड़ा क्षेत्र पड़ा है। लाखो जैनी सराक, जैन कलार आदि के रूप में अपनी धर्म क्रियाओ को भूल चुके हैं, उनको धर्म में स्थिर करने का उपाय जरूरी है।

मथुरा का चातुर्मास मधुर स्मृति में से परिपूर्ण है। सप्तर्षियो ने समाज को सामायिक धर्मोपदेश देकर सुमार्ग पर लगाया। इस प्रकार चातुर्मास पूर्ण हो गया। अपार जन समुदाय ने अश्रुपूर्ण नेत्रो से सघ के विहार के वियोग की व्यथा को सहन किया। जहाँ महाराज का एक दिन का वास हो जाता है, वहाँ के लोग उनके चरणो को छोड़ना नही चाहते, तब फिर निरतर चार माह पर्यंत उनके चरणो का आश्रय पाने वालो को वियोग की व्यथा होना स्वाभाविक ही है।

जब सघ कोसीकला पहुचा,तब वहाँ बडा हार्दिक स्वागत किया गया। दि० जैनमहासभा का अधिवेशन किया गया। खूब प्रभावना हुई। आचार्य श्री के उपदेश से बहुत धर्म लाभ हुआ, बहुत लोगो ने व्रत लिए। अब सघ प्रस्थान करके समाज में प्रख्यात नगर खुरजा आ गया। वहाँ पहले सेठ पंडित मेवाराम जी प्रसिद्ध धर्मात्मा और लोकसेवक तथा अन्य श्रीमान धीमान सत्पुरुष हो गए हैं। उस परिवार के सेठ शांतिलाल जी रानीवालो के सुन्दर उद्यान में सघ ठहरा। पौष वदी द्वितीया को रथोत्सव भी हुआ। पहले खुरजा में जब रथोत्सव हुआ था, तब अन्य धर्मिओ ने उपद्रव किया था। उस समय जैनियो ने तन, मन धन से रथ निकालने का प्रयत्न किया था। तब बड़े वैभव के साथ रथोत्सव निकला था। खुरजा के रथ की लावनी बनी हुई है। वह ऐसी ही वीर रस पूर्ण है जैसे मराठा के पवाड होते हैं। यहाँ के मदिर विशाल हैं तथा प्रतिमाए मनोज्ञ है।

भारत की राजधानी देहली में प्रवेश

खुरजा को अपने अमृत उपदेश से उपकृत करते हुए सघ ने प्रस्थान कर सिकन्दराबाद में निवास किया। इसके अनतर गाजियाबाद, तथा शाहादरा होते हुए पौष सुदी दशमी को सघ ने भारत की राजधानी दिल्ली में प्रवेश किया। दिल्ली में जैनियो की सख्या पद्रह बीस हजार के करीब है। वहा धार्मिक प्रकृति के लोग बहुत है, इसलिए सघ के आने पर दिल्ली समाज के राम रोमसे आनद व्यक्त होता था। राजधानी के योग्य गौरव पूर्ण जुलूस द्वारा आचार्य शांतिसागर महाराज के प्रति भक्ति व्यक्त की गई। बड बडे प्रतिष्ठित तथा विचारशील नागरिक तथा उच्च अधिकारी लोग आचार्य श्री के दर्शनार्थ आते थे, अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न करते थे, तथा समाधान प्राप्त कर हर्षित होते थे।

एक तत्व प्रेमी अग्रेज का शका समाधान

एक दिन एक विचारवान भद्र स्वभाव वाला अग्रज आया। उसने पूछा था–'महाराज आपने ससार क्यो छोडा, क्या ससार में रहकर आप शांति नही प्राप्त कर सकते ?" महाराज ने समझाया कि "परिग्रह के द्वारा मन में चचलता, राग, द्वेष आदि विकार होते है। पवन के बहते रहने से दीपशिखा कपन रहित नही हो सकती है। पवन के आघात से समुद्र म लहरो की परपरा उठती जाती है। पवन के शान्त होते ही दीपक की लौ स्थिर हो जाती है, समुद्र प्रशान्त हो जाता है, इसी प्रकार राग द्वेष के कारण रूप, धन, वैभव, कुटुम्ब आदि को छोड देने पर मन में चचलता नही रहती है। मन के प्रसन्न रहने पर आत्मा शांत हो जाती है।

विषय भोग की आसक्ति के द्वारा इस जीव की मनोवृत्ति मलिन होती है मलिन मन पाप का सचय करता हुआ दुर्गति में जाता है। परिग्रह को रखते हुए पूर्णतया अहिसा धर्म का पालन नहीं हो सकता है, अतएव आत्मा की साधना निर्विघ्न रूप से करने के लिए विषय भोगो का त्याग आवश्यक है। विषय भोगो से शांति भी तो नही होती है। आज तक इतना खाया, पिया, सुख भोगा. फिर भी क्या तृष्णा शांत हुई ? विषयो की लालसा का रोग कम हुआ ? वह तो बढता ही जाता है।

इससे भोग के बदले त्याग का मार्ग अंगीकार करना कल्याणकारी है। संसार का जाल ऐसा है कि उसमें जाने वाला मोहवश कैदी बन जाता है। वह फिर आत्मा का चितवन नहीं कर पाता है।

दूसरी बात यह भी है कि जब जीव मरता है, तब सब पदार्थ यहीं ही रह जाते हैं, साथ में अपने कर्म के सिवाय कोई भी चीज नहीं जाती है, इससे बाह्य पदार्थों में मग्न रहना, उनसे मोह करना अविचारित कार्य है।"

इस विषय मे आचार्य की मार्मिक अनुभव पूर्ण बातें सुनकर हर्षित हो वह अंग्रेज नत मस्तक हो गया। बडे बडे जज, बैरिस्टर, प्रोफेसर आदि भी आते थे। एक दिन एक डिस्ट्रिक्ट जज महोदय आये। उनने मुनि चंद्रसागर महाराज से बहुत देर तक सूक्ष्म चर्चा की। अपने संदेहों का निवारण कर तथा गुरुदेव को प्रणाम कर चले गये।

उस समय सन १९३० मे लाउड स्पीकर नवीन ही वस्तु थी। एक दिन भाषण के समय उसका भी उपयोग किया गया था। आज उसका महत्व नहीं ज्ञात होता, किन्तु जब वह आरंभ मे सबके समक्ष आया था, तब लोग चकित थे, विज्ञान के इस अद्भुत आविष्कार पर, जिसने मदध्वनि वालो की बातो को भी सबके पास तक पहुंचाने में सहायता की। इसके पहले बडी सभाओ म वही वक्ता सफल हो पाता था, जिसकी आवाज जोर दार होती थी। अब इस यंत्र ने आवाज कृत विशेषता के महत्व को दूर कर दिया।

मुनि संघ का जनता पर बडा प्रभाव पडता था। बहुत से मुसलमानों आदि ने माँस तथा मदिरा का त्याग किया था। चमार भंगी आदि हरिजनो का महाराज ने सच्चा कल्याण किया था। बहुत से गरीब साधु महाराज के दर्शन को आते थे। महाराज प्रेममय बोली में समझाते थे, "भाई, जीवो की दया पालने से जीव सुखी होता है।" दूसरे जीवो को मारकर खाना बडा पाप है। इससे ही जीव दुखी रहता है।" महाराज के शब्दो का बडा प्रभाव होता था। तपश्चर्या से वाणी का प्रभाव बहुत अधिक हो जाता है। सैकडो हजारो हरिजनो आदि लोगो ने शराब तथा मांस सेवन का त्याग किया था तथा और भी व्रत लोग लेते थे।

आचार्य श्री की भक्ति इतनी बढ रही थी, कि लगभग सत्तर अस्सी चौके लगा करते थे। बिना शूद्र जल का आजीवन त्याग किए कोई आहार नही दे सकता था। आज की परिस्थिति में छोटे से नियम का निर्वाह करना

सरल काम नही है, फिर वह नियम देखने में छोटा है, किन्तु उसका पालन करना बडे नगर में पर्याप्त मनोबल तथा कष्ट सहिष्णुता के बिना नही बन सकता है। महाराज को आहार देने के अपूर्व सौभाग्य के आगे नियम की कठिनता कुछ भी नही दिखती थी। आज नियम लेने वाले कहते है, कि इस छोटी सी प्रतिज्ञा ने हमारा अशुद्ध भोजन से पिण्ड छुडा दिया अत यह आत्मकल्याण के साथ साथ शरीर की नीरोगता का भी कारण बन गया। इसने स्वावलम्बी जीवन को भी प्रेरणा दी। राजनैतिक क्षेत्र मे गांधीजी के कथनानुसार चरखा कातने से जैसे देशसेवा के क्षेत्र में झुकाव होता था, वैसे ही जल के नियम से यहा भी आध्यात्मिकता की ओर प्रगति होती थी।

देहली तथा पंजाब प्रात में यवनो के सपर्कवश अत्यधिक शिथिलाचार पाया जाता है। आचार्य सघ के प्रसाद से उसमें बहुत कुछ सुधार हुआ था।

वसत पचमी को आचार्य महाराज का केशलोच देखने को अपार जनसमुदाय इकट्ठा हुआ था। उस समय महान सयमी के केशो की कीमत एक धर्मात्मा जोहरी ने की। (११०१) की नम्र भेंट देकर उनने उन केशो को बडे समारोह पूर्वक यमुना नदी में क्षेपे।

केशलोच के दूसरे दिन विहारकर सघ ने शहादरा, खेकडा, आदि स्थानो में हजारो जीवो का कल्याण करते हुए बडोत में धर्म प्रभावना की। वाणीभूषण प० तुलसीराम जी काव्यतीर्थ अध्यापक जैन हाई स्कूल ने आचार्य श्री की स्तुति में एक सुन्दर कविता बनाकर सस्कृति में पढी थी। आज बडोत का हाई स्कूल जैन कालेज के रूप मे वृद्धिगत हुआ है।

फाल्गुन सुदी तीज को सघ जुहोडी आया, पश्चात् मुल्हेडा पहुचा। यहाँ बडे आनन्द से रथोत्सव हुआ था। हजारो भाई बाहर से आये थे। आचार्य चरणप्रसाद से समाज में एक्य की वृद्धि हुई। सरधना होते हुए सघ मेरठ आया। यहा भी अच्छी धर्म प्रभावना हुई। समाज ने सुन्दर मडप बनाया था, जिसमें विराजमान होकर गुरुओ का दिव्य उपदेश जनता ने सुना था। चैत्र सुदी नवमी को संघ हस्तिनापुर आ गया।

हस्तिनापुर क्षेत्र यह स्थान जैन सस्कृति के प्राचीनतम स्थलो में है। आदि तीर्थंकर भगवान वृषभदेव छह मास के उपवास के उपरान्त विविध स्थानो में विहार करते हुए वैसाख सुदी तृतीया को

यहां आए थे। उस समय जनता में बड़ी हलचल उत्पन्न हो गई थी। कर्मभूमि के आरंभ काल में किसी को यह पता नहीं था, कि भगवान मौन रूप से विहार क्यों कर रहे हैं। हस्तिनापुर के नागरिकों को प्रभु के आगमन का जब पता चला, तब लोग कहने लगे, "भगवान आदिनाथ प्रभु प्रतीत होता हैं हमारे पालन हेतु यहां पधारे हैं। चलो, शीघ्र चलकर उन देवाधिदेव का दर्शन करें, तथा भक्ति पूर्वक पूजा करें।

तीर्थंकर की भूमि

कोई कोई कहते थे, श्रुति में सुनते थे, कि इस जगत के पिता यह है। हमारे दैव से उनका, सनातन प्रभु का प्रत्यक्ष दर्शन हो गया। इनके दर्शन से नेत्र सफल होते हैं, इनकी चर्चा सुनने से कर्ण कृतार्थ होते हैं। इन प्रभु का स्मरण करने से अज्ञ प्राणी भी पुण्यान्तःकरण बन जाता है।[1]

इतने में विशाल जन समुदाय, हस्तिनापुर के नरेश महाराज सोम प्रभ, महाराज श्रेयांस के राज-प्रासाद के समक्ष, इकट्ठा हो गया। तत्काल सिद्धार्थ नाम के द्वारपाल ने भगवान का आगमन नरेश बंधु से विदित किया। क्षण भर में दिगम्बर मुद्राधारी आदिप्रभु का दर्शन हुआ।

भगवान के रूप का दर्शन होते ही श्रेयांस महाराज को जाति स्मरण हो गया। अतः पुरातन संस्कार के प्रभाव से दान देने की बुद्धि उत्पन्न हो गई। उनको स्मरण हो गया, कि हमने चारण ऋद्धिधारी मुनि युगल को श्रीमती और वज्र जंघ के रूप में आहार दिया था। इस पुण्य स्मृति की सहायता से श्रेयांस महाराज ने इक्षुरस की धारा के समर्पण द्वारा एक वर्ष के महोपवासी जिनेंद्र आदिनाथ प्रभु के निमित्त से अपने भाग्य को कृतार्थ किया। इस अक्षयदान के कारण 'अक्षय तृतीया' पर्व परम मांगलिक अवसर माना गया। किसी भी मांगलिक कार्य करने में '*अक्षय तृतीया*' को स्वतः सिद्ध पवित्र दिन माना जाता है।

अक्षय तृतीया

---

१ श्रूयते यः श्रुतश्रुत्या जगदेकपितामह ।
स नः सनातनो दिष्ट्या यात. प्रत्यक्ष-सन्निधिम् ॥४९॥
दृष्टेऽस्मिन् सफले नेत्रे श्रुतेऽस्मिन् सफले श्रुती।
स्मृतेऽस्मिन् जन्तुरज्ञोपि व्रजत्यन्तः पवित्रताम् ॥५०॥
महापुराण पर्व २०

इस दान के कारण चक्रवर्ती भरतेश्वर अयोध्या से इसी हस्तिनागपुर में पधारे थे, और उनने महाराज श्रेयास की स्तुति करते हुए कहा था 'हे कुरुराज! आज तुम भगवान वृषभ देव के समान पूजनीय हो, कारण श्रेयास!, तुम दान तीर्थ के प्रवर्तक हो, अतः तुम महान पुण्यशाली हो।'[1]

यह हस्तिनागपुर दान-तीर्थंकर की भूमि होने से परम आदरणीय है। हरिवंश पुराण में लिखा है "जब धर्म तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की पूजा हुई और वे तप की वृद्धि के हेतु वहां से चले गए, तब देवताओं ने दान-तीर्थंकर श्रेयास की अभिषेक पूर्वक पूजा की थी।"[2]

भगवान शांतिकुंथु अरहनाथ की जन्मभूमि

इस हस्तिनागपुर की भूमि पर श्रेष्ठ वैभव अपनी पवित्र लीला दिखा चुका है। अपनी पुण्य भावना के द्वारा वंदक व्यक्ति उस पुरातन पुराणगत इतिहास को स्मृति पथ से उतार सकता है। इस भूमि को भगवान शांतिनाथ कुंथुनाथ, अरहनाथ इन तीन तीर्थंकरों ने अपने गर्भ जन्म तथा तप कल्याण के द्वारा पवित्र किया था।

महाकवि बनारसीदास ने संवत १६५७ में इस पुण्य स्थल पर पहुंच कर चक्रवर्ती तीर्थंकर त्रय की पूजा की थी, उनने लिखा है।

अहिछत्ता हथिनापुर जात चले बनारसि उठि परभात।
माता और भारजा संग रथ बैठे धरि भाउ अभंग ॥ ५८०॥
पचहत्तरे पोह सुभ घरी। अहिछत्ते की पूजा करी।
मिलिए हथिनापुर तहां। शांति कुंथु अर पूजे तहां ॥५८१॥
शांति-कुंथु-अरनाथ को, कीनों एक कवित्त।
ताको पढ़ै बनारसी, भाव भगति सौं चित्त ॥ ५८२॥
श्री विससेन नरेस, सूर, नृपराय सुदंसन।
अचिरा सिरिया देवि, करहि जिस देव प्रसंसन ॥

---

१ भगवानिव पूज्योसि कुरुराज त्वमद्यन.।
त्वं दान-तीर्थकृत श्रेयान् त्वं महापुण्यभागसि ॥
आदि पु० २८-२१७

२ अभ्यर्चिते तपोवृद्धं धर्म-तीर्थ-करे गते।
दानतीर्थंकरं देवा साभिषेकमपूजयन ॥ १९६, सर्ग ९

तसु नंदन सारग, छाग, नदावत लछन।[1]
चालिस, पैंतिस, तीस, चाप काप काया छवि कचन॥
सुखदासि बनारसिदास मनि, निरखत मन आनदई।
हथिनापुर, गजपुर, नागपुर, शांति, कुथु, अर वदई॥५८३॥

शातिनाथ भगवान की माता ऐरादेवी थी, कुथुनाथ स्वामी की जननी श्रीमती थी, अर जिन की माता मित्रा थी।

मनरंगलाल ने अरजिन की पूजा की जयमाला में लिखा है–

जय मित्रादेवी के सुनद, मुख शोभित तुम अकलक चद

शाति, कुथु तथा अरजिन चक्रवर्ती भी हुए हैं। ये तीनो कामदेव पद के धारक भी है। अक्षय तृतीया पर्व का सम्बन्ध जिस प्रकार हस्तिनागपुर से है, इसी प्रकार रक्षाबधन पर्व भी इसी नगर से सम्बन्धित है। हस्तिनागपुर का शासन पद्म नरेश के हाथ में था। उनके छोटे भाई महामुनि विष्णुकुमार थे। यहा अकपनाचार्यादि सात सौ मुनियो के सघ ने चातुर्मास किया था।[2]

रक्षाबधन पर्व का भी जन्मस्थल

वहा ही नरमेध यज्ञ के नाम से मुनियो के विनाश का पाखण्ड रचने वाले मत्री ने सात दिन का शासन प्राप्त कर रखा था, किंतु विष्णुकुमार मुनिराज के पुरुषार्थ से श्रावणी पूर्णिमा को वह धर्म सकट दूर हुआ था। बलि को अपने पापकर्म

---

१ भगवान अर तीर्थंकर का चिन्ह नदावर्त बनारसीदासजी के समान भैया भगवतीदास जी ने भी लिखा है "नंद्यवर्त सुलच्छन सोहै" किन्तु निर्वाण भक्ति में उनका चिन्ह मछली 'पाठीन' लिखा है। मनरगलाल कृत अरजिन की पूजा में 'पाठीन लक्षण' लिखा है। तिलोय पण्णत्ति में तगरकुसुम (४–६०५) लिखा है। 'अरजिन के पद चिन्हजुमीन' पाठ प्रसिद्ध है।

भैया भगवती दास अरनाथ की माता का नाम अर्जुनदेवी, पिता का नाम दक्षिणराय लिखते हैं।

अर्जुन मात मही सब जानैं, पिता जासु है दक्षिणराय।
श्री अरनाथ नगर गजपुरवर, वदै भव्य जिनेश्वर पाय॥
(ब्रम्हविलास पृ० ९७)

इस भिन्न प्रतिपादन का कारण विचारणीय है।

२ अगत्याकपनाचार्यस्तदा नागपुर शनैः।
मुनीनाम महांद् योग चातुर्मास्या बधेर्व बहि॥ सर्ग १९–२०

के कारण निन्दा प्राप्त हुई थी, और वह देश के बाहर निकाला गया था। इस दृष्टि से जैसे यह स्थल दान तीर्थंकर, धर्म-तीर्थंकर की मूर्ति है, उसी प्रकार वात्सल्य भाव के उज्वल आदर्श विष्णुकुमार की भी जन्मभूमि रही है। पुराणो के परिशीलन से ऐसी विपुल सामग्री मिलेगी, जो इस भूमि का जैन वैभव के साथ सबध बतावे। भारतवर्ष में सभी लोग इसे महाभारत के महासमर की भूमि के रूप में जानते है। महाभारत महाकाव्य का प्रमेय इसी भूमि ने प्रदान किया है।

अक्षय तृतीया का पुण्य पर्व सघ ने यहा ही व्यतीत किया। उस दिन जिस घर को आचार्य महाराज ने आहार-ग्रहण द्वारा पवित्र किया वह महाराज श्रेयास के अक्षयदान की स्मृति कराता था। समाज भी उसी भावना से अपने को कृतार्थ मानता था। यहाँ सघ ने सवा माह निवास किया था। उतने समय पर्यन्त आसपास के लोगो का आना जाना लगा रहा। उससे वहा मेला सदृश लगता रहा।

यहा से स्वपरोपकार करते हुए आचार्य महाराज ने वैशाख सुदी चौदस को विहार किया। खतौली होते हुए ज्येष्ठ सुदी नवमी को सघ मुजफ्फरपुर आया। यहा अच्छी धर्म प्रभावना हुई।

दिल्ली में चातुर्मास

इस प्रकार अनेक स्थानो के भव्य जीवो का कल्याण करते हुए दिल्ली की समाज के सौभाग्य से पुन सघ वहा आ गया। सघ ने चातुर्मास करने का निश्चय यहाँ का ही किया। सघ का निवास दरयागज में हुआ था। पहले गुरुदेव के वियोग से जिन लोगो को सताप पहुचा था, उनके आनद का पारावार न रहा जब उनको यह ज्ञात हुआ, कि अब दिल्ली का भाग्य पुनः जग गया, जहा ऐसे महान मुनिराज का चार माह तक धर्मोपदेश होगा।

वहा श्रावण वदी चौदस को आचार्य श्री का केशलोच हुआ। खूब प्रभावना हुई। हजारो जैन अजैनो ने उस तपश्चर्या को देखकर अपने जन्म को सफल समझा। बहुत लोग तो प्रभु से यह प्रार्थना करते थे, कि कभी हमारी आत्मा भी इस महान तपस्या करने के योग्य बन जावे। महापुराण में श्रावको के सस्कारो का वर्णन करते हुए चौलकर्म में यह मत्र आया है "निर्ग्रन्थ मुडभागी भव।" इसका भाव यह है, हे शिशु अभी तो तेरे केशो को नाई द्वारा दूर कराया है, किन्तु आगामी तू निर्ग्रन्थ दीक्षा

धारण कर केशो के लोच द्वारा मुडित मस्तक वाला बने ऐसी अकांक्षा है। यहाँ तो केश लोच से सस्कृत आचार्य श्री का मस्तक उस मंत्र को वर्तमान में चरितार्थ करता था।

लोगो के मन में आशंका होती थी, कही राजधानी में मुनि विहार पर प्रतिबध न आ जावे, किंतु आचार्य श्री के साम्हने भय का नाम नही है। वे तो पूर्णतया निर्भय है। मृत्यु से भी सदा जूझने को तैयार रहते हैं। उनको किस बात का डर होगा। हाँ ! जिनेन्द्राज्ञा के उल्लघन से सदा डरते हैं। वे यही ध्यान रखते है कि कही कदाचित् जिनेन्द्र भगवान के आदेश का भग हमसे न हो जावे।

समस्त देहली में दिगम्बर मुनियो का स्वतन विहार

मुनि सघ दरयागंज में स्थित था, किन्तु सघ के साधु आहार के लिए दिल्ली शहर के मुख्य मुख्य राजपथो से आया जाया करते थे। कहीं भी कोई रोक टोक नही हुई। यह उनके तप का महान तेज ही था, जो सात दिगम्बर मुनियो का सघ निर्विघ्न रीति से भारत की राजधानी में भ्रमण करता रहा। बडे बडे राज्याधिकारी, न्यायाधीश आदि महाराज के दर्शन करके अपने को धन्य मानते थे। दिगम्बर मुनियो का विहार न होने से कई लोगो को दिगम्बरत्व यथार्थ मे 'अधे की टेढी खीर' जैसी समस्या बन जाया करता है, किन्तु प्रत्यक्ष परिचय में आने वाले लोगों को वह परमाराध्य, सर्वदा वदनीय और मुक्ति का अनन्य उपाय प्रतीत होता है।

आश्विन मास में आचार्य महाराज ने वैदवाडा में आकर निवास किया। आज वहाँ आचार्य श्री की स्मृति में श्री शांतिसागर दि० जैन कन्या शाला चल रही है। कुछ समय तक सघ पहाडीधीरज नाम के मुहल्ले में रहा और आसपास सर्वत्र विहार करता रहा। कुछ काल पर्यन्त सघ ने धर्मपुरा में निवास किया था। आश्विन सुदी अष्टमी को वैदवाडा में आचार्य महाराज का केशलोच हुआ था। वहा आचार्य श्री के द्वारा सभी लोगो को महान शांति तथा आनंद प्राप्त हुआ था। सघ के देहली चातुर्मास का स्मारक एक लघु स्तंभ लाल किले के साम्हने वाले लालमदिर के बहिर्मार्ग में विद्यमान है, उसमें सघस्थ साधुओं का जीवन परिचय संक्षेप में दिया गया है।

अपूर्व धर्म प्रभावना

आचार्य श्री के देहली प्रान्त में विहार करने से जनता में अपूर्व धार्मिक जागरण हुआ। लोगों को यह विश्वास हुआ, कि गुरुदेव हमारे पुण्योदय से अभी विद्यमान हैं।

उनका चरित्र इतना उज्वल है, कि उसके समकक्ष मूर्ति या विश्व भर में दर्शन नहो होता है। जगत में साधुत्व को स्वीकार करते हुए भी परिग्रह पिशाची से किसका पिंड छूटता है ? कुछ लोग परिग्रह धारण करते हुए अपने बुद्धि कौशल से अपने को अपरिग्रही कहते हैं, किन्तु एसी वृत्ति से न आत्मा का सच्चा हित होता है, और न निर्विकल्प जीवन का स्वाद ही आता है। आज के दु खी विश्व को अपनी समस्याओ को सुलझाने का प्रकाश इन श्रमणो के जीवन से प्राप्त हो सकता है ।

आचार्य महाराज के द्वारा अत्यधिक सयम, व्रत, नियम का प्रचार हुआ। लोग श्रावक के कर्तव्य पालन में कटिबद्ध हो गए । करनाल, आदि बहुत स्थानो में विद्वेष भाव दूर हाकर वात्सल्य की मधुर धारा बहने लगी । इस प्रकार शिथिलाचार के स्वच्छद प्रचार की भूमि में आचार्य महाराज ने धर्म की पुण्यधारा प्रवाहित करने का लोकोत्तर कार्य किया। देहली प्रात अत्यधिक ठडा है । उष्ण काल में भी बडा भयकर रहता है । दोनो ऋतुओ की भीषणता को साम्यभाव से सहन करते हुए इन मुनियो ने यह प्रमाणित कर दिय, कि हीन सहनन में भी आत्म विश्वास और जिनेन्द्र भक्ति के अवलबन से ऐसी तपस्या हो सकती है, जो चतुर्थ कालीन मुनियो की तप साधना का स्मरण करा देवे ।

दिल्ली के विशाल, बहुमूल्य, कलापूर्ण अनेक जिनालय बडे मनोज्ञ हैं । वे जैनियो की उज्वल जिनभक्ति तथा समुन्नत स्थिति का परिचय कराते हैं । धर्मपुरा के मदिर में श्री जी के सिंहासन की कारीगरी अपूर्व है । ताजमहल की कला से भी सूक्ष्म और सु दर कला का उसमें दिग्दर्शन कराया गया है । नदीश्वर द्वीप की रचना वाला मदिर बडा भव्य मालूम पडता है । लालकिले के ऐतिहासिक तथा महत्वपूर्ण स्थान के साम्हने विद्यमान लालमदिर जैन गौरव का द्योतक है । अनेक महत्व पूर्ण सस्थाए भी दिल्ली में हैं । इस वैभव के साथ आचार्य सघ के आवास होने से देहली में सोने में सुगध की कहावत चरितार्थ हुई थी।

धर्म ध्यान में सानद समय बीतते न मालुम पडा और चातुर्मास पूर्ण हो गया । अरबी में एक कहावत है " पानी एक स्थान पर रहने से बदबूदार हो जाता है । दोज का चद्र यात्रा में रहने से पूर्ण चद्र बन जाता है ।" यदि साधु लोग विहार न करें, तो अन्य स्थान के जीवो का किस प्रकार हित होगा ?

देहली से विहार — अतः वीतराग साधुओं ने देहली का ममत्व न करके वहाँ से प्रस्थान कर दिया और अगहन सुदी तृतीया को गुडगाव पहुँच कर जनता को कृतार्थ किया। यहा महाराज का केशलोच हुआ था। लगभग दो हजार प्रतिष्ठित नागरिकों ने जैन मुनि की तपश्चर्या देखकर धर्म की महत्ता को समझा। इस ओर कभी ऐसे महापुरुषों का पदार्पण नही हुआ था। अतः महाराज के विहार से इस तरफ अद्भुत जागृति हुई। अधेरी दुनिया में आध्यात्मिक ज्योति जग गई।

व्यक्तिगत अनुभव — सन १९४३ के सितम्बर के अतिम सप्ताह में आचार्य महाराज फलटण में विराजमान थे। मैं वहाँ उनके चरणों में दर्शनार्थ पहुचा था। वहा मुनिराज धर्मसागर जी का केशलोच हो रहा था। उस समय आचार्य महाराज ने मुझे पास में बुलाकर कहा—"देखो! यह केशलोच की क्रिया बहुत कठिन होती है। इसकी कठिनता तब तक अनुभव में आती है, जब तक शरीर में एकत्व बुद्धि रहती है।"

मैंने पूछा—"महाराज! भेदबुद्धि होने से कष्ट कैसे दूर रहेगा?"

महाराज ने कहा—"चूल्हे में लकडी लगाने से तुम्हारा शरीर जलता है क्या?"

मैंने कहा—"नही जलता है।"

महाराज ने कहा—"इसी प्रकार शरीर को पीडा होने पर आत्मा का क्या बिगडता है?" महाराज ने एक बात बताई थी, कि एक क्षुल्लक ने ऐलक व्रत धारण किया था, किन्तु केशलोच की कठिनता सह्य न होने के कारण ऐलक पद को छोडकर पुनः क्षुल्लक पद को धारण किया था।

क्या मुनि को शीतादि का अनुभव होता है? — एक बार भयंकर शीत पड रही थी, कपा देने वाली यह हवा चल रही थी, तब मैंने पूछा था—"महाराज! शीत ऋतु में, ग्रीष्म ऋतु में, दिगम्बर साधु को वेदना होती है या नहीं? क्या ठंड या गर्मी का अनुभव नही होता है?"

महाराज ने कहा—"शीत का अनुभव होता है, उष्णता का अनुभव होता है, किन्तु साधु दुःखी नही होता है। कष्ट सहन करता है।"

गुडगाँव से विहार करता हुआ सघ फर्रुखनगर पहुचा। वहाँ सघ पन्द्रह दिन ठहरा। अपूर्व प्रभावना हुई। श्री जी का विहार कराया गया

था। पौष सुदी चौथ को संघ रिवाडी आया, वहा १८ दिन तक संघ अलवर राज्य में रहा। पश्चात् विहार करते हुए आचार्य संघ अलवर-शहर में आया। राज्य की ओर से अच्छी व्यवस्था की गई थी। यहा बहुत धर्म प्रभावना हुई। बडे बडे राजकर्मचारी, श्रीमान धीमान महाराज के पास आकर चर्चा करते थे, और शका समाधान से सन्तुष्ट होकर जाते थे। फागुन सुदी दशमी को अलवर में भगवान को रथ में विराजमान कर नगर विहार हुआ था। अलवर में एक ब्राह्मण प्रोफेसर महाशय आचार्य श्री के पास भक्तिपूर्वक आए और पूछने लगे "महाराज! दूध क्यों सेवन किया जाता है? दुग्धपान करना मूत्रपान के समान है?"

महत्वपूर्ण शका समाधान

महाराज ने कहा—"गाय जो घास खाती है, वह सात धातु उप-धातु रूप बनता है। पेट में दूध का कोठा तथा मल-मूत्र का कोठा जुदा-जुदा है। दूध में रक्त, मांस का भी सम्बन्ध नहीं है। इससे दुग्धपान करने में मल, मूत्र का संबंध नहीं है।" इसके पश्चात् महाराज ने पूछा-"यह बताओ! आप लोग गंगाजल को प्रेम से पीते हो या नही?"

प्रोफेसर महाशय ने कहा—"हा पीते हैं, और उसे बहुत शुद्ध भी मानते है।"

महाराज ने कहा—"अच्छा तो यह बताओ कि तालाब, नदी आदि में मगर, मछली आदि जलचर जीव रहते है, या नही?"

प्रोफेसर ने कहा—"हा! महाराज वे रहते हैं, वह तो उनका घर ही है।"

महाराज ने कहा-"अब विचारो जिस जल में मछली आदि का आदि जीवो का मल मूत्र मिश्रित रहता है, उसे आप पवित्र मानते हुए पीते हो, और जिसका कोठा अलग रहता है, उस दूध को अपवित्र कहते हो, यह न्यायोचित बात नही है।"

इसके पश्चात् महाराज ने कहा-"हम लोग तो पानी को छानते हैं, किन्तु जो बिना छना पानी पीते है, उनके पीने में मलादि का उपयोग हो जाता है।"

यह सुनते ही वे विद्वान चुप हो गए। सदेह की शल्य निकल जाने से मन को बडा संतोष होता है। पुनः महाराज ने यह भी कहा-"जो यह सोचते है कि बच्चे के लिए ही दूध होता है, वह भी दोष युक्त

कथन है। बच्चे की आवश्यकता से अधिक दूध होता है।" आचार्य श्री की इस अनुभव पूर्ण उक्ति से उन पठित पुरुषों की भ्रांति भी दूर हो जाती है, जिनने दूध ग्रहण को क्रूरता पूर्ण समझ रखा है। चीनी लोग दूध लेने को पसद नहीं करते। वे समझ बैठे हैं कि इससे गोवत्स के प्रति निर्दयता का प्रदर्शन होता है।

आश्चर्य है, कि जो चीनी, जापानी आदि लोग अहिंसावादी बुद्धदेव की चर्चा करते हुए छिपकिली, साँप, विच्छू सदृश भीषण जन्तुओ तक को अपनी उदर दरी में पहुँचा देते हैं, वे निर्दोष दूध में भी हिंसा की कल्पना करते है।[१] इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन हमने इस ग्रन्थ के उत्तर खड में किया है। बच्चे मर जाने पर भी गाय भैंस दूध देती है। महाराज ने कहा था—"भगवान की वाणी के आगे मिथ्या विचारो का निराकरण हो जाता है। यदि दूध ग्राह्य न होता तो उसे भगवान का अभिषेक के योग्य प्रायः सभी प्रतिष्ठा ग्रथो में क्यो बताया है? "अतएव"

महाराज ने कहा—"आगम के अनुसार ही प्रवृत्ति करना चाहिए।"

आगम की प्रामाणिकता पर प्रकाश डालते हुए आचार्य महाराज ने कहा था—"जगत् में लोग सरकारी मुहर (Stamp) को देखकर नोटो तथा अन्य कागजातो की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं, भले ही वह लेख तीव्र रागी, द्वेषी व्यक्ति द्वारा तैयार किया गया हो; क्योंकि वह राजमुद्रा से अकित है, तब फिर सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर भगवान की वाणी वीतराग आचार्यों द्वारा परपरा से प्राप्त हुई तथा स्याद्वाद मुद्रा से अकित होती हुई क्यो न मान्य और आराध्य होगी?"

अतिशय क्षेत्र महावीर जी

अलवर राज्य में वीतराग शासन की प्रभावना के उपरान्त विहार करता हुआ सघ अतिशय क्षेत्र महावीर जी आ गया। यह है तो अतिशय क्षेत्र, किन्तु इसकी

---

१ "Milk, even at the present day, is regarded as disgusting and unfit for food in China, Korea, Japan, and Indochina , Despite the fact that they were surrounded by milk-using Turkish and Mongol peoples, the Chinese looked down upon milk-users and maintained that it was cruel to deprive a calf of its mother's milk--"

J L Gillin and J P. Gillin 'Cultural Sociology.' Page 215

भक्ति उत्तरभारत के जैनियो द्वारा खूब होती है। निर्वाण स्थलों के प्रति जन साधारण की भक्ति का स्रोत कुछ कम, दिखता है, किन्तु महावीर जी क्षेत्र के प्रति अवर्णनीय, आकर्षण और श्रद्धा देखी ,जाती है। लाखो अजैन भी महावीरजी की मूर्ति के दर्शन करते हैं। मीना गूजर जाति के अजैनो मे महावीरप्रभू की भक्ति जितनी है उतनी अन्य के प्रति नही है। उनके दुख में सुख में, आराध्य महावीर भगवान ही है। चैत्र सुदी के अत मे जो प्रतिवर्ष मेला भरता है ,उसमें लाखा अजैन आकर महावीर प्रभु की भक्ति करते है, तथा सफल मनोरथ हुआ करते है। हमने महावीरजी जाकर कई ग्रामीणो से पता चलाया तो ज्ञात हुआ, कि भक्ति करने से उनकी कामना पूर्ण होती है। इस क्षेत्र की इसी शताब्दी से प्रसिद्ध प्रारभ हुई है। इसका इतिहास भक्ति को जगाने वाला है।

इतिहास

महावीर स्वामी की प्रतिमा पद्मासन लगभग डेढ हाथ की मटीले वर्ण की चादनपुर ग्राम में एक टीले के भीतर दबी थी। एक गाय जब उस टीले के यहाँ जावे तब उसके स्तन से दूध वहाँ धीरे धीरे टपक जाता था। अतः जब वह ग्वालो के घर आवे तब दूध नहीं देवे। इस कारण चिंतित हो ग्वाले ने पता चलाया तो टीले पर दूध के अपने आप झर जाने का अपूर्व दृश्य देखा। उसने धीरे धीरे टीले को खोदा तो वहाँ महावीर भगवान की मूर्ति का दर्शन हुआ। प्रतिमाजी टीले के बाहर निकाली गई। उस ग्वाला ने प्रभु की भक्ति भाव से पूजा की, गाँव वालो ने दर्शन किए। उनका दुख दूर होने लगा। गाँव में सबके दिन सुधरने लगे, इससे भक्ति बढ चली। श्रावको को पता चला कि जयपुर के पास पाटादा ग्राम से चार मील पर महावीर भगवान की दिगबर प्रतिमा प्राप्त हुई है जो बहुत चमत्कार पूर्ण है। इससे वहाँ लोग आए। दर्शन किये। दानियो के योग से मदिरजी का निर्माण हुआ। अब क्षेत्र निरतर वर्धमान हो रहा है। इसे देखकर भगवान का नाम वर्धमान भी है, यह सब के समझ में आ जाता है।

इस क्षेत्र की समृद्धि के विषय में यह प्रसिद्धि है कि एक बार जयपुर राज्य के मत्री पर राजा का कोप हो गया था। मत्री महोदय की भक्ति महावीर प्रभु पर थी,। प्रभु की निरतर भक्ति में तल्लीन रहने से मत्री का सकट दूर हो गया। मत्रराज मत्री ने विशाल जिन मदिर बनवाया, तब से क्षेत्र की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति हो गई।

अब क्षेत्र में हजारो आदमियो के ठहरने योग्य धर्मशालाएं बन गई है।
नल बिजली की व्यवस्था हो गई है । नीरोगता प्रद जल-पवन है, बडी शाति मिलती है । इससे पजाब, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, विन्ध्यप्रदेश, मध्य भारत आदि के लाखो लोग दर्शन करते है, और कामना पूर्ण होने पर कृतज्ञता के रूप मे लक्ष्मी की वहा वर्षा करते है । महावीर जी में ऐसे हजारो लोग आते है जो अपने नगर में कभी भी भगवान का दर्शन नही करते है, किन्तु महावीरजी में तन्मय होकर बडा भक्ति भाव दिखाते है । बडे बडे पात्रो में घी भरकर आरती होती है । सोने चांदी के चवर छत्रो को लोग खूब चढाया करते है । अपूजा लिखा है"

इक दिन मत्री को लगा दोष, धरि तोप कही नृप खाइ दोष ।
तुमको जब ध्याया वहा वीर, गोला से झट बच गया वजीर ॥
मत्री नृप चादन गाव आय, दरशन करि पूजा की बनाय ।
करि तीन शिखर मदिर बनाय, कचन कलशा दीने धराय ॥
यह हुक्म कियो जयपुर नरेश, सालाना मेला हो हमेश ।
अब जुडन लगे बहु नरि उ नार, तिथि चैत सुदी पूनो मझार ॥
मीना गूजर आवें विचित्र, सब वरण जुडें करि मन पवित्र ।
बहु निरत करत गावे सुहाय, कोई-कोई घृत दीपन रहो चढाय ॥
कोई जय-जय शब्द करे गंभीर, जय जय जय हे श्री महावीर ।
जैनी जन पूजा रचत आन, कोई छत्र चंवर के करत दान ॥
जिसकी जो मन इच्छा करत, मनवाछित फल पावे तुरन्त ।
जो कहै वदना एक वार, सुख पुत्र सपदा हो अपार ॥

धर्म प्रभावना तथा धर्म सेवा का अपूर्व स्थान

महावीर जी क्षेत्र पर सदा मेला भरा रहता है । अहिंसा विद्या के प्रचार के लिए यह सुन्दर केन्द्र बन सकता है । जो शक्ति पारस्परिक विद्वेष के कार्यों में क्षीण हुआ करती है, वह यदि अनेकान्त शासन के प्रचार कार्य में सुव्यवस्थित ढग से लगाई जाय तो बडा हित हो सकता है । तीर्थस्थान तो आत्म शुद्धि तथा लोकसेवा के स्थान है । इनमें उत्तरदायित्व का आसन लेने वालो को अहकार को विष के समान मान प्रेम तथा सेवा की मूर्ति बनना चाहिये । देखा यह जाता है, कि कुर्सी पर आदमी बैठा और उसकी दृष्टि में विचित्र परिणमन होता है । किन्तु राज्यासन की वास्तविकता को

ध्यान में रखकर वीर नेपोलियन कहता है—

"लकडी के टुकडे को मखमल से ढाक दिया, उसे ही सिंहासन कहते हैं।"[१] इस प्रकाश में बेचारी कुर्सी की कीमत तो और कम हो जाती है। उत्तरदायित्व के पद को पाकर सेवा के सुयोग से अपने आपको वचित रखना बडी भारी भूल है। साधर्मी भाइयो के प्रति हार्दिक स्नेह रखना सम्यक्त्व का अग होते हुए तीर्थंकरत्व का भी कारण बताया गया है।

प्राय यह भी देखा जाता है, कि लोग व्यक्ति की यथार्थ योग्यता, पात्रता का बहुत कम ध्यान कर कभी तो जातिगत मोहवश, कभी पक्ष की ममता आदि नगण्य निमित्तो से अयोग्यो को श्रेष्ठ सेवा के अधिकार सौप देते है और भविष्य में धर्म तथा सस्कृति की दृष्टि के बारे में जरा भी नही विचारते। अपने व्यक्तिगत कार्यों में जैसे रिश्तेदारी, जातीयता आदि का ख्याल न कर योग्यता के आधार पर आदमी को रखकर काम लेते हैं, ऐसी विशुद्धि दृष्टि धार्मिक सस्थाओ के सचालको के चुनाव के बारे में जरूरी है। जिस सस्था में धर्मात्मा सेवाभावी भाई पर जिम्मेदारी रहती है, वहा उन्नति होती है, धर्म की वृद्धि होती है, प्रेम भाव बढता है। धर्म के कार्य में यदि हमने पवित्रता का परिरक्षण न किया, तो भगवान जाने हमारी क्या गति होगी ? इन विषयो का वस्तुस्थिति से निकट परिचय के आधार पर ही यह प्रकाश डाला गया है। इस निरतर उदीयमान क्षेत्र की उच्च व्यवस्था के द्वारा धर्म तथा समाज की बडी सुन्दर सेवा हो सकती है। दर्शनार्थ आने वाले भाइयो को धार्मिक तत्त्व बताये जावें तो प्रभु के दर्शन करते हुए यह प्रार्थना की दीनवृत्ति, कि मैं तेरे द्वार भीख मागने आया हू, मुझे पुत्र दो, धन दो, स्त्री दो, बदलकर वीतरागता की ओर बढने लगेगी। हजारो व्यक्ति पूजन,स्वाध्याय, सयम आदि के कार्य में लगकर आत्मकल्याण करेंगे। अच्छे चरित्रवान व्यक्तियो को बुलाकर उनके द्वारा धर्म के उपदेश की व्यवस्था हो, तो लोग भूल को दूर करके आत्मकल्याण में प्रवृत्त होगे। सस्था वाले जैसे लोगो से द्रव्य प्राप्त करके सतुष्ट होते है, वैसे ही उनको आध्यात्मिक आनन्द की सामग्री जुटाकर"

---

१ The throne is but, a piece of wood covered with of velvet

ही संतोष मानना चाहिए । तब ही कर्तव्यपरायणता कही जा सकती है। जीर्णोद्धार तथा अन्य तीर्थों का रक्षण भी कमेटी का लक्ष्य रहना चाहिए।

आचार्य महाराज का संघ महावीर जी में लगभग दो माह रहा। हजारों लोगों ने आकर गुरुदेव के उपदेश से अपने जीवन को कृतार्थ किया था। महाराज का उपदेश यही होता था, कि तुम सब विभाव का त्याग कर स्वभाव को प्राप्त करो, जिस प्रकार भगवान महावीर ने किया था। जैन धर्म कहता है, प्रत्येक आत्मा महावीर भगवान बन सकता है, कर्मों के आगे भिक्षा मागने से कुछ कार्य नही होता है। सयमी बन स्वावलम्बी जीवन से जीव अपने निर्वाण को प्राप्त करता है।

जयपुर

सघ ने यहा से ज्येष्ठ माह में जयपुर की ओर विहार किया। असाढ की अष्टान्हिका के समय संघ जयपुर पहुंच गया। जयपुर में बहुत अधिक जैनसमुदाय है। जयपुर की धार्मिक समुदाय की प्रार्थना पर आचार्य श्री ने उत्तर भारत में पाचवाँ वर्षायोग व्यतीत करने की स्वीकृति जयपुर के लिए प्रदान कर दी। सेठ बनजी ठोल्या सदृश जौहरी परिवार के व्यक्ति सेठ गोपीचन्द जी, सेठ सुन्दरलाल जी आदि रत्न परीक्षकों ने आचार्य श्री के जीवन को चितामणि रत्न के रूप में परखा, अतः उनसे अधिक से अधिक लाभ लेने के लिए उनकी आदर्शसेवा, भक्ति, वैयावृत्य की। भादो सुदी दशमी-सुगध दशमी के दिन सेठ गोपीचन्द जी जौहरी के यहाँ आचार्य महाराज का निरतराय आहार सपन्न होने की खुशी मे उनने ग्यारह हजार का दान कर आचार्य महाराज के नाम से एक औषधालय खोला, ताकि महाराज का पवित्र नाम निरन्तर स्मरण होता रहे।

बडे-बडे विद्वानो का स्थान

पहले लोग जयपुर को जैनपुर मा सोचते थे। ढुंढारी हिन्दी भाषा में ग्रन्थ लिखने वाले बडे बडे विद्वान जयपुर में हुए है। हिन्दी जैन जगत में अत्यन्त आदर से बाचे जाने वाले ग्रथ सदा सुख जी का रत्नकरंड भाषा वचनिका, पं० टोडरमल जी का मोक्षमार्ग प्रकाश, गोमट्टसार की टीका, पं० जयचन्द्र जी की सर्वार्थसिद्धी वचनिका, समयसार की टीका आदि की रचना इसी जयपुर में हुई है। यहा के विशाल, समुन्नत, भव्य जिनालय बडे सुन्दर है। मूर्तिया भी मनोज्ञ है। ९० चैत्यालय तथा ५४ मंदिर है। जिस प्रकार की महिमाशाली धर्म की सामग्री जयपुर-तथा उसके आसपास के क्षेत्रों में है

पर लोगो का ध्यान नही गया होगा । शास्त्रों में नवदेवता कहे गए है —

"इतिपंच महापुरुषा प्रणुताः जिनधर्म–वचन–चैत्यानि ।
चैत्यालयाश्च विमला दिशन्तु बोधिं बुधजनेष्टाम् ॥"

(दशभक्ति पृ ३०६)

इस प्रकार अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी रुप पच महापुरुषो की स्तुति की गई । वे पचमहापुरुष, जिनधर्म, जिनवाणी, जिनबिम्ब तथा जिनालय ये बुधजनो की प्रिय निर्मल बोधि को प्रदान करें । अभिषेक जिनबिम्ब का होता है, केवली भगवान का अभिषेक नही होता है । दूसरी बात यह भी है, कि इस विषय में आगम को देखा जाय, तो ज्ञात होगा, कि जिनबिम्ब का जल, घी, दूध, दही तथा रस के द्वारा अभिषेक करना कर्त्तव्य कर्म है । गुमानपथी भाइयो को सोचना चाहिए कि आचार्य परपरा किस बात को बताती है । बाहुबलि भगवान का श्रमणबेलगोला में जो अभिषेक घी, दूध, दही आदि से होता है, वही आगमोक्त पद्धति है । प्रायः सभी प्रतिष्ठा ग्रथो में पूजा के पूर्व में किए जाने वाले अभिषेक का यही स्वरूप कहा गया है ।

सास्कृतिक महत्व पूर्ण केन्द्र

जयपुर के शास्त्र भण्डार में महत्वपूर्ण ग्रथो का संग्रह है । जैन सस्कृति के लिए उपयोगी विपुल सामग्री जयपुर में विद्यमान है । उसका वर्णन स्वय एक ग्रथ का रूप धारण कर ले । इस नगर में बडे बडे धर्मात्मा पुरुष हुए है । अमरचद जी दीवान जैसे धार्मिक पुरुष यहा ही हुए, जिनने शेर को मांस नही खिलवाया । उस क्षुधित शेर के समक्ष मधुर मिष्ठान्न से भरी थाली रखवा कर कहा था— "मृगराज यदि भूख शांत करना है तो यह मधुर भोजन खालो, यदि मास की लालसा है, तो मेरे

अमरचंद दीवान, व टोडरमल जी की भूमि

शरीर से उसे पूर्ण करो, मै दूसरे का मास खिलवाकर दुर्गति को नही जाना चाहता हू । मेरा शरीर चाहते हो, तो मै तैयार हू ।" एक आत्मवान् तेजस्वी व्यक्ति की वाणी से मृगराज प्रभावित हुआ और उसने थाली से भरी हुई मिठाई को चुपचाप खा लिया ।" आत्म–तेज विभूषित आत्माओ के प्रभाव से ऐसे कार्य बन जाते है, जिनके विषय में तर्क शास्त्र की प्रतिक्रिया हतप्रभ हो जाया करती है ।

ऐसी प्रसिद्धि है, कि टोडरमलजी की प्रतिभापर मुग्ध हो इन दीवान

साहब ने उनको आजीविका की चिन्ता से मुक्त करके जैन साहित्य की सेवा में ही संलग्न रहने की सामग्री उपस्थित की थी । इससे थोड़े जीवन में टोडरमल जी महान कार्य कर गए। उनके पिता जोगीदास और माता रंभा देवी थी । उनने अपने प्राण व शरीर के विषय में इस प्रकार परिचय दिया है ।

रंभापति स्तुत गुन जनक जाको जोगीदास ।
सोई मेरी प्रान है धारै प्रकट प्रकाश ॥१॥
में आतम अरु पुद्गल खंध, मिलकें भयो परस्पर बंध ।
सो असमान जाति पर्याय, उपज्यो मानुषनाम कहाय ॥
मात गर्भ में सो पर्याय, करि कें पूरण अंग सुभाय ।
बाहर निकसि प्रगट जब भयो, तब कुटुम्ब को भेलो भयो ॥३॥
नाम धरयो तिन हर्षित होय, टोडरमल्ल कहे सब कोय ।
ऐसो यह मानुष पर्याय, बंधत भयो निजकाल गमाय ॥४॥

अपनी निवासभूमि जयपुर के बारे में लिखा है:–

देश ढुंढा इह माहि महान, नगर सवाई जयपुर थान ।
तामें ताको रहतो घनों, थोरो रहनो ओडे बनो ॥५॥
तिस पर्याय विषै जो कोय, देखन जानन हारो सोय ।
मैं हूं जीव द्रव्य गुन भूप एक अनादि अनंत अरुप ॥६॥
कर्म उदय को कारण पाय,, रागादिक हो हैं दुखःदाय ।
ते मेरे औपाधिक भाव, इनको विनशै में शिवराव ॥७॥

उनकी रचना से यह स्पष्ट झलकता है, कि वे जल से भिन्न कमल वृत्ति वाले महान आत्मा थे । यदि आज के समान उस समय आचार्य शांतिसागर महाराज सदृश श्रेष्ठ आत्मा का सुयोग मिलता, तो वे अवश्य अपने मुनि अंत.करण को जिनमुद्रा से अलंकृत करते । उनने नग्न मुनिराज की कितने सुन्दर शब्दों के अभिवदना की है:–

मैं नमो नगन जैन जन ज्ञान ध्यान धन लीन ।
मैं-न मान-बिन, दान-धन एन हीन तन-छीन ॥

मै नगन तन वाले, ज्ञान तथा ध्यान रूपी धन में लीन जैन जन– मुनिराज को प्रणाम करता हूँ, जो अहंकार रहित है, मान रहित दान देने में मेघ समान पापरहित तथा क्षीण शरीर मुक्त हैं । टोडरमल जी सदृश प्रतिभाशाली जैन विद्वान का जीवन जैन धर्म विद्वेषी ब्राह्मणों को सह्य

नहीं हुआ, अतएव षड्यन्त्र रचकर शिव पिंडी के ध्वंस का दोष टोडरमल जी पर रखा जिससे क्रुद्ध राजा ने जैनियों को तो कैदी कर लिया था तथा टोडरमल जी को हाथी के पैर के नीचे कुचलकर मरवा डाला था। पं० बखतराम शाह के बुद्धि-विलास ग्रंथ में लिखा है-

तब ब्राह्मणनु मतो यह कियो, शिव उठान को टोना दियो।
तामैं सबै श्रावगी कैद, करिके दंड किये नृप कैद।
गुरु तेरहपंथिनु को भ्रमी, टोडरमल्ल नाम साहिमी।
ताहि भूप मार्यो पल माहि, गाड्यो मद्धि गंदगी ताहि॥

धर्म चर्चा का महान केन्द्र

पं. टोडरमल जी की साहित्य-साधना में प्रेरक बाल ब्रह्मचारी धर्मात्मा रायमल जी थे। उनने लिखा है-

रायमल्ल साधर्मी एक, धर्म सधैया सहित विवेक।
सो नाना विधि प्रेरक भयो, तब यह उत्तम कारज भयो॥

जयपुरनगर धार्मिक चर्चा का प्राचीन काल में बड़ा केन्द्र था। समय प्राभृतटीका की प्रशस्ति में पं० जयचंद जी ने लिखा है-

जैपुर नगरमांहि तेरापंथ शैली बड़ी,
बड़े बड़े गुनी जहां पढ़ें ग्रंथ सार है।
जयचंद्र नाम मैं हूं तिनमें मैं अभ्यास कछू,
कियो बुद्धि सारु धर्मराग तें विचार है।

यहां टोडरमल जी ने गोमट्टसार की भाषाटीका विक्रम संवत् १८१८ में पूर्ण की थी, और जयचंद्र जी ने समयसार की टीका १८६४ में समाप्त की थी। इस प्रकार जयपुर का हिंदी जैन साहित्य के निर्माण तथा विकास में बड़ा स्थान था। धार्मिकों का अच्छा समुदाय था, आज का जयपुर देखकर लोगों को आश्चर्य होगा; किन्तु कुछ ऐसे धार्मिक परिवार फिर भी मिलेंगे, जो जिनधर्म की अनन्य भाव से आराधना करते हैं।

अनेक लेखों से ज्ञात होता है, कि जयपुर तेरापंथ का बड़ा भारी केन्द्र रहा है। वहां आचार्य शांतिसागर महाराज का संघ पहुंचा। कोई कोई सोचते थे, सब तो तेरापंथ के विरोध में बीस पथ का प्रचार करते हैं। यह भ्रम की बात है। प्राचीन ग्रंथों में तेरह, बीस का भेद रंचमात्र भी नहीं दिखता है। प्रतीत होता है उत्तर भारत में यवन काल में भट्टारकों ने जब अपने पद के गौरव के अनुसार अपनी प्रवृत्ति नहीं रखी, तब उनकी चिकित्सा

करनें को तेरह पथ नाम का सघ उत्पन्न हुआ । दक्षिण में गुरु परपरा परिग्रहधारी भट्टारकों के हाथ में न रहकर दिगम्बर मुनियो के अधीन रही आई, क्योंकि वहाँ दिगम्बर मुनि की परंपरा अक्षुण्ण रीति से चली आ रही है, अतएव उत्तर सदृश दक्षिण में चिकित्सा के हेतु सघ स्थापना की अवश्यकता नही हुई । मोक्षाभिलाषी व्यक्ति का कर्तव्य है कि आगम के अनुसार प्रवृत्ति करे । आगम सर्वज्ञ भगवान की वाणी है । जो बात अनेक ग्रथ कारो की रचना में पाई जाय उसे पथ के नाम पर कैसे उडाया जा सकता है, जैसे घी, दूध आदि के द्वारा अभिषेक को बडे बडे प्रमाणिक आचार्यों की कृतियो में देखकर उसे न मानना कैसे उचित होगा ? तेरह पंथ के नाम पर कई बातें ऐसी भी प्रचार में आई थी, जिनको आज मानना कठिन पडता है, जैसे रात्रि को मदिर जी में प्रकाश नही करना । आज आवश्यकता पथवाद के स्थान में आगम के अनुसार प्रवृत्ति करने में है । तेरह और बीस पथो में प्रचलित जो जो क्रियायें आगम में न हो, उनको छोडने में सकोच न होना चाहिए । आचार्य शातिसागर महाराज ने आगम के अनुसार धर्म का उपदेश दिया है । उनका एक ही पथ है, वह है निर्ग्रंथ पथ ।

आगम पथी बनना कल्याणकारी है, पक्षाधता सुखद नही ।

रूढि– परपरा के बीच में निमग्न व्यक्ति को सम्यक्पथ पर लगाना साधारण व्यक्ति का काम नही है । यह तो आचार्य महाराज की असाधारण आत्मशक्ति तथा प्रभाव है, जो उनने सर्वत्र आगमोक्त पद्धति का प्रचार करा दिया है । पथ भेद के झगडे के अवसर पर महाराज से कोई मार्ग पूछे तो वे आगम का मार्ग भर बता देते है । उस निमित्त से सक्लेश की सामग्री नही इकट्ठी करते । वे सूर्य के समान कर्तव्य-अकर्तव्य पथ का प्रदर्शन कर देते है । आत्मकल्याण के प्रेमी तत्काल उनके कथन को शिरोधार्य करते है ।

जो जयपुर धार्मिकता का किला था, वह शिथिलाचार प्रचुर होता जा रहा था । उस समय आचार्य महाराज ने अपनी सन्मार्ग देशना द्वारा बहुतो को धर्म मार्ग में स्थिर किया । विघ्नो के विपधरा से वे विचलित नही हुए । सदाचार को लुप्त करने वाली प्रवृत्तिया के विरोध में उनने निर्भय होकर उपदेश दिया, प्रचार किया । उनके समक्ष जनता के सताप और प्रसन्नता के स्थान में आगम की आज्ञा का पालन करना मुख्य कार्य है । आज महाराज के युक्ति पूर्वक कथन तथा अपूर्व प्रभाव वश जो जयपुर

तथा अनेक स्थानों के लोगों ने शुद्ध खानपान की प्रतिज्ञा ले ली है, उसके कारण मुनियो तथा उच्च श्रावकों को प्रत्येक स्थान में अनुकूलता दिखाई पड़ती है, अन्यथा आज के होटल के युग मे शुद्ध प्रवृत्ति वाले परिवारो का प्राप्त करना बड़ी समस्या रहता। दिल्ली चातुर्मास के समान जयपुर में भी आचार्य श्री का संघ बोरडी का रास्ता, पाठोदी का मंदिर आदि विविध स्थानों में रहा था, इससे उस विशाल नगर की यत्र तत्र बिखरी हुई समाज को धर्म लाभ हो सका।

नूतन धारा

जयपुर चातुर्मास के समय का संयम लोपी राष्ट्र का वातावरण

जयपुर चातुर्मास के समय गांधी जी का शूद्राशूद्र भेद निवारक आंदोलन उग्ररुप में था। उस समय जयपुर के अनेक राष्ट्र भक्त जैन तरुणो ने चमार, मेहतर आदि के साथ भोजन किया था। उनकी दृष्टि में जो भी वस्तु गांधी जी से मिलती है, वह आख मीचकर शिरोधार्य थी। इसीलिए राष्ट्र धर्म के गुरुदेव की आज्ञानुसार उच्च कुल तथा सस्कार वाले सैकडो लोगो ने हजारो घरो में जाकर एक दिन मेहतरो का पार्ट पूरा करने के हेतु पाखाना साफ किया था। उस समय उनका उत्साह देख ऐसा मालुम होता था, अब यह काम शायद सदा करेंगे। श्रेष्ठ कार्य क्या एक दिन के लिए ही होता है ?

प्रवाह की कथा अद्भुत होती है। उस समय विचार शक्ति दब जाती है। जैसे देश में जब साम्प्रदायिक उन्माद फैला था, तब हिन्दू को देख मुस्लिम के मन में, सहार का भाव पैदा होता था, और यवन को देख हिन्दू के चित्त में उसके विनाश की भावना उत्पन्न होती थी। उस आंदोलन के समय सारा वातावरण उस प्रकार के भावो से आपूर्ण रहने के कारण बहुत कम व्यक्ति है जो स्वतंत्र विचार से प्रवाह के निर्णय के विपरीत विचार सकें। देश में असहयोग आंदोलन की लहर जब उठी थी, तब विदेशी वस्त्रो की दाह, क्रिया को कल्याण कारी समझा जाता था, भले ही आज का विचारक उस वस्तु के औचित्य के बारे में संदेह करें या उस कार्य में विवेक-न्यूनता के बीज देखें, किन्तु प्रवाह के समय टिकने की क्षमता विरले व्यक्तियो में पाई जाती है। ऐसे प्रवाह के समय पर जनता की दासता का ध्यान न करके अपने पवित्र सिद्धान्तो पर सुदृढ रहना ही लोकोत्तर पुरुष का कार्य है।

सीता को वनवास देते समय रामचन्द्र के निश्चय के विरुद्ध अयोध्या की जनता का माता सीता की भक्ति वश क्या कम विरोध था ? किंतु न्याय मूर्ति राम ने उसके विरोध का कोई मूल्य न करके अपने विवेक के अनुसार कार्य किया। इसी प्रकार जयपुर चातुर्मास के समय भंगी-भक्ति की भंग ने देश के मस्तिष्क में एक अद्भुत असर उत्पन्न कर दिया था, उसने जयपुर के जैन तरुणो पर भी अपना प्रभाव दिखाया। मांस-भक्षी,

मद्य-सेवी भंगी, चमारो के साथ जैन युवको का सहभोज हो, वे ही तरुण अपने घर के चौको में आकर आहार करें, तब उन चौको में आचार्य शांतिसागर महाराज जैसे श्रेष्ठ अहिंसा धर्म की पालक आत्मा की निर्दोष आहार विधि किस प्रकार सपन्न होगी। इस समस्या ने आचार्य महाराज को गभीर विचार के लिए प्रेरणा दी।

महाराज का विश्वास है कि शूद्रो में पवित्रता प्रसार द्वारा ही आत्मा का उद्धार होगा

शूद्रो का उद्धार आचार्य महाराज भी करना चाहते है, करते है, और किया भी है, किंतु राजनैतिक ससार में कीर्ति लूटने के लिए नही, उन दीन दु खी आत्माओ के जीवन में पवित्रता प्रतिष्ठत करने के लिए करना चाहते है। वे ऐसा उपाय सोचते है, कि यह जीव फिर कभी जन्म जन्मातर में भी शूद्र न हो, और धीरे २ बढते २ ब्राम्हण क्षत्रिय, शूद्र आदि के विकल्पो से मुक्त होकर सिद्धत्व को प्राप्त कर ले। खानपान एकता से आत्मा का उद्धार होना आत्म दर्शी श्रेष्ठ महात्मा के दिव्य ज्ञान में विनोद प्रद कार्य प्रतीत होता था। हिंसादि पापाचारो से सबध विच्छिन्न हुऐ बिना आत्मा का उद्धार सामाजिक व्यवहार द्वारा सपन्न मानना आचार्य महाराज की दृष्टि से योग्य कार्य नही था।

एक आदमी के पेट में फोडा हो गया है। उसकी नीरोगता के लिए सुनकर वस्त्रों, आभूषणो का धारण करना, अथवा उसकी करोडो व्यक्तियो द्वारा पाद पूजा के द्वारा क्या कार्य सपन्न होगा? भला इन बाह्य वस्तुओ का भीतर क्या असर होगा? फोडा को ठीक करने के लिए जनता के पास न दौडकर चतुर चिकित्सक के पास जाकर चाकू चलाने की प्रार्थना करना होगा, तब उस व्यक्ति को सुख शांति तथा नीरोगता की प्राप्ति होगी, किन्तु यह कार्य स्थूल दृष्टि से मधुरता पूर्ण नही दिखेगा, यद्यपि उसके कल्याण का एक मात्र यही उपाय है। इसी प्रकार जगत में जीव की अनत परणतियां उसके द्वारा पूर्ण उपार्जित कर्मो का फल है। उन कर्मों के भेद उच्च गोत्र के उदय से जीव श्रेष्ठ कुलो में जन्म लेता है। नीच गोत्र कर्म के उदय से शूद्रादि की पर्याय में जन्म धारण करता है। यह वस्तु स्थिति है। इसे भूलकर दोनो को एकान्त रूप से एक समझना विवेक विरुद्ध होगा।

एक बार बंबई सरकार के हरिजन मंत्री श्रीयुत तपासे से बबई मदिर प्रवेश कानून के विषय में हमारी फलटण के तीन चार जैन वकीलो के

साथ चर्चा हुई थी। मिनिस्टर तपासे ने कहा– "जैन धर्म मे तो शूद्र का भेद ही नहीं है। जैन धर्म–सिद्धांत के अनुसार हरिजनो का भेदभाव नही मानना होगा।" मैंने पूछा— "यह आप किस आधार पर कहते हैं, क्या यह आपकी व्यक्तिगत राय है या आप जैन शास्त्रो का विचार कह रहे हैं।" मिनिस्टर महोदय बोले– 'जैन शास्त्र के आधार से मैं ऐसा कह रहा हूँ ?" मैने कहा– "तत्वार्थ सूत्र जैन समाज का अत्यंत मान्य ग्रंथ है। उसमें कर्मो के आठ भेदो में एक भेद गोत्रकर्म कहा है। उसके उच्च गोत्र, नीच गोत्र दो भेद कहे गए हैं। अतएव उच्च और नीच सम्बन्धी भिन्नता शास्त्र संगत है। भले ही वह आज की राजनैतिक विचारधारा से प्रतिकूल हो।"

सन १९३२ में पृथक निर्वाचन पद्धति (Separate electorate) के अनुसार भारतवर्ष का चुनाव होगा-यह घोषणा प्राइम मिनिस्टर रेमजे मेंगडोनल्ड ने १७ अगस्त को की थी। इस सम्बन्ध में गांधी जी ने विरोध म २० सितम्बर से आमरण अनशन आरंभ किया था। कारण वे हिन्दुओ और हरिजनों मे पृथक चुनाव के द्वारा भिन्नता को राष्ट्रीय ऐक्य के लिए घातक सोचते थे। गाधी जी का जीवन राष्ट्र के लिए अत्यंत मूल्यवान था। उस समय देश में अस्पृश्या के प्रति ऐक्य प्रदर्शन की प्रचंड आंधी आई थी। बडे २ हिन्दू मंदिर हरिजनो के लिए खोले गए थे। कट्टर हिन्दुओ ने महतरो के साथ खाकर अपना प्रेम व्यक्ति किया था। उस उथल-पुथल के तूफान का जयपुर के आधुनिकता के अनुरागी कुछ युवको पर असाधारण असर हुआ, इससे उनने शूद्रों के साथ सहभोज आदि किया था।

ऐसे अवसर पर जबकि सारे देश मे अस्पृश्य भक्ति व्यक्त की जा रही हो, आचार्य शांतिसागर महाराज का अपनी प्रतिज्ञा पर मेरु की भांति अडिग रहना साधारण बात न थी। उस समय जयपुर की गुरु चरणानुरागी पंचायत ने यह निश्चय किया था, कि जिन २ लोगो ने भंगियो के भोजन में भाग लिया था, उनमे समाज अपना व्यवहार छोडती है। इस प्रकार उस आंदोलन की दावाग्नि से धार्मिक समाज ने धार्मिक प्रवृत्ति का संरक्षण किया था। जो लोग धार्मिक विषयो में राजनीतिज्ञो को गुरु मानते हैं, वे तीर्थंकरो की वाणी के भक्त किस प्रकार माने जावेंगे ? लौकिक, राजनैतिक कार्यों में ऐक्य नहीं है। हजारो व्यक्ति हमारा मार्ग–दर्शन करते हैं। मोटर में जाने पर ड्राइवर मार्ग–दर्शक होता है। अस्पताल में

डाक्टर पथ प्रदर्शन करता है। न्यायालय में न्यायाधीश मार्ग प्रदर्शक होते हैं। ऐसी विविध प्रवृत्तियों में जो २ ज्ञाता है, वह हमारा क्या सभी का मार्गदर्शक (guide) होता है, किन्तु मोक्षमार्ग में ऐसे व्यक्ति का पथप्रदर्शन कैसे हितप्रद होगा, जिसके पास सम्यक्त्व का प्रकाश ही नहीं आया है ?

धर्म के क्षेत्र में सच्चा मार्ग प्रदर्शन करने वाले

जैन धर्म में गुरु का पद उस महापुरुष को प्राप्त होता है जो रत्नत्रय से भूषित हो। उसके चरणों को असंख्य जन समुदाय के द्वारा वद्य चक्रवर्ती प्रणाम करता है। देवो के इद्र प्रणाम करके भक्ति व्यक्त करते हैं। ऐसे रत्नत्रय धारियो में आचार्य महाराज हैं। राष्ट्र के नेता को धर्म के क्षेत्र में भी नेतृत्व देना ऐसा ही अद्भुत काम है, जैसे बैलगाडी वाले के हाथ में वायुयान चलाने के लिए 'पाइलट' (Pilot) का उत्तरदायित्व सौपना। मोक्षमार्ग का नेतृत्व अनत राजनैतिक नेतृत्व और लौकिक श्रेष्ठ पद पाने पर भी नही मिलता। इस जीव ने अनतबार अंतिम ग्रैवेयक के सुखों को प्राप्त किया, वहा की अहमिंद्र रूप पदवी पाई, फिर भी रत्नत्रय की आत्म ज्योति से वचित रहा। अतएव आत्मकल्याण के क्षेत्र म आत्म विद्या से अपरिचित व्यक्ति से प्रसिद्धि के आधार पर नेतृत्व पाने का उद्योग श्रेयस्कर नही हो सकता। राजनैतिक क्षेत्र के अत्यत आदरणीय नेता को जिन शासन का पथ-प्रदर्शक मानना भयकर भूल भरा कार्य है। धर्म और राजनीति का क्षेत्र एकान्त एक नहीं हो सकता है।

जैन तीर्थंकरो ने मधु को मास और मद्य के साथ त्याज्य बताया है, किन्तु वह गांधीजी की अत्यन्त प्रिय वस्तु रही है। सन १९३२ के उपवास को आरभ करते समय गांधीजी ने गरम पानी के साथ नीबू का रस तथा शहद लिया था।[१] मधु के सबध में मैंने गांधीजी से प्रत्यक्ष चर्चा की थी, कि अहिंसा की साधना के लिए तीर्थंकर महावीर ने मधु का त्याग आवश्यक

गृहस्थ को सकल्पी हिंसा नहीं करना आवश्यक है

कहा है, किन्तु उनका मधु का मोह नही गया। यह तो खाने पीने की बात हुई। अब अहिंसा के बारे में भी उनका मार्ग दर्शन तीर्थंकरो की शिक्षा से टकराता है। जैन धर्म में विरोधी हिंसा का गृहस्थ

---

१ "Gandhi took his last meal It consisted of lemon juice and honey with water"

Life of Mahatma Gandhi P 137

परिहार नहीं कर सकता है। संकल्पी हिंसा का त्याग करना आवश्यक है गांधीजी का अनुभव संकल्पी हिंसा में अहिंसा का दर्शन करता है। सन १९२६ में अहमदाबाद के मिल मालिक सेठ अम्बालाल साराभाई ने साठ कुत्तोंको मरवा दिया था, जो सेठ जी के मिलके आसपास फिरते थे। इसकी हत्या का गांधीजीने समर्थन करते हुए कहा था 'what else could be done?' "उनकी हत्याके सिवाय और क्या किया जा सकता है?" समर्थ व्यक्ति उनकी चिकित्सा की व्यवस्था कर सकते हैं। एक मिल के मालिक के पास जब शोषण द्वारा करोड़ो की संपत्ति आती है, तो क्या साठ जीवों के रक्षण का कार्य असंभव हो सकता है? इन विचारों के स्थान में गांधीजी का तर्कवाद यह कहता था।[1]

कुत्तों के वध का समर्थन करते हुए गांधीजी ने लिखा था, "फिरते हुए कुत्ता का कोई मालिक न होने से वे समाज के लिए खतरनाक हैं। यदि लोगों में सचमुच में धार्मिकता है तो लोगों को अपने आप को कुत्तों का मालिक बनाना चाहिए।" यह विवाद काफी चला, किन्तु गांधीजी कुत्ता-वध पक्ष से जरा भी पश्चात् पद न हुए। कुत्ता यदि निर्दोष है, तो उसका मारना संकल्पी हिंसा है। यदि वह आक्रमण शील हो जाता है, और उसके सुधार का उचित उपाय नहीं है तो उस स्थित में उत्तर दायित्व वाले व्यक्ति द्वारा अनिवार्य घात किया जाना विरोधी हिंसा होगी, जिससे स्थूल वध त्यागी गृहस्थ नहीं बचा है। जैन क्षत्रियों ने न्यायपक्ष के समर्थन में युद्ध स्थल में जाकर भीषण युद्ध किए हैं, उनमें अगणित नरसंहार हुआ है, किन्तु निरर्थक रूप से वे ही क्षत्रिय छोटे से भी जीव के घात से बचे हैं। संकल्पी हिंसा सबसे खतरनाक है, क्योंकि उसका लक्ष्य केवल प्राण घात है। कानून भी (intentional injury.) संकल्पी हिंसा को अपराध मानता है।

गांधीजी की अहिंसा की अग्नि परीक्षा कुत्ता काण्ड से हुई थी। किन्तु इन विचारों पर दूसरों के काटने दोष लगाया जा सकता था। कुत्ते को बदनाम करके मार डालना दुनियां में अपराध नहीं माना जाता है। प्रसिद्ध नीति ही है 'Give a dog bad name and hang it'

---

१ "A roving dog without owner is a danger to society If people were really religious, dogs would have owners"

अब दैवयोग से अत्यन्त निर्दोष गोवत्स का प्रसंग आ गया[1] गांधी जी के आश्रम में एक बछड़ा बीमार हुआ। उसे इंजेक्सन दिलवाकर गांधीजी ने मरवा डाला, कारण उनने उसका इलाज करके यह देखा कि इसका बचना अब शक्य नहीं है, मानो गांधीजी को कैवल्य हो गया हो। उस कार्य को करते हुए उसका औचित्य गांधीजी ने सिद्ध करने में सारी शक्ति खर्च कर दी थी।

अब मांस भक्षण को ही लीजिए। अहिंसा की वेशिका परीक्षा के लिए मांस भक्षण का त्याग अनिवार्य तीर्थंकरो ने बताया है। सिंह की पर्याय तक में महावीर बनने वाले जीव को मांसाहार का त्याग कराया गया है, किन्तु गांधीजी श्री सी एफ एंड्रूज को मांस खाते हुए भी श्रेष्ठ अहिंसा का पदक प्रदान करते थे। उनने अपने लेख में चर्चा करते हुए कहा था कि उनसे बढ़कर अहिंसक और कौन हो सकता है?

अब्रह्म के क्षेत्र में भी उनका मार्ग दर्शन पश्चिम की प्रतिकृति पूर्ण था। बालविधवाओ का विवाह करना माता पिताओ का वे कर्तव्य मानते थे। इसलिए उनका पथ प्रदर्शन निर्मल शीलके लिए भी वज्र प्रहार-रूप था। उनकी महत्वाकांक्षा थी, कि वह दिन उनकी दृष्टि में धन्य होगा, जब जातियो की समाप्ति हो जायगी तथा ब्राम्हण महतरानियो से शादी करेंगे।[2]

गांधीजी हरिजन, ब्राम्हण आदि के भेद भाव को हिंसा कहते थे। कुत्तों को मारना अहिंसा, बछडे को मरवा डालना अहिंसा, मांस का खाना अहिंसा, शहद का खाना अहिंसा, विधवाओ का विवाह करना अहिंसा, किंतु अपनेको ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, कहना हिंसा है। यह उनका तत्वज्ञान है।

---

१ A young heifer in the ashram fall ill. Gandhiji tended it and watched it suffer and decided it ought to be put to death. Kasturbai objected strenously. Then she must go and nurse the animal, Gandhi suggested. She did and the animals torment convinced her. In Gandhi's presence a doctor administered an injection which killed the heifer.

L. Fisher- 'Life of Mahatma Gandhi'

२ "He yearned for the day, when there would be only one caste and Brahmans would marry Harijans."

Ibid. p 457

क्या असमानता हिंसा है ?

मैं सामाजिक क्रांतिवादी हूँ । समानता के अभाव में हिंसा होती है, समता में अहिंसा होती है ।

इस अहिंसा की परिभाषा का तर्क की कसौटी पर कसा जाय, तो बड़ी विचित्र स्थिति हो जायगी, कारण विश्व में अनंत

विश्व तो वैषम्य तथा एकत्व का पुंज है

प्रकार की असमानता में है, उसमें एकान्त समानता का समावेश कैसे किया जा सकता है,[1] नाम, रूप, गुण, धर्म, देश, काल आदि की अपेक्षा भेद तो पंडित लोग बतावेंगे, साधारण आदमी तो पांचों अंगुलियों में असमानता देखता है । दोनों हाथों में एकान्त समानता नहीं है । पागल, बुद्धिमान, गरीब, अमीर, दुबला, पतला, अंधा, लूला, बालक, बूढ़ा, गोरा काला आदि भेदों को मानना कैसे हिंसा होगा ? गांधीजी की अहिंसा सत्य की बेटी है । अतः सत्य के प्रकाश में प्रगट होने वाला भेद बेटी अहिंसा के कैसे प्रतिकूल होगा ? कर्म कृत भिन्नता को कैसे भुलाया जा सकता है ?

गांधीजी की सत्य निष्ठा को सभी स्वीकार करते है । सौभाग्यकी बात है कि वे अपने को कच्चा अहिंसक मानते है, अतएव मुमुक्षु का कर्तव्य है, कि कि पक्के अहिंसा वाले तीर्थंकरो के आगम से प्रकाश प्राप्त करें । सरल अन्तःकरण वाले बापू ने लिखा है—"मैं सत्य को ही परमेश्वर मानता आया हूँ । सत्यमय बनने के लिये अहिंसा ही एक राज मार्ग है । मेरी अहिंसा सच्ची होते हुए भी कच्ची है, अपूर्ण है ।" (आत्मकथा—अध्याय ४४ पूर्णाहुति)

इस प्रसंग में अमेरिकन लेखक लुईफिशर के साथ गांधी जी का सन् १९४६ में हुआ वार्तालाप बोधप्रद है । लुईफिशर ने कहा—मेरी समझ से आप आजादहिंद फौज तथा सुभाषचंद्र बोस (जो उस सेना के नायक है तथा जो दूसरे महायुद्ध में जर्मनी तथा जापान पहुंचे थे ।) के प्रभाव से भयभीत है ? उसने युवकों के मन में प्रवेश कर लिया है और आप उससे परिचित हैं और उस भावना से डरते हैं । गांधी जी ने कहा था—"उसने सारे देश का ध्यान अपनी ओर नहीं खेंचा है । देश बड़ा व्यापक शब्द है । देश के

1 "I am a social revolutionist. Violence ' by inequality, non-violence equality".

एक वर्ग के युवकों तथा स्त्रियों का ध्यान उसने खेंचा है, जो उसके अनुयायी है। परमेश्वर ने भारतवर्ष के लिये सौम्यता सुरक्षित रखी है। 'शान्त हिन्दू' शब्द का प्रयोग निंदा के रूप मे होता है, किन्तु मैं इसे सम्मानप्रद मानता हूँ जिस प्रकार चर्चिल का मेरे लिए प्रयुक्त 'नग्न फकीर' शब्द। मैंने तो उसे अपने लिए प्रशंसा के रूप मे लिया है तथा इस सम्बन्ध मैंने चर्चिल को लिखा था। मैंने चर्चिलसे कहा है कि मैं नग्न साधु बनना चाहता हूं, किंतु अब तक वैसा नही बन पाया हूं—

लुई शिफर— "क्या उनका उत्तर आया?"

आचार्य श्री सदृश दिगम्बर पद के लिए गांधी की तीव्र लालसा थी

गांधी जी— "हां! उनने नम्रतापूर्वक वायसराय द्वारा मेरे पत्र की पहुँच दी थी।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गांधीजी की आन्तरिक लालसा दिगम्बरत्व की थी, क्योंकि उस अवस्था में आत्मा का सर्वांगीण विकास होता है। परिग्रह आत्मा की विशुद्धता को उसी प्रकार प्रगट नही होने देता है, जैसे मेघ पटल सूर्य के प्रकाश को रोकता है।

---

१ "L. F. I think you are afraid of the spirit of the Indian Natinal Army of Subhash chandra Bose-(its hero,who went of Germany and Japan during the Second world war) He has captured the imagination of the youth and you are aware of it or you fear that mood"

Gandhi: "He has not captured the imagination of the country. It is too-wide a term, but a section of the youth and of the women follow him. ..The almighty has reserved mildness for India, " The mild Hindu" is used as a term of reproach. But I take it as a term of honour, just like Churchill's" Naked Fakir" I appropriated it as a compliment and even wrote about it to Churchill. I told Churchill I world love to be a naked fakir but I am not one yet....

L. F.: "Did he answer ?"

Gandhi, "yes, he acknowledged my letter through the Viceroy in a courteous manner.

The life of Mahatma Gandhi P. 473.

शूद्रों के साथ खान–पान में क्या बुराई है इसके विषय में आचार्य ने कहा कि– "वे लोग मास हड्डी खाने वाले हैं। उनको काम करने का विवेक नही है। परंपरा से ही आचार होने से उनका देह पिण्ड शुद्ध नही है।

कोई २ यह सोचते हैं ढेढों के हाथ का आहार ग्रहण करने में साधुओं को क्या बाधा है ? उस भोजन में वह मद्य, मांस नही मिला देता है।

यह बात ठीक नही है। जैन आगम कहता है 'मास' शब्द सुनने से साधुओं को आहार छोड़ देना चाहिए। भंगी के स्पर्श हो जाने पर अस्नान रूप मूल गुण के होते हुए भी मुनि को दण्ड स्नान की आज्ञा है। महाराज ने कहा– "हम तो पाप से डरते हैं। शूद्रो के लिए खान पान आदि की आगम की आज्ञा नहीं है।"

मनोवैज्ञानिक विचार

इस प्रश्न पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि शूद्रों का परंपरा से मास, मद्य सेवन जीव वध आदि हिंसक कार्यो से संबंध रहा है। उनने सदा से करुणा की वेलि को एक बूंद प्रेम जल नही दिया है, बड़े मनुष्यो के समक्ष वे नम्रता दिखाते रहे है, किंतु अन्य जीवो के सहार में उन्हें जरा भी व्यथा नही हुई है; अतः जिनने हिंसा राक्षसी को सदा रक्त की बलि दी है जिनकी कुल परंपरा में भी वही काम किया गया है, अतः क्रूरता के संस्कार पितृ परंपरा से जिनके पास आये है, उन क्रूर संस्कार वालों का संपर्क उच्च आध्यात्मिक साधना के लिए भयंकर क्षतिकारक हो जाता है। क्षयरोगी के ससर्ग से दूसरे में उस रोग का संक्रमण होने से वह रोगी बन जाता है, इसी प्रकार हिंसादि हीन कार्यों में परंपरा से संलग्न जीव–क्षय करनेवाले व्यक्ति के संसर्ग होने से उज्वल भावनाओं पर एक ऐसा आघात पहुंचता है, जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते है। वह अतीन्द्रिद–दर्शी योगियो के ज्ञान गम्य है। यदि ऐसी बात न होती, तो परम कारुणिक तीर्थंकरो के उपदेश द्वारा सर्व साधारण के लिए मुनिपद का मार्ग उन्मुक्त रहता; किन्तु दिगंबर आर्ष साहित्य चरणानुयोग के ग्रथ यह बताते है, कि नीच कुलवालों को मुनिदीक्षा का अधिकार नहीं है।

भगवान आदिनाथ तीर्थंकर ने शूद्रवर्ण का कथन किया है। अतएव मोक्षाभिलाषी आत्मा जिन शासन के आदेश को मानेगा, कच्ची और अधूरी अहिंसा की साधना वाले को मुक्ति पथ में मार्ग दर्शक नही मानेगा। जैन

संसार को जीतना सरल है, लोक में असाधारण मान पाना कठिन नही है। कठिन है अतरग विकारो पर आत्मा का नियत्रण स्थापित करना। गाधी जी ने लिखा है– "मै तो मन के विकारो को जीतना सारे संसार को अस्त्र शस्त्र के बल पर जीतने की अपेक्षा भी कठिन समझता हूं।" उनने यह भी लिखा था "आत्मशुद्धि के बिना अहिंसा धर्म का पालन करना भी सर्वथा असभव है। चूंकि अशुद्धात्मा परमात्मा का दर्शन करने में असमर्थ रहता है, इसलिए जीवन पथ के प्रत्येक क्षेत्र में शुद्धि की आवश्यकता है।" (आत्मकथा पृ० ३४३,४४ शीर्षक पूर्णाहुति)।

ऐसी स्थिति में जो सत्यनिष्ठ सत्पुरुष अहिंसा का मन, वचन, काय कृत, कारित, अनुमोदना से पालन करता है, जो अहिंसा के प्रकाशदाता तीर्थंकरो की वाणी का ही सतत अभ्यास तथा परिशीलन करके उससे आत्म प्रकाश तथा शक्ति प्राप्त करता है, बाल्यजीवन से ब्रम्हचर्य का पूर्ण पालक हो, लगभग ४० वर्ष जिसे दिगम्बर पद को धारण कर निर्दोष पालन करते हुए हो गए, जो घोर तपस्वी है, ऐसी अनुपम विभूति शातिसागर महाराज के द्वारा धर्म का तत्व समझना और मगलमय जीवन का पवित्र पथ प्राप्त करना विशेष हितकारी, युक्ति युक्त तथा निर्दोष होगा। कभी २ बुद्धिमान पुरुष तक निधि को पास में रख कर बाहर खोजते हैं, इसी प्रकार अहिंसा की साधना के लिए आचार्य श्री से तत्व का स्वरूप जानना चाहिए, जो धर्म कोरी बात नही करते हैं, किंतु जिनका धर्ममय जीवन स्वय धर्म की को बताता है।

धर्म मूर्ति आचार्य वर हीं तत्वपथ बता सकते हैं।

आचार्य महाराज का मार्मिक दृष्टिकोण

आचार्य महाराज ने बताया था कि मनुष्यो में सामान्य दृष्टि से अभेदपना है, किंतु विशेष अपेक्षा उनमें शूद्रादि रूप भेद पाया जाता है। यदि भेद न माना जाय, तो स्त्री जाति की अपेक्षा समान होते हुए स्त्री, बहिन, बेटी में भेद क्यो मानते हो? वृक्षत्व की अपेक्षा सभी वृक्ष कहलाते हैं, किंतु आम आदि को ग्राह्य कहते हैं; वच्छनाग वृक्ष को नही खाते है उसे अग्राह्य बताते है। सब जानवर एक है तो गाय के समान व्याघ्र सिंह को पास में क्यो नही रखते?" महाराज ने कहा– "यदि सब मनुष्य सर्वथा समान हैं, तो सब पशु भी समान होंगे; ऐसी स्थिति में गाय के दूध को पीते हो, तो शूकरी का भी दूध क्यों नही पीते? वहां भी पशुपना समान भावसे देखा जाता है।"

शूद्रो के साथ खान–पान में क्या बुराई है इसके विषय में आचार्य ने कहा कि– 'वे लोग मास हड्डी खाने वाले है। उनको काम करने का विवेक नही है। परपरा से ही आचार होने से उनका देह पिण्ड शुद्ध नही है।

कोई २ यह सोचते है ढेडो के हाथ का आहार ग्रहण करने में साधुओ को क्या बाधा है ? उस भोजन में वह मद्य मास नही मिला देता है।

यह बात ठीक नही है। जैन आगम कहता है 'मास' शब्द सुनने से साधुओ को आहार छोड देना चाहिए। भगी के स्पर्श हो जाने पर अस्नान रूप मूल गुण के होते हुए भी मुनि को दण्ड स्नान की आज्ञा है। महाराज ने कहा– 'हम तो पाप से डरते है। शूद्रो के लिए खान पान आदि की आगम की आज्ञा नही है।"

मनोवैज्ञानिक विचार

इस प्रश्न पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि शूद्रो का परपरा से मास, मद्य सेवन जीव वध आदि हिसक कार्यो से सबध रहा है। उनने सदा से करुणा की बलि को एक बूद प्रेम जल नही दिया है, बडे मनुष्यो के समक्ष वे नम्रता दिखाते रहे है, किंतु अन्य जीवो के सहार म उन्हें जरा भी व्यथा नही हुई है, अत जिनने हिसा राक्षसी को सदा रक्त की बलि दी है जिनकी कुल परपरा में भी वही काम किया गया है, अत क्रूरता के सस्कार पितृ परपरा से जिनके पास आये है, उन क्रूर सस्कार वालो का सपर्क उच्च आध्यात्मिक साधना के लिए भयकर क्षतिकारक हो जाता है। क्षयरोगी के ससर्ग से दूसरे में उस रोग का सक्रमण होने से वह रोगी बन जाता है, इसी प्रकार हिसादि हीन कार्यो में परपरा से सलग्न जीव-क्षय करनेवाले व्यक्ति के ससर्ग होने से उज्वल भावनाओ पर एक ऐसा आघात पहुंचता है, जिसको हम कल्पना नही कर सकते है। वह अतीन्द्रिय-दर्शी योगियो के ज्ञान गम्य है। यदि ऐसी बात न होती तो परम कारुणिक तीर्थंकरो के उपदेश द्वारा सर्व साधारण के लिए मुनिपद का मार्ग उन्मुक्त रहता, किन्तु दिगबर आर्ष साहित्य चरणानुयोग के ग्रथ यह बताते है, कि नीच कुलवाला को मुनिदीक्षा का अधिकार नही है।

भगवान आदिनाथ तीर्थंकर ने शूद्रवर्ण का कथन किया है। अतएव मोक्षाभिलाषी आत्मा जिन शासन के आदेश को मानेगा, कच्ची और अधूरी अहिंसा की साधना वाले को मुक्ति पथ में मार्ग दर्शक नही मानेगा। जैन

धर्म की सूक्ष्म विचारपूर्ण, मनोवैज्ञानिक तत्व व्यवस्था उन महामुनियों की तपस्या का प्रसाद है, जिनकी अहिंसा परिपक्व, निर्दोष तथा पूर्ण रही है। अतएव जैन आगम का उपासक तीर्थंकरो के उपदेश को अपना मार्ग दर्शक मानेगा।

इसी कारण आचार्य महाराज १९३२ के हरिजनोद्धार आंदोलन के प्रचंड तूफान उठने पर भी मेरुवत अचल रहे। चतुर नाविक तो वही है, जो भयंकर तूफान आने पर नौका को सावधानी से चलाते हुए डूबने से बचावे। शिथिलाचार तथा भ्रष्ट प्रवृत्ति के पर्वतों को भी हिलाने वाले तूफानों के आने पर मोक्ष मार्ग की नौका को सुरक्षित रखते हुए तीर्थंकर महावीर के मार्ग पर खेने की कुशलता तथा वीरता का कार्य आचार्य महाराज ने किया है। यदि उन जैसी प्रबल आत्मा का पथ प्रदर्शन न होता, तो वीतरागोक्त विशुद्ध अहिंसात्मक संस्कृति की सुरक्षा असंभव थी।

तूफान के समय अचल वृत्ति

यह धारणा कि किसी को नहीं छूने से विद्वेष भाव टपकता है तथा जहाँ विद्वेष का विष है, वहाँ अहिंसा की कल्पलता कैसे रह सकती है अयथार्थ है। छूने से प्रेम और न छूने से द्वेष मानना अद्भुत तर्क है। एक दूसरे पर छुरी चलाने वाले सजातीय शत्रुओं में अस्पृश्यता का अभाव रहते हुए भी हिंसा पाई जाती है, कारण वहाँ विद्वेष दृष्टिगोचर होता है। अशुद्ध स्थिति में मातृ जाति का स्पर्श न करना उच्च जातियों में पाया जाता है, उसके भीतर विद्वेष का लेश भी नहीं है, केवल शुद्धता का संरक्षण उस प्रवृत्ति का मूल कारण है। कुटुम्ब के भीतर किसी की मृत्यु हो जाने पर लोग दूसरों से स्पर्श को बचाते हैं। भगवान की की पूजा नहीं करते, मुनि आदि सत्पात्रों को दान नहीं देते और मुनिराज ऐसे घरों का मर्यादित समय तक आहार नहीं करते। इसके मूल में विवेक है, जो शुद्ध तथा अशुद्ध का संपर्क नहीं कराता है। शुद्ध और अशुद्ध को मिलाने से अशुद्ध वस्तु बनती है। एक सेर दूध में एक बूंद रक्त को डालने पर रक्त में शुद्धता नहीं आती बल्कि सारा दूध ही रक्त के समान-शुद्धि-शून्य हो जाता है। इसी प्रकार, वंश परंपरा से हिंसादि कार्यों के करने के कारण जिनके खूनी हाथों की अशुचिता नहीं गई है,

शुद्धता का आधार विवेक है, विद्वेष नहीं

उनका स्पर्श बचाना अहिंसा का रक्षक है। नेत्रों के आधार पर एकान्ततः शुचिता या अशुचिता की भिन्नता का बोध नहीं हो पाता है। एक मिट्टी का बर्तन है। उससे क्षय रोगी ने जल पिया, निरोग व्यक्ति चश्मा लगाकर भी उसमें क्षय के जन्तुओं के संक्रमण को नहीं जान सकता है, किन्तु यदि वह नेत्रों के द्वारा उन विषाक्त जन्तुओं का दर्शन न होने से उस पात्र के जल को पीता रहे, उसके साथ सहभोज करता है, तो वह उस सहभोज से क्षय रोगी का उद्धार नहीं करेगा, किन्तु अपने भी उस विकृति को बुलाकर आप भी क्षय रोगी हो जायगा। इससे क्षय रोग की संख्या बढ़ेगी, घटेगी नहीं। इसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर जिन जीवों ने जन्मान्तर में हिंसा, कुशील, मांस भक्षण, शिकार खेलना, डाका डालना, परस्त्री अपहरण करना आदि कार्य किये हैं तथा जिनने अपने हाथों को सदा निरपराध जीवों के रक्त से रंजित किया है, उन संस्कार हीन जीवों का जन्म ऐसे परिवार में होता है, जहाँ तत्काल पूर्ण आध्यात्मिक विकास संभव नहीं है। जैसे म्यादी ज्वर का बीमार तत्काल ही रोग मुक्त होकर स्वस्थ व्यक्ति के समान प्रवृत्ति नहीं कर पाता, इसी प्रकार निरपराध जीव-वध आदि कलुषित कार्य करने वाले परिवार में जन्म धारण करने वाला जीव तब तक विशुद्ध आत्म-विकास नहीं कर पाता, जब तक कि उसमें विद्यमान विशेष दोषों का क्षय नहीं होता। एक व्यक्ति की आत्मा में लगे हुए परमाणु दूसरे जीव पर प्रभाव दिखाते हैं।

स्थूल दृष्टि से तो इस विषय का रहस्य ज्ञात नहीं होता, किन्तु दिव्य ज्ञानी जैनाचार्यों ने बताया है कि हिंसा आदि कुसंस्कारों में पोषित आत्मा के निकट संपर्क से दूसरे व्यक्ति की आत्मा का विकास नहीं होता। जिस तरह प्लेग के बीमार के संपर्क में आने पर उस संक्रामक रोग के द्वारा निरोग व्यक्ति भी बीमार बन जाता है, इसी प्रकार हिंसा आदि हीन कार्य में परंपरा से प्रवृत्ति करने वाले परिवार के पुरुष के संपर्क से दूसरे व्यक्ति में उचित आत्म-विकास नहीं हो पाता।

जो सर्वत्र एकता के स्थापन का विचार धारण करते हैं, वे प्रतीत होता है नगर पालिका के कचराघर को अपना आदर्श बनाए हुए हैं, क्या कि वहाँ सब पदार्थों का समान रूप से प्रेम पूर्वक स्वागत किया जाता है, ऐसी समानता तीर्थंकरों के शासन में कल्याणकारी नहीं मानी गई है।

एकान्त रूप से समानता मानना भी नही बनता जबकि जग में समानता की भांति भेद का भी वैभव दृष्टिगोचर होता है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर सर्वथा समानता युक्त कोई भी दो पदार्थ नही मिलेंगे। विश्व की विविधता ही एकान्त साम्य के भवन को धराशायी कर देती है, अत समानता में अहिसा है और विविधता में हिसा मे विचारधारा तर्क सगत नही है।

जिस व्यवस्था के मूल में जीवरक्षा का भाव है, करुणा की वृत्ति का पोषण होता है, वह व्यवस्था हिसा पूर्ण नही हो सकती। जहा जीव वध आदि पापो का नग्न ताण्डव होता है, उस समता को हिंसा राक्षसी का परिवार मानना होगा। धवल वस्त्र धारण करने से अथवा मधुर सम्भाषण द्वारा शुचिता की कल्पना करना विवेकी मानव का कर्त्तव्य नही है। जैन शास्त्र वैदिको के समान शूद्रो के प्रति घृणा भाव का उपदेश नही देते। जैन धर्म में जाति के अहकार मानने वाले के तत्वज्ञान का क्षय बताया है। वह अहकार ही इस जीव को शूद्र पर्याय अथवा पशु योनि आदि में ले जाता है। अस्पृश्यता के निवारण का उपाय राजसत्ता द्वारा विशेष कानून का बनाना नही है। मद्य, मास, शिकार, परस्त्री सेवन आदि पापाचारो का परित्याग करने से यह जीव अस्पृश्यता के जनक नीचगोत्र कर्म को दूर कर उच्च वश में उत्पन्न करने वाले उच्च गोत्र कर्म का बध करता है। अतएव अस्पृश्यो का उद्धार उनमें सदाचार तथा पवित्र नियमो का प्रचार करना है।

जैन कर्म व्यवस्था पूर्णतया वैज्ञानिक है। उसका आचार शास्त्र भी मनोवैज्ञानिक पद्धति पर अवस्थित है। सम्यक्त्वी जीव जाति, कुल, विद्या आदि का अहकार नही करता है। इसका कोई–कोई यह मतलब निकालना चाहते है, कि सम्यक्त्वी जाति–पाति तोडक पक्ष का सदस्य बन जाता है, यह नितान्तपूर्ण भ्रमपूर्ण बात है। जाति, कुल का वर्णन जिनागम में है। सप्त परम स्थानो में सज्जातित्व का प्रथम स्थान महापुराण सदृश आगम शास्त्र में बताया गया है। आगम को प्राण मानने वाला, जिन चरणो का दास कैसे सज्जातित्व लोप की बात को स्वीकार करेंगे? रानी रेवती ने पच्चीसवें तीर्थंकर का दृश्य दिखाने पर भी अपनी दृष्टि में मूढता नही आने दी, कारण आगम में पच्चीसवें तीर्थंकर का कथन नही है, तब आज की राजनीतिज्ञो के उद्गारो को आदर देकर वह आगम की अवहेलना कभी भी नही करेगा।

आगम-प्राण महाराज

आगम प्राण महाराज ने भी कहा था "हम जिनेन्द्र की आज्ञा के सिवाय दूसरे की आज्ञा नहीं मानते। जिन धर्म की आज्ञा का पालन करते हुए मर जाना ठीक है। आज्ञा भंग से मरे तो, गृहस्थ भी नहीं रहे, मुनि की तो बात ही दूसरी है?

पशुओं पर प्रेम करने वाला धर्म शूद्रों से घृणा कैसे करेगा ?

शूद्र के हाथ का अन्न-जल लेने की महावीर भगवान ने आज्ञा नहीं दी है। हमें जीवन की परवाह नहीं है। कल जाना हो, तो हम अभी जाने को तैयार हैं। धर्म रहा, तो जीवन रहेगा, धर्म गया तो रहकर क्या करना?

यदि वर्ण व्यवस्था न मानने वाला सम्यक्त्व रहित होता है, तो उसका अहंकार करने वाला भी अपने तत्वज्ञान का क्षय करता है। अतएव जैन व्यवस्था में दुर्भाव की कटुता का जहर रंच मात्र भी नहीं है। जो धर्म सर्प तक से प्यार का पाठ सिखाता है वह मानव से प्रेम करने का निषेध कैसे करेगा? यह सहज विवेक की वस्तु है। तत्वार्थ सूत्र में लिखा है—

दूसरे की निन्दा करना, अपनी बड़ाई करना, दूसरे के गुणों को छिपाना, और उसमें झूठे दोषों को लगाने से जीव नीच गोत्र का बंध करता है? इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि नीच बनना हमारे ही कर्मों का फल है। नीचता के अभिशाप से बचकर उच्च बनने का उपाय कानून का आश्रय ले सब पर दबाव डालना और कहना कि तुमने किसी को भी अस्पृश्य कहा, तो तुम्हें दण्ड दिया जायगा, जैन शासन का पथ नहीं है। कानून के बल पर आत्मा का सुधार नहीं होता है। उसका उपाय जैन गुरुओं ने बताया है। अस्पृश्यता का मूलोच्छेद होकर जीव में उच्चता का अवतरण किस प्रकार होता है, इस विषय में सूत्रकार उमास्वामी महाराज ने लिखा है — "दूसरों की निन्दा के स्थान में दूसरों की प्रशंसा तथा आत्म प्रशंसा के स्थान में अपनी निन्दा करना, गुणवान व्यक्तियों के समक्ष नम्र वृत्ति धारण करना तथा अहंकार नहीं करने से जीव के उच्च गोत्र का आस्रव होता है।" इस वृत्ति से नीच की अस्पृश्यता दूर कर होकर उच्च कुल में जन्म होता है। साबुन से वस्त्र का मैल दूर होता है, आत्मा के मैल धोने को अहिंसामयी वस्तु का उपयोग जरूरी है। बाह्य वस्तुओं का आश्रय लेकर

---

१ परात्मनिन्दा-प्रशंसे सदसद्गुणोच्छनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ ६-२५

२ तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ ६-२६ ॥

भी आत्मा के उत्थान का उपाय किया जाता है। योग्य बाह्य पदार्थ आत्म विकास में निमित्त रूप होते हैं।

समवशरण में त्रैवर्णिक का ही प्रवेश होता है

इस प्रसग में कोई व्यक्ति कह बैठता है, भगवान जिनेन्द्र के समवशरण में छोटे बड़े सभी जीवो को प्रवेश प्राप्त होता है। वहा जब शूद्र जाते हैं, तब शूद्रो के सपर्क के विषय में विचार करना योग्य नही है, यह कथन काल्पनिक है। हरिवशपुराण से ज्ञात होता है कि शूद्र समवशरण के बाहर रहते है। उनका कथन है –

'वहा वाहनादिक सामग्री को बाहर छोडकर उत्तम भक्ति वाले उत्तम पुरुष, विशिष्ट ककुद सहित हो मानस्तभको प्रदक्षिणापूर्वक वदना करके सनातन पद्धति के अनुसार भीतर प्रवेश करते हैं, किन्तु पापी, निन्द्यकर्म वाले, पाखण्ड रूप पीलिया रोग युक्त अगहीन, विकलेन्द्रिय, उन्मार्ग–गामी तथा शूद्र उसके बाहर घूमते हैं।"[1]

एक भाई श्लोक १७१ में आगत 'तत्रबाह्ये" शब्द का अर्थ 'गधकुटी के बाहर' करके शूद्रो का समवशरण प्रवेश सिद्ध करने का प्रयास करते हैं किन्तु यह श्रम विफल है, कारण "वाहनादि परिच्छद परित्यज्य अतः प्रविशति" शब्द खीचा–तानी द्वारा अन्य अर्थ के निकालने को रोकते हैं। हाथी घोडे रथ आदि का समवशरण के बाहर छोडा जाना सगत होगा, उस सामग्री का समवशरण के भीतर जाकर गधकुटी के बाहर छोडा जाना अयोग्य बात होगी। हरिवश पुराण कार का भाव यह है कि उत्तम जन समवशरण के बाहर हाथी घोडा आदि को छोडकर मानस्तभकी वदना करके भीतर जाते है और शूद्र आदि लोग समवशरण के बाहर ही रहते हैं।

---

१ तत्रबाह्ये परित्यज्य वाहिनादि–परिच्छदम्।
विशिष्टकाकुदैर्युक्ता मानपीठ परीत्यते॥ १७१॥
प्रादक्षिण्येन वदित्वा मानस्तभमनादित।
उत्तमा प्रविशत्यत रुत्तमाहितभक्तय॥ १७२॥
पापशीला विकर्माण शूद्रा पाखडपाडवा।
विकलागेन्द्रियोद्भ्रान्ताः परियति बहिस्तत॥१७३॥

जिन मंदिर और समवशरण में एकान्त ऐक्य मानना असंगत है

दूसरी बात यह विचारणीय है कि समवशरण में साक्षात् अर्हन्त तीर्थंकर विराजमान रहते हैं, जिनके तपः प्रभाव से जन्म विरोधी जीवों में मैत्री उत्पन्न होती है, ऐसा नियम क्या प्रतिकृति रूप जिन मंदिर में चरितार्थ हो सकेगा ? क्या जिनेन्द्र की मूर्ति के प्रभाव से वे बिल्ली चूहे आदि में भक्ष्य भक्षक भाव को दूर सकेंगे ? जब ऐसा असंभव है, तब मंदिर समवशरण की पूर्णतया एकता की धारणा धराशायी हुए बिना नहीं रहती है !

एक विद्वान् कहते हैं जब शूद्र मुनि बन सकते हैं, तब उन शूद्रों को द्विजों के समान सभी धार्मिक अधिकार मानना आगम संगत है । अपने प्रमाण में वे दर्शन मोहनीय के आस्रव के विषय में लिखित सूत्र, 'केवलि-श्रुत संघ-धर्म-देवावर्णवादो दर्शनमोहस्य "६-१३, की टीका का आश्रय लेते हुए कहते हैं "संघ का अवर्णवाद है मुनियों के विषय में शूद्रत्व तथा अशुचित्व आदि दोषों का कथन करना-"शूद्रत्वाशुचित्वाविर्भावनं संघावर्णवादः" यदि मुनियों में शूद्र न होंगे तो उनके अवर्णवाद का कथन कैसे होता, अतः इससे शूद्रों का मुनि होना पूर्णतया निर्बाध सिद्ध है।"

यह कथन भ्रम मूलक है । अवर्णवाद का अर्थ है 'असद्भूतमलोद्-भावनम् "अविद्यमान दोषों का लगाना ।" इससे यह बात सिद्ध होती है कि जो शूद्र नहीं है, उनको शूद्र कहना, जो रत्नत्रयालंकृत होने के कारण सदा शुचि है, उसको अशुचिरूप कहना अवर्णवाद होगा । शूद्र को शूद्र कहना अवर्णवाद नहीं कहा जा सकता है । अतः यह तर्क तो गत प्राण हो जाती है ।

शूद्र साम्य के अनन्य अनुरागी एक शास्त्री जी पूज्यपाद आचार्य के शब्दों में संघ की परिभाषा इन शब्दों में पाकर अपने साध्य की सिद्धि देखते हैं "चातुर्वर्ण-श्रमण-निवहः संघः" इसका सामान्य अर्थ यही दिखता है कि "चारों वर्णों के अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण वाले श्रमणों-मुनियों का समुदाय संघ है," यह अर्थ का अनर्थ है । मुनियों के चार भेद कहे गये हैं, ऋषि, यति, मुनि, अनगार । इन चारों का समुदाय संघ है । वर्ण शब्द का इस प्रकरण गत अर्थ छोड़कर ब्राह्मणादि रूप अर्थ करने में पूज्यपाद आचार्य के कथन से विरोध आता है । अपनी जैनेन्द्र-प्रक्रिया व्याकरण में उनने समास का वर्णन करते हुए एक सूत्र

लिखा है–" वर्णनार्हद्–रूपायोग्यानाम्–(१–४–८६) अर्हतरूप–जिनमुद्रा के अयोग्य पद का उल्लेख करते हुए उनने शूद्र को अर्हत् रूप के अयोग्य बताया है जैसा कि भाष्यकार सोमदेव के शब्दार्णव के इन शब्दो से स्पष्ट होता है ।

"वर्णेन–जाति विशेषेण अर्हद्रूपस्य नैग्रन्थ्यस्य अयोग्याना द्वन्दः एक–वद्भवति । तक्षायस्कारम्, कुलालवरुटम्, रजकतन्तुवायम्: वर्णेन इति किम्? मूकवधिरौ। अर्हद्रूपायोग्यानामिति किम् ? ब्राह्मणक्षत्रियौ (५ ३५)"

अतएव वर्ण शब्द का अर्थ ऋषि यति मुनि अनगार रूप चतुर्विधि मुनियो का करना होगा । जैनागम में शब्दो का भिन्न भिन्न अर्थ में प्रयोग देखा जाता है । दर्शन शब्द का अर्थ देखना प्रसिद्ध होते हुए 'सम्यग्दर्शन' में आगत दर्शन का अर्थ श्रद्धा करते हैं । दर्शन मोहनीय और दर्शनावरण इन दोनों में आगत दर्शन शब्द का अर्थ भिन्न भिन्न है । मोहनीय सबधी दर्शन श्रद्धा का द्योतक है और दर्शनावरण में आगत दर्शन अवलोकन का वाचक है । इसी प्रकार वर्ण शब्द का योग्य अर्थ लेना होगा ।

मुनि धर्म का मुख्यता से प्रतिवाद न करने वाले शास्त्रों में शूद्र की मुनि दीक्षा का स्पष्ट निषेध है । अकलक देव रचित प्रायश्चित्त ग्रथ में लिखा है "ब्राह्मण, क्षत्रिय, तथा वैश्य जिन दीक्षा के योग्य हैं । नीचकुल को जानते हुए गौरव से अथवा शिष्य मोह से जो दीक्षा देता है अथवा लेता उन दोनो के धर्म में दूषण आता है ।"[१]

"जिनने दीक्षा के योग्य कुलो में जन्म धारण नही किया है, जो विद्या-शिल्पद्वारा जीविका करते है, उनके लिए उपनयन आदि सस्कार नही कहे गये है ।"[२] चातुवर्ण्य व्यवस्था का बहुत स्पष्ट वर्णन महापुराण

---

१ महापुराणकार जिनसेन स्वामी ने स्पष्टतया लिखा है कि
दीक्षार्हेकुले जाता विद्या–शिल्पोप–जीविन. ।
एतेषामुपनीत्यादि–सस्कारो नाभिसम्मतः ॥४०–१७०

२ ब्राह्मणा. क्षत्रियाः वैश्या· योग्या· सर्वज्ञदीक्षणे
कुलहीने न दीक्षास्ति जिनेन्द्रोद्दिष्ट शासने वे ॥१०६
दीक्षा नीचकुल जानन् गौरवात् शिष्यमोहत ।
यो ददात्यर्थ च गृह्णाति धर्मोद्दाहो द्वयोरपि ॥१०७॥
प्रायश्चित्त ग्रथ

कार जिनसेन स्वामी ने किया है। दुःख है कि पक्ष-मोहवश उस ग्रंथ की भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित प्रथम भाग की भूमिका में जिनसेनाचार्य के विचारामृत मे स्वच्छदवृत्ति वश विष घोला गया है । आजकल कई महत्व के ग्रंथो की भूमिका में अपने विचारो को भर देने की प्रक्रिया चल गई है । आगम के विरुद्ध कार्य करने से क्या दुर्गति होगी, इस बात का भय पक्ष मोह तथा लोकानुरजन की दृष्टि वश भुला दिया जाता है । प्राचीन लेखको में यह बात नही पायी जाती है । हमारी दृष्टि में ग्रंथ कार के भावो का मिथ्या रूप से प्रकाशन करना अत्यन्त निकृष्ट कार्य है, और विद्वत्ता के लिए अमिट कलक है ।

अतएव दिगम्बर जैन आगमके परिशीलन द्वारा यही बात निकलती है, कि शूद्रों के सम्बन्ध में अहिसा विद्या के अप्रतिम साधक जैन मुनीश्वरों ने भिन्न प्रकार का अधिकार कहा है । उसको ध्यान में रखकर ही आचार्य शातिसागर जीने लोक प्रवाह का तनिक भी भय न कर धर्म की देशना दी है । धर्म सौदा की वस्तु नही है । वह आत्म कल्याण का साधन है । महाराज श्री ने बहुत से शूद्रो को हिंसा का त्याग कराया है । वे भी उनके प्रिय शिष्य है ।

धर्म सौदा की वस्तु नही, आत्म कल्याण का साधन है

एकबार आचार्य महाराज से पूछा था—"महाराज ! नीच गोत्री पशुओ का छूते है, वे समवशरण में जाते है तब नीच गोत्री मनुष्य को भी वे अधिकार क्यो नही है ? उनको भी छूना चाहिए। वे मनुष्य पशुओ से उच्च है ही ।"

महाराज ने कहा था—'शूद्रो के विषय में जैसी भगवान की आज्ञा है, वैसा करना चाहिये ।"

आत्मा की उन्नति तो भोगो के त्याग में है। इसलिये शूद्रो का सच्चा कल्याण पाप पक में निमग्न मार्गदर्शको के द्वारा बताए गए अन्धकार मय मार्ग में नही है। उनका सच्चा कल्याण साधुराज शांतिसागर महाराज सदृश सतो द्वारा प्रकाशित पथ में प्रवृत्ति करने में है । । जो राजनीति धर्म के अनुशासन में न रह कर विषय तृष्णा द्वारा प्रदर्शित मार्ग में जाती है, उससे आत्मा का पतन ही होता है । इसलिए इस सम्बन्ध में राज-सत्ता के आतक से हार कर सत्पथ का परित्याग नही करना चाहिए ।

धर्म की छत्र छाया में अविनाशी आनन्द मिलता है, इसलिये कल-

वृक्ष को छोडकर बबूल वृक्ष सदृश कोरी राजनीति का आश्रय लेने की बात मन में भी नही आने देना चाहिये । धर्म के मार्ग में राजनीति की वाणी ऐसी ही है, जैसे दीपक को दीप्तिमान रखने के लिए प्रचड पवन का प्रहार है । इसलिए गाधी जी की यह आलोचना कि जिस दिन ब्राह्मण लोग मेहतरानियो को अपनी पत्नी बनावेंगे वह मगलमय काल होगा कैसे यथार्थ मे कल्याण कारिणी होगी ? असयम की ओर जीव की प्रवृत्ति कराने वाला उपदेश सच्ची शाति का कारण नही बन सकता ।

चातुर्मास का कार्य

जयपुर में चातुर्मास व्यतीत करके आचार्य सघ ने रत्न त्रय धर्म का खूब उद्योत किया तथा अनेक निकट भव्यो को सयम सुधा का पान कराया । अब तक के चातुर्मासो के वर्णन से तथा श्री गुरुदेव के पुण्य विहार की वार्ता से यह स्पष्ट होता है कि वे पाप प्रवृत्तियो का उन्मूलन करते हुए उज्वल आचार विचार को नवजीवन प्रदान करते थे । जिस प्रकार सूर्य अपनी रश्मिमाला द्वारा विश्व के अन्धकार को दूर करता हुआ उसे आलोक प्रदान करता है, उसी प्रकार आचार्य श्री द्वारा मोहान्धकार का निष्कासन होते हुए वीतराग भावना का प्रकाशन होता था । यही कार्य उनने आगामी विहार तथा चातुर्मासो द्वारा सम्पन्न किया है । एक महाकवि का कथन है 'महान आत्माओ का जन्म लोक के अभ्युदय के हेतु होता है ।' आचार्य महाराज का कार्य आत्मसाधना तथा प्राणियो को कल्याण पथ प्रदर्शन का सतत चलता जाता है । यही तो उनके जीवन का व्रत है ।

जयपुर के समान उनका उत्तरप्रात में छटवा चातुर्मास ब्यावर में सम्पन्न हुआ । ब्यावर में दि. जैन महासभा का अधिवेशन हुआ था । यहा वर्तमान मुनि समतभद्र जी ने उस समय महाराज से क्षुल्लक दीक्षा ली थी । भोग दीक्षा वाले ग्रेजुएट तो सर्वत्र सुलभ है । वीतराग दीक्षा वाले ऐसे सत्पुरुष कहा है ? सेठ चम्पालाल जी रानीवालो ने सपरिवार आचार्य संघ की अपूर्व भक्ति की थी । रायबहादुर धर्मवीर सेठ टीकमचन्दजी सोनी गुरु भक्ति से आकर्षित होकर प्रतिदिन अजमेर से ब्यावर आकर आहार की विधि लगाते थे । आहार के उपरात वे प्रतिदिन स्वधाम को वापिस जाते थे । ऐसी गुरुभक्ति करने वाले विरले ही भाग्यवान होते है ।

आचार्य सघ के द्वारा राजस्थान में अच्छी धर्म-प्रभावना हुई । आचार्यश्री का आगामी चातुर्मास उदयपुर में सम्पन्न हुआ । वहाँ भी

उनके द्वारा रत्नत्रय धर्म का महान प्रचार हुआ।

उदयपुर चातुर्मास के बाद महाराज ने धर्म प्रभावना करते हुए ईडर से सात मील दूरी पर गोरल स्थान में सन १९३६ में चातुर्मास किया था। वहाँ ब्र ककूबाई ने क्षुल्लिका दीक्षा ली थी। उनका नाम जिनमती रखा गया था। आप प्रख्यात कोट्याधीश उद्योगपति सेठ वालचन्द हीराचन्द की बहिन थी। आचार्य महाराज के पवित्र प्रभाव से बडे बडे लोगो ने सयम को सच्ची महत्ता का कारण जानकर उसकी शरण ली।

चारित्र चक्रवर्ती पद लाभ

इसके अनन्तर महाराज ने सघपति सेठ पूनमचन्द घासीलाल के निवास स्थान प्रतापगढ में चातुर्मास किया। यहाँ आचार्य महाराज के सघ मे महाराज के सबसे छोटे भाई ब्र कुमगौडा पाटील भी थे। दोपहर के समय ब्र. कुमगौडा का उपदेश हुआ करता था। यहा से विहार कर महाराज का सघ बडवानी सिद्धवर कूट होता हुआ मुक्तागिरि पधारा। इसके अनन्तर महाराज ने गजपथा की ओर विहार किया। वहा के चातुर्मास में बडी धर्म प्रभावना हुई। गजपथा में पच कल्याणक महोत्सव बडे आनन्द के साथ हुआ था। यहा पर आचार्य महाराज को समस्त जैन सघ ने 'चारित्र चक्रवर्ती' पद से अलकृत कर अपने को धन्य समझा। इस अवसर पर हम भी पहुँचने का सौभाग्य मिला था। नागपुर के धनिक त्यागी श्रीमान फतेचन्द जी ने ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण की थी। उक्त ब्रह्मचारी जी ने अपने जीवन में मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र के जीर्णोद्धार का महत्वपूर्ण कार्य किया।

महाराज ने बारामती में सवत १९९५ अर्थात सन१९३९ का चातुर्मास व्यतीत किया। यहा पर्यूषण पर्व में आचार्य श्री के समीप पहुचने का हमें सौभाग्य मिला था। इसके अनन्तर विहार करते हुए आचार्य महाराज मुक्तागिरि पधारे थे। पश्चात वे इदौर आये थे। यहा रावराजा रार सेठ हुकमचन्द जी ने आचार्य श्री स ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण किया गया था।

सिद्धवरकूट की वंदना के उपरात सघ ने प्रतापगढ में पुन. चातुर्मास किया।

इसके पश्चात् विहार करते हुये सन १९४१ में कोरोची चातुर्मास किया। यह पूना मे १८३ मील पर है। इसके बाद दिग्रज में चातुर्मास हुआ। आगामी चातुर्मास कुन्थलगिरि में हुआ। यहा धर्म-प्रभावना के अनन्तर महाराज फल्टन पधारे।

इसके अनन्तर विहार करते हुए वे सन १९४६ में कवलाना पहुंचे। सन १९४६ के अगस्त में बम्बई में हमने जैन राजनैतिक स्वत्व रक्षक समिति की विशेष बैठक बम्बई में बुलाई गई थी जिसमें इस महत्वपूर्ण विषय पर विचार हुआ था कि केबिनेट मिशन (Cabinet Mission) के द्वारा भारतवर्ष को स्वराज्य प्रदान करने की योजना को दृष्टिपथ में रखते हुए जैन समाज को अपने स्वतंत्र अस्तित्व के विषय में पूर्णतया सतर्क रहना चाहिए, जिससे बहुसख्यक वर्ग मे उसका विलीनीकरण होकर अस्तित्व समाप्त न हो जाय।

इस महत्वपूर्ण बैठक में निर्णीत प्रस्ताव के उत्तर में सरदार वल्लभ भाई पटेल ने अपने पत्र द्वारा जैन समाज को यह विश्वास दिलाया था कि भारतवर्ष के स्वाधीन होने पर प्रत्येक धर्म की स्वतन्त्रता को बाधा नही पहुंचेगी। बम्बई की मीटिंग के उपरांत हम अपने छोटे भाई सुशील कुमार दिवाकर के साथ कवलाना आचार्य श्री के दर्शनार्थ पहुँचे थे। वहा उनसे महत्वपूर्ण चर्चा द्वारा अपूर्व प्रकाश प्राप्त किया था।

सोलापुर चातुर्मास

इसके अनतर सन् १९४७ का चातुर्मास सोलापुर में हुआ था। वहाँ दशलक्षण पर्व में हमें पहुचने का सौभाग्य मिला था। यहाँ शास्त्र पढने की आज्ञा आचार्य श्री ने हमें दी थी। सूक्ष्म तत्व चर्चा द्वारा अपूर्व आनंद आया था। यहां पर ही आचार्य महाराज के नेत्रो में काचविन्दु रोग का पता चला था। डाक्टर ने आंख के आपरेशन की सलाह दी थी किन्तु उसे महाराज ने पसद नही किया था। नेत्र विशेषज्ञ डाक्टर सर देसाई ने कहा था—"कि आपरेशन करने पर कुछ प्रयोग असफल हो जाते हैं, जिससे नेत्रों की ज्योति चली जाती हैं।" इस पर महाराज ने विचारा कि यदि डाक्टर के प्रमाद आदि के कारण कदाचित् असमय में ज्योति चली गई, तो तत्काल समाधिमरण लेना पडेगा; क्योंकि आखो के चले जाने के वाद यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति नही हो सकेगी। ऐसी स्थिति में महाराज ने आपरेशन के अवलंबन को दूरदर्शी रूप में अनुभव करके उसे नही कराया।

प्रतिज्ञा

सोलापुर के अनंतर महाराज का चातुर्मास फलटण में हुआ। यहा ही महाराज ने धार्मिक स्वतंत्रता की रक्षा के लिए लोकोत्तर त्याग किया था।

इस संबंध में कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है। बम्बई सरकार ने हरिजनों के उद्धार के लिए एक हरिजन मंदिर प्रवेश कानून सन् १९४७ में बनाया।' उसके नियम नं. २ ब में लिखा था कि 'हिन्दू' शब्द में जैन का समावेश है। इस छोटे से नियम ने अनेक उपद्रवों के उत्पन्न होने के योग्य वातावरण उत्पन्न कर दिया। जब जैनियों में हरि अर्थात् विष्णु के आराधक हरिजनों का अभाव है, तब वस्तुतः इस उपधारा का कोई वास्तविक उपयोग नहीं है, फिर भी सुधार के जोश में यह कानून जैनियों पर भी लादा गया।

इस कानून का आश्रय लेकर सांगली के हरिजन सेवा संघ के मंत्री ने ४ अगस्त सन् १९४८ को कुछ महतरों चमारों आदि को इकट्ठा कर जैन मंदिर में जबरदस्ती ले जाने का जाल रचा।

फलटण में पहले धर्मान्ध कुछ हिन्दुओं ने एक ऐतिहासिक जैन मंदिर को हड़पकर उसे हिन्दू मंदिर बना लिया और उसे जब्रेश्वर का नाम दे दिया। उस मंदिर के बाहर के भाग में कुछ जैन मूर्तियां आज भी विद्यमान हैं; फिर भी वह मंदिर जैनियों के हाथ से निकल गया। कोल्हापुर का प्रसिद्ध जैन मंदिर आज हिन्दू बनकर ब्राह्मणों के अत्याचार का सजीव उदाहरण है। वहा नेमिनाथ भगवान के स्थान में शेषशायी विष्णुदेव विराजमान हैं। मैसूर का चामुण्डी पर्वत पहले जैनियों का तीर्थ था। आज वह भी हिन्दू मंदिर हो गया है। दक्षिण भारत के वृद्ध जैन यह बात जानते हैं कि उन पर धर्मान्ध वैदिक वर्ग ने कब और कैसे अत्याचार किये। सैकड़ों जैन मंदिरों में जिनेन्द्र की मूर्तियों का निर्दयता पूर्वक अपहरण अथवा विनाश करके रक्त वर्ण रंजित पाषाण पिन्ड स्थापन कर उन्हें हिन्दू मंदिर बनाने का कार्य किया गया। बहुमूल्य जैन शास्त्रों का विनाश किया गया। ऐसे ही अत्याचारी धर्मान्ध वर्ग ने दक्षिण में अपने दुष्ट भावों को द्योतित करने के लिए "साप सोडावा पण जैन मारावा"– "सांप को भले ही छोड़ दो किन्तु जैनियों का अवश्य संहार करो," यह कहावत बना डाली है। यह दृष्टि "हस्तिना पीड्यमानोऽपि नगच्छेज्जैन मंदिरम्"

की अपेक्षा अधिक भीषण और कटुता पूर्ण है। ऐसे ही धर्मान्धो के कारण ऐसे चिन्तक वर्ग का जन्म हुआ, जो उन्नति का प्राथमिक कदम ऐसे धर्मो से छुटकारा पाने को मानता है।

सर्व परिस्थिति का पर्यालोचन कर अत्यन्त अनुभवी आचार्य महाराज ने सोचा, अंतर्आत्मा ने उन्हे कडा कदम उठाने की प्रेरणा की। उन्हें यह प्रतीत हुआ कि यदि चुपचाप बैठे रहे, तो अत्याचारी लोग प्रत्येक जैन मंदिर में हरिजन-मंदिर-प्रवेशाधिकार के नाम पर घुसेंगे और अवसर पडने पर महत्वपूर्ण जिन मंदिरो को हजम कर लेंगे। उन्होंने किसी से परामर्श नही किया। इमरसन ने लिखा है–'Every great man is unique'

भीष्म–प्रतिज्ञा

"प्रत्येक महापुरुष अपूर्व होता है," इसलिए इन लोकोत्तर महात्मा ने जिनेन्द्र भगवान को साक्षी करके प्रतिज्ञा कर ली कि "जब तक पूर्वोक्ति बंबई कानून से आई हुई विपत्ति जैन धर्म के आयतनों–जिन मंदिरो से दूर नही होती है, तब तक मै अन्न नहीं ग्रहण करूंगा।"

इस समाचार ने देश भर में फैलकर जैन समाज मात्र को चिंता के सागर में डुबा दिया। फलटन से हमारे पास तार से समाचार आने पर आखों के सामने अंधेरा छा गया। शीघ्र ही बंबई में अगस्त सन .१९४८ के अंतिम सप्ताह में प्रमुख जैन बंधुओ की एक बैठक हीराबाग के धर्मशाला में हुई। इसके अनंतर एक सितम्बर को सरसेठ भागचदजी सोनी, सेठ राजकुमारजी इदौर, श्री तलकचंद शाह वकील के साथ हम फलटन पहुंचे।

सबने महाराज से प्रार्थना की, कि राजनीति का यत्र मंद गति से चलता है। कायदे की बात का सुधार वैधानिक पद्धति से ही होगा। यह बात बहुत समय साध्य है। अतः आप अन्न ग्रहण कीजिए। सारी समाज आपकी इच्छानुसार उद्योग करेगी।

महाराज ने कहा–"हमने जिनेंद्र भगवान के सामने जो प्रतिज्ञा करली है क्या उसे भंग कर दें?" हम सब लोग चुप हो गये। हजारो व्यक्तियो ने आचार्य श्री की प्रतिज्ञा पूर्ति पर्यंत अनेक संयम संबधी नियम लिए।

धर्माचार्य का राजनीति के विरुद्ध बोलने का कारण?

जो लोग यह यह सोचते थे कि मुनियो को राजनीति में न पडकर आत्म–हित करना चाहिए उनको

महाराज कहते थे, "जैन धर्म के मुख्य अग जैन मदिर के सरक्षण निमित्त उद्योग करना हमारा कर्त्तव्य है, क्योकि इस विषय में गृहस्थ लोग चुप होकर बैठ गये। धर्म पर राजनीति का हस्तक्षेप कैसे उचित कहा जा सकता है। शासन सत्ता का धर्म पर आक्रमण न रोका जाय, तो भविष्य में बडी विपत्ति आये बिना न रहेगी।"

कोई यह सोचे कि धर्म तो आत्मा का गुण है, उसे कौन धक्का लगा सकता है, इस पर महाराज ने कहा—"जब तक मदिर है तब तक जैन धर्म है

महाराज का दृष्टिकोण

प्रतिमा जी हमारा प्राण है। धर्म का लोप देखते हुये हम कैसे चुप रहें? गृहस्थो ने अपने कर्तव्य का पालन नही किया, इससे हमने धर्म के वास्ते अन्न त्याग किया है। हम आज ही चारो प्रकार का आहार छोडकर सल्लेखना करने को तैयार है। यद्यपि हमें भगवान की जरूरत नही है, क्योकि वे हमारे हृदय म है, किन्तु हमें अपने दूसरे त्यागी भाइयो का ध्यान है। जब जैन मदिर के विषय में अन्य लोगो के हाथ में सत्ता दी जाने लगी, तब भी क्या चुप बैठना? धर्म पर आक्रमण होते देख डरकर बैठ जाना ठीक नही है। हम तो एकान्त म भी बैठकर मूर्ति की आराधना कर लेंगे, वहाँ कौन आ जायगा? किन्तु हमें अपने त्यागी भाइयो की फिकर है।"

कोई कोई यह सोचते है "बहु सख्या से मिलकर रहो, अपने स्वार्थ का ख्याल करते हुए चतुरतास्वाथ सिद्धि तथा लाभ इसी म है। यश भी इसी में है, कि अपने स्वतत्र अस्तित्व को हिन्दू नाम में ऐसे ही विलुप्त हो जाने दो, जैसे भारत शासन में देशी रजवाडे विलीन हो गये। अपने को जैनी कहने से बडी बडी आफतें आ जायगी। देखते नही हो, जमाना कैसा खराब आ गया है।" ऐसे डरने वालो की उपेक्षा करते हुए इन मनस्वी महात्मा ने कहा—'जैन धर्म स्वतत्र है। अत जैन मदिर हिन्दू मदिर नही है। इससे हिन्दुओ का चाहे वे हरिजन हो या हरिजन न हो जैन मदिर से क्या सबध है?" अपने को जैन कहने में भीत होने वालो का भ्रम निवारण करते हुए उनने कहा था—"हमें अपने बाप का नाम लेने में फासी दी जाती है और गोली मारी जाती है तो हमें वह स्वीकार है, मगर डरकर दूसरे को अपना बाप नही बोलेंगे। इससे व्यभिचार जातपनेका दोष आयगा। जो घबडाकर यह सोचते थे, कि आचार्य महाराज की इच्छा तीन जन्म में भी पूरी नही हो सकती है,

अब तो हरिजनों का ही राज्य है। जैन समाज की कौन सुनने वाला है, उनके निराशा के अंधकार को दूर करते हुए महाराज का कथन था-"अभी जैन धर्म का लोप नहीं होगा। ऐसी भगवान की वाणी है। यह मिथ्या नहीं है। हम सातरों से कहते हैं, कि यह भ्रष्टाचार अधिक दिन नहीं टिकेगा। हमारा विश्वास है कि अभी धर्म का लोप नहीं होगा। जब जैन धर्म का लोप होगा तब दुनिया से सबके धर्मों का भी लोप हो जायगा।

अद्भुत आत्म-विश्वास

जो यह सोचते हैं मंदिर में कोई भी आवे, उसमें क्या हानि है, उसके विषय में महाराज का कथन है "मंदिर जैनों के आत्म-धर्म साधन का स्थान है। वह अजैनों के आत्म धर्म साधन का स्थान नहीं है, इसलिए उनको यहां आने का प्रयोजन भी नहीं है।" महाराज ने एक दिन कहा था, "यदि यह धर्म संकट दूर न हुआ तो इस जन्म में हम अन्न ग्रहण न करेंगे। हमारा इसी तरह शरीरान्त हो जायगा।"

मैंने कहा, "महाराज! यदि आप इस जन्म में अन्न-ग्रहण न करेंगे, तो दूसरे जन्म में भी आपका अन्न ग्रहण नहीं होगा; कारण महाव्रती जीव देव पर्याय को प्राप्त करता है, वहां अन्नाहार नहीं है।"

जैन समाज में अन्न त्याग से भीषण चिंता का बादल छा गया। सभी लोग अपना अपना प्रयत्न करते थे। अधिकारियों से मिलते थे, किन्तु कार्य फलप्रद नहीं हो रहा था। जब हमने डा. राजेन्द्र प्रसाद जी वर्तमान अध्यक्ष भारतीय गणतंत्र शासन को तार देकर सब परिस्थिति स्पष्ट की, तब डाक्टर सा. ने हमें इस प्रकार उत्तर दिया था।"

केम्प, पिलानी (जयपुर राज्य) ३० अगस्त १९४८

प्रिय सुमेरुचंद्र जी, आपका तार मिला, किन्तु अस्वस्थ होने के कारण मैं उसपर पहले विचार न कर सका। मैंने उसे राजकीय मन्त्रिमंडल के पास उचित जांच तथा कार्यवाही निमित्त भेज दिया है।

आपका विश्वसनीय राजेन्द्र प्रसाद'

इसके अनंतर २९ अक्टूबर सन १९४८ में डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद

Camp:- Pilani, Jaipur State; August 30, 1948.
Dear Mr. Sumerchand,
I received your telegram but could not attend to it earlier on account of indisposition. I forwarded it for
(Continued.)

जी जबलपुर में पधारे थे। उस समय हम राजा गोकुलदास के महल में उनसे मिले थे। हमारे साथ हमारा अनुज चि० अभिनदन कुमार दिवाकर भी था। राष्ट्रपति से भेंट के लिए हमने २८ अक्टूबर को जबलपुर के महाकौशल कांग्रेस के अध्यक्ष श्री गोविंददास जी के पते पर जवाबी तार दिया था[१]। किन्तु कांग्रेस को कलंकित करने वाले कलुषित लोगों के कर में वह तार आ गया इससे कहते हैं, वह छुपा दिया गया। दूसरे दिन पुनः जवाबी तार दिया जिसमें पहले तार का उल्लेख किया गया था।

सौभाग्य से यह तार राजेन्द्र बाबू के हाथ में पहुच गया। इसलिये सर्व प्रथम भेंट के लिए हमें अवसर प्राप्त हुआ। उस समय इस प्रांत के मुख्यमंत्री तथा गृहमंत्री भी उपस्थित थे। राष्ट्रपति के समक्ष आचार्य महाराज के अन्न त्याग से उत्पन्न परिस्थिति पर प्रकाश डालकर भारत सरकार के सहयोग की चर्चा की। उसे सुनते ही सचिन्त हो राजेन्द्र बाबू ने कहा— "आप आचार्य महाराज को हमारा प्रणाम कहिये, तथा अन्न ग्रहण करने का

---

necessary inquiry and action to the state Ministry.

yours sincerely
(Sd) Rajendra prasad

Shri Sumerchand Diwaker
Hony. Secretary All India Jain Political Rights Preservation Committee Seoni.

१ Rashtrapati Rajendra prasadji care Govinddasji Jubbulpore Reply-paid Telegram. Reference your letter form. Pilani our reply-paid telegrams. Bombay temple entry act still includes Jains under Hindoos although Jainism is independent. His Holiness Acharya Shantisagerji's fast trangressed seventy days. Jain Samaj worried beyond expression. Request few minutes interview. Pray wire earliest time. All India Jains shall be obliged.
Sumerchand Diwaker. Secretary all India Jain Political Committee, Camp Jubbulpore 28-10-48

Next telegram sent to him reads thus:— Reply-paid. "Reference our yesterday's telegram. No reply received yet. Pray communicate earliest interview time. Sumerchand Diwaker."

अनुरोध करिये। जैन धर्म पर कभी सकट नही आयगा। बबई कानून के विषय में हम विचार करेंगे।"

जब हम श्री तलकचद वकील के साथ बबई सरकार के गृहमत्री श्री मोरार जी देसाई से मिले थे, तब उनने कहा था कि-"आप आचार्य महाराज को हमारा प्रणाम कहिए तथा अन्न ग्रहण करने की प्रार्थना कीजिये।' सरकारी दृष्टिकोण उनने इस प्रकार स्पष्ट किया था-"जैन मदिर के विषय में हरिजनो को उतने ही अधिकार प्राप्त होते है, जितने जैनियों को प्राप्त हैं। यदि जैनी मूर्ति का स्पर्श करके पूजा करते है, तो ऐसा हरिजन भी कर सकेंगे।" उस समय समझ में आया कि बबई कानून की ओट में जैनियो के अधिकारो को स्वाहा करने का भीषण जाल रचा गया है। इसी लिए आचार्य महाराज ने अपने दिव्यज्ञान से उस कुचक्र को जानकर उसके विरुद्ध अपने प्राणो की बाजी लगा दी है।

श्री देसाई की चर्चा से बबई शासन के अपवित्र अत करण का स्पष्टीकरण हुआ। उस समय आचार्य महाराज का स्वास्थ्य बहुत क्षीण होता जा रहा था। इससे सभी जैन समाज की चिंता की सीमा नही थी। लोकमत को जगाने के लिए हमने सार्वजनिक पत्रो में चर्चा चलाई।[1] जून सन् १९४९ के ब्लिट्ज नाम के अग्रेजी पत्र में हमारा समाचार प्रगट हुआ था। हमने पडिता चदाबाई आरा को पत्र देकर प्रेरणा की, कि उनके धार्मिक प्रचार के प्रयत्नो से आचार्य श्री की प्रतिज्ञा पूर्ति का सफल

---

१ Appeal by Jains to save life of Holy monk now on hunger strike, by S C Diwaker shastry - Jains all over India are worried over the fast undertaken by His Holiness Charitra Chakrevarty Acharya Shri Santisagarji swami the great Jain monk at Gajpantha Hill near Nasik (Bombay)

They are depressed at the indifference of the Central and Bombay Governments towards his ten month's old hunger strike started in order to get the Bombay Harijan Temple Entry Act 1947 amended so as to exclude Jain Temples from its application as has been done by the C P and Berar Government in view of the fact that there are no Harijans in the Jain fold

According to the latest from Nasik ton

उद्योग हो सकता है, क्यो कि सन् १९४२ में जब हम डा. राजेन्द्र प्रसाद जी से मिले थे तब उनके द्वारा बाबू निर्मल कुमार जी रईस आरा का स्नेह पूर्ण शब्दो में उल्लेख सुना था।

राजेन्द्र बाबू साधु स्वभाव व्यक्ति है। इसलिए उनके द्वारा एक महान साधु के जीवन का सकट दूर करने का उद्योग सफलता प्राप्त करायेगा ऐसी आशा होती थी। उक्त बाबू साहब की एक महत्व की कृति जैन समाज के लिए चिरस्मरणीय हो गयी है। हमने सन् १९४२ म उनसे भेंट की थी। उस समय उनसे कहा था—"बाबू साहब हम कुछ वर्ष पूर्व मध्य प्रदेश के गवर्नर सर हेनरी ट्वाइनम से महावीर जयन्ती की छुट्टी के विषय मे मिले थे।

तब उनने हमसे पूछा था—"जब अन्य प्रांतो में भी जैनी हैं तब मध्य प्रदेश सरकार इस विषय में क्यो प्रारंभिक कदम उठावे ?" इस प्रश्न की राजेन्द्र बाबू के समक्ष चर्चा करते हुए मैंने कहा—"भगवान महावीर बिहार प्रात की विभूति थे। इसलिए बिहार प्रांत के रत्न से मैं नम्रता पूर्वक पूछता हू, कि क्यो न बिहार प्रात की सरकार अपने भगवान महावीर के सार्वजनिक सन्मान निमित्त छुट्टी घोषित करे ?"

उनने कहा—"हमारे हाथ में अभी क्या है ? हम तो शीघ्र ही गिरफ्तार होने वाले हैं।"

मैंने कहा—"आज नही तो कल शासन सत्ता आपके हाथ में आयगी, इसलिए उस समय हमारी बात को पूर्ण कीजिए। वे चुप हो गए। मौन सम्मति लक्षणम्।

जल से छूटने के उपरांत कांग्रेस के हाथ में शासन सूत्र आया। मैंने उक्त वार्तालाप की याद दिलाई। कुछ समय बाद यह ज्ञात हुआ, कि बिहार प्रात की सरकार ने चैत्र सुदी त्रयोदशी को महावीर-जयंती की छुट्टी घोषित कर दी। इससे आशा होती थी, कि साधु-हृदय राजेन्द्र बाबू

---

of swamiji is causing great anxiety since he is having fever and fits Swamiji is now 78 years old If the Provincial and Central Governments do not immediately intervene, it is feared a most precious life will be lost to the country in general and to Jains in particular"

Nagpur, June 4, 1949. Blitz-Bombay

के प्रयत्न से जैन गुरु का सकट दूर होगा।

पडिता चदाबाई अपने भतीजे बाबू चक्रेश्वर कुमार जी को साथ लेकर बम्बई रवाना हुई। इनका तार पाते ही हम भी बबई पहुचे। मुख्य-मत्री श्री बी० जी० खेर से चर्चा हुई, किन्तु अत करण की शुद्धता न होने के कारण स्थिति में कोई सुधार न हुआ।

इसके अनतर पडिता चदाबाई ने बाबू चक्रेश्वर कुमार जी के साथ दिल्ली जाकर राष्ट्रपति आदि से भेंट कर बहुत समय तक प्रयत्न किया। वहा उन्हे ज्ञात हुआ कि कुछ स्वच्छदता प्रेमी जैन पडित नामधारी व्यक्तियो ने राज्य के उच्च अधिकारियो के पास भ्रम वर्धक समाचार भेजकर जैन गुरु के मार्ग में काटे बिछाने की अधम चेष्टा की थी। विपत्ति के समय ही सच्चे मित्र की परीक्षा होती है। कुछ श्वेताम्बर भाइयो ने भी उक्त पडितो की तरह अनर्थ का पथ पकडकर परिस्थिति को जटिल बनाने का प्रयत्न किया। दिगम्बर जैन परिषद ने जनता के तीव्र विरोध की उपेक्षा कर अद्भुत नीति का आश्रय ले बबई कानून का समर्थक प्रस्ताव पास हुआ बताकर वर्तमान शासन के प्रति सच्चे सेवक की नीति दिखाई। यह सब स्थिति होते हुए भी तपस्वी आचार्य महाराज के प्रभाव से उनकी प्रतिज्ञा पूर्ति के हेतु प्रयत्न हो रहा था।

उस समय बडा विचित्र वातावरण था। महाराज के समक्ष अपनी भक्ति की दुहाई देने वाले अनेक धनी मानी लोग परोक्ष में यही कहते थे, कि महाराज ने व्यर्थ में अन्न त्याग करके वज्र तुल्य शासन से सिर रगडने का कार्य किया।

ऐसे लोगो से मुझे अनेक बार मिलने का मौका मिला। मै बडी दृढता पूर्वक उन शिथिल मनोवृत्ति वाले सज्जनो से कहता था," कि आप साथ दें अथवा साथ न दें, हम तो आचार्य श्री को अन्न ग्रहण कराने के उद्योग में पीछे न हटेंगे। यदि शासक अत्याचारी बनकर धर्म पर आक्रमण करता है, तो हम उसके विरोध में अपनी आवाज को उठाये बिना न रहेंगे। अत्याचारी के कार्य की कभी भी हम अनुमोदना नही करेंगे। मैंने अपने सभी सार्वजनिक कार्मो को बद कर इसी क्षेत्र में सारी शक्ति लगाकर उद्योग आरंभ किया था। इसीलिए मैंने रामटेक गुरुकुल के सचा-लन से त्यागपत्र दे दिया था। इस बीच में मै राष्ट्र के श्रेष्ठ अधिकारियों से मिला। उच्च विधान शास्त्रियो आदि से भी भेंट की। विरोधी लोग

हमारे कार्यों को ज्ञात कर उपद्रव और उत्पात करेंगे, इसलिये हम प्रयत्न पूर्वक अपने कार्यों को समाचार पत्रों में प्रगट होने से बचाते थे।

बंबई कानून के समान कानून तो मध्यप्रदेश में भी आया था, किन्तु हमने एक जैन शिष्ट-मंडल ले जाकर प्रांतीय सरकार के समक्ष निवेदन किया, तो बुद्धिमान मन्त्रिमंडल ने जैनियों को कानून के भार से मुक्त कर आभारी किया तथा एक विशेष पत्रक निकालकर भ्रम का निवारण भी किया।[1]

मध्यप्रदेश की विधान सभा के तत्कालीन अध्यक्ष श्री घनश्यामसिंह गुप्त से अनेक बार परामर्श किया। एक बार उनसे आवश्यक परामर्श निमित्त ज्वर की स्थिति में हम उनके निवास स्थान दुर्ग पहुंचे थे। इस प्रकृति के विरुद्ध प्रवृत्ति के फल स्वरूप लगभग २ माह पर्यन्त हम बीमार रहे।

डा० राजेन्द्र प्रसाद जी ने एक महत्वपूर्ण पत्र द्वारा सरदार वल्लभ भाई पटेल से उचित कार्य करने के लिए प्रेरणा की थी। श्री सेठ वालचंद हीराचंद बंबई ने भी महत्वपूर्ण उद्योग किया था। इस प्रकार धार्मिक बहुसंख्यक जैन समाज आचार्य महाराज की इच्छापूर्ति के विषय में शक्ति भर प्रयत्न कर रही थी और दूसरे विचार वाले थोड़े से व्यक्ति सुधार के नाम पर महाराज के मार्ग में विघ्न उपस्थित करने में लगे थे।

आचार्य शांतिसागर महाराज की शरीर स्थिति चिंताजनक होती जा रही थी, किंतु उनका निश्चय मेरु सदृश अचल था। महाराज ने कहा-'कि

---

१ Entry into Jain Temples. Nagpur, 12th Dec 1947
A press note says - " Government have received a number of representations from the Jain community requesting that the provisions of The C P & Berar Temple Entry Authorisation Act 1947 should not be applied to the Jain temples Section 2 B of the Act defines the word "Temple" clearly enough to show that the Act applies to Hindu temples only and Jain temples are not therefore effected by the Act Nagpur English Daily The Hitvada of 14-12 47

गिरजा में प्रोटेस्टेंट नाम के दूसरे वर्ग को कोई अधिकार नही है भले ही बहुमत उनका समर्थक हो। विधान शास्त्र के प्रकांड विद्वान तथा देशबंधु श्री सी. आर दास के छोटे भाई प्रसन्नरजन दास को हमने पत्र देकर उपरोक्त दृष्टिकोण को प्रश्नोत्तर के रूप में भेजकर उनका विचार जानना चाहा। उस समय उन्होंने हमारे प्रश्न को अत्यन्त महत्वपूर्ण बताते हुये आगामी अवकाश मिलने पर उत्तर देने का वचन दिया था।[१] एक बार भारत सरकार के मुख्य वकील (Attorney General) श्री मोतीलाल सीतलवाड से लगभग आधा घटे तक चर्चा हुई थी। मेरे साथ छोटा मेरा भाई अभिनदनकुमार भी था। श्री सीतलवाड से ज्ञात हुआ था कि इस सबध में स्पष्टीकरण के लिये सुप्रीम कोर्ट–सर्वोच्च न्यायालय में कार्यवाही की जा सकती है। साधारण वकील लोग यही सोचा करते थे कि यह मामला हाइकोर्ट में भी नही पेश हो सकता है, इसलिये मैंने श्री सीतलवाड से पूछा–"कि सुप्रीमकोर्ट में इस संबंध में कैसे विचार हो सकता है?"

तब उनने बताया था कि "यह प्रश्न मौलिक अधिकार (Fundamental rights) से संबंधित है, इसलिये यह सीधे सर्वोच्च न्यायालय में पेश हो सकता है। उनसे यह भी ज्ञात हुआ था कि चार पाच सप्ताह में में निर्णय हो सकता है। उनने सरकारी वकील होने के कारण अपना अभिमत नही बताया था।

इस प्रकार विविध साधनो के द्वारा भारतीय सविधान के नियमों को अपने अनुकूल ज्ञात कर हमने जैन प्रमुख लोगों के समक्ष कानूनी कार्यवाई करने की सलाह दी। इस संबध में दिगबर जैन महासभा की विशेष बैठक होकर एक उपसमिति का निर्माण हुआ तथा कानूनी कार्यवाही करने का निश्चय भी हो गया।

इस के अनन्तर एक अद्‌भुत घटना हो गई। २८ नवबर सन १९५०

---

१ Patna 6th Sep. 1950.

Dear Mr. Diwaker, I am at present too much busy to answer the very important question which you have put to me I shall have no time till the middle of October. If you should then write to me, I shall endeavour to do my best to give you a satisfactory reply. Sd/-P. R. Das.

राष्ट्रपति या प्रधान मंत्री श्री नेहरू इस प्रकार की सूचना निकाल दे कि जैन मंदिर में दूसरे धर्मवाले स्थानीय जैन पंचायत की आज्ञा लेकर ही जा सकेंगे तथा बिना अनुज्ञा प्राप्त किये उनको अधिकार न होगा।" इस संबंध में जब मैंने राष्ट्रपति को ५ अगस्त सन् १९५० को पत्र लिखा था। राष्ट्रपति जी की ओर से २१ अगस्त को यह उत्तर प्राप्त हुआ, "इस विषय में राष्ट्रपति की हैसियत से वे प्रत्यक्ष रूप में कुछ नहीं कर सकेंगे। इस संबंध में आपको भारत सरकार से निवेदन करना चाहिये।"

२६ जनवरी सन १९५० में भारतीय संविधान गणतंत्र भारत में प्रचलित हुआ। उसके नियम न. २५ (२ब) तथा नियम न. २६ तथा. २९ के अनुसार हम इस निर्णय पर पहुंचे कि भारतीय संविधान के अनुसार जैन मंदिर में इतर संप्रदाय वाले को कोई अधिकार नहीं प्राप्त होता है। इस संबंध में जब हमने कांग्रेस अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तमदास टंडन से दिल्ली पहुंचकर कांग्रेस भवन में चर्चा की, तब उनने कहा—" मंदिर कोई क्लब या खेल का स्थान नहीं है। जहां हर कोई आवे या जावे। मंदिर तो आराधना का स्थल है। शैव मंदिर में शाक्त संप्रदाय वालों को घुसने का कैसे अधिकार होगा? इसी प्रकार जैन मंदिर में दूसरों को कभी भी अधिकार नहीं हो सकता।" अनेक हाईकोर्ट के न्यायाधीशों से हमने चर्चा की। उसमें हमारे दृष्टिकोण का ही समर्थन प्राप्त हुआ।

एक प्रमुख न्यायाधीश ने कहा—"जिस संप्रदाय की पूजा का स्थान है, वहां दूसरे संप्रदाय वाले को अधिकार नहीं हो सकता। इंग्लैंड में ऐसे मामले चल चुके हैं। उनमें यह निर्णीत हुआ कि रोमन कैथलिक वर्ग के

---

२ Government House, New Delhi, 21st August 1950. Dear sir, your letter dated the 5th August 1950 has been received by the President. He regrets very much that it is not possible for him to issue the kind of statement which you want him to do. It is a matter with which as President he cannot directly deal. If anything has to be done you have to approach the Government

Yours faithfully, Sd/-CharkradharSaran Private Secretary To, Shri S.C. Diwaker, Hony. Secretary Jain Political Rights Preservation Committee Seoni (Madhyapradesh).

गिरजा में प्रोटेस्टेंट नाम के दूसरे वर्ग को कोई अधिकार नही है भले ही बहुमत उनका समर्थक हो। विधान शास्त्र के प्रकाड विद्वान तथा देशबंधु श्री सी आर दास के छोटे भाई प्रसन्नरंजन दास को हमने पत्र देकर उपरोक्त दृष्टिकोण को प्रश्नोत्तर के रूप मे भेजकर उनका विचार जानना चाहा। उस समय उन्होंने हमारे प्रश्न को अत्यन्त महत्वपूर्ण बताते हुये आगामी अवकाश मिलने पर उत्तर देने का वचन दिया था।[१] एक बार भारत सरकार के मुख्य वकील (Attorney General) श्री मोतीलाल सीतलवाड से लगभग आधा घटे तक चर्चा हुई थी। मेरे साथ छोटा मेरा भाई अभिनदनकुमार भी था। श्री सीतलवाड से ज्ञात हुआ था कि इस सबध में स्पष्टीकरण के लिये सुप्रीम कोर्ट–सर्वोच्च न्यायालय में कार्यवाही की जा सकती है। साधारण वकील लोग यही सोचा करते थे कि यह मामला हाइकोर्ट में भी नही पेश हो सकता है, इसलिये मैंने श्री सीतलवाड से पूछा– "कि सुप्रीमकोर्ट में इस सबध में कैसे विचार हो सकता है?"

तब उनने बताया था कि "यह प्रश्न मौलिक अधिकार (Fundamental rights) से सबधित है, इसलिये यह सीधे सर्वोच्च न्यायालय में पेश हो सकता है। उनसे यह भी ज्ञात हुआ था कि चार पाच सप्ताह में में निर्णय हो सकता है। उनने सरकारी वकील होने के कारण अपना अभिमत नही बताया था।

इस प्रकार विविध साधनों के द्वारा भारतीय सविधान के नियमो को अपने अनुकूल जान कर हमने जैन प्रमुख लोगों के समक्ष कानूनी कार्यवाई करने की सलाह दी। इस सबध म दिगबर जैन महासभा की विशेष बैठक होकर एक उपसमिति का निर्माण हुआ तथा कानूनी कार्यवाही करने का निश्चय भी हो गया।

इस के अनन्तर एक अद्भुत घटना हो गई। २८ नवबर सन १९५०

---

१ Patna 6th Sep 1930

Dear Mr Diwaker, I am at present too much busy to answer the very important question which you have put to me I shall have no time till the middle of October If you should then write to me, I shall endeavour to do my best to give you a satisfactory reply Sd/-P R Das

अकलूज काण्ड

को अकलूज पहुचकर सोलापुर के कलेक्टर ने रात्रि के समय दि० जैन मंदिर का ताला तुड़वाकर उसके भीतर महतरों तथा चमारों आदि का प्रवेश कराया तथा जिन जैन बन्धुओं ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई उनको गिरफ्तार कर लिया। इससे सारी समाज में सनसनी फैल गयी।

जबरदस्ती मंदिर में प्रवेश कराना तो गांधी जी को भी प्रिय न था। उनने १९३२ में २३ सितंबर को पूना के यरवदा जेल से श्री अमृतलाल सूरजमल जवेरी मंत्री जैन युवक सभा को तार भेजा था "आपका तार मिला मुझे इस विषय में जरा भी संदेह नहीं है कि मंदिर में जबरदस्ती किसी को ले जाना योग्य नहीं है। विशेष कर ऐसे लोगों को ले जाना कदापि उचित नहीं है, जो उस संप्रदाय के नहीं हैं; जिनके लिए वह मंदिर बनाया गया है।"[1]

गांधी जी के इस तार का कलेक्टर की कानूनी दृष्टि में कोई महत्व नहीं रहा। इससे उन लोगों का भ्रम दूर हुआ जो प० जवाहरलाल नेहरू के इस पत्र को पाकर कि "जैन धर्म, हिन्दू धर्म का भेद नहीं है," इससे आचार्य महाराज को अन्न ग्रहण कराने की प्रेरणा कर रहे थे।

२८ दिसंबर सन १९५० को बबई में जैन महासभा की विशेष बैठक में ११ व्यक्तियों की विशेष उपसमिति इस संबंध में कार्य निमित्त बनाईगई। उस उपसमिति में कानूनी सलाह प्राप्त करने के अनंतर कानूनी कार्यवाही करने का अधिकार दिया गया था। इस संबन्ध में जो खर्चा लगेगा, उसे देने की प्रतिज्ञा कलकत्ता निवासी सेठ गजराज जी गंगवाल ने आचार्य श्री के समक्ष की थी। हम भी उस समिति के सदस्य थे।

दिल्ली में परिषद ने अकलूज काण्ड से उत्पन्न परिस्थिति तथा आचार्य महाराज के पन्द्रह अगस्त सन १९४८ से प्रारंभ में किए गये अन्न त्याग

---

१ Poona Dated A. M, 23 September 1932 "Amritlal Surajmal Javeri Secretary Jain Yuvak Sabha Patan. Your wire. I have no doubt that forcible entry into Jain temples by any body is unwarranted and certainly by those who do not belong to those for whom temple built. Gandhi."

के कारण उत्पन्न चिंतापूर्ण अवस्था को विस्मृत करके हरिजन मंदिर प्रवेश का प्रस्ताव बड़ी चालाकी से पास करने का अभिनय किया गया था। जनता के प्रचंड विरोध की परवा नहीं की गयी थी। जनता आचार्य महाराज के चरणों की भक्त थी। उसके रोष की सीमा नहीं थी। परिषद के प्रमुख लोगों के प्रभाववश ही प्रतीत होता है कि पुलिस ने कड़ी कार्यवाही की। साधर्मी भाइयों पर पुलिस का लाठी प्रहार हुआ। कई जैन भाई गिरफ्तार हुए। समाज के वयोवृद्ध नेताओ को उस समय उनके धर्ममूर्ति पूर्वजो की स्मृति आ रही थी जिनके कुल दीपकों के द्वारा जैन संस्कृति तथा उसके प्राण आचार्य श्री के जीवन की उपेक्षा करते हुए विरुद्ध दिशा में कदम उठाया गया था। उन्हें यह मालूम था कि ४ सितंबर सन १९४९ को कवलाना चातुर्मास के समय महाराज का शरीर १५ मिनट तक ठंडा पड़ गया था। सांस रुक गयी थी। करवट तक बदलना कठिन हो गया था। इससे सारे भारतवर्ष के प्रमुख श्रीमान तथा धीमान महाराज के पास पहुँचे थे। उस समय सभी विद्वानो ने आचार्य महाराज के समक्ष कहा था कि "दिगंवर जैन शास्त्रो में शूद्रों के जिन मंदिर के भीतर प्रवेश करने की आज्ञा नही है।"

इस प्रकार आगम की सुदृढ भूमि पर अवस्थित महाराज के निश्चय को जानते हुये भी परिषद ने असमय में ऐसा मार्ग अंगीकार किया; जिसकी स्वप्न में भी आशा न थी। गुरु चरणो के प्रति भक्ति प्रदर्शित करते हुए १५ अगस्त सन १९४९ को उनके अन्न त्याग के वर्ष पूर्ण होने पर दिगंवर जैन समाज ने भारत व्यापी हड़ताल द्वारा यह स्पष्ट कर

---

१ फेडरल कोर्ट के न्यायाधीश सर एम० वरदाचार्य के विषयमें सर मारिस ग्वायर प्रधान न्यायाधीश फेडरल कोर्ट ने अमेरिकन पत्रकार लुई-फिशर से कहा था, "नई दिल्ली में अकेले वरदाचार्य ही एक मात्र राजनीतिक दार्शनिक थे।" उक्त विद्वानसे जब लुई फिशर से अस्पृश्यता के संबंध प्रश्न किया, तो न्यायमूर्ति वरदाचार्य ने कहा था, "यदि आप आत्मा के आगमन में विश्वास करते हैं तो आपको मालुम होना चाहिए कि यदि किसी आत्मा ने एक जन्म में कुकर्म किये है तो दूसरे जन्म में उसका हरिजन के घर में जन्म हो सकता है।"

लुई फिशर— एक महान नैतिक चुनौती। पृ० १६८–१६९।

गयी है। कभी कभी उत्तर दायित्व सम्हालने वाले लोगो के प्रमाद से सार्वजनिक सेवा करने वालो को बडा कष्ट हो जाया करता है। ये लोग तो इतना कहकर अपने को चिता-मुक्त मानते है, कि हमने आप को चिट्ठी डाल दी। बारबार तार देने वाले अवसर पर चिट्ठी का आश्रय लेते हैं; इस से वस्तु स्थिति सहज ही समझ में आ जाती है। ऐसी ही स्थिति का अनुभव हमें जैन महासभा की दो एकबार दिल्ली में मीटिंग के विषय में भी हुआ था। हमारी तो यह धारणा है कि धार्मिक उत्तर दायित्व का काम प्रदर्शन-पटु व्यक्तियो के बदले कार्यकुशल तथा धार्मिक व्यक्तियों के ऊपर सौंपा जाना चाहिये।

हम बंबई से चलकर १२ जुलाई को अपने छोटे भाई शातीलाल दिवाकर के साथ आचार्य महाराज के पास पहुचे। उस समय महाराज को केसकी विशेष चिन्ता थी क्यों कि जैन पक्ष के वकील सर इन्जीनियर यूरोप में थे और दास बाबू के आने का पक्का समाचार नही था। सेठ गजराज जी के पास तीन तार गये, रजिस्टर्ड पत्र भी गया किंतु उत्तर न आने से महाराज के मन में ऐसा लगा कि इस सबध ने कही हमें भ्रम में तो नही डाला गया है। मैंने कहा-"महाराज गजराजजी बाहर होंगे, इससे उत्तर नही आया।" पश्चात् मैंने गजराज जी को तार भेजा किन्तु इस विषय में महाराज से कुछ भी परामर्श नही किया था।

तारमें लिखा था, "कि आचार्य महाराज मामलेके बारे में बहुत चिन्तित है, क्या आप बैरिस्टर दास को लेकर पेशी पर बम्बई पहुंचेंगे? उत्तर में १३ जुलाई सन १९५१ को कलकत्ते का तार मिला।[१]

आचार्य महाराज से कहा, इस प्रकार का तार कलकत्ते से आया है, "दास की व्यवस्था हो गई है। वे ता० २३ को केस में शामिल होंगे। ता.१७ को दिल्ली के इंपीरियल होटल में परामर्श होगा। मैं सालीसिटर के साथ ता. १७ को दिल्ली पहुंच रहा हूं। आप तथा तलकचन्द जी अवश्य ता. १७

---

१ Sumer chand Diwakar c/o Chandulal Joti-chand Baramati Arranged with Das. Will Join cas e 23 rd. Consultations will be held New Delhi Imperil Hotel on 17th with Das. Myself with solicitor going Delhi on 17th. You and Talakchand must reach 17th Delhi. for consultations. Gajraj.

दिया था कि बहुसंख्यक जैन वर्ग आचार्य महाराज के चरणो का अनुगामी है। समस्त जैन समाज दिल्ली के नाम से प्रकाशित विज्ञप्ति में लिखा है "कि परिषद की बैठक के दूसरे दिन २५ दिसंबर सन १९५० को दोपहर के समय पडाल में सिर्फ थोडे से आदमियो के सिवाय किसी को भी न घुसने दिया गया। स्वागत समिति के अध्यक्ष, प्रतिनिधि व जनता का हजारो का समुदाय पडाल के बाहर पुलिस द्वारा रुकवाकर अदर बैठकर प्रस्ताव पास कर घोषित कर दिया, जबकि जनता इसके बिल्कुल खिलाफ थी। अक्लूज कांड होने पर बम्बई के बैरिस्टर सर एन० पी० इजीनियर बम्बई के द्वारा दरख्वास्त बनाकर बम्बई हाइकोर्ट में पेश कर दी गयी। उपसमिति के परामर्श के अनुसार हम १० फरवरी सन १९५१ को पटना में बैरिस्टर पी० आर० दास से उनके स्थान शांतिनिकेतन में मिले।

पटना में परामर्श के उपरान्त प्रस्थान कर प्रभात में पारसनाथ (शिखर जी) पहुंचे। वदना करके वापिस आये तथा वहा होने वाले पच कल्याणक महोत्सव के ज्ञान कल्याणक समारंभ में सम्मिलित हुए।

हजारो लोग उपस्थित थे। उनने हमसे अपने भाषण में बम्बई मंदिर में प्रवेश कानून के संबध में की गई कार्यवायी तथा आचार्य महाराज के स्वास्थ्य इत्यादि के विषय में स्पष्टीकरण की इच्छा व्यक्त की। अन्य साधु हमने सब बातो पर प्रकाश डालते हुए सभी श्रावको से तथा विद्वत् वर्ग से अनुरोध किया था कि वे जिनेन्द्र भगवान की आराधना द्वारा भगवान निवारण के कार्य में बडी सहायता कर सकते हैं क्योकि जिनेन्द्र की भक्ति अचिन्त्य सिद्धियो की जननी है।

गद्य चिंतामणि में आचार्य वादीभसिंह ने लिखा है" जिन भगवान के चरण कमल की भक्ति का शीकर (जलकण) सुरेन्द्र तथा असुरेन्द्र के पदो को प्राप्त कराता है।" हमारी तो यह धारणा है कि जब भी जैन धर्म पर सकट आवे, तब समाज के धार्मिक व्यक्तियो को समुदाय रूप से जिनेन्द्र की आराधना पूजा, जाप आदि करना चाहिए। इस अग की अपेक्षा के कारण ही अनेक उद्योगो में असफलता का दु ख भोगना पडा है। इस कारण हम जहा भी गए और धार्मिक बन्धुओ से मिलना हुआ, वहाँ हमने पचपरमेष्ठी की आराधना करने की ही प्रेरणा की।

हमें बबई की सूचना मिली, कि हाई कोर्ट में ९ जुलाई सन् १९-५१ को पेशी है। वहा पहुचने पर ज्ञात हुआ है कि पेशी ता० २३ को हो

१ यदीय पादाम्बुजभक्तिशीकर सुरासुराधीश-पदाय जायते ॥

गयी है। कभी कभी उत्तर दायित्व सम्हालने वाले लोगों के प्रमाद से सार्वजनिक सेवा करने वालों को बड़ा कष्ट हो जाया करता है। ये लोग तो इतना कहकर अपने को चिंता-मुक्त मानते हैं, कि हमने आप को चिट्ठी डाल दी। बारबार तार देने वाले अवसर पर चिट्ठी का आश्रय लेते हैं; इस से वस्तु स्थिति सहज ही समझ में आ जाती है। ऐसी ही स्थिति का अनुभव हमें जैन महासभा की दो एकबार दिल्ली में मीटिंग के विषय में भी हुआ था। हमारी तो यह धारणा है कि धार्मिक उत्तर दायित्व का काम प्रदर्शन-पटु व्यक्तियों के बदले कार्यकुशल तथा धार्मिक व्यक्तियों के ऊपर सौंपा जाना चाहिये।

हम बंबई से चलकर १२ जुलाई को अपने छोटे भाई शातीलाल दिवाकर के साथ आचार्य महाराज के पास पहुचे। उस समय महाराज को केसकी विशेष चिन्ता थी क्यों कि जैन पक्ष के वकील सर इन्जीनियर यूरोप में थे और दास बाबू के आने का पक्का समाचार नही था। सेठ गजराज जी के पास तीन तार गये, रजिस्टर्ड पत्र भी गया किंतु उत्तर न आने से महाराज के मन में ऐसा लगा कि इस संबंध ने कहीं हमें भ्रम में तो नही डाला गया है। मैंने कहा-"महाराज गजराजजी बाहर होंगे, इससे उत्तर नही आया।" पश्चात् मैंने गजराज जी को तार भेजा किन्तु इस विषय में महाराज से कुछ भी परामर्श नही किया था।

तारमें लिखा था, "कि आचार्य महाराज मामलेके बारे में बहुत चिन्तित है, क्या आप बैरिस्टर दास को लेकर पेशी पर बम्बई पहुंचेगे ? उत्तर में १३ जुलाई सन १९५१ को कलकत्ते का तार मिला।[1]

आचार्य महाराज से कहा, इस प्रकार का तार कलकत्ते से आया है, "दास की व्यवस्था हो गई है। वे ता० २३ को केस में शामिल होंगे। ता.१७ को दिल्ली के इंपीरियल होटल में परामर्श होगा। मै सालीसिटर के साथ ता. १७ को दिल्ली पहुंच रहा हूं। आप तथा तलकचन्द जी अवश्य ता. १७

---

१ Sumer chand Diwakar c/o Chandulal Joti-chand Baramati Arranged with Das. Will Join cas e 23 rd. Consultations will be held New Delhi Imperil Hotel on 17th with Das. Myself with solicitor going Delhi on 17th. You and Talakchand must reach 17th Delhi, for consultations. Gajraj.

को दिल्ली परामर्श के लिए पहुंचें । 'गजराज'

तार को सुनते ही आचार्य श्री की ओर से आदेश मिला, "जब तक केस पूरा नहीं होता है, तब तक तुम सिवनी मत जाना और केस का ही काम करना।" गुरुदेव के आदेश को मन में शिरोधार्य किया।

१५ जुलाई असाढ सुदी एकादशी रविवार को आचार्य महाराज का तथा नेमिसागर महाराज का केशलोच ३बजे दिन को बारामती के मंदिर की धर्मशाला में संपन्न हुआ। अजैन लोग भी बहुत थे। केशलोच के पूर्व आचार्य महाराज ने बारामती में चातुर्मास करने की प्रतिज्ञा की थी। यद्यपि पूर्णिमा को अभी चार दिन शेष थे, किन्तु पंचांग को देखकर आगे शुभ मुहूर्त न होने से एकादशी को यह निश्चय किया। ऐसी अपूर्व विचारकता अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ती है।

असाढ सुदी एकादशी का महत्व

इस असाढ सुदी एकादशी का जैन श्रुत परंपरा में महत्वपूर्ण स्थान है। धवल ग्रंथ में लिखा है कि "धरसेन आचार्य ने शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभवार में भूतवलि और पुष्पदन्त मुनियों को षटखंडागम सूत्र का प्रमेय पढ़ाना प्रारम्भ किया। इस तरह क्रम से व्याख्यान करते हुए धरसेन स्वामी से उन दोनों ने असाढसुदी एकादशी के पूर्वाण्ह काल में ग्रंथ समाप्त किया। विनयपूर्वक ग्रंथ समाप्त हुआ। इससे संतुष्ट हुए व्यंतर देवों ने उन दोनों में से एक की पुष्पावलि से तथा शंख और तुर्य जाति के वाद्य विशेष के नाद से व्याप्त बड़ी भारी पूजा की। उसे देखकर धरसेन भट्टारक ने उनका भूतवलि नाम रखा। जिनकी देवों ने पूजा की है और अस्तव्यस्त दंत पंक्ति को दूर करके जिनके दांत समान कर दिये हैं, ऐसे दूसरे का पुष्पदंत नाम रखा।" (पृष्ठ ७०)

यह महत्वपूर्ण सांस्कृतिक कार्य सौराष्ट्र देश के गिरिनगर नाम की शहर की चंद्रगुफा में संपन्न हुआ होगा, कारण धरसेन स्वामी उसी गुफा में रहते थे।

मुनि लोग भी श्रेष्ठ कार्यों के हेतु योग्यकाल, मंगल मुहूर्त, पुण्यवेला को देखा करते हैं। आचार्य महाराज एक बार कहते थे "हमें भी ज्योतिष को देखना पड़ता है। किसी को दीक्षा देते समय स्थिर लग्न तथा शुभ मुहूर्त देखने की शास्त्राज्ञा है। अयोग्य मुहूर्त में दी गई दीक्षा को खंडित होते हमने देखा है। यह विद्या भगवान की वाणी से प्राप्त हुई है।" आज जो इस विषय में लोगों की उपेक्षा होती जाती है, इसका कारण इस विद्या का

उचित परिचय पाए बिना उसके ज्ञाता बनने का ढोंग रचा जाना है। विशेषज्ञों द्वारा सम्यक् मार्ग दर्शन होता है। इस विद्या की ओर लोगों का लक्ष्य नहीं रहा, किन्तु आचार्य सोमदेव इस विषय को महत्वपूर्ण कहते हैं।

यशस्तिलक में लिखा है-[1]

"परोक्ष अर्थ जानने में समर्थ बुद्धिधारी ज्योतिष शास्त्र, मंत्रशास्त्र, निमित्तशास्त्र के ज्ञाता, कर्तव्यकर्म के ज्ञाता, पात्र जैनियों द्वारा माननीय हैं। यदि ऐसे ज्ञानवान नहीं हो तो दीक्षा, यात्रा, प्रतिष्ठा आदि के कार्य कैसे बनेंगे? इन कार्यों के लिए अन्य लोगों से पूछने पर जैन शासन की उन्नति कैसे होगी? अतः समय-द्योतक विद्वानों का भी सन्मान करना चाहिए।"

सिद्धांत शास्त्र की शिक्षा में धवलित असाढ सुदी एकादशी की रात्रि को बारामती से चलकर हम शहा वकील बम्बई पहुंचे। वहाँ हमारे छोटे भाई अभिनंदनकुमार का बड़ा चिन्ताप्रद पत्र मिला कि वृद्ध पिता जी को मंदिर में पूजा करते समय चक्कर आ गया। वे गिर पड़े, मस्तक पर गहरी चोट आई। इसके साथ में यह भी दु:खद समाचार था, कि हमारी छोटी बहिन कमलाबाई भयंकर बीमार है और डाक्टरों ने उसे प्लूरिसी का रोग बताया है। इस पत्र के बाँचते ही अद्भुत परेशानी सामने आ गई। कुटुम्ब का ममत्व सिवनी को वायुयान तक से दौड़ने को कहता था, तो आचार्य महाराज की आज्ञा धर्म सेवा को स्मरण कराती थी। कुछ क्षणों में मोह का भाव दबा और मंगलमय आचार्य परमेष्ठी की आज्ञानुसार धर्मसेवा का ही निश्चय किया। हमने यही सोचा कि वीतराग शासन के प्रसाद से आकुलता दूर होगी। हुआ भी ऐसा ही। कुछ काल के बाद संतोषप्रद संवाद प्राप्त हुआ। यथार्थ में धर्म की भक्ति का अचिन्त्य माहात्म्य है। तीर्थंकर का शरण लेने से कभी भी दुख नहीं टिक सकता। वहां हम लोगों ने हाईकोर्ट में जाकर पता लगाया तो ज्ञात हुआ, कि पेशी ता० २३ के स्थान में ता० २४ जुलाई श्रावण कृष्णा षष्ठी, दिन मंगलवार को रखी गई है। कई लोग सोचते थे, सर एन० पी० इंजीनियर बैरिस्टर की

---

१ ज्योतिर्मंत्र निमित्तज्ञः सुप्रज्ञः कार्यकर्मसु।
मान्यः समयिभिः सम्यक् परोक्षार्थसमर्थधीः ॥ १ ॥
दीक्षा-यात्रा-प्रतिष्ठाद्याः क्रियास्तद्विरहे कुतः।
तदर्थं परपृच्छायां कथं च समयोन्नतिः ॥ २ ॥

प्रतीक्षा करना आवश्यक है। किन्तु आचार्य महाराज का हृदय कहता था देर नहीं होना चाहिए। उनके हृदय की प्रेरणा के अनुसार पेशी समीप ही रही। अब देहली पहुँचकर बैरिस्टर दास से परामर्श करने की बात थी। पटना में दास बाबू को श्री शाह वकील तथा हमने सारी ज्ञातव्य बातें कह दी थी, अत अब यदि परामर्श योग्य स्थान बम्बई है, जहाँ श्री दास बाबू पेशी के पूर्व आवें तो वहा के वकील श्री पालखीवाला, श्री बोरा बैरिस्टर तथा श्री रमणलाल, कोठारी सालीसिटर नन्दलाल एण्ड कम्पनी के साथ सम्यक परामर्श हो।

यही सोचकर हमने सर सेठ भागचद की पेढी जुहार पैलेस पर जाकर उनके प्रमुख मुनीम सुन्दरलाल जी से परामर्श किया। उनने कहा मैंने अभी थोडी देर पहले अजमेर मे सेठ साहब से बात की थी, आप उस समय आ गए होते तो बडा अच्छा होता। अस्तु फिर उनने फोन किया, तो वहाँ की लाईन में गडबडी हो गई। अब फोन आता है। थोडी देर मे आता है। ऐसी प्रतीक्षा मे एक घटे से अधिक समय व्यतीत हो गया। कदाचित फोन मिल जाता तो हमलोगो का दिल्ली पहुँचना शायद स्थगित हो जाता, किन्तु उस भूमि के स्पर्श का निमित्त था अत अपने ठहरने के स्थान पर आए तो ज्ञात हुआ कि अजमेर से सर भागचद जी का हमारे नाम पर फोन आया था। वे दिल्ली के लिए रवाना हो गए और दानो को रात्रि के वायुयान से आने को कहा है। हवाई जहाज की टिकट आ गई। हम रात का डेढ बजे रवाना हो गए। प्रभात में ५॥ बजे दिल्ली के वेलिंगडन एरोड्रोम में उतर पडे।

बम्बई शीतल वातावरण युक्त था और दिल्ली मे भीषण गर्मी थी। वहाँ पहुँचकर पता चलाया तो ज्ञात हुआ कि सेठ गजराज जी को कारणवश विलम्ब हो गया है। वे सालीसिटर के साथ ता० १८ के प्रभात में आए। ता. १८ को बैरिस्टर दास से केस पर चर्चा हुई। वहाँ दास बाबू ने कहा कि आप लोगो को तुरत बबई पहुँच कर योग्य साक्षी तैयार करना चाहिए। हाईकोर्ट साक्षी कैस लेगी? यदि साक्षी (evidence) की स्थिति आई, तो न्यायालय इस मामले को नीचे की अदालत में भेजे विना न रहेगी। यह जानते हुए भी बडे वकील की बडी बात विचार कर ता १८ की रात्रि को सीट बुक करने के लिए फोन से बात की, तो एरोड्रोम दफ्तर से कहा गया केवल दो सीट बाकी है शीघ्रता कीजिए नही तो ता. १९ को

सोट मिलेगी।

हमने शहा वकील से कहा अपने लिए ही वे स्थान सुरक्षित प्रतीत होते हैं। वायुयान से हमने दिन में ही अनेक बार प्रवास किया है। उसकी दुर्घटनाओं का वर्णन पत्रों द्वारा प्रगट होने से रात्रि के प्रवास के प्रति कुछ कम इच्छा होती थी, किंतु हमने यही सोचा धर्म या श्रेष्ठ कार्य करते हुए विपत्ति का क्या भय और यदि कदाचित वह आई तो श्रेष्ठ सेवा करते रहने में भविष्य की भी भीति नहीं है।

दिल्ली में मुनिराज श्री नमिसागर महाराज, तथा अन्य महान तपस्वियों के दर्शन किए। उन लोगों ने आचार्य शांतिसागर महाराज के समान एकादशी को चातुर्मास का निश्चय न कर पूर्णिमा को ही एकत्रित होकर देहली चातुर्मास का निश्चय किया। खूब समुदाय था। आचार्य शांतिसागर महाराज के स्वास्थ्य आदि की बातें सुनकर सबको संतोष हुआ। हमने सबसे यही अनुरोध किया, कि धर्म सङ्कट निवारणार्थ अधिक से अधिक जिनेन्द्र-स्मरण करें।

हम लोग मध्य रात्रि को दिल्ली से चलकर विमान में सोते हुए सबेरे ता० १९ को पुनः बम्बई आ गए। अब पेशी को पांच दिन शेष हैं। कार्य बहुत अधिक था। बम्बई की धार्मिक समाज ने क्षुल्लक सूरिसिंह जी के नेतृत्व में जाप की विशिष्ट विधि चन्द्रप्रभु-जिनालय भूलेश्वर में की। सभी धार्मिक लोग जिनेन्द्र स्मरण करने में संलग्न थे।

जिनेन्द्र देवकी स्तुति करने से विघ्नों राशि की शान्तिनी, भूत सर्प दूर हो जाते हैं, विष भी निर्विषता को धारण कर लेता है। उस अवसर पर हमने अपने भाषण में कहा था, जो भाई और बहिन जाप में बैठने में असमर्थ हैं वे भी अपने अपने स्थानों में ही महामंत्र का जाप करें। आज के शासन में धर्म की प्रतिष्ठा का कार्य सामान्य नहीं है।

ता० २१ शनिवार को दास बाबू के आने पर उनके निवास स्थान पर सब्धारा काफी परामर्श होना रहा। हम, मर सेठ भागचन्द जी सोनी, सेठ रतनचन्द हीराचन्द जी, सेठ राजकुमारसिंह जी और श्री फूलचन्द कोठडिया वकील पूना अरकूज के लोग आदि उपस्थित थे। दास बाबू ने केस को तैयार किया। बैरि पालखीवाला, बैरि बाहरा, श्री रमणलाल कोठारी सालीसिटर, श्री शाह वकील आदि सभी लोग यथाशक्ति प्रयत्न शील थे। बम्बई में निरन्तर कार्य में संलग्न रहने से समय के बीतने का पता नहीं चलता था।

अब ता. २४ जुलाई का मंगलमय मंगल दिवस आया। हमने बड़े

हाईकोर्ट बम्बई

आनन्द से भगवान की पूजा की। तैयार होकर हाईकोर्ट में काफी समय पहले पहुंच गए, क्यों कि टाईम्स आफ इंडिया आदि दनिक पत्रों में केस का वर्णन आ जाने से बड़े बड़े लोगों की दिलचस्पी जागृत हो उठी थी। पचासों वकील बेरिस्टर दास बाबू की बहस सुनने को आ गए थे।

११ बजे चीफ जस्टिस श्री चागला, तथा जस्टिस श्री गजेन्द्रगड कर आ गए। उनके साम्हने की पंक्ति में बैरिस्टर सी. आर दास तथा उनके सहयोगी बैरिस्टर थे, दूसरी ओर सरकारी वकील बैरिस्टर आमीन तथा एडवोकेट जोशी आदि थे।

न्यायधीशों के आते ही अखंड सन्नाटा हो गया। चीफ जस्टिस ने पिछले एक मामले का फैसला पढ़ना प्रारम्भ किया। वह शायद पचास पृष्ठ लम्बा था। करीब करीब उतना ही नहीं, तो उसका छोटा भाई सरीखा दूसरा फैसला जस्टिस गजेन्द्रगडकर ने बांचना प्रारम्भ किया। प्रतीक्षा के कारण एक एक मिनिट गिनते गिनते डेढ़ बज गया। दास बाबू भी काफी श्रान्त दिखने लगे। सत्तर वर्ष से अधिक उनकी अवस्था भी हो गई है। यह प्रतीत होता था कि नास्ता (Lunch) के बाद ही केस लिया जायगा। घड़ी में पौने दो हुए कि प्रधान न्यायाधीश श्री चागला ने पूछा (well what is your case ?") कहिए दास बाबू! आपका क्या मामला है।"

एकदम गम्भीर वातावरण हो गया। दास बाबू ने केस की कथा प्रारम्भ, की, कि अकलूज जिला सोलापुर में एक स्थान है, वहा के जैन मंदिर का ताला सोलापुर के कलेक्टर ने तुड़वाकर वहा अजैनो को जबरदस्ती घुसेड़ा है। यह कलेक्टर का कार्य अन्याय पूर्ण है।

श्री दास अपनी बात कह ही रहे थे, कि जज गजेन्द्रगडकर महाशय ने पूछा"—श्री दास! यह बताइये क्या आप वर्णाश्रम धर्म को मानते हैं या नहीं? इस प्रश्न का भाव यह था कि यदि आप वर्णाश्रम धर्म मानते हो तो आप अस्पृश्यों के प्रति मंदिर प्रवेश प्रतिषेध की नीति को मानते अवश्य होंगे"।

दास बाबू ने उत्तर दिया "मैं तो जैन नहीं हूं, मुझे नहीं मालूम

जैन लोग वर्णाश्रम व्यवस्था मानते हैं या नही ?"

दास बाबू ने आगे यह कहा "हमने जैन मंदिर में घुसनेवालो को अजैन समझकर रोका है, हम नही जानते वे हरिजन हैं या सवर्ण हैं।" अपने विषय को स्पष्ट करते हुए उनने पटना हाईकोर्ट के एक पुराने मुकदमे का उल्लेख करते हुए कहा "एक बार विहार प्रात के राजगिर ग्राम का मामला अदालत में पहुंचा। बात यह थी कि राजगिरि में जो गरम पानी के झरने है, वे हिन्दुओं के अधिकार में हैं। मुसलमान लोग वहा अधिकार जमाना चाहते थे। अतः उनने अपनी ओर से प्रमाण पेश किए थे, कि हम लोगों ने बिना रोक रोक के कुंडो में स्नान किया है। उसके जवाब मे हमने कहा था "नहाने वालो के मुख पर मुसलमान नही लिखा था, जिससे हम यह जानते कि ये मुसलमान लोग यहा आए है। हमने उनको हिन्दुओ के समान ही समझ कर प्रवेश करने दिया था। इसी प्रकार जैन मंदिर में यदि कभी हिन्दू भी गए है तो हमने उनको जैन समझकर ही जाने दिया है। अजैन जानकर नही! इस पर जस्टिस गजेन्द्रगड़कर ने कहा"–श्रीयुत दास! यह बात यहा नही लागू होती हैं। अकलूज एक छोटी सी बस्ती है। वहा सब लोग एक दूसरे को पहचानते है, कि कौन किस जाति का है आदि, अतः अकलूज के विषय में यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रवेश करने वाले अजैनों को हमने जैन जानकर ही आने दिया।"

श्री दासनें अपना विषय स्पष्ट करते हुए कहा "यदि हिन्दू लोग किसी विशेष जन मन्दिर में अधिकार अथवा रिवाजपूर्वक आते रहे हैं तो वह अधिकार हरिजनों को भी प्राप्त होगा यह बात हमें मान्य है। किन्तु यदि इस मन्दिर में हिन्दुओं को भी अधिकार नही रहा है तो हरिजनो को भी अधिकार नही रहता है।"

गंभीर स्थिति

इस प्रकार बहस चल रही थी, कि न्यायाधीश जलपान के लिए दो बजे उठ गए। उस समय न्यायाधीश का रुखढंग ऐसा दिखा, कि अब मामला खारिज होने में देर नहीं है। जजों के प्रश्नोंके आगे जैनोके तरफ का उत्तर असरकारी नहीं दिखता था। सैकड़ो जैन भाइयो के चेहरो पर उदासी छा गई। हमारे मन में इस बात की चिन्ता थी, कि कही अपने विरुद्ध निर्णय हुआ, तो इसका आचार्य महाराज पर अच्छा असर नहीं पड़ेगा। उस समय पास में बैठे हुए उसी दिन बारामती से आये

कलेक्टर को जैन मन्दिर का ताला तोड़कर ८ बजे रात को हरिजनों को मन्दिर मे ले जाने का अधिकार किसे दिया था ?" क्या उसके हाथों कानून आ गया था। उसे केवल इतना ही अधिकार था कि रोकने वालो पर दावा दायर करता, किन्तु मन्दिर का ताला तोड़कर घुसने का तरीका तो बहुत बड़ी ज्यादती थी।"

हाईकोर्ट का निर्णय

इसके अनन्तर ही चीफ जस्टिस ने कहा हम निर्णय घोषित करते है। उनने जस्टिस गजेन्द्रगडकर से पूछा "क्या आप फैसला बोलते हैं ? उनने कहा "आप ही बोलिए"। श्री जस्टिस चागला ने फैसला बोलना आरम्भ किया। कि "बम्बई कानून का लक्ष्य हरिजनों को सवर्ण हिन्दुओं के समान मन्दिर प्रवेश का अधिकार देना है। जैनियों तथा हिन्दुओं में मौलिक बातो की भिन्नता है। उनके स्वतन्त्र अस्तित्व तथा उनके धर्म के सिद्धांतों के अनुसार शासित होने के अधिकारो के विषय मे कोई विवाद नही है ; अतः हम एडवोकेट जनरल की यह बात अस्वीकार करते है कि कानून का ध्येय जैनों तथा हिन्दुओं के भेदों को मिटा देना है।

"दूसरी बात यह है कि यदि कोई हिन्दू इस कानून के बनने के पूर्व किसी जैन मन्दिरो मे पूजा करने के अधिकार को सिद्ध कर सके, तो वही अधिकार हरिजन को भी प्राप्त हो सकेगा। अतः हमारी राय में प्रार्थियों का (petitioners) यह कथन मान्य है कि जहा तक इस सोलापुर जिले के जैन मन्दिर का प्रश्न है, हरिजनो को उसमें प्रविष्ट होने का कोई अधिकार नही है, यदि हिन्दुओं ने यह अधिकार कानून, रिवाज या परम्परा के द्वारा सिद्ध नही किया है।"

"कलेक्टर का कार्य भी कानून के अनुसार ठीक नही था। कानून के नियम के नियम न० ४ के अनुसार कलेक्टर को इस बात का सन्तोष हो जाय, कि इस अकलूज के जैन मन्दिर में हिन्दुओं को कानून, रिवाज या परम्परा के अनुसार अधिकार था, तो उसे यह करना उचित होगा कि उस जैन पर कार्यवाही करे जो इस कानून के द्वारा प्रदत्त अधिकार में बाधा डालता है। किन्तु नियम नं० ४ के सिवाय कलेक्टर को ताला तोड़ने का अथवा हरिजनों को मन्दिर में प्रविष्ट कराने में सहायता देने का अधिकार नही था।"

निर्णय के पश्चात्

इस निर्णय को सुनते ही सबको आश्चर्य आ। कानूनवेत्ता विशेषज्ञ चकित हुए कि जहाँ मामले में पराजय की स्थिति

थी, वहा धर्म पक्ष की पूर्णतया विजय हो गई। उस समय इस प्रसंग म जिसको जितना अधिक श्रम उठाना पड रहा था, उसके आनन्द की मात्रा उतनी ही अधिक थी। धार्मिक जैन समाज के हर्ष की सीमा न थी।

वर्तमान हरिजनोद्धार को मुख्यता देने वाले शासन में जिनेंद्र की आज्ञा की पूर्ण रक्षा होना अलौकिक बात है। हम तो इस प्रसग में सपूर्ण बातो से परिचित रहे है। उस निकट परिचय के आधार पर यह कहना पूर्णतया सत्य है, कि इस सफलता का श्रेय उन पूज्य चारित्र चक्रवर्ती ऋषिराज को है, जिनने जिन शासन के अनुरागवश तीन वर्ष से अन्न छोड रखा था। यह उनकी प्रवचन भक्ति तथा प्रवचनवत्सलत्व भावना का प्रभाव था, तथा हजारो, लाखो नर नारियो की पचपरमेष्ठी की भक्ति का प्रसाद था, जो धर्म की नौका मंझधार में डूबते २ बच गई। उस समय आचार्य महाराज के जिन शासन में प्रगाढ भक्ति पूर्ण शब्द सगझ में आए, जो उनने कई बार कहे थे, कि 'अभी धर्म-ध्वस का समय नही आया है। अभी हजारो वर्ष पर्यन्त जैन धर्म जीवित रहेगा।" उनके मुख से ये भी शब्द सुने थे, कि इस सकट को दूर होते देर न लगेगी। इस धार्मिक सफलता पर जिन्हे आनंद हुआ, उनने पुण्य का संचय किया होगा। कुछ ऐसे भी व्यक्ति रहे जिनको असह्य वेदना हुई। किन्तु अब यह ऐसी वस्तु नहीं है, जो कोई नेता या और दूसरो के द्वारा वदली जा सके, या अखबारी आदोलन के द्वारा उलटाई जा सके। उन श्रावक कुल सभूत व्यक्तियो की वृत्ति पर दया आती है, जो आचार्य परमेष्ठी के विरोध में जाल बुनते रहे थे, किन्तु स्वयं वे उसमें ही आक्रात हो गए। जिनागम मे जो बात कही गई है, उसे जिनागम का अग बताना श्रुत का अवर्णवाद है जिससे दर्शन मोह का आस्त्रव होता है।

ऐसा भाव अनुभव मे आता है, कि किन्ही व्यक्तिगत स्वार्थो के कारण सदा शासन सत्ता की हा में हा मिलानेवाला वर्ग तैयार हुआ करता है। धर्म भक्ति से पराङ मुख हो राष्ट्र भक्ति वाले भ्रात भाइयो ने अपने ही धर्म के कार्य को नष्ट करने को क्या २ विनिन्दित कर्म नही किए। यह देख कलिकाल की महिमा याद आ जाती है। इस विकट परिस्थिति में आचार्य महाराज की आध्यात्मिक साधना तथा अन्य जिन-धर्म सेवको की भक्ति ने सकट से जिनमदिरो की शुद्धता की रक्षा की। प० आशाधर जी ने जिन-मदिर की विशेषता लिखा है-'दलितकलि-लीला-विलसितम्' इनके

द्वारा कलिकाल की लीला का विलास नष्ट हो जाता है। बहुत से विघ्नकारी तो वे लोग थे, जो कभी जिन मंदिर जाकर दर्शन नहीं करते थे।

सफलता का श्रेय आचार्य महाराज को केस की सफलता का तार भेज दिया गया। ता: २४ जुलाई की रात्रि को बंबई के श्री चंद्रप्रभु जिनालय मे सभा हुई। उसमें अनेक धर्म बंधुओं ने भाषण द्वारा सेवा करने वाले भाइयों के कार्य की सराहना की। हमने कहा था-कि इस महानकार्य की सफलताके मुख्य कारण रत्नत्रय मूर्ति आचार्य शांतिसागर महाराज हैं और फिर ज्ञात-अज्ञात सेवक हजारों लाखों नरनारी हैं, जिनने व्रत धारण किए जाप किए तथा आध्यात्मिक साधना द्वारा सफलता का उद्योग किया। यह सोचना ठीक नहीं है, कि जो व्यक्ति सामने आते रहे, उनने ही सब कुछ किया।

उस भाषण में हमने आचार्य महाराज के एक महत्वपूर्ण स्वप्न का उल्लेख किया, जो आचार्य महाराज ने असाढ सुदी दशमी ता: १४ जुलाई सन् १९५१ को बताया था। स्वप्न में महाराज ने देखा कि एक मुर्दा उनके पास आ रहा है। उसका सब लोगों ने ईंधन डालकर दाह किया, किन्तु वह पूरा नहीं जला, इससे महाराज ने उसमें लकडी डाली और वह भस्म हो गया। इस स्वप्न का अर्थ बारामती में समझ मे नहीं आ पाया था, किन्तु फैसला होने के बाद ज्ञात हुआ कि वह संकट का शव था। सबके उद्योग करने पर भी वह विपत्ति बनी रही। अंत में आचार्य महाराज ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा योगदान किया। इससे उस संकट की समाप्ति हो गई। स्थूल भाषा में वह हरिजन मंदिर प्रवेश कानून द्वारा लाई गई विपत्ति का शव था। शव इसलिए था, कि वह प्रारंभ से ही मृतक सदृश था।

ता. २४ की रात्रि को दक्षिण की बहुत सी मंडली के साथ हम आचार्य श्री के पास बारामती चलने को रवाना हुए। बार बार यही विचार मन में आता था, कि जब तक आचार्य श्री ने अन्न ग्रहण नहीं किया, तब तक सफलता नहीं मानी जायगी। अपना हाईकोर्ट या सुप्रीम कोर्ट तो महाराज का निर्णय है।

महाराज के पास पहुंचे, तो उनकी पूर्ण चिंता तार आने पर भी दूर नहीं हुई थी।

वे बोले "तार में तुम्हारे या शाहा वकील के दस्तखत न होने से हमें पूरा सतोष नही हुआ और सदेह बना रहा।" इससे ज्ञात था कि आचार्य महाराज भावावेश से भुलावे में आने वाले व्यक्ति नही हैं।

हम लोगो ने कहा—"महाराज सफलता का तनिक भी रूप पहले नही था, किन्तु सहसा न्यायाधीशो ने ही सच्चे वकीलो का काम किया। गजेन्द्र-गडकर जज विप्रराज होने से अपनी सस्कृति के प्रति नम्र भावना वाले थे। उनका अग था। वे ही सरकारी वकील को अपने प्रश्नो द्वारा अवाक कर देते थे। यह सब आपके चरणो का प्रसाद है।"

आचार्य महाराज ने कहा—"हमारा कुछ नही है। सब महावीर भगवान की कृपा है। हमने कह दिया था, यह सकट अधिक दिन तक नही रहेगा।"

हमने तथा उपस्थित मडली ने महाराज से विनय की—"महाराज सेवा करने वाला काम पूरा करने पर अपनी मजदूरी माँगता है। आपके १९४८ अगस्त से अन्न त्याग से हमने सभी कार्यों को बद कर दिया था, अब काम पूरा हो गया। इससे आपसे हमें अपनी मजदूरी चाहिए। मजदूरी यही है, कि आप अब अन्न ग्रहण करें।"

महाराज बोले—"यह बच्चा का खेल नही है। अभी हम हाईकोर्ट का सील लगा फैसला देखेंगे, और विचारेंगे। सुप्रीम कोर्ट की अपील की अवधि को भी समाप्त होने दो।" उस समय म्याद आदि के प्रश्नो को ध्यान में रखते हुए हमें रक्षाबधन का दिन आहार के लिए उपयुक्त दिखा। हमने सोचा रक्षाबधन की पुनरावृत्ति सी हो जायगी कारण इस युग में अधर्म के आतक के समक्ष अकपित रहने वाले आचार्य महाराज भी अकपन आचार्य तुल्य लगते है। अभी हाई कोर्ट निर्णय समक्ष नही था, इससे हम लोगो को चुप होना पडा। तीन चार रोज आचार्य महाराज के चरणो के समीप में बारामती पुन रहने का सौभाग्य मिला। हमने देखा, अब आचार्य महाराज की आत्मा पूर्णतया निर्द्वन्द्व हो गई। उनके मन में बडे उज्ज्वल विचार आने लगे।

तीन सप्ताह के प्रवास के पश्चात् सिवनी आना हो गया, किन्तु बार बार मन में यही लालसा थी, कि वह दिन धन्य होगा, जब ये महान तपस्वी आहार ग्रहण करेंगे। हाईकोर्ट के निर्णय की कापी भी देख ली। उसमें आचार्य श्री की प्रतिज्ञा की पूर्ति देखकर हमने बारामती श्री चद्र

लाल जी सराफ आदि को लिखा, कि महाराज से आहार के लिए प्रार्थना करें, तो उत्तर निराशा पूर्ण मिला। हमने श्री फूलचंद कोठडिया वकील पूना तथा तलकचंद जी वकील को पत्र देकर आग्रह किया कि महाराज आप लोगों के अत्यन्त समीप हैं, आप उनके चरणों में जाकर आग्रह कीजिए कि आपका आहार न ग्रहण करना ठीक नहीं है। सारे भारतवर्ष की समाज चिंता-युक्त है। रक्षाबंधन का दिन बड़ा श्रेष्ठ होगा।

दोनो धार्मिक वकीलो ने गुरु चरणों में पहुंचकर प्रार्थना की, लोगों ने भी अत्यधिक आग्रह किया।

१६ अगस्त सन १९५१ का रक्षाबंधन

तब महाराज ने कहा "हमें अपनी तो फिकर नहीं हैं, किंतु हमारे निमित्त से हजारों व्यक्तियों ने जो त्याग कर रखा है, उनका विचार कर हम कल आहार कर लेंगे। यह बात ता० १५ अगस्त को संध्याको ज्ञात कर बारामती के भाइयों को अपार आनन्द हुआ। हमें ता० १६ के प्रभात में तार मिला "Acharya Maharaj taking Anna today." इसे पाते ही अवर्णनीय आनन्द मिला, किन्तु शंका शील मन में यह विचार आया, कि अंग्रेजी की कहावत "There is many a slip between the lipe and the cup." के अनुसार अभी भी अन्तराय आ सकता है। "आचार्य महाराज आज अन्न ग्रहण करेंगे"। 'करेंगे' के स्थान में 'किया' देखने की लालसा थी, कि चन्दूलालजी सराफ का दूसरा तार आया उसमें लिखा था, "आचार्य महाराज ने अन्न ग्रहण कर लिया।" उस समय जो आनन्द आया, वह लेखनी द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता, वाणी द्वारा भी प्रकाश्य नहीं है।

कालिदास ने लिखा है:—"क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते" किसी कार्य के करने में अपार कष्टों को भोगते हुए सफल हो जाने पर क्लेशों की व्यथा दूर हो जाती है। तीन वर्षों में बम्बई दिल्ली आदि बड़े-बड़े नगरों में कितने नहीं चक्कर काटे, कितना नहीं कष्ट भोगा, क्या २ कष्ट सहन नहीं किया, यद्यपि विघ्न सन्तोषी सत्पुरुषों के भय से यह वार्ता पत्रों में नहीं आई थी, वे सब शूल फूल रूप में परिणित हो गए। हमने परोक्ष रूप से आचार्य देव को प्रणाम किया। सब लोग धन्य २ कह उठे। ऐसी तपस्या रत्नत्रय-धर्म-रक्षण निमित्त इस युग में कहा देखी जा सकती है।

बारामती का आनंद तो अपूर्व था, जहा रक्षाबंधन के दिन इस

युग के अकम्पन ऋषिराज शांतिसागर महाराज ने तथा उनके अतिशयभद्र वीतराग, तपस्वी शिष्य मुनि नेमिसागर जी ने अन्नाहार लिया । आचार्य महाराज का अन्नाहार ११०५ दिनों के पश्चात् हुआ था । रोगी व्यक्ति को जब दो चार दिन को भी अन्न नही मिलता है, तो वह निरंतर अन्न को ही तरसता है । "अन्न वै प्राणाः" अन्न को प्राण कहा है । वैदिक साहित्य में अन्न को तो ब्रह्म कहा गया है, उस अन्न का प्रतिज्ञापूर्ति पर्यन्त त्याग करके प्रतिज्ञापूर्ण होने पर ११०० दिन से अधिक काल व्यतीत होने के उपरान्त आहार करना असाधारण स्थान रखता है ।

बारामती में एक पण्डाल में बडा चौका बनाया गया था । उसमें ही महाराज का आहार हुआ था, जिससे सभी लोगो को इस मगल प्रसग पर उत्तम पात्र की सेवा का अपूर्व सौभाग्य मिल सके । आहार के मगल मय ऐतिहासिक अवसर पर आकाश से थोडी जल बिन्दुओ की वर्षा हो रही थी, मानो मेघकुमार जाति के देव अपना आनद व्यक्त कर रहे हो । अद्भुत दृश्य था वह । प्रकृति भी पुलकित हो रही थी । महान तपस्वी की ११०० दिन बाद पूर्ण हुई सफलता पर आसपास के सभी लोगो में चर्चा थी । लोग महान आचार्य श्री के तपः-पूत जीवन के प्रति श्रद्धा पूर्ण उद्गार व्यक्त करते थे । बम्बई आदि बडे बडे नगरो के विचारक वर्ग बातें करते थे, तपस्वी का नाम ले इंद्रियो का पोषण करने वाले साधु दुनिया भर में मिलते है, किन्तु ऐसे महात्मा कहा है, जिनने अपने पवित्र धर्म और सस्कृति के सरक्षणार्थ प्रिय प्राणो की परवाह नही की, किन्तु जिन के पुण्य से उनकी तपस्या सफल हुई और जैन धर्म की पवित्रता अक्षुण्ण रह गई । वे वीरानुयायी ऐसी वीरता न दिखाते, तो भविष्य बडा भयकर होता, अतीत इतिहास के खूनी पृष्ठो को देखकर भविष्य की कल्पना हो सकती है, कारण 'history repeats itself,' इतिहास में अतीत की पुनरावृत्ति होती है । लाखो सात्विक सस्कृति के समाराधको ने साधु शिरोमणि को शतशः परोक्ष प्रणाम किया । हमारी भी इन महान ज्योतिर्धर की सफल तपस्या को प्रणामाजलि है । इस धर्म-सरक्षण के कार्य में कवलाना, गजपथा के दो चातुर्मास व्यतीत हुए तथा बारामती के १९५२ के चातुर्मास को सफलता का श्रेय प्राप्त हुआ ।

आगम

अब आचार्य श्री की दृष्टि आत्मा की ओर अधिक केन्द्रित हो गई। उनने कहा था—"धर्म का सक्ट दूर हो गया है अतः अब हमें कोई भी विकल्प नहीं है। धवल सिद्धान्त के ९३ वे सूत्र में संजद शब्द न रखने का भी विकल्प नहीं है। अब आनद से भगवान का नाम लेना है और आत्म का ध्यान करना है। अब हमें और क्या करना है। " षट्खडागम सूत्र में संजद शब्द के विषय में आचार्य श्री ने कहा कि क्यों इस शब्द के बारे में उनने विशेष ध्यान दिया ? वे कहने लगे-"हमने फतेचंद ब्रम्हचारी के द्वारा तुमको पत्र भिजवाया कि तुम महाधवल ग्रंथ के सूत्रों की नकल करने भेज दो। तुम्हारा पत्र आया, कि महाराज! चालीस हजार श्लोक प्रमाण सारा ग्रंथ सूत्र रूप ही है। उसमें चार पाच हजार श्लोक प्रमाण ग्रंथ नष्ट हो गया है।" इस समाचार को प्राप्त करके हमें ऐसी ही चिन्ता हुई, जिस प्रकार श्रुत संरक्षण के लिए धरसेन स्वामी को हुई थी। उस दिन रात्रि को हमने बहुत विचार किया कि भगवान महावीरजी की वाणी इन सूत्रों में थी, यदि वह चार पाच हजार श्लोक प्रमाण नष्ट हो गई है तो आगे इसकी किस प्रकार रक्षा की जाय ?

दूसरे दिन हमने श्रावकों से कहा हमारे मन में ऐसी इच्छा होती है, कि सिद्धांत ग्रंथों के रक्षण के लिए उनको ताम्र पत्र में खुदवाया जाय। उस समय संघपति श्री गेंदनमल ने कहा—"महाराज यह काम मैं कर दूंगा। हमने गेंदनमल से कहा—"यह काम सबके तरफ से होना चाहिए। एक पर बोझा न हो। इतना कह हम सामायिक को चले गए। बाद में आने पर लोगों ने धडाधड चंदा करके लाख डेढ लाख का फंड तुरंत कर दिया। हमने कभी किसी से रुपया देने को नहीं कहा। हमने जिंदगी में कभी किसी से रुपया नहीं मांगा। हमारी ऐसी आदत नही है। "

पुनः महाराज ने कहा—"सच पूछो तो इस कार्य में तुम निमित्त हो। तुम्हारे कारण से यह ताम्र पत्र का महान कार्य हुआ। "

मैंने कहा—"महाराज! मेरे निमित्त से यह बडा काम कैसे हो सकता है ?"

महाराज ने कहा—"क्या हमे मिथ्या बात करना है। जो सत्य बात है, वह कहते हैं। तुम्हारे पत्र के कारण ही हमें प्रेरणा मिली और यह काम महावीर भगवान की कृपा से हो गया। अब काम बराबर हो रहा है, इसकी भी अब हमें कोई चिन्ता नही है। हमें पूरा विश्वास हो गया, कि यह काम पूर्ण हो जायगा। आगे महाराज ने कहा—"धवल ग्रंथ की जो प्रतिया छपी और उत्तर भारत में प्रचार में आई, उन सब में तेरानवे सूत्र में[1] संजद पद नही रहा। हमारी प्रेरणा से ग्रथ का ताम्र पत्र का कार्य हुआ। इससे संजद शब्द जोड़ने की लोगो को कल्पना हुई। स्त्री के द्रव्य से यदि संजद-पना प्रसिद्ध हुआ, तो इसके कारण हम ही हुए, अथवा पूर्व के छपे ग्रंथ से द्रव्य स्त्री के संजदपने का अभाव ज्ञात होने से दिगंबर आगम परंपरा का लोप नहीं होता था। हमने आगम रक्षा के उद्देश्य से कार्य करवाया, और उसका फल दिगम्बर परंपरा का ही उच्छेद होने लगा। अतएव इसका दोष हम पर आता है, इसलिए हमने इस प्रश्न पर बरसों विचार किया है। बड़े बडे विद्वानो से चर्चा की है। पूर्वापर विचार किया है। यह सोचना बिल्कुल भूल है, कि हम किसी के कहने में आ गए है। हमारी प्रकृति स्वतंत्र है। पूर्ण विचार के बाद हम अपनी राय बनाते है। गत वर्ष अर्थात् सन १९५० में धवल सिद्धात ग्रथ को ताम्रपत्र में उत्कीर्ण करने का कार्य पूर्ण हुआ।

उस समय हमको ग्रथ समर्पण करते समय तलकचद शहा वकील ने गज पंथा में आधा घटे तक भाषण दिया और समाज की ओर से हमसे आग्रह किया कि हम संजद पद के विवाद के विषय में अपना भाव प्रगट करें, कारण पडित लोग एक मत नही हो रहे हैं, ऐसी स्थिति में हमारा निर्णय सबको मान्य होगा। उस समय वहाँ भाव पक्ष वाले तथा द्रव्य पक्ष वाले विद्वान भी मौजूद थे, उनने कोई विरोध नही किया और न यह कहा, कि आप अभी निर्णय मत कीजिए कारण हम लोगो का इस संबंध में विरोध है। जिनवाणी—जीर्णोद्धारक संघ के ट्रस्टी तथा सदस्य लोग हमारा निर्णय मान्य करेंगे, उनको दुनिया भर के लोगों के विवाद से प्रयोजन नही है।" एसी बात शहा वकील ने कही।"

"हमने सोचा, कि समाज के विद्वानों में एक मत नही है। दोनो

---

१ सम्मामिच्छाइट्ठि असंजद-सम्माइट्ठि संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तिआओ।

पक्ष में समाज के बडे बडे विद्वान् हैं, ट्रस्टी लोग हमसे आग्रह करते हैं, कि हम निर्णय दें, कि दोनो पक्ष के विद्वानो के कथन को पूर्ण रीति से विचारने के बाद किस प्रश्न की बात धर्म तथा आगम परपरा के अनुकूल हमको जचती है। ऐसी स्थिति में हमने यह निर्णय दिया था, कि उभय पक्ष के विद्वानो के कथन पर पूर्ण रीति से विचार किया, तथा मूल सूत्रो पर भी ध्यान दिया, तो हमें यही प्रतीत हुआ, कि सूत्र न० ९३ मे द्रव्यस्त्री का कथन है। द्रव्यस्त्री के पाच ही गुण स्थान होते हैं, वह महाव्रती नही होती है, इससे सूत्र में सजद शब्द नही बताने वाला पक्ष ठीक है।"

"इसके बाद समाज में बहुत विवाद उत्पन्न हुआ, तब हमने दो-दो बार यह समाचार प्रगट करवाया, कि यदि कोई विद्वान हमारे पास आकर हमारी बात को दोष-युक्त बतावेंगे, तो हम अपनी भूल को सुधारेंगे, तथा अपनी भूल का प्रायश्चित्त भी लेंगे किन्तु हमारे पास कोई भी विद्वान नही आए और न आंदोलन ही रुका।" अब हम सजद चर्चा के विषय में कुछ नही बोलना चाहते। इस सबध में हमारा कोई विकल्प भी नही है। जिनवाणी-जीर्णोद्धारक संघ के ट्रस्टी लोगो को अधिकार है कि वे अपनी इच्छानुसार जैसा उचित जचे, वैसा करें। हम अपना निर्णय दे चुके; अब हम इस विचार में नही पडना चाहते हैं।"

महाराज की सरलता

आचार्य महाराज के पास हठवाद नही है। वे बालक की युक्ति युक्त बात को मानने को तैयार हैं। इस प्रसग में वे भूल सुधार कर प्रायश्चित्त तक लेने की घोषणा कर चुके, फिर भी दूसरे पक्ष के लोग नही आए? इसका क्या कारण है? आचार्य श्री की विद्वत्ता, अनुभव विख्यात है। उनके समक्ष आकर चर्चा चलाना साधारण कार्य नही है। पत्रो मे लेख लिख देना बात दूसरी है किन्तु समक्ष में पूर्वापर विचार कर प्रश्नो का उत्तर देते समय पता चलता है कि कौन कितने पानी में है। आचार्य श्री की दृष्टि यह है, जो सत्य है, वह हमारा है, न कि जो हमारा कथन है वही सत्य है।

सन १९५१ के आश्विन मास में बारामती में सजद शब्द के विषय में कई दिन तक सूक्ष्मचर्चा चलती रही। उस समय उपस्थित विद्वान आचार्य श्री की असाधारण विचार शक्ति, धारणाशक्ति, षट्खडागम सूत्रो का गम्भीर चिंतन आदि देखकर प्रभावित हुए थे। भाववेद की अपेक्षा सजद शब्द रखना ठीक है ऐसे भाव पक्ष के समर्थक विद्वान पडित जगमोहनलाल

जी को भी आचार्य जी का युक्तिवाद अनुकूल लगा और उनने आचार्य श्री का समर्थन किया ।

इस चर्चा के विषय में जनसाधारण में यह भ्रम उत्पन्न किया गया है कि भूतवलि पुष्पदन्त स्वामी द्वारा लिखित मूल प्रति के पाठ में परिवर्तन

मिथ्या भ्रम

किया जा रहा है । यह बात मिथ्या है । मूलप्रति नष्ट हुए एक हजार वर्ष से अधिक हो गए । अभी मूडबिद्री में जो प्रति ताड पत्र पर लिखित है, वे लगभग चार-पाच सौ वर्ष प्राचीन है । उनमें भी अनेक जगह पाठ त्रुटिपूर्ण है । कही न्यून, कही अधिक और कही अशुद्ध पाठ पाया जाता है । ताडपत्र की प्रति के अनुसार की गई तथा दो विद्वानो द्वारा तुलना की गई महाबध की प्रतिलिपि के भीतर अनेक अशुद्धियो का सद्भाव हमें ग्रंथ का अनुवाद तथा संपादन करते समय ज्ञात हुआ ।

यदि प्रतिलिपि में शोधक की विवेक दृष्टि न रखी जाय तो बडे बडे सपादक विद्वानो को नियुक्त करने का क्या प्रयोजन रहता है ? 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' की नीति से बडा अनर्थ हो जाता है । धवल शास्त्र की आरा की प्रति में तिर्यंचो के 'सजद' शब्द का उल्लेख आया है । तो क्या पशुओ को चौदह गुणस्थानवर्ती मान लेना होगा ? धवलग्रथ की अमरावती में मुद्रित प्रति मे सम्यक्त्व मार्गणा का वर्णन करने वाले १३४ नबर के सूत्र में क्षायिक सम्यक्त्वी का पाठ नही लिखा है—

'यथा मणुसा असंजद-सम्माइट्ठि-सजदासजद-संजदट्ठाणे
अत्थि सम्माइट्ठि वेदग-सम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी"

पाँच प्रकाण्ड विद्वानो की तीक्ष्ण दृष्टि से सपादित ग्रथ के मूल प्रकाशन में त्रुटि हो सकती है, तो ऐसी भूल अन्यत्र हो जाना क्या सम्भव नही है ? जब ताड पत्र की प्रति में अनेक त्रुटियाँ पाई जाती है, तब सूत्र न० ९३ में सजद शब्द की त्रुटि का होना असम्भव नही है ।

यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठेगा, कि संजद शब्द के मानने में क्या बाधा है ? इस सम्बन्ध में आचार्य महाराज ने सूक्ष्म विचार किया व खूब चिन्तन किया है । अनेकों रात्रिया इस विचार में निमग्न हो निद्रा हीन व्यतीत की है । उनका कथन है कि "षट्खडागम के सूत्रो में

द्रव्य तथा भावका वर्णन है । एकेन्द्रियो का कथन दो, तीन आदि इंद्रिय वाले जीवों का कथन है । जब इनका कथन है, तब द्रव्य स्त्री का कथन करनेवाला सूत्र बताओ । तीर्थंकर की माता सदृश स्त्रियो का वर्णन ग्रथकार भूल जाय और निगोदराशि तक का कथन करें, यह बात सभवनीय नही है । यदि ग्रथ में द्रव्य स्त्री का वर्णन कही और आया होता, तो ९३ में विवाद ही नही होता । वही महत्व का सूत्र है, जिसमे द्रव्य का कथन है । टीकाकार वीरसेन स्वामी ने द्रव्य भाव का वर्णन अपनी टीका में किया है, इससे उनके कथन के विषय मे भ्रम नही रहता, किन्तु सूत्रकार के शब्दो मे द्रव्यस्त्री का कथन यदि न माना जाय तो ग्रथकारका अपूर्ण वर्णन कहा जायगा और यदि द्रव्य स्त्री का कथन मानते हो, तो सजद शब्द का सद्भाव मानना दिगम्बर सस्कृति के प्रतिकूल है । स्त्री के दिगम्बरत्व नही होता है फिर भी द्रव्य स्त्री के सयतपना माना जाय, तो सवस्त्र मुक्ति माननी पडेगी । इसमे दिगम्बर धर्म का लोप हो जाता है ।

तर्क की अपेक्षा यह भी कहा जाय, कि ९३ नम्बर के सूत्र से सजद शब्द नही निकालना था, कारण वहा भाव की अपेक्षा वर्णन था, तो कोई विशेष तत्व का घात नही होता कारण भाव स्त्री के चौदह गुणस्थानो का वर्णन अनेक जगह आ ही गया है । अत सिद्धांत का जरा भी लोप नही होता है । यदि

बडी बाधा

दोष है, तो स्वल्प है, किन्तु यदि वह वर्णन द्रव्य की अपेक्षा कहा और वहा सजद शब्द नही होना था, किन्तु प्रतिलिपिकार के प्रमादवश वह आ गया और विद्वान सशोधको ने भी उसे रख दिया, तो गर्दन कटने सदृश बात हो गई, कारण मूलसूत्रकार की दृष्टि में द्रव्य स्त्री को निर्वाण मानना होगा, ऐसा होने से सत्यधर्म का लोप हो जायगा ।

अतएव यह विषय साधारण नही है । उस पर सस्कृति के जीवन मरण की बात निर्भर है ।

इस विषय में हमने विशेष प्रकाश 'सैद्धातिक चर्चा' नामक दि० जैन समाज बम्बई की ओर से प्रकाशित पुस्तक में "आचार्य महाराज के आदेश पर एक दृष्टि" निबन्ध मे की है । अतएव उस पर विशेष विवेचन यहा करना आवश्यक नही प्रतीत होता है ।

हमारी दृष्टि से आचार्य महाराज का निर्णय मूलसूत्रकार के कथन

आवश्यक था, कारण केवली के समुद्घात काल में अपर्याप्तपना भी पाया जाता है। इस का उल्लेख नहीं होना भी इस बात का निश्चायक है, कि यह प्रकरण द्रव्यस्त्री का ही है। आचार्य महाराज के द्वारा जैसे हरिजन मंदिर प्रवेश संबंधी भ्रम दूर हुआ, संजद शब्द के विषय में प्रकाश प्राप्त हुआ, इसी प्रकार और भी बातों पर महत्व पूर्ण समाधान प्राप्त होता है।

एक दिन आचार्य महाराज कहते थे, "अब हमारी निद्रा बहुत कम हो गई है।"

मैंने पूछा महाराज– " तब आप क्या करते हैं।"

महाराज ने कहा–"हम तत्वों का विचार करते हैं। या जाप करते हैं। उनने यह भी कहा था कि " जब लम्बे उपवास करते हैं, तब तत्व चिंतन में चित्त बहुत लगता है।" महाराज ने कहा था "हम जाप अपने रोग दूर करने को नहीं करते हैं। रोग शरीर में है। शरीर हमारा नहीं है, अतः रोग की क्या चिंता करना?"

महाराज की जाप का ध्येय ?

महाराज ने कहा– "यह शरीर ही रोगमय है, शास्त्रों में एक कथा आई है। एक मुनि के शरीर में भयंकर रोग उत्पन्न हो गया था, इससे असह्य दुर्गन्ध निकला करती थी। उस समय एक विद्याधर दंपत्ति का वहां आना हुआ, विद्याधर ने मुनि शरीर पर अत्यंत सुवास सपन्न केशर का लेप करके अपने इष्ट को प्रस्थान किया।

वापिस लौटते समय उनके मन में मुनिराज के पुनः दर्शन की लालसा उत्पन्न हुई, तो यहा अद्भुत दृश्य देखते है। उस सुवास के कारण अनेक भ्रमरों ने आकर शरीर को बहुत पीड़ा पहुँचाई। अतः उन्होंने केशर की राशि बाहर एक जगह डाल दी, इससे भ्रमर पंक्ति वहाँ गुंजार करने लगी; इस प्रकार उनका उपसर्ग दूर हुआ और तत्काल वे केवलज्ञानी बन गए।"

सम्यक्त्व के अंगों का सद्भाव

आचार्य महाराज का जीवन लोकोत्तर है। निकट से निरीक्षण करने पर सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का अस्तित्व सुस्पष्ट रूप से उनके जीवन में दिखाई जाता है। निःशंकित अंग तो स्पष्ट है। जिनेन्द्र के कथन में न तो रचमात्र संदेह है और न किसी प्रकार का भय विद्यमान है आकांक्षा भी नाम निशान नही

हैं। श्रद्धा को विचलित करने के अनेक प्रसंग आए, किन्तु उनकी दृष्टि अमूढ़ता से अलंकृत रही है। जुगुप्सा ग्लानि का भी उनमें दर्शन नहीं होता है।

सुन्दर वस्तु में अनुरक्ति नहीं, असुन्दर बीभत्स पदार्थ में ग्लानि नहीं। उनकी संतुलित दृष्टि पुद्गल के परिणमनों को देखती हुई राग तथा द्वेष की विकृति-विमुक्त दिखती है।

एक दिन बारामती में जाकर मैंने देखा महाराज बैठे हैं। एक बच्चे ने पास की भूमि को ही गंदा कर दिया है। मैं पास से जरा दूर सरक गया। मेरे मन में तो ग्लानि का भाव जगा, किन्तु आचार्य महाराज ने उस पर ध्यान नहीं दिया और न ग्लानि ही प्रदर्शित की। स्थान तो तत्काल ही स्वच्छ कर दिया गया, किन्तु इस प्रसंग ने निर्विचिकित्सा अंग का प्रत्यक्ष दर्शन करा दिया।

साधर्मियों पर अपार वात्सल्य है। दूसरे के दुःख दूर करने को वे एक क्षण भी नहीं करते हैं। दया का अक्षय भंडार उनके पास है।

धर्म प्रभावना की तो वे साक्षात मूर्ति हैं। सिंह निःक्रीडित सदृश तपश्चर्या द्वारा उनने कितनी प्रभावना की थी, कि उसे देख लोगों को ऐसा लगता था कि मानो महाराज के जीवन में चतुर्थ कालीन मंगल प्रवृत्तियां तथा अद्भुत शक्तियां विद्यमान हैं। कितने धर्म के महोत्सव इन विभूति के साधुत्व अंगीकार करने के अनंतर हुए, इसकी गणना करना कठिन है। उनकी साक्षात मूर्ति की बात दूसरी; उनकी सौम्य मुद्रा युक्त चित्र के दर्शन से बड़े बड़े लोगों का मन उनकी ओर खिंचता है, तथा हृदय उनकी अभिवंदना करता है।

महान प्रभावपूर्ण जीवन

सन १९५० के भाद्रपद में मैंने देखा, कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य तथा भारत सरकार के मंत्री श्री गुलजारीलाल नंदा महाराज की सेवा में आए। अत्यन्त भक्ति से प्रणाम किया। आन्तरिक समाधान को प्राप्त कर चले गए। बम्बई सरकार के अर्थमंत्री स्व० दीवान बहादुर ए० बी० लट्ठे एक बार महाराज की सेवा में आए। उनके जीवन में गंभीर विचार उत्पन्न हुए और उनने पंच अणुव्रत ग्रहण कर महाराज का शिष्यत्व स्वीकार किया।

जयपुर चातुर्मास के समय एक मजिस्ट्रेट ने आकर आचार्य महाराज से पंचम प्रतिमा के व्रत लिए थे। उनकी धर्मपत्नी ने भी संयम धर्म

लेखक द्वारा सपादित तथा अनुवादित प्राकृत का प्राचीनतम दिगबर जैन कर्म साहित्य का महान ग्रथ 'महाधवल' का आचार्य श्री को समर्पण का दृश्य (सोलापुर मे)।

धारण करने मे पतिदेव का अनुकरण किया। अजमेर के ट्रेजरी आफीसर बाबू मागीलालजी दोशी ने सातवी ब्रम्हचर्य प्रतिमाली थी महाराज के पास से क्षुल्लक ऐलक बनने वाले' मुनिपद को स्वीकार करनेवाले व्यक्ति पहले भी अपना असाधारण प्रभाव रखते थे। इस तरह आचार्य श्री तथा उनके जीवन द्वारा धर्म की अद्भुत प्रभावना तथा जागृति हुई है। यदि वह कहा जाय, कि लोगो ने ऐसी प्रभावना करने वाली दूसरी आत्मा न देखी और न सुनी तो तनिक भी अत्युक्ति नही होगी।

आध्यात्मिक कलाकार

सयम से गिरते हुए व्यक्ति को किस प्रकार धर्म में स्थित करना, यह कला तो सच्चे कलाकार इन गुरुचरणो में ही सीखी जा सकती है। आज के युग में किसीमे थोडा सा दोष देखा तो अखबारो में लेख द्वारा महा ढोल बजने लगता है। कई पत्र वाले ताजे समाचार जानकर उसको स्थान देते हैं, कई संपादक संयम से ऐसा ही वैरभाव रखते है, जैसे व्याघ्र गोवत्स से। अत. वे उनमें मसाला लगाकर समाचार प्रकाशित करते है, किन्तु आचार्य महाराज अपने प्रेममय शासन द्वारा कुपथ जाने वालो को धर्म मार्ग मे स्थिर करते हैं। उनके विशाल संघ मे विलक्षण प्रकृति के कोई कोई व्यक्ति थे, जब तक वे सघ में रहे तब समाज में कभी शांति रही। इनका साथ छोडते ही अन्यथा परिणमन हुआ।

जीवन में भूल देखकर उपगूहन अग पालन करते हुए उस जीव का कल्याण करने मे भी आचार्य महाराज का असाधारण स्थान है। किसी साधु में जरा सा दोष दिखा, कि हमारे मन मे उसका हल्ला मचाने का शौक पैदा हो जाता है। आचार्य महाराज की पद्धति भिन्न है। सदाचार में शिथिलता देख आज जो समाज में ढोल पीटने की प्रवृत्ति है वह ठीक नही है। आचार्य महाराज एक दिन कहते थे –"भ्रष्ट साधु को एकान्त में समझाना। शान्तता पूर्वक समझाने पर भी वह न माने तो उसकी भक्ति करना छोड दो, किन्तु इसका आदोलन नही करना। ऐसा करने से सम्यक्त्व की हानि होती है, उप–गहन अग नही पलता है।"उनके पास जाने पर ऐसा लगता है, मानों हम जीवित जिनधर्म के शरण में पहुंच गए हैं।

जीवित धर्मरूप

एक बार दोडवाल मे आचार्य महाराज के मुख से सम्यक्दर्शन या

इस कथा मे यह रहस्य है, कि जब तक ससार निकट नही रहता, तब तक विवेक का भाव नही जागता है।"

स्वामिकार्तिकेयानुपेक्षा में लिखा है–

नर, तिर्यंच, देव, नारकी इन चारों गति वाला, भव्य, संज्ञी सुविशुद्ध, जागृत, पर्याप्तक तथा ससार के तट के निकट वाला जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। मरीचिकुमार का ससार तट निकट नही आया था, इससे धर्मतीर्थंकर आदिप्रभु के पुत्र भरतेश्वर सदृश तत्वज्ञानी के सस्कार संस्कृत गृह में जन्मधारण करते हुए भी उस जीव को वोधि का लाभ न हुआ, और संसार का तट निकट आ जाने पर क्रूरता की मूर्ति मृगेन्द्र बनने पर वह दया का सागर बन गया और उसने महावीर बनने का पराक्रम प्रारम्भ करके कुछ ही भवो में महति महावीर वर्धमान की महिमा को प्राप्त किया, जिनके पुण्य तीर्थ की छाया में आज सभी लोग विद्यमान हैं। ससार से निकलने की समीपता यदि कुछ कम हो, तो जीव के हाथ में आया हुआ सम्यक्त्व रत्न भी छूट जाता है। ऐसे अवसर एक दो चार बार नही आते, उपशम और क्षयोपशम सम्यक्त्व असख्य बार तक आते हैं, अपनी ज्योति दिखाते हैं और फिर छोडकर चले जाते हैं। कार्तिकेय स्वामी ने कहा है—यह जीव अधिक से अधिक असख्यात बार तक उपशम, क्षयोपशम सम्यक्त्व, अनतानुबन्धी कषाय के विनाश तथा देशव्रत को प्राप्त करके छोड दिया करता है।[1] सम्यक्त्व के साथ जब तक चारित्र का पूर्ण योग नही होता है, तब तक जीव को निःश्रेयस का लाभ नही होता है।

एक बार मैंने आचार्य महाराज से पूछा था "महाराज! आज लोग चारित्र को व्यर्थ की वस्तु सोचकर सम्यक्त्व को ही सार रूप बताते है। मोक्ष का उपाय क्या है?

महाराज ने "कहा सम्यक्त्व के होते हुए भी जीव मोक्ष नही पाता है। ज्ञान की स्थिति निराली है।

'वह तो गगा गए गगादास, जमना गए जमनादास' के समान श्रद्धा के अनुसार अपना रग पलटता है। वही ज्ञान सम्यक श्रद्धा सहित सम्यग्ज्ञान हो जाता है, और उसके अभाव में वही ज्ञान मिथ्या हो जाता है। इसलिए ज्ञान का भी मूल्य नही है।

---

१ गिण्हदि मुचदि जीवो वे सम्मत्ते असखवाराओ।
पढमकसायविणास देसवय कुणइ उक्किट्ठ ॥

सम्यक्त्व पर प्रकाश

अनुभूति पुरस्सर बडा मार्मिक और अत्यन्त सुन्दर विवेचन सुना था। महाराज ने कहा था—"जब तक जीव का ससार तट निकट नही आता है तब तक वह आत्मा के हित में प्रवृत्त नही होता हैं। ससार के निकट आते ही वह मोक्षमार्ग में लग जाता है। आसन्न भव्यता ससार से छूटने में बडा कारण है। महाराज ने इस सम्बन्ध में एक कथा सुनाई थी। एक वैश्य पुत्र एक श्रेष्ठि कन्या पर आसक्त हो गया। कमाई करने के हेतु वह वैश्य पुत्र विदेश गया। उस समय यह बात निश्चित हुई थी, कि यदि वह बारह वर्ष के भीतर वापिस आ जायगा तो उस श्रेष्ठि कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया जायगा, अन्यथा नही।

कुछ ऐसी विषम परिस्थिति आ गई कि बारह वर्ष के भीतर वह न लौट सका। इसलिए वह कन्या दूसरे व्यक्ति से विवाही गई। पश्चात् प्रवासी वणिक आया। उसे बडी निराशा हुई, तथा भयकर विद्वेष अग्नि उसके अत.करण को जलाने लगी। एक दिन उसने द्वेष वश उस दम्पति को मार डाला। रागवश जो कन्या उसकी आसक्ति तथा ममता का केन्द्र थी, वही उसकी द्वेषाग्नि का निशान बनी। भावो का विचित्र परिणमन होता है। वे स्त्री और पुरुष मर कर जन्मान्तर में पति पत्नी होते रहे तथा एक बार वे देव पर्याय में पहुचे। इस वणिक पुत्र ने मरणकर पीछा किया, और प्रत्येक पर्याय में पूर्व वैर के कारण विनाश का कार्य करता रहा। इस जीव ने एक बार सत्समागम को प्राप्त कर महाव्रत धारण किया। घोर तप किया। एक बार इन मुनिराज के दर्शन को वे देव देवी आए। मुनिराज को पूर्व वैर विरोध की बात स्मरण कराई, तो इन मुनीश्वर ने उस दुष्कृत्य के प्रति खेद भाव व्यक्त किया। इसके अनतर उन दोनो सुरदपति ने पुन॰ प्रश्न किया "भगवान्! यदि वे विरोधी जीव आपके समीप आ जावे, तो आप क्या करेंगे?" मुनिराज ने कहा—"हम उनसे क्षमा मागेंगे।" उनने कहा "हे स्वामिन्! वे जीव और कोई नही, हम ही है, तब मुनिराज ने उनसे अपने अपराधो की क्षमा मांगी। अब वे शल्य रहित हो गए। उनने घोर तपस्या की और मोक्ष पदवी प्राप्त की।

---

१ चदुगदि भव्वो सण्णी सुविसुद्धो जग्गमाण पज्जत्तो।
ससारतडे णियडो णाणी पावेइ सम्मत्त ॥३०७॥

इस कथा में यह रहस्य है, कि जब तक संसार निकट नहीं रहता, तब तक विवेक का भाव नहीं जागता है।"

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है–

नर, तिर्यंच, देव, नारकी इन चारों गति वाला, भव्य, संज्ञी सुविशुद्ध, जागृत, पर्याप्तक तथा संसार के तट के निकट वाला जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। मरीचिकुमार का संसार तट निकट नहीं आया था, इससे धर्मतीर्थंकर आदिप्रभु के पुत्र भरतेश्वर सदृश तत्वज्ञानी के संस्कार संस्कृत गृह में जन्मधारण करते हुए भी उस जीव को बोधि का लाभ न हुआ; और संसार का तट निकट आ जाने पर क्रूरता की मूर्ति मृगेन्द्र बनने पर वह दया का सागर बन गया और उसने महावीर बनने का पराक्रम प्रारम्भ करके कुछ ही भवों में महति महावीर वर्धमान की महिमा को प्राप्त किया, जिनके पुण्य तीर्थ की छाया में आज सभी लोग विद्यमान हैं। संसार से निकलने की समीपता यदि कुछ कम हो, तो जीव के हाथ में आया हुआ सम्यक्त्व रत्न भी छूट जाता है। ऐसे अवसर एक दो चार बार नहीं आते, उपशम और क्षयोपशम सम्यक्त्व असंख्य बार तक आते हैं, अपनी ज्योति दिखाते हैं और फिर छोड़कर चले जाते हैं। कार्तिकेय स्वामी ने कहा है---यह जीव अधिक से अधिक असंख्यात बार तक उपशम, क्षयोपशम सम्यक्त्व, अनंतानुबन्धी कषाय के विनाश तथा देशव्रत को प्राप्त करके छोड़ दिया करता है।[1] सम्यक्त्व के साथ जब तक चारित्र का पूर्ण योग नहीं होता है, तब तक जीव को निःश्रेयस का लाभ नहीं होता है।

एक बार मैंने आचार्य महाराज से पूछा था "महाराज! आज लोग चारित्र को व्यर्थ की वस्तु सोचकर सम्यक्त्व को ही सार रूप बताते हैं। मोक्ष का उपाय क्या है?

महाराज ने "कहा सम्यक्त्व के होते हुए भी जीव मोक्ष नहीं पाता है। ज्ञान की स्थिति निराली है।

'वह तो गंगा गए गंगादास, जमना गए जमनादास' के समान श्रद्धा के अनुसार अपना रंग पलटता है। वही ज्ञान सम्यक श्रद्धा सहित सम्यक्ज्ञान हो जाता है, और उसके अभाव में वही ज्ञान मिथ्या हो जाता है। इसलिए ज्ञान का भी मूल्य नहीं है।

---

१ गिण्हदि मुंचदि जीवो वे सम्मत्ते असंखवाराओ।
पढमकसायविणासं देसवयं कुणइ उक्किट्ठं॥

मैंने कहा—"तब फिर मूल्य किसका है ?"

महाराज ने कहा—"मूल्य है सम्यक्चारित्र का। सम्यक्चा होने पर नियम से मोक्ष होता है।

मैंने कहा—"महाराज ! आपका उत्तर बड़ा मार्मिक है। अ सम्यक् शब्द युक्त चारित्र को पकड़कर सम्यक्त्व को भी बुला लिया व सम्यक्त्व के होने से उसका अभिन्न हृदय मित्र संपर्क ज्ञान भी आ गया

महाराज ने कहा—"सम्यक्त्व और चारित्र का घनिष्ठ सम्बन्ध तब एक की ही प्रशंसा क्यों की जाती है। सम्यक्त्व अभाव में भी सासादन गुणस्थानवर्ती जीव न गति में क्यों नहीं जाता है ? इसका कारण यह कि उसके पास कुछ चारित्र है।"

सम्यक्चारित्र का मूल्यांकन

यहां आचार्य श्री की दृष्टि यह है कि सम्यक्त्व के होने पर अन नुबंधी नामक चारित्र मोहनीय कर्मके अभाव से स्वरूपाचरण चारित्र होता अतः चारित्र सम्यक्त्व का साथी है। सम्यक्त्व नष्ट हो गया, फिर भी चारित्र का कुछ संस्कार है, जो सासादन गुण स्थानवर्ती जीव के नरक के बंधको रोकता है। नरक के लिए कारण रूप सम्यक्त्व के अभाव चारित्रांश के सिवाय और क्या कारण होगा ?

"सम्यक्त्व की प्राप्ति दैव के आधीन है, चारित्र पुरुषार्थ के अ है।" यह कहते हुए आचार्य महाराज ने कहा, —"उपादान सम्य है और उसका निमित्त कारण चारित्र है। निमित्त भी बलवान है। द्रव्यलिंगी मुनि मरकर देव पर्याय में गया, वहां से समव शरण में जा वह सम्यक्त्वी बन जाता है। उनका यह कथन महत्व का था, "भाव लि के सिवाय नहीं होता, यद्यपि भाव लिंग के बिना मोक्ष नहीं है।"

सम्यक्त्व की प्राप्ति दैव के अधीन है यह बात किस अपेक्षा से क गई यह विचारणीय है। जब पुरुष शब्द आत्मा का पर्यायवाची है उस आत्मा की शुद्ध अवस्था की प्राप्ति मोक्ष पुरु है, तब सम्यग्दर्शन को पुरुषार्थ मानना चाहिए, कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र मोक्ष है। मोक्ष पुरुषार्थ है, अतः रत्नत्रय भी पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। दृष्टि से जब सम्यग्दर्शन पुरुषार्थ सिद्ध होता है तब उसे दैव के अधीन कहा जायगा यह समस्या विचारणीय है ?

क्यों सम्यक्त्व दैवाधीन है ?

जिनागम के परिशीलन से ज्ञात होता है कि सम्यक्त्व की उपलब्धि बुद्धि-पूर्वक पुरुष प्रयत्न के साथ अन्वय-व्यतिरेकता नहीं रखती है। यथासंभव सब उपायों के करते हुए भी द्रव्य लिंगी मुनि उस सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त कर पाता है और दूसरा जीव बिना प्रयत्न किए कर्म के विशेष क्षयोपशम से नित्य-निगोद की विकास विहीन स्थिति से निकलकर मनुष्य पर्याय पाता है; आठ वर्ष अंतर्मुहूर्त में सम्यक्त्वी बनकर सकल संयमी हो केवली बन निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। उस जीव के बुद्धिपूर्वक पौरुष के बिना ही संसार भ्रमण समीप आ जाने से सब बातों की अनुकूलता हो जाती है। जबतक संसार सिंधु का तट समीप नहीं आया है, तब तक संतरण निमित्त हस्त-चरण संचालन से क्या इष्ट सिद्धि होगी ? इसी लिए आसन्नभव्यता को सम्यक्त्व का विशिष्ट कारण कहा गया है। आचार्य सोमदेव सूरिने यशस्तिलक में लिखा है:-

"आसन्नभव्यता-कर्म-हानि-संज्ञित्व-शुद्धपरिणामाः।
सम्यक्त्व हेतुरन्तर्बाह्योप्युपदेशकादिश्च ॥"

आसन्न अर्थात् निकट भव्यपना, कर्म की विशेष निर्जरा, संज्ञीपना, शुद्ध परिणाम ये सम्यक्त्व के अंतरंग कारण है तथा बाह्य कारण उपदेशादिक हैं।

अकलंक स्वामी का कथन है "अनादि मिथ्यात्वी जीव काललब्धि आदि के द्वारा सम्यक्त्वघातक कर्म पुंज का उपशमन करता है। यह सम्यक्त्व उसे ही प्राप्त होता है, जिसके पंचपरावर्तन रूप संसार में अर्ध पुद्गल परावर्तन रूप परिभ्रमण का काल शेष रह गया है। दूसरी बात कर्मों की स्थिति के सम्बन्ध में है। जिसके आगामी बंधने वाले कर्म अंतः कोडा-कोड़ी सागर प्रमाण स्थिति से अधिक नहीं बन्धते है तथा पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति संख्यात हजार सागर न्यून अंतः कोड़ा-कोडी सागर प्रमाण होती है। उसके ही सम्यक्त्व हो सकता है इस प्रकार की आंतरिक सामग्री की उपलब्धि बुद्धिपूर्वक पुरुष प्रयत्न द्वारा साध्य नहीं होती। सातवें नरक का नारकी जीव अन्तरंगसामग्री की अनुकूलता तथा वेदनाभिभव रूप निमित्त द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। वहा कौन सा बुद्धि पूर्वक प्रयत्न-पुरुषार्थ उस जीव के होता है ? अवस्था विशेष में जीव के भावो का तद्रूप परिणमन होता है। जैसे एक विद्वान ने कहा है कि माता के साथ शृंगार रस के गीत बालिका भी गाती है, किन्तु उसे वह स्वाद नहीं प्राप्त होता है, जो वयस्क हो जाने वाली

माता को प्राप्त होता है । उसकी अवस्था अभी कली रूप में है वह कली जब विकसित हो जाती है, तब उसे भी उन गीता से रागात्मक रस मिलने लगता है । इसी प्रकार ससार सिंधु के तट की समीपता आने पर जीव को आत्म-कल्याण की बातो में रस आने लगता है । वह रस का उद्गम अवस्था विशेष जन्य है, इसी प्रकार आत्म तत्व में रुचि होकर सच्चा रस तब आता है, जब कर्मोदय की मदता होती है, तथा अन्य प्रकार की अनुकूल सामग्री प्राप्त होती है । इस सामग्री की अनुकूलता को ही दैव की कृति कहा गया है । कारण यह बुद्धि पूर्वक किए गए पुरुष प्रयत्न द्वारा साध्य नही है । पुराकृत कर्म को दैव कहते है ।

प्राक्तन कर्म की अनुकूलता आज के पौरुष के आधीन कैसे कही जा सकती है ? इसी से सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिए दैव अर्थात पूर्व कर्मोदय का अनुकूलता आवश्यक है । यदि पूर्व कर्मोदय वश जीव असज्ञी पर्याय में है, तो वह कभी भी सम्यक्त्व को नही प्राप्त कर सकेगा । यदि उसके अपर्याप्त नाम कर्म का उदय है, तो भी वह उस निधि को प्राप्त नही कर सकेगा । सज्ञीपना, पर्याप्तिपना आदि कर्मोदय के आधीन है । कर्मों का अनुकूल उदय तथा विशिष्ट रूप से क्षयोपशम होने से आत्मविकास की योग्य वेला आती है । इस कर्म की अनुकूलता से पूर्णतया निरपेक्ष पुरुषार्थ इष्टसाधक नही होता है । पचाध्यायी का कथन बडा मार्मिक है । दैवसे कालादि की सलब्धि होने पर, ससार सिंधु के समीप आने पर या, भव्य-भाव के विपाक होने पर जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।[१]

इससे स्पष्ट होता है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति में दैव-प्राक्तन कर्म की अनुकूलता कारण है । जिनके मन में यह सदेह रहा हो, कि हमारे पौरुष से-बुद्धि पूर्वक प्रयत्न से सम्यक्त्व होता है, इसमे दैव का सबध नही होता, उनका समाधान पचाध्यायी के इन शब्दो से हुए बिना न रहेगा "प्रयत्न मतरेणापि दृङ्-मोहोपशमो भवेत् ॥" ३७९-बिना प्रयत्न के दर्शन मोहनीय का जीवके उपशम होता है । आत्मा की कथा कहना श्रुतका अभ्यास करना, गुरुका सान्निध्य मिलना, जिनबिम्ब का दर्शन आदि सम्यक्त्व के निमित्त है, किन्तु अतरग मे कर्म की अनुकूलता आवश्यक है । ससार के जीव सम

---

१ दैवात्कालादि सलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे ।
भव्यभाव विपाकाद्वा जीव: सम्यक्त्व मश्नुते ॥ ३७८ ॥

नस्क होने पर मनोयोग पूर्वक काम करते हैं, ऐसे मनोयोग पूर्वक कार्य करने से भी सम्यक्त्व प्राप्ति का निश्चय नही होता हैं । जैसे बिजली की बटन दबाते ही प्रकाश होता है, इसी प्रकार प्रयत्न करते ही सम्यक्त्व का प्रकाश नहीं मिलता है । जिस जीव का संसार परिभ्रमण पूर्ण हो चला है, उसके अंधकारमय मोही जीवन में स्वयं आत्म प्रकाश का दर्शन होने लगता है,जैसे प्रभात में सूर्योदय के समय समीप आने पर अंधकार स्वयं दूर होने लगता है । सम्यकत्व की निधि पाने के पश्चात भी मोक्ष मार्ग में उन्नति के के लिए दैव की अनुकूलता आवश्यक पड़ती है । जैसे सम्यक्त्व होने पर भी महाव्रत को धारण करने के लिए पुरुष पर्याय तथा पिण्ड-शुद्धि की आवश्यकता पडती है ।

वैसे प्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय होने पर ही महाव्रत रूप आत्म-विशुद्धि प्राप्त होती हैं किन्तु इस कषाय के उदयाभाव के लिये द्रव्य पुरुष वेदी रूप सामग्री का होना आवश्यक है । उच्च कुल में जन्म लेना भी आवश्यक है । यह सामग्री पूर्व कर्म के आधीन है । आज का पौरुष आगामी दैव का रूप धारण करता है । अतएव सम्यकत्व की उपलब्धि में आचार्य शान्तिसागर महाराज ने जो दैव को कारण बताया था, वह युक्ति, अनुभव तथा आगम से समर्थित है ।

संयम की पौरुष-साध्यता — इस सम्बन्ध में यह बात विशेष विचारणीय है । सम्यक्त्व तो दैवाधीन है और चारित्र पुरुषार्थ के अधीन है । इस सिद्धान्त के विपरीत यदि सम्यक्त्व को पौरुष के अधीन मानकर प्रयत्न किया जाय, और चारित्र को पुरुषार्थ के अधीन न मानकर दैव के आश्रित छोड दिया जाय, तो इसका ऐसा ही विपरीत फल होगा, जैसे शरीर में लगाने के विष को पी लिया जाय, और पीने की औषधि को शरीर में लेपकर दिया जाय । इससे जैसे नीरोगता का लाभ न हो, उल्टे संकट की वृद्धि होती है, इसी प्रकार प्रयत्न-साध्य संयम को स्वयं प्राप्तव्य समझ उसके विषय में परवाह नही करने से और अपने पौरुष की पहुंच के परे सम्यक्त्व के लिए प्रयत्न करने वाले व्यक्ति का वास्तविक कल्याण नही होता है । निश्चित को छोड़कर अनिश्चित के पीछे जानेवाले की कामना कैसे पूर्ण होगी ? अतः पौरुष-साध्य संयम तथा व्रताचरण के विषय में प्रमाद नही करना चाहिए ।

संयम रूपी वृक्ष मानव जीवन रूपी भूमि में ही लगता है ।

अन्य पदार्थों में वह वृथा जमता ही नहीं है। मनुष्य-भव की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, अतः उसे प्राप्त करके उसका सार व्रत धारण करना श्रेयस्कर है। चारित्र के उन्मुख होने से जीव विषय भोगों के विमुख स्वयं बनता है, इसके विषयों की लंपटता दूर होती है तथा जीव ऐसे दैव का निर्माण करता है, ऐसा भाग्य बनाता है-जिससे इसे सुख और शांति का लाभ सदा हो।

दैव कोई आकाश से टपकने वाली वस्तु नहीं है। आज पौरुष द्वारा किया गया जो कार्य है, उससे कर्मों का बंध होता है, आगामी जीवन में आज के पौरुष का फल दैव संज्ञा को प्राप्त करता है। आज समुद्र में पड़ती हुई सूर्य की उष्ण किरणें उस जल को वाष्प रूप में बदलकर फल मेघ संज्ञा को प्राप्त कराती हैं, वस्तुतः जल ही मेघरूप परिणत हुआ है, इसी प्रकार आज का बुद्धिपूर्वक किया गया हमारा कार्य आगे जाकर उदयकाल में दैव रूप से कहा जाता है। अत हमारे पौरुष की पहुँच के परे रहनेवाले सम्यक्त्व के पीछे दौड़ना ऐसा ही है, जैसे नाभि में कस्तूरी को न जानने वाले हरिण का सुवास के मूल स्रोत के अन्वेषण निमित्त आसपास खोज का कार्य करना है। यदि सम्यक्त्व ऐसी अद्भुत निधि न होती, तो बुद्धिजीवी विद्वान जैसे विश्व-विद्यालयों से धड़ाधड़ उत्तीर्ण हो प्रमाण पत्र प्राप्त करते हैं, वैसे ही अध्यात्म चर्चा में दक्षता प्राप्त कर तथा अध्यात्म ग्रंथों को कण्ठ करके न जाने कितने जीव सम्यक्त्व की डिगरी पा लेते, किन्तु उसकी डिगरी ऐसी सरल नहीं है। ऐसी स्थिति में आत्म कल्याण के लिए शुभोपयोग के साधन में जीव की प्रवृत्ति आवश्यक है। इस मार्ग पर गए बिना साधारण जीव का कल्याण नहीं हो सकता है।

शुभोपयोग के लिए बाह्य वातावरण तथा अन्य साधनों का महत्व नहीं भुलाया जा सकता है। इस विषय के कुछ उदाहरण अपवाद रूप में उप-स्थित किए जा सकते हैं किन्तु वे अत्यन्त अल्प संख्या वाले होंगे। अधिकतर ऐसा ही अनुभव मिलेगा, जिससे निमित्त-कारण की आवश्यकता को स्वीकार करना पड़ेगा। निमित्त का एकान्त पक्ष योग्य नहीं है।

अध्यात्म-शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है "परिणामों की निर्मलता के लिए हिंसा के आयतनों-निमित्तों को दूर करना चाहिए।' यदि निमित्त कुछ कार्य न करता, तो ऐसा कथन क्यों किया गया? यदि निमित्त कुछ नहीं करता है, तो तीर्थंकर प्रकृति के बंध के लिए भावों की

ही कारण कह देते, केवली अथवा श्रुतकेवली का सानिध्य तथा नरत्व की आवश्यकता क्यों कही गई है? इससे आचार्य शांतिसागर महाराज ने कहा था "निमित्त का एकान्त मिथ्यात्व है। निमित्त पुण्य के सदृश है, वह फल को प्राप्त करा देता है।" यदि अकार्यकारी निमित्त को मान उसका आश्रय लिया जाता है, तो आकाश कुसुम का भी अवलम्बन मानना होगा, वह भी अकार्यकारी है।

स्वामी समंतभद्र ने निमित्त तथा उपादान कारणों की पूर्णता को ही कार्य का जनक बताया है। उपादान शक्ति तो सदा वस्तु में विद्यमान रहती है, योग्य निमित्त उस शक्ति को व्यक्त करने में योगदान करता है। सुवर्ण पिण्ड में कुंडल केयूर आदि रूप परिणमन करने की सामर्थ्य है। जब स्वर्णकार तथा यंत्रादि का निमित्त मिलता है, तब निमित्त-उपादान योग द्वारा इष्ट रूप सुवर्ण का परिणमन होता है। देखिए समंतभद्र स्वामी क्या कहते हैं.— "यद्वस्तु बाह्य गुण-दोष सूतेर्निमित्तम"—५९—बाह्य पदार्थ गुण-दोषों की उत्पत्ति में कारण होते हैं।

"हे जिनेन्द्र! आपके मत में कार्य के विषय में यह उपादान कारण तथा सहकारी कारण की संपूर्णता ही द्रव्यगत स्वभाव है। यदि निमित्त तथा उपादान कारण की पूर्णता न मानी जाय, तो पुरुषों के मोक्ष की सिद्धि भी नहीं हो सकती है। अतः इस निमित्त तथा उपादान कारण की उपयोगिता को बताने के कारण हे भगवन्! आप सुधी समाज द्वारा वंदनीय हैं।" (१)

आचार्य प्रभाचन्द्र ने लिखा है "उपादान कारण सहकारि कारणमपेक्षते, तच्चोपादान कारणम्" (संस्कृत टीका स्वयंभूस्तोत्र पृ. १६२)—उपादान कारण सहकारी कारण की अपेक्षा करता है और सहकारी कारण उपादान कारण की अपेक्षा करता है।? इस प्रकार कार्य की सिद्धि के लिए उपादान और निमित्त की सापेक्षता कारण है। उपादान और निमित्त परस्पर निरपेक्ष होकर इष्ट कार्य को उत्पन्न करने में असमर्थ रहते हैं।

स्याद्वाद शैली का शरण हित-प्रद

इस प्रकार महान आर्षवाणी के प्रकाश में भैया भगवती दास के निमित्त-उपादान संवाद का सुसंगत भाव यही होगा, कि इनका एकांत पक्ष तर्क तथा प्रमाण—बाधित

---

१ बाह्येतरोपाधि समग्रतेयं, कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्ष विधिश्च पुंसां, तेनाभिवंद्य स्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥६०॥

है। निमित्त को नगण्य गिनने से विश्व की समस्त तत्व व्यवस्था में गड़बड़ी आ जायगी। अतएव वचन पक्ष को छोड़कर स्याद्वाद पद्धति का शरण लेना श्रेयस्कर होगा। असली अध्यात्मवाद स्याद्वाद शैली के साथ शत्रुता धारण करेगा यह स्वप्न में भी कल्पना नहीं करना चाहिए। परमागम के प्राण अनेकान्तवाद का वास जहाँ नहीं होगा, वहाँ अध्यात्म विद्या के देवता के स्थान में नकली तत्वभक्षी अध्यात्म विद्या नाम की राक्षसी का निवास मानना होगा, जो जीवों को भ्रम में भुलाकर दुर्गति का पात्र बनाती है। इसी कारण आचार्य शांतिसागर महाराज व्यवहार चारित्र पालन की प्रेरणा करते हैं, क्यों कि इस मार्ग से निश्चय सम्यक्त्व प्राप्ति का सुयोग आता है।

व्यवहार चारित्र से क्या लाभ ?

जीव के दुर्गति में पतन से बचाने की शक्ति गृहीत मिथ्यात्व सहित तपस्या तक में पाई जाती है। चौवीस ठाणा चर्चा में लिखा है-"परमहंस नामा परमती सहस्त्रार, ऊपर नहिंगती"-मिथ्यात्व के आराधक परमहंस साधू बारहवें स्वर्ग पर्यन्त जाते हैं, क्योंकि इंद्रियों का दमन करने से वे पुण्य कर्म का संचय करते हैं; सम्यक्त्व के अभाव में किया गया द्रव्यलिंगी मुनि का तप उसे अंतिम ग्रैवेयक तक पहुंचाता है; यदि उस तप के साथ सम्यक्त्व का अमृत संयोग मिल जाय, तो निर्वाण को प्राप्त करने में देर नहीं लगती है। संयम के धारण करने से जीव नरकादि गतियों में नहीं जाता, भले ही वह संयम सम्यक्त्व रहित क्यों न हो। अतः जब तक जीव को काललब्धि आदि साधन सामग्री नहीं प्राप्त हुई है, तब तक भी संयम का शरण लेना श्रेयस्कर है। ज्ञानावरण का विशेष क्षयोपशम, तत्व-चर्चा में चतुरता की कला को देख सम्यक्त्व प्राप्ति रूप अमृत वेला की कल्पना करना अयोग्य है। 'तुष-माष-भिन्न' दाल और छिलका जुदा है, इसी प्रकार मेरा आत्मा कर्म से पृथक है, इस ज्ञान के द्वारा शिवभूति मुनि ने जीवन को विकसित कर केवली का पद प्राप्त कर लिया, और तत्वविवेचना में विश्व को चकित करनेवाला ग्यारह अंग और नौ पूर्व का पाठी व्यक्ति, महा पंडित मिथ्यात्व के पंक में ही निमग्न रहा आता है; अतः काललब्धि आई है, या आने को है, इसे सिवाय महान ज्ञानधारी जीव के अन्य नहीं बता सकता है; इसलिए निरापद मार्ग यही है, कि जिनेन्द्रभक्ति, शास्त्राध्ययन, व्रताचरण, सत्पात्र की समाराधना आदि व्यवहार धर्म शरण लिया जाय; इस कल्याणकारी उद्योग में निरत रहने वाला

एकान्त के चक्कर से बचो

मानव अतरग सामग्री का लाभ होने पर नि श्रेयस को प्राप्त करता है ।

परमागम के प्रतिकूल प्रवृत्ति तथा प्रतिपादन में पटु पुरुष पर-प्रतारणा के साथ स्व-प्रतारणा के फलस्वरूप ससार सिन्धु के तल मे निमग्न होता है, अत एकांतवादियो के चक्कर से बचकर आचार्य शांतिसागर महाराज को स्याद्वाद मयी देशना से लाभ लेना मगलमय है ।'

एक दिन मैंने आचार्य महाराज से पूछा—"महाराज ! आज का युग सयम साधना के पूर्णतया प्रतिकूल है । जीवन निर्वाह के लिए भोजन की सामग्री तक पाना कठिन हो गया है, इसलिए दो जैन प्रोफेसरो ने पूना में हमसे पूछा था कि आज के युग में हिंसा किए विना कैसे निर्वाह होगा ? अनाज की उपज कम हो गई है, इसलिये मांस भक्षण को प्रेरणा दिए बिना जीवन मात्रा नही बन सकती है । बदर आदि धान्य-घातक जानवरो को मारे बिना अन्य उपाय नही है । ऐसे समय मे जैन धर्म के अनुसार कैसे लोक हित का सपादन हो सकता है ? राष्ट्र के हित के लिए जीवो का वध करना आवश्यक कर्तव्य हो गया है । इसीमे भारत सरकार बदरो आदि धान्य घातक जानवरो के मारने को उत्साहित करती है ।

'अहिंसा भक्त भारत सरकार का सूचना विभाग बताता है, कि बबई में भारत सरकार ने १२ लाख रुपए के खर्च से ऐसा कारखाना तैयार किया है कि उसमें प्रतिदिन १५ टन मछलिया जमा की जावेंगी तथा २५० टन मछली अधिक समय के लिए सुरक्षित रखी जायेंगी इत्यादि । प्रति दिन लगभग २० टन बर्फ भी तैयार किया जायगा जिससे कि मछलियो को ठडा करके जमाया जा सके । उस सरकारी सूचना विभाग ने यह भी बताया है कि इससे महिनो पर्यन्त मछलियो का रग, रूप, स्वाद ज्यो का त्यो बना रहेगा । (उद्योग भारती, कलकत्ता दिसम्बर ५१) .

दैनिक स मार्ग ३ सितम्बर सन १९५१ में अहिंसावादी भारत सरकार की हिंसक प्रवृत्ति के विषय में यह समाचार छपा था, कि करनाल जिले में जगली पशुओ की हत्या के हेतु पजाब सरकार ने दस हजार रुपयो के इनाम की घोषणा की है । बदर मारने पर प्रत्येक बदर पीछे दो रुपया इनाम मिलेगा । प्रमाण के लिए मरे बदरो की पूछें प्रथम श्रेणी के न्यायाधीश समक्ष पेश करनी होगी । सन १९५० में २७२५१ बदर मार गए थे । ५०१६ गीदडो का नाश किया गया था । इनके नाश का कारण यह

सामयिक अन्न सकट में क्या करें

बताया जाता है, कि इनके द्वारा आवश्यक अन्न को क्षति पहुंचती है। भारत सरकार ने मछली मारने के लिए जापान के हिंसक विशेषज्ञों को बुलाकर मछली मारने के कार्य में अपना लम्बा कदम उठाया है। कैसा अहिंसा भक्त शासन है यह? कैसी यह सत्य की समाराधना है?

आचार्य महाराज ने कहा "निरपराध प्राणी की हिंसा नहीं करना चाहिए।"

महाराज का अनुभव-पूर्ण मार्ग दर्शन

इस महान पाप से न व्यक्ति पनपता है और न राष्ट्र की ही वास्तविक उन्नति सम्भव है। बेचारे बन्दर आदि निरपराध जीव हैं। वह भय दिखाने से भाग सकता है। उसका प्राण लेना संकल्पी हिंसा है। वे अपने पेट के योग्य अनाज लेते हैं, उसका मनुष्यों की तरह संग्रह नहीं करते, उनका घात करने से कभी भी सुख नहीं होगा। खेती में तीन चतुर्थांश भाग पशुओं का रहता है। आखिर वे प्राणधारी प्राणी किस वस्तु पर जीवित रहेंगे? आज जो उपज एक दम कम होने लगी है, इसका कारण यथार्थ में पशु की हिंसा है। उनका नाश होने से उनका भाग कम उत्पन्न होने लगा है। पहले खेतों में जाकर अनाज खाते हुए आनन्द से झूमते २ हरिण आदि पशुओं की आत्मा अपना प्रेममय आशीर्वाद देती थी, इससे एक मन के स्थान में दस मन धान्य होता था।" आचार्य महाराज ने पूछा "क्या पहले भी कभी राजाओं ने आज की तरह बन्दर आदि अन्न खाने वाले जीवों की हत्या का काम करवाया था?" उनने कहा "पहले राजा नीति से शासन करते थे। अनीति तथा अधर्म से राज्य करने वालों का शासन अधिक दिन तक नहीं टिकता है? आज की राजनीति में धर्म अधर्म को एक साथ चलाया जा रहा है। दूध और जहर को एक साथ रखने से दूध भी जहर हो जाता है। हिंसा, झूठ, चोरी, अति-लोभ आदि पापों के छुड़ाने से राज्य अच्छी तरह चलता है। सब जीवों का उद्धार करने वाला ही तीर्थंकर भगवान का शासन है, वह किसी भी अवस्था में संकल्पी हिंसा की अनुमति नहीं देता है। पंच पापों का त्याग कराकर तीर्थंकर जग का उद्धार करते हैं।" आचार्य महाराज का दृढ़ विश्वास है कि जीवन वध बन्द करने, से पशुओं का बलिदान रोकने से पृथ्वी की उर्वरा शक्ति बढ़ेगी, इतना धान्य होगा कि लोग खा नहीं सकेंगे। जीवों का विनाश जितना अधिक किया जायगा, उतनी ही भूचाल, टिड्डी दल, अति वृष्टि, अनावृष्टि आदि की विपत्ति आयगी।

यदि सूक्ष्मता से पर्यालोचन किया जाय, तो प्रतीत होगा कि अतिवृष्टि अनावृष्टि, भूचाल आदि के कारण वे प्रांत अधिक पीड़ित हुए तथा हो रहे हैं, जहाँ जीव वध तथा क्रूरतापूर्ण कार्यों का नग्न नृत्य होता रहा है। आज बंदर आदि निरपराध शाकाहारी जीवों का वध करके भारत शासन ने जितना अनाज बचाया, उससे लाखों गुना धान्य शासन की असावधानी (negligence) से नष्ट हो गया, सड़ गया और असम वितरण (mal-distribution) द्वारा खराब हुआ है। जिन जीवों का प्रकृति की गोद में पोषण हो रहा था, उन निर्दोष जीवों की हत्या के हेतु सर्व-रक्षक शासन का कसाई या वधिक के समान कार्य करने का परिणाम यह हुआ, कि प्रकृति ने टिड्डी दल भूचाल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि प्राकृतिक अस्त्रों द्वारा ऐसी भीषण त्राहि-त्राहि की स्थिति उत्पन्न कर दी जिसकी भारतीय मस्तिष्क ने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी। लोग कहते हैं ठोकर खाने के बाद मूर्ख की भी बुद्धि ठिकाने आ जाती है, किन्तु आश्चर्य है, कि अहिंसा का दम रखने वाले शासन की छत्रछाया में हिंसा की वृद्धि द्वारा प्राप्त दुष्परिणाम को देखते हुए भी अहिंसा की आराधना का विचार तक नहीं उत्पन्न होता है?

करुणावान जीवों की वृद्धि होने पर प्रेमपूर्ण परमाणुओं की राशि सर्वत्र व्याप्त होकर भूतल के अणु २ में समृद्धि के कणों को भरती है, वह एक कल्याणकारी तथा आनन्ददायी वृत्त (Happy circle) को उत्पन्न करती है, जिससे सर्वत्र समृद्धि का साज सजा हुआ दिखाई पड़ता है, किन्तु क्रूरता, हिंसा, संहार भावना के कारण घातक परमाणुओं का सर्वत्र विस्तार होने से ध्वंस की ही दुखी दुनिया दिखाई पड़ती है। जैसे प्लेग के परमाणुओं से वातावरण के व्याप्त होने से निरोग व्यक्ति भी मृत्यु की गोद में पहुँचने लगते है, इसी प्रकार शासन की घातक प्रवृत्तियों और यम को आनंदित करने वाली हिंसामयी योजनाओं के द्वारा वनस्पति के कण-कण की उर्वरा शक्ति न्यून होती जाती है। करुणामय शासन की अभयपूर्ण छाया में वनस्पति भी अपने उल्लास से धान्य, फलादि से परिपूर्ण विकास द्वारा आनन्द को अभिव्यक्त करती है।

करुणा प्रसार की योजना हो

जैसे उन्नति की अनेक योजनाएं बनाई जाती हैं, इसी प्रकार यदि पांच वर्ष के लिए राष्ट्र के कर्णधार हिंसादि पापाचार के रोकने की योजना को कार्यान्वित करें और रक्त रंजित भूतल को करुणा की पुण्य-धारा से धोवें, तो अद्भुत

विकास और अभ्युदय पूर्ण स्थिति का पुनः दर्शन होगा। प्रजा को प्राण देने वाले प्रजापति ने भी यदि वधिक का वेष बना लिया तो, भूमि से समृद्धि के अधिदेवता कूच कर जाते हैं और वह स्थल चील, गिद्ध आदि मांस भक्षी जीवों के लिये विहार भूमि बन जाता है। अतएव कैसी भी कठिन अवस्था आवे, जैन धर्म सकल्पी हिंसा द्वारा प्राणपोषण के पथ का प्रदर्शन नही करेगा। स्वामी समन्तभद्र ने तो यही लिखा है कि यदि ऐसा दुभिक्ष आ जाय कि मानव के रूप में जीवन नही चल सकता और राक्षस की वृत्ति स्वीकार करना अनिवार्य हो जावे, तो अपने आत्म हितार्थ अहिंसा का पालन करते हुये समाधिमरण स्वीकार कर ला।

नवधा भक्ति का कारण

आचार शास्त्र पर आचार्य महाराज का असाधारण अधिकार है, यही कारण है सभी उच्च श्रेणी के विद्वान आचार शास्त्र की शकाओ का समाधान आचार्य महाराज से प्राप्त करते है। आचार्य श्री की सेवा में रहने से अनेक महत्व की बातें ज्ञात हुआ करती है। यथा शास्त्र में कथित नवधा-भक्ति के इस सम्बन्ध में आचार्य श्री ने कहा था "नवधा भक्ति अभिमान पोषण के हेतु नही है। वह धर्म रक्षण के लिए है। उससे जैनों की परीक्षा होती है। अन्य लोग धोखा नही दे सकते है।"

क्षुल्लक के सबध में महाराज ने कहा– " वह पाँच घर से भोजन मांग कर ला सकता है और एक घर में बैठकर और वहाँ से ही जल माँगकर भोजन करेगा। क्षुल्लक की प्रदक्षिणा नही करना चाहिए। पाद-प्रक्षालन आवश्यक नहीं है। गधोदक नही लेना चाहिए। क्षुल्लक को समुच्चय रूप से अर्ध देना चाहिए। वह चार-चार हाथ लम्बे दो वस्त्र रखे, दो लगोट रखे। यदि माग कर भोजन नही करता है, तो दो रूमाल रखना नही चाहिए। बर्तन भी न रखे। बर्तन रखता है, तो रूमाल भी रखना चाहिए।"

पहले चातुर्मास सप्तम प्रतिमाधारी भी किया करते थे। अत हमने महाराज से पूछा" कि चातुर्मास के विषय में किस प्रतिमाधारी को आज्ञा है?"

महाराज ने कहा– " ८ वी प्रतिमा से चातुर्मास करने की विधि है।"

प्रतिमा-धारियो के विषय में महाराज से यह ज्ञात हुआ कि " चौथी प्रतिमा तक ठडा जल पीता है, सातवी प्रतिमा तक स्नानादि व्यवहार में शीतल जल को काम में लाता है। व्रत प्रतिमा से छटवी प्रतिमा पर्यन्त दो

बार भोजन तथा अनेकबार जल लेगा। सातवी प्रतिमा में एक बार भोजन करेगा, संध्या या केवल फलाहार लेवे। पाक्षिक श्रावक रात्रि में जल, तांबूल, औषधि ग्रहण करता है। प्रोषधोपवास व्रत में जघन्य से एकासन करे। चावल का पानी लेना आचाम्ल–निर्विकृति है।

एक बार एक सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक को डाक्टर ने बिस्तर से उठने की मनाई कर दी थी। सामायिक के समय वे उठकर आसन पर बैठ कर सामायिक करते थे, इससे रोग बढ़ता था। यह देखकर मैंने आचार्य महाराज से पूछा "महाराज ऐसी स्थिति में वह श्रावक क्या करें?"

महाराज ने कहा—"रुग्ण होने पर लेट कर भी सावद्य–योग त्यागकर सामायिक की जा सकती है। बीमार आदमी बिस्तर पर भी सामायिक कर सकता है।"

मैंने पूछा—"महाराज! प्रतिमाधारियों को शुद्ध घृत की उपलब्धि कठिन हो गई है। किंतु शरीर के लिए जीवन–तत्व की दृष्टि से स्निग्ध वस्तु आवश्यक है, अतः यदि वह शुद्ध तेल की घानी में शुद्ध तिलहनो को पिरवा-कर तेल लेवे, तो क्या हानि है?

महाराज ने कहा—"व्रती शुद्ध घानी का निकला शुद्ध तेल ले सकता है।"

मैंने पूछा—"महाराज! हमारे बाबा जी महान धर्मात्मा थे। वे कहा करते थे, यदि मैं मरणासन्न हो जाऊं और रात्रि को प्यास के लिए पानी भी मागूं तो न देना। बीमारी की स्थिति में उनका बोलना बंद हो गया। लोगों को परवाह न कर उनकी प्रतिज्ञा के अनुसार जल नहीं दिया गया। इस विषय में ऐसा विकल्प उठा करता था, कि यदि जल दे देते, तो उनका शायद लाभ हो जाता।"

महाराज ने कहा—"अच्छा हुआ जो उनकी प्रतिज्ञा के अनुसार जल नहीं दिया। जल नहीं मिलने से एक दिन में मरण नहीं हो जाता। आठ रोज भी बिना जल के रहा जा सकता है।"

मैंने पूछा—'महाराज! एक सुशिक्षित त्यागी को सामायिक के समय स्तोत्र पाठादि करते देखा, तो ऐसा करना उचित है?"

महाराज ने कहा—"स्तोत्र पाठ स्वाध्याय है। सामायिक नहीं है।"

वास्तु शुद्धि का प्रयोजन

मैंने पूछा—"महाराज! गृह आदि बनाने के बाद वास्तु शुद्धि का क्या प्रयोजन है?

महाराज ने कहा—'गृह निर्माण में हिंसा होती है।

महाराज ने बताया था—"दक्षिण मे डिगरज का जिनमंदिर बनाने में छने पानी का उपयोग किया गया है।"

एक दिन महाराज ने कहा—"धर्म श्रेष्ठ है, धन नहीं। धर्म पालन करने वाला श्रीमंत सुखी रहता है। पश्चिम के देशों में धन वैभव कितना ही अधिक हो, किन्तु सुखी श्रीमंत भारत मे ही मिलेंगे।"

बालकों पर प्रेम

वीतरागता की सजीव मूर्ति होते हुए भी आचार्य श्री में अपार वात्सल्य पाया जाता है। लगभग १९३८ के भाद्रपद की बात है। उस समय महाराज ने बारामती सेठ रामचंद के उद्यान में चातुर्मास किया था।

एक दिन अपराह्न में महाराज का केशलोंच हो रहा था। उनके समीप में एक छोटा तीन वर्ष की अवस्थावाला स्वास्थ्य सुरूप तथा नग्न मुद्रावाला बालक महाराज को केश लोंच करते देखकर नकल करने वाले बंदर के समान अपने बालों को पकड़कर धीरे धीरे खेंचता था। उस बालक को देखकर महाराज का मुख सस्मित हो गया और उनने सहज आशीर्वाद दे उसके सिर पर अपनी पिच्छी से स्पर्श कर दिया। लोंच उपरान्त जब महाराज का मौन खुला, तब मैंने महाराज से पूछा—"महाराज! इस बालक के मस्तक का आपने पिच्छी से क्यों स्पर्श कर दिया?"

जब वे कुछ न बोले तब मैंने कहा—"महाराज! मुनि पद को बालकवत निर्विकार कहा गया है 'स्वपक्षदर्शनात् कस्य न प्रीतिरुपजायते—अपने पक्षवालों को देखकर किसे प्रेम नहीं उत्पन्न नहीं होता है। प्रतीत होता है, इसी कारण से उस बालक पर आपका वात्सल्य जागृत हो गया?"

महाराज ने सस्मित मुख से प्रतीत होता है मौन द्वारा मेरा समर्थन किया।

आज का मनुष्य अपनी निर्भय स्थिति को सुरक्षित रखने के लिये उचित अनुचित का विचार न कर स्वार्थसाधन को ही सभ्यता की पराकाष्ठा माने हुए है। नैतिकता और सदाचार की मोहक बातें दूसरों को सुनाने के लिये हैं। आज का युग एक ऐसी खाई के ऊपर से आंख में पट्टी बांधकर चल रहा है, कि उसके गिरते ही उसकी हड्डी पसली टूटे बिना न रहेगी। डा० राधाकृष्णन के शब्दों में "घातक अस्त्र तथा संपत्ति राशि को ही हमने परिणाम का उपाय समझ लिया है, जो लोग हमारे लोभ एवं अन्याय के शिकार हैं, उनसे अपनी रक्षा करने के लिए हम नवयुवकों को ऐसी

, जिससे वे मरने–काटने तथा विनाश करने के लिये उत्साहित हो, यदि हमारे विचारो तथा व्यवहार में प्रबल परिवर्तन न हुआ, तो मनुष्य जाति का विनाश अवश्यभावी है– किसी प्राकृतिक दुर्घटना अथवा भयकर रोग के कारण नही वरन् इस सभ्यता के कारण जो मानव तृष्णा एव वैज्ञानिक प्रतिभा का एक विलक्षण समिश्रण है।"[1]

आज सर्वत्र स्वतन्त्रता का गौरव गीत गाया जाता है, किन्तु वह सच्ची स्व अर्थात आत्मा की अधीनता रूप न होकर विलसिता विषय लोलुपता तथा पुद्गल की निरतर आराधनारूप दिखाई देती है। बडे बडे स्वतत्र दिखने वाले राष्ट्र राजनैतिक परिभाषा के अनुसार अवश्य स्वतन्त्र है किन्तु अध्यात्मविद्या के प्रकाश में वे विषयो के महान दास है। जिस प्रकार कोई पागल बधन रहित हो अपने उन्मत्त जीवन द्वारा दूसरो को त्रास पहुचाने के साथ ही साथ अपनी मृत्यु का द्वार खोजता फिरता है। उसी प्रकार आज का भोग लोलुपी तथा सयम का शत्रु बनने वाला स्वतत्र राष्ट्र मडल आतंकवाद और अत्याचार की सहारक सामग्री ले इस नदनवन रूप विश्व को विशेष व्यथा तथा हिंसा का नरकालय बनाये हुये हैं। इसका उद्धार किस प्रकार हो?

विश्वनदन बन कैसे बनेगा ?

इस सम्बन्ध में जब मैंने महाराज से चर्चा की, तब आचार्य श्री ने कहा, "उन्नति की बडी–बडी योजनाओ से, सुदर प्रस्तावो से विश्व का कल्याण नही होता। ससार के जीव अथवा उनके समुदाय रूप राष्ट्र तब ही सुखी होगे जब वे हिंसा, परस्त्री लपटता, झूठ, चोरी तथा अधिक तृष्णा का त्याग करेंगे, तब ही आनन्द और शाति की प्राप्ति होगी।"

वास्तव में आत्मा को पवित्र बनाये बिना जीव कैसे सुखी हो सकता है। आज बडे बडे कहे जाने वाले लोग सत्य और वैज्ञानिक दृष्टि से दूर हो हिंसा के भवन में निवास कर अपने जीवन द्वारा अहिंसा को भुला जगत का अत करण बदलना चाहते है। गाधी जी के उत्तराधिकारी ब्रह्म को जानने की कला में अपने को कुलगुरु मानने वाले ब्राह्मण परिवार में जन्म धारक श्री जवाहरलाल नेहरू सदृश व्यक्ति तक जब मास खाने से अपने को न बचा सके, तब दूसरो की क्या निराली है। यदि प्राणघा

---

1 स्वतन्त्रता और सस्कृति पृ० १६७-१६८

से उत्पन्न माम भक्षी अहिंसक है तथा उसका प्रचार करने का अधिकारी है, तो वेश्या शील धर्म पर भाषण देने की योग्यता विहीन कैसे मानी जायगी ?[१] आचार्य महाराज तो अहिंसा की साधना के लिए मांस त्याग को आवश्यक बताते है। यदि मांसाहार पाप नही, तो फिर और किस वस्तु को पाप कहा जा सकता है ? ऐसे हिंसा प्रचुर वातावरण में आचार्य महाराज ने श्रेष्ठ हिंसा व्रत के पालक दिगम्बर मुद्राधारी अनेक मुनियो को उत्पन्न कर दिया। आर्यिका को दीक्षा दी। चतुर्विध सघ का दर्शन होने लगा। अब तक उनके चारित्र रूप हमें शासन की बहिर्जगत् तथा अतर्जगत् में वृद्धि ही हुई। विषयान्ध व्यक्ति की आखें इस चारित्र के तेज को देखते समय बद हो जाती है। मुमुक्षु तथा भद्र प्राणी ही उसका महत्व जानते है।

गजरथा के पच कल्याणक महोत्सव से मैं जब चलने लगा, तब मैं महाराज की सेवा में पहुचा। महाराज ने कहा, "तुम्हारे पिता जी का तार आया है। इससे घर जा सकते हो, किन्तु भूलना मत। शास्त्र में पाच प्रकार के पिता कहे गये है। उनमें गुरु का भी स्थान है, फिर कब आवोगे ?" मैंने कहा "महाराज बिना पुण्योदय के आपका का दर्शन नहीं हो सकता, शीघ्र ही आने का प्रयत्न करूगा।"

मागीतुगी क्षेत्र में आचार्य सघ विराजमान था। वहाँ पचकल्याणक पूजा थी। वहाँ आचार्य महाराज के दर्शन हुए। वहाँ से महाराज का विहार हो गया। रास्ते में कुछ क्षण महाराज के समीप पहुचने का मौका मिला। एक खेत में मुनि महाराज को बैठे देखकर बडा अच्छा लगता था। विकृति विहीन प्रकृति के मध्य प्राकृतिक मुद्रा तथा प्राकृतिक जीवन वाले महापुरुष की स्वाभाविक शोभा निराली होती है। मैंने गुरुदेव को प्रणाम किया और कहा "महाराज आपके चरणो में आने से बडी शाति मिलती है।"

महाराज ने कहा "तो फिर जाते क्यो हो ?"

इस प्रश्न का क्या उत्तर हो सकता है ? सोचकर कहा "महाराज

---

१ "Menon, Nehru, I and several others lunched together in the large common dining room I was served mutton chops By request I shared my portion with Nehru Gandhi knew that Nehru ate meat and smoked, he did not object it" L Fischer's 'Life of Mahatma Gandhi' p 460

निरतर आपके सानिध्य में रहने के योग्य अभी मेरा सौभाग्य नही है। बिना पुण्य के महापुरुषो के चरणो में निवास करन का भाग्य कहा ?"

महाराज ने कहा– 'तुम तो अपनी बात को वकालत करते हो।"

मैंने कहा– 'मैन वकालत तो पास की, किन्तु वकालत कभी की ही नही। हा! आपके धम पक्षकी ही वकालत करता हू।" सस्मित वदन से गुरुदेव ने आशीर्वाद दिया। मैं रवाना हो गया।

१९४३ के सितम्बर में मैंने देखा आचार्य महाराज मूल सस्कृत के ग्रथो को बडे ध्यान से बाँच रहे थे। देखा, तो मोती सरीखे मनोज्ञ अक्षरामें अलकृत हस्त लिखित सस्कृत की प्रति है, जा आचार्य महाराज के सुयोग्य शिष्य१०८ मुनि धम सागर महाराज ने गुरुदेव के स्वाध्याय निमित्त लिखी थी।

मन में यह इच्छा हुई कि गुरुदेव से पूछू कि आपके जीवन पर किन ग्रथो का प्रभाव पडा, जिससे पता चलेगा कि किस महामुनि की वाणी न इस पवित्र जीवन को आलोकित किया है।

मैंन पूछा– "महाराज! भगवान की वाणी होने क कारण सभी आगम ग्रथ अच्छे है फिर भी कौन शास्त्र आपको विशष आनद प्रद मालूम पडते हैं?'

महाराज ने कहा– ' अब हमें द्रव्यानुयोग शास्त्र अच्छ लगते हैं।"

मैंने–"महाराज! प्रारम्भ में कौन शास्त्र आपको विशषप्रिय लगते थे और किन ग्रथा ने आपके जीवन को विशष प्रभावित किया?"

महाराज ने कहा– 'जब हम पद्रह, सोलह वर्ष के थे तब हिंदी में समयसार तथा आत्मानुशासन वाचा करते थे। हिन्दी रत्नकरड श्रावकाचार की टीका भी पढते थे। इससे मन को बडी शाति मिलती थी। आत्मानुशासन पढने से मन में वैराग्य भाव बढता था। इसमें वैराग्य तथा स्त्री सुख से विरक्ति का अच्छा वर्णन है। इससे हमारा मन त्यागकी ओर बढता था। हमारा इरादा १७-१८ वर्ष की अवस्था से ही मुनि बनने का था।' महाराज ने यह भी बताया कि वे आत्मानुशासन की चर्चा अपने श्रेष्ठ सत्यव्रती मित्र रुद्रप्पा नामक लिंगायत बधु से किया करते थे। इन दोनो महापुरुषो का परस्पर में तत्व विचार चला करता था। महाराज ने कहा था कि 'आत्मानुशासन की कथा रुद्रप्पा को भी बडी प्रिय लगती थी।'

किन ग्रथो का प्रभाव पडा

महाराज न यह भी कहा था- 'शास्त्रो में स्वय कल्याण नही है। वे तो कल्याण के पथ प्रदर्शक है। देखो! सडक पर वहो २ खम्भा गडा रहता है।

वह चारो ओर जाने वाले मार्गों को सूचित किया करता है, कि इस रास्ते से तुम अमुक प्रदेश को जा सकते हो। वह साइनबोर्ड तुमको पकड कर जबर-दस्ती इष्ट स्थल पर नही ले जाता है। इसी प्रकार शास्त्र भी तुमको कर्तव्य-अकर्तव्य बताता है, तथा कल्याण का रास्ता बताता है। उस ओर जाने के लिए तुमको पैर बढाना पडेगा।"

संसार के सभी जीव प्रायः वासनाओ अनुशासन में रहते है। विषयो को और इद्रियो की जैसी प्रेरणा होती है, वैसी प्रवृत्ति हो जाती है। मोहनीय कर्म रूपी मद्य को पीकर यह जीव अपने बाधने के लिए जाल बुनता है, अपने आत्मत्व के विनाश के लिए पुदगल का अनुगामी बनता है, आत्मा की सुधि लेने की कुछ इच्छा भी हुई तो लालसा और वासनाओ की पवन उसके विवेक दीप को बुझाने लगती है। ऐसे समय में ऐसी भासमान ज्योति की आवश्यकता है, जिसका प्रकाश क्षीण न हो, पवन का प्रचड आक्रमण भी जिसे कपित न करे, और जो अविनाशी कल्याण का मगल मार्ग बताती रहे। आत्मानुशासन ग्रथ के परिशीलन से प्रतीत होगा, कि यह ऐसा ही प्रकाश देता है, जिससे आत्मा कर्मो के आतक को दूर कर प्रशम-पथ का पथिक बनता है।

आत्मानुशासन का हृदय

दिगम्बर संप्रदाय के प्रतिभाशाली महामुनि भदंत गुणभद्र की समंतभद्र रचना आत्मानुशासन है। इसमें केवल संस्कृत भाषा में रचित २७० पद्य हैं। प्रत्येक पद्य में आत्मविचार, आत्म-समाधान, तत्वचिन्तन, तथा उज्वल अनुभूति का रस भरा हुआ है।

समंतभद्र रचना

इसके परिशीलन से आत्मा मोहपाश से छूटने की प्रेरणा प्राप्त करता है और पुद्गल की विकृति से बचकर अविनाशी शांति, अनंत आनंद तथा परिपूर्ण आत्मत्व को प्राप्त करने की सामर्थ्य का लाभ करता है। इसके आलोक से जडवाद के आधार पर अवस्थित भौतिकता के प्रासाद की भीषणता, मलिनता और अनात्मीयता का अवबोध होता है। विषयासक्ति से रुग्ण जीव को यह स्वस्थ और और शाश्वतिक सौन्दर्य सम्पन्न बनाता है; जिसमें कर्मों की कालिमा और मलिनता का संपर्क नहीं है। यह आंतरिक सामंजस्य के स्थापन में सहायक होता है, जिसके बिना सुख और शांति की उपलब्धि मायाविनी मरीचिका में दृश्यमान जलराशि सदृश है। क्रोध, मान, माया, तृष्णा, ईर्ष्या, क्रूरता, स्वार्थ-लिप्सा आदि के कारण ही जीव क्लेशित हो रहा है। उनका नियमन करके निर्विकारी जीव बनाने के लिए यह कृति विश्वगुरु की संतुलित, अनुभवपूर्ण, सत्यपूत, संयममय तथा माधुर्यपूर्ण वाणी सदृश है। यह जीव की उच्छृंखलता का कुशलतापूर्वक संयमन करता हुआ उसे परिपूर्ण आत्मा बनने योग्य आध्यात्मिक साहस, तथा सामर्थ्य दे पवित्र आकांक्षा को जागृत करता है।

ग्रंथ की भाषा में सौष्ठव, माधुर्य, तथा प्रसाद गुण विद्यमान है। वर्णन बड़ा सजीव तथा मार्मिक है।

इसमें कहीं कहीं लोकोत्तर कल्पनाएं महाकवि की प्रतिभा की सजीव प्रतिमा रूप प्रतीत होती हैं।

मोहरोग को दूर करने वाली महौषधि

रचना शैली मार्मिक, मनोवैज्ञानिक, अंतःस्पर्शी तथा अकाट्य तर्कमय है। यह ग्रंथ अंतःकरण के कपाट को खोलकर आत्मदेव का दर्शन कराता है। जो राग-रंग में निमग्न प्राणी धर्म की कथनी को विष मानता है,

यह भी इस अध्यात्म रसायन को बडे प्रेम से स्वीकार करता है। मोहरोग को दूर करने वाली औषधि को सुन्दर भाषा शैली के अनुपान से देने से बालबुद्धि इसे बडी ममता के साथ अपनाता है।

इस ग्रंथ के अनुशासन को स्वीकार करने वाला कर्मों के कुशासन से बचकर आध्यात्मिक साम्राज्य का अधिपति बनने के लिए पवित्र प्रयत्न करने की मानसिक क्रांति को उपलब्ध करता है।

कवि ने अपने को महाकवि भगवज्जिनसेन के शिष्य रूप में बताया है। ये ईसा की नवमी सदी के विद्वान है।

इसका अंग्रेजी अनुवाद जस्टिस जुगमंदिरलाल जैनी एम. ए बार एटला ने बडा सप्राण, और सुन्दर किया है। इसके प्रकाशक प अजितप्रसाद जी एम ए एडवोकेट ने रचना के विषय म इसी प्रकार प्रकाश डाला था"–[1]

"आत्मानुशासन शब्द से ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ आत्मा में विद्यमान परमात्मपद के सबध में दिव्य उपदेश रूप है। ग्रथ के २७० पद्यों में प्रत्येक पद्य में आत्मा को अनात्मा से अथवा पुद्गल से पृथक करने के लिए सरल, प्रेरणात्मक, मर्मस्पर्शी, ओजमय तथा प्रभावपूर्ण भाषा में प्रेरणा की गई है। आत्मा का पुद्गल से पूर्णतया पृथक हो जाना जीव की पाप, शोक तथा मृत्यु पर विजय है। इसे ही मुक्ति, स्वतत्रता, निर्वाण कहते है, जो अविनाशी परिपूर्ण तथा शाश्वतिक है।"

ग्रथ की हिन्दी टीका के आरम्भ में पण्डित टोडरमल जी ने लिखा है—

"सोहै जिन सासन में आतमानुसासन श्रुत।
जाकी दुखहारी सुख-हारी साची सासना।

---

१ Atmanushasana is, as the very name literally indicates, a discourse divine for the Divinity in man, Each and every one of the 270 verses, is an exhortation in language, simple, persuasive, penetrating, forceful, effective, to the Atman, the I, the Ego, the Self, to separate its own Self from the non-Atman, the non-I, the non Ego, the non-Seef This Supreme separation is the complete victory of the Soul over Sin, Sorrow, and Death, and is Moksha, Freedom, or Liberation, absolute, perfect, eternal, and everlasting

जाको गुणभद्र करता, गुणभद्र जाको जानि।
भद्रगुण धारी भव्य करत उपासना।"

इस ग्रंथ की प्रतिपादन शैली कितनी प्रेमपूर्ण है कि बाल बुद्धि व्यक्ति भी आकर्षित होकर आत्म-हित की बात सुनने को प्रस्तुत हुए बिना न रहेगा। आचार्य कहते हैं--

दुःखाद्बिभेषि नितरामभिवांछसि सुखमतोहमप्यात्मन्।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ॥ २ ॥[१]

आत्मन्! तू दुःख से डरता है और सुख की आकांक्षा करता है। अतएव मैं दुःख-निवारक तथा आनंददायी ऐसी बात कहता हूँ जो तुम्हे भी प्रिय लगेगी।

यद्यपि कदाचिदस्मिन् विपाकमधुरं तदात्व कटु किंचित्।
त्वं तस्मान्मा भैर्षी यथातुरो भेषजादुग्रात् ॥३॥[२]

देख! मेरा कथन तत्काल भले ही कुछ कटु लगे किन्तु इसका परिणाम मधुर होगा। इसलिए तू इससे डर मत, जैसे रोगी व्यक्ति कटु औषधि से नहीं डरता है, क्योंकि अन्त में उससे नीरोगता का लाभ होता है।

धर्म पालन करने की क्या आवश्यकता है इस प्रश्न का समाधान करते हैं—

पापाद्दुःखं धर्मात्सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धम्।[३]
तस्माद्विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम् ॥२॥

इस बात को सभी लोग जानते हैं कि पाप से दुःख होता है और

---

१ Oh soul? thou art always afraid of pain, and desirous of pleasure. Therefore I also offer thee the object of thy desire, which tends to give pleasure and remove pain.

२ If perchance, in this (advice), there be something which though sweet at fruition,is yet unpalatable, be thou not afraid of that, just as a sick person is not (afraid) of bitter medicine.

३ Demerit produces pain, happiness follows Truth (Dharma). This is well-known to all. Therefore the man who desires happiness should always refrain from demerit, (and) follow (Dharma).

धर्म से सुख मिलता है। अतः सुख चाहने वाले को पापाचरण का परित्याग कर सदा धर्म का पालन करना चाहिये। धर्म से सुख मिलता है, इस विषय में तामिल ग्रंथ कुरल की यह सूक्ति बड़ी मार्मिक, है—"मुझसे यह मत पूछो कि धर्म से क्या लाभ है ? बस एक बार पालकी उठाने वाले कहारों की ओर देख लो और फिर उस आदमी को देखो जो उसमें बैठा है।" (तामिल वेद ५-११)

सम्यक-श्रद्धा-समलकृत ज्ञान, आचार आदि में वास्तविक महत्व है यह स्पष्ट करते हैं—

शमबोधवृत्ततपसा पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्व-संयुक्तम् ॥१५॥[१]

मनुष्य की शांति, ज्ञान, नियम तथा तपस्या का पाषाण बराबर मूल्य है, किन्तु सम्यक श्रद्धा समन्वित होने पर वे सब बहुमूल्य रत्न के समान आदरणीय होते हैं।

विषय रूप विष के सेवन से आत्मा की शक्ति क्षीण हो गई है, इससे पहले सुपाच्य पेय पदार्थ देने के विषय में कहते हैं—

विषयविषप्राशनोत्थितमोहज्वरजनिततीव्रतृष्णस्य।
निःशक्तिकस्य भवतः प्रायः पेयाद्युपक्रमः श्रेयान् ॥१७॥[२]

आत्मन् ! विषय रूप विष के सेवन से जो मोहज्वर उत्पन्न हुआ है, उससे तुझे तीव्र तृष्णा सताती है तथा इससे तू शक्तिहीन हो गया है, इससे तेरे लिये पेय पदार्थ को देना ही श्रेयस्कर है।

धर्म की आराधना दुखी व्यक्ति के समान सुखी व्यक्ति के लिये भी आवश्यक है, इसे स्पष्ट करते हैं—

सुखितस्य दुखितस्य च संसारे धर्म एव तव कार्यः।

---

१ The tranquillity, knowledge, vows, and austerities of a person is of the value of a stone. But it becomes adorable, like a great jewel if accompancid by right belief.

२ Having taken the poison of sense-enjoyments, thou hast got the fever of delusion; from this has arisen thy keen thirst (for sense-gratification) and thou hast become feeble. For thee it is the best to be treated mostly with medicines of a drinkable nature.

सुखितस्य तदभिवृध्यै दुःखभुजस्तदपघाताय ॥१८॥[1]

आत्मन् ! संसार में सुखी तथा दुखी स्थिति में तुम्हे धर्म का पालन करना चाहिये। सुखी पुरुष तो सुख की अभिवृद्धि के लिए और दुखी मानव दुःख–क्षय के हेतु धर्म धारण करे। जो सुखों की इच्छा रखता है उसे भी धर्म धारण के लिए प्रेरणा करते हैं।

धर्मारामतरूणां फलानिसर्वेन्द्रियार्थसौख्यानि ।
संरक्ष्यतास्ततस्तान्युच्चिनुयैस्तैरुपायस्त्वम् ॥१९॥[2]

सम्पूर्ण इंद्रियों के लिए इष्टरूप विषय सम्बन्धी सुख, धर्म अर्थात दया भाव रूपी उद्यान के वृक्षों के फल हैं, अतएव उन वृक्षो का संरक्षण करते हुए तू उचित उपायों से उन फलों को प्राप्त कर।

कुरल काव्य में करुणापूर्ण अंतःकरण को भी बडी भारी विभूति कहा है—"दया से लबालब भरा हुआ दिल ही सबसे बड़ी दौलत है, क्योकि सासारिक सम्पत्ति तो नीच मनुष्यो के पास भी देखी जाती है।"

जो धर्म को सुख का शत्रु मान धर्म से दूर भागता है, उसका भ्रम निवारण करते है—

धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विरोधकः स्वकार्यस्य ।[3]
तस्मात् सुखभंगभिया माभूर्धर्मस्य विमुखस्त्वम् ॥२०॥

आत्मन् ! धर्म तो सुख का कारण है और कारण कभी भी अपने कार्य का विरोधी नही होता है इससे अपने वर्तमान सुखो के विनाश के डर से तू धर्म से पराङमुख मत बन।

धर्म का रक्षण करते हुए ही यथेष्ट भोगो का सेवन करने को कहते हैं

---

१ Whether happy or miserable in this world thou must exercise piety; if happy, to increase thy happiness; and if miserable, to remove thy misery.

२ The pleasures derived from all sense-objects are fruits of the trees of the garden of piety. Therefore preserve thou the trees, and pluck the fruits by all means.

३ Piety is the cause of happiness. The cause cannot oppose its own effect. Therefore for fear of being deprived of (present) sense-pleasures, thou shouldst not be indifferent to piety (Dharma).

धर्मादवाप्तविभवो धर्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु ।
बीजादवाप्तधान्यः कृषीवलस्तस्य बीजमिव ॥२१॥[१]

आत्मन् ! तूने धर्म की आराधना से ही वैभव को पाया है; अतः धर्म की प्रतिपालना करते हुए ही भोगों का अनुभव कर। जिस प्रकार कोई किसान बीज को बोकर प्राप्त हुए धान्य का उपभोग करता है, तथा वह बीज का रक्षण भी करता है।

जो अल्पज्ञ धर्म की परवाह न कर सुखोपभोग करता है,उसे समझाते हैं:-

कृत्वा धर्मविघातं विषयसुखान्यनुभवंति ये मोहात् ।
आच्छेद्य तरुं मूलात् फलानि गृह्णन्ति ते पापाः ॥२४॥[२]

जो जीव मोह वश धर्म का विघात करते हुए विषय सुखों का अनुभवन करते हैं, वे पापी वृक्ष को मूल-से उखाड़ करके फलों को ग्रहण करते हैं।

यह धर्म प्रत्येक स्थिति में आराध्य है, यह बात आचार्य कहते हैं:-

कर्तृत्व-हेतु-कर्तृत्वानुमतैः स्मरण-चरण-वचनेषु ।
यः सर्वथाभिगम्यः स कथं धर्मो न सग्राह्यः ॥२५॥[३]

जो धर्म कृत, कारित, अनुमोदना द्वारा मन, वचन तथा काय से सर्व प्रकार से आराध्य है, वह क्यों न संग्रह के योग्य होगा ?

जो यह सोचते हैं, धर्म के द्वारा हमारी सुख की सामग्री छीन ली जायगी, उन भ्रांत भाइयों के भ्रम को भगाते हुए कहते हैं :-

न सुखानुभवात्पापं पापंतद्धेतुघातकारंभात् ।
नाजीर्णं मिष्टान्नान्नु तन्मात्राद्यतिक्रमणात् ॥२७॥[४]

---

१ The person who in consequence of piety has acquired prosperity may have enjoyments while preserving piety, like the peasant who gets corn from the seed, but (preserves) the seed of that corn.

२ Those who under delusion, destroying Dharma, enjoy sense-pleasures are sinful, and take the fruit (after) cutting down the tree at its root.

३ Why should such a religion be not pursued which can be followed in all circumstances, by doing, by having it done, and by approving the doing of it by others, by means of mind, body, or speech.

४ There is no demerit in enjoying pleasures; but there is demerit in doing what tends to destroy their source.

अरे आत्मन् ! सुख के अनुभवन करने में पाप नहीं है। सुख के हेतु रूप धर्म का घात करने में पाप होता है। मिठाई खाने से अजीर्ण नहीं होता है, किन्तु उसकी मात्रा का अतिक्रमण करने से अजीर्ण होता है।

परित्याज्य पाप वृत्तियों का उल्लेख करते हुए आचार्य कहते हैं:–

पैशुन्य-दैन्य-दंभस्तेयानृतपातकादिपरिहारात् !
लोकद्वयहितमर्जय धर्मार्थयशः सुखायार्थम्॥२०॥[१]

आत्मन् ! चुगली करना, दीनता, दंभ, चोरी, झूठ तथा अन्य पापों का परित्याग करके धर्म, सम्पत्ति, कीर्ति तथा आनन्द के लिए इस जीवन में तथा आगामी भव में हितकारी कार्यों का संपादन कर, पुण्य प्रवृत्तियों के प्रसाद से विश्व में विपत्ति का पहाड़ टूटने पर भी जीव अपने विशिष्ट पुण्य के द्वारा परित्राण प्राप्त कर सकता है।

पुण्यं कुरुस्व कृतपुण्य मनीदृशोपि, नोपद्रवोभिभवति प्रभवेच्चभूत्यै।
संतापयन् जगदशेष-मशीतरश्मि: ,पद्मेषु पश्य विदधाति विकाशलक्ष्मीम्॥२१॥[२]

अरे भाई ! पुण्य का संपादन कर, पुण्यशील व्यक्ति को आकस्मिक संकट भी नहीं सताते हैं, किन्तु उसकी अभिवृद्धि के हेतु बन जाते हैं। देखो उष्ण किरण वाला सूर्य संपूर्ण जगत को संतप्त करता हुआ भी सरोज को विकसित कर सौन्दर्य समन्वित करता है।

आवश्यकता से अधिक धन की राशि एकत्रित करने से अपने को कृतार्थ समझने वाले धनाढ्य की आंखों में यह ज्ञानाजन-शलाका लगाते हैं:–

शुद्धै र्धनै र्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः।
नहि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः॥ ४५ ॥[३]

Indigestion is not caused by sweet food, (but) by eating it beyond its limit.

१ Having given up back-biting, begging, deceit, theft, falsehood and other faults, pursue what is best in both the worlds for religion, wealth, renown and happiness.

२ Acquire merit. Even an unheard of calamity does not affect the doer of meritorious deeds. Indeed it does him good. See the sun, which oppresses the whole world (with its heat), gives a lovely bloom to lotuses.

३ The wealth of even good men is not increased by pious income; (as) the seas can never be filled with fresh water only.

[1]पूर्णतया शुद्ध रीति से उपार्जित धन के द्वारा सत्पुरुषों की भी संपत्ति वृद्धिगत नहीं होती है। निर्मल नीर से कभी नदियों में पूर्णता नहीं आती है।

सांसारिक सुख की उपलब्धि सदृश कष्ट मुक्ति के लिए उद्योग करने में नहीं है, यह महत्व की बात आचार्य कहते हैं:-

वार्तादिभि विषयलोल-विचारशून्यः, क्लिश्नासि यन्मुहुरिहार्थपरिग्रहार्थम्।
तच्चेष्टित यदि सकृत् परलोकबुध्या, न प्राप्यते ननु पुनर्जननादि दुःखम् ॥४७॥[1]

आत्मन्! विचार कर, यहाँ विषयों के कारण चचल होकर विचार-शून्य बनकर तू असि, मसि, कृषि आदि रूप उद्योग करता हुआ परिग्रह की उपलब्धि के लिये क्लेश उठाता है। वैसी चेष्टा यदि एकबार भी परलोक को लक्ष्य में रखकर करे, तो बारबार जन्म के कष्ट को नहीं भोगना पड़े। यह विश्व क्षणिकता की भँवर में फंसा हुआ है यह बताते हैं:—

श्वो यस्याजनि यः स एव दिवसोह्यस्तस्य सपद्यते।
स्थैर्यं नाम न कस्यचिज्जगदिदं कालानिलोन्मूलितम्
भ्रात भ्रान्तिमपास्य पश्यसितरां प्रत्यक्ष मक्ष्णोर्न किम्।
येनात्रैव मुहुर्मुहु - र्बहुतर बद्धस्पृहो भ्राम्यसि ॥५२॥[2]

अरे भाई! जिसके लिए जो दिवस आगामी आनेवाला था, वही दिवस उसके लिए भविष्यत् के स्थान में भूत बन जाता है। इस जगत् में कुछ भी वस्तु स्थिर नहीं है। काल रूप पवन के द्वारा यह विश्व उन्मूलित

---

१ Being entangled in enjoyments, (and therefore) thoughtless, thou art again and again made miserable by occupation, etc., to obtain wealth and other objects of this world. If thou under-goest the same trouble (even) once, intending to obtain liberation, then certainly thou wouldst never experience the pain of being born again and again.

२ That same day which appears as to-morrow for one, becomes yesterday for him. Nothing can be called stable. This world is being up-rooted by the wind of time. Oh brother, having given up delusion, why dost thou not see what is visible to thy eyes? By not doing so, thou, mainly a bondsman of desire, wanderest again and again, in this very world.

हो रहा है। भ्रम को दूर करके नेत्र के प्रत्यक्ष गोचर पदार्थों को क्यों नहीं देखता है? इसीलिए तो तू इन धन, स्त्री, पुत्रादि पदार्थों में बारबार लालसा करता हुआ पुनः पुनः परिभ्रमण करता फिरता है।

भोगों में जीव किस प्रकार दुःखी होता है यह कहते हैं:—

उग्र-ग्रीष्म-कठोर-घर्मकिरण स्फूर्जद् गभस्तिप्रभैः।
सतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो सवृद्धतृष्णोजनः।
अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रयासाकुल-
स्तोयोपान्त दुरन्तकर्दमगतस्क्षीणोक्षवत् क्लिश्यते ॥५५॥[1]

आत्मन्! जैसे कोई क्षीण बैल तृष्णा पीड़ित हो जलाशय में जाकर महान पंक में फंस अभिमत जल को न पाकर महान श्रम के प्रयास से आकुलित हो क्लेश पाता है तथा उग्र ग्रीष्म की कठोर सूर्य किरणों से सतप्त होता है, इसी प्रकार अत्यन्त तीक्ष्ण तथा उष्ण सूर्य की किरणों के समान संपूर्ण इन्द्रियोंसे पीड़ित होता है, तथा बढ़ी हुई तृष्णा वाला जीव विवेक विहीन हो इस सुख का नहीं प्राप्त करता हुआ अपने व्यर्थ श्रम से व्यथित हो क्लेशित होता है।

जो मोहाग्नि जगत् को जलाती है, वह विलक्षण है यह कहते हैं—

लब्धेधनो ज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरिन्धनः।
ज्वलत्युभयथाप्युच्चै-रहो मोहाग्नि-रुत्कटः ॥५६॥[2]

अग्नि ईंधन को पाकर जलती है और ईंधन के अभाव में प्रशान्त हो जाती है, किन्तु यह मोहाग्नि विचित्र है, जो वस्तुओं के लाभ में जोर से जलती है तथा उनके अभाव में भी उसी प्रकार जला करती है।

---

१ Distressed by all sense-desires, which are gleaming (and blinding) like the sun with its very hot unbearable and scorching rays; keenly athirst with desire, (and) indiscriminate,—this man, not getting his desired object (and) being troubled by sinful exertions, becomes miserable like the weak ox in a deep mire near the edge of a piece of water

२ Fire burns when fed with fuel,and goes out for want of it But it is a wonder that the terrible fire of delusion blazes strongly in both the ways (on getting the objects of desire and also on not getting them).

जिस शरीर को यह जीव अपनी आत्मा मान बैठा है, वह तो यथार्थ में इस जीव के लिए जेलखाना है:—

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभिः ।
चर्माच्छादित-मस्रसान्द्र-पिशितैर्-लिप्तं सुगुप्तं खलैः ॥
कर्मारातिभिरायुरुच्च-निगलालग्नं शरीरालयं ।
कारागार-मवेहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ॥५९॥[१]

अरे मूर्ख ! इस शरीर को जेलखाना जान, यह स्थूल हड्डियों रूपी पाषाण स्तम्भों पर स्थित है। शिराओं तथा स्नायुओं से बद्ध है, चर्म से ढका हुआ, रक्त तथा मांस से लिप्त है। दुष्ट कर्म रूप शत्रुओं के द्वारा अच्छी तरह सुरक्षित है तथा आयु कर्मरूपी मजबूत अर्गला (आगड) से बद्ध है। इसमें व्यर्थ प्रेम मत कर।

इस शरीर के विषय में आत्मा को और भी सचेत करते हैं—

दीप्तोभयाग्रवातारि-दारुदरग-कीटवत् ।
जन्म-मृत्यु-समाश्लिष्टे शरीरे बत सीदसि ॥६३॥[१]

जैसे आक की लकडी के दोनों छोरोंमें आग लगी हो और उसके मध्यमें कोई कीट बैठा हो उसी प्रकार जन्म और मरण से आक्रांत शरीर के भीतर तू वेदना सहता है।

इस जीवन की भयंकर भूल को स्पष्ट करते हैं।

गन्तुमुच्छ्वास-निश्वासैरभ्यस्यत्ययं सततम् ।
लोकः पृथगितो वाञ्छत्यात्मान-मजरामरम् ॥७१॥[२]

यह जीव श्वास के आने-जाने के द्वारा निरन्तर जाने का अभ्यास

---

१ Know this body of thine to be a prison-house, built of a number of thick bones as stone pillars, fastened by nerves and muscles, covered over with skin, plastered with wet flesh; well-protected by its wicked enemies, the Karmas and closed by strong barriers of age-Karmas O Bereft of wisdom ! have no foolish love for it.

Alas, thou art tortured in body, wrapped by birth and death, like an insect inside a castor log burning at both ends

२ This (life) constantly practises to go out by breaths comming in and going out. The people, on the other hand, wish the present life to be undecayable and immortal ? [१]

करता है, किन्तु इसके विपरीत लोग अपने अजर, अमर, होने की इच्छा करते हैं।

जीवन की क्षणिकता को कितनी मनोहर शैली से समझाते हैं.—

प्रसुप्तोमरणाशंका प्रबुद्धो जीवितोत्सवम् ।
प्रत्यहं जनयत्येष तिष्ठेत्काये कियच्चिरम् ॥८२॥[१]

यह जीव प्रतिदिन सोने पर मृत्यु की आशंका उत्पन्न करता है तथा जागने पर जीवन का आनन्द दिखाता है। भला यह इस शरीर में कब तक रहेगा ?

जीव की विकारों मे आसक्ति अद्भुत बात है, यह बताते हैं।

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत् प्रीतिरिति हि जनवादः।
त्व किमिति मृषा कुरुषे दोषासक्तो गुणेष्वरतः ॥९२॥[२]

यह कहावत प्रसिद्ध है कि अत्यन्त परिचित वस्तु में अवज्ञा का भाव उत्पन्न होता है तथा नवीन पदार्थ में प्रेम होता है, किन्तु आत्मन् ! तू मोहादि विकारो में आसक्त होता हुआ तथा आत्मा के गुणो से विमुख होता हुआ इस सूक्ति को मिथ्या करता हुआ सा प्रतीत होता है।

किस मार्ग में प्रवृत्ति करना श्रेयस्कर होगा यह बताते हैं:—

दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान.
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ ॥१०७॥[३]

आत्मन् ! दया,दम, त्याग तथा समाधि की परंपरा वाले पथ में प्रयत्न-

---

१ Every day while sleeping, he wears the appearance of death and while awaking he makes merry on his being alive. Every day produces this (scene). How long can this soul live in the body ?

२ It is said by people that familiarity breeds contempt, and love for a new object attracts, why (then) dost thou falisify this (proverb) by infatuation for wrong (belief etc.,) and aversion to right (belief, etc.).

३ Pursue actively and straight, the path of continuous observance of compassion, self-control, renunciation, and equanimity. This verily leads (thee) to the highest (position) free from anxieties and beyond the power of words (to describe).

शील होकर गमन करो। वह निश्चय से वाणी के अगोचर, विकल्पातीत, गुणों से युक्त, तथा अचिन्त्य परम पद को प्राप्त कराता है।

योगि गम्य बड़े भारी रहस्य की बात कहते हैं—

> अकिंचनोहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
> योगिगम्य तव प्रोक्तं रहस्य परमात्मनः॥ ११०॥[1]

आत्मन्, तू इस प्रकार रह कि मेरा कुछ भी नहीं है—मैं अकिंचन हूँ, इससे तू त्रिलोक का अधिपति हो जायगा। इसमें योगीगम्य परमात्मा का रहस्य तुझे बताया गया है।

स्त्री के प्रति विरक्ति उत्पन्न करते हुए कहते हैं—

> क्रुद्धा प्राणहरा भवन्ति भुजगादष्ट्वैव काल क्वचित्।
> तेषामौषधयश्च सति बहव सद्यो विषव्युच्छिद।
> हन्यु स्त्रीभुजगाः पुरेह च मुहु क्रुद्धा प्रसन्नास्तथा।
> योगीन्द्रानपि तान्निरौषधविषा दृष्टाश्च दष्टाश्च॥ १२७॥[2]

आत्मन! सर्प क्रुद्ध होते हुए दश द्वारा ही कभी प्राण हरण करते हैं, उनके विष को तत्काल दूर करने वाली अनेक प्रकार की औषधियां भी हैं। स्त्री रूपी सर्प, चाहे क्रुद्ध हो अथवा प्रसन्न हो, इस लोक तथा परलोक में पुन. पुनः देखे जाने पर अथवा उनके द्वारा इष्ट होने पर योगीन्द्रो को भी मार डालते है। स्त्री जनित विष को दूर करने की कोई औषधि भी नहीं है।

आज किस प्रकार के वक्ताओ और श्रोताओंका अभाव है यह बताते हैं—

> लोकद्वय-हित वक्तु श्रोतु च सुलभाः पुरा।
> दुर्लभा कर्तुमद्यत्वे वक्तु श्रोतु च दुर्लभाः॥१४३॥[3]

---

१ Live in in a way as though (you felt), "Nothing is mine" and thou wilt be lord over the three worlds. The essence of divinity, as realised by the saints, is told thee (herein)

२ Cobras are depriyers of life, only occasionally when they bite in rage, there are many remedies which quickly remove their poison. Women-cobras, here and hereafter, again and again, whether they bite, or are looked at, and by looking or being looked at and there is no remedy for that poison

३ Formerly it was easy to find speakers and hearers of words, useful for both the worlds, but men who acted up to them were scarce But now-a days (even) the speakers and hearers (of wholesome words) are rare

पूर्वकाल में दोनों लोक में कल्याणकारी कथन के कहने वाले वक्ता तथा उसे सुनने वाले श्रोता सरलता से प्राप्त हो जाते थे, उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाले दुर्लभ थे; किन्तु आजकल कल्याणकारी बात या कथन करने वाले तथा उसे सुनने वाले दुर्लभ हैं।

आचार्य कामना रहित कार्य की प्रेरणा करते हुए कहते हैं:—

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो ।
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम् ।
छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः ।
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम् ॥१८९॥[1]

अरे! तूने संपूर्ण शास्त्रों का अभ्यास तो किया और बहुत काल तक घोर तप भी किया परंतु यदि तू उन दोनों का फल विषय सुख का लाभ तथा लोक प्रतिष्ठादिक को चाहे, तो तेरा हृदय तत्वज्ञान से वंचित रहा। तू उस सुन्दर तप वृक्ष के कच्चे फूलों की कलियों को तोड़ डालता है, ऐसा करने से तुझे इसके सुमधुर, रस भरे, तथा पक्व फलों की उपलब्धि कैसे होगी?

जो व्यक्ति कठोर तपश्चर्या नहीं कर सकता है, उसके हितार्थ सुगम मार्ग बताते हैं:—

करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान् ।
चित्त-साध्यान् कषायारीन् जयेद्यत्तदज्ञता ॥२१२॥[2]

अरे भाई! यदि तुममें तपश्चर्या के क्लेश सहन करने की क्षमता नहीं है, तो घोर तप मत करो, किन्तु यदि तुमने चित्त के वश करने से जीते जाने योग्य कषाय रूपी शत्रुओं पर विजय नहीं प्राप्त की, तो यह तुम्हारी अज्ञानता है।

---

१ Having studied all the scriptures and having undergone severe austerities, if thou, as their fruit, wishest weath, respect, etc., in this very world, then, *O devoid of discrimination*, thou takest away the very flower of the beautiful tree of austerity. How canst thou have its juicy ripe fruit?

२ *(If) you cannot bear hardships, do not practise long,* rigorous austerities. It is thy ignorance that thou dost not *conquer the enemies, passions, which can be subjugated by* (control of) mind.

सच्चा योगी कौन है, यह बताते हैं:-

यस्य पुण्य च पाप च निष्फल गलति स्वयम ।
सयोगी तस्य निर्वाण न तस्य पुनरास्रवः ॥२४६॥[1]

आत्मनः जिस आत्मा के पूर्व सचित पुण्य तथा पाप बिना फल दिए हुए गल जाते हैं वही योगी है। उसके ही निर्वाण का लाभ होता है। ऐसे योगी को नवीन कर्मों का संचय नही होता है।

इन कतिपय पद्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुणभद्र स्वामी की शैली रोचक, मार्मिक, स्वाभाविक तथा उज्वल भावनाओ को सप्राण बनाती है। बाल्यकाल का सस्कार जीवन पर महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि आज जो 'चारित्र चक्रवर्ती' आचार्य शान्तिसागर महाराज के जीवन मे सयम का सौरभ विद्यमान है, उसका अन्यतम कारण आत्मानुशासन का अन्तःकरण पूर्वक अनुशीलन रहा है। आत्मानुशासन का रस पान करते करते आचार्य श्री का जीवन ही तन्मय हो गया है। जीव का सच्चा हित इद्रियो की दासता का परित्याग कर आत्मानुशासन में प्रदर्शित पथानुसरण में है।

---

१ He, whose merit and demerit (Karmas) exhaust themselves without bearing fruit is a (true) ascetic. He will never have the Karmic inflow, and will attain liberation.

समयसार-दर्शन

आत्मानुशासन के सिवाय आचार्य श्री का अत्यन्त प्रिय ग्रंथ समय-सार रहा है। इसके द्वारा आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझ में आता है।

आध्यात्मिक रसायन

आत्मानुशासन के द्वारा नीरोगता प्राप्त आत्मा समय-सार रूप रसायन का यथाविधि ग्रहण कर सिद्धि का शाश्वतिक अधिष्ठता हो जाता है। पुद्गल के अनुशासन में रहनेवाला मूर्छित जीव इस समयसार से प्राय उच्छृखल बनने की सामग्री प्राप्त करता है, अत आत्मा को सयम द्वारा परिपुष्ट बनाने वाला सुवाग्र समलङ्कृत सुधी सचमुच में समयसार सुधा के स्वाद से सिद्ध स्वरूप की समुपलब्धि निमित्त समर्थ उद्योग करता है और अपने प्रशस्त प्रयास में अनवरत अभिवृद्धि करता है। यवन की विभीषिका से बचा कल्पान्त स्थायी कल्याण को प्राप्त कराने की अपूर्व कला इस समयसार की समा-राधना से प्राप्त होती है।

इस समयसार में उस आत्म-तत्व की शुद्ध परिणतिका विवेचन किया गया है, जिससे बहिरात्मा अत्यन्त अपरिचित है। वह तो देह और देह को अनुकूल लगनेवाली पदार्थ-मालिका तक ही अपना सीमितहित विचारता है। आत्मा ही अक्षय कल्याण का सिन्धु है, यह वह नही जानता है। समस्त शास्त्रों के शिक्षण का प्रयोजन यही है, कि जीव का मानस विमल बन जाय, और यह रत्नत्रय की प्राप्ति के प्रयत्न मे उत्तीर्ण हो।

मोह और ममता के पक में निमग्न मानव उस आत्म-दृष्टि को कैसे प्राप्त कर सकता है? अनात्मवाद की दल दल में फसा हुआ यत्र-तत्र का अवलबन लेने वाला भौतिक विज्ञान उस आत्म प्रकाश तक नही पहुच सका, कारण पुद्गल तक पहुचनेवाले साधनो द्वारा आत्मत्व की उपलब्धि असभव है। उस इद्रिय, मन आदि की पहुँच के परे आत्मा-का निरूपण करना अलौकिक कार्य है। आत्मा की सामान्य चर्चा करना सरल है। (know thyself) 'अपनी आत्मा को जानो' यह उपदेश जरा भी कठिन नहीं है, किन्तु अपने को कैसे जाना जाय, और कैसे पहिचाना जाय, इस विषय में महर्षि कुदकुद की समयसार के रूप में विश्व को अप्रतिम देन है। इसी से भगवान महावीर, गणधर गौतम के

आत्मतत्व का परिचय कराने वाली अप्रतिम रचना

पुण्य नाम—स्मरण के साथ समयसार की अमृतनिधि देने वाले महर्षि कुंदकुंद का जैन परम्परा में स्मरण किया जाता है:—

मंगल भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मगलं कुंद कुन्दायो जैनधर्मोस्तु मंगलम् ।।

ये प्रथम शताब्दी के विद्वान माने जाते हैं । समयसार में ४१५ गाथा (पद्य) हैं । भाषा प्रांजल प्राकृत है । विषय-निरूपण-पद्धति सरल, सुस्पष्ट तथा प्रसाद गुण पूर्ण है । समय शब्द आत्मा का वाचक है । समय सार का भाव है परिशुद्ध आत्मा । उपनिषद की भाषा में इसे परब्रम्ह कहेंगे । पराविद्या के परिपूर्ण अभ्यास के लिए समयसार अप्रतिम ग्रंथ है ।

इस ग्रंथ के हृदय को समझने के लिए जैनवाङ्मय की नय व्यवस्था का सम्यक परिशीलन आवश्यक है । इसके अभ्यास के लिए उच्च-नैतिक विकास भी अत्यन्त आवश्यक है ।

समयसार के स्वरूप को स्पष्ट करने वाली अमृतचंद्र सूरि की अमर कृति आत्म-ख्याति टीका है । वेदांत के पंडित शंकराचार्य, कुंदकुंद की रचना तथा अमृतचंद्र सूरि की टीका से परिचित थे । प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती ने अपनी समयसार की विद्वत्तापूर्ण अंग्रेजी टीका की भूमिका में लिखा है, कि शंकराचार्य अमृतचन्द्र सूरि से प्रभावित थे ।[1]

---

[1] "We mentioned above that Sankara was aquainted with Sri Kunda Kunda and Amritachandra. We refer to this fact in connection with Sankara's distinction between the Vyavaharic and Paramarthik point of view. We have here to mention the fact, the doctrine of Adhyasa is also peculiar to Sankara. Adhyasa is the technical term he used to denote the confusion between Self and non-Self, a confusion due to Avidya or Ajnana. This term Adhyasa is not found in any of the philosophical writings prior to Sankara. Probably Sankara took a hint from Amritachandra who freely uses this concept in his commentary calld Atmakhyati on Sir Kunda Kunda' Samayasara.This suggestion is made because Sankara himself speaks on one occasion that he is influenced by one Dravida Acharya. Probably this refers to Amritchandra--the great commentator on Samayasara."

Samayasara - Introduction pages clx-clxi

आत्मतत्व पर सुस्पष्ट सुव्यवस्थित तथा तर्क-संगत प्रकाश डालने वाले समयसार को भारतीय ही नही, विश्व भारती का अप्रतिम रत्न मानना होगा।

इस ग्रंथ की महत्ता पर जस्टिस राव० व० जे० एल० जैनी एम. ए०, एम० आर० ए० स०, वार एटला, प्रेसीडेंट लेजिसलेटिव कौंसिल इंदौर ने बड़े मार्मिक शब्द अपने समयसार के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में लिखे है।"[१]

आचार्य कुंद कुंद इस भ्रम का निराकरण करते हैं, कि जीव को भोग क्यों सुलभ मालूम पड़ते हैं और आत्मा की ओर प्रवृत्ति करना क्यों कठिन प्रतीत होता है ?

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वि-काम-भोग-बध-कहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो-विहृत्तस्स ॥ ४ ॥[२]

---

१ "Samayasara is fully the one idea of one concentrated divine unity. This is the only one idea, which counts. All Truth, Goodness, Beauty, Reality, Morality, Freedom is in this. The Self and it alone is true, good, lovely, real moral. The non-Self is error, myth, mithyatva, ugly, deluding, detracter from & obscurer of reality, immoral, worthy of shunning & renunciation as bondage & as anti-liberation.

This Almighty, all-comprehensive claim of Self-Absorption must be perfectly & Completely grasped for any measure of success in understanding Shri Kunda-Kunda Acharya's works, indeed for the true understanding of Jainism.

Sva-Samaya or Self-Absorption is the key-note, the purpose, the lesson, the object, the good and the centre of Shri-Kunda-Kunda's all works & teachings. The Pure, All-conscious, Self-absorbed Soul is God and never less or more. Any connection Causeal or Effectual with the non-Self is a delusion limitation, Imperfection, bondage."

२ The proposition that all living beings are characterised by desire for worldly things, enjoyment of the same And consequential bondge has been heard, observed and personally experienced by all. But the realisation of the unity of the

काम भोग तथा वध की कथा सब जीवो के सुनने में, परिचय में तथा अनुभव में आई है इसलिए वह सुलभ प्रतीत होती है, किन्तु केवल भिन्न आत्मा के एकत्व की कथा न कभी सुनने में, परिचय में तथा अनुभव में आई, इसलिए यह कठिन प्रतीत होती है।

इस गाथा की टीका में प्रोफेसर चक्रवर्ती लिखते है, 'यही कारण है कि उपनिषद् के ज्ञाता स्पष्ट रूप से कहते है, कि आत्मा का वर्णन निषेधात्मक गुणो से हो सकता है। हम इसे नेति, नेति, 'इस प्रकार नही,' 'इस प्रकार नही' इस रूप से कह सकते है। यही कारण है कि गौतम बुद्ध उस समय चुप हो गए, जब उनके शिष्यो ने आत्मा के विषय में प्रश्न किया था। इसी कारण ईसाई धर्म के सस्थापक ने यह कथन किया है, कि ईश्वर के साम्राज्य को प्राप्त कराने वाला मार्ग अत्यन्त सकीर्ण तथा बिल्कुल सीधा है। यहा सत्य इस गाथा में ग्रथकार ने बताया है। उनने अज्ञेयवाद के सरल मार्ग, कि अतिम सत्य पूर्णतया अज्ञेय है, के स्थान में इतना कहा है, कि इसे जानना अत्यन्त कठिन है।"

तात्त्विक दृष्टि से आत्मा का स्वभाव ज्ञायकपना है, यह बताते है

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दसण णाण ।
ण वि णाण ण चरित्तं दसण जाणगो सुद्धो ॥७॥'

व्यवहार नय की अपेक्षा सम्यक्ज्ञानी जीव के दर्शन, ज्ञान, चारित्र कहे गए है। निश्चय दृष्टि से उसके न ज्ञान है, न दर्शन, और न चारित्र

Higher Self which is free from all such empirical conditions, by our own personal experience, is not easy of achievement

That is why the Upanishadic thinker frankly states that it can be described only by negative attributes. We can only speak of it as Neti Neti, not this, not this That is exactly why Gautama Buddha kept silent whenever he was asked by his disciples to give some information about the Self or Atma Again, that is exactly the reason why the founder of Christianity always emphasised that the Path leading to the kingdom of God is extremely narrow and steep It is this very same truth that is communicated to us by our author in this gatha Instead of taking refuge in a cheap agnosticism that the Ultimate Reality is unknowable he merely states that it is extremely difficult to apprehend.

है, किन्तु वह ज्ञायक स्वभाव है ।

निश्चय दृष्टि यदि परमार्थ है, तब व्यवहार पद्धति को क्यों अपनाया गया है, यह कहते हैं:–

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा उ गाहेउ ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसण मसक्क ॥८॥[1]

जैसे म्लेच्छ जनों को म्लेच्छ भाषा का अवलंबन बिना लिए कुछ भी नहीं बताया जा सकता है, इसी प्रकार व्यवहार नय के बिना परमार्थ का प्रतिपादन करना अशक्य है ।

जो यह सोचते हैं 'स्वाश्रितो निश्चय,:–आत्माश्रित निश्चय नय है, तब पर का आश्रय लेकर वस्तु स्वरूप को बताने वाले अपरमार्थरूप व्यवहार का आश्रय नहीं लेना चाहिए, उनके संदेह का निवारण करते हुए आगम में कहा है:–

जइ जिणमयं पढिज्जह तो मा विवहार णिच्छय मुंच ।
एगेण विणाछिज्जइ तित्थ, अण्णेण तच्च च ॥

जो तू जिनमत का पठन करना चाहता है,. तो व्यवहार–निश्चय का परित्याग मतकर । व्यवहार दृष्टि के बिना तीर्थ–अनेकांत शासन का प्रतिपादन के अभाव वश लोप होगा तथा निश्चय दृष्टि के बिना तत्व का–परमार्थ सत्य पदार्थ स्वरूप का लोप होगा ।

एकान्त पक्षका निषेध करते हुए पं. टोडरमलजी ने लिखा है:–

कोऊ निश्चय नय से आतमा को शुद्ध मान, भये हैं स्वछन्द न पिछानें निज शुद्धता ।
कोऊ व्यवहार दान शील तप भाव को ही, आतम को हित जान छाड तन मुद्धता ॥
कोऊ व्यवहार नय निश्चय के मारग को, भिन्न भिन्न पहिचान करे निज उद्धता
जब जाने निश्चय के भेद व्यवहार सब, कारण है उपचार मानें तब बुद्धता ॥

यहा समयसार में शुद्ध निश्चय दृष्टि की अपेक्षा प्रतिपादन किया है, अतः व्यवहार कथन गौण हो गया है । गौण कथन को लोपरूप जानना मिथ्या है । सम्यक्नय भिन्न दृष्टि को गौण करता है और कुनय दूसरी

[1] Just as a non-Aryan (foreigner) cannot be made to understand anything except through the medium of his non-Aryan language, so the knowledge of the Absolute cannot be communicated to the ordinary people except through the Vyavahara point of view.

दृष्टि का लोप करता है। जब ग्रंथ का नाम समयसार–'शुद्ध आत्मा है,' तब यह स्पष्ट हो जाता है कि यहा व्यवहार दृष्टि की अपेक्षा प्रतिपादन करना ग्रंथ का लक्ष्य नही है।

शुद्ध दृष्टि से आत्मा को बताते हैं–

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणय वियाणीहि ॥ १४ ॥[1]

जो दृष्टि आत्मा को बंध रहित, पर के स्पर्श रहित, अन्यपने से रहित, नियत अर्थात् अवस्थित, विशेष अर्थात् भेद रहित, असंयुक्त अर्थात् कर्मोपाधि रहित जानती है, वह शुद्धनय है।

शुद्धनय आत्मा को कमल पत्र पर स्थित जलबिंदु के समान अबद्ध अस्पृष्ट जानता है, नर, नारकादि पर्यायो में उनसे भिन्न रूप चैतन्यरूप जानता है, तरंगयुक्त अथवा तरंग रहित स्थिति में भी समुद्र की भांति अवस्थित, अविशेष अर्थात् ज्ञानदर्शनादिभेद रहित, असयुक्त अर्थात् रागादि विकल्प रूप भाव कर्म रहित जानता है। यदि यह कथन एकान्त रूप से मान लिया जाय, तो जीव, साधन रूप व्यवहार रत्नत्रय से पराङ्मुख हो जायगा; ऐसी स्थिति में उसे शुद्ध दृष्टि की उपलब्धि नहीं होगी।

प० आशाधर जी ने अनगार धर्मामृत में लिखा है– 'जो जीव व्यवहार से विमुख हो निश्चय को प्राप्त करना चाहता है, वह बिना बीज के धान्य को प्राप्त करने की आकाक्षा करता है।'

आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप है, यह कहते हैं:–

दंसण-णाण-चरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥[2]

साधु को दर्शन, ज्ञान, चरित्र की व्यवहार नय से नित्य आराधना करना चाहिये। वे तीनों ही निश्चय दृष्टि से आत्मा है।

---

१ He, who perceives the Atman as not bound, not touched not other than itself; steady, without any difference and not combined, know ye him, as Sudha-naya or the pure point of view.

२ Faith, Knowledge, and Conduct should always be cherished by saints form the Vyavahara point of view. Know that, in reality, these are the Self.

अज्ञानी आत्मा का स्वरूप कहते हैः-

कम्मे णोकम्महि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।

जा एसा खलु बुद्धी अ पडिबुद्धो हवदि ताव ॥१९॥[1]

जब तक आत्मा की ज्ञानावरणादि कर्मों में तथा शरीर आदि नो कर्म में 'मैं कर्म, नोकर्म रूप हूँ' और 'कर्म, नोकर्म मेरे हैं' इस प्रकार की बुद्धि है, तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी बहिरात्मा स्वसंवित्ति शून्य कहा जाता है।

जितेन्द्रिय आत्मा का स्वरूप कहते हैं -

जो इंदियें जिणत्ता णाण सहावाधिअ मुणदि आद।

त खलु जिदिंदिय ते भणति जे णिच्छिदा साहू ॥३१॥[2]

जो इंद्रियों को जीतकर ज्ञान स्वभाव कर अधिक अर्थात् अन्य द्रव्यों की अपेक्षा आत्मा के विशिष्ट ज्ञान स्वभाव सहित आत्मा को जानता है, उसे निश्चय नय में स्थित साधु जितेन्द्रिय कहते हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा का स्वभाव ज्ञानरूप है।

आत्मा ज्ञान-दर्शनोपयोग-युक्त है यह कहते हैंः-

अहमिक्को खलु सुद्धो दसणणाण मइओ सदा रूवी।

णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्ण परमाणुमित्तपि ॥३८॥[3]

मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान-दर्शन स्वरूप हू, निश्चय नय से सदा अरूपी हू (निश्चयनयेन रूप-रस-गंध-स्पर्शाभावात्सदाप्यमूर्तं)। परमाणु मात्र भी पर द्रव्य-मेरा कुछ नहीं लगता है।

---

१ The Karmic matter and non-karmic body matter constitute the I and (conversely) I am identical with Karmic matter and non karmic matter So long as this belief persists in the Self, it is said to be aprati-buddha, one lacking in discriminative knowledge

२ He who, subjugating the senses, realises that the self is of the nature of real knowledge is verily calld a Conqueror of the sences by the saints, who know reality

३ Absolutely pure, havinge the nature of perception and knowledge, always non corporeal, I am indeed unique Hence not even an atom of alien things whatsoever (whether living or non-living) is related to me as mine

जीव का स्वरूप कहते हैं :–

अरसमरूवमगंध अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥४९॥[१]

हे भव्य ! जीव को रस रहित, रूप रहित, गंध रहित, अव्यक्त अर्थात् इंद्रियों के अगोचर, चेतना गुण सहित, अलिंग–ग्रहण अर्थात् किसी चिन्ह द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता है, तथा अनिर्दिष्ट संस्थान–जिसका आकार विशिष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता है, ऐसा जान । व्यवहार नय से जीव के वर्णादि का वर्णन जिनेन्द्र देव ने किया है, उसे दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं :–

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो णय पंथो मुस्सदे कोई ॥५८॥[२]
तहजीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥५९॥[३]

जैसे मार्ग में चलते हुए व्यक्ति को लुटा हुआ देखकर व्यवहारी जन कहते हैं, यह मार्ग लुटता है, परमार्थ से कोई मार्ग नहीं लुटता है, उसी तरह जीव में कर्मों तथा नो कर्मों का वर्ण देखकर यह जीव का वर्ण है, ऐसा व्यवहार नय से जिन भगवान ने कहा है:–

गंध- रस-फासरूवा देहो संठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छय दृण्हू ववदिसंति ॥६०॥[४]

---

१ Know ye that the pure Self is withont taste, colour without smell, imperceptible to touch, without sound, nor an object of anumana or inferential knowledge, without any definite bodily shape, and is characterised by chetana (consciousness).

२ Seeing some one robbed on a road, ordinary people adopting the Vyavahara point of view, say "this road is robbed," but really what is robbed is not the road.

३ Similarly, perceiving the colour which belongs to the material entities of Karma and non Karma, which are found in association with Jiva, the all-knowing Jina describes it from the Vyavahara point of view, as the quality of the soul.

४ Thus are smell, taste, touch, figure, etc., predicated (of the soul) from the Vyavahara point of view by the All-knowing.

इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, देह संस्थानादिक सब व्यवहार से है, ऐसा निश्चय नय के ज्ञाता कहते हैं ।

इस प्रकार के उभयरूप प्रतिपादन का हेतु बताते हैं –

तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी ।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ कई ॥६१॥[1]

वर्ण आदिक संसार में विद्यमान जीव के संसार में होते हैं । संसार से मुक्त जीवों के वर्णादिक नहीं पाए जाते हैं ।

इससे यह सिद्ध हो जाता है, कि वर्णादि का जीव के साथ तादात्म्य सबन्ध नहीं है । यदि तादात्म्य सम्बन्ध होता, तो मुक्तावस्था में ज्ञानादिक के समान वर्णादिक भी पाए जाते । ज्ञानी आत्मा विचारता है –

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।
तम्हि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खयणेमि ॥७३॥[2]

निश्चय से मैं एक हू, शुद्ध हू, ममता रहित हू ज्ञानदर्शन कर पूर्ण हूँ, ऐसे स्वभाव में रहता हुआ मैं क्रोधादि के आस्रव को क्षय करता हू ।

कर्मों के आस्रव के दोष बताते हैं"

जीवणिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणाय ।
दुक्खा दुक्ख फलाणि य णादूण णिवत्तदे तेहिं ॥७४॥[3]

---

१ So long as Jivas have embodied existence in the world of Samsara, attributes of colour etc, are present in them The moment they liberate themselves from the Samsaric bondage, these characteristics such as colour, etc, have absolutely no relation to them

२ I am really one, pure, without the sense of ownership or "mine-ness" and full of complete knowledge and perception Firmly resting in the true conciousness of such a Self, I shall lead all these Asravas such as anger, etc, to destruction

३ Knowing them, bound as they are to the soul, to be impermanent, evanescent, unprotected and misery in their nature and also to be misery as their fruit in future (the self) abstains from them

मे आस्रव है, वे जीव के साथ निबद्ध है, 'अध्रुव है, अनित्य है, अशरण है, दुःखरूप है, दुःख-फल वाले है, ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष उनसे निवृत्ति करता है।

परमार्थ दृष्टि से आत्मा ज्ञाता है। यही बात कहते हैः-

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेई एय मादा जो जाणदि सो हवदि णाणा ॥७५॥[1]

जो जीव कर्म के तथा जो कर्म के परिणमन को नही करता है, किन्तु उनको जानता है, वह ज्ञानी है।

यहा जीव को कर्म बंध के उपादान कारण का निषेध किया गया है, कारण भिन्न द्रव्यों में उपादान-उपादेयभाव नही पाया जाता है। प्रमेय कमल मार्तण्ड में लिखा है "ययोः परस्परमुपादानो पादेयभाव स्तौ न तत्त्वान्तरत्वात्तरम्"-जिनमें परस्पर में उपादान उपादेय भाव होता है, वे एक ही तत्व है, दो तत्व नही है।" "मृत्तिका रूप उपादान कारण घट कार्य रूप परिणत हो जाती है। कुंभकार, चक्र आदि निमित्त कारण है, क्योंकि वे स्वयं कार्य रूप-घट रूप परिणत नही होते है। यदि कर्म का उपादान कारण जीव माना जाय तो जीव और पुद्गल ये दो तत्व न रह कर एक ही द्रव्य हो जायगा। इस कारण निश्चय दृष्टि से जीव को ज्ञाता कहा है। इस निश्चय विचार-धारा में निमित्त कारण पर दृष्टि नही दे, उपादान कारण को लक्ष्यगोचर करते हुए प्रतिपादन किया गया है। व्यवहारनय निमित्त कारण की अपेक्षा जीव को कर्म बंध का कर्ता कहता है। कार्य की उत्पत्ति मे उपादान कारण के समान निमित्त कारण की भी आवश्य कता पडती है। अतः सम्यग्ज्ञानी दोनों दृष्टियों की अपेक्षा निमित्त-उपादान का गौण मुख्य रूप से प्रतिपादन करता है। एक पक्ष का एकान्त रूप से ग्रहण करने पर सत्य तत्व का लोप होता है।

जीव और कर्म में निमित्त-नैमित्तिक पना है, यह स्पष्ट करते हैः-

जीव परिणाम हेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमंति।
पुग्गल-कम्म-णिमित्त तहेव जीवो विपरिणमइ ॥८०[2]

---

[1] The Self does not produce any modifications in Karmic matter nor is the non-Karmic matter. He who realises this is the real knower.

[2] As conditioned by the modifications of Jiva, the material particles get modified into Karmas. Similarly, conditioned by the Karmic materials, Jiva also undergoes modifications.

जीव के परिणाम रूप निमित्त कारण से पुद्गलो का कर्म रूप परिणमन होता है। इसी प्रकार पौद्गलिक कर्म के निमित्त से जीवो के भावो में भी विकृति आती है।

ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे।
अण्णाण्ण णिमित्तेण दु परिणाम जाण दोण्ह पि ॥८१॥[१]

यद्यपि जीव और कर्म का परस्पर में निमित्त रूप परिणमन होता है, तथापि निश्चय से जीव कर्म के वर्णादि रूप गुणो को नही करता है और कर्म भी उसी प्रकार जीव के ज्ञानादि गुणो को नही करता है तथापि एक दूसरे के लिए निमित्त से दोनो का परिणमन जानना चाहिए।

एदेण कारणेण दु आदा कत्ता सएण भावेण।
पोग्गलकम्मकदाण ण दु कत्ता सव्वभावाण ॥ ८२॥[२]

इसी कारण अपने भावो कर आत्मा कर्त्ता कहा जाता है, परतु पुद्गल कर्म कृत सर्व भावो का कर्त्ता नही है।

इस सापेक्ष कथन को भूलकर कोई आत्मा को सर्वथा अकर्ता मानकर सिद्ध समान सोचते है। उनके सदेह निवारणार्थ प टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में लिखा है—"कोई जीव निश्चय को न जानते निश्चयाभास के श्रद्धानी होइ आपको मोक्षमार्गी माने है, अपने आपको सिद्ध समान अनुभवै है। सो आप प्रत्यक्ष ससारी है। भ्रमकरि आपको सिद्ध मानै सोई मिथ्या दृष्टी है। शास्त्रनि विषै जो सिद्ध समान आत्मा को कहा है, सो द्रव्य दृष्टि कर कहा है, पर्याय अपेक्षा समान नाही है। जैसे राजा अर रंक मनुष्यपने की अपेक्षा समान है, राजापना रंकपना की अपेक्षा तो समान नाही तैसे सिद्ध अर ससारी जीवत्वपने की अपेक्षा समान है, सिद्धपना ससारीपना की अपेक्षा तौ समान नाही। यहु जैसे सिद्ध शुद्ध है, तैसे ही आपको शुद्ध मानै। सो शुद्ध अशुद्ध अवस्था पर्याय है। इस पर्याय अपेक्षा समानता मानिये सो यहु मिथ्या दृष्टि है। बहुरि आपकै केवल

१ Jiva does not produce changes in the qualities of Karma nor does Karma similarly in the qualities of Jiva The modifications of those two, know ye, are the results of one conditioning the other as Nimitta karana or instrumental cause

२ For this very reason the Self is the substantial cause of his own modifications (both pure and impure), but is not the substantial cause of any of the modifications of Karmic matter.

ज्ञानादिक का सदभाव मानैं ।

सो आपके तौ क्षयोपक्षम रुप मति श्रुतादि ज्ञान का सदभाव है। क्षायिक भाव तौ कर्म का क्षय भए होइ है । सो यहु मिथ्या दृष्टी है । शास्त्र विषै सर्व जीवनि का केवल-ज्ञान स्वभाव कह्या है, सो शक्ति अपेक्षा कह्या है सर्व जीवनि विषै केवल ज्ञानादि रुप होने की शक्ति है । वर्तमान व्यक्तता तौ व्यक्त भए ही कहिए । (पृ २८४, अधिकार ७-जैन मिथ्यादृष्टि विवेचन)

जा रागादि विकार रहित अपनी आतमा को मानते हैं, उनको समझाते हुए प० टोडर मल जी पूछते हैं -

'ए रागादिक तौ होते देखिए है, ए किस द्रव्य के अस्तित्व विषै है ? जो शरीर वा कर्म रूप पुद्गल के अस्तित्व विषै होय, तो ये भाव अचेतन वा मूर्तीक कहो । सो तौ ए रागादिक प्रत्यक्ष चेतनता लिए अमूर्तीक भाव भासै ह । तातैं ये भाव आतमा ही कहैं ॥ "जो रागादिक भावनि का निमित्त कर्म ही को मानि आपको रागादिक का अकर्ता मानै है, सो कर्ता तो आप अर आपको निरुद्यमी होय प्रमादी रहना, तातैं कर्म काही दोष ठहरावे है, सो यह दुखदायक भ्रम है । सोई समयसार-कलशा विषै कह्या है -

रागजन्मनि निमित्तता परद्रव्यमेव, कलयति ये तु ते ।
उत्तरति नहि मोहवाहिनी शुद्धवोध-विधुरान्धवुद्धय ॥
(सर्वविशु २८)

जे जीव रागादिक की उत्पत्ति विषै पर द्रव्य ही का निमित्त पनो मानै हैं, ते जीव भी शुद्ध ज्ञान करि रहित है अध वुद्धि जिनकी ऐसे होतै सतै मोह नदी को नहीं उतरै है ।

जो रागादिक अपने न जानै, आपको अकर्ता माया, तब रागादिक होने का भय रह्या नाही, वा रागादिक मेटने का उपाय करना रह्या नाही, तब स्वच्छन्द होय खाटे कर्म बाधि अनत ससार विषै रुलै है ।"

इस प्रसग में एक मार्मिक शका उत्पन्न होती है कि आगम में लिखा है कि वर्णादिक तथा रागादिक भाव आत्मा से भिन्न है-"वर्णाद्या वा रागमोहादयोवा भिन्ना भावा सर्वे एवास्य पुस ।"(जीवा-जीवा ५) अतएव आत्मा को रागादि रहित मानना कैसे अनुचित होगा ? अविरोधी कथन किस प्रकार सिद्ध होगा ? इसका समाधान इस प्रकार करते हैं - रागादिक भाव पर द्रव्य के निमित्त तें औपाधिक भाव हा हैं ।

सोवण्णियम्हि णियलं बंधदि कालायस च जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुह वा कद कम्मं ॥१४६॥[१]

जैसे लोहे की बेडी पुरुष को बाधती है उसी प्रकार सुवर्ण की बेड़ी भी बाधती है। इसी प्रकार किया हुआ शुभ-अशुभ कर्म जीव को बाधता है।

बंध का कारण रागभाव है तथा वैराग्य से बंध छूटता है यह कहते हैं:-

रत्तो बधदि कम्मं मुचदि जीवो विराग संपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५० ॥[२]

रागी जीव कर्मों को बाधता है, वैराग्य सपन्न जीव कर्म से छुटकारा पाता है; यह जिन भगवान का उपदेश है; अतः कर्मों में राग भाव को छोडो ।

ज्ञानी जीव के भी बध होता है, यह बताते हैं -

जह्माद् जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।
अण्णत्तं णाण गुणो तेण दु सो बधगो भणिदो ॥१७१ ॥[३]

जिस कारण ज्ञान गुण पुनः भी जघन्य ज्ञान गुण से अन्यरूप परिणमन करता है, इसी कारण वह ज्ञान गुण कर्म का बंधक कहा गया है ।

इस विषयमे टीकाकारका कथन है कि यथा ख्यात चारित्र के पूर्व में ज्ञान गुण सकषाय होने से हीन रूप परिणमन करता है । वह अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल पर्यन्त निर्विकल्प समाधि में नही रहता है । उससे अन्यरूप अर्थात सविकल्प रूप पर्यायान्तर को ज्ञानगुण प्राप्त करता है। इस सविकल्प कषाय भावसे वह ज्ञानगुण बंधक है। अमृतचंद्र सूरि का कथन है "स तु यथाख्यात-चारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यभाविरागसद्भावात् बधहेतुरेव स्यात्" (पृ०२४५)- वह ज्ञान-

---

१ A shackle made of gold is as one made of iron for the purpose of chaining a man. Similarly Karma whether good or bad equally binds the jiva.

The self with attachment gets bound by Karmas but the one with detachment remains free from Karamas. So has the Jina been declared, therefore do not evince attraction towards Karamas.

३ When the Self's cognitive quality is at its lowest stage it is liable to alternative alien modifications whether good or bad. Therefore in either case the Self is called the builder of Karmas.

गुण यथाख्यात चारित्र रूप अवस्था के नीचे नियम से राग भाव के सद्भाव युक्त होने से बंध का कारण कहा गया है। यह कथन पूर्णतया उचित है। बंध का कारण रागभाव कहा गया है। जिस गुणस्थान पर्यन्त रागभाव होगा, वहां तक बंध मानना होगा। गुणस्थान के आरोहण होने से जितने जितने अंश में रागभाव न्यून होता जाता है उतने उतने अंश मे बंध का भी अभाव होता है। यथाख्यात चारित्र जब तक नही होता है, तब तक रागकृत बंध नियम से होता है। रागभाव के अभाव होने से ही यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति होती है। इसलिए सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान मे सूक्ष्म लोभरूप कषाय होने से बंध होता है। महान ज्ञानी होते हुए भी पर पदार्थ में सूक्ष्म राग का सद्भाव आत्म बोध का बाधक है, यह कहते हैं—

परमाणु मित्तय पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि ॥२०१॥[1]

निश्चय नय की अपेक्षा जिस जीव के अल्पतम परिणाम में भी पर पदार्थ में राग भाव है, वह सर्व शास्त्र पारगत होते हुए भी आत्मा को नही जानता है।

पर द्रव्य का कैसा भी परिणमन हो जाय, वह आत्म स्वरूप नहीं हो सकता है, यह कहते हैं—

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ ॥२०९॥[2]

ज्ञानी आत्मा विचारता है परद्रव्य छिद जाय न भिद जाय, वा कोई ले जाय वा नष्ट हो जाय, वा जिस तिस प्रकार से चला जाय, तो भी निश्चय कर पर द्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है।

ज्ञानी कर्म रूपी रज से लिप्त नही होता है, किन्तु अज्ञानी कर्म रज से लिप्त होता है, यह समझाते हैं —

---

१ Verily one in whom attachment etc., even to the extent of an atom, is present, cannot know the Self, even if one be a master of all scriptures.

२ It may be cut, it may be split, it may be dragged or it may be destroyed, whatever manner of deformity it undergoes, even then it (the body or any other external object) does not concern me, as it is not really mine.

णाणी रागप्पजहो सव्व दव्वेसु कम्म मज्झ गदो ।
णो लिप्पदि कम्म रएण दु कद्दम मज्झे जहा कणय ॥२१८॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्व दव्वेसु कम्म मज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दम मज्झे जहा लोह ॥२१९॥[1]

ज्ञानी सब द्रव्यो में राग का छोडने वाला है, वह कर्म के मध्य में रहते हुए भी कर्म रज से लिप्त नही होता है, जैसे कीचड के मध्य में पडा हुआ सुवर्ण, तथा अज्ञानी सब द्रव्यों में रागी है, इससे कर्म के मध्य को प्राप्त होता कर्म रजकर लिप्त होता है, जैसे कीचड में पडा हुआ लोहा ।

वध का कारण क्या है इस विषय को बताते हैं.—

अज्झवसिदेण बधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ ।
ऐसा बध समासो जीवाण णिच्छय-णयस्स ॥२६२॥[2]

निश्चय नय का कथन है कि जीवो को मारो अथवा न मारो, अध्यवसाय (अभिप्राय) से बध होना है, यह बध का सक्षेप में कथन है ।

यद्यपि अध्यवसाय द्वारा बध होता है, किन्तु अध्यवसाय म वस्तु अवलबन रूप पडती है यह बताते हैं —

वत्थु पडुच्च ज पुण अज्झवसाण तु होई जीवाण ।
णय वत्थुदो दु बधो अज्झवसाणेण बधात्ति ॥२६५॥[3]

---

१ Just as gold in the midst of mire remains uncontaminated because of its non adhesive property, so also the enlightened one, because of his complete non-attachment to the environment remains unaffected even when immersed in a cloud of Karamas, whereas the unenlightened one because of his attachment to external objects gets effected when in the midst of Karamas, just as a piece of iron gets contaminated when dipped in mire because of its adhesive property.

२ The will to kill is enough to bring bondage irrespective of the fact whether animals are killed or are not killed From the real point of view, this in short is the mode of bondage in the case of Jivas (or empirical Selves)

३ Thought in an empirical Self is always conditioned by an object in the external world Nevertheless it is not that external object that is the cause of bondage It's by thought that bondage is caused

जीवो के वस्तु के अवलबन से अध्यवसान होता है। वस्तु से बध नही है किन्तु अध्यवसान से बध होता है।

"यदि वस्तु से बध नहीं होता है, तो बाह्य वस्तु का किस लिए प्रतिषेध होता है ?

अध्यवसान के निषेध के लिए बाह्य वस्तु का त्याग कराया जाता है, क्यो कि बाह्य वस्तु अध्यवसान का आश्रयभूत है। बाह्य वस्तु के आश्रय विना अध्यवसान नही होता है। यदि बाह्य वस्तु के बिना आश्रय के अध्यवसान हो जाय, तो जैसे वीर माता के पुत्र के सद्भाव होने पर वीर माता के पुत्र को मैं मारता हूँ, इस प्रकार का अध्यवसाय होता है, इसी प्रकार वध्या पुत्र रूप आश्रय के अभाव में वध्या पुत्र को मैं मारता हूँ ऐसा अध्यवसाय होना चाहिए, किन्तु ऐसा नही होता है। इसलिए अध्यवसाय निराश्रय नही होता है यह नियम है।

इसी कारण अध्यवसान का आश्रय भूत बाह्य वस्तु का अत्यन्त निषेध है। अत. कारण के निषेध से कार्य का निषेध हो जाता है, यह न्याय है। बाह्य वस्तु अध्यवसान का हेतु है। इस कारण उसके निषेध से अध्यवसान का निषेध होता है, परन्तु वध के हेतु का हेतु होने पर भी बाह्य वस्तु वध का कारण नही है, कारण ईर्यासमिति परिणत यतीन्द्र के चरण से जो काल का प्रेरा अति वेग से आकर गिरा तथा हना गया क्षुद्र जीव है उसके मर जाने से मुनीन्द्र को हिंसा नही लगती है। इसलिए बाह्य वस्तु को वध के हेतु होते हुए भी यहाँ अबध का कारण होने से बध हेतु कथन में अनैकान्तिक दोष आता है। इसलिए बाह्य वस्तु जीव के तद्रूपभाव न होने पर बध का हेतु नहीं है। अध्यवसान ही बध का हेतु है, कारण वह तद्भावरूप है।

बध के नाश होने से जीव मोक्ष को प्राप्त करता है यह समझाते हैं:—

जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो उपावइ विमोक्खं।
तह बंधे छित्तूणय जीवो सपावइ विमोक्खं ॥२९२॥[1]

जैसे बधन से बधा हुआ पुरुष बधन को छेदकर मोक्ष को पाता है, उसी तरह जीव कर्म के बधन को छेदकर मोक्ष प्राप्त करता है।

---

१ As one bound in shackles gets release only on breaking the shackles, so also the Self attains emancipation only by breaking (Karmic) bondage

वधाणच सहाव वियाणिओ अप्पणो सहावच ।
वधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खण कुणई ॥२९३॥[१]

वधो का स्वभाव तथा आ मा के स्वभाव को जानकर जो पुरुष वधो से विरक्त होता है वह पुरुष का मोक्ष–आत्यतिक निवृत्ति करता है।

आत्मा तथा बध में पृथक्करण का उपाय कहते है—

जीवो वधो य तहा छिज्जति सलक्खणेहि णियएहि ।
वधो छेएवव्वो सुद्धो अप्प य वित्तव्वो ॥२९५॥[२]

जीव और वध इनको निश्चित स्वलक्षण द्वारा इस प्रकार भिन्न करना कि विशुद्ध ज्ञान, दर्शन स्वभाव वाला परमात्म तत्व का सम्यक् श्रद्धान ज्ञान तथा आचरण रूप निश्चय रत्नत्रय स्वरूप भेद ज्ञानरूपी छुरी के द्वारा मिथ्यात्व रागादि रूप वध छेदने योग्य है तथा शुद्ध आत्मा ग्रहण करने योग्य है।

आत्मा को किस प्रकार ग्रहण करना यह बताते है–

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सोउ घिप्पए अप्पा
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णाए व घित्तव्वो ॥२९६॥[३]

शुद्ध आत्मा को किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है ? प्रज्ञा कर–भेद ज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा ग्रहण किया जाता है। जैसे पूर्व सूत्र में प्रज्ञा के द्वारा रागादिक से पृथक किया था, उसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा यह ग्रहण करने योग्य है।

प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को किस प्रकार ग्रहण करे, यह बताते है–

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अह तु णिच्छ यदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९७॥[४]

---

१ Whoever with a clear knowledge of the nature of karmic bondage as well as the nature of the Self, does not get attracted by bondage that person obtains liberation from karmas,

२ When the Self and bondage which are differentiated by their intrinsic and distinctive attributes, are thus separated then by completely casting away all bondage, the pure Self ought to be realised

३ How is the Self realised ? The Self is realised by discriminative wisdom So also by the very same discriminative wisdom he is realised,

४ That (pure) conscious being which is apprehended by

निश्चय से जो चेतन स्वरूप आत्मा है वह मैं हू, इस प्रकार प्रज्ञा (ज्ञान) पर ग्रहण करने योग्य है। इससे शेष जो भाव है, वे मुझसे परे है, इस प्रकार आत्मा को जानना चाहिए। इस विषय का स्पष्टीकरण करते है –

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अह तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९८॥[1]
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अह तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९९॥[2]

प्रज्ञाकर–भेद विज्ञान द्वारा ऐसे ग्रहण करना, कि जो देखने वाला है, वह तो निश्चय से मैं हू। अवशेष जो भाव है, वे मुझसे परे है, ऐसा जानना चाहिए।

प्रज्ञाकर ही यह ग्रहण करना चाहिए कि जो जाननेवाला है, वह तो निश्चय से मै हू। अवशेष जो भाव है, वे मुझसे पर है ऐसा जानना चाहिए।

शास्त्राभ्यास करते हुए भी अभव्य जीव अपनी प्रकृति को नही बदलता है, यह कहते हैं –

ण मुणइ पयडिम भव्वो सुट्ठवि अज्झाइऊण सत्याणि।
गुडदुद्धपि पिवतो ण पण्णया णिव्विसा हुति ॥३१७॥[3]

अभव्य अच्छी तरह शास्त्रो को पढता हुआ भी स्वभाव को नही छोडता है। (प्रमोचन समर्थ द्रव्यश्रुत के ज्ञान से नही छूटता है, कारण सदा भाव श्रुत ज्ञान लक्षण शुद्ध आत्मा के ज्ञान का अभाव होने से वह अज्ञानी है–"अभव्य

---

discriminative wisdom is in reality the "I". Whatever mental states remain (besides) are all to be known to be other than "mine".

१ That seer who is apprehended by discriminative wisdom is in reality the "I". Whatever mental states there are (besides), are all to be known to be other than "mine"

२ That knower, who is apprehended by discriminative wisdom is in reality the "I" Whatever mental states remain (besides) are all to be known to be other than "mine"

३ The abbavya or the unfit Self, even though well-versed in the scriptures, does not give up his attachmet to Karmic Prakriti, just as a snake by drinking sweetened milk does not become non poisonous

बंधाणच सहाव वियाणिओ अप्पणो सहावच ।
बधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खण कुणई ॥२९३॥[१]

बधो का स्वभाव तथा आत्मा के स्वभाव को जानकर जो पुरु
बधो से विरक्त होता है वह पुरुष का मोक्ष–आत्यतिक निवृत्ति करता है।

आत्मा तथा बध में पृथक्करण का उपाय कहते हैं—

जीवो बधो य तहा छिज्जति सलक्खणेहि णियएहि ।
बधो छेएव्वो सुद्धो अप्प य वित्तव्वो ॥२९५॥[२]

जीव और बध इनको निश्चित स्वलक्षण द्वारा इस प्रकार भिन्न कर
कि विशुद्ध ज्ञान, दर्शन स्वभाव वाला परमात्म तत्व का सम्यक् श्रद्धान ज्ञा
तथा आचरण रूप निश्चय रत्नत्रय स्वरूप भेद ज्ञानरूपी छुरी के द्वा
मिथ्यात्व रागादि रूप बध छेदने योग्य है तथा शुद्ध आत्मा ग्रहण करने योग्य है

आत्मा को किस प्रकार ग्रहण करना यह बताते हैं –

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सोउ घिप्पए अप्पा
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णाए व घित्तव्वो ॥२९६॥[३]

शुद्ध आत्मा को किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है ? प्रज्ञा रूप
भेद ज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा ग्रहण किया जाता है। जैसे पूर्व सूत्र में प्रज्ञा के द्वा
रागादिक से पृथक किया था, उसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा यह ग्रहण करे
योग्य है ।

प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को किस प्रकार ग्रहण करे, यह बताते हैं–

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अह तु णिच्छ यदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९७॥[४]

---

१ Whoever with a clear knowledge of the nature karmic bondage as well as the nature of the Self, does n get attracted by bondage that person obtains liberation fro karmas,

२ When the Self and bondage which are differentiate by their intrinsic and distinctive attributes, are thus sep rated then by completely casting away all bondage, t pure Self ought to be realised.

३ How is the Self realised ? The Self is realised b discriminative wisdom So also by the very same disc minative wisdom he is realised,

४ That (pure) conscious being which is apprehended b

जिनने वस्तु स्वरूप को नही समझा है, वे पुरुष व्यवहार के वचनो का आश्रय लेकर कहते है–कि पर द्रव्य मेरा है, किन्तु जो निश्चय से पदार्थों का स्वभाव जानते है, वे कहते है, परमाणु मात्र भी मेरा नही है।

व्यवहार का कथन ऐसा है कि जैसे कोई कहे हमारा ग्राम है, नगर है, देश है, राष्ट्र है, किन्तु वे नगरादिक उसके नही है, वे तो राजा के है, किन्तु मोहवश यह उनको अपना कहता है, इसी प्रकार जो ज्ञानी पर द्रव्य जानता हुआ भी पर द्रव्य मेरा है, ऐसा अपने को पर द्रव्यमय करता है, वह मिथ्या दृष्टि होता है।

इसलिए ज्ञानी जीव "पर द्रव्य मेरा नही है", ऐसा जानकर पर द्रव्य में पूर्वोक्त कर्तापने के व्यापार को जानता हुआ यह जानता है कि ये आत्मदृष्टि रहित है।

जीव व्यवहार नय से कर्मो का कर्त्ता है, यह समझाते हैं–

जह सिप्पिओउ कम्म कुव्वइ ण य सोउ तम्मओ होइ।
तह जीवोविय कम्म कुव्वदि णय तम्मओ होइ ॥३४९॥[1]

जैसे शिल्पी–कारीगर आभूषणादि कर्म को करता है, किन्तु उससे तन्मय नही होता है। उसी प्रकार जीव भी पुद् गल कर्म को करता है किन्तु उससे तन्मय नही होता है।

जीव कर्मों का भोक्ता भी है इसको स्पष्ट करते है–

जह सिप्पिउ कम्मफल भुजइ णय तम्मओ होइ ॥३५२॥[2]
तह जीवो कम्मफल भुजइ णय तम्मओ होइ ॥

जैसे शिल्पी आभूषणादि कर्मो–कार्यों के फल को (द्रव्य लाभ) भोगता हुआ भी तन्मय नही होता है, उसी प्रकार जीव भी सुख दुखादि कर्म के फल को भोगता है किन्तु तन्मय नही होता है।

---

truth that no object of non-Self is his still persists in thinking of the existence of a creative will producing the external reality, he does so being devoid of right belief Let it be understood to be the truth

१ As an artisan performs his work, but does not become identical with it, so also the Self produces Karma, but does not become identical with it

२ As the artisan enjoys the fruit of his labour, but does not become one with it, so also the Self enjoys the fruit of Karma but does not become one with it

प्रकृति स्वभावं स्वयमेव न मुंचति–प्रमेचनद्रव्यश्रुतज्ञानाच्च न मुंचति नित्यमेव भावश्रुतज्ञान–लक्षण–शुद्धात्म ज्ञानाभावेनाज्ञानित्वात्" (आत्मख्यातिः) जिस प्रकार सर्प गुड राहित दूध को पीते हुए भी निर्विष नहीं होता है ।

जीव का स्वभाव ज्ञातृत्व है, यह समझाते है.–

दिट्ठी सयपि णाणं अकारयं तह अवेदय चेव ।
जाणइ य बंधमोक्ख कम्मुदय णिज्जरं चेव ॥३२०॥[1]

जैसे नेत्र देखने योग्य पदार्थ को देखता है, उनका कर्ता तथा भोक्ता नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान भी बंध, मोक्ष, कर्म का उदय तथा निर्जरा को जानता है, उनका कर्ता तथा भोक्ता नहीं है ।

निश्चय दृष्टि और व्यवहार दृष्टि में अंतर स्पष्ट करते हैं:–

व्यवहार भासिएण दु परदव्व मम भणंति अविदियत्था ।
जाणंति णिच्छयेण उ णयमम परमाणुमेत्तमवि किंचि ॥३२४॥

जह कोवि णरो जंपइ अह्म गाम–विसयणयरट्ठं ।
णय होंति ताणि तस्सउ भणइ य मोहेण सो अप्पा ॥३२५॥

एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्ससयं हवइ एसो ।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पय कुणइ ॥३२६॥

तह्मा ण मेत्ति णिच्चा दोह्नं वि एयाण कत्ति ववसाय ।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठि रहियाणं ॥३२७॥[2]

---

१ Knowledge, too like sight is neither the doer nor the enjoyer (of karmas); but only knows the bondage, the release, the operation of karmas and the shedding of karmas.

२ Those who know the nature of reality speak of non-Self as "mine" using the language of the ordinary people, while they know really there is not even an atom of non-Self which is "mine'.' Just when a person speaks of my village, my country, my town or my kingdom, those are not really his. That person so speaks through Self-delusion. In the same way, a person who (deluded by the vavahara point of view) understands non-Self as his and identifies himself with it, certainly becomes one of erroneous belief. There is no doubt about this. Among these two (ordinary people and Sramanas) if a person knowing the

जिनने वस्तु स्वरूप को नहीं समझा है, वे पुरुष व्यवहार के वचनों का आश्रय लेकर कहते हैं–कि पर द्रव्य मेरा है, किन्तु जो निश्चय से पदार्थों का स्वभाव जानते हैं, वे कहते हैं, परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

व्यवहार का कथन ऐसा है कि जैसे कोई कहे हमारा ग्राम है, नगर है, देश है, राष्ट्र है; किन्तु वे नगरादिक उसके नहीं हैं, वे तो राजा के हैं, किन्तु मोहवश यह उनको अपना कहता है, इसी प्रकार जो ज्ञानी पर द्रव्य जानता हुआ भी पर द्रव्य मेरा है, ऐसा अपने को पर द्रव्यमय करता है, वह मिथ्या दृष्टि होता है।

इसलिए ज्ञानी जीव "पर द्रव्य मेरा नहीं है", ऐसा जानकर पर द्रव्य में पूर्वोक्त कर्तापने के व्यापार को जानता हुआ यह जानता है कि ये आत्मदृष्टि रहित हैं।

जीव व्यवहार नय से कर्मों का कर्त्ता है, यह समझाते हैं.–

जह सिप्पिओउ कम्मं कुव्वइ ण य सोउ तम्मओ होइ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि णय तम्मओ होइ ॥३४९॥[1]

जैसे शिल्पी–कारीगर आभूषणादि कर्म को करता है, किन्तु उससे तन्मय नहीं होता है। उसी प्रकार जीव भी पुद्‌गल कर्म को करता है किन्तु उससे तन्मय नहीं होता है।

जीव कर्मों का भोक्ता भी है इसको स्पष्ट करते हैं:–

जह सिप्पिउ कम्मफलं भुंजइ णय तम्मओ होइ ॥३५२॥[2]

तह जीवो कम्मफल भुंजइ णय तम्मओ होइ ॥

जैसे शिल्पी आभूषणादि कर्मों–कार्यों के फल को (द्रव्य लाभ) भोगता हुआ भी तन्मय नहीं होता है, उसी प्रकार जीव भी सुख दुःखादि कर्म के फल को भोगता है, किन्तु तन्मय नहीं होता है।

---

truth that no object of non-Self is his still persists in thinking of the existence of a creative will producing the external reality, he does so being devoid of right belief. Let it be understood to be the truth.

१ As an artisan performs his work, but does not become identical with it, so also the Self produces Karma, but does not become identical with it.

२ As the artisan enjoys the fruit of his labour, but does not become one with it, so also the Self enjoys the fruit of Karma but does not become one with it.

प्रकृति स्वभाव स्वयमेव न मुचति-प्रमादवनद्रव्यश्रुतज्ञानाच्च न मुचति नित्यमेव भावश्रुतज्ञान-लक्षण शुद्धात्म ज्ञानाभावनाज्ञानित्वात्" (आत्मख्याति) जिस प्रकार सर्प गुड सहित दूध को पीते हुए भी निर्विष नही होता है ।

जीव का स्वभाव ज्ञातृत्व है, यह समझाते है –

दिट्ठी सयपि णाण अकारय तह अवेदय चेव ।
जाणइ य बधमोक्ख कम्मुदय णिज्जर चेव ॥३२०॥[1]

जैसे नेत्र देखने योग्य पदार्थ को देखता है उनका कर्ता तथा भोक्ता नही है, उसी प्रकार ज्ञान भी बध, मोक्ष, कर्म का उदय तथा निर्जरा को जानता है, उनका कर्ता तथा भोक्ता नही है ।

निश्चय दृष्टि और व्यवहार दृष्टि में अतर स्पष्ट करते है –

व्यवहार भासिएण दु परदव्व मम भणति अविदियत्था ।
जाणति णिच्छयेण उ णयमम परमाणुमेत्तमवि किंचि ॥३२४॥

जह कोवि णरो जपइ अह्म गाम-विसयणयरट्ठ ।
णम हाति ताणि तस्सउ भणइ य माहेण सो अप्पा ॥३२५॥

एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्ससय हवइ एसो ।
जो परदव्व मम इदि जाणतो अप्पय कुणइ ॥३२६॥

तह्मा ण मेत्ति णिच्चा दोह्न वि एयाण कत्ति ववसाय ।
परदव्वे जाणतो जाणिज्जो दिट्ठि रहियाण ॥३२७॥[2]

---

१ Knowledge, too like sight is neither the doer nor the enjoyer (of karmas), but only knows the bondage, the release, the operation of karmas and the shedding of karmas

२ Those who know the nature of reality speak of non Self as "mine" using the language of the ordinary people, while they know really there is not even an atom of non-Self which is "mine" Just when a person speaks of my village, my country, my town or my kingdom, those are not really his That person so speaks through Self delusion In the same way, a person who (deluded by the vavahara point of view) understands non Self as his and identifies himself with it, certainly becomes one of erroneous belief There is no doubt about this Among these two (ordinary people and Sramanas) if a person knowing the

जिनने वस्तु स्वरूप को नही समझा है, वे पुरुष व्यवहार के वचनों का आश्रय लेकर कहते है–कि पर द्रव्य मेरा है, किन्तु जो निश्चय से पदार्थों का स्वभाव जानते हैं, वे कहते हैं, परमाणु मात्र भी मेरा नही है।

व्यवहार का कथन ऐसा है कि जैसे कोई कहे हमारा ग्राम है, नगर है, देश है, राष्ट्र है; किन्तु वे नगरादिक उसके नही है, वे तो राजा के है, किन्तु मोहवश यह उनको अपना कहता है, इसी प्रकार जो ज्ञानी पर द्रव्य जानता हुआ भी पर द्रव्य मेरा है, ऐसा अपने को पर द्रव्यमय करता है, वह मिथ्या दृष्टि होता है।

इसलिए ज्ञानी जीव "पर द्रव्य मेरा नही है", ऐसा जानकर पर द्रव्य मे पूर्वोक्त कर्तापने के व्यापार को जानता हुआ यह जानता है कि ये आत्मदृष्टि रहित है।

जीव व्यवहार नय से कर्मो का कर्ता है, यह समझाते है:–

जह सिप्पिओउ कम्मं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवोविय कम्म कुव्वदि णय तम्मओ होइ ॥३४९॥[1]

जैसे शिल्पी–कारीगर आभूषणादि कर्म को करता है, किन्तु उससे तन्मय नही होता है। उसी प्रकार जीव भी पुद्-गल कर्म को करता है किन्तु उससे तन्मय नही होता है।

जीव कर्मों का भोक्ता भी है इसको स्पष्ट करते है:–

जह सिप्पिउ कम्मफलं भुंजइ णय तम्मओ होइ ॥३५२॥[2]
तह जीवो कम्मफल भुजइ णय तम्मओ होइ ॥

जैसे शिल्पी आभूषणादि कर्मो–कार्यो के फल को (द्रव्य लाभ) भोगता हुआ भी तन्मय नही होता है, उसी प्रकार जीव भी सुख दुःखादि कर्म के फल को भोगता है, किन्तु तन्मय नही होता है।

---

truth that no object of non-Self is his still persists in thinking of the existence of a creative will producing the external reality. he does so being devoid of right belief. Let it be understood to be the truth.

१ As an artisan performs his work, but does not become identical with it, so also the Self produces Karma, but does not become identical with it.

२ As the artisan enjoys the fruit of his labour, but does not become one with it, so also the Self enjoys the fruit of Karma but does not become one with it.

निश्चय दृष्टि को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जह सिप्पिओ उ चिट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो सो ।
तह जीवो विय कुम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णो सो ॥ ३५४ ॥[1]

जैसे शिल्पी अपने परिणाम स्वरूप चेष्टा रूप कर्म को करता है, परंतु वह उस चेष्टा से जुदा नहीं होता है, वह उससे अन्य रूप नहीं है, उसी प्रकार जीव भी अपने भाव रूप चेष्टा स्वरूप कर्म को करता है, वह उस चेष्टारूप कर्म से अन्य रूप नहीं हैं।

जह चिट्ठं कुव्वंतो उ सिप्पिओ णिच्च दुक्खिओ होई ।
तत्तो सिया अणण्णो तह चिट्ठंतो दुही जीवो ॥ ३५५ ॥[2]

जिस प्रकार चेष्टा करता हुआ शिल्पी निरंतर दुःखी होता है, उस दुःख से जुदा नहीं हैं, तन्मय है, उसी प्रकार जीव भी चेष्टा करता हुआ दु:खी होता हैं।

सब द्रव्य स्वतंत्र हे। एक द्रव्य के द्वारा दूसरी द्रव्य में गुणों की उत्पत्ति नहीं की जाती है, वह बताते हैं—

अण्णदविएण अण्ण दवियस्स णो कीरइ गुणुप्पाओ ।
तम्हाउ सव्व दव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥ ३७२ ॥[3]

अन्य द्रव्य कर अन्य द्रव्य के गुण का उत्पाद नहीं किया जा सकता, इसलिए यह सिद्वात हैं कि सभी द्रव्य अपने २ स्वभाव से उपजते हैं।

शास्त्र को ज्ञान से भिन्न बताते हैं—

---

१ As the artisan starts with the mental image (of the object to be produced) and translate it into physical form by his bodily activity and thus is one with it, so also the Self starts with the mental counterpart of karma and is therefore one with it.

२ As the artisan making an effort (to translate the mental image into physical form) always suffers thereby and is there fore one with that suffering, so also the Self that acts as stimulated by impure mental states undergoes suffering and becomes one with it.

३ By one substance (dravya) the properties of another substance are never produced. Therefore all substances are produced by their own nature.

सत्थं णाणं ण हवइ जह्मा सत्थं ण जाणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥ ३९० ॥[1]

शास्त्र ज्ञान नही है, क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नही है । जड है; इसलिए ज्ञान अन्य है, शास्त्र अन्य है, ऐसा जिन भगवान ने कहा है ।

आत्म द्रव्य में ही विहार करो ऐसा कथन करते हैं –

मोक्ख पहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥ ४१२ ॥[2]

हे भव्य ! तू मोक्षमार्ग में अपने को लगा, उसी का ध्यान कर, उसी को अनुभव गोचर कर और उसी आत्मा में निरंतर विहार कर, अन्य द्रव्य मे विहार मत कर ।

निश्चय नय मोक्षमार्ग में वेष को कारण नही मानता है, यही कहते है–

ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे ।
णिच्छय णओ ण इच्छइ मोक्ख–न पहे सव्व लिंगाणि ॥ ४१४ ॥[3]

व्यवहार नय मुनि श्रावक के भेद से दोनो प्रकार के लिंगो को मोक्ष का मार्ग कहता है, किंतु निश्चय रूप सभी लिंगो को मोक्षमार्ग में इष्ट नही कहता ।

यह समयसार महान शास्त्र है । कर्म चक्र को चूर्ण करने के लिए दिव्यास्त्र है । इसे चलाने की कला उसे ही प्राप्त होती है, जिसने स्याद्वाद विद्या के सार को भली प्रकार समझ लिया है । बाल–बुद्धि व्यक्ति इस दिव्यास्त्र की शैली को बराबर न जान स्वच्छद प्रवृत्ति के लिए इसका आश्रय लिया करते है। इसलिए ऐसे लोग अन्य अनुयोगो को अनावश्यक कह अध्यात्म शास्त्र की उपयोगिता बता इसके ही अध्ययन को एकान्त रूप से हितप्रद मानते है । यह अध्यात्म शास्त्र का एकान्तवाद भी स्याद्वाद की सतुलन शैली

---

१ The Scripture is not knowledge, because the Scripture knows not anything . Therefore the Jinas have said that knowledge is entirely different from Scripture .

२ Keep the Self on the path of emancipation, meditate on him, experience him, always move in him, do not move among other things.

Although, the Vyavhaara point of view declares the two (classes of insignia) to be the path of emancipation, the standpoint of reality does not want any insignia whatsoever for the path of liberation.

के अनुरूप नहीं है। पं० टोडरमल जी का कथन बड़ा महत्वपूर्ण है। शंकाकार कहता है- "जो जिन शास्त्रनि विषै अध्यात्म उपदेश है, तिनका अभ्यास करना, अन्य शास्त्रनिका अभ्यास करि किछू सिद्धि नाही। ताको कहिए है- जो तेरे साची दृष्टि भई है, तो सर्व ही जैन शास्त्र कार्यकारी है। तहां भी मुख्य पनै अध्यात्म शास्त्रनि विषै तो आत्म स्वरूप का मुख्य कथन है, सो सम्यग्दृष्टी भए आत्म स्वरूप का तो निर्णय होय चुकै तब तो ज्ञान की निर्मलता के अर्थि वा उपयोग को मंद कषाय रूप राखने के अर्थ अन्य शास्त्रिन का अभ्यास मुख्य चाहिए।

अर आत्म स्वरूप का निर्णय भया है, ताका स्पष्ट राखने के अर्थि अध्यात्म शास्त्रनिका भी अभ्यास चाहिये। परंतु अन्य शास्त्रनि विषै अरुचि तो न चाहिए।

जाकै अन्य शास्त्रनि कै अरुचि है, ताकै अध्यात्म की रुचि साची नाही। जैसे जाकै विषयासक्तपना, होय सो विषयासक्त पुरुषनि की कथा भी रुचि तै सुनै, वा विषय के विशेष को भी जानै, वा विषय के आचरन विषै जो साधन होय, ताको भी हित रूप जानै, वा विषय का स्वरूप को भी पहिचानै, जैसे जाके आत्मरुचि भई होय, सो आत्मरुचि के धारक तीर्थंकरादिक तिनका पुराण भी जानै।

बहुरि आतमा के विशेष जानने को गुणस्थानादिक को भी जानै, बहुरि आत्म आचरण विषै जे व्रतादिक साधन है, तिनको भी हितरूप मानै; बहुरि आतमा के स्वरूप को भी पहिचानै। तातै च्यारियो ही अनुयोग कार्यकारी है। बहुरि तिनका नीका ज्ञान होने के अर्थि शब्द-न्याय शास्त्रादिक को भी जानना चाहिए। सो अपनी शक्ति के अनुसारि सबनि का थोरा व बहुत अभ्यास करना योग्य है।"

पुनः शंकाकार का कथन करते हुए समाधान करते हैं-" बहुरि वह कहे है- रागादिक मिटावने को कारण होय तिनि विषै तो उपयोग लगावना। कर्म का बंध, उदय, सत्तादिक का घणा विशेष जानना वा त्रिलोक का आकार, प्रमाणादिक जानना इत्यादि विचार कौन कार्यकारी है?

ताका उत्तर- इनको भी विचार तें रागादिक बधते नाही। जातै एक ज्ञेय याकै इष्ट अनिष्ट रूप है नाही। तातै वर्तमान रागादिक को कारण नाही। बहुरि इनको विशेष जानै तत्वज्ञान निर्मल होय, तातै रागादिक घटावने को ही कारण है, तातै कार्यकारी है।" (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० २९४, २९७।)

यही पवित्र दृष्टि आचार्य शान्तिसागर महाराज के जीवन में दिखती है। वे चारो अनुयोगो के शास्त्रो का स्वाध्याय करते रहे है। उनने कहा था "जब हम पद्रह-सोलह वर्ष के थे तब, हिन्दी मे समयसार तथा आत्मानुशासन वाचा करते थे। उनके पढने से हमें विशेष लाभ हुआ, वैसे अन्य सभी आगम के ग्रथ उपयोगी है।" अतः आत्म-साधना के प्रेमी जीव को भ्रम में नही आना चाहिए।

यह समयसार आत्मा की चिरतन आराधना की वस्तु है। यह एक दो बार बांचकर रखने लायक ग्रथ नही है। समस्त जीवन भी इसकी आराधना, कितना भी लगा दिया जाय तो भी इसका पूर्ण मर्म नही मिलेगा। जस्टिस जुगमदरलाल जैनी ने कुदकुदस्वामी के विषय मे लिखा है कि–

"महर्षि कुद कुद के तत्वदर्शन का रस माधुर्य मेरी पवित्र आत्मा में मृदुल तथा सूक्ष्म रूप में प्रविष्ट होकर तन्मय होते हुए स्वय आत्मा के मधुर सगीत को सजग करता हुआ ऐसे आनद रस से भर देता है जिसके समक्ष बडे से बडे समुद्र की अगाधता समानता नही रखती है।"[१]

कवि वृन्दावन ने लिखा है–

जास के मुखारविन्द तें प्रकाश भास भारा वृन्द,
स्याद-वाद जैन वैन इदु कुदकुद से।
तास के अभ्यास तें विकाश भेद-ज्ञान होत,
मूढ सो लखै नही कुबुद्धि कुद कुद से ॥
देत है अशीस शीस नाय इद्र चद्र जाहि,
मोह-मार-खड मारतड कुदकुंद से।
शुद्ध-बुद्धि वृद्धिदा प्रसिद्धि-रिद्धि-सिद्धिदा,
हुए, न हैं, न होहिंगे मुनिन्द कुद कुद से ॥

आचार्य शातिसागर महाराज का निकट से जीवन अध्ययन करने पर यह अनुभव में आता है, कि उनमें नैसर्गिक साधुत्व है। ऐसे नैसर्गिक साधु (born saint) का ग्रथो के विषय में आरभिक चुनाव उनकी

---

१ The music honey of Kundakunda's vision of Reality sinks soft and subtle in-to my pure soul and mixing with it awakens it to the sweet sound of its own-self, filling it with a joy that is deeper than the deepest oceans.

Justice J. L. Jaini

रत्नत्रय प्रकाशित दृष्टि की विमलता को व्यक्त करता है । उनके जीवन में आत्मानुशासन की चंद्रिका का प्रकाश पर्याप्त मात्रा में दिखता है । आत्मानुशासन का प्रेम ही उन्हें गृह जाल से छुड़ाकर महामुनि के पद को प्राप्त करा सका है । मुनि जीवन का केन्द्र–बिंदु समयसार–शुद्ध आत्मा की उपलब्धि निमित्त सतत उद्योग है । अतः समयसार की ओर बाल्य जीवन से ही अनुराग होना अत्यन्त सामयिक रहा । समन्तभद्र स्वामी की सुंदर तथा सार्थक अभिधान वाली रचना रत्नकरंड–श्रावकाचार भी महाराज को प्रकाश दाता रहा है, इसलिए वे असमर्थ जीवों को श्रावकाचार का अमृतप्रसाद वितरण करते हैं, उससे यह स्पष्ट होता है, कि उनका जीवन स्याद्वाद विद्या के आलोक से पूर्ण आलोकित है । जहाँ आत्मा का सौन्दर्य उनको समयसार के रूप में अलौकिक आभा अलंकृत प्रतीत होती है, वहाँ आत्मानुशासन तथा रत्नकरंड की ज्योति उनको संयम की महत्ता बताती हुई स्व तथा पर को पुण्याचरण की ओर प्रवृद्धि निमित्त प्रेरणा करती है । पूज्य श्री के प्रारंभिक जीवन में प्रकाश प्रदाता ग्रन्थत्रय रत्नत्रय की ज्योति को जगाते हैं ।

कीर्णक

जिस प्रकार अमृत रस पान करनेवाला व्यक्ति पुन उस सुधा का रसास्वादन करना चाहता है, इसी प्रकार आचार्य महाराज का पुण्य जीवन है । जितना अधिक उनके जीवन का निकट से अध्ययन किया जायगा तथा उनके पुण्य सपर्क में मनुष्य जीवन के मगल क्षण व्यतीत किए जायगे, उतना ही महान पवित्र तथा स्फूर्तिपूर्ण उनका जीवन विदित होगा । उनके जीवन में शाति, सौन्दर्य और कल्याण का अपूर्व समन्वय है । यदि सहृदय साहित्यकार, लेखक, कवि और कलाकार इनके पास पहुँचे, तो प्रत्येक सरस्वती के सेवक को चमत्कारप्रद विपुल ज्ञान भडार मिले बिना न रहेगा ।

उनका तपः पुनीत जीवन विलक्षण है । माया के जाल से विमुक्त ऐसी सयम मूर्ति आत्मा का आज के भोगमग्न ससार में दर्शन होना वास्तव में लोकोत्तर पुण्य की बात है । इस वर्ष सन १९५२ के आरभ में आचार्य महाराज दहीगाव नाम के तीर्थक्षेत्र में विराजमान थे, एक दिन वहा के मदिर से दूसरी जगह जाते हुए उनका पैर ठीक सीढी पर न पडा इसलिए वे जमीन पर गिर पडे । यह तो बडे पुण्य की बात थी कि वह प्राण लेने वाली दुर्घटना एक पैर में गहरा घाव ही दे पाई । महाराज के पैर में डेढ इची गहरा घाव हो गया, जिसमें एक बादाम सहज ही समा सकती थी । उस स्थिति में महाराज ने पैर में किसी प्रकार की पट्टी वगैरह नही बधवायी, एक साधारण सी निर्दोष औषधि पैर में लगती थी । वे ऐसी वस्तु का उपयोग नहीं करते, जिसम शराब, मास चर्बी आदि हो ।

आत्म स्मृति तथा शरीर विस्मृति

उनके पास सिवनी से दो व्यक्ति दर्शनार्थ पहुचे । उनने आकर हमें सुनाया कि महाराज के पास हमें तीन चार घटे रहने का सौभाग्य मिला था । उस समय हम लोगो ने यह विलक्षण बात देखी, कि पैर में भयकर चोट होते हुए भी उनने हमारे सामने एक बार भी अपने पैर के घाव की ओर दृष्टि नही दी । उनकी शरीर के प्रति कितनी ममता है इसका ज्ञान उनके पैर के घाव के प्रति उपेक्षा भाव से स्पष्ट होता था । जब तक शरीर है, तब तक उसमें न्यूनाधिक ममता छोटे बडे सब में पाई

इसलिए आप उसे निरुपयोगी क्यों कहते हैं ?"

महाराज ने कहा–"हमारे लिए पाप और पुण्य दोनों समान हैं। वे दोनों ही बेड़ी के समान हैं। श्रद्धांजलि से या निन्दा से हमें क्या है ? यह उत्सव तुम लोगों को बड़े महत्व का दिखता है, किन्तु इसमें हमें कोई महत्व की बात नहीं दिखती। तुम धर्म की प्रभावना करो इससे हमें क्या है। हम तो चाहते हैं कि लोगों के प्रशंसा के शब्द तक हमारे कान पर नहीं आवें हम निन्दक और वदक दानों को एक समान मानते हैं। तुम अखबार छाप कर हमारी स्तुति करते हो, किन्तु हम तो अखबार देखते तक नहीं।"

उस समय महाराज के मुख मडल पर अपूर्व वैराग्य था। उनके गुण गौरव समारंभ को देखकर सभी धार्मिक जनों के हर्ष का पारावार न था, किन्तु महाराज की मानसिक-स्थिति वास्तव में विलक्षण थी। यथार्थ में वे लोकोत्तर महापुरुष हैं।

आचार्य महाराज ने १२ जून सन १९५२ को हीरक जयंती के अवसर पर अपने मार्मिक भाषण में कहा था "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार

जिनवाणी पर श्रद्धान करो

पुरुषार्थ हैं इनमें मोक्ष श्रेष्ठ है। 'धर्म की आराधना द्वारा अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है इस-लिए धर्म पुरुषार्थ महत्व का है। आचार्य उमास्वामी ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चरित्र को मोक्ष का मार्ग कहा है, केवल सम्यक्त्व के बाद ही मोक्ष नहीं होता है। जिनेन्द्र भगवान की वाणी पर श्रद्धान करने से सम्यक्त्व होता है। जिनेन्द्र भगवान की वाणी का एक वाक्य तक जब जीव कल्याण करता है, तब सपूर्ण जिनागम का स्वाध्याय क्या नहीं करेगा ? इस पचम काल में केवली भगवान नहीं है, इस समय किसका अवलंबन किया जाय ? जिन भगवान की वाणी के सिवाय अन्यत्र कल्याण नहीं है। जिनेन्द्र भगवान की वाणी पूर्णतया सत्य है।"

"भगवान ने कहा है–"जिनेंद्र का मदिर नहीं होगा, तो श्रावकों का धर्म भी नहीं रहेगा और श्रावकों के अभाव में मुनि धर्म कैसे रहेगा। मुनि धर्म जब तक रहेगा, तब तक जिन धर्म रहेगा। इसी दृष्टि से धर्म के आधार स्तभ जिन मंदिरों के पवित्रता के रक्षण निमित्त हमें प्रयत्न करना पड़ा था। यदि भगवान का स्थान नहीं रहा तो हम भी नहीं रहेंगे। हमें भगवान की आज्ञा मानना चाहिये।"

भगवान् की वाणी में लिखा है "कि अभी जिन धर्म का लोप नहीं

जाती है, किन्तु महाराज लोकोत्तर आत्मा है। भेद विज्ञान के द्वारा चैतन्य ज्योतिर्मय आत्मा का वे सदा दर्शन करते हैं इसलिए शरीर की ओर उन का क्यों ध्यान जायगा। जैन पुराणो में सुकुमाल मुनि, गजकुमार मुनि, सुकौशल मुनि आदि का पवित्र चरित्र बताया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि जानवरों के द्वारा शरीर के खाये जाने पर अथवा अग्नि के द्वारा देह का दाह होने पर वे अपनी आत्मा की आराधना से विचलित नहीं हुए थे। उस निस्पृहता और वीतरागता की झलक आचार्य महाराज के जीवन में आज भी मिलती है।

धन कुबेरों को अकिंचनता का पाठ

एक दिन फलटण में हीरक जयंती के समारंभ में आगत अनेक धनकुबेर धनिकों का समुदाय महाराज की सेवा में १४ जून सन १९५२ को उपस्थित था। उस समय महाराज ने उन श्रीमंतों से कहा—"देखो कर्मो के बंधन से छूटकर मोक्ष पाने के लिए आप सबको हमारे समान दिगंबरत्व को धारण करना होगा क्योंकि इस पद को अंगीकार किये बिना मोक्ष को प्राप्त करने का अन्य मार्ग नहीं है"। उनने यह भी कहा था कि," यह जीव आगे दुःखी न हो, इससे प्रत्येक व्यक्ति को व्रत धारण कर व्रती बनना चाहिये।"

इस वर्ष १३ जून सन १९५२ को जब आचार्य महाराज के प्रति भारतवर्ष के प्रमुख दि० जैन बंधुओं न संस्थाओं ने तथा पंचायतों ने आचार्य महाराज के द्वारा किये गये अनंत उपकारों पर श्रद्धा के सुमन चढ़ाये और उनके गुणों का वर्णन किया, तब आचार्य महाराज ने कहा था" इस श्रद्धांजलि से हमें रंचमात्र भी हर्ष नहीं है। हमें अपना प्रशंसा सुनकर राई बराबर भी आनंद नहीं होता है, इस प्रशंसा से स्वर्ग नहीं मिलता है। तुम हमारी किस बात की प्रशंसा करते हो ? तुमने श्रद्धांजलि अर्पित की अथवा निन्दा की तो,क्या हुआ। हमारी दृष्टि में दोनों का कोई मूल्य नहीं है।

तुम हमारी मूर्ति बनाकर पूजो, तो इससे हमारा क्या हित होगा। हमारा आत्मा एक है। सुख दुख भोगने वाला वही एक है। इसमें कोई भी सहायक नहीं है। भगवान भी सहायक नहीं है। जैसा आत्मा करेगा वैसा भोगेगा। समस्त जगत अनित्य है। बड़े बड़े ऋद्धिधारी महान ज्ञान धारक मुनि नहीं रहे, तब हम क्या चीज हैं ?"

इस पर हमारे सबसे छोटे भाई सन्मतिकुमार दिवाकर ने कहा" महाराज आपका गुणगौरव करने से भव्य जीवों को पुण्य का लाभ होता है

इसलिए आप उसे निरुपयोगी क्यों कहते हैं ?"

महाराज ने कहा—"हमारे लिए पाप और पुण्य दोनों समान हैं। वे दोनों ही बेड़ी के समान हैं। श्रद्धांजलि से या निन्दा से हमें क्या है ? यह उत्सव तुम लोगों को बड़े महत्व का दिखता है, किन्तु इसमें हमें कोई महत्व की बात नहीं दिखती। तुम धर्म की प्रभावना करो इससे हमें क्या है। हम तो चाहते हैं कि लोगों के प्रशंसा के शब्द तक हमारे कान पर नहीं आवें हम निन्दक और वदक दोनों को एक समान मानते हैं। तुम अखबार छाप कर हमारी स्तुति करते हो, किन्तु हम तो अखबार देखते तक नहीं।" उस समय महाराज के मुख मडल पर अपूर्व वैराग्य था। उनके गुण गौरव समारंभ को देखकर सभी धार्मिक जनों के हर्ष का पारावार न था, किन्तु महाराज की मानसिक-स्थिति वास्तव में विलक्षण थी। यथार्थ में वे लोकोत्तर महापुरुष हैं।

जिनवाणी पर श्रद्धान करो

आचार्य महाराज ने १२ जून सन १९५२ को हीरक जयंती के अवसर पर अपने मार्मिक भाषण में कहा था "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं इनमें मोक्ष श्रेष्ठ है। 'धर्म की आराधना द्वारा अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिए धर्म पुरुषार्थ महत्व का है। आचार्य उमास्वामी ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चरित्र को मोक्ष का मार्ग कहा है, केवल सम्यक्त्व के बाद ही मोक्ष नहीं होता है। जिनेन्द्र भगवान की वाणी पर श्रद्धान करने से सम्यक्त्व होता है। जिनेन्द्र भगवान की वाणी का एक वाक्य तक जब जीव कल्याण करता है, तब संपूर्ण जिनागम का स्वाध्याय क्या नहीं करेगा ? इस पचम काल में केवली भगवान नहीं हैं, इस समय किसका अवलंबन किया जाय ? जिन भगवान की वाणी के सिवाय अन्यत्र कल्याण नहीं है। जिनेन्द्र भगवान की वाणी पूर्णतया सत्य है।"

"भगवान ने कहा है—"जिनेंद्र का मंदिर नहीं होगा, तो श्रावकों का धर्म भी नहीं रहेगा और श्रावकों के अभाव में मुनि धर्म कैसे रहेगा। मुनि धर्म जब तक रहेगा, तब तक जिन धर्म रहेगा। इसी दृष्टि से धर्म के आधार स्तंभ जिन मंदिरों के पवित्रता के रक्षण निमित्त हमें प्रयत्न करना पड़ा था। यदि भगवान का स्थान नहीं रहा तो हम भी नहीं रहेंगे। हमें भगवान की आज्ञा मानना चाहिये।"

भगवान की वाणी में लिखा है "कि अभी जिन धर्म का लोप नहीं

होगा । यह बात कभी झूठ नही होगी । अज्ञान के अधकार में चलने वाले जीवो को शास्त्र अजीव होते हुए भी मोक्ष का मार्ग बताता है । जो बात आदिनाथ भगवान ने कही थी वही बात दूसरे तीर्थंकरो ने बतायी। कोडा कोडी सागरो पर्यन्तकाल बीतने पर भी जिनेन्द्र की वाणी में कोई अन्तर नही पडा है, इसलिए महावीर भगवान के मोक्ष जाने के २५०० वर्ष के भीतर कोई अतर नही हुआ है, इस बात पर दृढ श्रद्धा रखना चाहिए। "

महाराज ने कहा—"शास्त्र मे लिखा है, कि जीव को पच पापो का त्याग करना चाहिए। इस पाप त्याग से यह जीव हीन गतिया से नही जाता है। व्रती जीव देवगति में जाता है, इसलिए पापो का त्याग करना चाहिए। सम्यक्‌दर्शन तो देखने में नही आता है किन्तु व्रत धारण किया है यह बात प्रत्येक के देखने में आती है इसलिये सब लोगो को हिंसादि पापो का त्याग कर व्रती बनना चाहिए।"

महाराज ने ता० १४ को अपने मार्मिक उपदेश में कहा था "हमें घर छोडकर दीक्षा लिए हुए करीब ४० वर्ष हो गए। आप लोग हमारी प्रशसा करते है, यह अच्छा नही लगता है । हम केवली, अवधिज्ञानी ऋद्धि धारी अथवा महिमाशाली मुनि नही है । अढाई द्वीप में विद्यमान समस्त मुनियों में हमारा लास्ट नम्बर है । हमारी जयती मे क्या प्रयोजन है । हम तो रोक रहे थे किन्तु लोग रुकते नही है।"

उनने कहा था "धर्म का रक्षण करो तो वह आपका भी रक्षण करेगा । इस धर्म का मूल दया है, इस धर्म से न केवल मोक्ष बल्कि अर्थ का भी लाभ होता है । आज प्रजा में गडबडी है, धन धान्य का कष्ट है, सकटो की सीमा नही है । इसका क्या कारण है ? यदि लोग दयामय धर्म का रक्षण करें तो वह धर्म तुम्हारे सकटो को दूर करेगा । केवल मनुष्य की अहिंसा के द्वारा गाधी ने लोक में सफलता प्राप्त की है ।" उनने कहा "जिनेन्द्र की वाणी में श्रद्धान रखो, वह दीपक के समान है, मोह की अधियारी युक्त रात्रि म जिनवाणी रूप दीपक को नही भूलना चाहिए । इससे काटा गडने अथवा गड्ढे में गिरने आदि का भय नही रहता है। जिनवाणी के मत्र को पाकर कुत्ते के जीव ने देव पद पाया था । केवली भगवान सूर्य के समान है। उनकी वाणी दीपक के समान है। उनकी वाणी का साक्षात जिनेन्द्र के सामान आदर करना चाहिए। जिनेन्द्र की वाणी में अपार शक्ति है। उसमें हमारा विश्वास नही है, इसलिए हम असफल होते है।"

उनने कहा "अभी पचमकाल का बाल्यकाल है इसलिए जिन धर्म का लोप नही होने वाला है। भगवान की वाणी औपधि के समान है और पापो का त्याग करना उस औपधि ग्रहण के लिए पथ्य के समान है। लोग धर्म की बातें जानते हैं किन्तु उनमें श्रद्धा का अभाव है। हिंसा करना महापाप है, धर्म का प्राण तथा जीवन-सर्वस्व यह अहिंसा धर्म है। शासन सत्ता को भी इस अहिंसा धर्म को नही भूलना चाहिए। इसके द्वारा ही सच्चा कल्याण होगा।"

पचमकाल का बाल-काल

"कोई कोई सोचते हैं कि जिस जैन धर्म मे साप बिच्छू को मारना निषिद्ध माना गया है, उसके उपदेश के अनुसार राज्य की व्यवस्था कैसे हो सकेगी? यह धारणा ठीक नही है। जैन धर्म में सर्वदा सकल्पी हिंसा न करने की आज्ञा है। गृहस्थ विरोधी हिंसा नही छोड सकता है। जैन धर्म के धारक चक्रवर्ती मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर आदि बडे बडे राजा हुए हैं। गृहस्थ के घर में चोर घुस गए हैं अथवा आक्रमणकारी आ गए हैं, तब वह उन्हे मारेगा। वह निरपराधी जीव की हिंसा नही करेगा। वह मास नही खायगा। वह शिकार नहीं खेलेगा। इस प्रकार निरपराधी जीव की रक्षा करते हुए तथा सकल्पी हिंसा का त्याग करके जैन नरेश अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा स्थापित करता है।

महाराज ने कहा "श्रावकों के अष्ट मूल गुणो में यही अहिंसा का भाव है। मुनियो के अट्ठाइस मूल-गुणो तथा चौरासी लाख उत्तर गुणो में भी यही अहिंसा प्रधान है। जीव, पुद्गल कर्म सब अलग अलग है, -। बात का श्रद्धान करना चाहिए। तत्व-श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन की पहिचान प्रशम, सवेग, अनुकम्पा तथा आस्तिक्य भाव द्वारा होती है। यदि तुम्हे कल्याण करना है, तो जिनवाणी तथा आत्मा पर विश्वास रखो।" उपदेश के अत में महाराज ने कहा "जगत के सभी पदार्थ विनाशीक हैं। अभी राम नही है, कृष्ण नहीं है, भरत नही है, इसी प्रकार दूसरे भी नहीं रहेंगे। इस शरीर को छोडकर दूसरी देह को धारण करना पडेगा, इसलिए आगे के मकान की व्यवस्था क्यो नही करते? हमारा यही कहना है कि अहिंसा धर्म के मार्ग में लगो इसके द्वारा तुम्हारा और ससार का कल्याण होगा।"

अहिंसा द्वारा कल्याण

इस वर्ष जुलाईके द्वितीय सप्ताह में भगवान बाहुबलिके महामस्तकाभिषेक के संबंध में राज्य के अधिकारियों से जैन प्रतिनिधि के रूप में चर्चा तथा परामर्श निमित्त मैसूर, श्रमणबेलगोला, बंगलोर पहुचने का अवसर मिला। १३ जुलाई सन १९५२ का रविवार का मध्याह्न काल जीवनके लिए चिरस्मरणीय स्वर्णक्षण था, जब भगवान गोमटेश्वर स्वामी के अचिन्त्य चरणों के दर्शन का पुण्य सौभाग्य मिला। नेत्रों का पाना कृतार्थ प्रतीत हुआ।

लोणंद चातुर्मास

वहाँ से अपने भाई अभिनंदन कुमार एम ए के साथ लौटते हुए १९ जुलाई को प्रभात काल में आचार्य महाराज की सेवा में पहुँचने का सुयोग प्राप्त हुआ। वे लोणंद (पूना) में अपना वर्षाकाल व्यतीत कर रहे थे। उनके समीप आने पर अनेक महत्वपूर्ण चर्चा करने का और महाराज के अनुभव प्राप्त करने का प्रसंग मिला। हमारा विचार महाराज के ज्येष्ठ बंधु १०८ वर्धमानसागर मुनिराज के दर्शनार्थ जाने का हो रहा था।

हमने पूछा, "महाराज वर्धमान स्वामी ने कहाँ चातुर्मास किया है?"

महाराज ने कहा, "हमे नहीं मालूम।"

दूसरे भाइयों ने बताया कि वे किनी ग्राम कोल्हापुर में विराजमान हैं। उस समय आचार्य महाराज की अलौकिक वृत्ति का पता लगा। यथार्थ में जो आगम में "मुनीनाम् अलौकिकी वृत्तिः" कहा है, उसका मर्म ज्ञात हुआ कि इन महात्माओं को दुनिया के बारे में परिचय प्राप्त करने की तनिक भी इच्छा नहीं होती। आत्मा के वैभव को देखने वाले, तथा स्वानुभूति के मधुर रस पान में निमग्न रहनेवाले मुनीन्द्रों को बाह्य बातों के विषय में जानकारी प्राप्त करना क्यों अच्छा लगेगा? इस प्रसंग ने यह स्पष्ट कर दिया, कि वे जगत के जाल से कितने दूर हैं। वास्तव में उनके शरीर के समान उनका अंतःकरण भी दिगम्बर है। केवल बाह्य नग्नता का कोई महत्व नहीं है। महाराज ने कहा था, केवल 'नग्नता महत्वपूर्ण नहीं है, बंदर भी नग्न है, पशु भी नग्न है। मनुष्य में नग्नता के साथ विशेष गुण पाये जाते हैं, इसलिए उसका दिगम्बरत्व पूजनीय होता है।"

जैन धर्म के विषयमें उनने कहा था, "यह धर्म अत्यन्त निरुपद्रवी है। इसमें एक इन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक पर समता तथा दया का भाव पाया जाता है। दूसरों को कष्ट न देना इस धर्म का मुख्य लक्ष्य

है। आज के युग में यह कहा जाता है कि धर्म का पालन कठिन है यह ठीक है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि धर्म को बिलकुल भुला दिया जाय। अगर पूर्णरूप से उसका पालन नही होता है, तो जितनी शक्ति है उतना पालन करो किन्तु जितना पालन करते हो उसे अच्छी तरह पालो। अकर्मण्य बनकर चुपचाप बैठना ठीक नही है और न स्वच्छंद बनने में ही भलाई है। शक्ति को न छुपाकर इस धर्म का पालन करना प्रत्येक समझदार व्यक्ति का कर्त्तव्य है।"

धर्म के क्षेत्र में अकर्मण्यता ठीक नहीं है

महाराज ने कहा, "इस मुनिधर्म का पालन करना बच्चों का खेल नहीं है। मुनि धर्म अत्यंत कठिन है, प्राणों की भी आशा छोड़कर मुनिपद अंगीकार किया जाता है। जब भी इस धर्म का पालन असंभव हो जाय तब समाधिमरण करना आवश्यक कर्तव्य हो जाता है।" महाराज ने कहा "इसका मूल आधार संसार तथा भोगों से उदासीनता और सम्पूर्ण आशाओं का परित्याग है। इसके लिए सदा अनित्य भावना अन्तःकरण में विद्यमान रहना चाहिए। जब बड़े २ चक्रवर्ती तक इस जग को छोड़कर चले गये तब साधारण मनुष्य की क्या कीमत है? राज्य से बढ़कर और क्या चीज है, उसको भी छोड़कर महापुरुषोंने मुनि जीवन को स्वीकार किया है। अब प्रश्न होता है, मुनि बनने का क्या उद्देश्य है? कर्मों की निर्जरा करना मुनि जीवन का ध्येय है। मुनिपद को धारण किए बिना कर्मों की निर्जरा नहीं होती। गृहस्थ जीवन में सदा बंध का बोझा बढ़ता ही जाता है। उसके पास कर्म निर्जरा के साधन नहीं हैं। इसलिए निर्जरा के लिए त्यागी बनना आवश्यक है। जो यह सोचते है कि पेट भरने के लिए मुनि वृत्ति धारण की जाती है, वे उसके मर्म को नही जानते। वेष धारण करने मात्र से कर्मों की निर्जरा नहीं होती। नग्नता तो पशुओं में भी पायी जाती है, किन्तु उनमें आन्तरिक निर्मलता का अभाव है।"

मुनि बनने का क्या उद्देश्य है?

महाराज ने कहा "परिग्रह का त्याग करके दिगम्बर वृत्ति धारण करना इसलिए आवश्यक है, कि परिग्रह से आरम्भ होता है और आरम्भ के द्वारा जीवों का घात होता है; इसलिए पूर्णतया अहिंसा का रक्षण नहीं होता अत. परिग्रह का परित्याग करना आवश्यक है। वह ममत्व-त्याग दिगम्बरत्व के बिना नहीं होता। ऐसे दिगम्बरत्व के बिना मोक्ष नहीं मिलता

यह निश्चित बात है। नग्नता बालक के समान विकार रहित होनी चाहिए।"

महाराज के चरणों की वंदना बड़े २ नरेशों ने की है। बड़े २ नरेश तुल्य वैभव वाले धन कुबेर उनकी चरण रज को अपने मस्तक में लगाकर अपने को कृतार्थ अनुभव करते हैं। उनने हरएक प्रकार के समृद्ध व्यक्ति के जीवन को देखा है। वे कहने लगे "हमने खूब देखा है इस दुनिया में कोई भी सुखी नहीं है। कोट्याधीशों को देखा है, राजा तथा रंक को देखा है। हमने सभी को दुखी पाया है। यथार्थ में दुःख देने वाला कर्म है। उसकी निर्जरा द्वारा सुख मिलता है। निर्ग्रन्थ अवस्था में वह आनंद प्राप्त होता है।"

आज के युग में जो लोक प्रवाह के अनुसार धर्म में परिवर्तन की बात सोचते हैं उनके संदेह का निवारण करते हुए महाराज ने कहा "जैसे

अहिंसा धर्म अपरिवर्तनीय है

औषधि में फेरफार करने से रोग दूर नहीं होता, उसी प्रकार जिन भगवान के द्वारा बताये गए मार्ग का उल्लंघन करने से कर्मों के रोग का क्षय नहीं होता। आगम के मार्ग को छोडकर जाने से तथा मनमाने रूप में प्रवृत्ति करने से सिद्धि नहीं मिलती। जैसे मार्ग छोडकर उलटे रास्ते से जाने वाले को अपने इष्ट ग्राम की प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार मोक्ष नगर को जाने के लिए अहिंसा का मार्ग अंगीकार करना आवश्यक है। अहिंसामय जीवन व्यतीत करने के लिए मुनिपद धारण करना आवश्यक है। इसके सिवाय अन्य उन्मार्ग है।"

जिनवाणी के प्रति महाराज का अगाध प्रेम है। महान श्रद्धा है। वर्णनातीत अनुराग है। उनने धवलादि ग्रंथों के संरक्षण की ओर उल्लेख

महाराज ने कहा "जिनवाणी हमारा प्राण है"

करते हुए कहा "भगवान की वाणी होने के कारण ये ग्रंथ सचमुच में हमारे जीवन है। इनका रक्षण किया तो समझना चाहिए कि हमारे प्राणों की रक्षा कर ली इन ग्रंथों के रक्षण की महाराज को कितनी चिन्ता रही यह माया के जाल में फसा हुआ मनुष्य नहीं जानता। वे बोले "हमें भगवान की वाणी की कितनी चिंता है, इसे तुम लोग क्या जानो। वंध्या प्रसव-वेदना को क्या समझे? श्रुत का रक्षण कर धरसेन स्वामी ने बडा उपकार किया। उनके उपकार को कैसे भूला जाय? इसीलिए तो फलटण के मंदिर में उनकी मूर्ति विराजमान करवायी है।" वे बोले।" अरे बाबा! यह जिनवाणी

हमारा प्राण है ।" जो समझते हैं कि आज धर्म में कोई सामर्थ्य नहीं रही है उनका संदेह निवारण करते हुए महाराज ने कहा–"आज भी धर्म में अपार शक्ति है । तुम्हारे भाव में शक्ति होना चाहिए । परिणामों में चंचलता रही तो कुछ नहीं हो सकता । भगवान की भक्ति करने से उनके भक्त आप ही आप सहायता करते हैं ।" जो धर्म को छोड़कर अन्याय पूर्ण आचरण करते हैं, उन अविवेकियों को सचेत करते हुए महाराज ने कहा "मर्यादा के बाहर अन्याय पूर्ण प्रवृत्ति करने वाले को अपने दुष्कर्म का फल नियम से प्राप्त होता है । अन्यायी का पतन निश्चित है ।"

अपने विषय में उन मुनिनाथ ने कहा "हमें अपनी आत्मा के सिवाय पर पदार्थ की कोई चिन्ता नहीं है । हम तो हनुमान सरीखे हैं जिसका मंदिर गांव के बाहर रहता है। गांव के जलने से हनुमान का क्या बिगड़ता है? इसी प्रकार संसार में कुछ भी हो जाय, तो हमे उसका क्या डर ? हम किसी से नहीं डरते, केवल जिनेन्द्र भगवान की वाणी को डरते हैं ।"

मैंने देखा है कि निर्विकार वृत्ति वाले बालकों के प्रति महाराज का नैसर्गिक अनुराग रहा है । एक दिन सेठ चन्दूलाल सराफ का छोटा बालक महाराज के सामने आकर खड़ा हो गया । उसे देखकर महाराज बोले "क्या सीखते हो सेठ जी ? " वह बच्चा चुप रहा । महाराज के मुख मंडल पर मधुर हास्य की आभा अंकित हो गयी ।

हमारे भाई अभिनंदन ने गुरुदेव से कहा–"महाराज ! श्रमणबेल–गोलारो लौटते समय बेंगलोर में एक विद्वान तथा प्रभावशाली श्वेताम्बर साधु मिले थे । उनने कहा था–"यह जैन धर्म अत्यन्त सरल है । हरएक व्यक्ति बिना कठिनता से पालन कर सकता है ।"

महाराज ने सस्मित वदन से कहा–"अरे! यह धर्म सरल नहीं है । इसका पूर्णरीति से पालन करना अत्यंत कठिन है । इसका यह अर्थ नहीं है, कि फिर कोई दूसरा इसे पाल ही नही सकता । तुम्हे पूरा पालन करने को कौन कहता है? जितनी शक्ति है उसके अनुसार ईमानदारी के साथ यदि थोड़ा भी इस धर्म का श्रद्धा तथा दृढ़ता पूर्वक पालन किया, तो तुम्हारा कल्याण होगा । अनेक जीवों ने दृढ़ता पूर्वक थोड़ा सा इस दयामय धर्म का पालन कर सुख प्राप्त किया है ।

महाराज ने बताया था कि "हमने क्षुल्लक अवस्था में ही केशलोंच करना आरम्भ कर दिया था। क्षुल्लक बनने के पहले केशों का लोच करना मार्ग के विरुद्ध है।" उनने हमारी प्रार्थना पर अपने संपर्क में आने वाले कुछ मुनियों का चरित्र संक्षेप में बताया था। वे कहने लगे "एक सिद्धप्पा स्वामी नाम के निर्ग्रन्थ मुनि थे। वे सदा 'णमो अरिहंताण, णमो सिद्धाण' यह जाप करते रहते थे। दक्षिण के गुडमडी ग्राम में एक और मुनिराज थे। उनकी तपस्या महान थी। उनने ७ वर्ष पर्यन्त निद्रा-विजय तप का अभ्यास किया था। वे जमीन पर लेटते नही थे। वे एक ऐसी गुफा में रहते थे जिसमें बैठने और खड़े होने के सिवाय लेटने का स्थान नही था। उनका आहार भी अत्यन्त अल्प केवल चावल था।" महाराज ने यह भी कहा था "पहले हम भी अष्टमी और चतुर्दशी को निद्रा नही लेते थे।"

महाराजके संपर्क में आए कुछ तपस्वी

महाराज की दृष्टि बडी मार्मिक और लोकोत्तर है। जिस दृष्टि से जगत् बाह्य पदार्थों को देखता है, उससे विलक्षण उनकी दृष्टि है। भगवान बाहुबलि के अपूर्व सौन्दर्य तथा महत्ता को विधर्मी भी स्वीकार करते हुए उन देवाधिदेव को शतश: प्रणाम करते हैं। जब हमने पूछा "महाराज गोमटेश्वर की मूर्ति का आपने दर्शन किया है उस सम्बन्ध में आपके अंतरंग में उत्पन्न हुए उज्वल भावों को जानने की बडी इच्छा है।" उस समय महाराज ने जो उत्तर दिया उसे सुनकर हम चकित हो गए। वे बोले "बाहुबलि स्वामी की मूर्ति बडी है। वह जिनबिम्ब हमें अन्य मूर्तियों के समान ही लगी। हम तो जिनेन्द्र के गुणों का चिन्तवन करते हैं, इसलिए बडी मूर्ति और छोटी मूर्ति में क्या भेद है?" इससे आचार्य महाराज की मार्मिक दृष्टि का स्पष्ट बोध होता है। प्रत्येक बात में आचार्य महाराज की लोकोत्तरता मिलती है।

बाहुबलि के स्वामी के विषय में अलौकिक दृष्टि

इसके अनंतर हमें सन् १९५२ में पुनः लोणंद आकर पर्यूषण पर्व में महाराज के पुण्य चरणों में रहने का सौभाग्य मिला। वहा मै प्रतिदिन शास्त्र पढता था। उस समय बीच बीच में मार्मिक प्रश्नो के द्वारा तथा अनेक सुन्दर समाधानो से आचार्य महाराज श्रोतृमंडल को कृतार्थ करते थे। उस समय महाराजसे उनके व्यक्तिगत अनुभव की अनेक बातें सुनने में आती थी।

एक दिन लोणंद के नवीन मंदिर निर्माण के समय कुछ विवाद

भगवान बाहुबली की मूर्ति का छत पर बैठकर आचार्य श्री ने दर्शन किया था।
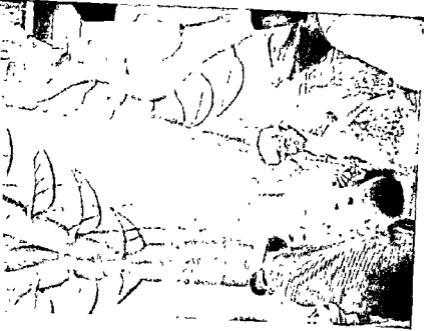
प्रधान मंत्री नेहरूजी इंदिरा गांधी के साथ बाहुबली के चरणों में।

कषाय की तलवार अलग करो

की बात उठी। उस समय समन्वय का मार्ग सुझाते हुए महाराज ने कहा था "यदि कषाय की तलवार दूर कर बात करो तो तुम्हे ठीक ठीक बात का पता चल जावेगा।" कितनी सत्य बात है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के कारण ही हम सत्य का दर्शन नही कर पाते और व्यर्थ के विवाद में फसेर बकवाद करते हैं।

मुनि नेमीसागर महाराज ने सत्रह उपवास किए थे, इसलिए आचार्य महाराज उनके विषय में विशेष ध्यान रखते थे। एक दिन वे शास्त्र सुन रहे थे; किन्तु आचार्य महाराज ने उनकी शरीर स्थिति का ध्यान रखकर उन्हे विश्राम के हेतु उठवाया था। इससे उनकी कुशल दृष्टि और करुणा भाव स्पष्ट होते हैं।

वहा एक बालक एक विषैले वृक्ष को तोडता था जिसके दूध से शरीर फूल जाता है। उस बच्चे के माता पिता को भी अपने बालक ध्यान न था। सहसा महाराज की दृष्टि उस बालक पर पडी और उन्होने बालक के माता-पिता को सरक्षण के निमित्त सावधान किया। आत्म कल्याण के साथ वे लोक हित को भी दृष्टि में रखते हैं।

उपवास के विषय में उन्होने कहा "जब तक धर्मध्यान रहे, तब तक उपवास करना चाहिए। आर्तध्यान, रौद्रध्यान उत्पन्न होने पर उपवास करना हितप्रद नही है।"

दयापात्र कौन है ?

दीन और दुखी जीवो पर तो सबको दया आती है। सुखी प्राणी को देखकर किसके अत करण में करुणा का भाव जगेगा ? आचार्य महाराज की दिव्य दृष्टि में धनी और वैभव वाले भी उसी प्रकार करुणा और दया के पात्र हैं, जिस प्रकार दीन, दुखी तथा विपत्ति ग्रस्त दया के पात्र है। एक दिन महाराज कहने लगे "हमें सम्पन्न और सुखी लोगो को देखकर बडी दया आती है।"

मैंने पूछा "महाराज! सुखी जीवो पर दया भाव का क्या कारण है?" महाराज ने कहा "ये लोग पुण्योदय से आज सुखी हैं, आज सम्पन्न हैं, किन्तु विषयभोग में उन्मत्त बनकर आगामी कल्याण की बात जरा भी नही सोचते जिससे आगामी जीवन भी सुखी हो। जब तक जीव सयम और त्याग का शरण नही लेगा, तब तक उसका भविष्य आनन्दमय नहीं हो सकता। इसलिए हम अपने भक्तो को आग्रहपूर्वक असयम की ज्वाला

कषाय की तलवार अलग करो

की बात उठी। उस समय समन्वय का मार्ग सुझाते हुए महाराज ने कहा था "यदि कषाय की तलवार दूर कर बात करो तो तुम्हे ठीक ठीक बात का पता चल जावेगा।" कितनी सत्य बात है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के कारण ही हम सत्य का दर्शन नही कर पाते और व्यर्थ के विवाद में फसेर बकवाद करते हैं।

मुनि नेमीसागर महाराज ने सत्रह उपवास किए थे, इसलिए आचार्य महाराज उनके विषय में विशेष ध्यान रखते थे। एक दिन वे शास्त्र सुन रहे थे; किन्तु आचार्य महाराज ने उनकी शरीर स्थिति का ध्यान रखकर उन्हें विश्राम के हेतु उठवाया था। इससे उनकी कुशल दृष्टि और करुणा भाव स्पष्ट होते हैं।

वहा एक बालक एक विषैले वृक्ष को तोडता था जिसके दूध से शरीर फूल जाता है। उस बच्चे के माता पिता को भी अपने बालक ध्यान न था। सहसा महाराज की दृष्टि उस बालक पर पडी और उन्होने बालक के माता-पिता को सरक्षण के निमित्त सावधान किया। आत्म कल्याण के साथ वे लोक हित को भी दृष्टि में रखते हैं।

उपवास के विषय मे उन्होंने कहा "जब तक धर्मध्यान रहे, तब तक उपवास करना चाहिए। आर्तध्यान, रौद्रध्यान उत्पन्न होने पर उपवास करना हितप्रद नही है।"

दयापात्र कौन है?

दीन और दुखी जीवो पर तो सबको दया आती है। सुखी प्राणी को देखकर किससे अतःकरण में करुणा का भाव जगेगा? आचार्य महाराज की दिव्य दृष्टि में धनी और वैभव वाले भी उसी प्रकार करुणा और दया के पात्र है, जिस प्रकार दीन, दुखी तथा विपत्ति ग्रस्त दया के पात्र हैं। एक दिन महाराज कहने लगे "हमें सम्पन्न और सुखी लोगो को देखकर बडी दया आती है।"

मैंने पूछा "महाराज! सुखी जीवो पर दया भाव का क्या कारण है?" महाराज ने कहा "ये लोग पुण्योदय से आज सुखी हैं, आज सम्पन्न हैं, किन्तु विषयभोग में उन्मत्त बनकर आगामी कल्याण की बात जरा भी नही सोचते जिससे आगामी जीवन भी सुखी हो। जब तक जीव सयम और त्याग का शरण नही लेगा, तब तक उसका भविष्य आनन्दमय नहीं हो सकता। इसलिए हम अपने भक्तो को आग्रहपूर्वक असयम की ज्वाला

से निकालकर संयम के मार्ग में लगाते हैं। हमने अपने भाई देवगोंडा को कुटुम्ब के जाल से निकालकर दिगबर मुनि बनाया। उसे वर्द्धमानसागर कहते हैं। छोटे भाई कुमगोंडा को ब्रह्मचर्य प्रतिमा दी और उसे भी मुनि दीक्षा देते, किन्तु उसका शीघ्र मरण हो गया, हमारे मन में उन लोगों पर बड़ी दया आती है, जो हमारी खूब सेवा, भक्ति करते हैं जो हमारे पास बार बार आते हैं, किन्तु व्रत पालन करने से डरते हैं।" यथार्थ में लोकोद्धार के लम्बे लम्बे भाषण देने से या बड़ी बड़ी सुन्दर योजनाओं के बनाने से लोक का सच्चा अभ्युदय नहीं होता। लोकहित का सच्चा उपाय गुरुदेव की दृष्टि में संयम मार्ग का अपनाना है।

उपवास से क्या लाभ होता है इस विषय में उनने अपनी अनुभव-पूर्ण वाणी से कहा "मदोन्मत्त हाथी को पकड़ने के लिए कुशल व्यक्ति उसे कृत्रिम हथिनी की ओर आकर्षित कर गहरे गड्ढे में फंसाते हैं। उसे बहुत समय तक भूखा रखते हैं। इससे उस हाथी का उन्मत्तपना दूर हो जाता है और वह छोटे से अंकुश के इशारे पर प्रवृत्ति करता है। वह अपना स्वच्छंद विचरना भूल जाता है। इसी प्रकार इंद्रिय और मन उन्मत्त होकर इस जीव को विवेक शून्य बना पाप मार्ग मे लगाते हैं। उपवास करने से इन्द्रिय और मन की मस्ती दूर हो जाती है और वे पाप पथ से दूर हो आत्मा के आदेशानुसार कल्याण की ओर प्रवृत्ति करते हैं।

उपवास से क्या लाभ है ?

महाराज ने कहा "संयम का लक्ष्य इन्द्रिय एवं मन का जीतना है। संयम का ध्येय चिरसंचित कर्मों को धक्का मारकर निकालने का है। संयम करने वाला तपस्वी दैव की छाती पर सवार होकर कर्मक्षय करता है। तपस्या कर्मक्षय की दवाई है।

संयम का ध्येय कर्मों को धक्का मारकर निकालना है

मैंने कहा "महाराज! यह औषधि तो बड़ी कड़वी है।" महाराज ने कहा" अच्छी औषधि कड़वी ही लगती है। रोगी को शक्कर घी की दवाई नहीं दी जाती। उसे दी जाती है कटु औषधि, जिससे शरीर में घुसा हुआ रोग दूर होता है। इसी प्रकार जन्म मरण, सकुल संसार परिभ्रमण का रोग दूर करने को तप के द्वारा नव ग्रैवेयक तक का सुख मिलता है। तप के विषय में महाराज ने बड़े अनुभव की बात बताई। "शरीर पर एकदम बड़ा बोझा डाल दिया जाय, तो वह उसे नहीं संभाल पाता है, किन्तु यदि धीरे २ बोझा बढ़ाया जाय तो वह

अपूर्व अनुभव

सहन हो जाता है। इसी प्रकार थोड़ा थोड़ा व्रत तथा उपवासका भार बढ़ाने से आत्मा को पीड़ा नहीं होती और धीरे धीरे उसकी शक्ति बढ़ते जाती है।" महाराज ने कहा था "हमने यह अपने अनुभव की बात कही है।"

आज जगत में कोई गरीबी के कारण दुखी है। वह धनवान को सुखी देखकर अन्तर्दाह से संतप्त होता हुआ उसके समान सम्पत्तिशाली बनना चाहता है। उसक उपाय कोई कोई यह सोचते हैं कि उस धनी के धन को छीन लिया जाय। बस इसके सिवाय निर्धनता की पीड़ा से बचने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। इस सम्बन्ध में आचार्य महाराज ने कहा "गरीबी के संताप को दूर करने के लिए अव्यर्थ औषधि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा अतिलोभ का परित्याग करके दयामय जीवन व्यतीत करना है।" उनने वसुदेव की कथा बताई जो महाराज कृष्ण के ज्येष्ट बंधु थे। पूर्वभव में वसुदेव (बलराम) अत्यन्त कुरूप बुद्धिशून्य तथा निर्धन थे।

जगत में रूप, विद्या, धन में से कोई एक भी बात होती है तो जीव आदर को प्राप्त करता है। किन्तु तीनों विशेषता शून्य वह जीव सर्वत्र तिरस्कार का पात्र बना। उसने सद्गुरु का शरण लिया, जिनने उसके दुख दूर करने का उपाय अहिंसापूर्ण तपस्या करना बताया। वह उग्र तपश्चर्या में निमग्न हो गया। जिसके फलस्वरूप वह विद्या, बल, वैभव तथा सौन्दर्य सम्पन्न बलराम के रूप में उत्पन्न हुआ। इसलिए सुखी बनने का उपाय धन की छीना झपटी कलह अनीति अत्याचार नहीं है। 'उसका प्रशस्त मार्ग है इंद्रियों का निग्रह और संयम के साधन। महाराज ने कहा, पवित्र पुरुषार्थ के द्वारा सुख पाना हमारे हाथ में है। मोक्ष प्राप्ति के निश्चित समय के बीच में यदि संयम और व्रत पालन किया तो जीव उस सुख को प्राप्त करता है जिसकी सब कामना करते हैं और उस विपत्ति से बचता है जिससे सब डरते है। संयम पालन करने के लिए दैव का अवलम्बन छोड़ पुरुषार्थ का आश्रय लेना चाहिये। विपत्ति के आने पर हिम्मत हारना सच्चे पुरुष का धर्म नहीं है।"

सुखी बनने का उपाय इंद्रियों का निग्रह तथा संयम

महाराज ने यह भी कहा, कि "जब कर्मोदय का तीव्र वेग हो उस समय शांत रहना चाहिए और जब कर्म का वेग कुछ मन्द हो तब पुरुषार्थ करना चाहिए।' अपना व्यक्तिगत अनुभव बताते हुए उनने कहा 'जब भोजग्राम में वेदगंगा और दूधगंगा के संगम में हम तैरते थे उस समय मध्य में

के दुख शरीर तक ही सीमित है। उससे हमारी आत्मा को क्या होगा ? शरीर और आत्मा एक नही है ।"

महाराज ने कहा—"हम व्यवहार धर्म का पालन करते है। भगवान का दर्शन करते है। अभिषेक देखते है। प्रतिक्रमण–प्रत्याख्यान करते है। सभी क्रियाओ का यथाविधि पालन करते है, किन्तु हमारी अतरग श्रद्धा निश्चय पर है। जिस समय जो भवितव्य है, उसे कोई भी अन्यथा नही परिणमा सकेगा। किन्तु हमारा निश्चय का एकात नही है। दूसरो के दुख दूर करने का विचार करुणावश है ।"

मेरे प्रश्न के उत्तर में महाराज ने बताया कि उनके मुनि जीवन के पूर्व में वे दस बारह मुनियो को देख चुके है। उस समय मुनि जीवन की निर्दोष परिपालना नही होती थी। उपाध्याय द्वारा श्रावक के घर में मुनिराज के आहार का निश्चय होने पर दूसरे दिन वह मुनिराज को उस घर पर ले जाता था और वहा आहार होता था। उस समय घर में निरतर घटा बजता रहता था, जिससे अयोग्य शब्दादि के सुनने से अतराय नहीं होवे। वे मुनि आहार के समय पूर्ण दिगम्बर होते थे, अन्य समय में वे खण्ड वस्त्र धारण करते थे।"

आगमानुकूल आचरण

यह बात सुनकर मैंने कहा—"महाराज आपने भी कुछ समय तक ऐसी ही वृत्ति धारण की होगी ?"

उनने कहा— "हमने आगम के विपरीत आचरण नही किया। हम शास्त्र पढते रहते थे, इससे हमें कर्तव्य पथ का स्वय बोध हो जाता था। मुनिपद की बात तो दूसरी क्षुल्लक व्रत लेने पर हमने उपाध्याय द्वारा पूर्व निश्चित घर में आहार नही किया। इस कारण हमें दीक्षा लेने के बाद दो तीन वर्ष पर्यन्त बहुत कष्ट सहन करना पडा, कारण लोगों को यह पता नही था, कि अनुद्दिष्ट आहार किस प्रकार दिया जाता है। प्रभात में हम मदिर से धर्मसाधन के उपरान्त आहार के लिए निकलते थे। घर जाते हुए किसी श्रावक के पीछे पीछे जाते थे यदि उसने मुह फेरकर हमें देख लिया और आहार के लिए अनुरोध किया, तो उसके घर जाते थे, अन्यथा दूसरे घर के साम्हने जाते थे, वहा के ग्रहस्थ ने यदि नही पडगाहा, तो हम वापिस लौट आते थे, और उस दिन उपवास करते थे। दूसरे दिन भी ऐसा ही करते थे, और कभी कभी दूसरे दिन और तीसरे दिन भी योग नही मिलता था, इससे हम समताभाव पूर्वक उपवास करते जाते

थे । इससे हमारे अंतःकरण में कोई सन्ताप नहीं होता था । हमारा यह पक्का निश्चय था कि भगवान की आज्ञा के खिलाफ जरा भी काम नहीं करेंगे भले ही हमारे प्राण चले जावें । उस समय उपाध्याय लोग हमारे विरुद्ध हो गए थे कारण उनके द्वारा निश्चित किये गए घर में आहार को न जाने से उनकी हानि होती थी, क्योंकि जिस घर में साधु आहार होता था वहां उपाध्याय भी सानंद भोजन करता था । हमारी प्रवृत्ति से उपाध्यायों का स्वार्थ पोषण रुक गया, इससे वे हमारे मार्ग के कंटक हो गए। मुनिगण भी हमारे प्रतिकूल ही कहने लगे, कि इस काल के अनुसार प्रवृत्ति करना चाहिए, अथवा प्राण-विसर्जन करना होगा ।

सन्मार्ग दर्शन

इस कठिन परिस्थिति में हमने आगम-कथित मार्ग का परित्याग नहीं किया । हम सोचते थे जब तक अन्तराय कर्म का उदय होगा, तब तक आहार का योग नहीं मिलेगा । धीरे धीरे लोगों को हमारी प्रवृत्ति का बोध हो चला और फिर प्रतिकूल परिस्थिति अनुकूल बन गई ।" इससे यह ज्ञात होता है, कि महाराज ने मुनिमार्ग के सुधारने में सच्चे सुधारक का कार्य किया। मिथ्या प्रवृत्ति को दूर करके सच्ची बातों का प्रचार ही सच्चा सुधार है । आज विषय लोलुपी लोग धर्म मार्ग को छोड़कर पतनकारी क्रियाओं में प्रवृत्ति को सुधार कार्य कहते हैं । सच्चा सुधार आचार्य महाराज सदृश आत्मबली महान आत्माओं द्वारा सपन्न होता है । असंयमी जीवन की वृद्धि करते हुए जो अपने मस्तक पर सुधारकपने का मुकुट बांधते हैं, वे जीव आत्म वंचना करते हुए दुर्गति में अवर्णनीय कष्ट भोगा करते हैं। जीव संयम तथा त्याग के पथ में प्रवृत्त होता है, तब ही जीवन में सुधार के सद्भावों का जागरण होता है ।

उपवास से आत्म-जागृति का अपूर्व उदाहरण

संयमी जीवन से आत्मा की भोगासक्ति दूर होती है और जीव को आत्मा का कल्याण दिखाई पडता है। महाराज ने बताया था कि जब उनने जयपुर में चातुर्मास किया था तब एक गुलाबबाई नाम की महिला ने बत्तीस उपवास किए थे । उपवास पूर्ण होते ही उसके भावों में इतनी विशुद्धि हुई कि उसने तेंतीसवें दिन केशों का लोच करके आर्यिका की दीक्षा ले ली । देखने वाले लोग चकित हो गए। वास्तव में ऐसी सत्प्रवृत्तियों द्वारा जीवन का सुधार होता है ।"

आत्म कल्याण के हेतु यथाविधि उपवास करने से इंद्रिय मन के

के दुख शरीर तक ही सीमित हैं। उससे हमारी आत्मा को क्या होगा? शरीर और आत्मा एक नहीं हैं।"

महाराज ने कहा–"हम व्यवहार धर्म का पालन करते हैं। भगवान का दर्शन करते हैं। अभिषेक देखते हैं। प्रतिक्रमण–प्रत्याख्यान करते हैं। सभी क्रियाओं का यथाविधि पालन करते हैं, किन्तु हमारी अतरग श्रद्धा निश्चय पर है। जिस समय जो भवितव्य है, उसे कोई भी अन्यथा नहीं परिणमा सकेगा। किन्तु हमारा निश्चय का एकात नहीं है। दूसरों के दुख दूर करने का विचार करुणावश है।"

मेरे प्रश्न के उत्तर में महाराज ने बताया कि उनके मुनि जीवन के पूर्व में वे दस बारह मुनियों को देख चुके हैं। उस समय मुनि जीवन की निर्दोष परिपालना नहीं होती थी। उपाध्याय द्वारा श्रावक के घर में मुनिराज के आहार का निश्चय होने पर दूसरे दिन वह मुनिराज को उस घर पर ले जाता था और वहा आहार होता था। उस समय घर में निरतर घटा बजता रहता था, जिससे अयोग्य शब्दादि के सुनने से अतराय नहीं होवे। वे मुनि आहार के समय पूर्ण दिगम्बर होते थे, अन्य समय में वे खण्ड वस्त्र धारण करते थे।"

आगमानुकूल आचरण

यह बात सुनकर मैंने कहा–"महाराज आपने भी कुछ समय तक ऐसी ही वृत्ति धारण की होगी?"

उनने कहा– "हमने आगम के विपरीत आचरण नहीं किया। हम शास्त्र पढते रहते थे, इससे हमें कर्तव्य पथ का स्वय बोध हो जाता था। मुनिपद की बात तो दूसरी क्षुल्लक व्रत लेने पर हमने उपाध्याय द्वारा पूर्व निश्चित घर में आहार नहीं किया। इस कारण हमें दीक्षा लेने के बाद दो तीन वर्ष पर्यन्त बहुत कष्ट सहन करना पडा, कारण लोगों को यह पता नहीं था, कि अनुद्दिष्ट आहार किस प्रकार दिया जाता है। प्रभात में हम मदिर से धर्मसाधन के उपरान्त आहार के लिए निकलते थे। घर जाते हुए किसी श्रावक के पीछे पीछे जाते थे यदि उसने मुह फेरकर हमें देख लिया और आहार के लिए अनुरोध किया, तो उसके घर जाते थे, अन्यथा दूसरे घर के साम्हने जाते थे, वहा के ग्रहस्थ ने यदि नहीं पडगाहा, तो हम वापिस लौट आते थे, और उस दिन उपवास करते थे। दूसरे दिन भी ऐसा ही करते थे, और कभी कभी दूसरे दिन और तीसरे दिन भी योग नहीं मिलता था, इससे हम समताभाव पूर्वक उपवास करते जाते

थे । इससे हमारे अंतःकरण मे कोई सताप नही होता था । हमारा यह पक्का निश्चय था कि भगवान की आज्ञा के खिलाफ जरा भी काम नही करेंगे भले ही हमारे प्राण चले जावें । उस समय उपाध्याय लोग हमारे विरुद्ध हो गए थे कारण उनके द्वारा निश्चित किये गए घर में आहार को न जाने से उनकी हानि होती थी, क्योकि जिस घर में साधु आहार होता था वहा उपाध्याय भी सानद भोजन करता था । हमारी प्रवृत्ति से उपाध्यायो का स्वार्थ पोषण रुक गया, इससे वे हमारे मार्ग के कटक हो गए। मुनिगण भी हमारे प्रतिकूल ही कहने लगे, कि इस काल के अनुसार प्रवृति करना चाहिए, अथवा प्राण-विसर्जन करना होगा ।

सन्मार्ग दर्शन

इस कठिन परिस्थित में हमने आगम-कथित मार्ग का परित्याग नही किया । हम सोचते थे जब तक अन्तराय कर्म का उदय होगा, तब तक आहार का योग नही मिलेगा । धीरे धीरे लोगो को हमारी प्रवृत्ति का बोध हो चला और फिर प्रतिकूल परिस्थिति अनुकूल बन गई ।" इससे यह ज्ञात होता है, कि महाराज ने मुनिमार्ग के सुधारने में सच्चे सुधारक का कार्य किया। मिथ्या प्रवृत्ति को दूर करके सच्ची बातो का प्रचार ही सच्चा सुधार है । आज विषय लोलुपी लोग धर्म मार्ग को छोडकर पतनकारी क्रियाओ मे प्रवृत्ति को सुधार कार्य कहते हैं । सच्चा सुधार आचार्य महाराज सदृश आत्मबली महान आत्माओ द्वारा सपन्न होता है । असयमी जीवन की वृद्धि करते हुए जो अपने मस्तक पर सुधारकपने का मुकुट बाधते हैं, वे जीव आत्म वचना करते हुए दुर्गति में अवर्णनीय कष्ट भोगा करते हैं । जीव सयम तथा त्याग के पथ में प्रवृत्त होता है, तब ही जीवन में सुधार के सद्भावो का जागरण होता है ।

उपवास से आत्म-जागृति का अपूर्व उदाहरण

सयमी जीवन से आत्मा की भोगासक्ति दूर होती है और जीव को आत्मा का कल्याण दिखाई पडता है। महाराज ने बताया था, कि जब हमने जयपुर में चातुर्मास किया था तब एक गुलाबबाई नाम की महिला ने बत्तीस उपवास किए थे । उपवास पूर्ण होते ही उसके भावो में इतनी विशुद्धि हुई कि उसने तेंतीसवें दिन केशो का लोच करके आर्यिका की दीक्षा लेली । देखने वाले लोग चकित हो गए। वास्तव मे ऐसी सत्प्रवृत्तियो द्वारा जीवन का सुधार होता है ।"

आत्म कल्याण के हेतु यथाविधि उपवास करने से इद्रिय मन के

ली थी । यह देखकर एक आदमी उनके पास आकर बोला "महाराज ! यदि आपके उपदेश को मान कर सभी लोग मुनि पद धारण कर लेंगे तो उनकी सम्हाल कैसे होगी । उनको आहार कौन देगा ?

महाराज ने कहा था—"भाई ! सभी आत्माओं में ऐसी पवित्रता नही उत्पन्न होती है । फिर भी तुम तर्क द्वारा यह बात कहते हो, तो हमारा यह उत्तर है कि यदि मुनि बनने पर किसी को आहार न मिले, तो इस बात की हम जमानत लेते हैं। देखें ! ऐसा व्यक्ति कौन रहता है, जिसे मुनि पद धारण करने पर आहार का लाभ न मिले ।" महाराज जैसे जमानत लेने को तैयार होने हैं, तब वे शकाकार चुप हो गये । यहा तो महाराज ने जमानत देने की बात बताई थी । एक बार उनने जमानत लेने की भी मधुर बात सुनाई थी । पायसागर जी के दीक्षा के अतरग से भाव थे किन्तु उनकी पूर्व स्वच्छद प्रवृत्तियो को ही लक्ष्य-बिन्दु में रखने वाले लोग महाराज से कहते थे—"महाराज ! ऐसे व्यक्ति को दीक्षा न दीजिये । यह नाटकीय व्यक्ति रहा है, इसे दीक्षा को लेकर उसे छोडते देर न लगेगी ।"

विनोदमें धर्म-सरक्षण का रहस्य

महाराज ने पायसागर जी की उच्च आत्मा को परख लिया था, इससे उनकी भावना पायसागर जी की दीक्षा देने की हो रही थी । उस समय महाराज ने पूछा—"पायसागर दीक्षा लेकर नही छोडेगा, इसका क्या प्रमाण है ?" उस समय पायसागर जी की वैराग्यभाव पूर्ण मनोवृत्ति को पूर्णतया समझने वाले उनके एक श्रीमत कुटुम्बी महाराज के समक्ष आकर बोले—"महाराज ! मैं इस बात की जमानत लेता हूँ । यदि इनने दीक्षा लेकर छोड दी, तो मैं इस दीक्षा को आपके चरणो के समीप ग्रहण करूगा ।" इस प्रकार योग्य जमानतदार को देखकर मधुर विनोदमय वातावरण में पायसागर जी की दीक्षा का निश्चय हुआ था । उनकी दीक्षा ऐसी ही सच्ची वैराग्य युक्त निकली, जिस प्रकार विविध प्रकार के अभिनय करने में निपुण ब्रह्मगुलाल की मुनि दीक्षा हुई थी । आज पायसागर महाराज के द्वारा कितना स्व-पर कल्याण हो रहा है, यह प्रत्यक्ष दर्शी ही जान सकता है । उनके मार्मिक तथा अन्तस्तल स्पर्शी आध्यात्मिक उपदेश को सुनते ही सभी जैन अजैन आनन्द विभोर हो जाते हैं, तथा पाप प्रवृत्तियो का परित्याग करते हैं ।

आचार्य महाराज ने जिस जिस व्यक्ति को स्वय परीक्षा करके दीक्षा

ा अन्य व्रतादि दिए हैं ,उन लोगों का जीवन अपूर्व सौरभ सपन्न तथा रम विकास पूर्ण रहा है ।

उनके व्यक्तित्व का ऐसा प्रभाव पडता है, कि उनके समीप कठिन कठिन व्रत लेने का आत्मा में बल जाग्रत हो जाता है । असयम के ाह के विरुद्ध सयम की नौका को ले जाने वाले उन जैसे चतुर नाविक ाश आत्म तेज तथा जिन भक्ति-युक्त और आत्मा कहा है ?

नशनादि तप रने का विशेष ारण

एक दिन वाह्य तप का वर्णन करते हुए मैंने कहा,-"अनशनादि के धारण करने से मन की चचलता दूर होती है, तथा चित्त स्थिर होता है।"

इस पर आचार्य महाराज ने कहा-"इसका क्या यह अर्थ है, कि हम जो अनशन करते हैं वेला, तेला आदि करते , वह मन की चचलता दूर करने को करते हैं, अर्थात् मन चचल है यह ात इससे सिद्ध होती है ।"

मैंने पूछा-"महाराज ! आपके उपवासादि करने का क्या प्रयोजन , जब आपके मन में चचलता नही है ?"

उनने कहा-"हमने पूर्व में मिथ्यात्व की अवस्था में जो महान र्मों का वध किया है, उसकी निर्जरा करने के हेतु हम उपवासादि निरतर कया करते हैं । तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है, सवर भी होता । इससे मन में चचलता न होते हुए भी हम उक्त ध्येय की सिद्धि के तु उपवासादि तप करते हैं ।"

इस प्रकार की अनेक मार्मिक बातें आचार्य महाराज के मुख से ुनाई पड़ती हैं । तत्वार्थसूत्र की तृतीय अध्याय में जब कर्म भूमि का र्णन आया, तब महाराज ने मुझ से पूछा-"कर्म भूमि का क्या अर्थ है ?" ैंने कहा-"असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या इन षट् कर्मों के ारा यहा जीविका की जाती है, इससे भरतादि क्षेत्रो को कर्मभूमि कहा गया है ।"

महाराज ने कर्मभूमि का अर्थ इस प्रकार कहा-"कर्मक्षय की भूमि कर्मभूमि है । इस भूमि में समस्त कर्मों का क्षय किया जाता है इससे इस कर्मभूमि कहते है ।"

जब महाराज ने निर्वाण दीक्षा लेने का निश्चय किया, तब वे उसके पूर्व मगलमय भगवान गोम्मटेश्वर की लोकोत्तर मूर्ति के

श्रमणवेलगोला का सुन्दर संस्मरण

दर्शनार्थ श्रमणवेलगोला गए थे। वहां का संस्मरण बडा मधुर है। महाराज ने कहा—"जब हम वहा पहुंचे,तब महाराज मैसूर, भगवान बाहुबलि की वंदनार्थ आने वाले थे, उसकी सब व्यवस्था हो रही थी। पुलिस तथा सैन्य का पहरा लग गया था। पर्वत पर कोई आदमी नही जा सकता था। उस समय क्षुल्लक विमलसागर जी ने जैन सेठ एम. एल. वर्धमानैय्या से हमारा परिचय कराते हुए कहा कि इनको पर्वत पर जाने की व्यवस्था कराइये। उस समय वर्धमानैय्या सेठ का राज्य मे बड़ा प्रभाव था। वर्धमानैय्या सेठ ने कहा 'महाराज ! कल मैसूर नरेश के आने पर पर्वत पर कोई भी आदमी न जा सकेगा। इससे आप आज ही संध्या को हमारे साथ ऊपर चलिए। वहां ही रात्रि को रहिए तथा दूसरे दिन वापस लौट आइयें।' इससे हम संध्या को ही वर्धमानैय्या सेठ के साथ पर्वत पर चले गए। वह रात्रि हमने बाहुबलि स्वामी के चरणो में व्यतीत की।

दूसरे दिन सूर्योदय होने पर हमने मूर्ति के साम्हने की शिखर पर से देखा, कि वैभव सहित मैसूर के नरेश कृष्णराज वाडियर का वहां आना हुआ। वह नरेश बडा धार्मिक था। पहले कृष्णराज महाराज ने बडे भाव भक्ति पूर्वक बाहुबलि स्वामी की वीतराग छवि का दर्शन किया, पश्चात रुपयों से भरी हुई एक चादी की थाली लेकर भगवान के चरण का अभिषेक किया। इसके अनंतर थाली को भी भगवान के चरणो मे चढाकर उनने भगवान के चरणों मे साष्टाग प्रणाम किया। बहुत गम्भीरता पूर्वक दर्शन के उपरात वे भगवान की ओर दृष्टि डालते हुए बिना पीठ किए विनय पूर्वक धीरे धीरे पीछे आए तथा पर्वत से नीचे उतर आए।"

मैसूर के नरेश द्वारा भक्तिपूर्वक वंदना

एक समृद्धिशाली नरेश द्वारा रजत मुद्राओं से पूर्ण रजतपात्र द्वारा भगवान गोमटेश्वर की पूजा तथा अभिषेक का दृश्य सचमुच में बड़ा रम्य रहा होगा. इसी कारण आज भी आचार्य महाराज को वह बात जैसी की तैसी याद है।

श्रमणवेलगोला में उनको मुनिराज अनंतकीर्ति निल्लीकार का दर्शन हुआ था। अनतकीर्ति महाराज का एक विशेष संदेश इनके द्वारा कोल्हापुर के दानवीर धार्मिक श्रीमंत सेठ भूपालप्पा जिरगे के पास भेजा गया था। उसमें उनने उत्तर-भारत की यात्रा की भावना प्रदर्शित की थी।

मुनि अनतकीर्ति जी से भेंट

एक दिन अनित्य अनुप्रेक्षा पर मैं विवेचन कर रहा था। उस

जीवन का क्या भरोसा ?

समय महाराज ने सुनाया था "इस संसार की अनित्यता का हम रोज विचार करते है । एक समय एक व्यक्ति ने भक्ति पूर्वक हमें आहार कराया। उसके अनन्तर वह अपने घर गया वहाँ भोजन करने एक ग्रास हाथ में लिया ही था कि तत्काल उसके प्राण चले गए। वह अकाल मरण की घटना कोगनोली ग्राम में हुई थी।" यथार्थ में जगत की इस गतिविधि को ध्यान में रखकर सत्पुरुष तपोवन का आश्रय ग्रहण किया करते है।

लोगो को कल्याण की नही सूझती

बबई से संघपति सेठ दाडिमचन्द जी ने लोणन्द आकर प्रभात में आचार्य श्री को प्रणाम किया। उस समय महाराज को यह समाचार ज्ञात हुआ कि उक्त सेठ जी की नातिन का पति एक दिन की बीमारी में मर गया। इस तरह उनकी नातिन के सिर पर बाल वैधव्य की विपत्ति आ गई। उस समय एक सज्जन ने आचार्य श्री से कहा "महाराज यदि आज अवधिज्ञानी होते तो लोग अपने भविष्य का ज्ञान करके ऐसी दुर्घटनाओ से सतर्क रहते।" इस पर महाराज ने कहा "आज यदि अवधिज्ञान भी होता तो क्या विशेष बात ज्ञात होती ? संसार में जो सुख दुख भोगना है वे तो भोगना ही पड़ेंगे । आज अवधिज्ञान नही है तो क्या हुआ पहले एक कोटि पूर्व की आयु होते हुए लोग आठ वर्ष की अवस्था में मुनि बन तप करते थे। आज प्रायः लोगों का जीवन १०० वर्ष के भीतर रहता है। थोडा सा जीवन शेष रहने पर भी लोगों को अपना कल्याण नही सूझता। जिसकी ६० वर्ष से अधिक आयु हो गई वह यदि जीवित रहेगा तो २० वर्ष के लगभग। इसलिए ऐसे अल्प समय रहने पर अपने कल्याण की ओर बढने में तनिक भी प्रमाद नही करना चाहिये।" सासारिक भोगो की सेवा में जो विपत्ति आती है,उसकी गधे की लात खाने से तुलना करते हुए उनने कहा "गधे की पूछ पकडकर लात खाते जाना अच्छा नही। हम अपने प्रेमी भक्तों को धक्का लगाकर असंयम के गड्ढे से निकालते है जिससे आख बंद होने के पहले-पहले व अपना हित कर ले।

आख बद होने के पूर्व हित कर लो

हमने अपने भाइयो को गृहजाल से निकाला। अरे भाई! जगल में आग लगने पर वह आग कई दिन तक रहती है, तब कही वन का दाह होता है। इसी प्रकार बहुत प्रयत्न करने पर कर्मों का दाह होता है। कर्मों की राशि एक दिन में नही

जल जाती।"

पास में बैठे हुए क्षुल्लक सुमतिसागर जी ने कहा "आचार्य महाराज ने जबरदस्ती झटका देकर गृहजाल से हमारा इस प्रकार उद्धार किया है जिस प्रकार कोई सराफ चादी के तार को अपने यन्त्र में से झटका देकर खीचता है।" महाराज ने कहा "हमारी दृष्टि के आगे लखपती, करोडपती, वैभव वालो का मूल्य नही है। लाखो रुपया दान करने वाले धनिको की अपेक्षा इस क्षुल्लक का (सुमति सागरजी) हमारी दृष्टि से मूल्य ज्यादा है। कारण यह आरम्भ परिग्रह का त्यागी है इससे उसके कर्मों की विशेष निर्जरा होती है।

धनिको का नही सयमीका मूल्य है

इसलिए हमारा सभी से यही कहना है कि पागल के समान प्रवृत्ति छोडकर विवेकी पुरुष के समान कार्य करना चाहिये। अज्ञानी लोग साधु को पागल समझते है। किंतु साधु मोही जगत को पागल सदृश जानता है। कारण भोगी मानव झूठी दुनिया में ममत्व करके दुखी होता है। वास्तव में ससार का प्रयोग झूठा है।"

पागलपन छोडो

एक दिन उत्तरभारत के एक प्रसिद्ध, अनेक सस्थाओ के सचालक, त्यागी महोदय महाराज के समीप आये। लोगो ने उनका महाराज को परिचय कराया। महाराज ने उनसे पूछा कि "आप कौन सी प्रतिमा पालते है ?" उन भद्र स्वभाव वाले महानुभाव ने कहा "आज के युग में व्रती बनकर प्रतिमा पालन करना असभव है, इसलिए हम उदासीन रूप से रहते है।" इस उत्तर को सुनते ही आचार्य महाराज ने कहा "तुम्हारा यह कथन मिथ्यात्व के सद्भाव का निश्चय कराता है।" यह सुनते ही उन त्यागी जी के आखो में आसू आ गये। उनने कहा "महाराज आपने हमें मिथ्यात्वी किस तरह कह दिया। हमारा जिनेन्द्र की वाणी में पूर्ण विश्वास है।" इतना कहकर वे दुखी हो वहाँ से उठ गये और उन्होने अपनी कथा समाज के प्रख्यात सेठजी को सुनाई। वे सेठ साहब महाराज के पास आकर बोले "महाराज हम जानते है ये उच्च कोटि के त्यागी है, निस्पृह है, उच्च चरित्र वाले है। इनको आपने मिथ्यात्वी कैसे कह दिया ?"

महाराज ने कहा—"तुम्हारे त्यागी ने कहा आजकल व्रती नही हो सकते, यह बात भगवान की वाणी के विरुद्ध है। आगम में बताया है कि पचमकाल-के अत तक मुनियो का अस्तित्व रहेगा। इसके विरुद्ध आपका त्यागी कहता

सत्य का कथन सर्वोपरि

है कि आज व्रती श्रावक भी नहीं हो सकते। यह कथन आगम के विरुद्ध है। आगम के विरुद्ध बोलने वाले को मिथ्यादृष्टि कहने में क्या दोष हो गया तुम्ही बताओ ? वे सेठ चुप हो गए।" इस प्रकार का प्रबल तर्कपूर्ण तत्वों का प्रतिपादन आचार्य महाराज करते हैं। सत्य का प्रतिपादन करते समय महाराज अपने भक्त की अथवा धनी मानी व्यक्ति या अधिकारी की तनिक भी परवाह नहीं करते। उनकी दृष्टि में सत्य का समर्थन सर्वोपरि कर्त्तव्य रहता है।

महाराज की आलोचना इतनी मार्मिक और तत्वस्पर्शी होती है कि प्रकाण्ड विद्वानों की तर्कणा शक्ति उसके आगे कुंठित हो जाती है। आजकल जिस तरह से विलासिता का प्रवाह जगत में बह रहा है उसी प्रकार आत्मा की बातें बनाने वालों की भी संख्या वर्धमान दिखती है। आज का बुद्धि जीवी मनुष्य वैसे लोकविद्या के कठिन २ ग्रंथों में प्रवीणता प्राप्त करता है ? इसी प्रकार कोई कोई अध्यात्म शास्त्रों के पद्यों को कठस्थ करते हुए उनका मनोहर विवेचन करते हैं जिसे सुनते ही लोग यह सोचने लगते हैं कि इनके मिथ्यात्व का अधकार दूर हो गया और अब

आत्मा की बातें बनाने वाला में सम्यक्त्वी किसे माना जाय ?

इनसा सम्यक्त्वी सत्पुरुष और कहा मिलेगा ? ऐसे वातावरण में सत्य की उपलब्धि के लिए महाराज ने एक बडी अनुभव पूर्ण बात कही थी। वे बोले—"सम्यक्त्वी जीव की परीक्षा आस्तिक्य गुण के द्वारा हो जाती है। प्रशम, सवेग, अनुकम्पा ये तीन गुण मिथ्यात्वी में भी दिखाई पडते हैं किन्तु आस्तिक्य गुण मिथ्यात्वी में नही पाया जाता।" इस कथन के प्रकाश में आज जो सम्यक् दृष्टियो की बडी सख्या बताई जाती है उनको वास्तविकता का सम्यक् परीक्षण हो जाता है। जो व्यक्ति वीतराग भगवान की वाणी को न मानकर धर्म तथा सदाचार के विषय में जनता की रुचि का ध्यान रख शिथिलाचार को स्वीकार करते हैं, साथ ही जो अध्यात्म शास्त्र की कथा करने में असाधारण कुशलता दिखाते हैं, उनकी कलई आचार्य महाराज के द्वारा उक्त परीक्षा की पद्धति से खुल जाती है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शुक सदृश शास्त्रों का पाठ करने वाले व्यक्तियों के मुख से आत्मकथा का मधुर वर्णन सुनने पर भी उनको आत्मानुभूति की निधिसम्पन्न मानना

भयकर भूल की बात होगी।

छिपकिली की घटना

एक दिन व्रतो में शास्त्र का मथन चल रहा था। एकदम एक बडी छिपकली सभा में आ गई। लोग सहसा उठ गये। उस समय महाराज ने पूछा—"क्या बात है ?" किसी ने कहा—"महाराज छिपकली निकलने से लोग उठ गये।" सुनते ही महाराज के मुख मण्डल पर मधुर स्मित आ गया, और उनने कहा—"एक छिपकली से इतना डरते हो जब साँप आयगा तब क्या करोगे।" उनके इन शब्दो को सुनकर मुझे स्मरण आ गया कि इन महापुरुष के सर पर सर्पराज स्वच्छद क्रीडा कर चुका है फिर भी ये अविचल रहे हैं इसलिए इस छिपकली के प्रकरण को उन्होने विनोद तथा करुणा के भाव से देखा।

एक दिन मैने महाराज से पूछा—"महाराज ! व्रतादि के स्वरूप विचार करने में कैसे उनका ठीक अर्थ ध्यान में आ जाता है ?"

पूर्व सस्कार

उनने कहा—"व्रतादिक में कठिन प्रसग आने पर हमें कुछ ऐसी अनुभूति सी होती है, यह बात हमारे पहले अनुभव में आई हो, इस पूर्व सस्कार के कारण हमारे मार्ग की कठिनता दूर हो जाती है।" उन्होने यह भी बताया कि सामायिक पूर्ण होने के पश्चात् वे अपनी शकाओ पर विचार करते है, उस समय अनेक शकाओ का समाधान सहज हो जाया करता है।

क्षमा धर्म के दिन महाराज ने कहा—"साधु का मुख्य धर्म क्षमा भाव है। कैसा भी क्रोध उत्पन्न करने का प्रसग आवे साधु को क्षमा का त्याग नही करना चाहिए।" इतना कहते ही महाराज के स्मृति पथ में एक पूर्व परिचित साधु की बात आ गई। जिससे उनके चेहरे पर हास्य की रेखा आ गई। मेरे आग्रह करने पर उनने बताया—"एक साधु थे। किसी गृहस्थ ने उनके हाथो में अत्यन्त उष्ण खीर डाल दी, उसकी उष्णता असह्य थी। उनने वह खीर दाता गृहस्थ के मुख पर ही उछाल दी।" महाराज ने कहा—"मुनि को ऐसा नही करना चाहिए। असाता का उदय होने पर साधु को शातिभाव का त्याग नही करना चाहिए।"

अपने नेत्रो की ज्योति मन्द होती देख वे कहने लगे यदि हमारी दृष्टि अधिक मद हो गई तो हमें समाधिमरण करना पडेगा। मैने कहा—"महाराज ! शरीर की अच्छी स्थिति रहते हुए केवल आख के कारण आहार

का त्याग कर प्राणो का विसर्जन करने में आत्महत्या का दोप नही आवेगा ?" उनने कहा–"निर्दोप रीति से व्रतो का पालन करना मुख्य कर्तव्य है । जब दृष्टि इतनी क्षीण हो जावे कि हम जीवो का पूर्णतया रक्षण न कर सकें तब हमारे लिये एक मात्र यही मार्ग होगा कि हम इस शरीर को अन्न पान देना बद कर दें । इसमें आत्मघात का दोप नही है । इसका लक्ष्य है व्रतो का निर्दोष रीति से पालन करना।" किसी ने कहा "महाराज! ज्योतिषी को बुलाकर आपकी आयु के विपय में पता लगाना चाहिये ।" महाराज बोले–"हमारा ज्योतिषी पर विश्वास नही है । वह कोई केवली या श्रुत-केवली नही है । दूसरी बात यह है कि हमारा जीवन अधिक भी रहा और दृष्टि चली गई तो उस जीवन से हमारा क्या प्रयोजन ? हमें उसको समाप्त करना होगा ।"

शास्त्रो में लिखा है कि समाधिमरण के लिए मुनि को निर्वाण-भूमि में जाना चाहिये इसलिए अब आचार्य महाराज का विचार किसी निर्वाण स्थल में रहने का हो रहा है ।

महाराज के पुण्य प्रभाव की घटना २९ अगस्त को लोणन्द के एक अजैन बधु ने सुनाई । वहा के नाले के तट पर मुनियो के निवास के लिए पापाण की कुटी बन रही थी । उसके भीतर एक गरीब बालक काम करता था । नीव कमजोर होने के कारण वह कुटी धराशायी हो गई ।

तपोमूर्ति का प्रभाव

सैंकडो मन पापाण राशि के मध्य उस दीन बालक का रक्षण स्वप्न में भी असंभव था; किन्तु पुण्योदय था, जिस कोने में वह बालक खडा था, वहा के कुछ पाषाण नही गिरे और वह बालक कहने लगा "मुझे यहा से बचा लो।" उस बालक को पूर्णतया सुरक्षित ज्ञात कर हजारो लोग उस स्थल पर आए। प्रत्येक के मुख से यही बात निकलती थी "इन महात्मा की तपश्चर्या के प्रभाव से आज इस बच्चे का जीवन बचा । कदाचित कुटी के भीतर और साधु जन पहुच जाते और उस काल में वह गिर पडती तब न जाने क्या होता ? भाग्य से बिना क्षति के घटना हुई । यह तपोमूर्ति का प्रभाव है ।"

तत्व चर्चा

तात्विक चर्चा में महाराज ने बताया था "ऐलक बैठकर तथा खडे होकर भी आहार ले सकता है। क्षुल्लक केश-लोच का अभ्यास करता है, उससे नीचे की प्रतिमा वालो को केशो का लोच नही करना चाहिए।

व्रती श्रावक को नल का पानी नही पीना चाहिए। वह नल के जल

में स्नान करे तो बाधा नहीं है। पर्व में उपवास के बदले शक्ति न होने पर एकासन करे।"

महाराज के पास वीतरागता का भंडार भरा है उनका अनुभव महान है। उनका जीवन सुलझा हुआ है। वे तो आज के भवसिंधु भटकने वाले नाविका के लिए प्रकाश स्तंभ (Light house) के समान हैं। जिनकी ज्योति का जीवन नौकायें डूबने से बचकर इष्ट स्थल को पहुच सकती हैं। उनकी वीतरागता अलौकिक है। यथार्थ में उनके जीवन का महत्ता का प्रयत्न करते हुए भी उनको प्रकाशित करने में भी हमारी स्थिति उस गूंगे के समान है जो देवताओ के प्रिय सुधारस का पान करते हुए दूसरे लोगो के समक्ष उसके माधुर्य का वर्णन नही कर सकता।

रत्नाकर के बाह्य भाग पर पड़े हुए कुछ रत्नो के समान इन शांति सिंधु के जीवन की कुछ बातो का वर्णन किया है, यथार्थ में जैसे समुद्र के भीतर अत्यत दीप्तिमय रत्न राशि शोभायमान होती है, इसी प्रकार इन तपोमूर्ति मुनिनाथ की आत्मा अगणित अपूर्वताओ का आगार है, जिनका बाह्यजगत को ज्ञान नहीं है।

शांति के सिंधु की विशालता और गभीरता का अनुमान केवल इस एक संस्मरण से हो जायगा ऐसा हमें विश्वास है। मैंने कहा—' महाराज आपने मुझ पर महाधवल ग्रंथ के संपादन आदि का पवित्र भार रखा है। जयधवल ग्रथराज की सेवा का कार्य भी सौपा है। और भी बड़े बड़े कार्य वर्धमान भगवान के शासन की सेवा निमित्त स्वीकार करते जाता हू। आप जैसे तपस्वियो के आशीर्वाद में अपार सामर्थ्य है, महान शक्ति है इसलिये आशीर्वाद देने की प्रार्थना है।'

महाराज ने कहा— हम तुम्हे आशीर्वाद क्यो नहीं देंगे ? तुम तो जिन धर्म की सदा सेवा करते हो। हमारा आशीर्वाद तो उन जीवो के लिए भी है जो हमारा प्राण लेने का भी प्रयत्न करते हैं। विरोधी को भी हम आशीर्वाद देते है कि उनकी आत्मा का मिथ्यात्व दूर हो और वे मगल मय धर्म की शरण में आवें। आत्मा का सच्चा कल्याण धर्म की शरण लेने में है।"

ऐसी ही अहिंसा पूर्ण श्रेष्ठवृत्ति के कारण से श्रमणराज "चारित्र चक्रवर्ती' के पुण्यनाम से सपूजित होते है।

णमो आइरियाण

श्रीमत्कुन्द कुन्दाचार्यविरचितः।

समयसारः।

वंदित्वा सर्वसिद्धान् ध्रुवामचलामनौपम्यां गतिं प्राप्तान्।

वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदं अहो श्रुतकेवलि भणितम्॥१॥

जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि।

पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम्॥२॥

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुंदरो लोके।

बंधकथैकत्वे तेन विसंवादिनी भवति॥३॥

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा।

एकत्वस्योपलंभः केवलं न सुलभो विभक्तस्य॥४॥

आचार्य महाराज द्वारा की गई 'समयसार' की प्रतिलिपि का प्रारभिक अश।

तात्विक-चिंतन

विश्व-विश्लेषण

इस भूवलय पर दृष्टि डालने पर दो प्रकार के तत्व—अचेतन और सचेतन ज्ञानगोचर होते हैं। सचेतन वस्तु ज्ञान गुण समन्वित पायी जाती है। चेतन्यशक्ति शून्य अचेतन पदार्थ कहा जाता है। सचेतन जीवपुन्ज मे आत्मशक्ति के न्यूनाधिक विकास के कारण अगणित भेद हो गये हैं। भारतीय अध्यात्म वेत्ताओ ने जीव की अनंत विविधताओ का चोरासी लाख योनियो में समावेश किया है। इनमें श्रेष्ट स्थान नर पर्याय को प्रदान किया गया है।

शरीर की रचना पर यदि दृष्टि डाली जाय, तो नर पर्याय अत्यंत निकृष्ट प्रतीत होगी। पशुओं की देह इतनी घृणित नहीं रहती, जितनी मनुष्य की। मानव शरीर के यथार्थ स्वरूप पर चिंतन करने पर वह समस्त निंदनीय वस्तुओ का पिंड, कृमि आदि जीवो के समुदाय युक्त,

नरदेहकी निकृष्टता

अत्यंत दुर्गन्ध सहित, मल-मूत्र का ग्रह तथा अशुचिमय प्रतीत होता है। सरस, सुगध, मनोहर अतिपवित्र द्रव्य तक इस मानव से सपर्क होते ही अत्यंत दुर्वासियुक्त तथा घृणास्पद हो जाते हैं।[1] "इस दृष्टि से मानव शरीर की महत्ता स्वय क्षीण हो जाती है। हंस-मयूर आदि पशु जगत के जीवो का शरीर तथा वनस्पति जगत् के जीवो आदि का शरीर विशेष सौन्दर्य का निधान माना जाता है। अतएव शारीरिक महत्ता मानव को प्रदान करने का क्या कारण हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर तपस्वी कार्तिकेय अपने शब्दो में देते हैं—[2]

"मनुष्य पर्याय में ही तप साधन होता है। अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह

मानवजीवन की महत्ता

आदि महाव्रतो का पूर्णतया पालन होता है, ध्यान होता है। निर्वाण भी इस नर देह के द्वारा उपलब्ध होता है।

---

(१) सयलकुहियाण पिंड किमि-कुल-कलियं अउव्व-दुग्गधं।
मल-मुत्ताण गेहं देहं जाणेह असुइमयं ॥८३॥
सुट्ठु पवित्तं दव्वं सरस-सुगधं मनोहरं ज पि।
देह-णिहित्तं जायदि घिणावणं सुट्ठु दुग्गधं ॥८४॥

(२) मणुअ गईए वि तवो, मणुअ गईए वि महव्वय सयल।
मणुअ गईए झाणं मणुअ गईए वि णिव्वाणं ॥२९९॥ 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा'

यह विशेषता बाह्य दृष्टि से सर्वगुण सम्पन्न ज्ञात होने वाले देवों की देह में नही है। देव तत्वज्ञान तो प्राप्त कर लेते है, किन्तु तपश्चर्या का पवित्र भार उठाने की सामर्थ्य उनकी देह में नही है।"

हिन्दू ग्रंथों में भी मानव जीवन की महत्ता गायी गयी है। मनु ने लिखा है कि "सुर लोक वासी भी भारत भूमि में जन्म धारण करने को लालायित रहते है।" ईसाइयों के धर्म ग्रंथ बाईबिल में लिखा है कि "परमेश्वर ने मनुष्य को अपनी ही प्रतिकृतिके रूप में बनाया।" मुसलिम साहित्य भी मनुष्यों को सर्व प्राणियों में श्रेष्ठ बताता है, इस प्रकार विश्व के साहित्य का परिशीलन मनुष्य जन्म की महत्ता को बताता है।[१] यह महान होते हुए भी दुर्लभ है।[१]

नर जन्म की दुर्लभता

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में बताया है कि चौराहे में गिरे हुए रत्न की प्राप्ति के समान मनुष्य पर्याय को पुनः प्राप्त करना कठिन है। तार्किक अकलंक कहते हैं "जिस प्रकार वृक्ष के दग्ध हो जाने पर पुनः उन पुद्गलों का वृक्षरूप परिणित होना कठिन है, उसी प्रकार मनुष्य भव की प्राप्ति समझना चाहिये।"

हरिषेणकृत बृहत्कथाकोष में लिखा है, "एक नगर में दो गरीब रहते थे। वे लकड़ी बेचकर जीवन-निर्वाह करते थे। एक बार वे दोनों ज्येष्ठ माह में लकडी लेने जंगल में गये। वहा से खूब लकड़ी काटने के श्रम में क्लान्त हो वे एक सरोवर के तट पर आये और जी भरकर उनने शीतल जल पिया। पश्चात उन दोनो को मीठी नींद ने वशीभूत बना लिया। उनमें से एक को स्वप्न आया कि मैं महाविभूति संयुक्त हो त्रिलोक के राज्यासन पर अधिष्ठित हो गया हूँ। इतने में साथी की नींद खुल गई। अतः उसने अपने साथ वाले को जगाया। उसे उठते ही बडा क्रोध आया, क्योंकि उसका स्वप्न राज्य लुप्त हो गया था। अनंतर वह पुनः राज्य-दर्शन की लालसा से सो गया किन्तु अब उसे न राज्य दिखा और न राजकीय वैभव ही दिखा। इसी प्रकार नरदेह की पुनः प्राप्ति दुर्लभ है।"

यह भोग का साधन नही है

अज्ञजीव इस नरदेह की महत्ता को भुला इसे विषयभोग का ही साधन सोचते है, इस विषय पर कवि बनारसीदास का चित्रण बडा मार्मिक है-

---

१ "गुप्त ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि, न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित"

उत्पन्न करता है तथा जागने पर जीवन के आनन्द की झलक देखता है। इस प्रकार जब जीवन-मरण का खेल प्रतिदिन की लीला है, तब भला, यह आत्मा इस शरीर पर कितने काल तक ठहरेगा ? यह जीव श्वास और निश्वास के गमनागमन द्वारा इस शरीर से बाहर प्रयाण करने का निरंतर अभ्यास करता रहता है, आश्चर्य है, कि जगतवासी अपने आपको अजर और अमर मान बैठे हैं।

कहते हैं कि विद्याप्रेमी नरेश भोज अपने प्रिय महाकवि से वार्तालाप करते हुए चर्चा कर रहे थे, कि 'मेरे पास अब किस बात की कमी है ? सुन्दर रमणियाँ, स्नेही मित्र समुदाय, प्रेमी बंधु वृन्द, अनुरक्त सेवक गण, घोडे, हाथी आदि की विपुल राशि विद्यमान है।" धीरे से कविराज ने कह दिया "राजन ! ये सब वैभव नेत्रो के बन्द हो जाने के बाद कुछ भी न रहेंगे।"

एक सत्पुरुष मन को समझाते हुए कहते हैं–

मन तू सडे शरीर में क्या माने सुख चैन।
जहा नगाडे कूच के बजत रहत दिन रैन ॥
आए सो नाही रहे दशरथ लछमन राम।
तुम कैसे रह जाओगे मूढ पाप के धाम ॥

एक कवि का कथन है–

देखो देह-खेत क्यारी ताकी ऐसी रीति न्यारी बोये कछु आन उपजत कछु आन है।
पंचामृत अमृतरस सेती पोखिये शरीर नित, उपजे रुधिर मास हाड को ठान है।
एते पर रहे नाहिं कीजिए उपाय कोटि दिन में बिनसि जाय नाम न निशान है।
एसे देख मूरख उछाह मन माहिं धरे ऐसी झूठ बाननि को साच कर मान है।

भगवान धर्मनाथ तीर्थंकर के हृदय में जब विषय भोगो से विरक्ति हुई। तब महाकवि हरिश्चन्द्र के शब्दो में वे सोचते थे, 'यह यमराज विवेक रहित हो बाल-वृद्ध, धनी-दरिद्र, धीर- भीरु, सज्जन-दुर्जन सबको ग्रहण करता है, जिस प्रकार अग्नि सम्पूर्ण कोष्ठ राशि को भस्म कर देती है।'" जब ससार की यह कहानी है तब विचारक व्यक्ति का यह कर्तव्य हो जाता

---

१ चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः सद्बांधवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
वल्गंति दंतिनिवहास्तरलास्तुरगाः, सम्मीलिते नयनयोर्नहि किंचिदस्ति ॥

२ बाल वर्षीयांस माढ्यं दरिद्रं धीरं भीरुं सज्जनं दुर्जनं च।
अश्नात्येष कृष्णवर्त्मेव कक्षं सर्वग्रासी निर्विवेकः कृतान्तः ॥ ॥२०-२०॥

उद्यम कहे अरे शठ आलस, तू सरवर क्यों करे हमार।
हम मिथ्यात तजें गह सम्यक् जो निज रूप महाहितकार।
श्रावक धर्म एकादश भेद सो श्री मुनि पंचमहाव्रतधार।
चढ़ गुण थान विलोक गये सब त्यागहिं कर्म वरे शिवनार ॥

अर्थ-संचय का ध्येय इष्ट प्रापक नहीं है

भौतिकवाद के भूतल पर स्थित बहिरात्मा सोचता है, यदि मैंने प्रचुर प्रमाण में अर्थ संचय कर लिया, कीर्ति प्राप्त की, कोई आविष्कार कर लिया, तो मेरे जीवन धारण का ध्येय पूर्ण हो चुका। तत्वज्ञानी की दृष्टि में ये कार्य शाश्वतिक शांति के प्रदाता नहीं हैं। वैभव और विभूति के बीच में विद्यमान व्यक्तियों के पास भी दीन दुखी मानव के सदृश अंतर्व्यथा दिखाई देती है। धन कुबेर हेनरी फोर्ड कहता था—"मेरे मोटर के कारखाना में काम करने वाले मजदूरों का जीवन मुझ से अधिक आनन्द पूर्ण है। उनके चिंता मुक्त जीवन को देखकर मुझे ईर्षा सी होती है यदि मैं उनके स्थान को प्राप्त करता तो अधिक सुन्दर होता।" कैसी अदभुत स्थिति है! धनियों के शिरोमणि लालसापूर्ण दृष्टि से गरीबों के स्वास्थ्य निराकुलता आदि को देखते हैं और बेचारा निर्धन सतृष्ण नेत्रों से धनिकों की ओर निहारा करता है।

जब तक मनुष्य धन की अंध आराधना में संलग्न रहेगा तब तक सच्ची शांति का सुधाकर अपनी अमृत रश्मियों से हमें आनन्दित नहीं करेगा। गांधीजी ने अमेरिकावासियों को एक महत्वपूर्ण संदेश में कहा था—" अगर अमेरिका धन की ही पूजा करता रहा तो उसका भविष्य काला है, धन अन्त तक किसी का सगा नहीं रहा। वह सदा झूठा मित्र प्रमाणित हुआ है"। (हरिजन सेवक १०-११-४६)

अभी अभी हेनरी फोर्ड की मृत्यु हुई, तब उसका धन वैभव कुछ भी काम में न आया; क्योंकि मृत्यु के कुछ क्षण पूर्व अपने संताप का निवारण निमित्त जब उसने चिकित्सक को बुलाने के लिए टेलीफोन उठाया कि अकस्मात बिजली बुझ गई और घर में अंधकार छा गया तथा तत्काल डाक्टर के न आने से प्राण-पखेरू क्षण भर में उड गया। अतएव बाह्य वस्तुओं पर अत्यधिक निर्भर रहना कल्याणप्रद नहीं होगा। देखो न ! गांधी जी के भक्त लाखों लोगों के होते हुए भी उनके उड़ते हुए हंस को कोई न रोक सका, यद्यपि स्वतंत्र भारत की सारी शक्ति उन

के भक्तों के हाथ में ही थी। यथार्थ में नव द्वार वाले पिंजरे से निकले हुए पक्षी को पकड़कर लाने की सामर्थ्य किसमें है? पाण्डव पुराण में लिखा है कि प्रतापपुंज श्रीकृष्ण महाराज के चरण में जरत्कुमार के बाण लगते ही उनकी जीवन लीला समाप्त हो गयी इसलिये सत्पुरुष इस जीव को आत्मकल्याण करने के लिये। निरन्तर प्रहरी के समान सचेत करते हैं। एक सत्पुरुष कहते हैं–

चाम के शरीर मांहि बसत लजात नाहि,
देखत अशुचि तोउ लीन होय तन में।
नारि बनी काहे की विचार कछु करे नांहि,
रीझ-रीझ मोह रहे चाप के बदन में।
लछमी के काज महाराज पद छांड़ देत,
डोलत है रंक जैसे लोभ की लगन में।
तनिक सी आयु पै उपाय कइ कोटि करै,
जगत के वासी देख हाँसी आवे मन में॥

पुद्गल के पीछे दौडना अहित–कारी है

आत्मत्व को भुलाकर पुद्गल के पीछे दौड़ने से कभी भी कल्याण नहीं हो सकता। डा० राधाकृष्णन ने लिखा है, "आधुनिक सभ्यता आर्थिक जंगलीपन पर अवस्थित है। वह अधिकाश रूप में ससार और अधिकार के पीछे दौड़ रही है, आत्मा तथा उसकी पूर्णता की ओर ध्यान देने की परवाह नहीं करती हैं। आज की व्यस्तता, वेगगति और भौतिक विकास इतना अवकाश ही नही लेने देते कि आत्म विकास द्वारा सभ्यता की वास्तविक उन्नति का काम कर सकें। हम अपने को सभ्य इसलिए नहीं कह सकते कि आधु–निक वैज्ञानिक वायुयान, रेडियो, टेलीविजन, टेलीफोन और टाइप राइटर काम में लाये जाते हैं। बन्दर को साइकल चलाना, गिलास में पानी पीना और तम्बाखु का पाइप पीना सिखा दिया जा सकता है लेकिन रहेगा वह बंदर ही। शैल्पिक निपुणता का नैतिक विकास से बहुत कम सम्बन्ध है।"

यंत्रवाद के अमर्यादित विकास से आनन्द और अहंकार की अनुभूति करनेवाले आज के आधिभौतिक-पंडितों की बुद्धि को दो भीषणतम महायुद्धों ने ठिकाने लगा दिया, जिससे वे भी चिन्ताग्रस्त हो गए हैं कि किस प्रकार विपत्ति के रौरव नरक से मानव जाति का परित्राण हो। धन और वैभव यदि आत्म विद्या के प्रकाश से शून्य रहते हैं तो वे इस मानव को उन्मत्त -

बनाये बिना नही रहते। हाईकोर्ट जज श्री जुगमदरलाल जैनी ने महायुद्ध के पूर्व जो मार्मिक आलोचना की थी वह आज भी ध्यान देने योग्य है।

"आज जड़वाद के राक्षस ने युद्ध और सपत्ति के रूप में जगत को इतने जोर से जकड लिया है कि लोगो को अपनी वास्तविकता की भी स्मृति नही रही है और वे अपनी अर्धजागृत चेतना में स्वय को 'आत्मा' अनुभव न करके केवल 'यत्र' समझते है।'"[1]

भौतिकवाद के चरम विकास से सच्ची शांति का उद्भव आत्मा में होगा यह धारणा अज्ञान मूलक है। गीता में लिखा है 'जिस प्रकार इंधन के द्वारा अग्नि की तृप्ति नही होती उसी प्रकार विषय सेवन से कामनाओ की पूर्ति नही होती।'

यह देखा जाता है कि मनोदेवता को सतुष्ट करने के लिए जितने जितने उपाय किए जाते है उसकी लालसा उतनी ही लम्बी चौडी बनती जाती है और अत में वह अत्यधिक परिश्रम करते हुए भी अमर्यादित सताप और क्लेश को प्राप्त करता है। कवि कहता है—

मक्खी बैठी शहद पर, पख लिए लिपटाय।
हाथ मलै अरु सिर धुनै, लालच बुरी बलाय॥

कहते है 'एक भ्रमर था जो सध्या के समय सरोज के सौरभ में मस्त हो सोचता था कि आज रात्रि भर सौरभ पान में व्यतीत करू, प्रभात में सूर्य देव का उदय होगा, प्रिय पकज खिल उठेगा तब मै बाहर चला जाऊगा। इतने में किसी गजराज ने उस भ्रमर सहित कमल को अपनी सूड से पकडकर खा लिया। इस प्रकार उस विचारे मधुकर का सुनहरा स्वप्न सदा के लिए शून्य बन गया।' उस भ्रमर के समान ही सभी भोगासक्त प्राणियो की स्थिति है। विश्व व्यापी महायुद्ध में जुटने वाले लोभी राष्ट्रो की क्या दशा हुई यह छुपी बात नही है। युद्ध का सूत्रपात करने वाले जर्मनी की महत्वाकाक्षा पूर्ण न हुई और उसे लेने के देने पड़ गये। विषयो की आसक्ति का ऐसा ही फल होता है। एक एक इद्रिय की आसक्ति से

इद्रियो की आसक्ति

---

१ "The monster of materialism has got such a grip of the world in the from of mars and mammon; that men have so far forgotten their reality and that they sub-consciously believe themselves to be mere machines instead of souls."

जीव जब दुर्गति का पात्र बनता है तब पाचो के पीछे पड़ने वाला पापी प्राणी क्यो न पतन की पराकाष्ठा को प्राप्त करेगा। कहा भी है—

रसना के रस मीन प्राण पल माहि गमावे।
अलि नासा परसग रैन बहु सकट पावे।
मृग कर श्रवण सनेह देह दुर्जन को दीनी।
दीपक देख पतग दृष्टि हित कैसी कीनी।
फरस इद्रिवश करि परयो कौन कौन संकट सहे।
एक एक विषवेलि सम पंचन सेय तू सुख चहे।

जब तक मोह का पीलिया रोग इस मानव के नेत्रो से दूर नही होता तब तक यह दीन बना सर्वज्ञ भिक्षुक की तरह दौडता है और पदार्थो की भक्ति करने की जडता दिखाकर सच्चे सुख से वचित होता है। यह नही जानता कि आनद का निर्झर भोग की भूमि में नही, त्याग के पुण्यस्थल में बहता है। भोग की भूमि में विपत्ति की वैतरणी ही बहा करती है।

पार्श्व पुराण में लिखा है कि—

जिस समय वज्रनाभि चक्रवर्ती के अन्त करण में भोगासक्ति की अंधियारी दूर हुई और वे वीतरागता की ओर प्रस्थान करने को तत्पर हो रहे थे, उस समय वे अपने हृदय में क्या सोचते थे, इसका चित्रण भूधरदास जी द्वारा इन मर्मस्पर्शी शब्दो में किया गया है—

भोग बुरे भवरोग बढावें वैरी है जग जी के।
वेरस होय विपाक समय अति सेवत लागत नीके।
वज्र अगनि विष से विषधर से ये अधिके दुःखदाई।
धर्म रतन के चोर चपल अति दुर्गति पथ सहाई॥
मोह उदय यह जीव अज्ञानी भोग भले कर जाने।
ज्यो कोई जन खाय धतूरा सो सब कचन माने॥
ज्यो ज्यो भोग सजोग मनोहर मन वाछित जन पावे।
तृष्णा नागिन त्यो त्यो डकें लहर जहर की आवे॥
मैं चक्रीपद पाय निरतर भोगे भोग घनेरे।
तो भी तनक भये नहि पूरन भोग मनोरथ मेरे॥
राज समाज महा अघ कारन वैर बढावन हारा।
वेश्या सम लछमी अति चचल याका कौन पत्यारा॥

बाह्य पदार्थों के सपर्क में निरन्तर रहे आने के कारण वे ही जीव

को कल्याण दाता प्रतीत होते हैं। अनंत बार भी ठगाए जाने पर इस प्राणी के ज्ञानचक्षु नहीं खुलते। पदार्थों की आसक्ति को न छोड़ते हुए यह शाश्वतिक शांति चाहता है, यह बात कभी भी संभव नहीं है।

कहते हैं, 'एक बन्दर था। उसे मोदक भरा एक छोटे मुख का लोटा मिला। तत्काल ही उसने अपने दोनों हाथ उस लोटे के भीतर डाले। दोनों मुट्ठियों को लड्डुओं से भरी हुई निकालने का प्रयत्न किया, किन्तु उसका श्रम व्यर्थ रहा। लड्डू छोड़ने को वह तैयार न था, तब हाथ कैसे निकले? अतएव पकड लिया गया।' इसी प्रकार विपत्ति के बीज रूप परिग्रह की अमर्यादित वृद्धि करते हुए आनंद की उपलब्धि निरंतर दूर होती जाती है।

निरंतर विषयों की आराधनावश त्याग भाव कठिन हो जाता है।

आरम्भ की स्थिति में तो यह जीव विषयों को सहज ही त्यागने या उनको मर्यादित करने में समर्थ हो जाता, किंतु उसका नशा आ जाने पर यह छोड़ना भी चाहे तो उसकी लालसा इसका पिंड नहीं छोड़ती। एक बार किसी नदी के तट पर कुछ व्यक्ति खडे थे। उनने देखा, कि एक कंबल बहता हुआ जा रहा है। उसे लेने की लालसा मन में उत्पन्न हो गई अत. एक आदमी तैरते हुए उस कंबल को पकडने को तैयार हुआ, तो ज्ञात हुआ, कि वह कंबल नहीं है, वह तो रीछ है। रीछ ने उस आदमी को पकड लिया। वह भला उसे क्यों छोड़ने चला? तट पर खडे साथी चिल्लाकर कहने लगे, "भाई! कंबल नहीं खिंचता, तो उसे छोडकर तुम ही शीघ्र आ जावो।" वह उत्तर देता है, "क्या करूं, मैं तो कंबल को छोड़ता हूं किन्तु यह कंबल मुझे नहीं छोड़ता है।" जिस प्रकार कंबल से छूटने की इच्छा रहते हुए भी उस व्यक्ति का उससे पिंड नहीं छूटता है उसी प्रकार यह व्यक्ति अपनी उलझनों, व्यस्तताओं आदि के कारण झंझटों से नहीं बच पाता है, अत अत्यंत क्लेश पाता है।

जिस जराजीर्ण वृद्ध के सिर पर यमराज नाच रहा है वह भी तो तृष्णा के चक्कर से नहीं छूट पाता है। उसका कितना मार्मिक चित्रण इस पद्य में हुआ है--

> "अगं गलितं पलितं मुण्डं दशन-विहीनं जातं तुण्डम्।
> वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुंचत्याशा-पिण्डम्॥"

यह मोही प्राणी जिस किसी रम्य प्रतीत होने वाले पदार्थ के सम्पर्क मे आता है, वह उसे ही अपना मान बैठता है। सर्व वस्तुओं को

'मेरी मेरी' 'मैं मैं' कहने के कारण इस जीव रूपी बकरे को काल रूपी भेड़िया मार डालता है–

अजनं मे वसनं मे जाया मे वधु वर्गो मे ।
इति मे मे कुर्वाणं कालवृको हन्ति पुरुषाजम् ॥

अभय की हेतु विरागता

भर्तृहरि कहते हैं, "इस जगत में ऐसी कोई भी वस्तु नही है जिसके पीछे खतरा न हो। भोग के पीछे रोग की भीति है, तो कुल के साथ उसके गौरव की क्षति का भय है। धन के पीछे राजसत्ता के द्वारा अपहरण का डर है, अभिमान को दीनता का भय है, बल में शत्रु भय है, रूप में तरुणी का भय है, शास्त्र मे वाद का भय है, गुण में दुर्जनो कृत भय है। शरीर के पीछे मृत्यु की भीति है एक वैराग्य ही सर्व प्रकार की भीति-विमुक्त है।"[1]

कोई कोई बुद्धि जीवी व्यक्ति ज्ञान की विविध शाखाओ में प्रवीणता को ही कृतार्थता का कारण कहते है किन्तु जीव का हित उस विद्या में विद्यमान है जिसके द्वारा परमार्थ पथ का प्रकाशन होता है। एक बार विविध लोक विद्या के मर्मज्ञ व्यक्ति नौका में बैठकर नाविक से चर्चा करने लगे। जब उनको यह ज्ञात हुआ कि नाविक निरक्षर भट्टाचार्य है, तब वे उससे कहने लगे तूने बिना पढे लिखे अपने जीवन का कुछ भी उपयोग नही किया। कुछ समय पश्चात नौका तूफान में आ गई और समस्त विद्वान घबड़ा कर नाविक से जीवन रक्षार्थ अनुरोध करने लगे। चतुर नाविक बोला "आप लोग सर्व शास्त्रो में पारगत है, मै तो कुछ भी नही जानता हूँ, अतएव आप अपने शास्त्र ज्ञान की सहायता से अपना रक्षण करें।"

वे लोग घबड़ाये और दीनता पूर्वक बोले "हमारे पास बाहरी बातो का ज्ञान है वह इस समय रक्षण नही कर सकता है। तुमने जो जल सतरण की विद्या प्राप्त की है, वही इस विपत्ति में बेड़ापार कर सकती है।"

---

१ भोगे रोग भय कुले च्युतिभय वित्ते नृपालाद्भय,
यानें दैन्य भय बले रिपुभय रूपे तरुण्या भयम् ।
शास्त्रे वादभय गुणे खलभय काये कृतान्ताद्भय ।
सर्वं वस्तु भयान्वित भुवि नृणा वैराग्य मेवाभयम् ॥
यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकं ।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥

इसी प्रकार ज्ञान की विपुल राशि जीव का कल्याण करने में असमर्थ है, किन्तु थोडा भी संसार सिंधु-संतरण सम्बन्धी ज्ञानहितसाधक होता है। वास्तविक बात तो यह है, कि लौकिक ज्ञान का सिंधु परमार्थ ज्ञान के बिन्दु की महत्ता को भी नही प्राप्त कर सकता है।

महर्षि पूज्यपाद ने यह स्पष्ट कर दिया है कि शरीर और आत्मा के विषय में छत्तीस सदृश बात है। जिससे आत्मा का पोषण होता है, उससे शरीर का सवर्धन नही होता। जिससे शरीर का कल्याण होता है, उससे आत्मा का हित नही होता है।

परिग्रहपिशाच से छूटने पर मोक्ष लाभ

स्वामी समंतभद्र ने लिखा है कि भगवान ऋषभदेव ने विशाल साम्राज्य का परित्याग कर दिगबर मुनि का पद स्वीकार किया था और आत्मध्यान के द्वारा अपनी आत्मा में विद्यमान विकृतियो का मूलतः उच्छेद करके ब्रह्मत्व और अमृतत्व के स्वामीपने की प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि परिग्रह के पिशाच से पिंड छूटने पर ही यह जीव परम पद को प्राप्त करता है।

आज का वातावरण तथा इद्रियो को लुभाने वाली सामग्री का साज सजा देखकर सामन्यतया यह समझा जाता है कि भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रदर्शित महामुनि का जीवन धारण करना स्वप्न में भी सभव नही है। इसका एक कारण यह भी है कि आज की शारीरिक स्थिति तपश्चर्या का भार उठाने की कल्पना मात्र से घबडा जाती है। अतएव एकाकी, निस्पृह, करपात्र भोजी, दयामूर्ति, परिग्रह रहित एव पूर्णतया स्वधीन वृत्ति वाले मुनिराज का उच्च जीवन कोई व्यतीत कर सकेगा यह बडे बडो के ध्यान में नही आती। किन्तु यह धारणा वीतराग वाणी के प्रकाश मे भ्राति पूर्ण ज्ञात होती है।

तिलोय पण्णत्ति से ज्ञात होता है, कि "भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात एक सहस्त्र वर्ष व्यतीत होने पर चतुर्मुख नाम का कल्की

परिग्रहत्यागी मुनियो का सद्भाव पंचमकाल के अंत तक रहेगा

होता है। जिसकी आयु सत्तरवर्ष तथा राज्य काल ब्यालीस वर्ष है। वह कल्की प्रयत्नपूर्वक अपने योग्य जनपदो को सिद्ध करके लालची होकर मुनियो के आहार का प्रथम ग्रास टेक्स मांगेगा। तब मुनिराज अग्रपिंड को देकर और यह समझकर कि यह अन्तरायो का काल

हैं चले जाते हैं । इनमें से एक मुनिराज को अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है । इसके बाद कोई असुर देव अवधिज्ञान से मुनियों के उपसर्ग को जान उस कल्की को धर्म द्रोही मानकर मार डालता है ।'

इस प्रकार एक एक हजार वर्ष के पश्चात् पृथक पृथक एक एक कल्की और पाच सौ वर्षों के पश्चात् एक एक उपकल्की होता है । प्रत्येक कल्की के प्रति एक एक दुषमाकालवर्ती साधु को अवधिज्ञान प्राप्त होता है और उसके समय में चातुर्वण्य संघ भी अल्प हो जाते हैं ।

इस प्रकार दुषमा काल में धर्म, आयु, और ऊंचाई आदि कम होती जाती है । फिर अंत में विषय प्रकृतिवाला इक्कीसवां कल्की होता है । उसके समय में वीरांगज नामक एक मुनि, सर्वश्री आर्यिका, अग्निदत्त और पंगुश्री नामक श्रावक श्राविका होते हैं । वह कल्की आज्ञा से अपने योग्य जनपदों को सिद्ध करके मंत्रिवरों से कहता है कि ऐसा कोई पुरुष तो नहीं है जो मेरे वश में न हो ? तब मंत्री कहते हैं 'स्वामिन ! एक मुनि आपके वश में नही है । तब कल्की कहता है 'बताओ वह अविनीत मुनि कौन है ?' उत्तर में मंत्री कहते हैं 'सकल अहिंसा व्रत के आधार रूप वे मुनि परिग्रह रहित होते हुए शरीर की स्थिति निमित्त दूसरों के घर द्वारों पर काय को दिखलाकर मध्यान्ह काल में अपने हस्तपुर में विघ्न रहित एवं प्रासुक आहार को लेते हैं ।' इसे सुनकर वह कल्की कहता है 'वह अहिंसाव्रत का धारी पापी कहा जाता है ? तुम स्वयं सर्वप्रकार से पता लगाओ । उस आत्म घाती मुनि के प्रथम ग्रास को टैक्स रूप में ग्रहण करो ।' पश्चात पिंडाग्र के मांगे जाने पर मुनीन्द्र तुरन्त उसे देकर अन्तराय वश वापिस चले जाते हैं तथा अवधिज्ञान को प्राप्त करते हैं । उस समय वे मुनीन्द्र, अग्निल श्रावक, पंगुश्री श्राविका तथा सर्वश्री आर्यिका को बुलाकर प्रसन्नचित्त होते हुए कहते है, 'अब दुषमा काल का अन्त आ

---

१ वैदिक ग्रंथ महाभारत में लिखा है कि कलियुग के अंत होने पर सत्य युग का आरम्भ होगा। तब शंभलग्राम में ब्राह्मण पुत्र विष्णुयशा होगा । वही कल्की होगा । उसकी इच्छानुसार उसके पास शस्त्र, वाहन, योद्धादि उपस्थित होंगे । वह ब्राह्मणों की सेना लेकर सर्वत्र फैले हुए म्लेच्छों का नाश करेगा और चक्रवर्ती राजा होकर सर्व आनन्द प्रदान करेगा । महाभारत–वनपर्व

चुका है । तुम्हारी हमारी तीन दिन की आयुशेष है और यह अतिम कल्की है ।' तब वे चारों चतुर्विध आहार को तथा सर्व संग का जन्म पर्यन्त त्यागकर सन्यास को धारण करते हैं । वे सब कार्तिक मास के कृष्णपक्ष के अत में सूर्य के स्वाति नक्षत्र पर उदित रहने पर सन्यासपूर्वक समाधि मरण करते है ।"

इस शास्त्राधार से यह बात स्पष्ट हो जाती है,कि पचमकालके अत तक मुनिधर्म रहेगा । अभी इस धर्म का सद्भाव १८५०० वर्ष प्रमाण रहेगा और अतिम मुनिराज नियम से अवधिज्ञान समन्वित होगे । यह दिगम्बर मुनिराज का पद साधारण बात नही है । उनका दर्शन तक जब जीव को कृतार्थ करता है और पापो का प्रक्षालन करता है, तब उस पद की महत्ता का सहज अनुमान हो सकता है ।

आज की हीयमान स्थिति

आज की पवन मे इन्द्रिय लोलुपता और विषयान्धता के विषावत कण सर्वत्र बह रहे है । सर्वसग त्यागी मुनि के जीवन की बात तो बडी दूर की है, साधारण गृहस्थ के नियमों का पालन भी समस्या हो रही है । निर्दोष रीति से मद्य, मास, मधु, अगालित जल त्याग का व्रत पालना कठिन समझा जाता है । श्रावक के षट्-कर्मों को अनावश्यक कर्म सोचा जाने लगा है । आज दिन हम दीनबन्धु भग-वान से यह प्रार्थना करते है—

मोको बडा अदेशा प्रभुजी मोको बडा अदेशा है ।
नही ज्ञान, काया बल इन्द्रिय, दान देन नहिं पैसा है ।
भव सुधरन को जो तप तपिये तो मो तन अब ऐसा है ।।टेक।।
हममें लच्छन कहा तरन के मलिन तैल पट जैसा है ।
तुम तारो तो तरा प्रभुजी मेरा मन अब ऐसा है ।।टेक।।

जब उच्च साधना के योग्य मनोबल नही, शरीर म विशिष्ट सामर्थ्य नही है, जब जिस आत्मा में श्रेष्ठ अहिंसामयी साधना का साहस और प्रवृत्ति हो, वह क्यो न विश्ववद्य होगी ? दुनिया में और भी बडे बडे सन्त प्राचीनकाल से होते चले आ रहे है, किन्तु अन्त बाह्य परिग्रह का त्याग कर प्रकृति प्रदत्त दिगम्बर वृत्ति से जीवन को समलकृत करनेवाले विरले ही होते है । जिनके जीवन में अहिंसा की ज्योत्सना पूर्णतया प्रकाशमान हो चुकी है, जो ब्रह्मचर्य की निर्दोष साधना के योग्य अपने मन को बना सके है, वे ही दिगम्बरत्व को धारण करने में समर्थ हो सकते है । ये न कपडे के वस्त्र ही

पहिनते हैं और न चर्म के या छाल आदि के धारण करते हैं। ये पूर्णतया अकिंचन वृत्ति रहते हैं। इसका अर्थ यह नही है कि इनमें दैन्य का भाव पाया जाता है। ये आत्म गौरव के पुन्ज रहते हैं।

यूनानी साधु एपोलोनियस की भाषा में ये गरीब नही हैं। उसने कहा था–"यदि कोई मुझसे पूछे कि मैं गरीब हू या धनी, तो मैं उत्तर दूंगा, कि मैं संसार का सबसे बड़ा धनवान पुरुष हू, क्योकि मेरे अदर इतना सतोष है, जो दुनिया के बडे से बडे सम्राटो के धन से अधिक है।"

बाह्य परिग्रह त्याग साधन है, साध्य नही

दिगम्बर वृत्ति साधुत्व की पराकाष्ठा है। बाह्य पदार्थो का त्याग स्वय साध्य नही है। बाह्य दिगम्बरत्व अत निर्मलता का कारण है। परमयोगी महर्षि कुन्द कुन्द का कथन है–"भावो की विशुद्धता के हेतु बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है। आतरिक परिग्रह धारक के बाह्य दिगम्बरत्व विफल है। भावो की विशुद्धि रहित यदि करोडो जन्मो में भी भुजाओ को लटका कर तथा वस्त्रो को त्याग कर कोई तपश्चर्या करे, तो भी वह मोक्ष को नही पाता है।"

स्वामी समंतभद्र ने लिखा है कि भगवान कुथुनाथ तीर्थंकर ने आन्तरिक तप की अभिवृद्धि के लिए अत्यन्त कठोर बाह्य तपः का पालन किया था। उनने यह भी लिखा है, कि भगवान नमिनाथ तीर्थंकर ने अहिंसा रूप पर ब्रह्म की साधना निमित्त बाह्य और अन्तरग सभी परिग्रह का त्याग किया था, और परिग्रह सहित विकृत वेप को नही अपनाया था।

बाह्य परिग्रह होते हुए अतरग निर्मलता असभव है

किन्ही किन्ही की यह समझ है, कि अन्तरग निर्मलता मात्र साध्य है। बाह्य पदार्थ हो या न हो इससे कुछ प्रयोजन नही है। अतः दिगम्बरत्व हो, तो बाह्य दिगम्बरत्व की कोई आवश्यकता नही है।

यह धारणा ठीक नही है। यदि एक लगोटी मात्र भी परिग्रह रखा तो वह गृहस्थ हो कहलायगा, साधुत्व की श्रेणी में वह शामिल नही हो सकता। उसकी उन्नति देश सयत गुण स्थान से आगे नही हो सकती। वह मुनि नही कहा जा सकता। तार्किक प्रभाचन्द्र ने लिखा है, "बाह्य और अतरग परिग्रह का परित्याग सयम है। वह याचना, वस्त्र का सीना, प्रक्षालन करना, सुखाना, रखना, उठाना, चोर के द्वारा अपहरण होना आदि मानसिक क्षो उत्पन्न करनेवाले वस्त्र के धारण करने पर कैसे होगा? वह तो

संयम का सहार करने वाला होगा, क्योंकि वह आंतरिक दिगम्बरपने का पात्र है।" (प्रमेयकमल मार्तण्ड ३३१-३३२)

कदाचित् यह कहा जाय, कि लज्जा, शीत की पीडा आदि के निवारणार्थ वस्त्रादि का ग्रहण किया जाता है तो इस प्रकार कर्म के अनुसार काम पीडा आदि के शान्त करने के लिए कामिनी आदि का संग्रह क्यों न किया जाय? यदि वस्त्र खण्ड के ग्रहण करते हुए भी विरक्ति का भाव सुरक्षित रहता है, तो यही नियम स्त्री के विषय में भी क्यों न चरितार्थ होगा?

दिगम्बरत्व

दिगम्बर जैन मुनियों की विश्व मान्यता

बौद्ध साहित्य में दिगंबर मुनियों का वर्णन मिलता है। विसाख-वत्थु-धम्म-पदत्थ-कथा में लिखा है कि एक श्रेष्ठि के भवन में पांच सौ दिगम्बर जैन साधुओं ने आहार ग्रहण किया था। 'महावग्ग' से विदित होता है कि वैशाली में दिगम्बर मुनियों का विहार होता था। महापरिनिर्वाण सुत्त में भी दिगंबर साधुओं का उल्लेख पाया जाता है। विनयपिटक में भी दिगम्बर जैन मुनियों के विहार का उल्लेख है।

वैदिक साहित्य में प्राचीनतम ऋग्वेद में दिगंबर मुनियों को 'वातरशना' शब्द द्वारा बताया है।[1] यजुर्वेद में महावीर भगवान को नग्न बताते हुए उनकी उपासना को संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय रूप रात्रि-त्रय तथा धनमद शरीरमद आदि निवारक कहा है।[2] उपनिषद् में परमहंस, भिक्षु, परिव्राजक तथा सन्यासी को दिगम्बर बताया है। जाबाल-उपनिषद् में लिखा है कि परमहंस साधु, दिगम्बर, निर्ग्रंथ मुद्राधारी, परिग्रहरहित ब्रह्मपथ में संलग्न, शुद्ध मनोवृत्ति वाला जीवन रक्षार्थ भिक्षा द्वारा आहार ग्रहण करने वाला लाभालाभ में समदृष्टी, होता है।[3]

नारद परिव्राजक-उपनिषद् में लिखा है कि "भिक्षु पुत्र मित्र कलत्र तथा कुटुम्बियों को छोड़कर दिगंबर होता है।[4] भिक्षुक उपनिषद तुरीयत्योपनिषद में भी इसी बात का समर्थन है। सन्यासोपनिषद् में सर्व परिग्रह का त्यागकर दिगम्बर बनने वाले को ज्ञान-वैराग्य-संयासी कहते हैं।[5]

---

१ "गुनयो वातरशनाः पिशगा वसते मला" मंडल १०-२-१३६,२

२ "आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः। रूपमुपासदामेतत्तिस्त्रो रात्रीः सुराः सुतः।" अ. १९. मंत्र १४

३ "यथाजात-रूपधरो निर्ग्रन्थो निस्परिग्रहस्तत् ब्रह्ममार्गे सम्यक् संपन्नः शुद्धमानसः प्राण-संधारणार्थं...वियुक्तो भैक्षमाचरन...लाभालाभयोः समोभूत्वा....सः परमहंसो नाम" जाबाल उपनिषद्.

४ "जातरूपधरोभूत्वा स्वपुत्र-मित्र-कलत्र-बन्ध्वादीनि कौपीनं दण्ड-माच्छादनं च त्यक्त्वा"...

५ सन्यस्त जातरूपधरोभवति स ज्ञान-वैराग्य-संयासी'

मैत्रेय-उपनिषद में दिगम्बरत्व को आनन्द का कारण बताया है।[1] हिन्दू अवधूत साधु दिगम्बर होते हैं।

अल्प परिग्रह भी पूर्ण विकास में बाधक है

इस परिग्रह का सत्सग बड़े बड़े सतो की शोचनीय अवस्था उत्पन्न करता है। कहते है 'एक भोले साधु ने दिगबर मुद्रा का परित्याग कर भक्तो की प्रेरणा से एक लगोटी रखना स्वीकार किया था। वह सोचता था मेरी आत्म निर्मलता की ज्योति को इतनी सी लगोटी क्या क्षति पहुचा सकेगी। लगोटी को चूहों ने काट दिया इसलिए चूहा से बचने के लिए बिल्ली पाली गई और उसके रक्षणार्थ दूध पिलाने वाली गाय रखी गई। जब गाय चरने का बाहर गयी तब उसकी चराई की चुगी के निमित्त से राजकर्मचारी और लगोटीवाले बाबाजी में बात बढ़ते बढ़ते मारामारी तक हो गई। उस समय उस भोलेबाबा को स्मरण आया कि इस विपत्ति का आदि कारण लगोटी की लालसा रही है।' यथार्थ बात यह है कि परिग्रह आत्म-स्वभाव से भिन्न है उसका सपर्क आत्मा में आकुलता उत्पन्न करके विकास के प्रदीप को बुझाये बिना न रहेगा। इस विषय की वास्तविकता गहरे अनुभव द्वारा ही विदित हो सकती है।

शायर जलालुद्दीन ने दिगम्बर पद को दिव्य ज्योति से अलकृत बनाते हुए कहा है कि वस्त्रधारी व्यक्ति की दृष्टि तो धोबी की ओर रहती है—

"मस्त बोला मुहतसिब से कामजा, होगा क्या नगे से तू ओहदा बरा।
है नजर धोबी पै जामापोश की, है तजल्ली जेवरे उरियातनी॥

नग्न दरवेश तार्किक से कहता है—"अरे भाई तू जा और अपना काम कर तू दिगम्बर से ऊचा नही बन सकता वस्त्र धारक की दृष्टि सदा धोबी की ओर रहती है। दिगंबरत्व की शोभा देवी प्रकाश रूप है। या तो तुम नग्न दरवेशो से कोई सबध न रखो अथवा उनके सदृश दिगबर और स्वाधीन बन जाओ। यदि तुम पूर्णतया दिगबर नही बन सकते तो अपने वस्त्रो को अल्पतम परिमाण में रक्खो।"

मुसलिम साहित्य में

आज से ३०० वर्ष पूर्व शाहजहा बादशाह के राज्य में मुसलिम सूफी फकीर सरमद दिल्ली में नग्न रूप में

---

१ देश काल-विमुक्तोस्मि दिगम्बर सुखोस्म्यहम्॥

विहार करता था। उसका मजार दिल्ली की जामा मसजिद मे बाँये भाग में है। हमने भी देखा है कि उस स्थल पर बहुत लोग जाकर अपना श्रद्धा-भाव प्रगट करते हैं। उसका कथन था 'परमात्मा जिसमें दोष देखता है उसे वस्त्र पहना देता है किन्तु जो निर्दोष है उसे नग्न ही रहने देता है।"[1]

अब्दुल कासिम जिलानी नामक मुसलिम साधु दिगंबर रहता था था। अब्दुल नामक मुसलिम फकीर दिगंबर रहा करते थे।[2]

ईसाई ग्रन्थो मे — मुसलिम साहित्य के समान ईसाई धर्म ग्रन्थो में भी दिगंबरत्व के विषय में महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है। बाइबिल में लिखा है, "आदम तथा उसकी पत्नी (ईव) नग्न उत्पन्न हुए थे तथा उद्यान में नग्न रहते थे, उनके मन में लज्जा ने स्थान नही बनाया था। जब उनने निषिद्ध वृक्ष के फल को खाया, तो उन्हे यह ज्ञान होने लगा कि वे नग्न है इसलिये उनने अजीर के वृक्ष के पत्तों से अपने अगो को ढाक लिया।"[3]

बाइबिल में यह भी लिखा है कि, "उसने अपने वस्त्र भी अलग कर दिये और सेमुअल के समक्ष इस प्रकार की घोषणा की तथा दिन रात दिगंबर रहा इस पर उन लोगो ने पूछा, "क्या साल भी पैगंबरो में

---

१ पोशाद लिबास हरबरा ऐवे दीद। बे-ऐबा रा लिबासे उरियानी दाद॥

२ "The higher saints of Islam, called Abdals went about perfectly naked"

Mysticism & Magic in Turkey by Miss Lucy M. Gernet

३ "And they (Adam & Eve) were both naked, the man and his wife and were not ashamed". Genesis 11-25.

"Shame was then absent for shame came out of sin and Adam and Eve had not then sinned. They did not require any covering as their thoughts were pure, and they were innocent. When they ate the fruit of the forbidden tree, they sinned and they knew that they were naked. And they sewed fig-leaves togather and made themselves aprons and they heard the voice of the Lord God walking in the garden in the cool of the day and Adam and his wife hid themselves from the presence of the Lord God, amongst the trees of the garden." Ibid 11-7-11

उसी समय प्रभू ने अमोज के पुत्र ईसाई या से कहा, "जा, तू भी अपने से हैं।" कपडो को दूर करदे और जूता भी उतार डाल।" उसने ऐसा ही किया वह नग्न हो नगे पैर फिरने लगा।[2] यहूदियों के धर्म ग्रन्थ म लिखा है, "जो[1] मोक्ष प्राप्ति को श्रद्धा सहित हैं वे लौट आये और उनने पर्वत पर निवास किया। ये सब अवतार थे उनके पास कोई भी सामग्री नहीं थी वे सब नग्न थे।

ईसाई साधू पीटर ने लिखा है, "हमें अपने पास कुछ भी नहीं रखना चाहिये परिग्रह हम सबके लिये पापरूप हैं। इसका जैसे भी त्याग हो वह पापों से बचना है।"[3]

Milton in his 'Paradise Lost' writes—

> "*Two of far nobler shape, erect and tall*
> God-like erect with native honour clad
> In naked majesty, seemed Lords of all
> Nor those mysterious parts were then concealed,
> Then was not guilty shame Dis-honest shame
> *Of Nature's works honour dishonourable*
> Sin-bred, how have ye troubled all man kind
> Which shows in stead, mere shows of seeming pure,
> And banished from man's life, his happiest life,
> Simplicity and spotless innocence
> *So passed they naked on not shunned the sight*
> Of God or Angel, for they thought no ill" Pp 288-320

१ "And he stripped his clothes also and prophesised before Samuel in the like manner and they lay down naked all day and night Wherefore they said "Is Saul also among the prophets ?" Samuel XIX-24

२ "At the same time spake the Lord by Isaiah, the son of Amoz, saying 'Go and loose the sack-cloth from off thy loins and put off thy shoes from the foot And he did so walking naked and bare foot" Isaiah XX-2

३ "To all of us possession are sins . The deprivations of these in whatever way it may take place is the removal of sin" Clementine Homilies.
Ante Niece Christian Library XVII

हिन्दू ग्रन्थों में महत्वपूर्ण सामग्री

हिन्दू पुराण साहित्य भी इस प्रसंग में महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान करता है। शिवपुराण में लिखा है[1] कि शिवाजी ने दिगंबर मुद्रा धारण कर देव-दारु वन के आश्रम का निरीक्षण किया था, उनके हाथ में मयूर पंख की पिच्छिका थी। कूर्म-पुराण,[2] पद्म पुराण[3] में भी दिगंबरत्व की समर्थक सामग्री मिलती है। पद्म पुराण भूमि खण्ड में लिखा है कि राजा वेण की सभा में एक दिगंबर जैन मुनि पिच्छी कमंडल सहित तथा धवल मस्तक-युक्त आये थे।[4] उसमे जैन धर्म को अरहत भगवान को मानने वाला, निर्ग्रन्थ गुरू की उपासना करने वाला तथा दयामय धर्म का पालने वाला बताया है।[5]

योगवासिष्ठ में राम ने कहा है कि मैं वास्तव में राम नही हूँ तथा विषयों में मेरी लालसा भी नहीं है, मै तो जिन भगवान के समान अपनी आत्मा में शांति प्राप्त करने की मनोकामना करता हूं।[6]

भागवत का कथन

हिन्दू जनता के अत्यन्त मान्य ग्रन्थ भागवत में लिखा है कि "शुकदेव मुनि दिगंबर तथा अत्यन्त पूज्य थे। जब वे राजा परीक्षित के दरबार में आये तब सभा में विद्यमान बड़े-बड़े साधु लोग भी खड़े हो गये थे। वे नक्षत्रों से युक्त चद्रमंडल के समान शोभायमान थे।" इससे यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू पुराण काल में

---

१ मयूरचंद्रिका पुंजपिच्छिकां धारयन् करे-शिवपुराण १०-८०-८२

२ मत्त-मातंग गमनो दिगवासा जगदीश्वरः- कूर्मपुराण उपरिभाग ३७-७

३ दिगंबर.. बहुशास्त्र पारंगगृहं समायातमथो ददर्श
पद्मपुराणपातालखण्ड ७२-३१

४ नग्नरूपो महाकायः सितमुंडो महाप्रभः।
मार्जनी शिखिपत्राणा कक्षाया स हि धारयन्॥
यत्र वेगो महाराजस्तत्रो पायात् स्वरान्वितः।
समाया तस्य वेणस्य प्रविवेशः॥

५ अर्हन्तो देवतायत्र निर्ग्रन्थो दृश्यते गुरु।
दया चैव परोधर्म स्तत्र मोक्षः प्रदृश्यते॥
एतत्तेसर्वमाख्यातं जिनधर्मस्य लक्षणम्॥

६ नाहं रामो न मे वाछा भावेषु न च मे मनः।
शान्ति मास्थातु मिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा॥

दिगंबर मुनि आम सडक की तो बात ही क्या राजदरबार में भी प्रविष्ठ होते थे तथा श्रेष्ठ साधुओं के द्वारा भी पूजित थे । उस ग्रन्थ में एक और महत्व की बात लिखी है। जब राजा परीक्षित को सर्प ने काट दिया तब दिगबर मुनि शुकदेव जी ने कहा, "अब तुम्हारी आयु सात दिन की शेष है इसलिये तुम निर्भय होकर परिग्रह त्याग अर्थात दिगंबरत्व रूपी शस्त्र द्वारा शरीर में आकांक्षा का त्याग करो तथा ग्रह का परित्याग करो।"[1]

व्यास–शुकदेव प्रसग

भागवत में यह भी लिखा है कि "एक सरोवर में नग्न अप्सरायें स्नान कर रही थी । जब वहा से वस्त्रधारी व्यास निकले, तब उन देवागनाओ ने लज्जा युक्त हो वस्त्र धारण किये, किन्तु जब व्यास मुनि के पुत्र नग्न रूपधारी शुकदेव मुनि वहा से निकले तब अप्सराओ में कोई भी चचलता नही आई, न उनके मन में लज्जा का उदय हुआ, न उनने वस्त्र धारण ही किया । इस सबध में व्यास मुनि के प्रश्न पर उन देवियो ने बताया कि "शुकदेव मुनि दिगबर थे । उनकी दृष्टि विकार रहित थी, उसमें स्त्री पुरुष सबधी भेद–भाव नही था, इसलिए उनके आगमन पर हमारे मन में कोई विकार नही उत्पन्न हुआ । ऐसी स्थिति आपकी नही थी । आपकी दृष्टि में स्त्री पुरुष सबधी भेद था इस कारण हमारे मन में लज्जा का भाव उत्पन्न हुआ और हमने वस्त्र धारण किये ।"[2]

इस विवेचन से यह मनोवैज्ञानिक बात स्पष्ट होती है कि विकार रहित दिगबर मुनि का दर्शन मातृ जाति के मन में विकार भाव को उत्पन्न नही करता । आचार्य प्रभाचद ने लिखा है[3] कि "मुनियो के शरीर

---

१ अतकाले तु पुरुष आगते गतसाध्वस ।
छिद्यादसग शस्त्रेण स्पृहा देहे नु ये च तम ।।
स्क०,२ अ १, १५, पृ० ८२

२ दृष्ट्वानुयान्तमृषि मात्मज मप्यनग्नम् ।
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम् ।।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति ।
स्त्रीपु भिदा, न तु सुतस्य विविक्त दृष्टे ।।५।।

३ वीभत्स मलिन साधु दृष्ट्वाशवशरीरवत्
अगना नैव रज्यते विरज्यते तु तत्वत ।।२, ७, पृ ३३२

को देखकर स्त्रियों के मन में राग के बदले वैराग्य का भाव उत्पन्न होता है, क्योंकि उनका शरीर मलिन, सस्कारहित तथा शव के समान दिखाई पड़ता है।"

ऋषभावतार स्कध भागवत के ऋषभावतार स्कध में भगवान ऋषभदेव को आकाश रूपी वस्त्रो का धारक ('गगन-परिधान') कहा है। उनने महामुनियो को श्रेष्ठ धर्म-परमहस धर्म अर्थात् दिगबरत्व का उपदेश दिया था। उनके १०० पुत्र थे जिनमें ज्येष्ठ भरत थे उनके ऊपर भारतवर्ष के पालन का भार रखकर ऋषभदेव ने ब्रह्मावर्त से प्रस्थान किया।[1]

महत्वपूर्ण बात भागवत (पचम स्कध अध्याय ३ पाठ २०) में लिखा है कि "ऋषभ भगवान का अवतार 'वातरशनाना श्रमणा ना ऋषीणा धर्मान् दर्शयितु काम मेरुदेव्या तनुवावतार'-पवन रूप करधनी को धारण करने वाले दिगबर मुनियो के धर्म को दिखाने के हेतु मेरुदेवी के शरीर में हुआ।" जैन शास्त्रो मे मेरुदेवी का नाम मरुदेवी आया है। यहाँ 'वातरशना' शब्द श्रमण का विशेषण है। ऋग्वेद मे (मडल

१ महानुभाव परमसुहृद भगवानृषभापदेश उपशमशीलाना मुपरतकर्मणा महामुनीना भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षण पारमहस्यधर्म मुपशिक्षमाणः स्वतनयशत् ज्येष्ठ परमभागवत भगवज्जन परायण भरत धरणि पालनाया भिषिच्य स्वय भवन एवोर्वरित शरीरमात्र परिग्रह उन्मत्तइव गगन परिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात प्रवव्राज ॥ भागवत् स्क० ५, अ ५ पाद २८

इस अवतरण मे भगवान ऋषभदेव को दिगम्बर परम मित्र, महामुनियों को परमहस वृति की शिक्षा देने वाले श्रेष्ठ आचार्य के रूप में बताया है, इससे वे सभी परमहस महामुनियो के परम पूज्य तथा वदनीय प्रमाणित होते हैं; उनका धर्म भक्ति ज्ञान वैराग्य अर्थात् दर्शन चारित्र युक्त रत्नत्रय पूर्ण कहा है। ऐसे महान पुरुषोत्तम के प्रिय पुत्र परम प्रतापी परम भागवत सम्राट भरत के कारण ही इस देश का नाम भारतवर्ष मानना तर्कसगत है।

२ "बर्हिषि तस्मिन विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाम प्रिय चिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्या धर्मान्दर्शयितुकामो वातारशनाना श्रमणानामृषीणा मूर्ध्वमथिना शुक्लया तनुवावतार"

१०, २; १३६, २) में 'मुनयोवातरशना.' आया है। अतः श्री वेवर महाशय ने जो वातरशना को दिगबर मुनियो का वाचक बताया है, वह निर्दोष प्रतीत होता है। इस प्रसग में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है, कि जैनियो के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने 'वातरशनाना श्रमणना ऋषीणा'- दिगबर श्रमण ऋषियो को परमहस मुनियो का निर्ग्रन्थ पथ बताया है, इस कथन का समर्थन पुरातत्व विभाग के द्वारा प्राप्त मूर्तिया तथा शिलालेखो से होता है। ऐसी स्थिति में गौतम-केशी सम्वाद की ओट में महावीर भगवान को दिगबर बताना एव पूर्ववर्ती पारसनाथ भगवान को वस्त्र-समुक्त कहकर प्राचीन जैनधर्म को सवस्त्र-पथ का प्रस्थापक कहना तर्क, युक्ति एव सत्य के प्रतिकूल है। जैनेतर वाङ्मय में जैन तीर्थंकरो एव श्रमणो का दिगबर रूप में ही वर्णन आया है, अत सवस्त्र विचारधारा का प्रादुर्भाव चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में होने वाले द्वादश वर्षीय दुष्काल के पश्चात् मानना युक्ति, तर्क, मनोविज्ञान तथा इतिहास से निर्बाध है। भागवत की एक बात और उल्लेखनीय है जो इस बात का बताती है कि पुरातन हिन्दू धर्मावलबी भगवान ऋषभदेव के चरणो की भक्ति द्वारा अपने जन्म को कृतार्थ मानते थे, उसे सोचते हुए जैन धर्म के प्रति विद्वेष रखने वाले पौराणिक पडितो तथा उनके शिष्यो का जैन धर्म और तीर्थंकरो के प्रति स्वधर्म सदृश सन्मान और भक्ति रखना चाहिए। अन्यथा उनकी स्वशास्त्र-भक्ति किस प्रकार परिशुद्ध मानी जायगी? भागवत में लिखा है "भगवान ऋषभदेव के पुरीष-मल की गध से सुगधित पवन के द्वारा देश में चारो ओर दश-योजन पर्यन्त सुगध फैल गयी थी।"[1] यहा यह बात ध्यान देने की है कि यह भागवत का कथन जैन ग्रथो में नही पाया जाता है। आशा है कि असाम्प्रदायिक तत्वज्ञ हिन्दू भाइयो के समान साम्प्रदायिक कट्टर पडित वर्ग उपरोक्त शास्त्राधार के अनुसार भगवान ऋषभदेव तथा उनके द्वारा उपदिष्ट पथ में प्रवृत्ति करने वाले जैन सम्प्रदाय के प्रति सद्भावना पूर्ण व्यवहार करेंगे। जो इस कर्तव्य को निर्वाह नही करते वे स्वय अपने शास्त्र की सीमा का उल्लघन करने के कारण भक्ति गगा के कितने पानी में है, यह

---

१ तस्य ह यः पुरीष-सुरभि सौगन्ध्य वायुस्तम् ।
देश दश-योजन समन्तात् सुरभि चकार ॥ स्कध ५ अ० ५
ऋषभावतार वर्णन

सहृदय सुधी समाज सोच सकता है ।

शकराचार्य ने "विवेक चूडामणि" में लिखा है "कि इस योगी के पास दिशारूपी वस्त्र होते है जिन्हे धोने तथा सुखाने की आवश्यकता नही पडती है उस श्रेष्ठ अवस्था में यह जीव पूर्ण निराकुल हो, ब्रह्मदर्शन जनित आनद प्राप्त करने में समर्थ होता है । आत्म निमग्नता मे शरीर की सुधि कैसे रहेगी ?" विख्यात हिन्दू सन्यासी रामकृष्ण परमहस के विषय में श्री 'रामकृष्ण कथामृत' नामक बगला ग्रथ में लिखा है "जागने पर भक्तो ने देखा कि प्रभात हो चुका है, श्री रामकृष्ण बालक के समान दिगम्बर है।" उक्त स्वामी जी ने अश्वनी कुमार दत्त से कहा था "मै सभी भौतिक वस्तुओ को भूल जाता हू उस समय वस्त्र भी छूट जाता है ।" (रामकृष्ण के ससमरण देखिये)

हिन्दू ग्रथकारो के अनुभव

भर्तृहरि ने वैराग्यशतक में लिखा है "जिनके हाथ ही पवित्र पात्र है, भिक्षा के द्वारा उपलब्ध अन्न ही भोजन है, दिशा ही वस्त्र है, पृथ्वी ही शैया है, परिग्रह रहित होना जिनकी परिणति है, जो स्वात्म सतोषी है तथा जो दैन्य समुदाय से दूर है, ऐसी धन्य आत्माए कर्मो का नाश करती है" ।[1] राजर्षि भर्तृहरि ने कहा है " भगवन ! वह दिन कब आवेगा जब मै अकेला लालसा रहित शात करपात्र वाला दिगम्बर बनकर कर्मनाश करने मे समर्थ होऊगा ।"[2]

दि० मुनिदर्शन मगल दायी है

इन दिगम्बर जैन मुनि का दर्शन बडा कल्याणकारी माना गया है । महाभारत में लिखा है 'कि जब अर्जुन युद्ध के लिए तैयार हो रहा था उस समय जैन निर्ग्रन्थ दिगबर मुनि का दर्शन होने के कारण कृष्ण महाराज ने कहा था "अरे अर्जुन, अब क्या देखता है, जल्दी रथ पर सवार हो, हाथ में गान्डीव

---

१ पाणि पात्र पवित्र भ्रमण परिगत भैक्ष मक्षय्यमन्नम् ।
विस्तीर्ण वस्त्रमाशा सुदशक ममल तल्पमस्वल्पमुर्वी ॥
येषा नि संगतागीकरण परिणति स्वात्म-सतोषिणस्ते ।
धन्या सन्यस्त-दैन्य-व्यतिकर-निकरा कर्म निर्मूलयति ॥४२॥

२ एकाकी निस्पृह शात. पाणि-पात्रो दिगम्बरः ।
कदा शभो भविष्यामी कर्म-निर्मूलनक्षमः ॥५८॥

को ले, देखता नही जिसके समक्ष निर्ग्रन्थ मुनिराज है उसके हाथ मे पृथ्वी की विजय है, यह मै मानता हू ।"[१]

भारतीय इतिहास में दि० मुनियो का वर्णन

इस संबंध में इतिहास भी महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान करता है। मेगस्थिनीज ने लिखा है "जब सम्राट सिकंदर भारत में आया था, तब उसने तक्षशिला–पंजाब में कुछ दिगंबर जैन मुनियो के दर्शन किये थे ।"[२] चीनी यात्री ह्यूनसाग ने सन ६४० मे मालकूट देश के विषय में लिखा था कि "वहा दिगबर जैन श्रमणों का बहुत बड़ा समुदाय विद्यमान था" उसने यह भी लिखा है कि "ये निर्ग्रन्थ नग्न रहते थे और अपने हाथो से केशो को उखाड़ते थे ।"[३] अरबवासी सुलेमान जो ८५१ सदी में भारत में आया था, लिखता है कि "यहा कुछ साधु पूर्णतया नग्न रहते थे। इसका कारण वे यह बताते थे कि इस दुनिया में उनका नग्न ही जन्म हुआ है। वे इस जगत की कोई वस्तु नही चाहते इसके सिवाय हममें कोई शारीरिक दुर्भाव भी नही है। अतः हमें अपने नग्नपने की तनिक भी लज्जा नही है, जैसे आपको अपना मुख, अपना हाथ खुला रखने में लज्जा नही होती। आपके मन में शरीर संबंधी पाप वासनाओ की अनुभूति पायी जाती है, इसलिए आपका कर्त्तव्य है कि लज्जा करें और नग्नता को ढाके ।"[४]

---

१ आरोहस्व रथे पार्थ ! गान्डीव च करे कुरु।
निर्जिता मेदिनी मन्ये निर्ग्रन्थो यस्य सम्मुखे ॥

२ "When Alexander the Great came to India he saw naked saints in Taxila and took one of them called Kalyan with him. These naked saints were called Gymnosophists by the Greeks." (See. Yonge's Philo Judaens, Vol.III page 526.)

३ "When Hieun Tsang visited Southern India in 648 A. D. in Malkuta....the nude Jains were present in multix tudes." Smith : Histroy of India,second edition page 409.

४ Sulaiman, a merchant of Arabia visited India in 851 A. D. describes "In India there are persons who go about naked..as they had come naked into the world and desired nothing that was of this world. Moreover we have no sin of the flash to be conscious of and therefore we are not

औरंगजेब के शासन काल में आगत यात्री डा० बर्नियर ने लिखा है[1] "मैंने प्रायः रजवाडो, में इन नग्न साधुओं का समुदाय देखा है। स्त्री तथा लडकिया उनको बिना किसी राग भाव के देखती थी। उनके मन में वे ही भाव उत्पन्न होते थे जो सडक पर से जाते हुए किसी साधु को देखने पर होते हैं। स्त्रिया अत्यन्त भक्ति युक्त हो उनको आहार कराती थी।"[1]

मेक्रिण्डल ने लिखा है कि "प्रत्येक धनी व्यक्ति का घर इन दिगम्बर साधुओं के लिए उन्मुक्त था—यहा तक कि वे अन्तःपुर में भी जा सकते थे।"[2]

शेरशाह के समकालीन १६ वी सदी के विद्वान मुहम्मद जायसी ने पदमावत् में लिखा है —

"कोई ब्रह्मचारज पथलागे कोई सु दिगम्बर अच्छा लागे" (२–६०)

इस प्रकार विश्व में व्याप्त सामग्री का परिशीलन करने से ज्ञात होगा कि प्राय सभी सुसस्कृत और विचारवान सम्प्रदायों में विश्व प्रेम के प्रतीक दिगम्बर मुनि की स्थिति के प्रति अत्यन्त पूज्य भाव पाया जाता है। इस विषय म सीमित अवकाश, अधिक विवेचन करने में बाधक होता है। इसलिए विशेष विवेचन के लोभ का हमें सवरण करना पडता है। इन सतों की चर्चा करने से, अर्चा करने से, लौकिक जनों की जीवन धारा शुभ होती है और वे अपने उज्वल चरित्र द्वारा इस भूतल में स्वर्गीय साम्राज्य का निर्माण करते हैं। ये मुनिराज अलौकिक वृत्ति वाले होते हैं।

मुनियों की वीतरागता

कहते है कि एक बादशाह ने किसी महात्मा के दर्शन से सन्तुष्ट हो कहा "महाराज! आपको जो चाहिये वह मुझसे माग लीजिये।" वह साधु कहता है—

---

ashamed of our nakedness any more than you are to show your hand or face You, who are conscious of the sins of the flash do well to have shame and to cover your nakedness"

(Yule's Marcopolo).

१ Dr Bernier. Travels in the Mogul Empire Page 317

२ "Every wealthy house is open to them, even the apartments of the women."

Mc. Crindle: Ancient India Page 72.

"शहंशाह अक्ल तेरी मारी गयी है।
फकीरों को दौलत की परवा नहीं है॥
तमन्ना फकीरी में लाजिम नहीं है,
धब्बा सफेदी में लाना नहीं है॥"

इस उत्तर ने बादशाह की आखें खोल दी और उसे ज्ञात हुआ कि इस विश्व में ऐसी ऐसी विभूतियां विद्यमान है जिनके हृदय में लोभ तथा अहंकार का लेश भी नहीं है। इन संतों के चरणारविन्द की भक्ति करने वाले उन्नत मना मानवका मन महान महिमा-शाली महीपालों की गुण गाथा गाना पाप सा मानता है। इसलिए वह अपनी भक्ति का केन्द्र परमात्मा के सिवाय दूसरे को नहीं बनाता है। ऐसे ही उज्वल भक्त को, कहते हैं, एक समस्या पूर्ति निमित्त यह पंक्ति दी गई "मिलि आस करी सु अक्ब्बर की" प्रतिभाशाली विद्वान ने इस प्रकार मनोरम रचना बनायी जिसे सुनते ही सभी लोगों ने कवि के उज्वल भावों की अधिक प्रशंसा की—

वीतरागकी भक्ति वाले को सराग की आराधना प्रिय नहीं लगती

"जिय बहुतक भय धरे जग में छवि भा गइ आज दिगंवर की।
चितामनि प्रगट्यो हिय में तब कौन जरूरत डम्बर की।
जिन तारन तरनहिं सेय लियो परवाह करे को जव्वर की।
जिह आस नहीं परमेगुर की 'मिल आस करी सु अकब्बर की'॥"

सम्पूर्ण सृष्टि का सूक्ष्म निरीक्षण कर तार्किक अकलंक कहते हैं कि "इस जगत में भिन्न भिन्न उपासकों के विविध आराध्य देव है जिनकी वेशभूषा पृथक पृथक है, किन्तु किसी की वेशभूषा विश्व में व्याप्त नहीं है। एक जिनेन्द्र की दिगंबर मुद्रा ही सम्पूर्ण जगत के कण कण में, प्राणी प्राणी में विद्यमान पायी जाती है।"

विश्वव्यापी दिगम्बरत्व

एक मनुष्य ही समस्त भूतल में दिगम्बरत्व के विरुद्ध बाह्य परिधान को धारण करता फिरता है। दिगम्बर मुनि की प्राकृतिक मुद्रा जगत को पुकार पुकार कर प्रबुद्ध करती हुई कहती है, "अरे प्रकृति के उज्वल प्रकाश में अपनी विकृति को क्यों नहीं धोता? अकिंचनता का पाठ सीख। देखता नहीं है सारी प्रकृति निरावरण है। तू श्रेष्ठ होते हुए अपने विकारों और दुर्बलताओं को दूर न कर सुन्दर मोहक

आवरण डाल अपनी आत्मा तथा विश्व को ठगता फिरता है। जरा आंख पसारकर देख, हरिण, मयूर, हंस आदि प्राणी दिगम्बरत्व की प्राकृतिक मुद्रा से समलंकृत हैं।"

धन वैभव में आसक्त मानव को ये आत्मदर्शी महापुरुष कहते हैं—इन ककरों पत्थरों में और उनकी जाति वाले जवाहरातों में अथवा सोना चांदी आदि में तेरी आत्मा को शांति देने की तनिक भी सामर्थ्य नहीं है। अरे पागल यह शरीर भी तुझसे पूर्णतया भिन्न है, तब तू अन्य पदार्थों के प्रति आसक्ति क्यों करता है? वे जड़ तथा ज्ञान शून्य हैं। सोच तू अनन्त ज्ञान अनन्तशक्ति तथा अविनाशी शांति का अक्षय भंडार है, उस ओर अपनी दृष्टि क्यों नहीं लगाता। तुझ पर पुद्गल ने अपना शासन जमा लिया है। तेरा कर्तव्य है कि उस शासन को दूर कर आत्मा का साम्राज्य स्थापित कर।

मुनियों के जीवन द्वारा प्राप्त उपदेश

ऐसे सत्पुरुष प्रेम से आत्मा को समझाते हुए कहते हैं—

चल चेतन तँह जाइये जहाँ न राग विरोध।
निज स्वभाव परकासिये, कीजे आतम बोध॥
तेरे बाग सुज्ञान है निज गुण फूल विशाल।
ताहि विलोकहुं परम तुम, छांडि आन जंजाल॥
अहो जगत के राय मानहु एती बीनती।
छाडहु पर परजाय काहे भूले भरम में॥
तुम तो पूनो चंद पूरन ज्योति सदा भरे।
पड़े पराये फंद, चेतहु चेतनराय जू॥
या माया से राचिके तुम जिन भूलहु हंस।
संगति या की त्याग के चीन्हों अपनो अंश॥

वे कहते हैं कि जिनेन्द्र की आराधना से यह आत्मा मृत्यु का विजेता बन जाता है। इसलिए उन जिनेन्द्र भगवान का शरण लेना चाहिए। कवि कहता है—

तन ऊपर जम जोर है 'जिन' सों जम डराय।
तिनके पदको सेइये, जम को कहा बसाय॥

ये आत्मदर्शी महापुरुष आत्मा से कहते हैं कि तू कर्मों का खेल छोड़, इनने तुझे कभी छोटा कभी बड़ा बनाया। तेरा कर्तव्य है कि तू

चिदानन्द की आराधना में लग जा। कवि कहते हैं–

अठन की करतूत विचारहु कौन कौन ये करते हाल।
कबहु क सिर पर छत्र फिरावें कबहू क रूप करे बेहाल।
कबहु देव लोक सुख भुगतें, कबहुं रंच नाज को काल।
ये करतूत करें कर्मादिक चेतन रूप तू आप सम्हाल।

जिस जीव का मन भोगो की आसक्ति को नहीं छोड़ पाता है, उसे मार्मिक वाणी में कवि समझाता है –

वे दिन क्यों न विचारत चेतन मात की कूख में आय बसे हो।
उरध पाव टगे निसि वासर रंच उसासन को तरसे हो।
आयुवसात बचे कहुं जीवित लागन की तव दृष्टि परे हैं।
आज भये तुम जोवन के बस भूल गए कित तें निकसे हो।

कवि बड़े सरल शब्दो में समझाता है—

काहे को भटकत फिरे सिद्ध होन के काज।
रागद्वेष को त्याग दे 'भैया' सुगम इलाज।
रागद्वेष के नाश तें परमातम परकाश।
रागद्वेष के भासतें परमातम पदनाश।

कवि बनारसीदास जी इस मोही जीव को जगाते हुए कहते हैं–

चेतन जी! तुम जागि विलोकहु लागि रहे कहा माया के तांई।
माया तुम्हारी न जाति न पाति न अंश की वेलि न अंश को जाई।
आय कहा से कहा तुम जाओगे, माया रहेगी जहा की तहा ही।
दासी किए बिन लातन मारत ऐसी अनीति न कीजे गुसाईं।

आत्म जागरण होने पर इस जीव को वास्तविक स्थिति का अवबोध होता है। इससे वह माया के वैभव को अकल्याणकारी जानकर जगत के जाल से छूटने का प्रयत्न करता है। उस आत्मज्ञानी की उज्वल दृष्टि को कवि इस प्रकार बतलाया है कि धनवैभव को तो वह कीचड़ मानता है, नरेश के पद को निन्दनीय समझता है, भवन में निवास उसे भाले की तरह चुभता है। कवि के मार्मिक शब्द इस प्रकार हैं—

कीच सो कनक जाके, नीच सो नरेश पद,
मीच सी मिताई गरवाई जाके गारसी।
जहर सी जोग जाने कहर सी करामति,
हहर सी होस पुद्गल छवि छारसी।

जाल सो। जगविलास भाल सो भुवन वास,
काल सो कुटुम्ब काज लोक लाज लारसी,
सीठ सो सुजस जाने, वीठ सो वखत जाने,
ऐसी जाकी रीति ताहि वदति 'बनारसी'।।

वीतरागी मुनियों का प्रभाव

ऐसी पुण्यचरित्र आत्माओं के सपर्क में आनेवाले विश्व के पदार्थों में विलक्षण परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। जन्म विरोधी जीवों तक में स्नेह की धारा बहती है। हरिणी सिंह सुत को अपना शिशु जान प्यार करती है, व्याघ्र के बच्चे पर गाय प्रेम करती है, बिल्ली हंस के शिशु पर अनुराग करती है तथा मयूरी सर्पणी के प्रति प्रेमभाव प्रदर्शित करती है। किन्तु दुर्जन मनुष्यो की दुष्टता का अन्त नही होता और वे पशुओं में भी न पाई जाने वाली हीन चेष्टाओं को किया करते हैं।

दुष्टों का हृदय बदलना असभव सा है

भगवान पार्श्वनाथ जैसे परम विशुद्ध चरित्रधारी महान आत्मा पर दुष्टराज कमठ ने अकारण अवर्णनीय उपसर्ग किया था किन्तु वे महापुरुष अपनी योग साधना से विचलित नही हुए। एक कवि ने लिखा है।

किंयो उपसर्ग भयानक घोर, चली बहुतीक्षण पवन झकोर।
रहो दशहू दिशि में तमछाय, लगी बहु अग्नि लखी नहिं जाय
सुरुडन के बिन मुन्ड दिखाय, पड़े जल मूसलधार अथाय।
तबै पदमावति कत धनिंद, चले जुग आय जहाँ जिन चंद।।

तार्किक मानव के मन मे यह प्रश्न अवश्य उत्पन्न होगा कि महान आत्माओ के प्रभाव से दुष्टो के उपद्रव क्यो नही शांत होते? यह धारणा भ्रमपूर्ण है। जिस जीव के असाता कर्म का उदय होगा उसे उस कर्म के विपाक काल में विपत्ति का प्रहार अवश्य भोगना पडेगा। जो सत्पुरुष कर्मों के फल को शांत भाव से सहन करते है वे नवीन कर्म बध के जाल में नही फसते। एक दूसरी बात यह भी है कि दुष्ट जीवो की प्रकृति ही सत्पुरुषों को संतप्त किये बिना सतुष्ट नहीं होती। वे अपना विनाश देखते हुए भी दूसरे का अहित करने में हर्षित होते हैं।

कहते है, एक दुष्टराज भीषण वन में पहुचे। किसी भद्र पुरुष ने उनसे पूछा कि "आप इस भूमि में क्यो आए?" उसने उत्तर दिया कि मैं यहाँ इसलिए आया हू कि जगली जानवर मेरे शरीर का भक्षण कर लेवें, भद्र पुरुष ने पुन. पूछा "महाशय ऐसा करने का क्या कारण है?" उत्तर में

श्रीमान-खलराज बोले-"इस वन के हिंसक पशुओं ने अब तक मानव रुधिर का रसपान नहीं किया है, अब वे मेरा मांस खाकर आगामी अन्य मनुष्यों के संहार में पूर्ण तत्पर रहेंगे। यहां आने का मेरा यही उद्देश्य है।" ऐसे दुर्जनों का मन बदलना विधाता के वश की भी बात नहीं है। स्वभाव अपरिवर्तनीय होता है। इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है, कि दुष्टों ने सतपुरुषों के विनाश के लिए क्या क्या अधम कृत्य नहीं किए। इतिहासकार स्मिथ महाशय का कथन है, कि मदुरा के विख्यात मीनाक्षी मंदिर में चित्रावली है, जिसमें धर्मान्ध हिंदुओं द्वारा आठ हजार जैनियों के संहार का भाव चित्रित हुआ है।[१] निष्पक्ष हिंदू विद्वान प्रो० रामास्वामी आयंगर के लेख से ज्ञात होता है, कि जैनों की निर्मम हत्या का दिन आज भी मदुरा में होने वाले द्वादश उत्सवों में से पाँच उत्सवों में बड़े आनन्द पूर्वक मनाया जाता है।[२] 'पेरिय पुराण' में वर्णित शैव विद्वान तिरुज्ञान संबधर के चरित्र से ज्ञात होता है कि शैवधर्मी पाड्यनरेश ने जैन धर्म पर अवर्णीय अत्याचार किए थे, उसकी समानता भारत के धार्मिक इतिहास में नहीं पाई जाती है।[३] लिंगायतों ने भी वसवराज के नेतृत्व में बारहवीं सदी में जैनियों का ध्वंस किया था।

धर्मान्धों की की दुष्टता

चोल नरेशों ने भी जैन धर्म, जैन मंदिर, मठ आदि के नाशक क्रूर कार्य किए थे।[४]

---

१ "Tradition avers that 8000 (eight thousand) of them (Jains) were impaled. Memory of the fact has been preserved in various ways and to this day the Hindoos of Madura where the tragedy took place celebrated-the anniversary of the impalement of the Jains as a festival (Utsav)."

V. Smith History of India.

२ As though this was not sufficient to humiliate that unfortunate race, the whole tragedy is enacted at five of the twelve annual festivals at Madura temple.

English Jain Gazette July 1920.

३ The Jains were also persecuted with such rigours and cruelty that is almost unparalled in the history of the religious movements in the South India.

Prof. M. S. Ayengar M. A. Jain Gaz. July 1920

४ The Chol sovereigns had ever remained bitter enemies

गुजरात के नरेश अजयदेव ने शिव भक्ति के अतिरेकवश जैनियों का निर्दयता पूर्वक सहार किया।

धर्मान्धता वश अहिंसा की गाथा गाने वाले हजारों जैन ग्रंथ तुगभद्रा नदी में डुबा दिए गये।[१] ऐसे रोमाचकारी वर्णन को पढते समय गजनवी अलाउद्दीन आदि नरेशो की स्मृति सजग हो जाती है। अलाउद्दीन और औरगजेब आदि यवन नरेशो ने ता जैन दिगम्बर मुनियो के प्रति आदर भाव व्यक्त किया था। इसका क्या कारण है कि भारतीय सस्कृति के आराधको ने तो अहिंसात्मक विचारधारा का नाश किया और यवनो ने उसका उनके समान सहार नही किया? इसका कारण मनोवृत्ति की विशेषता ही कही जा सकती है। बड़े बड़े विद्वान सप्रदाय मोह वश अकार्य में प्रवृत्ति कर डालते है। कषाय जीव के विवेक को दूरकर निर्गल प्रवृत्ति कराता है।

स्वामी विवेकानद ने प्रकाण्ड वेदान्ती विद्वान शकराचार्य के विषय में कहा था–'शकर की बुद्धि क्षुरधार के समान तीव्र थी। वे विचारक थे और पडित भी थे। परन्तु उनमें उदार भावो की गभीरता अधिक नही

---

of the faith, and who is there that does not know of Raja Chol's terrible destructions of the Jain temples, monasteries and the ravages of the country as for as Puigeri Ajaya Deo, a Shaiv King of Gujrat begin his reign (1174 79) by merciless persecution of the Jains torturing their leaders to death Vide Jain Gaz April 1921, & Jan 120

[१] Religious persecution, bigotry, conservatism and the like have done much to keep from public all that is valuable in Kannad Jain literature Thousands of Basties have been destroyed and the libraries set on fire Several thousands of Palmra manuscripts have been thrown into the Cauveri and the Tungabhadra, and the havoc of worms have been equally destructive of the vast treasures of learning

Jain Gaz August 1920 P 178

Thus we see that persistent persecutions were directed against the Jains and to the credit of Jainism be it spoken, that they never attempted to use the sword against other religions

Jain Gaz Vol XVII P 125

थी । और ऐसा अनुभव होता है कि उनका हृदय भी उसी प्रकार का था उनमें ब्राह्मणत्व का अभिमान बहुत था । उनके हृदय के भाव का विचार करो । उन्होंने कितने बौद्धश्रमणों को आग में झोंक कर मार डाला ? शंकराचार्य के ये कार्य संकीर्ण दीवानेपन से निकले हुए पागलपन के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं ?" (विवेकानंद के संग में पृ. १४६)

जब बड़े बड़े सन्तरूप से पूजित व्यक्तियों की यह कथा है,[१] तब अन्य मनावों की बात क्या जो धर्म का नाम-निशान भी नहीं जानते हैं ।

इस प्रकरण में नाटक समयसार की यह सूक्ति बड़ी उद्‌बोधनी प्रतीत होती है–

> कुंजर को देखि जैसे रोष करि भूसें स्वान,
> रोष करै निर्धन विलोकि धनवंत को ।
> रैन के जगैया को विलोकि चोर रोष करै, -
> मिथ्या मति रोष करै सुनत सिद्धांत को ।
> हंस को विलोकि जैसे काग मन रोष करै,
> अभिमानी रोष करै देखत महंत को ।
> सुकवि को देख ज्यों कुकवि मन रोष करै,
> त्यों ही दुरजन रोष करै देखि संत को ।

---

१ धार्मिक मदान्धता तथा अत्याचारीपने को प्रेरणा प्रदान करनेवाली सामग्री अनेक हिंदू पुराणों आदि में प्रक्षिप्त पायी जाती है । जैसे कूर्मपुराण के पूर्वभाग में लिखा है–' वेद के सिवाय दूसरा धर्मशास्त्र नहीं कहा जा सकता है । जो अन्य शास्त्रों के अभ्यास में रहता है उसके साथ द्विजों को नहीं बोलना चाहिए । इस जगत में जो शास्त्र श्रुति, स्मृति के विरुद्ध हैं उनमें निष्ठा रखनेवालों की वृत्ति तामसी–अंधकार पूर्ण है" (अध्याय १२, २५६)

> "न च वेदादृते किंचित् शास्त्रं धर्माभिधायकम् ।
> योऽन्यत्र रमते सो सो न संभाष्यो द्विजातिभिः ।।
> यानि शास्त्राणि दृश्यन्ते लोकेऽस्मिन् विविधानि तु ।
> श्रुति-स्मृति-विरुद्धानि निष्ठा तेषां हि तामसी ।।

कवि का महत्वप्रद यह कथन भी हृदयग्राही है–

"सरल को सठ कहै, वक्ता को धीठ कहै, विनै करै तासो कहै धन को अधीन है।
छमी को निबल कहै, दमी, को अदत्ती कहै, मधुर वचन बोलै तासो" कहै दीन है॥
धरमी को दंभी निसपृही को गुमानी कहै, तिसना घटावै तासों कहै भागहीन है।
जहा साधु गुन देखै तिन्हकों लगावै दोष, ऐसो कुछ दुरजन को हिरदो मलीन है॥"

खल वन्दना

दुर्जनों की असाधारण प्रवृत्ति को देख सत्कवियो ने दुर्जनों को भी प्रणाम करना कर्तव्य समझा है। आचार्य वीरनंदि ने लिखा है–

"जिस प्रकार गुरुत्व बुद्धि से मैं सत्पुरुषों को प्रणाम करता हूं, उसी प्रकार की बुद्धि से मैं दुर्जनों के प्रति अपनी प्रणामाजलि अर्पित करता हूँ। सत्पुरुष गुण कीर्तन की दृष्टि से गुणों को प्रकाशित करते हैं और दुर्जन पुरुष दुर्भाव से दोषों को प्रगट करते है।"

कवि तुलसीदास ने दुर्जनों की इस प्रकार से वन्दना की है–

"बहुरि बंदि खल गन सत भाये। जे बिनु काज दाहिने बायें॥
परहित हानि लाभ जिन केरे। उजरे हरप विषाद बसेरे॥ बालकांड४

मुनिविहार पर आक्षेप

कोई कोई व्यक्ति यह कहते हैं, "दिगम्बर मुद्रा मे साधुओ का नगरादि में आवागमन भद्रता और शिष्टता के प्रतिकूल है। वे यदि एकात स्थल में अथवा जंगल में दिगम्बर रहें तो हमें कोई आपत्ति नही, किन्तु जब वे समाज में आते हैं, तो उनको समाज के नियमों का पालन करना चाहिये। दूसरी बात यह है कि वे नगरों में आते भी किस लिए है? यदि वे कारण वश नगरादि में आना चाहते है तो उनको लज्जा निवारणार्थ वस्त्र धारण करना चाहिए? लोक रुचि के विरुद्ध उनको प्रवृत्ति नही करना चाहिए। इस कारण ही लोग उनकी पद्धति के विरुद्ध हो जाते हैं।"

विधि की विडम्बना

सचमुच में यह विधि की विडम्बना ही है, जो विमल चरित्र निस्पृह, श्रेष्ठ अहिंसावृत्ति के आराधक निर्भय श्रमणों के गमनागमन के विषय में नियन्त्रण लगाने के बारे में अधिकारी वर्ग अपना कदम उठाने में संकोच नही करते। भद्रता या शिष्टता का यह अर्थ मानना ठीक नहीं है कि विशेष प्रकार के वस्त्र पहिन लिए और ऐसी मोहक बातें करने लगे जिनका सत्य और प्रमाणिकता से जरा भी सम्बन्ध न हो। संसार भर का दंभ या पाखण्ड करने वाला व्यक्ति अपनी भद्रोचित

कही जाने वाली पोशाक के कारण सभ्य और भद्रता का अहकार लिए फिरता है और फिर प्राणीमात्र पर अपनी करुणा की अभय और शीतल छाया पहुँचाने वाले, अपने उज्वल जीवन द्वारा जगत को सद्वृत्तिया और उच्च कार्यो की शिक्षा देने वाले शीत, उष्ण की भी परवाह न कर प्रकृति-प्रदत्त दिगम्बर मुद्रा को धारण करने वाले विश्व पूज्य मुनीन्द्रो का नगरादि में जाना भद्रता और शिष्टता के प्रतिकूल कहा जाता है। इससे अधिक तर्कशून्य और अतिरेक पूर्ण बात और क्या हो सकती है ?

शिष्टता का सच्चा अर्थ है सदाचार से अनुप्राणित जीवन व्यतीत करना। जो दूसरे निरपराध जीवो की हत्या करते हुए नही सकुचाते, सुरापान करने में सदा तत्पर रहते है, परनारी के प्रति मातृत्व की भावना शून्य है तथा विविध पापाचारो में मग्न है वे सभ्यता शिष्टता और भद्रता का सेहरा सिर पर बाधे सर्वत्र आ जा सकें और जो अत्यन्त सहनशील है, पवित्रता की जीवन मूर्ति है ?

मनसा वाचा कर्मणा सभी जीवो का कल्याण और रक्षण करते है, जो महान जितेन्द्रिय है, वे शिष्टता के नाम पर आम सडक पर से नही आ जा सकते। इस अधेर नगरी की अनीति की भी कोई सीमा है। यह तो साधुओ का शूलिकारोहण और असाधुओ की चरण चर्चा सदृश शासन की याद दिलाता है। तब प्रेमी क्या यह नही सोच सकता कि इन मानवशरीर धारी मुनीन्द्रो का परिग्रह के पाप का परित्याग कर आत्म-साधनार्थ प्रवृत्त होने से चलने फिरने का अधिकार क्यो और कैसे नष्ट हो गया। जिन अद्भुत सभ्यता के पूजको का मानसिक सन्तुलन इन श्रमणों के आम सडक से जाते हुये बिगड जाता है वे कृपा कर उनके बिहार के समय अपने मनोध मुख दूसरी ओर कर सकते है या नैनो को कुछ क्षणो के लिए बन्द करके अपनी अद्भुत तहजीव (सभ्यता) की रक्षा कर सकते है। यदि अद्भुत मनोवृत्ति वालो के मिजाज को खुश रखने मे शासन सत्ता लग जाय तो उसे पद-पद पर न्याय का गला घोटना पडेगा। बहुमत के नाम पर जब कभी भी सत्य का मुह बन्द किया जा सकेगा, किन्तु ऐसा अन्याय कब तक चलेगा ? "अन्धेर नगरी चौपट्ट राजा" का शासन क्या चिरस्थाई हो सकता है। अत्याचारी का विनाश प्रकृति स्वय किया करती है। एक कवि ने कहा है "जो व्यर्थ में दूसरो को सतप्त करता है वह स्थाई वृद्धि को नही प्राप्त करता है, यह बात बत ते हुए सूर्य सन्ध्या के समय अस्तंगत

होता है । सूर्य ने अपने सन्ताप से लोगों को सतप्त किया, इसका फल यह हुआ है कि मध्यान्ह के पश्चात् उसका पतन प्रारम्भ हुआ और सायकाल के समय उसकी समाप्ति भी हो जाती है ।"[1]

नैतिकता की मूर्ति मुनिराज

यह भयकर भूल है जो साधुओं के नगरों में आवागमन को नैतिकता के प्रतिकूल समझा जाता है। वे तो स्वयं नैतिकता और सदाचार की जीवित मूर्ति हैं। उनके रोम रोम मे सर्व जीव धारियो के प्रति सद्भावनाए भरी हुई हैं। प्रत्येक प्राणी के प्रति करुणा, प्रेम, बधुत्व का भाव भरा है, भले ही कोई उनके रक्त का पिपासु हो प्राण लेने का उपक्रम करता हो। उनकी मंगल और अभय दृष्टि में छोटे, बड़े, गरीब अमीर, मित्र, शत्रु का भेद नही रहता है।

सम्राट बिम्बसार (श्रेणिक) ने जगल में ध्यान में निमग्न दिगबर जैन मुनि यशोधर स्वामी के गले मे महा सर्प डाल दिया था, और बहुत से क्रूर शिकारी कुत्तो को छोडकर भयकर त्रास देने का असफल प्रयास किया था, जो उन साधु, महाराज की श्रेष्ट तपश्चर्या के प्रभाव से दूर हो गया था। दूसरे दिन मुनिभक्ता रानी चेलना को यह समाचार ज्ञात हुआ, तब वह दुःखी हुई और बिम्बसार महाराज के साथ वन मे पहुची, जहाँ वे मुनिराज थे। उसने उनके शरीर पर के सर्प को दूरकर उनको प्रणाम किया। उस समय उन मुनिवर ने श्रेणिक महाराज तथा चेलना रानी को समान रूप से आशीर्वादसे कृतार्थ किया। इससे प्रभावित हो श्रेणिक ने उनके पथ को स्वीकार कर जैन धर्म धारण किया।

ऐसे ये दिगम्बर साधु होते हैं जो सर्व प्राणियो पर समान भाव रखते हैं। महान दुष्ट व्यक्ति पर भी ये प्रेम मे अमृत की वर्षा करते हैं। ऐसी महान् विभूतियो को भव्य लोग अपने नगर में पदार्पण करने की पुनः प्रार्थना अनुनय विनय करते है। बडे बडे नरेश उनके आगमन के सवाद से अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करते हुए उनसे लाभ लेते थे[2] तथा प्रजा को आदेश करते थे, कि सब लोग इन मुनीन्द्रो की चरणरज से अपनी आत्मा को पवित्र बनावें, अपने दुर्भाग्य के दोष को दूर करें।

---

१ "न चिरलभते वृद्धि योन्यान तापयन्वृथा ।
वदत्रिति दिनाधीशः पातार मधि गच्छति ॥"

२ But we know from the account of Magasthenes that so late as the 4th Century B C, the Sarmanas or Jain Sar-

मुनियों की राज्य मान्यता

धर्म शर्माभ्युदय काव्य में लिखा है, कि रत्नपुर के अधिपति महाराज महासेन को जब वनमाली ने प्रचेतस नामक दिगम्बर महामुनि के शुभागमन की पवित्र वार्ता सुनाई तो राजा ने अपने आसन से उठकर उस दिशा को प्रणाम किया, जिस दिशा में वे मुनीन्द्र विराजमान थे। पश्चात् संपूर्ण प्रजावर्ग के साथ मुनिराज के दर्शनार्थ राजा सपरिवार पहुचे और मुनिनाथ की स्तुति करते हुए कहने लगे "भगवन् आपके पाद-पादप की चिन्ता और संताप को दूर करनेवाली छाया को प्राप्त करने में भव-भ्रमण के श्रम से मुक्त हो गया। संताप समन्वित सूर्य अथवा कलंक युक्त चन्द्र से क्या प्रयोजन है? क्योंकि उनके दर्शन से अतःकरण का अधकार उस प्रकार दूर नही होता, जैसा आपके दर्शन से होता है।" आत्मा को प्रकाशदाता मुनियो तथा सत्पुरुषों का सदा से इस देश में श्रद्धापूर्वक सम्मान होता आया है।

हजरत मसीह से तीन वर्ष बडे यूनान के साधु एपोलोनियस की भारत यात्रा की डायरी से ज्ञात होता है कि उस समय उस राज्य के राजा आचार्य के दर्शनार्थ आनेवाले थे, तब राजा के लिए सम्मान आदि की विशेष व्यवस्था का अभाव देख यूनानी साधु ने आचार्य से इसका कारण पूछा तो, आचार्य ने कहा "हमारे देश में ऐसा रिवाज है कि जब राजा आता है, तो ऋषि को नमस्कार करता है और ऋषि उसको आशीर्वाद देते हैं।" अज्ञान के कारण लोग आज नही जानते कि इन सतो के पास क्या आतरिक निधियाँ विद्यमान रहती है।

आचार्य गुणभद्र लिखते है कि *वीतराग श्रमण* के पास 'भुवन प्रद्योति रत्नत्रयं' (World-illuminating three gems) त्रिभुवन को प्रकाशित करने वाले रत्नत्रय विद्यमान रहते हैं। जब कस्टम अधिकारी ने यूनानी सन्त से पूछा कि तुम्हारे पास जो चुगी लगाने योग्य संपत्ति है उसे बताओ, उस समय ऐपोलोनियस ने कहा मेरे पास इतनी निधिया है– *सरस्वती, विवेक, न्याय और निग्रह। यह सुनकर वह अधिकारी लज्जित* हुआ, उसने उनको प्रणाम करके क्षमा माँगी और कहा "आप सदृश विद्वान

---

manas, who lived in the woods were frequently consulted by the kings through their messengers regarding the cause of things- (S T)

का हमारे देश में आना कल्याणप्रद है।" एक राज्याधिकारी ने रोषपूर्वक उनसे कहा "हमारे राज्य में प्रवेश करने का साहस तुम्हे कैसे हुआ ?" ऋषि ने उत्तर दिया–"सारी सृष्टि मेरी है। जहाँ मेरा दिल चाहेगा, वहा मैं जाऊंगा।"[1]

मुनिदर्शन द्वारा पाप क्षय

पद्मपुराण में लिखा है, कि जब रामचन्द्र जी लक्ष्मण और सीता के साथ दंडक वन में गये थे, तब अतिथि को आहार दान की वेला में मासोपवासी सुगुप्ति तथा गुप्त नामक दो दिगंबर अवधिज्ञानी गगनगामी मुनींद्रों को देख सीता ने अत्यन्त हर्षित हो पतिदेव से कहा–

पश्य पश्य नरश्रेष्ठ तपसा कृश विग्रहं। दैगवरं परिश्रांतं भदतयुगल शुभम्॥

,उस समय रामचन्द्रजी ने कहा कि "देवी ! जिनके दर्शन से भक्त हृदय वाले मानवो के बहुत समय से अर्जित पाप क्षणभर में नाश को प्राप्त होते हैं, वे कहा हैं ?" इतने मे उन मुनिद्वय का दर्शन हो गया। उस समय वैदेही के द्वारा बनाए गए आहार के द्वारा उन योगियो की पारणा हुई।

इस प्रकार प्राचीन वाङ्मय से स्पष्ट होता है, कि सन्तो के आगमन को लोग मंगलमय मान उनके आगमन के काल को मनुष्य जन्म को सफल करने वाले पुण्य क्षेत्रो में परिणित किया करते थे, कारण ऐसे महान आत्माओं के द्वारा जीवो को अपनी मलिनताओ को धोकर जीवन को सुसंस्कृत बनाने का सुयोग अनायास प्राप्त हुआ करता था।

श्रीमती स्टीवेनसन ने लिखा है "वस्त्रो का त्याग कर देने से मनुष्य अनेक चिन्ताओ से मुक्त हो जाता है। कपडो के धोने के लिए पानी की भी आवश्यकता नही रहती है। जैन निर्ग्रन्थो ने प्रिय, अप्रिय के भेदभाव को भुला दिया है। अपनी नग्नता के आवृत करने के लिए उनको वस्त्रो की क्यो आवश्यकता है ?"[2]

---

१ धर्म युग पृ० ७ अक्टूबर २१ १९५१ अक ४२

2 Being rid of clothes one is also rid of lot of other worries. No water is needed in which to wash them. Our knowledge of good and evil, our knowledge of nakedness keep us away from salvation. To abtain it we must forget nakedness. The Jain Nirgranthas have forgotten all knowledge of good and evil. Why should they require clothes to hide their nakedness." Heart of Jainism p. 35.

निरंकुश लोकमत द्वारा अनर्थ

लोकमत के अनुसार धर्म और साधुओं पर व्यवस्था का चक्र चलाना बडा खतरनाक कार्य है । कौन नहीं जानता कि उस विवेक शून्य लोकमत के बल पर ईसा को सूली पर चढाया गया ? सुकरात को न्याय के पक्ष पर दृढ रहने के कारण विष का प्याला पीना पडा । अतएव शासकों का विवेकपूर्ण कर्तव्य है कि वह न्याय के तुला पर कसे गये सत्य का ही रक्षण करें । भले ही प्रचण्ड लोकमत उसके विरुद्ध अज्ञान या पक्षान्धता के कारण अपना प्रचण्ड प्रहार करें ।

अशोक का आदर्श

आज हजारों वर्ष बीतने के बाद भी जिस अशोक के शासन को भारतवर्ष ने अपना आदर्श बनाया है उस धर्मप्रिय प्रियदर्शी सम्राट ने अपने गिरनार के अभिलेख नं० १२ में धर्म के विषय में जो नीति निर्धारित की थी, उस पर प्रकाश पडता है । उस लेख में लिखा था[1] "देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी सम्राट सब धर्मों के मनुष्यों का सन्मान करता है, चाहे वे गृहस्थ हो, चाहे सन्यासी हो । किसी न किसी कारण से प्रत्येक सम्प्रदाय सन्मान का पात्र है । इस प्रकार का प्रवृत्ति करने से वह स्वयं अपने धर्म को गौरवान्वित करता है तथा अन्य लोगों के धर्मों की भी सेवा करता है । अपने धर्म की महिमा को

---

१ King Priyadarshi, the beloved of the God, wishes that all Pasandas (Followers of various creeds, or men belonging to diffierent religions) should have freedom to *live in his dominions, for they all desire mastery over the* senses and purity of mind　　Girnar Edict VII

King Priyadarshi, the beloved of the Gods, does reverence to men of all sects whether ascetics or householders Every sect deserves reverence for one reason or other By acting thus one exalts his own self and at the same time does service to the sect of other people and acting the contrary to enhance the splendour of his sect, really a man hurts his own sect to the utmost Concord in all sect is meritorious i e hearing the doctrine of all sects and holding the sound doctrine of the law of piety. The result of this is the growth of one's own sect and enhancement of the splendour of one's own religion　　Girnar Edict XII

बढ़ाने के लिए इसके विपरीत प्रवृत्ति करने से वह अपने ही संप्रदाय को क्षति पहुंचाता है। सब धर्मों का ऐक्य अर्थात सब धर्मों के सिद्धांतों को सुनना तथा धर्म के सच्चे सिद्धान्त का पालन करना पुण्य कार्य है। इससे अपने ही सिद्धान्त की वृद्धि होती है और अपने ही धर्म की महिमा बढ़ती है।"

धर्म के प्रति न्याय और सहिष्णुता की नीति के कारण हजारों वर्षों के बाद भी आज अशोक जीवित नरेश सा प्रतीत होता है और धर्म के प्रति अनीति और अत्याचारी व्यवहार करने वालों के शासन की कोई याद भी नहीं करता है। अतएव धार्मिक विषय में सोच समझकर नीति अंगीकार करना चाहिए।'

कोई कोई तर्कणाशील यह सोचते हैं कि साधु ने समाज से अपना संबंध छोड़ दिया है, इसी से वह तपस्वी बना है, तब उनके अधिकारों के रक्षण के बारे में समाज से या शासन से अपेक्षा करना योग्य नहीं है?

मुनिराजके नागरिक अधिकारों का अभाव मानना न्यायोचित नहीं है

यह विचार तर्क शुद्ध नहीं है। साधु मानव समाज ही नहीं सपूर्ण विशाल विश्व परिवार के व्यक्ति हो जाते हैं, इसी से तो वे छोटे छोटे जीवों के सुख दुख का भी ध्यान रखते हैं और जीव मात्र के रक्षण का स्वयं प्रयत्न करते हैं और अन्यों को ऐसी प्रेरणा भी करते हैं। ऐसी विश्व के साथ महान बंधुत्व का सच्चा सम्बन्ध रखने वाली और तथैव निर्वाह करने वाली आत्मा को अचेतन, सा अधिकार शून्य सोचना कभी कभी न्याय एवं सद्विचार अनुमोदित नहीं माना जायगा।

दूसरी दृष्टि से भी इस प्रश्न पर विचार किया जा सकता है। तर्क के लिए थोड़ी देर को यह मान भी लिया कि मुनिराज के अधिकार समष्टि के हित में विलीन हो गए फिर भी मुनियों के पूजक जैन श्रावकों का यह नागरिक अधिकार तो नष्ट नहीं हो जाता जिसके अनुसार वे अपने धर्म के पूज्य गुरुजनों को अपनी तरफ पधारने की विनय व्यवस्था आदि कर सकें? इस दृष्टि से दिगम्बर साधु के अधिकार के अपहरण के सिवाय लाखों जैनियों के स्वतंत्रतापूर्वक अपने अत्यन्त प्राचीन शास्त्र तथा परंपरा के अनुसार प्राप्त धार्मिक अधिकारों का पददलन किया जाना माना जायगा, और ऐसी स्थिति में न्यायशील शासन मदान्ध अत्याचारी शासक (Tyrant) के कलंक से लांछित हुए बिना न रहेगा।

यह कहा जा सकता है कि दि० जैनमहर्षि प्राणीमात्र पर करुणा की वर्षा करते हैं, तो कुछ अज्ञानी साम्प्रदायिक दीवानो के चित्त को सतुष्ट करने के लिए वे नगरो में न आवें और उनकी व्यवस्था बस्ती के बाहर निर्जन स्थल मे की जाय तो क्या हानि है ? साधुओ को विशेष आत्मिक शांति लाभ होगा।

मुनियो का नगर गमन क्यो आवश्यक है ?

यह धारणा भ्रांतिपूर्ण है। साधुओ को नगर में, ग्राम में जाना अनेक कारणो से जरूरी है। जैसे नगर में विद्यमान जिनमदिरो के दर्शन तथा वंदनार्थ पैदल जाना; तथा आहार प्राप्ति के लिए उस जगह जाना आवश्यक है जहाँ श्रावक लोग रहते है, जहा शुद्ध आहार की प्राप्ति होती है। जैन साधु अपने साथ न भोज्य सामग्री रखते हैं न कदमूल आदि फलो को वृक्षो से तोडकर अपनी क्षुधा का निवारण करते हैं। वे नवधाभक्ति पूर्वक शुद्धता के साथ बनाए गए आहार को सुयोग्य दातार द्वारा अर्पित किए जाने पर करपात्र में लेते है, निमत्रण नही स्वीकार करते है। अतः यदि साधुओ का श्रावको से सम्बन्ध न रहे तो साधु जीवन की गाडी नही चल सकेगी। दान के द्वारा गृहस्थो तथा साधुओ का परस्पर मे हित होता है।

यह भी बात ज्ञातव्य है कि जैन समाज के ग्रथो के अनुसार गृहस्थ का प्राथमिक कर्तव्य है कि ज्ञान ध्यान में तत्पर अहिंसात्मक श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने वाले मुनियो को आहार आदि का दान करे। उन दयामूर्तियो की सेवा तथा भक्ति के द्वारा गृहस्थ जीवन में अनिवार्य रूप से होने वाले हिंसा जनित दोषो की शुद्धि होती है जिस प्रकार रुधिर से मलिन वस्त्र की निर्मलता निर्मल नीर के द्वारा होती है। भूतल मे डाले गए वट बीज के समान इन मंगल जीवन व्यतीत करने वाले मुनियो की सेवा में अर्पण किया गया थोडा भी सात्विक दान विपुल वैभव और असीम सुखद फलो को प्रदान करता है।

गृहस्थ जीवन का मुख्य कार्य श्रमण सेवा है

कर्नाटक कवि रत्नाकार ने अपने अमर काव्य 'भरतेश वैभव' में बताया है कि सम्राट भरत बडी भक्ति और श्रद्धा पूर्वक मुनियो के आहार दान में सदा तत्पर रहते थे। भरतेश्वर के महादान की स्तुति करते हुए दिव्यात्मा कहते थे "हम लोग सयमी न होने के कारण व्रतपति मुनियो को आहार

देने में असमर्थ हैं; किन्तु तुम इन संयम निधि साधुओं को आहार देने में समर्थ हो। इसलिए तुम हमारी अपेक्षा अधिक भाग्यशाली हो। हम नंदीश्वर द्वीप में जाकर अकृत्रिम जिनबिम्बों की पूजा करते हैं यह बात सत्य है किन्तु हमारी पूजा एक प्रकार से उपचार पूजा है। तुम्हारा दिया गया अन्न रत्नत्रय मूर्ति मुनियों के शरीर में जा उस गुणमय देह का पोषण करता है। तुम्हारे सदृश सौभाग्य हमें कहा है।"

क्षत्रियनरेशों द्वारा अहिंसा के श्रेष्ठ पथ की पूजा

अहिंसामय जीवनचर्या वाले मुनिनाथों की सेवा क्षत्रिय लोग तथा बड़े बड़े साम्राज्य के अधिनायक करते थे यह बात प्राचीन वैदिक वाङ्मय से भी पुष्टि होती है। ऋग्वेद में आगत शुनः शेप की कथा से यह बात ज्ञात होती है कि हिंसात्मक पशु बलिदान के समर्थक ब्राम्हण लोग थे किन्तु क्षत्रियों की प्रमुखता काशी, कौशल, मगध, विदेह आदि में थी। कुरु पाचाल देश के ब्राह्मणों को उक्त अहिंसा भूमि में जाने का निषेध किया गया है यह बात शतपथ ब्राह्मण से पुष्ट होती हैं। उपनिषदों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि आत्मविद्या में प्रवीण तथा पशु बलिदान के विरोधी क्षत्रियों के पास कुरु पाचाल देश के विप्र लोग जाते थे। इन अहिंसक क्षत्रियों में महाराज जनक का नाम विख्यात है। ये आत्मविद्या के ज्ञाता अहिंसावादी नरेश अपने जीवन की सन्ध्या में सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर कर्मों का नाश करते हुए सच्चे क्षत्रिय का कार्य करते थे।

बाल्यकाल विद्या की आराधना में, तारुण्य गुरु की सेवा में तथा वृद्धकाल सम्पूर्ण परिग्रह का परित्याग द्वारा व्यतीत होता था। इस दृष्टि से यह बात बड़ी आश्चर्य प्रद प्रतीत होती है, कि जो व्यक्ति अपने जीवन का प्रत्येक क्षण लोकसाधना तथा उसकी व्यवस्था और कल्याण में व्यतीत करे, उस रामराज्य के सदृश शासन संचालक द्वारा जीवन की संध्या में सर्वपरीग्रह का त्याग कर तपस्वी का जीवन व्यतीत करते हुए पूर्णतया आत्मनिर्भर दिगंबर श्रमण के रूप में नगरों में प्रवेश करते समय बाधा उठाई जाती है। ऐसे महापुरुषों के आगमन को विवेकी मानव मंगल का प्रतीक मानते हैं, क्योंकि उनके पुण्यजीवन और पवित्र प्रवृत्तियों के दर्शन से नागरिकों का जीवन उतना विमल बनता है जितना नागन सता

के जीवन को नर्मल बनाने वाले अगणित साधनो द्वारा नही होता । कोरा उपदेश आत्मा को स्पर्श नही करता । अत.करण को छूने वाला उपदेश वास्तव में वाणी के पूर्व क्रिया में चरितार्थ होना चाहिए ।

मंगल के प्रतीक

इसलिए सपूर्ण दंड विधान और वडे वडे न्यायालयो के द्वारा जीवन सुधार के जो उपाय सफल नही हो पाते वे इन वासना विजेताओ के दर्शन तथा सप्राण उपदेश-द्वारा सहज ही साध्य हो जाते हैं । ऐसी स्थिति में विवेकी शासक इन सतो के आगमन के लिए प्रत्येक उचित उपाय का अवलबन लेते हैं ताकि लोक कल्याण के साथ उनका जीवन भी पुनीत बने ।

साधुओ के नगरागमन से लाभ

कुमार्गगामी प्रजा को कल्याण पथ में लगाने के लिए समर्थ प्रतापी शासक आवश्यक हैं । इसी प्रकार दुर्व्यसनाओ के कुचक्र में फंसे हुए शासक और शासितो का कल्याण करने के लिए ऐसे आत्म विजेता योगियो का शासन स्वीकार करना चाहिये जिनका जीवन स्वय कल्याण का मदिर बन चुका है तथा जिनने विश्व विजेता क्रोध, मान, काम, लोभ सदृश प्रचंड शत्रुओ का दमन किया है । इसलिए इन साधुओ का नगर में आना लोक कल्याण की दृष्टि से उपयोगी, आवश्यक तथा महत्वपूर्ण है । इसीलिए पुरातन कालीन इतिहास में सर्वदा नरेन्द्रो द्वारा इन दिगवर मुनियो की चरण वदना का वर्णन प्राप्त होता है ।

अज्ञानवश राज्य-सत्ता द्वारा विघ्न

कभी कभी अज्ञानता अथवा अहकार के कारण अपने को अमर्यादित अधिकारो का अधिपति जान निरंकुशता का आश्रय ले कोई कोई नरेश उन्मत्त जैसा कार्य कर बैठते हैं । सन् १९३८ ता० ७ जून को हैद्राबाद, निजाम की ओर से यह अद्भुत घोषणा निकली थी, "निजाम स्टेट में नग्न साधुओ को फिरने की इजाजत देना मुनासिब नही है, अलबत्ता अगर एक मुकाम से दूसरे मुकाम को जाना चाहे तो रात मे १२ से ४ तक जा सकते हैं ।" इस फरमान ने जैन समाज में गहरी चिन्ता उत्पन्न कर दी थी । १४सितम्बर सन् १९३८ में एक जैन प्रतिनिधि मडल राज्य के उच्च अधिकारियो से मिला था उसने उन्हे बताया कि ये जैन मुनि उज्वल चरित्र, श्रेष्ठ अहिंसा के पालक तथा महान तपस्वी महात्मा होते हैं । उनका पद कठिन होने के कारण सारे देश में आजकल उन दिगम्बर साधुओ की सख्या बीस के

लगभग होगी । वे रात्रि को विहार नही करते, क्योकि रात्रि में जीव दया का व्रत निर्दोष पालने लिए भ्रमण न करना आवश्यक है । मुनि जीवन की पवित्र चर्या सुनकर अधिकारियो का हृदय बदला, इसलिए उनके परामर्श के अनुसार २ नवम्बर १९३८ को विशेष फरमान द्वारा मुनि विहार का प्रतिबंध दूर कर दिया गया ।

हिन्दू नरेशो के सिवाय यवन शासको तक ने इन मुनियो के स्वतत्र विहार में बाधा नही पहुचायी है । ब्रिटिश शासन ने भी इस परम्परा का पूर्णतया रक्षण किया था । सर्वोच्च न्यायालय (Privy Council) ने यह निर्णय किया था कि आम सडक पर से सब धर्म वालो को अपने अपने धार्मिक जुलूस ले जाने का अधिकार है ।

भारत के सविधान न धार्मिक स्वातन्त्र्य को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उस सविधान के आरभ में भारतीय गणतत्र के प्रत्येक नागरिक को विचार अभिव्यक्ति, श्रद्धा, विश्वास एव आराधना में स्वतन्त्रता का अभिवचन दिया

१ "Persons of all sects are entitled to conduct religious processions through public streets so that they do not interfere with the ordinary use of such streets by the public and subject to such directions as the magistrate may lawfully give to prevent obstruction of the throughfare or breaches of the public peace and the worshippers in a mass or temple which abutted on a high road could not compel processionists to interfere their worships while passing the mass or temple on the ground that there was a continous worship there"

23 All L J 179, also I I B 5 Mad 309

"At page 180, 23 All L 7 Their Lordships say-

"The case seems to their Lordships to raise for authoritative decision the question as to the right of religious procession to proceed along the roads in India, practising their religious observances and decided authorities in India are certainly conflicting, The first question is, is there a right to conduct a religious procession with its appropriate observances along a high-way ? Their Lordships think the answer in the affermative"

Privy Council

गया है ।'

संविधान की २५, २६, २८ तथा २९ और ३० धाराओं द्वारा धार्मिक स्वातंत्र्य को मौलिक अधिकारों (Fundamental rights) के अंतर्भूत किया है ।

कभी कभी पवित्र वस्तु होते हुए भी उसका निकट परिचय न होने के कारण लोग भ्रांत धारणायें बना लिया करते है और साक्षात अमृत को विष समझ त्याज्य मानते है । यही बात इस प्रसग में चरितार्थ होती है । नागपुर हाईकोर्ट के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश डा० सर भवानी-शंकर नियोगी के नेतृत्व में सन १९४४ के दिसबर में एक विशाल सार्वजनिक सभा हुई थी । उस अवसर पर दिगम्बर जैन मुनिराज श्री सुमतिसागर महाराज का महत्वपूर्ण मधुर एवं आत्म जागरणकारी उपदेश हुआ था, उसे हजारो नर नारियो ने प्रेम और श्रद्धा से सुना था । उस समय न्यायमूर्ति डा० नियोगी ने कहा था "आज इन मुनिराज का दर्शन कर तथा उनकी पवित्र वाणी सुनकर मेरे अंतःकरण को अपूर्व प्रकाश मिला । कहां तो ये दिगम्बर मुनिराज जो परिग्रह मात्र का त्याग कर निश्चितता पूर्ण पवित्र जीवन व्यतीत करते हैं, और कहां हम लोग जो बहुत सी सामग्री एकत्रित कर शांति का अन्वेषण करते फिरते हैं।" स्वर्गीय मुनिराज श्री कुन्थुसागर महाराज के पवित्र उपदेशो को सुनकर अनेक भारतीय नरेशो ने उनके चरणो में आकर शिकार, मांस, मदिरा आदि के त्याग रूप नियम ग्रहण किए थे । जिस प्रकार हिमाचल के समीप जाने से उष्णता का संताप स्वयं दूर होता है उसी प्रकार विपुल वैभव के द्वारा भी जिस तृष्णा का अंत नही होता है, वह ऐसे दिगबर

मुनियो के प्रत्यक्ष संपर्क से प्रमुख लोगो पर प्रभाव पडा है

---

१ भारतीय गणतंत्र के सहृदय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने १३ मई, सन १९५२ को राष्ट्रपति पद की शपथ लेते हुए कहा ' यह मेरा प्राथमिक कर्त्तव्य होगा और सर्वोपरि प्रयास होगा कि इस देश के विभिन्न भागो के और विभिन्न वर्गों के, सप्रदायो तथा विचारो के व्यक्तियो को समान समझू और सबके साथ मैत्री का निर्वाह तथा उनके साथ सहयोग के तरीको को खोजू । अपने देश के वासियो के प्रति मेरा अनुरोध है कि मुझे अपने ही बीच का एक व्यक्ति समझें और मुझे अपनी योग्यतानुसार सर्वोत्तम ढग से सेवा करने का अवसर दें तथा मुझे उत्साहित करें।"

मानो साधुओं के सान्निध्य से अत्यंत न्यून हो जाती है और आत्मा अकिंचन जीवन को अपना चरम लक्ष्य बना परिग्रह के भार को हल्का करने का प्रशस्त उद्योग करता है।

एक बार प्रबुद्ध भारत में यह समाचार छपा था कि जयदेवपुर के जगल में एन्डरसन नाम का अग्रेज हाथी पर सवार हो शिकार खेलने गया था। शेर को देखकर हाथी घवडाया और साहब बहादुर को जमीन पर पटक दिया। उस अगरेज ने शेर पर दो तीन गोलिया दागी किन्तु निशाना चूक गया, इतने में शेर ने उसका पीछा किया। प्राण बचाते हुए उस शिकारी ने एक झोपडी में प्रवेश किया जिसमें एक दिगम्बर साधु रहा करता था। उस साधु के इशारा करते ही वह शेर पालतू कुत्ते के समान शात हो गया और चुपचाप चला गया। उस दिगबर साधु के प्रभाव से चकित हो उस अगरेज ने शिकार करना तथा मांसाहार छोड दिया। ढाका तथा चिटगाँव के लोगों ने उस अगरेज के जीवन में इस अहिंसात्मक क्रांति को देखा है।

दिगम्बर साधु का एक अग्रेज पर प्रभाव

ये साधु धन वैभव को आत्म विकास का कटक मान उससे दूर रहते है, किन्तु लौकिक लोग धन, आनद और अहभाव को ही अपना आराध्य देव मानते हैं।[1]

आजकल सर्वत्र लोकरुचि धर्माराधन को भार रूप समझने लगी है। इस दृष्टि से प्राय. सभी लोग अपने अपने धर्म के नियत्रण को दूर फेंक धर्मशून्य जीवन से अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं।

धर्मके प्रति अरुचि

लोग वाह्य वातो पर नियत्रण की बहुत चर्चा करते है शासन सत्ता भी उनका साथ देती है, किन्तु अपनी दुर्वासनाओ को नियत्रित करके मगलमय आत्मत्व की उपलब्धि की ओर आज किसका ध्यान जाता है? जडवाद के प्रचड प्रहार

दुर्वासनाओ पर नियत्रण जरूरी

---

१ 'The God of this world is riches, pleasures and pride'.

२ न सध्या सन्ध्यन्ते, नियमित नमाज न कुरुते।
न वा मौजी वध कलयति न वा सुन्नत-विधिम्।
न वा रोजा जानी ते, व्रत मपि हरे। नैव कुरुते।
न काशी मक्का वा शिव! शिव! न हिन्दुर्न यवनः॥

ने हमारे अंत:करण के नेत्रों को बंद कर दिया है, अतः सत्पथ का दर्शन करना कठिन बन गया है।

सुविकसित आत्माओं के पुण्य प्रभाव की बातें प्रयत्न करने पर पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो सकती हैं। ये विभूतियां अपना तथा लोक का उद्धार करती हैं। जैसे अंकुश से मत्त गजराज पर नियंत्रण किया जा सकता है, उसी प्रकार भोग और विषयों के कारण उन्मत्त जीवों को सुपथ में ये सन्त लगाया करते हैं। आज का युग जिस चरित्र बल (character) की बार बार दुहाई देता है, उस सदाचार के शिरोमणियों का अभिवंदन छोड़कर भ्रांत भाई उनपर ही अपना अंकुश लगा अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उनमें परिवर्तन करना चाहते हैं। यह कार्य तो रोगी द्वारा अपने चिकित्सक की चिकित्सा करने सरीखा है।

एक बात और भी ध्यान देने की है, कि साधु का जीवन सच्ची और शाश्वतिक शांति प्राप्ति के उद्योग में व्यतीत होता है। वीतरागता के रसायन के हेतु वह संपूर्ण आकांक्षाओं, लालसाओं का बड़े प्रयत्न पूर्वक त्याग करता है। यदि वह जनता को सतुष्ट करने का प्रयत्न करने लगे, तो उसका ध्येय से पतन हो जायगा। जनता के मान, अपमान को वह समान मानता है। वह आत्मा का अनुशासन मानता है और आगम के पथ प्रदर्शन में प्रवृत्ति करता है। यही कारण है कि उस चिन्ता रोग से विमुक्त महात्मा को बड़े बड़े सम्राट भी प्रणाम करते हैं। कहा भी है–

साधुओं पर आगम का अनुशासन है

"चाह घटी चिन्ता हटी मनुआ बेपरवाह।
जिन्हें कछू नहि चाहिए वे शाहनपति शाह॥"

अकलंक स्वामी ने लिखा है कि, "निर्वाण का लाभ उसी आत्मा को होता है, जिसकी मोक्ष के विषय में भी आकांक्षा नहीं रहती है।"[1] जिस प्रकार किसी रोगी के शरीर में यदि क्षय के थोड़े भी कीटाणु रह गए तो उसके रोग की वृद्धि होते देर नहीं लगती, इसी प्रकार लालसा या ममता का सूक्ष्मतम अंश भी रहा तो वह इस जीव को उच्च आध्यात्मिक शिखर से गिराए बिना नहीं रहेगा। इच्छा के रोग की वृद्धि कैसी होती है?

ममता का रोग

१ "यस्य मोक्षेपि नाकांक्षा स मोक्षमधि गच्छति।"

गरीब आदमी भर पेट भोजन को ही तरसता है और उसका लाभ होने पर धीरे धीरे वह वृद्धिगत तृष्णा उसके सुरराज बनने पर भी पूर्ण नहीं होती।[1]

आत्म-तल्लीनता वाले संत महात्मा शरीर के विषय में काफी विस्मृतिशील से रहते हैं। जब शरीर अपना नहीं है, ऐसी वज्र-धारणा उनके हृदय-पटल पर अंकित हो चुकी है, तब उस शरीर के विषय में उनका ध्यान बहुत कम रहता है। आहार ग्रहण तो इसलिए करते हैं कि आत्म-घात का दोष न आवे। इससे वे शरीर पर इतनी दृष्टि रखते हैं, कि उनके प्रमाद से इस संयम साधन-सामग्री का पतन न हो जाय। हां जब शरीर रोग, जरा आदि के कारण रत्नत्रय धर्म का घात करने को तैयार हो जाता है तब वे इसकी परवाह न कर समाधिमरण का आश्रय लेते हैं। ऐसे योगियों को वस्त्रादि धारण करने को कहा जाय तो वे उसे स्वीकार न कर समता मय मृत्यु के द्वारा शरीर का अन्त कर देना श्रेयस्कर समझेंगे।

लौकिक कार्यों में तल्लीन व्यक्ति जब तनवदन की सुध भूल जाता है तब अलौकिक जीवन वाले महात्मा कहां तक शरीर की चिन्ता रख सकते हैं। कहते हैं 'एक गणितज्ञ अपने घर के ऊपर के भाग में गणित के प्रश्न हल करने में लगे थे, उस समय उनकी माता की भयंकर बीमारी की खबर नीचे से मिली, वे प्रश्न सुलझाने में इतने अधिक दत्तावधान थे कि पुनः पुनः माता के रोग की भीषणता का ज्ञान कराए जाने पर भी उनका मन प्रश्न को सुलझाने में ही उलझा रहा और इतने में उनकी माता के प्राणपखेरु उड़ गए। तब कहीं वे अपनी गणित की तल्लीनता से उठ पाये।' जब लौकिक वस्तुओं में निमग्न व्यक्ति की यह अवस्था होती है, तब चक्रवर्ती के सुख से भी कई गुने अधिक आत्मानंद में संलग्न मुनिराज कहां तक बाहरी बातों का ध्यान रख सकते हैं। यथार्थ बात यह है कि मोक्ष में लगने वाले व्यक्ति का ध्यान

---

१ "इच्छति शती सहस्रं, ससहस्रः कोटि मीहते कर्तुम्।
कोटियुतोपि नृपत्वं, नृपोपि बत चक्रित्वम्॥१॥
चक्रधरोपि सुरत्वं सुरोपि सुरराज मीहते कर्तुम्
सुरराजोप्यूर्ध्वगतिं तथापि न निवर्तते तृष्णा॥

इंद्रियो की सेवा की ओर नही रह सकता है । कहा भी है–

"दो मुख सुई न सीवे कथा दो मुख पथी चले न पथा ।

यो दो काज नहोंहि समाने विषय भोग अरु मोक्ष पयाने ।।"

सच्ची मुक्ति का रस आ जाने पर विषयादिको से जीव का सहज ही सम्बन्ध छूट जाता है जैसे फल के पक जाने पर उसका वृक्ष से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है ।

कोई कोई सोचते है न्याय की तुला में सभी व्यक्तियो के समान अधिकार ज्ञात होते है । यह विचार प्रणाली पूर्णतया निर्दोष नही कही जा सकती । सुवर्ण तथा पीतल को अथवा गोदुग्ध और चूने के द्रव को एक नही माना जा सकता है । रागद्वेष, कषाय आदि विकृतियो के

अलौकिक वृत्ति वालो के विशेष अधिकार

आधीन रुग्ण समाज की चिकित्सा विशेष कानून रूपी औषधि द्वारा जरूरी है, किन्तु स्वस्थ पुण्य जीवन वाले सयम और सदाचार की मूर्ति पर भी वही नियंत्रण लगाना विवेक का कार्य नही कहा जा सकता है । दिगम्बर मुनिराज शरीर तक पर ममत्व नही रखते तब अन्य बाह्य सत्ता के कथन पर उनका न मोह होगा और न ममत्व या द्वेष ही । वे आत्माएं लोकानुशासन के बदले में धर्मानुशासन के अधीन रहती है ।

नीतिवाक्यामृत में लिखा है "अपने शास्त्र के अनुसार आचरण करना यतियो का धर्म है। अपने धर्म का उल्लंघन हो जाने पर उनके शास्त्र में कथित प्रायश्चित्त लेना कर्तव्य है।"[1]

इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि राज्य का अंकुश आत्मा और धर्म के अनुशासन में रहने वाले उन मुनियो पर नही रहता है, इन लोगो का जीवन भी तो पारलौकिक रहा करता है । इनका जीवन स्वय कानून (Law) बन गया है । अत्याचार के अनुकूल प्रवृत्ति करते हुए यदि शासन सत्ता द्वारा व्यवस्था और सभ्यता के रक्षण की ओट में यतियो पर अत्याचार हुआ तो उसका फल अच्छा नही निकलेगा । ये सत लोग मृत्यु का स्वागत कर लेगें, किंतु अपने प्रतिज्ञात–पथ से जरा भी विचलित नहीं होंगे। इनके साथ के खिलवाड का बडा कटु परिणाम होता है। महाभारत में लिखा है कि राजा परीक्षित ने जगल में एक वीतराग तपस्वी के शरीर पर मरे सर्प को डाल

---

१ निजागमोक्त मनुष्ठान यतीना स्वधर्मः।
स्वधर्मव्यतिक्रमेण यतीना स्वागमोक्त प्रायश्चितम् । पृ०

दिया था, इसके परिणाम-स्वरूप नरेश को सर्व देश की भीषण विपदा प्राप्त हुई थी।

कानून की मर्यादा

कानून की प्रवृत्ति मर्यादा के बाहर नहीं होना चाहिए। दिगम्बर मुनियों का इतिहासातीत काल से जो अधिकार चला आ रहा है, जो अहिंसा तथा विवेक द्वारा समर्थित भी है, तथा अत्यंत उच्च सभ्यता का पोषण है, उस पर नियन्त्रण लगाना न्याय का अत्याचार कहा जायगा। कानून यदि सीमा का अतिक्रमण करता है तो उसका संशोधन करना जरूरी है। अन्यथा सतो को सतप्त करने वाले का दीर्घ जीवन संभव नहीं होगा। इतिहास के पृष्ठ बताते है, कि अत्याचारी शासन की कितनी कम जिन्दगी रही है। नीतिवाक्यामृत में लिखा है कि—

'राजा परम देवता है, वह गुरुजनों के सिवाय दूसरा को प्रणाम नहीं करता है।'[1] अतः शासन सत्ता को मर्यादा की रक्षा करना उचित है।

एक बात यह भी ध्यान देने की है कि दिगम्बरत्व का भद्रता के प्रतिकूल मानना न्यायानुकूल नहीं है। बाह्य वैभव को बढाना सभ्यता की वृद्धि नहीं है। परावलबन को कम करते हुए जितना अधिक स्वावलंबी जीवन होगा, उतनी अधिक सभ्यता की अभिवृद्धि कही जायगी।

डा० वेणीप्रसाद ने लिखा है "सभ्यता की पूर्णता के लिए बाहरी प्रकृति को जीतना काफी नहीं है। मनुष्य को अपनी भीतरी प्रकृति भी जीतना चाहिए। मानवी प्रकृति में कई प्रवृत्ति है जिनका नियमन व्यक्ति के जीवन की शांति और सुख के लिए एवं समाज के सामंजस्य और संवृद्धि के लिए आवश्यक है। क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या और निष्ठुरता से व्यक्ति अपना और दूसरा का जीवन स्वार्थपूर्ण और क्लेशमय बना सकता है। इन को जीतना अर्थात् इनके वेग को सामाजिक संवृद्धि के मार्गों में परिणत कर देना सभ्यता के लिए आवश्यक है।

यदि मनुष्य अपने जीवन का विश्लेषण करे, तो इस परिणाम पर पहुचेगा कि सुख और शांति के लिए आंतरिक सामंजस्य की आवश्यकता है। व्यक्तित्व की पूर्णता इसमें है, कि सब शक्तियों और वृत्तियों का यथोचित विकास और प्रसार हो।"[2]

---

१ 'राजा हि परमं दैवतं, नासौ कस्मैचित् प्रणमत्यन्यत्र गुरुजनेभ्य।" नीतिवाक्यामृत पृ० ६३.

२-हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता पृ० ५८६

भारतीय संस्कृति में अकिंचनता की पूजा

भारतीय संस्कृति ने भोग तथा वैभव के समक्ष सदा अकिंचन जीवन को आदर के आसन पर विराजमान कर उसकी अभिवंदना की है, कारण भारतीय विद्या का लक्ष्य अमर्यादित लालसाओं की लपेट में फसकर रेशम के कीड़े की भांति मरना नहीं है, वह तो वासनाओं की विजय को आत्मविकास और अविनाशी शान्ति का कारण मानती है।

सुकरात का कथन बड़ा महत्वपूर्ण है कि जितनी अल्पमत हमारी आवश्यकताएं हैं उतने ही हम देवताओं के सदृश होते हैं।[1] अतएव भारत के हाथ में शासन सूत्र आ जाने से धर्म की दुर्गति की जायगी यह संदेह करने का कोई कारण नहीं है। भारतीय गणतंत्र के प्रधान श्री राजेन्द्रप्रसाद जी ने राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में सन् १९५१ के ग्रीष्म-काल में सोमनाथ के नवनिर्मित शिवमंदिर में ज्योतिर्लिंग की स्थापना की थी। इस संप्रदाय विशेष के आराधना स्थल के प्रति सम्पूर्ण भारत के प्रतिनिधि रूप में राष्ट्रपति का सन्मान प्रदर्शन इस बात को सूचित करता है कि इस देश की नीति सम्राट अशोक के समान सब धर्मों के प्रति समान सद्भावना की रहेगी।

भारतीय संविधान में अल्पसंख्यक समाज के धर्म, संस्कृति, भाषा आदि के संरक्षण का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, अन्यथा बहुसंख्यक वर्ग के संकीर्ण भाव वाले साम्प्रदायिक लोग अल्पसंख्यकों के अधिकारों को सहज ही कुचल सकते हैं। उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने लिखा है— "प्रजातंत्र में अल्प संख्यकों एवं उनके मतों का दबाया जाना पूर्णतया विरुद्ध बात है यदि अल्पसंख्यक दबाए जाते हैं अथवा उनका मुंह बन्द किया जाता है तो प्रजातन्त्र अत्याचारी शासन का रूप धारण कर लेता है।"[2]

यहां इस चर्चा का ध्येय यह है कि जैन समाज के धार्मिक अधिकारों के सम्बन्ध में उसकी संख्या कृत न्यूनता के कारण उपेक्षा नहीं होना चाहिए

---

१ 'The fewer our wants, the more we resemble gods.'
Socrates.

२ "It is entirely opposed to the suppression of minorities and minority oppinion. If a minority is suppressed or silenced, then democracy becomes a tyranny."
Religion and Society. page I

क्योंकि प्रजातंत्र के स्वस्थ विकास के लिए यह आवश्यक है कि अल्प संख्यक समाज पर बहुसंख्यको का किसी भी प्रकार अत्याचार नही हो। जिन लोगो ने यह धारणा बना ली है कि जैनियो का स्वतत्र अस्तित्व [ही] नही है, उन्हे अपने भ्रम को दूर करना चाहिये। क्योंकि धर्म, तत्वज्ञान, आचार आदि की दृष्टि से उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानना ऐसी ही मिथ्या बात होगी, जैसे अकेले होने के कारण भास्कर को भुला देना। प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—"इसमें कोई सन्देह नही है कि भारत में हिन्दुओं की बहुत बडी सख्या है, किन्तु वे यह बात नही भुला सकते कि यहा मुस्लिम ईसाई, पारसी तथा जैन रूप अल्पसंख्यक समाजें भी पायी जाती है।' यदि भारतवर्ष को हिन्दू राष्ट्र समझा जाय, तो इसका यह अर्थ हुआ कि अल्पसख्यक वर्ग देश के शत प्रतिशत नागरिक नही हैं।"[१] श्री नेहरूजी ने अपने इकतीस जनवरी सन १९५० के पत्र में लिखा था, "यह स्पष्ट है कि बुद्धधर्मी हिन्दू नहीं हैं। जैनियो को हिन्दू मानने का कोई कारण नहीं है। यह सत्य है कि जैन लोग कुछ अशो में हिन्दुओं से निकट संबंधित हे तथा उनमे एक समान रीति रिवाज पाये जाते है, किन्तु इस विषय में सन्देह का तनिक भी स्थान नही है कि जैन लोग स्वतन्त्र धार्मिक समाज के रूप में है तथा भारत का सविधान इस प्रकार की निश्चित स्थिति को कोई भी क्षति नही पहुचाता है।"[२]

जैन समाज का स्वतंत्र अस्तित्व होने से उसके विशेष धार्मिक अधिकार है

स्वर्गीय सरदार वल्लभभाई पटेल उप-प्रधान मंत्री ने जनगणना में जैनियों का स्वतन्त्र स्थान रखवाकर नेहरूजी की दृष्टि का समर्थन ही

---

१ "No doubt India had a vast majority of Hindoos, but they could not forget the fact that there are also minorities-Muslims, Christians, Parsees and Jains. If India was understood a Hindu Rashtra, it meant that the minorities were not cent percent citizens of the country." Statesman 5th Sept. 1949.

२ "It is clear that Buddhists are not Hindoos, There is no reason for thinking that Jains are Hindoos. It is true that Jins are someways closely allied to Hindoos and have

किया है। उनने भी पच्चीस अगस्त सन १९४६ को जैन महासभा के अध्यक्ष के पास पत्र भेजकर यह विश्वास दिलाया था कि स्वतन्त्र भारत में सभी धर्मों की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहेगी।[१] विधान परिषद के तत्कालीन अध्यक्ष एवं वर्तमान राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसादजी ने अल्पसंख्यकों के धार्मिक अधिकारों के सम्बन्ध में परामर्श देने वाली समिति में एक जैन को जैन प्रतिनिधि के रूप में लिया था यह बात उनने वर्धा में सन १९४९ में हमसे कही थी।

राष्ट्रीय गान में विश्व कवि रवीन्द्र बाबू ने जैन, बौद्ध आदि की पृथक् रूप से गणना की है।[२]

पुरातत्व विभाग के डायरेक्टर जनरल डा० एन० पी० चक्रवर्ती ने हमें ६ जुलाई सन १९५० के पत्र में अपने इन्डोनेशिया जावा सम्बन्धी प्रवास के विषय में यह महत्व की बात लिखी थी, "यह कथन अवास्तविक होगा कि जैन स्मारकों को हिन्दू स्मारक कह दिया जाता है। इन दोनों धर्मों (जैन धर्म और हिन्दू धर्म) का जरा भी परिचय रखने वालों को इस बात की भिन्नता पूर्णतया स्पष्ट है।"[३]

इससे जैनियों के जो भी धार्मिक अधिकार हैं उनका पूर्णतया संरक्षण आवश्यक है। धर्म के आधार बिन्दु देव गुरु तथा शास्त्र होते हैं। जैन शास्त्र

---

many customs in common. But there can be no doubt that they are a distinct religious community and constitution does not in any way effect this well recognised condition."

१ "In free India there would be no restrictions upon the religious liberty of any community, and there need be no apprehension in this regard."

२ जन मन गण अधिनायक जय हे भारत भाग्य विधाता ॥
अहरह तव आह्वान प्रचारित सुनि तव उदार वाणी ।
हिन्दु बौद्ध सिक्ख जैन पारसिक मुसलमान क्रिस्तानी ॥

३ "It would not be correct to say that Jain monuments have been described as Hindu monuments. The difference is obvious to any body knowing something of the two religion."

इस सम्बन्ध में विशेष परिचयके लिए हमारी लिखी Is Jainism is a distinct and separate religion नाम की किताब देखना चाहिए।

के अनुसार श्रेष्ठ अहिंसा धर्म के पालक जैन गुरुओं का दिगम्बर रूप में रहना अनिवार्य है। इतिहास तथा परम्परा से यह बात स्पष्ट ज्ञात होती है कि अब तक दिगम्बर मुद्रा धारण कर आम रास्तों आदि पर विहार करने का जैन गुरुओं का अधिकार अक्षुण्ण रहा है। अन्य स्वच्छंद-प्रवृत्ति वालों के जीवन पर जो नियन्त्रण लगाना प्रत्येक सभ्य शासन का कर्तव्य है, वही नियम पवित्र जीवन वाले जैन श्रमणों पर लगाना विवेक शून्यता की पराकाष्ठा है। प्रत्येक बीमार को तथा नीरोग व्यक्ति को समान रूप से विरेचनचूर्ण देनेवाला वैद्य, बुद्धि शून्यों का कुलगुरु माना जायगा। परिग्रह-वाद के विषपान से जो बड़े बड़े राष्ट्र बंधुत्व का व्यवहार भूल व्याघ्र वृत्ति धारण किये हुए संहार कार्य में संलग्न हैं, उस विपत्ति का एकमात्र उपाय ऐसे अकिंचन, अहिंसक एवं उज्वल जीवन वाले संतों से प्रकाश प्राप्त करना है। जो वस्त्र धारण और आवश्यकता की वृद्धि को सभ्यता का अंग मानते हैं उन्हें गांधीजी का यह कथन ध्यान में लाना चाहिए "वास्तव में सभ्यता का अर्थ आवश्यकता को बढ़ाना नहीं है किन्तु स्वेच्छा से बुद्धि पूर्वक आवश्यकताओं को कम करना है।"[१] इस कसौटी पर कसने पर दिगम्बर जैन मुनि ही सर्व श्रेष्ठ सभ्य मानव के रूप में मिलेंगे जिनके पास वस्त्रादि आवश्यक वस्तुओं का अभाव होने के साथ-साथ चर्मासन, चिलम, चमीटा आदि चीजों का चक्कर नहीं है। थोड़ा भी विश्व का वैभव अपनाने वाले मुनि दुर्गति के पात्र होते हैं ऐसा तीर्थंकर महावीर का कथन है। महर्षि कुन्दकुन्द ने ने लिखा है "जो दिगम्बर मुद्रा धारण करता है वह तिल तुष मात्र भी परिग्रह हाथों में नहीं लेता है। यदि वह थोड़ा बहुत परिग्रह धारण करता है तो दिगम्बर मुनि निगोद (नीच योनि) में उत्पन्न होता है।" वास्तव में बात यह है कि उच्च पद में थोड़ा कलंक लगना महान आत्म पतन का कारण है।

मुनि जीवन के संबंध में यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि उस महनीय पद को मार्ग दर्शन (dictate) करने की पात्रता साधारण स्तर के लोगों में नहीं पायी जाती है। उस पद को स्वीकार करने की तैयारी की स्थिति में जब वह वानप्रस्थ आश्रम में था तब उनकी क्या

---

१ "Civilisation in the real sense of the term consists not in the multiplication but in the deliberate and voluntary reduction of wants". Yarvada Mandir.

स्थिति थी, उस विषय में बैरिस्टर चपतराय इस प्रकार लिखते हैं "वह राजनीति या अन्य लौकिक बातों में सलाह तक नहीं देता है । उसने दुनिया से नाता तोड़ दिया है और अब वह पुन पीछे लौटकर देखना पसद नहीं करता । अपने परिवार के गौरव की समस्या भी उसे आकर्षित नहीं कर पाती । अब उसकी शुद्ध आत्मा ही उसका कुटुम्ब बन गया है । वह किसी भी दृष्टि से भिखारी नहीं कहा जा सकता । उसने करोडो की सम्पत्ति का त्याग किया है, अथवा राज मुकटो को भी छोड दिया है ।

वह अमूल्य का पथिक जब सन्यस्त आश्रम को धारण कर लेता है तब ससार के पदार्थों के प्रति मृत सा हो जाता है और अपनी आत्मा के प्रति अत्यधिक जागृत हो जाता है, उस समय वह अपने को इतना समर्थ बना डालता है, कि हर प्रकार के कष्ट को बिना सक्लेश के सहन कर सके । अब वह दिगबर बन जाता है । अब उसका सारा समय पूर्णता

---

१ "He will not give advise on politics or any other wordly matters, he has left the world behind and does not wish to look back Even questions of family honour will not effect him his devine soul is his sole family now He is not a beggar in any sense of the term, indeed, he may have renounced millions, even the crown of a Emperor himself "

"When the Saintly recluse in the Vanprasth's stage has qualified himself for the life of hardships, implied in *siant hood he discards the last vestige of raiment, the* loincloth, and enters Sanyas (Sainthood or Asceticism) He is now dead to the world, but intensely alive within himself His whole time is now devoted to the attainment of the ideal of perfection and Godhood, and he applies himself with a single mind and purpose to it

He is like a great soldier and equips himself with every kind of weapon that is known to be useful with the powerful foe Meditation, contemplation, fasting and penances are his constant companions and he cares not if he gets food or not"

C R JAIN Jain Culture Pp 37-38

और परमात्मत्व के आदर्श की प्राप्ति के प्रयत्न में लगा जाता है। और यह सारी शक्ति से तथा एकचित्त होकर एक लक्ष्य बना उसमें जुट जाता है। अब तो वह महान सैनिक के समान है; जो सर्व प्रकार के अस्त्र शस्त्रो से सुसज्जित हो जाता है, जो कर्म शत्रुओं से संग्राम करने में सहायक होते हैं। एकाग्रता, ध्यान, उपवास, तप उसके सतत साथी रहते हैं। उसे भोजन मिलता या नही इसकी वह परवाह नही करता।

ये तपस्वी शरीर की गाडी चलाने को उचित और निर्दोष आहार देते हैं। ये आत्मघात द्वारा शरीर को संहार के योग्य नही मानते हैं, इसका कारण यह है कि यदि पूर्णता उपलब्धि के पूर्व ही प्राणो का घात कर दिया जावे तो उसका बीज विद्यमान रहेगा और पुनः दूसरे रूप में शरीर का धारण होगा।[1]

इन संतो पर कानून का प्रहार होने पर ये प्राण त्याग तक को तैयार रहते हैं

ऐसे सत्पुरुषो पर शासन करने की इच्छा करने वालो को यह न भूलना चाहिए कि इन त्रिभुवन वदित पद को धारण करने वालो की धार्मिक आज्ञा के विरुद्ध अपने द्वारा बनाए गये कानून का त्रिशूल उठाने पर ये तत्काल आमरण अनशन रूप सुदर्शन चक्र उठाये बिना नही रहते हैं। दिगंबर जैन मुनियो का इतिहास बताता है कि ये अपने पद को लाछित करके दीन बनने के बदले में स्वयं को समाधि-मरण की अग्नि मे समर्पण करने में कभी भी पश्चात् पद नही रहे हैं। ये आत्मा को अजर अमर अविनाशी विश्वास करते है। मृत्यु हमारे वस्त्र परिवर्तन कर नवीन वस्त्र धारण करने से अधिक महत्व नही रखती है। मिथ्यात्व की स्थिति में जीव शरीर के मरण को आत्मा का मरण मानता है, किन्तु सम्यक्त्व की दिव्य ज्योति जागृत होने पर अनतवार अग्नि में जलाए जाने पर वह अपनी आत्मा के अविनाशी स्वभाव पर तनिक भी आच का आना नही मानता।

एक साधारण तर्क की जा सकती है। शासक चाहता है प्रजा

---

१ "If the body be destroyed by privation or sucide before that degree of perfection is attained, the seed of it will survive and again give rise to body in some form. This is why sucide is forbidden to a seeker after reality aud truth."

C.R. Jain : Jain culture P. 39

कानून के अनुसार चले। शासक का भी कर्त्तव्य है कि पिता जैसे पुत्र का प्रेम पूर्वक पोषण रक्षण करता है तथैव पिता का रक्षण तथा हित संवर्धन करे। प्रजा के प्राणों का रक्षण और उसकी संपत्ति का डाकुओ आदि द्वारा लोप न हो, यह कार्य शासक का रहता है। जैन धर्म के अनुसार प्रवृत्ति करने वाले साधु के प्राण शरीर में नहीं रहते, उसका प्राण उसका धर्माचरण और अहिंसा पूर्ण स्वावलंबी जीवन है। उसके रक्षण में वह प्राणों को क्षण भर में न्योछावर करने को तैयार रह सकता है। उस साधु की सम्पत्ति है उसका "पुण्याचरण और धर्म के अनुसार आचरण करना।" जैन धर्म इतना प्रचीन है उसके आदि का पता नही चलता। यदि वेद सर्व प्राचीन है और उनमें भी उनका उल्लेख पाया जाता है, तव अत्यन्त प्राचीन परम्परा के द्वारा प्राप्त तथा अहिंसा के प्रकाश में उज्वल दिखने वाले जैन श्रमणो का स्वतन्त्र विहार करके स्वपर कल्याण करने के अधिकार पर राजसत्ता का हाथ उठाने की सोचना आतताइयो के अनुकरण करने से कम अनर्थ का कार्य नही होगा। यह कहा जा सकता है कि राज्यसत्ता सार्वभौम है, उसकी शक्ति अमर्यादित है, अतः उसके नियम निर्माण में कोई भी बन्धन नहीं डाला जा सकता?

श्रमणो पर राज सत्ता का कानून प्रहार आततायी-पना है

इसके उत्तर में यही कहा जायगा कि यह शक्ति का अधिक मूल्य आंकना है। कई ऐसे प्राकृतिक स्वत्वो की बात है, जिन पर सत्ता हस्तक्षेप नहीं कर सकती। जैसे सत्ता यह नियम बनावे कि केतकी के वृक्ष में कमल का फूल उगने लगें तो यह नियम निर्माण हास्य की वस्तु रहेगी और प्रकृति नियम निर्माताओ की जरा भी परवाह न कर अपने सनातन नियमानुसार काम करते जायगी। अतएव नियम निर्माण करते समय विवेक के प्रकाश में उचित अनुचित का ध्यान सर्वोपरि रखना आवश्यक है।

प्रकाड विद्वान वैरिस्टर देशवंधु चित्तरंजनदास सन १९१८ में नागपुर हाईकोर्ट में आये थे, वहाँ उन्होंने लोकसभा द्वारा कानून बनाने की अमर्यादित शक्ति की आलोचना करते हुए कहा था "मैं पार्लमेंट की कानून बनाने की शक्ति के विषय में क्षण भर भी विवाद नही करता हूं।" एक बड़े विधान शास्त्रज्ञ ने कहा था कि "पार्लमेंट को सर्व प्रकार के अधिकार हैं। इस विषय में इतना ही

कानून को अमर्यादित मानने में विडम्बना

अपवाद है कि वह पार्लमेंट स्त्री को पुरुष नहीं बना सकती है और न नर [को नारी ही। ऐसी बात इग्लैंड में नही की जा सकती इसका यह कारण है कि इसके विरुद्ध पार्लमेंट का कानून है। यदि ऐसा न होता तो ब्रिटिश सविधान के मौलिक अधिकार इस विषय मे अनुज्ञा प्रदान करते।"[१] इससे न्याय निर्माण करने वाली सस्था की अमर्यादित शक्ति स्वीकार करना भद्दी भूल होगी, क्योंकि कितना ही अधिक अधिकार लोकसत्ता के हाथ में माना जाय किन्तु वह प्राकृतिक नियमो में परिवर्तन नही कर सकता। अग्नि को शीतल, जल को उष्ण बनाना, किसी भी राज्य सस्था के सामर्थ्य की बात नही है, अतएव न्याय निर्माताओ को प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने वाले मुनीन्द्रो के पथ में कटक नही बनना चाहिए अन्यथा उनका अमगलमय अवसान प्रजा और शासक दोनो के लिए दुखद होता है। अहकारी शासको की अकड को जब प्रकृति मिट्टी में मिला देती है तब उसको किसे याद आती है ?

जब हमने एलोरा की कलामय गुफाओ के पास से जाते समय औरगाबाद के निकटवर्ती स्थान 'खलताबाद में औरगजेब का मकबरा देखा, तब उसे देखते ही स्मरण आया कि जिसने अपने शासन मद में मस्त हो हिन्दू जनता को अत्यन्त दुखी किया, अपने बाप शाहजहा को कैद किया तथा अपने भाई दारा को मरवा डाला वह अहकारी बादशाह इस मिट्टी की राशि में समा गया और आज उसका प्रेम पूर्वक स्मरण करने वाला कोई नही मिलता।

सत्कार्य करने वाले धर्मप्रिय सम्राट अशोक के निर्दोष जीवन और प्रजापालन के कारण लगभग २००० वर्ष के पश्चात् भारतीय शासन ने आज उसे पुन सजीव बना दिया। शासको को सदा यह सोचना चाहिए, कि उनके किसी कृत्य से प्रजा के निर्दोषी वर्ग को त्रास न हो तथा सतो को

---

१ "It has been said by a great constitutional lawyer 'the Parliament has got every right, except that it can not make a man of a woman and the woman of a man If people do not do it in England, it is because there is an act passed by the Parliament against it, otherwise the fundamental laws of the British constitution would allow it".
Narayan Rao Vadiya's Case 1918, P 8

अपने तपस्वी जीवन व्यतीत करने में विघ्न न आवे। अपने स्वरूप और सामर्थ्य को भूलने वाले शासको को प्रकृति इस प्रकार समाप्त कर देती है, जिस प्रकार क्षुब्ध सागर अपनी उत्ताल तरगो के द्वारा बडे बडे जहाजो को अपनी गोद म सदा के लिए छुपा लेता है।

अब तक जिन सतो के अधिकार आदि के विषय में शासन सत्ता की सद्भावना के विषय में चर्चा की गयी उनके अतस्थल पर प्रकाश डालना आवश्यक है। नीतिकार का कहना है "प्रत्येक पर्वत पर माणिक्य नही होता और न प्रत्येक गज के गण्डस्थल में मुक्ता ही। जैसे प्रत्येक वन में चदन का वृक्ष नही पाया जाता इसी प्रकार गुणपुन्ज सतो की उपलब्धि सर्वत्र नही होती।" सतो का रूप धारण कर जगत को ठगने वाले बकराज के समान जगह जगह दर्शन देते है किन्तु हस सदृश सात्विक तथा पवित्र वृत्ति वाले सत्पुरुषो की प्राप्ति बडी कठिन है। इसका यह अर्थ करना अज्ञानता पूर्ण होगा, कि अब मुनीद्रो का दर्शन असभव है। भगवान महावीर ने कहा है कि अभी १८५०० हजार वर्ष पर्यन्त उत्कृष्ट अहिंसा का पालन करने वाले मुनीद्र पाये जायगे।

निर्ग्रन्थ　　ये मुनिराज वाह्य तथा अतरग परिग्रह रहित होते है, इसलिए इन्हे निर्ग्रन्थ अर्थात परिग्रह की गाठ रहित कहते है। अशोक के शिलालेखो में दिगम्बर मुनियों को 'णिग्गठ' कहा है। निग्गठ को विना गाठ वाला भी कोई कोई कहते हे; क्योकि दिगम्बर होने के कारण उन्हे वस्त्रो की गाठ बांधने के फेर मे नही पडना पडता।

मुनि जीवनके महत्वपूर्ण ग्रथ मूलाचारमें लिखा है "वे मुनिराज मिथ्यात्व, वेद, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष हास्य रति (प्रीति) अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (ग्लानि), इन चौदह प्रकार के अतरग, तथा क्षेत्र (खेत) वास्तु (गृह) हिरण्य, (रुपया पैसा) स्वर्ण, धन, (गाय आदि) धान्य, दासी—दास, (सेवक सेविका), कुप्य (वस्त्रादि), भाड (वर्तन आदि) इन दस प्रकार के वाह्यपरिग्रह रहित है। ममत्व रहित है यथाजात अर्थात् माता के उदर से जन्मधारण करते ही प्राप्त दिगवर मुद्रा युक्त तैल मर्दन स्नानादि द्वारा शरीर की सेवा न करने वाले व्युत्सृष्ट—त्यक्त—देही होते है। ऐसे मुनिराज जिनेन्द्र के धर्म अर्थात चरित्र को जन्मान्तर में साथ

ले जाते है ।[1]

दिगवरत्व में कारण इन मुनियो को सर्व परिग्रह रहित बताने के हेतु कहते हैं, कि ये मुनिराज असि, मसि, कृषि, व्यापार, वाणिज्य तथा शिल्प रूप कर्मो से निवृत्त हो गए है, जिनोक्त धर्म के पालन में तत्पर है, इससे अल्पतम प्रमाण में भी परिग्रह की इच्छा नही करते है ।[2]

श्वे० ग्रथो में दिगम्बरत्व का पोषण श्वेताम्बर संप्रदाय के मान्य ग्रथ आचारागसूत्र में दिगम्बर जीवन में पाई जाने वाली गुणराशि का इस प्रकार वर्णन किया गया है–

"जो मुनिराज वस्त्र रहित होते है, उन्हे यह चिन्ता नही रहती है कि मेरा वस्त्र फट गया है । मुझे दूसरा कपडा चाहिये । कपडा सीने के लिए सुई धागा चाहिये । उसे यह भी चिन्ता नही रहती, कि मुझे कपडे रखना है या फटे वस्त्र सीना है, जोडना है, पृथक करना है, पहिनना है या मलिन वस्त्र को धोना है ।"[3]

'वस्त्र त्याग के पश्चात् पुन वस्त्र का ग्रहण करना योग्य नही है । कारण वस्त्र रहित भिक्षु जिन मुद्राधारक होता है । वस्त्र सहित साधु सुखी रहता है और वस्त्र रहित दुखी रहता है, इससे 'मै वस्त्र धारण करूगा' ऐसी भावना भिक्षु को नही करना चाहिए ।"[4]

---

१ जे सव्वसगमुक्का अममा अपरिग्गहा जहा जादा ।
वोसट्टचत्त देहा जिणवर धम्म सम णेति ॥१५॥
अनगार भावना अधिकार ।

२ सव्वारभ णियत्ता जुत्ता जिण देसि दम्मि धम्मम्मि ।
ण य इच्छति ममत्ति परिग्गहि वाल मित्तम्मि ॥१६॥

३ जे अचेले परिवुसियें तस्स णं भिक्खुस्स एव भवई–परिजिण्णे मेवत्थे वत्थें जाइस्सामि, सूइ जाइस्सामि, सधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि वोक्कसिस्सामि, परिहरिस्सामि, पाउणिस्सामि ।' (अ ६, सू ३६०, उद्देश्य ३)

४ उत्तराध्ययन सूत्र म लिखा है–परिचत्तेसु वत्थसु ण पुणो चेलमादीए अचेलपवरे भिक्खू जिणवररुवधरे–सदा सचेलगे सुखीभवदि । असुखी चावि अचेलगो । अह तो सचेलगो होक्खामि इदि भिक्खू ण चिन्तए ॥

अहिंसा महाव्रत

मुनियों को महाव्रती कहते हैं, क्योंकि वे पूर्णतया अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह त्याग व्रत को धारण करते हैं। इनको बौद्ध धर्म में पंचशील कहा है। कनफ्यूशियस धर्म भी पंचव्रतों को मानता है।[1]

व्रत का स्वरूप

तत्वार्थ सूत्र में लिखा है– "हिंसानृतस्तेया ब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।" इस सम्बन्ध में अकलंक स्वामी ने लिखा है "अहिंसाया प्रधानत्वादादौ तद्वचनमितरेषां तत्परिपाल-नार्थत्वात्, इतराणि हि सत्यादीनि व्रतानि सस्यवृत्ति परिक्षेपवत् अहिंसा-परिपालनार्थानि" (तत्वार्थ राजवार्तिक पृ २६९) अहिंसा प्रधान है अतएव उसका सर्वप्रथम स्थान रखा गया है, अन्य व्रतों का वर्णन उसके पालनार्थ है। जिस प्रकार धान्य के रक्षार्थ बाड़ी रखी जाती है इसी प्रकार सत्यादि व्रतों के द्वारा अहिंसाव्रत का रक्षण होता है। जैन आगम की विशेषता यही है कि उसमें विशुद्ध रीति से अहिंसा के पालन को परम धर्म कहा है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह सब इस अहिंसा धर्म के परिकर हैं। अतएव वे सत्य आदि धर्म कल्याणकारी हैं, जो अहिंसा का पदानुसरण करते हैं और उससे नहीं टकराते हैं।

---

१ "Besides Confucious set up the 'Wu Change' or five ethical laws first 'Jen' or Benevolence second 'Yi' or Uprightness third 'Li' Propriety fourth 'Chip' or Wisdom fifth 'Hsin' or Faithfulness Lord Buddha and Mahavira Jain-both preached five ascetic rules or "Panchasilani" those of Buddha are first Abstaining from killing, second Abstaining from stealing, third Abstaing from adultary, fourth Abstaining from lying fifth Abstaining from drinking, and those of Jaina are, first Speak the truth, second Live a pure poor life, third Abstain from killing, fourth Abstain from stealing, fifth Observe Chastity Principles of such a moral nature are too copious to be enumerated in datail"

Prof Tan Yun Shan 'The Spirit of Indian & Chinese Culture, Page 25

अहिंसा का स्वरूप

अहिंसा के विषय में जैन दृष्टि यह है कि "राग, द्वेष आदि विभावों–विकृतियों का उद्भव न होने देना अहिंसा है और रागादि की उत्पत्ति होना हिंसा है।"[1]

इसे अमृतचन्द्र सूरि ने इस प्रकार लिखा है—

अर्थात रागादि परिणामो का प्रादुर्भाव न होना अहिंसा है, रागादि की उत्पत्ति हिंसा है। यही जिनवाणी का सार है।[2]

इससे यह स्पष्ट होता है कि हिंसा अहिंसा का मूल आधार रागादि विकारों का होना, न होना है। भावों पर हिंसा अहिंसा निर्भर है।[4]

भारतीय दंड विधान में प्राणघात का दण्ड भाव (Intention) पर मुख्यतया आश्रित माना गया है।[3]

---

१ रागादीण मणुप्पा अहिंसकत्तं ति देसियं सम ।
तेसिं चे उप्पत्ती हिंसेत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठा । जयधवला ४.१स२

२ अप्रादुर्भावः खलु रागदीना भवत्यहिंसेति
तेषामेवोत्पत्तिहिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।। पु० सि०४४

३ One who forgets the sanctity of life and murders, is punished by death sentence. Intention is the important factor in the punishment of death. Section 300 defines murder as "Except in the cases hereinafter excepted culpable homicide is murder, if the act by which the death is caused is done with intention of causing death, or–
Secondly–if it is done with the intention of causing such bodily injury as the offender knows to be likely to cause the death of the person to whom the harm is caused, or–
Thirdly–if it is done with the intention of causing bodily injury to any person and the bodily injury intended to be inflicted is sufficient in the ordinary course of nature to cause death, or –
Fourthly–if the person committing the act knows that it is so imminently dangerous that it must in all probability cause death or such bodily injury as is likely to cause death and commits such act without any excuse for incurring the risk of causing death or such injury as aforesaid."

Vide Indian Penal Code.

भास्कर नंदि कृत सुखबोधिनी टीका में लिखा है "सूक्ष्म एवं स्थूल जीवों से ठसाठस भरे हुए लोक में जैन मुनि का किस प्रकार अहिंसा व्रत बन सकता है। कहा भी है, जल में जीव हैं, भूमि में जीव हैं, आकाश में जीव हैं, जब जीवों के समुदाय से जगत परिग्रह है, तब मुनिराज कैसे अहिंसक रह सकते हैं।" इस सन्देह का इस प्रकार निवारण किया है– यह आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान ध्यान में तत्पर मुनिराज के प्रमत्तयोग रागादि भावों का अभाव रहता है। सूक्ष्म जीवों का घात तो असम्भव है, स्थूल जीवों का रक्षण सम्भव है।[1]

महर्षि कुंदकुंद का कथन है "जीवों का संहार हो या न हो यदि अयत्नाचार–असावधानी पूर्वक प्रवृत्ति है तो अवश्य हिंसा है। सावधानी पूर्वक प्रयत्न करने वाले साधु को हिंसा के निमित्त से बंध नहीं होता है। ईर्यासमिति–अर्थात गमनागमन में सावधानी रखने वाले साधु के अपने पैर के उठाने पर उनके चलने के स्थान में आकर कोई छोटा प्राणी दबकर मर जाय, तो भी उसके निमित्त साधु को रचमात्र भी बंध नहीं कहा है, कारण जैसे अध्यात्म शास्त्र में मूर्छा–ममत्व परिणाम को परिग्रह कहा है, वैसे यहाँ भी रागादि परिणाम का परिग्रह कहा है।"[2]

अतएव सूत्रकार के हिंसा की परिभाषा में–"प्रमत्त योगात् प्राण–

---

१ "ननु सूक्ष्म स्थूल जन्तुभिनिरन्तर पूर्णे लोके कथं जैन तपस्विनाम–हिंसा व्रतम् व तिष्ठते ? तथा चोक्तम्–

जले जन्तु स्थले जंतुराकाश जन्तुरेव च।
जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः ॥

२ "नायमुपालम्भोस्ति। कुत इति चेत् भिक्षोर्ज्ञान ध्यान परायणस्य प्रमत्तयोगा भावात्। सूक्ष्माणां च पीडनासंभवात् स्थूलानां परिहर्तुं मशक्यत्वात्" (पृ० १६२)

३ मरदु व जियदु व जीवो आयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसा मित्तेण समिदीसु ॥१॥
उच्चालिदम्हि पादे इरिया– समिदस्स णिग्गमट्ठाणे।
आवाधेज्ज कुलिंगो मरेज्जत जोग मासेज्ज ॥२॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समए।
मुच्छा परिग्गहोत्ति य अज्झप्प–पमाणदो भणिदो।

तत्वार्थ–राजवार्तिक पृ २७५

व्यपरोपणं हिंसा"(अ ७, सू. १३, त. सूत्र)—प्रमत्त योग से प्राणों का घात करना हिंसा कहा है। यदि प्रमत्त योग कषाय भाव है तो जीव वध न होते हुए भी हिंसा है कारण वहां आत्मा की विशुद्ध मनोवृत्ति का घात होता है यदि प्रमत्त योग नहीं है तो जीव घात होते हुए भी हिंसा का दोष नहीं है।

इस प्रकार भाव के अधीन यदि हिंसा अहिंसा की स्थिति न होती, और जीव घात को ही हिंसा का मूलाधार मानते तो जगत् के किस स्थल में जाकर मुमुक्षु निर्वाण के साधन निमित्त उद्योग करता। यही बात पं० आशाधर जी ने भी लिखी है।[1]

इस सम्बन्ध में अमृतचंद्र सूरि का यह कथन बडा महत्व पूर्ण है कि बाह्य वस्तुओं के द्वारा सूक्ष्म भी हिंसा का दोष नहीं आता, कारण उसका सम्बन्ध भावों के अधीन है, किन्तु भावों की निर्मलता संपादन निमित्त हिंसा के आयतनों—साधनों का त्याग करना चाहिये।[2]

उनने लिखा है—"अभिमान, भय, घृणा, हास्य, अरति, शोक, काम क्रोधादि सब हिंसा के ही नामान्तर है।"[3]

स्वामी समन्तभद्र जीवों की अहिंसा को जगत् में 'परमब्रह्म' कहते हैं। जिस आश्रम विधि में अणु प्रमाण भी आरंभ पाया जाता है, वहा अहिंसा का सद्भाव नहीं है। अतएव उस अहिंसा की उपलब्धि के हेतु उत्कृष्ट करुणाधारी जिन भगवान ने बाह्य और अन्तरंग परिग्रह का त्याग किया और विकृत वेष और परिग्रह में अनुराग नहीं धारण किया।

अहिंसा रसायन है और अमृतत्व की जननी है

अमृतचंद सूरि लिखते हैं "यह अहिंसा श्रेष्ठ रसायन है, जो अमृतत्व का कारण है।"[4] उपनिषद् साहित्य में एक कथा है कि याज्ञवल्क्य ने अपने बुढापे में सन्यास लेते समय अपनी सम्पत्ति देने की बात अपनी विदुषी पत्नी मैत्रेयी से कही। वह बोली "जिससे मैं अमृतत्व—अमर जीवन को

---

१ "विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत्
भावैक-साधनौ बंध—मोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ॥"सागार धर्मामृत"

२ सूक्ष्मापि न हिंसा खलु परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणाम विशुद्धये तदपि कार्या ॥४९॥

३ अभिमान भय जुगुप्सा—हास्यारति शोक-काम—को पाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः....पु. सिद्ध्युपाय ६४॥

४ 'अमृतत्व—हेतु भूतं परममहिंसा रसायनम् ॥७८॥

नही पा सकती, उस सम्पत्ति को लेकर मैं क्या करुगी ? अत जिस अमृतत्व के लिए आप सपत्ति का त्याग कर रहे हैं उसका तत्व ही मुझे समझावें।" तब याज्ञवल्क्य न कहा 'हे मैत्रेयी ! एक आत्मा ही दर्शनीय है, वही सुनने योग्य है, वह मनन करने योग्य है तथा निदिध्यास के योग्य है।"

इसे पढकर आत्मा की चर्चा मात्र करने से लोग सोचते हैं, हमें अमृतत्व का द्वार प्राप्त हो जायगा। यह बात ठीक नही है। अमृतत्व की उपलब्धि के लिए अहिंसा मय जीवनी आवश्यक है। यह अहिंसा आत्मा की वह परिशुद्ध स्थिति है, जिसमें न राग है न द्वेष है, न मान है न माया है।

कोई कोई सोचते हैं कि सर्व प्राणियों के प्रति प्रेम अथवा स्नेह रखना ही अहिंसा है। बुद्धदेव की आशीर्वाद रूप मुद्रा को श्रेष्ठ अहिंसा की मुद्रा कोई कोई सोचते हैं।

जैन दृष्टि अहिंसा के विश्लेषण के विषय में बहुत ही तीक्ष्ण है। उस प्रकाश मे राग-भाव में अत निमग्नता नही है। बाह्य वस्तुओं के प्रति ममत्व है। अत वीतराग जिनकी प्रशान्त अतर्दृष्टि मयी मुद्रा अहिंसा के भाव की अभिव्यजना करती है, स्नेह अथवा प्रेम की स्निग्ध सुनहरी डोरी बडी नयन मोहनी लगती है, किन्तु उसके बधन को दूर किए विना सच्ची मुक्ति नही कही जा सकती है। लोक के प्रति विद्वेष की भावना निकृष्ट समझी जाती है और उसके प्रति अनुरक्ति को अच्छा माना जाता है, किन्तु मुनीद्रो की श्रेष्ठ साधना दृष्टिसे वीतरागता की स्थिति ही श्रेष्ठ है। तुला की डडी एक तरफ झुकी तो द्वेष हो गया, दूसरी ओर गई तो राग कहलाया। पूर्ण सतुलन की स्थिति समान वीतरागता है। उस अवस्था में आत्मा ब्रह्मपद म अवस्थित होता है, विद्या के द्वारा कषाय दोषो का क्षय करता है, मित्र और शत्रु में समत्व भाव रखता है तथा आत्मलक्ष्मी का अधिपति बन जाता है। श्रेष्ठअहिंसा वीतराग, वीतमोह, वीतद्वेष बनने में है। परिग्रह के परिकर से परिगृहीत पुरुष स्वप्न में भी उस अहिंसा मय परब्रह्म को पूर्णतया प्राप्त करने में समर्थ नही हो सकता है।

द्वेष रूप विकृति का परित्याग करना उतना कठिन नही है जितना कि रागका छोडना कठिनहै। इस कारण जैनशास्त्रमें भगवानको वीतराग कहते

है। वादीभसिंह सूरि ने लिखा है कि स्नेह का बंधन संसारी जीवों के संसार पर्यन्त नहीं छूटता—'स्नेह पाशो हि जीवाना मा संसार न मुंचति' ८,२२ क्षत्र (चूणामणि) महाराज जीवंधर ने महारानी गधर्वदत्ता के पुत्र सत्यधर को राज्यपद पर अभिषेक करने के पश्चात् भगवान महावीर स्वामी के समवशरण में प्रवेश किया। सर्वज्ञ प्रभु की वंदना के पश्चात् उनने प्रभु की मनोज्ञ स्तुति में कहा था "हे वीतराग सर्व संकट रूप फलों के देने वाले इस संसार रूपी विष वृक्ष के राग रूप अंकुर का उन्मूलन कीजिये।" इससे यह स्पष्ट होता है कि राग-परणति ही सबसे अधिक भयंकर और त्रासप्रद है।

अहिंसा महाव्रत को 'पाणादिवादादो वेरमण' अर्थात् प्राणघात को त्यागने को यह महाव्रत कहते हैं। महाव्रत की व्याख्या आचार्य प्रभाचंद ने इस प्रकार की है "महान जो व्रत है वह महाव्रत है। संकल्प पूर्वक किया गया नियम व्रत है। पूर्णतया त्याग होने के कारण, महापुरुषों के द्वारा

अहिंसा महाव्रत का खुलासा

पाले जाने के कारण तथा महाकार्य सिद्ध करने के कारण इसे महाव्रत कहते हैं।"[1] सम्पूर्ण त्रस तथा स्थावर जीवों के सम्यक् प्रकार संरक्षण निमित्त यह

---

१ महच्चतद्व्रत च महाव्रतम् अभिसंधिकृतो हि नियमः व्रतम्। साकल्येन विरति सद्भावात महद्भिरनुष्ठितवात, महाकार्य संसाधकत्वाच्च महाव्रत मित्युच्यते। प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी पृ० १०१

संकल्पपूर्वक नियम करने से मन की दुर्बलता नहीं सताती है, कारण संकल्प स्वयं मानसिक दृढ़तापूर्वक होना है। स्वामी विवेकानन्द बीमार थे। घंटे में चार छह बार जल पीते थे। वैद्य ने बिल्कुल नहीं पीने का कहा। संकल्प के बल पर जल छोड़ने में स्वामी विवेकानन्द को कष्ट नहीं मालूम पड़ा। उनके शिष्य ने पूछा "आप तो घंटे में पाँच छह बार जल पिया करते थे, उसे एकदम कैसे त्याग दिया?" विवेकानन्दजी ने कहा 'मैंने सुना इस दवा के सेवन करने से जल बन्द कर देना होगा, तब दृढ़ संकल्प कर लिया कि जल न पीऊंगा। अब फिर जल की बात मन में भी नहीं आती।" (पृ ३५४ अ ३६-विवेकानन्दजी के संग में) संकल्पपूर्वक त्याग को हिन्दी भाषी जनता में 'आखड़ी' भी बोलते हैं। यह शब्द अर्थपूर्ण भी प्रतीत होता है, कारण मन में शिथिलता आते समय वह प्रतिज्ञा आकर खड़ी हो जाती है।

परिज्ञान आवश्यक है कि उन जीवो का सद्भाव कहा पाया जाता है ? कब उनकी उत्पत्ति होती है ? इत्यादि बातो का ज्ञान हुए बिना केवल अहिसा का नाम लेने से महाव्रत का पालन नही हो सकता । कोई कोई साधुपद स्वीकार करने के पश्चात् अनेक प्रकार के कष्ट भी महन करते है, किन्तु व्याघ्र चर्म आदि को अपना आसन बनाते है चारो दिशाओ मे अग्नि प्रज्वलित कर बैठते है, लम्बे केशो को अपने मस्तक पर धारण करते है इत्यादि चर्या जैन शास्त्र की दृष्टि से, करुणा के मार्ग की दृष्टि से बाधित होती है, कारण ऐसे कामो द्वारा जीवो का रक्षण नही होता ।

'क्षत्र चूडामणि' में लिखा है कि, "पचाग्नि के मध्य में रहना सम्यक् तप नही है कारण उसमे जीवो का वध होता है वह तो ससार परिभ्रमण का कारण है । सच्चा तप वह है जिसमें किसी भी जीव को पीडा नही पहुचती है । वह तप आरभ की निवृत्ति द्वारा साध्य है । हिसा रहित कोई आरभ नही होता है । आरंभ की निवृत्ति तो निर्ग्रंथो में ही पायी जाती है । कार्य से विमुख व्यक्ति जगत में कारण का अन्वेषण नही करता है । ससार परिग्रह से ही तो सवधित है अत परिग्रह के ग्रहण द्वारा उसका क्षय नही होता है । रक्त से मलिन हुआ वस्त्र रक्त द्वारा शुद्ध नही होता है । निर्ग्रंथता ही यथार्थ तप है इसके बिना अन्य तप ससार का कारण है । अरे ! मुमुक्षुओ की दृष्टि में यह शरीर तक हेय है तब अन्य पदार्थों में उपादेयता कहा से आ सकती है ?"[1]

अत. दृढ सकल्प के द्वारा बडी से बडी प्रतिज्ञा पालन करने की सामर्थ्य आत्मा में उत्पन्न हो जाती है ।

१ "पचाग्नि मध्यम स्थान ततो नैवोचित तप ।
जन्तुमारण हेतु त्वादाजवजव कारण ।।१३।।
तत्तपोयत्र जतूना सतापोनैव जातुचित ।
तच्चारभ निवृत्तौ स्यानह्यारभो विहिंसन ।।१४।।
आरभ विनिवृत्तिश्च निर्ग्रन्थेस्वेव जायते ।
नहिकार्य–परोचीनो मृग्यते भुविकारणम ।।१५।।
नैर्ग्रन्थ्य हि तपोन्यत्तु ससारस्यैव साधनम्
मुमुक्षूणा हि कायोपि हेयः किमपर पुन ।।१५।।
ग्रथानुबधी संसारस्तेनैव न परिक्षयी ।
रक्तेन दूषित वस्त्र नहि रक्तेन शुध्यति ।।१७।। सर्ग ६

जो इस भ्रम में है कि अंतरंग तप ही साध्य है वाह्य तप की कोई आवश्यकता नही, उनके संदेह का निराकरण करते हुए कहा है "बाह्य तप के विना अतरग तप नही हो सकता। अग्नि के बिना चांवलों का भात नही बनता।" मुक्ति के मंदिर में प्रवेशार्थी मुनि को विशुद्ध तप के साथ निर्मल बोध एवं जिनेन्द्र का शरण लेना आवश्यक है। बिना सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी शासन द्वारा मार्ग प्रदर्शन प्राप्त हुए जीव को सम्यक पथ नही प्राप्त होना। सदाचार की उज्वल अनेक बातों में जैनियों के समान बौद्ध धर्म में शब्द साम्य पाया जाता है किन्तु अर्थ की दृष्टि से उनमें तात्विक भिन्नता है। बौद्ध साधु प्रतिज्ञा करते हैं– 'पाणातिपाता वेरमणी सिक्खयादं समादियामी–" मैं जीव हिंसा से विरत रहूंगा, ऐसा व्रत लेता हूँ (मिलिन्द प्रश्न पृ० ४०९)। जैन श्रमण भी कहते हैं हमारे जीव घात का परित्याग है–'पाणादिपादादो वेरमणं', किन्तु वे इस कथन का अक्षरशः पालन करते हैं। बुद्धों के जीवन में ऐसा अहिसा का का आचरण नही मिलता है।[2]

शुद्ध अहिसा का पालन जैन मुनि ही करते हैं

---

१ न च वाह्य तपोहीनमभ्यंतर तपो भवेत्‌तु। तडुलस्येव विक्लित्ति न हि वह्नयादिक बिना ॥ सर्ग ६ क्षत्र चूडामणि

२ At that time a great number of the Niganthas (running) through Vaisali from road to road, cross way to cross way, without streached arms cried "Today Simha the general has killed a great ox, and has made a meal for the Samana Gotama. The Samana Gotama knowingly eats this meat of an animal killed for this purpose and has thus become virtually the author of that deed."

Vinaya Texts — S. B. E. Vol. xvii P. 116

"In the time of Buddha there wasin Vaisali a wealthy general named Simha, who was a conver to Buddhism. He was a liberal supporter of the Bretheren and kept them constantly supplied with good flash food. When it was noised abroad that Bhikkus were in the habit of eating such food, specially provided for them the Tirthikas made the practice a matter of angry reproach. The master there upon announced to the Bretheren the law that they were

बौद्धोंमें हिंसा का समर्थन 'बुद्ध और बौद्धधर्म' में लिखा है "पावा में चेदीलुहारने बुद्ध को मीठाचावल मीठीरोटियाँ तथा कुछ सूखा सुअरका मांस खिलाया, बुद्ध ने उस भोजन को खा लिया। तभी से बुद्ध को अतीसार हो गया था। सिंह सेनापति ने एक बडे बैल को मार कर उसका मांस बनाया जिसे श्रमण गौतम ने यह जानते हुए भक्षण किया। विनय पिटक में कुछ भिक्षुओंको अपने उपदेश में कहते हैं "भिक्षुओ मछली तीन अवस्था मे ग्राह्य है। पहले तुम उसे इस रूप में न देखो दूसरे तुम उसे इस रूप में न सुनो तीसरे तुम्हारे मन में इस प्रकार का संदेह ही न उत्पन्न हो कि यह तुम्हारे लिए ही पकड़ी गयी है।"(पृ २२)

---

not to eat the flash of any animal which they had seen put to death for them and about which they had been told that it had been killed for them or about which they had reason to suspect that it had been slain for them. *But he permitted to the Bretheren as pure (that is lawful)* food, the flash of animals, the slaughter of which had not been seen by the Bhikshus, not heard of by them and not suspected by them on their account. In the Paliand Ssufen Vinaya it was after a breakfast given by Simha to *the Buddha and some of the Bretheren, for which the* carcase of a large ox was procured, that the Nirgranthas reviled the Bhikshus and Buddha instituted this new rule, declaring fish and flash pure in three conditions. The animal food now permitted to the Bikshus..was tersely described as *'unseen, unheard, 'unsuspected.' Two* more kinds of animal food were later declared lawful for the Bretheren, viz. the flash of animals which had died a natural death and that of animals which had been killed by a bird of prey or other savage creatures".

Watters, 'On Yuan Ckwang's Travels in India' 629-645 A.D. Vol. P. 55.

Quoted in 'Yasastilak & Indian culture' P. 372.

'This was the Hina Yanist position in regard to the use of flash as an article of food'. Ibid P. 373.

महावग्ग में लिखा है कि "नव दीक्षित एक मंत्री ने बारह सौ पचास भिक्षुओं सहित बुद्ध को आमंत्रित किया और मांस परोसा संघ ने बुद्ध के साथ वह मांस खाया।" बौद्ध भिक्षुओं को तीन चीवर धारण करने वाले, चमड़े के टुकड़े को रखने वाले कहा गया है। (मिलिन्द प्रश्न पृ ४२०) कारण बौद्धभिक्षु ध्यान या वंदनाके लिए अपने पास एक चर्म खंड रखते हैं। इस वृत्ति का कारण जीव के सद्भाव असद्भाव विषयक भ्रान्ति का अस्तित्व है।

ऐसी स्थिति में पूर्णतया अहिंसा महाव्रत के रक्षणार्थ जीवों के स्थानों आदि के विषय में सम्यक् अवबोध होना अपरिहार्य है। सूक्तिकार का कथन सत्य है—

दया दया सब कोई कहे दया न जाने कोय।
जीव जात जाने बिना दया कहाँ से होय।

कई साधू व्याघ्र चर्म आदि को साथ लिए फिरते हैं और समझते हैं कि इससे उनके साधुत्व को कोई क्षति नहीं पहुंचती है। यदि सर्वज्ञ सूर्य के उपदेश का प्रकाश मिला होता तो वे सहज ही जान सकते थे, कि शुष्क मास में भी प्रतिक्षण अनंतानंत सूक्ष्म जीवों की सदा उत्पत्ति हुआ करती है। यदि उन जीवों के रक्षण की ओर वे प्रवृत्त नहीं होते तो साधु शब्द के द्वारा उनको बोध करना कैसे उचित होगा? महाभारत वनपर्व मे लिखा है, यक्ष ने युधिष्ठर से पूछा था "साधु कौन है?" उत्तर में धर्मराज ने कहा था "जो समस्त प्राणियों का हित करने वाला हो।" इससे शुद्ध अहिंसावादी के सिवाय दूसरा साधु बन सकता है यह कहना ठीक नहीं है।

'उत्तर राम चरित्र के चतुर्थ अंक में वाल्मीकि आश्रम का वर्णन

"I prescribe O Bhikhus that fish to you in three cases, if you do not see, if you have not heard, if you do not suspect that is has been caught specially to be given to you." Vinaya Texts P. 177 vol XYII

१ "Newly converted ministar invited Budsha with 1250 Bhikkus and gave meat too··Samsha with Buddha ate it"— Mahovagga VI-25-2

है। वहाँ वसिष्ठ ऋषि पधारे। उनके विषय में भाण्डायन शिष्य अपने साथी सौधातकी से कहता है "मये उण जाणिद वग्घो वा वियो वा एसो त्ति। ते परावडिदेणज्जेव सावराइया कलोडिया मडमडामिदा।" मैं तो समझता था कि व्याघ्र या भेडिया आया है, कारण जैसे ही वे आए उनने एक दीन गोवत्स को स्वाहा कर दिया।'

ऐसी सामग्री और भी प्रस्तुत की जा सकती है, जिससे ज्ञात होगा कि साधुओं न नहीं स्वादुओं ने अपनी विषय लालसा वश सत्य को किस प्रकार विभिन्न रूप दिया है। इस प्रसग में हिन्दू साधु श्री शिवव्रतलाल वर्मन एम ए एल एल बी की मार्मिक आलोचना देना ज्ञान सवर्धक होगा— हमारा यह विचार था कि वैदिक धर्म पुराना है और सबसे पुराना है। अपने पहले लेखो में हमने कई बार ऐसा भाव प्रगट भी किया है। परतु सोचने और समझने पर इस नतीजे पर पहुचे है कि जैनियो का मत वेदो के मत से कही पुराना है। पहले हमारा विचार था कि वैदिक धर्मानुयायी यज्ञो में पशु वध करते थे जैनी उसके विरोधी बन, परन्तु अब यह भाव नही रहा।

"जैन धर्म अहिसा का मार्ग है प्रेम का मार्ग है और दया का मार्ग है। इसलिए वह नया नही हो सकता। हा ! पशु वध जब देश में अधिकता से होने लगा उस समय ये उसके विरोधी हो गए और जीव दया पर विशेष जोर देने लगे। उस समय से जैन धर्म को नया रूप दिया गया और गोमांस किंवा अन्य मास न खाने की प्रथा उसका मुख्य चिन्ह बन गई।

"वैदिक धर्म वाले सदैव से मास भक्षक थे। जहा तक हिन्दू जाति के सदग्रथो का सम्बन्ध है, वह प्राचीन समय से मास भक्षण करने वाले पाए जाते है। इनके यहा नरमेध, अश्वमेध, गो मेध आदि यज्ञ करने की प्रथा जारी थी, जिससे इनके ग्रथ भरे पडे है। यहा तक कि रामायण महाभारत और स्मृतियो तक में कही इसका निषेध नही पाया जाता। हिन्दू नर मास भक्षक थे या नही इस पर सम्मति प्रगट करना कठिन काम है। फिर भी अब तक हिन्दुओ में ऐसे लोग पाए जाते है जिनमें इसके गौरव का गीत गाया जाता है। उदाहरण की रीति से अघोर पथ और शाक्तिक मत के वाममार्ग की ओर दृष्टि डालो। शाक्तिक धर्म में नर मास महाप्रसाद कहलाता है। और अघोरी तो अब तक जलती

हुई श्मशानों के इर्द गिर्द चक्कर लगाते रहते हैं कि कहीं कच्चा या पक्का नर मांस उनके हाथ आ जाय; वाल्मीकि रामायण में एक जगह वर्णन किया गया है कि जब भरतजी रामचन्द्र जी की खोज में चित्रकूट जाने लगे तो उनके लिए भारद्वाज ऋषि ने बछड़ा जिबह वध किया था। इससे अधिक और क्या प्रमाण दिया जा सकता है ? अब गोमांस का निषेध है, परन्तु हिन्दुओं में ऐसी कोई जाति न मिलेगी जो मांसाहारी न हो और किसी वर्ण के लोग इसके विरोधी हों। जैनियों की अवस्था इसके विरुद्ध है और शायद सारी दुनिया में जैन ही एक ऐसा संप्रदाय है जो हर प्रकार के मांस को निषिद्ध समझता है।"[1]

लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य में लिखा है "महाभारत (शांति पर्व १४१) में यह कथा है कि किसी समय बारह वर्ष तक दुर्भिक्ष रहा, और विश्वामित्र पर बहुत बड़ी आपत्ति आई, तब उन्होंने किसी चण्डाल के घर से कुत्ते का मांस चुराया और वे इस अभक्ष्य भोजन से अपनी रक्षा करने के लिए प्रवृत्त हुए। मनु ने अजीगर्त वामदेव आदि अन्यान्य ऋषियों के उदाहरण दिए हैं जिन्होंने इस प्रकार के आचरण किए हैं।"[2]

कुरल काव्य में लिखा है "अहिंसा सब धर्मों में श्रेष्ठ है। सचाई का दर्जा उसके बाद है। नेक रास्ता कौनसा है ? यह वही मार्ग है, जिसमें इस बात का ध्यान रखा जाता है कि छोटे से छोटे जानवरों को भी मरने से किस तरह बचाया जाय। तुम्हारी जान पर भी आ बने तब भी किसी की प्यारी जान मत लो। जिन लोगों का जीवन हत्या पर निर्भर है, समझदार लोगों की दृष्टि में वे मुर्दाखोरों के समान हैं।

देखो ! वह आदमी जिसका सड़ा हुआ शरीर पीप भरे घावों से पूर्ण है; वह पूर्व काल में खून बहाने वाला रहा होगा, ऐसा बुद्धिमान लोग कहते हैं।" (पृ० ८७-८९)

"भला उसके दिल में तरस कैसे आयगा जो अपना मांस बढ़ाने को दूसरे का मांस खाता है। व्यर्थ व्यय करने वालों के पास जैसे धन नहीं ठहरता उसी प्रकार मांस खाने वालों के हृदय में दया नहीं रहती। जीवों की हत्या करना निःसंदेह क्रूरता है किन्तु उनका मांस खाना

---

१ अनेकान्त पृ० १३१ सन १९४३

२ गीता रहस्य पृ. ३९

एकदम पाप है।

देखो! जो पुरुष हिंसा नहीं करता और माँस नहीं खाता, सा ससार हाथ जोडकर उसका सन्मान करता है।" (पृ० ७२-७४)

जैन आचार्यो पर हिंसात्मक पक्ष वाला का मिथ्या आक्षेप

जैनाचार्य सोमदेव, रविषेण, देवसेन आदि के ग्र में वैदिक सप्रदाय द्वारा समर्थित अश्वमेध, गोमेध आ यज्ञो की आलोचना पाई जाती है। सांख्य दर्शन हिंसात्मक यज्ञो को ठीक नही बताता। 'यशस्तिलक ए इडियन कल्चर' में जैनाचार्यों के हिंसाविरोधी कथन मिथ्या, भ्रमपूर्ण तथा अपवादकारी कहा गया है।

यहाँ यह बात स्मरण रखना चाहिए कि सत्य महाव्रत तथा अहि महाव्रत के पालन करने वाले दिगम्बर जैनाचार्यो ने दूसरा के समान दुभ पूर्ण एव मिथ्या प्रतिपादन नही किया है। वे मिथ्या प्रतिपादन करते है आरोप अपवित्र दृष्टि का द्योतक है। वैदिक वाङ्मय स्वय ही जैन निरू को सत्य समर्थित सिद्ध करता है। जैसा कि उपरोक्त वैदिक विद्वान् कथन से स्पष्ट होता है।

जैनधर्म मे मद्य, मास, मधु सदृश पदार्थों का सेवन अहिसा प्राथमिक स्थिति में वर्जनीय कहा गया है। अहिंसा महाव्रती मुनि म शब्द श्रवण मात्र से आहार लेना बन्द कर देते है। वे परम कारुणिक मु राज प्रत्येक चेष्टा द्वारा जीव रक्षा का ध्यान रखते हैं। उनकी दृष्टि अहिंसा धर्म प्रधान है।

लोक में पापमुक्त जीवन बिताने का क्या उपाय है?

इस अहिंसा की पूर्ण साधना के हेतु पूर्णतया मन वच काय की चचलता का त्याग आवश्यक है, किन्तु यह म सरल नही है, इसलिए विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करने उपदेश दिया गया है। 'मूलाचार' में लिखा है—भगवान गणधर ने प्रश्न किया, "प्रभो, इस जगत में साधु किस प्रकार गमन करे

१ "It is evident that much of the information of Jai writers in regard to Vedic rites was based on hearsay the only thing they definitely knew about them was the involved sacrifices of living beings, men as well as animal Their statements are no doubt mala fide, misleading an erroneous, but similar inaccuracies are found also in th Matharvritti of Samkhyakarika"

Yashatilaka & Indian Culture P 384 and 38

किस प्रकार खड़ा रहे? किस प्रकार बैठे? किस प्रकार शयन करे? किस प्रकार भोजन करे? किस प्रकार संभाषण करे? जिससे पापों का बंध न हो।"[1] इस प्रश्न के उत्तर में इस प्रकार समाधान किया गया, "सावधानीपूर्वक चलो, यत्नाचारपूर्वक खड़े रहो, यत्नाचारपूर्वक बैठो, यत्नाचारपूर्वक शयन करो, यत्नाचारपूर्वक निर्दोष भोजन करो, यत्नाचारपूर्वक बोलो, इस प्रकार पाप का बंध नहीं होता।"[2] इस विवेकपूर्ण प्रवृत्ति का फल इस प्रकार का है, "दयापूर्वक प्रवृत्ति करने वाले साधु के नवीन कर्म का आगमन नहीं होता और प्राचीन कर्म की निर्जरा होती है।"[3]

मांसभक्षी के पास सदाचार कैसा?

जो लोग मांस भक्षी हैं, शिकार भी खेलते हैं, उनमें सदाचार का सद्भाव मानना भयंकर भ्रम है। 'अनगार धर्मामृत' में लिखा है "जिसके अंतःकरण में जीव दया का आभास नहीं है उसके उज्वल चरित्र कैसे हो सकता है? जीव हिंसक की कोई भी क्रिया, कल्याण दायिनी नहीं होती।"[4] कवि का कथन है "यदि हृदय दया भाव से पूर्ण हो तो सफलता के लिए उपवास आदि का कष्ट उठाना आवश्यक नहीं है। यदि हृदय करुणा पूर्ण नहीं है, तो सफलता के लिए अनशन आदि करना व्यर्थ है।"[5]

इस अहिंसा की यथार्थ आराधना स्याद्वाद शासन में ही बन सकती है। यदि शरीर और आत्मा में सर्व पृथकपना माना जाय तो शरीर के विनाश होने पर जीव का नाश नहीं होगा, इस दृष्टि से हिंसा का दोष कभी भी नहीं लगेगा। कसाई गाय के शरीर का नाश करता है उस

---

१ कथं चरे कथं चिट्ठे कधमासे कधं सये
कध भुंजेज्ज भासेज्ज कधं पावं ण वज्झदि ॥१२१॥

२ जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जद सये।
जद भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पाव ण वज्झई ॥१२२॥

३ जद तु चरमाणस्स दया पेहुस्स भिक्खुणो।
णवं ण वज्झदे कम्मं पोराण च विधूयदि ॥१२३॥ मूलाचार

४ यस्य जीवदया नास्ति तस्य सच्चरितं कुतः।
न हि भूतद्रुहां कापि क्रिया श्रेयस्करी भवेत ॥ ४, ६ अ. ध.

५ मनोदयानुविद्धं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये।
मनोदयापविद्धं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये ॥४, ७ अनगार धर्मामृत

एकांत शासन में अहिंसा का पालन कैसे बनेगा ?

शरीर में स्थित आत्मा सर्वथा पृथक है इसलिए उसपर कोई प्रभाव नही होता, जैसे दीपक के बुझने से घट का नाश नही होता क्योंकि दोनों अलग अलग हैं। सर्वथा शरीर और आत्मा की भिन्नता मानने पर अमर्यादित शरीरों का संहार करने पर भी हिंसा का दोष नहीं लगेगा।[1]

कदाचित आत्मा और शरीर का पूर्णतया अभेद माना जाय तो देह के विनाश होने पर उससे अभिन्न आत्मा का भी नाश होगा। ऐसी स्थिति में आगामी जीवन में सुख और शांति के लिए किया गया धर्म का पालन व्यर्थ हो जायगा क्योंकि शरीर के नष्ट होने के बाद उससे अभिन्न आत्मा भी नष्ट हो जायगी इसलिए धर्म का फल अनुभव करने वाला कोई भी न रहेगा।[2]

इसलिए शरीर और आत्मा में किसी अपेक्षा से भेद और किसी अपेक्षा से अभेद मानना होगा। संसारी जीव के मरण होते समय स्थूल शरीर का नाश हो जाता है किन्तु सूक्ष्म शरीर युगल अर्थात् तैजसकार्माण शरीरों का विनाश नही होता। वे आत्मा के साथ रहते है। शरीर को पीड़ा देने पर जीव दुखी होता है इसलिए अहिंसा का आश्रय लेना आवश्यक है।

एकान्त रूप से यदि जीव द्रव्य को बौद्ध दर्शन के अनुसार क्षणिक मान लिया जाय तो हिंसा करने का संकल्प करने वाला पहले नष्ट हो जायगा दूसरे क्षण में जो हिंसा करेगा वह जीव हिंसा का संकल्प नहीकरने वाला होगा। हिंसा का संकल्प करने वाला तथा हिंसा करने वाला जीव बंधन को नही प्राप्त करता है क्योंकि उपरोक्त जीव क्रमशः प्रथम तथा द्वतीय क्षण में नष्ट हो जायगे। बंधन में फंसने वाला जीव ऐसा विचित्र होगा जिसने न हिंसा की है न हिंसा का इरादा ही। चतुर्थ क्षण में उत्पन्न होने वाला जीव छूटता है बंधन वाला नष्ट हो चुका इसलिए बंधन वाला छूटा यह वाक्य नही कहा जा सकता।[3]

---

१ आत्म शरीर विभेदं वदन्ति ये सर्वथा गतविवेकाः।
कामवधे हन्त कथं तेषां संजायते हिंसा॥

२ जीववपुषोरभेदो येषामैकान्तिको मतः शास्त्रे।
कायविनाशे तेषां जीवविनाशः कथं धार्यः॥

३ हिनस्त्यनभिसंधात् न हिनस्त्यनभिसंधिमत्।
बध्यते तद्द्वयापेतं चित्तं बद्धं न मुच्यते॥५१॥ देवागमस्तोत्र

एकान्त नित्य पक्ष मानने पर भी व्यवस्था नही बनेगी क्योंकि नित्यता और परिवर्तन में मूषक मार्जार सदृश विरोध है।[1]

इस आत्मा के विषय में गीता में लिखा है, "अर्जुन ! यह आत्मा न उत्पन्न होता है न मरता है, यह था, होगा, अथवा है, ऐसी बात नही है। किन्तु यह जन्म रहित नित्य शाश्वत तथा प्राचीन है।[3] शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नही होता। इसलिए नाशरहित तथा अप्रमेय आत्मा के हेतु हे अर्जुन ! तू युद्ध कर। जो इस आत्मा को हत्यारा कहता है अथवा जो इसे हत मानता है वे दोनों इसे नही जानते यह आत्मा न तो नष्ट होता है और न नष्ट किया जाता है।[2]

गीता की दृष्टि की समीक्षा

इस कथन के अनुसार आत्मा और शरीर को सर्वथा पृथक मानना होगा। ऐसी स्थिति में कोई गीता की भक्तिवश निरन्तर जीवों का संहार करे, नरबलि करे, गोवध करे तथा और भी राक्षसीय कृत्य करे तो उसका हाथ कैसे पकड़ा जायगा? विवेक के न्यायालय में उसका वकील बहस करते हुए कहेगा कि शरीर के नष्ट होने से आत्मा नष्ट नही होती ऐसा उज्वल उपदेश गीता से प्राप्त होता है। शरीर नाशवान है उसका मैंने नाश किया है; आत्मा सर्वथा अविनाशी है नित्य ही उसका मैं नाश करना चाहू तो भी नही कर सकता इसलिए जीवघात करते हुए भी मेरे पक्षकार को कोई भी दोष नही लगता है। ऐसी स्थिति में लोक व्यवस्था और शांति तथा आनंद का स्वप्न में भी दर्शन दुर्लभ हो जायगा। प्रत्येक स्वेच्छाचारी सत्पुरुषों का

---

१ नित्यत्वैकान्त पक्षेपि विक्रिया नोपपद्यते ॥३७॥ देवागमस्तोत्र

२ न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्नबभूव कश्चित् अजो नित्यः शाश्वतोयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ कठोपनिषद्

३ अन्तवंत इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥
य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायंहंति न हन्यते ॥२॥
न जायते म्रियते वा कदाचि-न्नायंभूत्वा भविता वा न भूयः ॥
अजो नित्यः शाश्वतोयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥३॥
गीता—श्लोक १८ से २० तक अध्याय २

संहार करते हुए गीता का सहारा ले दण्ड मुक्त होने का प्रयत्न करेगा। "न हन्यते, हन्यमाने शरीरे" इस नियम के अनुसार दो महायुद्धो की अग्नि को प्रज्वलित करने वाले जर्मनी पर नैतिक दृष्टि से क्या दोष कहा जा सकेगा ? वह कहेगा "शरीर नाशवान था उसका नाश हुआ, शरीरी आत्मा का नाश नही होता इसलिए मैंने क्या बुरा किया?" इस तर्क पद्धति का आश्रय लेने पर सर्वत्र अराजकता तथा असंतोष आदि का अधकार छा जायगा। सन १९१४ के महायुद्ध में चार करोड चौदह लाख पैंतीस हजार मनुष्य मृत्यु की गोद में सो गए थे। सन १९४५ में महायुद्धों का अवसान होने के पूर्व लगभग तीन करोड से अधिक मनुष्य मृत्यु के ग्रास बन गए, लगभग दस करोड़ घायल और क्षति ग्रस्त हुए। करोडो घर स्वाहा हो गए।[1] यदि इन मनुष्यो के शरीर का ही नाश हुआ और आत्मा का कुछ नही बिगड़ा तो पुनः महायुद्ध के बादलो को विश्व के नभोमंडल में एकत्रित होते देखकर सभी सत्पुरुष क्यों चिन्ता कर रहे हैं ? इसलिए यह आवश्यक है कि गीता की एकात दृष्टि का अवलंबन न लेकर स्याद्-वाद शासन की समन्वय पूर्ण दृष्टि का आश्रय लिया जाय।

अहिसा पर अनेकात की संतुलित दृष्टि

तीर्थंकर महावीर ने शुद्ध दृष्टि से (निश्चयनय से) आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न माना है, इसलिए गीता का कथन शुद्धनय की अपेक्षा सुसंगत और तर्क-शुद्ध अनुभव गोचर होता है। जैनशासन में एक दूसरी दृष्टि भी जिसे व्यवहारनय कहते है, मानी गई है। इस व्यवहार दृष्टि की अपेक्षा देह और देही में कथचित एकता भी है। इसका कारण यह है कि शरीर को अनुकूल प्रतिकूल सामग्री मिलने पर उस प्रकार का संवेदन होता है, मधुर आहार मिलने पर भोक्ता जीव आनदित होता है, विपादि विरुद्ध वस्तु मिलने पर क्लेशित होता है। सुख की या दुःख की उस रूप में गणना करना या न करना व्यक्ति की मनोभूमिका पर निर्भर है। इसका अर्थ यह नही है कि सुख और दुःख की कल्पना पागल का

---

[1] "Before it (war) was over in 1945 more than thirty million persons in all parts of the world said 'good-bye' to life. More than thirty million wounded, hurt, incapacitated, millions of homes smashed, atom bombs dropped in two cities; hopes destroyed, ideals soured, moral values questioned". Louis Fischer: Life of Mahatma Gandhi P. 377.

प्रलाप है। यथार्थ बात यह है कि सुसंस्कृत मनोवृत्ति वाला मानव आनन्द अथवा असुख का सहज ही विश्लेषण कर सकता है। अतः जैन समाज में व्यवहार दृष्टि से आत्मा और शरीर में एकता भी मानी गई है।

जगत का लोक व्यवहार लेन देन, गुरु–शिष्य सम्बन्ध, सदाचार, दुराचार का भेद आदि व्यवहारिक दृष्टि को मानने पर सुसंगत होता है। तत्व का प्रतिपादन भी इस व्यवहारनय के जीवित रहते हुए ही हो पाता है। निश्चयनय तो परमार्थ सत्य को बताता है किन्तु उस स्थल तक पहुंचने के लिए व्यवहार दृष्टि रूपी सीढी का सहारा लेना आवश्यक है।

अतः व्यवहार और निश्चय पर संतुलित दृष्टि रखने वाली जैन विद्या के प्रकाश में कुरुक्षेत्र में हुए अर्जुन निमित्तक नर संहार से अर्जुन की पूर्णतया उत्तरदायित्व उन्मुक्त नहीं कहा जा सकता। इसका यह अर्थ नहीं है कि जैन दृष्टि अर्जुन को संग्राम भूमि छोड घर में बैठ रहने की प्रेरणा करती है। जैन धर्म में गृहस्थ आवश्यकता पडने पर विरोधी हिंसा करता है। वह उसके लिये पूर्णतया परिहार्य नहीं है। जब तक कोई व्यक्ति गृहस्थाश्रम में है तब तक उसका कर्त्तव्य है कि वह न्याय के प्रकाश में अपने उत्तरदायित्व का पूर्णतया रक्षण करे। अतएव जैन दृष्टि के प्रकाश में भी अर्जुन क्षत्रिय वृत्ति का ही आश्रय ले न्याय का परित्राण करता। वह दैन्य का उपदेश नहीं देता है, क्योंकि जैन शास्त्र में दीनता भय आदि को हिंसा की संतति बताया है। इतना अवश्य है कि गृहस्थाश्रम में होने वाले कार्यों से जो कर्मों का आस्रव होता है उसका क्षय करने के लिये निर्ग्रन्थ मुनियों की सेवा संयम योग्य तपश्चर्या का करना बताया है। तपस्या की अग्नि के द्वारा आत्मा के चिरसंचित दोष दूर हो जाते हैं और फिर वह शुद्ध स्वर्ण के समान शाश्वतिक परिशुद्धता–पूर्ण रहा आता है।

जैन दृष्टि वाला गृहस्थ विरोधी हिंसा का भागी नहीं है

इस विरोधी हिंसा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये एक दूसरे उदाहरण पर विचार करना उचित प्रतीत होता है। एक श्रेष्ठ सतराज अहिंसा महाव्रती मुनि आत्मचिंतन में निमग्न है, इतने में पास के अजायबघर से कोई सिंह पिंजडा तोडकर निकला और वह मुनिराज पर आक्रमण करने का है उस समय धार्मिक जैन क्षत्री का कर्त्तव्य होगा कि उन दया के देवता मुनिराज की रक्षा के लिये अपनी गोली का प्रयोग कर उस सिंह से मुनिराज की रक्षा करे। इस सत्प्रयत्न में सिंह के मरने से वह नहीं डरता। यहाँ उस गोली

चलाने वाले गृहस्थ के भाव मुनिराज के प्राणो की रक्षा करना है, यद्यपि इसका उस समय गोली का उपयोग किये बिना अन्य उपाय नही है। वह संकल्प पूर्वक शेर को नही मारता है; उसका सकल्प–इरादा (Intention) मुनिराज के प्राणो का रक्षण करना है। अतएव शुभ भावो के परिणाम से वह पुण्य कर्म का बंध करेगा।

जैन पुराणो में एक कथा आई है। एक मुनिराज जगल की एक गुफा में ध्यान करते थे। वहाँ एक व्याघ्र और जंगली शूकर का सहसा आना हो गया। जन्मान्तर के विशेष सस्कार वश व्याघ्र के भाव मुनिराज को मार डालने को हुये और वन शूकर के भाव उनकी रक्षा के हुये। व्याघ्र आक्रमण ही करना चाहता था कि शूकर ने उसके ऊपर आक्रमण कर दिया। दोनो में भीषण लडाई हुई। उसमें क्षत विक्षत होकर दोनो मर गऐ। बाह्य कार्य देखने में दोनो का एक था, लडे दोनो, मरे दोनो, लेकिन भाव भिन्न भिन्न थे। अत;उसका फल पृथक हुआ। वराह ने देव पद प्राप्त किया और शेर ने नरको के दुख भोगे। अत गृहस्थ यदि धर्म और नीति से अनुमोदित पथ पर चलते हुए सग्राम भूमि में अवतीर्ण होता है, तो उसका कार्य गृहस्थ धर्म के प्रतिकूल नहीं कहा जायगा।

सीता का रावण के द्वारा अपहरण होने पर यदि रामचद्र चुपचाप अयोध्या में बैठे रहते, और यह सोचते कि प्रतापी रावण से युद्ध छेडने पर अगणित मानवो का सहार करना पडेगा, इससे अच्छा है कि एक सीता की रक्षा का विचार छोड दू, तो यह महान निदनीय कार्य होता। जैनधर्म ऐसी अन्यायपूर्ण मनोवृत्ति को बडे भारी दोष का कारण कहता है। न्याय के पथ में प्रवृत्ति करते समय अगणित नर समुदाय का विनाश एक जैन देख सकता है, किन्तु अहिंसा के नाम पर वह शौर्य और पराक्रम को कलंकित करने वाला कार्य न करेगा। यदि करेगा तो जैन धर्म उसे गृहस्थोचित स्वीकार नही करेगा।

साधक की सामर्थ्य भेद से गृहस्थ और मुनि के जीवन की सीमायें पृथक पृथक है। गृहस्थ होते हुए यदि वह मुनि का मार्ग अपनाने लगे तो बडी अव्यवस्थता होगी। जिसकी कषायें शान्त हो गयी है, जिसकी आत्मा में वैराग्य का सूर्य जग गया और मोह की अधियारी भाग गयी है, वह मुनि-पद को प्राप्त कर उस अहिंसा महाव्रत को पालेगा जिसके समक्ष शत्रु मित्र का भेद नही है।

हिंसा के १०८ कारण

इस अहिंसा के सौरभ सपन्न उद्यान की शोभा को नष्ट करने के १०८ कारण है उन कारणो का परित्याग करने से यह जीव पूर्ण अहिंसामय बन सकता है। हिंसा के भाव क्रोध, मान, माया, लोभ, रूप हैं। वे मन वचन तथा काय से उत्पन्न होते हैं। इनमें कृत कारित तथा अनुमोदना का सम्बन्ध पाया जाता है। ये प्रत्येक भेद सरभ, समारभ तथा आरम्भ रूप उपभेदो से युक्त है।[1] इस प्रकार १०८ भेद बनते है। क्रोधादि चतुष्टय में मन वचन काय का गुणा करने से १२ भेद होते है, उनमें कृत कारितादि का गुणा होने पर ३७ की सख्या आती है। इसमें सरभ आदि ३ भेदो का गुणा करने से १०८ हिंसा के द्वार ज्ञात होते है। यही बात आत्मशुद्धि निमित्त पढे जानेवाले आलोचना पाठ में कही गयी है–

"समरभ समारभ आरभ, मन वच तन कीने प्रारम्भ।
कृत कारित मोदन करके, क्रोधादि चतुष्टय धरि के ॥
शत आठ जु इन भेदन तें अघ कीने पर छेदन तें।
तिनकी कया कहू कहानी तुम जानत केवल ज्ञानी ॥"

इन १०८ पाप सचय के निरोध के लिए जिनेन्द्र की १०८ माला वाली जाप जपी जाती है क्योकि उन आस्रव के कारणो के लिए जिनेन्द्र का स्मरण सवर रूप है। महाव्रती मुनि १०८ प्रकार से हिंसादि पापो का त्याग करते हैं इससे दि० जैन मुनियो के नाम के आगे १०८ का अक लिखने की पद्धति पायी जाती है।

महाव्रती मुनि पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, तथा वनस्पतिकाय वाले पच स्थावरकाय एकेन्द्रिय जीवो का रक्षण करते है। द्वीन्द्रिय,

अहिंसा से ही सुख का संसार बसेगा

त्रीइन्द्रिय, चौइन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय भेदवाले त्रस जीवो की भी पूर्णतया रक्षा करते है। यह कार्य मन, वचन, काय तथा कृत, कारित एव अनुमोदन द्वारा करते हैं।

---

[1] सरंभ का भाव है प्राणघात में प्रमत्त व्यक्ति का प्रयत्नशील होना। समारभ का भाव साधन सामग्री का संग्रह करना। आरभ का भाव कार्य में प्रवृत्ति रूप है ॥

"प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवत प्रयत्नावेश सरभण सरभ इत्युच्यते। साध्याया क्रियायाः साधनानां समभ्यासीकरण समाहरः समारभण समारभ इति कथ्यते। प्रवर्तन प्रक्रमणमारभणमारभ इत्याख्यायते॥"

सुखबोध तत्वार्थ वृत्ति पृ० १४०

इस अहिंसा के द्वारा ही विश्व में सुख का साम्राज्य स्थापित हो सकता है। हिंसा के कारण नरक की दुनिया बसाई जाती है। ज्ञानार्णव में लिखा है "इस जगत में जो जीवों के दुःख शोक भय के कारण दुर्भाग्यादि का दर्शन होता है वह सब हिंसा से ही समझना चाहिए। हिंसा के त्याग से क्षण भर में जीव का जीवन आश्चर्यप्रद उन्नति को प्राप्त होता है।"[१]

विपत्ति आने पर वह महाव्रती साम्य धारण करते हुए दूसरा को दोष न दे अपने ही पूर्वकृत कर्मों से उदय को उसका कारण मानता है। तथा अपने अंतःकरण को समझाता है 'आत्मन ! जरा विचार, इस संकट का कारण तेरे सिवा और कौन है ?'

इन महापुरुषों से भिन्न परिग्रह के पंक में निमग्न तथा विविध आकुलताओं के केन्द्र गृहस्थ की स्थिति होती है। वह तेजस्वी वृत्ति को धारण कर लोक की समस्याओं को सुलझाता है। यदि वह तेज को भुला दे तो उसकी जीवन यात्रा तथा उसके आश्रितों का संरक्षण कैसे सम्यक् रूप में होगा जिस प्रकार तेज युक्त अग्नि पर पैर रखने का किसी का साहस नहीं होता उसी प्रकार शौर्य और पराक्रम के पुञ्ज वीर पुरुष के पास उपद्रवी लोग आने से भय खाते हैं। आचार्य सोमदेव ने बड़े अनुभव

करुणा का एकांत शासन में बाधक है

की बात लिखी है–'एकान्त रूप से करुणा में तत्पर नरेन्द्र अपने हाथ में रखी हुई वस्तु की भी रक्षा नहीं कर सकता ?'[२] उनने यह भी लिखा है 'जो नरेश प्रतिकूल वृत्त वालों के प्रति पराक्रम पूर्ण नहीं रहता है वह मृत मानव सदृश है।'[३]

जो नरेश अपराधियों पर यम के समान अपना दण्ड प्रहार करता है उसके राज्य में प्रजा अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती तथा त्रिवर्ग अर्थात धर्म, अर्थ, काम स्वरूप फलात्य विभूतियों की वृद्धि होती

---

१ यत्किंचित्संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम्।
दौर्भाग्यादि समस्तं तद्धिंसा संभवं ज्ञेयम्॥ १२० पृ. ज्ञानार्णव

२ एकान्तेन कारुण्यपरः करतलगतमप्यर्थं रक्षितुं न क्षमः॥
नीतिवाक्यामृत पृ. ७७, सूत्र ३५

३ स जीवन्नपि मृत एव यो न विक्रामति प्रतिकूलेषु॥पृ. ७८ सू. ३९

पराक्रम के प्रसग में बाहुबलि के संदेश वाहक ने जो वाणी सम्राट भरत को सुनाई थी वह महत्वपूर्ण है । महाकवि जिनसेन कहते हैं "यह शरीर तो त्याज्य है किन्तु यश रूप धन की प्राप्ति करना चाहिए। युद्ध में विजय होने पर जयश्री मिलेगी । यह रणोत्सव महान फल वाला है ।"[1] इस विवेचन से अहिंसावादी तथा अनेकात दृष्टिका अवलम्बन लेनेवाले गृहस्थ का कर्तव्य स्पष्ट हो जाता है, इसलिये आत्म शांति के मंगल हेतु रूप आध्यात्मिक दृष्टि कोण को स्वार्थवश लौकिक सग्राम आदि में सहायक बनाना तर्क सगत नही लगता ।

आध्यात्मिक दृष्टि का उपयोग असंयम पूर्ण जीवन पर अंकुश लगाने के लिये है । उससे असयम का पोषण होते देख ऐसा लगता है कि जल ने अग्नि बुझाने की विशेषता का परित्याग कर पेट्रोल का रूप धारण कर लिया है । रूप तथा रग में जल और पेट्रोल समान से दिखते हैं । जल अग्नि का दाह दूर करता है, वह दुर्वास मुक्त है, वह जीवन है । ऐसा पेट्रोल नही है । यही बात सच्चे अध्यात्म में तया कृत्रिम आध्यात्मिक चर्चा में चारितार्थ होती है ।

अतः अर्जुन को आत्मा का वैभव बताते हुये हिसन कार्यों में प्रेरणा करना जल का पेट्रोल रूप में परिणमन करना सरीखा लगता है । रागद्वेष प्रवृत्तियो के निर्मूल करने के लिए अध्यात्मवाद है उनके सवर्धन के लिए नही। लौकिक कार्यों के लिए व्यवहारिक दृष्टि का आश्रय लेना उपादेय है ।

अहिंसा के विषय में

जैन ग्रंथ में एक कथा आई है। अवनी देश के मृगसैन नामक धीवरने एक दिगम्बर जैन मुनि का उपदेश सुना । इससे उस हिसक के मन में कुछ करुणा का भाव जगा किन्तु उसका व्यवसाय जीव धात का ही था , वह क्या नियम ले सकता था? विद्वान मुनिराज ने उससे कहा 'तू जाल में आई हुई पहली मछली को नही मारना, इतना भी अहिसा व्रत तेरे लिए अभी हित प्रद होगा ।' दूसरे दिन मृगसैन ने नदी में जाल फैलाया, एक बडी मछली पकड में आई, प्रतिज्ञा के अनुसार उसे जल में छोड दिया । पुनः वही मछली जाल में फसी

थोडी सी अहिसा से मृगसैन धीवर का कल्याण

---

१ कलेवरमिदं त्याज्य अर्जनीय यशोधनम् ।
जयश्रीविजये लभ्या नाल्पोदर्को रणोत्सवः । म्हापुराण ३५-१४४

दिया । राजपुत्र को जलचर जतु खा गये किन्तु सत्यव्रती अहिंसक यमपाल की देवों ने पूजा की । इस प्रकार इस अहिंसा की आराधना द्वारा आत्मा का अवर्णनीय कल्याण होता है । महान सतो के युग में लोक कल्याण के लिए अहिंसात्मक प्रवृत्ति का उपदेश दिया जाता था, आज उसके स्थान में हिंसा का नरक निर्माण करके लोक उद्धार के लिए मधुर योजनायें बनाई जाती हैं, जिससे इष्ट सिद्धि नहीं होती, इसलिए अहिंसा के द्वारा ही जीव का कल्याण होता है यह बात प्रत्येक मानव के मस्तिष्क में मजबूती से आना चाहिए । सद्गुरु कहते है–"समस्त सिद्धातो का हृदय

सर्व शास्त्रो का हृदय

सर्व शास्त्रो की उत्पत्ति स्थान तथा व्रत, गुण, एव शील आदिका पुन्जीभूत सार अहिंसा है ।" इस अहिंसा की रक्षा के लिए जिन भगवान ने पचविध भावनाओ का प्रतिपादन किया है, वे इस प्रकार हैं–लौकिक लालसाओ मन के निग्रह रूप मनोगुप्ति, वाणी के निग्रह रूप वचनगुप्ति, गमन सबधी सावधानी–ईर्या समिति, पुस्तक आदि धर्म के साधनो का यत्नाचार पूर्वक उठाना तथा रखना, आदान–निक्षेपण सिमिति तथा आलोकित पान भोजन अर्थात शोधकर भोजन का ग्रहण करना । इन पच भावनाओ से अहिंसा का पोषण होता है ।[1]

अनगार धर्मामृत में लिखा है कि "आत्मा के निर्मल भावो को क्षति पहुचाने के कारण असत्य सभाषण चोरी आदि का भी हिंसा में अतर्भाव है । अत ज्ञानियो के लिए उस अहिंसा का असत्यादि के त्याग रूप पचविध निरूपण किया है ।"[3]

---

१ सर्वेषा समयाना हृदय गर्भं च सर्व शास्त्राणाम ।
व्रतगुण शीलादीना पिण्ड सारोपि चाहिंसा ।।

२ वाड् मनोगुप्त्यार्यादान निक्षेपण समित्या लोकित पानभोजनानि पच।।
अ ७ सू ४–तत्वार्थ सूत्र

३ आत्महिंसन हेतुत्वाद्धिसैव सूनृताद्यपि ।
भेदेनतद्विरत्युक्ति पुनरज्ञानुकपया ।। ४–३६–अन धर्मामृत
आत्म परिणाम हिंसन हेतु त्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादि केवल मुदाहृत शिष्यबोधार्थम् ।।४२।।
पुरषार्थसिध्युपाय

कोई-कोई पूछते हैं कि कि जैन मुनि जब अहिंसा महाव्रत धारण करते हैं छोटे बड़े सभी जीवों पर दया पालन करते हैं तब वे अपने भोजन में उस दूध को क्यों ग्रहण करते हैं जिसकी उत्पत्ति रक्त और मांस से होती है ? दूध पीना और मांस से घृणा करना आश्चर्य की बात है।

दूध सेवन में हिंसा के भ्रम की आलोचना।

यह बड़ा भारी भ्रम है कि इस दूध की उत्पत्ति मांस से अथवा रक्त से होती है। आयुर्वेद शास्त्र का कथन है कि भोज्य वस्तु उदर में पहुंचने के बाद श्लेष्माशय को प्राप्त करके द्रवरूप होते हैं पश्चात पित्ताशय में पहुंचकर इनका परिपाक होता है और व वाताशय को प्राप्त करते हैं। पश्चात् उनका वायु के द्वारा विभाजन होते हुए खलभाग तथा रसभाग रूप परिणमन होता है। खलभाग मलमूत्र आदि रूप धारण करता है तथा रस-भाग का रक्त मांस मेद मज्जा तथा शुक्र रूप से क्रमश परिणमन होता है।[1] कल्याणकारक नाम के वैद्यक ग्रन्थ में लिखा है कि रस बनने के बाद रुधिर बनता है तथा रुधिर के बाद मांस बनता है।[2]

रस तथा रुधिर में शरीर शास्त्र की दृष्टि से भेद है

वाग्भट्ट ने अष्टांग हृदय में लिखा है कि रस के बाद रक्त बनता है। रक्त के बाद मांस और मांस के बाद मेद और पश्चात हड्डी बनती है।[3] गोदुग्ध को गोरस कहते हैं उसे कोई गोरक्त के नाम से नहीं कहता है। रक्त के स्पर्श होने पर शुद्धता के हेतु विशेष स्वच्छता

---

१ आहार परिणामादि कवलाहारो हि ग्रस्तमात्रः श्लेष्माशय प्राप्य श्लेष्मणा द्रवीकृतमधिकमशुचि भवति। तत पित्ताशय प्राप्य पच्यमान आम्लीकृत अशुचिरव भवति। पक्वो वाताशयमवाप्यवायुना विभज्यमानः खरस भावेन भिद्यते। खलभागो मूत्रपुरीषादि मलविकारेण विविच्यते। रसभागः शोणित मांस-मेद-मज्जा-शुक्रभावेन परिणमते॥
तत्वार्थ राजवार्तिक प ३२८

२ आहृतमाशयात् रसतः रुधिरं रुधिराच्च मांसम्-
स्मादपि मांसतो भवति मेद इतोऽस्थि ततोऽपि ॥
मज्जात शुभशुक्र मित्यभिहिता इह सप्तविधाश्चधातव।
सोऽष्टण सुधीतभूत वनतश्च-विनोषित-दोष सम्भवा ॥२०-२
कल्याणकारक पृ ५२५

३ रसस्तु सप्तभिर्भूयो यथास्व पच्यतेऽग्निभिः।
रसाद्रक्त ततोमांस मांसान्मेद स्ततोऽस्थितथा। अष्टांगहृदय-६२ शरीरस्थान

की जाती है। ऐसा व्यवहार गोदुग्ध के प्रति नहीं होना। दूध रस है रस के बाद वह रक्त बनता है, रक्त के बाद उसका मास रूप में परिणमन होता है इसलिए गोदुग्ध को रक्त या मास मानना भयंकर भूल भरी बात है।

गाय के शरीर में दूध रहता है तथा मांस भी रहता है किन्तु वस्तु स्वरूप की यह विचित्रता है कि दूध शुद्ध और मांस अशुद्ध है। सर्प के मस्तक में मणि रहता है वह तो विष के विकार को दूर करता है किन्तु उसके पास में रहने वाला विष प्राणो का घातक है। विष वृक्ष के पत्ते प्राण प्रदान करते हैं और उसकी जड प्राणो का विघात करती है। यद्यपि दोनो वृक्ष के ही अंग हैं, इसी प्रकार दूध और मास एक ही शरीर में पाये जाते है, दूध की थैली पृथक रहती है, इसलिए मास हेय है और दुग्ध पीने योग्य है।[१]

दूध यदि अपवित्र होता तो जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक पूजन सदृश अत्यन्त पवित्र कार्यों में उसका क्यो उपयोग किया जाता ? अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञाता जिनेन्द्र भगवान ने अपने प्रत्यक्ष ज्ञान में देखा है कि उसमें और मास में इतना ही अन्तर है जितना अमृत और विष में है।

एक बात यह भी विचारणीय है कि दूध के दुहने से गाय का शरीर क्षीण नहीं होता। यदि उसका दूध न दुहा जाय तो उसे पीड़ा का अनुभव होता है। दूध के दुहने से गाय को शांति मिलती है। गाय घास खली आदि जो पदार्थ खाती है वे ही गोरस रूप में परिणित होते है। इस कारण उन पदार्थों की गंध आदि दुग्ध में देखी जाती है। ये बातें मास के विषय में चरितार्थ नही होती।

जब बालक अस्वस्थ होता है तब माता को औषधि देने से उसका दूध पीने वाला शिशु स्वस्थ हो जाता है। यदि दूध के सेवन से मांस

---

१ शुद्धं दुग्धं न गोर्मांसं वस्तु वैचित्र्य मीदृशं।
विषघ्नं रत्नमाहेयं विषं च विपदे यत. ॥१॥
हेम पल पयः पेयं समे तत्यापि कारणे।
विषद्रोरायुषे पत्र मूल तु मृतये मतम् ॥२॥

सागारधर्मामृत पृ ४६

भक्षण का पक्ष जबरदस्ती माना जाय तो मनुष्य को शिशुकाल में माता का दूध पीने के कारण स्वभावत: मांसाहारी मानना होगा। किन्तु अनुभव यह बताता है कि मनुष्य के दांतो की रचना आदि मांसाहारी प्राणियों के समान नहीं हैं। जिस तरह बंदर शाकाहारी है उसी प्रकार मनुष्य भी प्राकृतिक रूप से शाकाहारी है इसलिए दूध सेवन में मांसाहार की कल्पना करना पूर्णिमा को अमावस्या मानना है।

तामिल भाषा की महत्वपूर्ण रचना नीलकेशी में इस संबंध में बड़ी गम्भीर चर्चा आई है जिसका उपयोगी अंश प्रकांड दार्शनिक प्रो. ए. चक्रवर्ती ने अपनी भूमिका में लिया है।[1]

---

१ "The Buddhist turns round and offers an argumentum ad hominem as an indirect justification for flesh eating If you object to meat eating so much why should you take milk which is the product of flesh ? How is it differerent from flesh eating ? Neelakeshi laughs at this argument Objection to flesh eating is based upon the doctrine of Ahimsa You can not obtain meat without killing some animal Whereas milk is not so related to antecedent killing Since there is no Hinsa involved in obtaining milk, it is not condemned by us. Further, you are not quite right in suggesting that it is merely an other form of meat, it would be more proper to say that milk is the modification of grass and other fodder eaten by the cow For, is it not known to you that the quality of the fodder eaten by the cow determines the nature of milk ? Are you not aware of the fact that the medicine taken by the mother is very often effective in curing the desease in case of babies, who suck mother's milk ? Hence your contention that it is an other form of meat is not quite correct

Again there is no body in the world, who condemns milk as impure. Lastly if yoo stick to your statement that the milk is another form of meat then every human being must be accused of cannibalism for the simple reason that as baby he must have drunk of mother's breast"

आहार शास्त्र की दृष्टि से दूध को सात्विक भोजन माना गया किन्तु मास तामसी भोजन कहा गया है। जिस प्रकार आम आदि वृक्षो में लगनेवाले फल रस भरे होते है, उनमें रुधिर रूप परिणमन नही होता है, इसी प्रकार गाय के द्वारा ग्रहण किया गया भोजन विशेष थैली में जाकर धवल वर्ण वाले रस रूप परिणित होता है। इसलिए दूध और माँस में समानता देखना हस और कौओं में वर्णसाम्य मानने सदृश भूल भरी बात होगी। जैन शास्त्र में सयमी श्रावक हड्डी, माँस, रक्त, मदिरा, पीप आदि अपवित्र वस्तुओ को देखकर आहार का त्याग करता है। किसी भोज्य में मास की कल्पना उठने पर उसे त्याज्य कहा है।[१]

दुग्धाहार सात्विक है तथा मासाहार तामसी है

अतएव दूध की शुद्धता निर्विवाद है। जैन दृष्टि का कथन है कि अडतालीस मिनट के भीतर दूध को अच्छी तरह गर्म कर लेना चाहिए। ऐसे अशुद्ध दूध के सेवन करने में मास का दूषण लगता है। ऐसी जिन भगवान की आज्ञा है।

समाधिमरण में हिंसा की कल्पना भ्रमपूर्ण है

जैन मुनियो की अहिंसा के विरुद्ध तार्किक कहता है 'जैन मुनि अपने जीवन को समाधिमरण के द्वारा (suicide by starvation) समाप्त कर देते है इसलिए आत्महत्या करने के कारण उन्हें निर्दोष अहिंसा व्रती कैसे मानना चाहिये ?'

यह प्रश्न अज्ञानता मूलक है। समाधिमरण में आत्मघात को देखना सती साध्वी महिला का कुलटा समझने सदृश भूल भरा है। समाधिमरण का लक्ष्य आत्मा का घात नही है। आत्मघात से मन अपवित्र होता है। जिससे जीव कुगतियो में जाता है। समाधिमरण में महान निर्मलता, विलक्षण शान्ति तथा प्रसन्नता का सद्भाव पाया जाता है। जब साधु देखता है कि कि मैंने जीवन भर सयम की साधना की, व्रता का पालन किया और अब मरी जीवन नौका जीर्ण होने के कारण डूबने को है तब वे इस जीर्ण नौका सदृश शरीर की सम्हाल करने में अपने अमूल्य क्षणो का अपव्यय न कर अपनी अनत गुणो की राशि रूप आत्मा की रक्षा के लिए उद्यत हो जाते है। वे अपने प्रत्येक क्षण का आत्मसाधना में उपयोग करते

---

१ दृष्ट्वार्द्रचर्मास्थि सुरामासासृक्पूय पूर्वकम् ।
इद मांस मिति दृष्टसकल्प चाशन त्यजेत् ॥ सागार धर्मामृत पृ १३५ (३१-३३)

है और इस संयम घातक शरीर की सेवा में अपना समय और शक्ति नष्ट नही करते।

पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि "समाधिमरण को प्राप्त व्यक्ति के रागद्वेष मोहादिक नही होते इससे उसे आत्मघात का दोष नही लगता है। आत्मघाती विष शस्त्रादि रागद्वेष मोहादिक के वशीभूत होने से आत्मा का घात करता है।"[1] ऐसी स्थिति मे समाधिमरण और आत्मघात में ऐसा ही अंतर है जैसा कि जैन रत्नत्रय धारी गुणो के सिन्धु दिगम्बर मुनिराज और पापोदय से साधन शून्य भिखारी मे। एक उत्कृष्ट वृत्तियों का पुन्ज है तो दूसरा जघन्यवासना का आवासस्थल है।

समाधिमरणमें आत्मघात का दोष नही है

समाधिमरण का महत्व हृदयंगम न करने के कारण उसका भ्रात अनुवाद (suicide) किया जाता है। पश्चिम के विद्वान समाधिमरण की महत्ता को नही जानते हैं। स्वर्गीय बैरिस्टर चंपतराय जी जैन ने विदेश में धर्म प्रचार का कार्य बन्द करके भारत की ओर प्रस्थान किया क्योंकि विदेश में उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। इस कारण उनने यह कहा था "अब मेरी बीमारी काबू के बाहर हो गयी है। पश्चिम के लोग समता भाव सहित प्राणोत्सर्ग करना नही जानते हैं। इससे समाधिमरण की लालसा से मै तीर्थंकरो की पुण्य भूमि भारत को लौट आया हूँ।" अतः सल्लेखना-समाधिमरण का लक्ष्य है, जीवन लीला समाप्त होने के पूर्व अपनी आत्मा को मोह रहित वीतराग बना आगामी जीव की श्रेष्ठ सम्हाल करना जिससे यह जीव पुनः पुनः जन्म मरण के चक्कर में नही आवे। तीर्थंकर भगवान का कथन है कि यदि एक बार भी कोई जीव सम्यक् प्रकार समाधि सहित प्राणो का विसर्जन करने की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया तो अधिक से अधिक आठ भव के भीतर वह मोक्ष को प्रात कर लेता है।[2]

---

१ रागद्वेषमोहाविष्टस्य हि विषशस्त्राद्युपकरण प्रयोग वशादात्मानं घ्नतः स्वाघातो भवति,न सल्लेखना प्रतिपन्नस्य रागादयः सति, ततो नात्मवधदोषः ॥
सर्वार्थसिद्धि ७-सू० २२

२ This Sallekhana Vrata is taken by persons, who are in the jaws of death, and who find no escape therefrom When they realise that they have only a short span of life in this world, after realising that they are not going to be saved

अहिंसा के पक्ष में लगाये गये दोषों का निराकरण देख नीलकेशी प्रथम मांस भक्षण का अनुरागी बौद्ध गुरु जैन मुनियों की अहिंसामय वृत्ति पर अपने तर्क द्वारा इस प्रकार प्रहार करता है "यदि आपका हम पर मांस भक्षण करने में जीवघात होने का आक्षेप है तो वही आक्षेप क्या जैन मुनियों पर नहीं आता जो मयूर पखों के द्वारा तैयार की गई पिच्छी का उपयोग में लाते हैं जब कि उन पखों की प्राप्ति के लिए उन मयूरों की हिंसा होना अनिवार्य है ?" यह आक्षेप बालू की दीवाल के समान धक्का लगाते ही धराशायी होता है, कारण मयूर पख–पुंज के धारण करने पर रंच मात्र भी हिंसा नहीं होती। मयूर पक्षी अपने मौसम में अपने पखों को स्वयं छोड़ देता है जिस प्रकार शिशिर ऋतु के पश्चात् प्रायः सभी वृक्ष अपने पत्तों को छोड़कर नवीन कोपलों का धारण करते हैं। इसी प्रकार मयूर भी पुरातन पखों को छोड़ देता है क्योंकि प्रकृति के द्वारा उसे सौंदर्य पुंज नवीन पख प्राप्त होते हैं। मयूर पखों की प्राप्ति के निमित्त तनिक भी मयूर के प्राणों को पीड़ा नहीं होती। कितना लोग पखों को लाकर बेचते हैं, उन्हें धार्मिक श्रावक उचित मूल्य पर लेकर पिच्छी बनवाकर अहिंसावादी मुनि जनों की सेवा में अर्पित करते हैं।

कदाचित कोई पापी जीव मयूरों का नाश कर लोभ वश पखों को लाकर बाजार में बेचे तो उनमें लगे हुए रक्त आदि दूषणों को देखकर उनको लेना तो दूर, उनको छूना भी दयामय साधु अकल्याणकारी मानेगा। इस दृष्टि से मयूरपख संबन्धी आक्षेप जैन दृष्टि को तनिक भी क्षति नहीं पहुंचा सकता। शंकाकार का प्रयास घास के तिनके से वज्र के वेधने सरीखा उपहास पूर्ण है। जैन मुनि का अहिंसामय जीवन अभेद्य किले के समान है उस पर कुतर्क के बमों की वर्षा तनिक भी

---

from the jaws of death, they take a vow that they will not take any more care about their worldly possessions including their own body, in order to spend the remaining valuable short span of life in devotion and worship and purifying of heart and not to be worried by any thing else Sallekhana is not a voluntary pain on oneself as an end in itself On the other it is just an attempt to better ones own spiritual conditions, when the end is realised as inevitable

Vide Neelkeshi

क्षति नही पहुंचा सकती है। आक्षेपकों को अपना मुंह स्वयं दर्पण में देखना चाहिये और सोचना चाहिये कि उनके गुरु लोगो के जीवन में यथार्थ में कितनी पवित्रता है। सत्य की भाषा में ये लोग संसार सिन्धु संतरण के लिए शोभायमान होने वाली संगमर्मर की बनी हुई नौका के समान है जो समुद्र तल में बैठने वालों के साथ रमा जाती है।

मयूर पिच्छी रखने का लक्ष्य अहिंसा की प्रतिज्ञा का निर्दोष निर्वाह करता है। उसके द्वारा छोटे छोटे अगणित जीवों का रक्षण होता है। मयूर के पंखो की पिच्छी में पाँच प्रकार की विशेषतायें है। वह धूलि को नही ग्रहण करती, दूसरी बात वह पसीना आदि से मलिन नही होती, तीसरी विशेषता है उसकी अत्यन्त कोमलता, उसको आंखों के भीतर डालने पर भी कष्ट नही होता इससे उसकी मृदुता का बोध होता है, चौथा गुण सुकुमारता का है वह व्याघ्र चर्म आदि के समान बीभत्स रूप नही होती,और पाचवी बात यह है कि वह बिलकुल हल्की रहती है इसलिये वह साधु को अहिंसा की साधना में बहुत लाभदायक होती है।[1]

कोई यह कहे कि जब मनुष्य के पास प्रकृति ने देखने को नेत्र दिए है तब पिच्छी की विडंबना के पीछे पड़ना परिग्रह त्यागीसाधु के लिए अच्छा नही लगता। इस विषय में मूलाचार में लिखा है, "एकेन्द्रिय आदि जीव सूक्ष्म होते है, कठिनता से दिखते है, चर्म चक्षुओं के द्वारा गृहीत नही होते, इसलिये जीवो के रक्षण के हेतु साधु मयूर-पिच्छिका को धारण करते हैं।"[2] रात्रि में मल–मूत्रादि विसर्जन करने को यदि मुनि को उठना पड़े तो वह पिच्छी की सहायता के बिना किस प्रकार जीव रक्षा का त पाल सकेंगे इसलिए 'पिच्छी के बिना साधु नही होता है।'[3]

पिच्छी की उपयोगिता

कदाचित कोई कहे कि जिस प्रकार झाडू से झाडे जाने पर छोटे छोटे जीवो का झुण्ड मृत्यु को प्राप्त होता है इसी प्रकार उनकी दुर्गति पिच्छी के द्वारा भी होगी।

---

१ रजसेदाण मगहण मद्दव सुकुमारदा लहुत्तं च।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहण पसंसति॥
मूलाचार १९. समयसाराधिकार

२ सुहुमा हु संति पाणा दुप्पेक्खो अक्खिणो अगेज्झा।
तम्हा जीव दयाए पडिलिहणं धारए भिक्खू॥ २०॥

३ 'पडिलेखणमंतरेण न साधुः'

इस संदेह का निराकरण करते हुये आचार्य कहते हैं "मयूर पंख को नेत्र में डालकर घुमाये जाने पर भी नेत्रो को तनिक भी पीडा नही होती, तब उसकी कोमलता का सहज अनुमान हो सकता है, कारण नेत्रो में अन्य कोमल वस्तुओं के जाने पर पीड़ा होती है। यह मयूरपंख की असाधारणता है कि नेत्रो के भीतर जाकर भी उसका मृदु स्पर्श प्रिय लगता है। ऐसी स्थिति में उसके द्वारा सूक्ष्म जीवो को प्रतिलेखन करना मुनि का कर्तव्य है। उससे जीवो को कष्ट नही होता।"[1]

आरभ में जीववध

आचार्य का यह कथन महत्वपूर्ण है "आरंभ संबधी कार्यो में जीवघात होता है, इससे आत्मा का घात होता है क्योकि इस पाप के कारण यह जीव नर्कादि योनियो में वर्णनातीत कष्ट भोगता है इसलिए अपनी आत्मा का घात न हो इस दृष्टि से जीववध को छोड़ना चाहिये।"[2]

मुनियो के तप में हिंसा के सद्भाव का प्रतिवाद

उपरोक्त उत्तर से हतप्रभ होकर केवल विरोध व्यक्त करके आकाश में शोभायमान सूर्य के शिर पर धूल फेंकने के परिश्रम के समान तार्किक पूछता है कि "मुनिराज के पद को अगीकार करने के बाद जो कठोर तप किया जाता है वह क्यो न हिंसा का कार्य माना जायगा, अहिंसा के तत्वज्ञान का रक्षण तो तब होगा जब शरीर को कोई भी त्रास न दिया जाय जैसे अन्य जीवो पर करुणा की जाती है इस प्रकार प्रेम और करुणा का पात्र शरीर भी है ? मुनि जीवन में केशलोच किया जाता है यह शरीर के प्रति क्रूर व्यवहार की पराकाष्ठा है, जहा क्रूरता है वहां तो अहिंसाभाव की मृत्यु ही माननी होगी।"

यह शंका साधारणतया आकर्षक लगती है किन्तु इसमें तथ्य और तत्व नही है। हिंसा का दोष तब लगता है जब प्रमत्तयोग अर्थात् कषायपूर्ण मनोवृत्ति का सद्भाव हो। तपश्चर्या के द्वारा कषायो में मन्दता होती है, दुर्विचारो का निरोध होता है, पाप–प्रवृत्तियो की ओर मन नही जाता, जीवन में लगे हुए दोष दूर होते हैं, जिस प्रकार अग्नि के ताप से स्वर्ण की मलिनता दूर होती है। बिना श्रम और कष्ट किये मानसिक दुष्ट प्रवृत्ति का शोधन नही

---

१ णयहोदि णयणपीडा अच्छि पि भमाडिदे दु पडिलेहे।
तो सुहुमादी लहुओ पडिलेहो होदि कायव्वो ॥२२॥

२ आरभे पाणिवहो पाणिवहे होदि अप्पणो हु वहो।
अप्पा ण हु हतव्वो पाणिवहो तेण मोत्तव्वो ॥३०॥

होता। संसार में जो जो महान कार्य सम्पन्न हुये हैं उनकी पृष्ठभूमि अपार श्रम, संयम, त्याग आदि रहे हैं। तपश्चर्या के द्वारा आत्मा अहिंसात्मक भावों की वृद्धि करता है क्योंकि उसके द्वारा यह दुर्विचारों के द्वारा होने वाली आत्महत्या को रोकता है। आत्मा के स्वरूप का रक्षण करना वास्तव में अहिंसा है। तार्किक अकलंक देव कहते हैं —

आत्मदर्शी मुनियों को तपस्या से निर्मलता का लाभ

"जिस प्रकार अनिष्ट वस्तुओं के प्राप्त होने पर द्वेष उत्पन्न होता है तथा उससे दुःख प्राप्त होता है ऐसी स्थिति धर्मध्यान में परिणित बाह्य तथा अंतरंग तप में प्रवृत्ति वाले मुनिराज के अनशन, केशलोंच आदि करने के कारण प्राप्त कायक्लेश में नहीं होती है। उसमें द्वेषभाव की संभावना नहीं है इसलिये इस कार्य द्वारा असाता वेदनीय का बंध नहीं होता। क्रोधादि कषायों के आवेश होते हुए स्व, पर, तथा उभय को दुःखादि देने को पापास्रव का हेतु कहा है। केवल दुःख देने को नहीं कहा है।"[1]

अपरिचय के कारण संयमी में दोष दर्शन

दूसरा कारण यह है कि उपवास आदि करने पर मुनियों के भावों में क्लेश नहीं होता। उनके मुख मंडल पर तपश्चर्या का तेज तथा अद्भुत प्रसन्नता विराजमान रहती है। यह तर्क की बात नहीं है प्रत्यक्ष निकट संपर्क में आने पर ज्ञात होती है। जिस प्रकार संगीत की कला को न जानने वाला व्यक्ति गायन के प्रति तिरस्कार की भाषा में कहता है —

"भली भई नीकी भई हमें न आयो गाय।
भरी सभा के बीच में को बैठे 'मुंह बाय॥"

उसी प्रकार संयम का स्वाद न लेने वाला स्वादु प्रकृति वाला शारीरिक स्वास्थ्य को आत्मा का स्वास्थ्य समझता हुआ त्याग और व्रत को कष्ट का भंडार सोचता है, किन्तु जैसे संगीत के सौन्दर्य का परिचय रखने

---

१ यथानिष्ट द्रव्य संपर्काद्द्वेषोत्पत्तौ दुःखोत्पत्तिः, न तथा बाह्याभ्यंतरतपः प्रवृत्तौ धर्मध्यान परिणतस्य यतेरनशनकेशलुंचनादि करणकारणापादित कायक्लेशेऽस्ति द्वेष संभवः। तस्मान्नास द्वेद्यबन्धोऽस्ति। क्रोधाद्यावेशे हि सति स्वपरोभय दुःखादीना पापास्रवहेतुत्वमिष्टं न केवलानाम्।

तत्वार्थराजवार्तिक पृ० २५९।

वाला गायनाचार्य निंदक की वाणी को सुनकर मुस्कराते हुए अपनी मधुर तान के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को तृप्त करता है उसी प्रकार दुर्वासनाओं का दमन करने वाले संयमी अनशन आदि तप करते हुए आत्म हित के साथ आन्तरिक आनंद को प्राप्त करते हैं।

उपवास आदि तप की सीमा

जैन ग्रंथकारों ने उपवास आदि करने की सीमा बतायी है। जब तक मन में संक्लेश नहीं उत्पन्न होता है तब तक वह अनशन आदि तप कहा जायगा। यदि संक्लेश परिणाम उत्पन्न होने लगे तो वह तपस्या निश्चय से आत्मा के लिये हितकारी नहीं होगी। विषयों के प्रति आसक्ति तथा मोह का परित्याग होने पर प्रबुद्ध साधक को ऐसी प्रसन्नता होती है जैसे पराक्रमी पहलवान को अखाड़े में आकर प्रतिद्वन्दी को पछाड़ने में होती है। क्षीण-बली व्यक्ति उस मल्ल के शरीर से बहते हुए स्वेद की धारा को देख, सोचता है कि उसे अपार कष्ट हुआ किन्तु उस श्रम से मल्लराज प्रसन्न होते हुए अपने शरीर को अधिक बलिष्ट बनाता है, इसी प्रकार कर्मों को पछाड़ने वाला अहिंसा महाव्रती साधु उपवास केशलोंच आदि के श्रम से दुखी न होकर विशुद्धता प्राप्त करते हुए अपार आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त करता है। अकलंक स्वामी कहते हैं—"जिस प्रकार अहिंसादि भावों के निमित्त उद्यत होने से प्रसन्नता को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार उपवास आदि भावों के कारण में भी प्रसन्नता प्राप्त करते हुए वे अनशन आदि तप करते हैं अतः उनके दुख आदि का अभाव है।"[1]

तप द्वारा कर्मों की चिकित्सा

जिस प्रकार दयार्द्र अंतःकरण वाला चिकित्सक साधु के हित की बुद्धिवश उनके शरीर के फोड़े पर शस्त्र क्रिया करते हुए क्रोधादि कषायों के न होने से पाप का बंध नहीं करता है इसी प्रकार अनादिकाल से संसार में होने वाले जन्म जरा मृत्यु की वेदना दूर करने के विषय में उद्यत यति, उसके उपाय में प्रवृत्ति करते हुए स्व तथा पर के दुख हेतु होने पर भी क्रोधादि का अभाव होने से, पाप का अबंधक है।[2]

---

१ यथा यतिरहिंसादिकरण कारणोद्यतत्वादाहितप्रसाद तथायमुपवासादि करणकारणे प्याहित प्रसाद. अनशनादितपः करोतीति दुःखाद्यभावः।

तत्वार्थ राजवार्तिक पृ २५९

२ यथा भिषक् करुणार्द्रीकृतचेता संयतस्योपरि अनुग्रहबुध्या गंडं

मनोवृत्ति पर प्रिय अप्रियपना आश्रित है

इस प्रसग मे एक दार्शनिक विचार भी ध्यान देने योग्य है । यह देखा जाता है कि किसी को राजभवन प्रिय लगता है तो किसी को पर्णकुटीर प्रिय लगती है । किसी को धन वैभव की विपुल वृद्धि हर्षित करती है तो किसी को सपूर्ण वैभव विभूति का परित्याग आनद प्रदान करता है, इसलिए जिस कार्य से मनोदेवता सतुष्ट होते है वह कार्य दु ख रूप दिखते हुए भी सुख प्रद अनुभव में आता है । इसलिए आचार्य लिखते है—"दुख से व्यथित ससारी जीवो का मन जहाँ रम जाता है वहा ही उसे सुख मिलता है, इसी प्रकार अनशनादि तप करने वाले मुनिराज के मनोरति पाई जाने से सुख का सद्भाव होने के कारण कोई दोष नही होता ।"[1] कहा भी है—"किसी के मन को नगर में सतोष प्राप्त होता है तो किसी को वह सुख वन मे मिलता है, किसी को स्वजनो मे हर्ष होता है तो किसी को जनता मे प्रसन्नता प्राप्त होती है । किसी को राज भवन के शिखर में रहना अच्छा लगता है तो किसी को वृक्ष का कोटर प्रिय लगता है । किसी को अगना का अक सुहाता है तो किसी को शिला तल प्रसन्नता देता है"[2]

तपश्चर्या की अपार महिमा है। जिन इच्छाओ को वन्दी बनाने के लिए विश्व के बडे बडे वैभव विभूति सम्पन्न नरेश तथा सुरेश भी समर्थ नही होते, उन्हे तपश्चर्या के द्वारा सहज ही अपने नियत्रण में कर लिया जाता है । इच्छाओं का निरोध ही तो तप है । ऐसे तप से वँधे हुए कर्मो का पहाड वज्र प्रहार के समान शीघ्र ही क्षय को प्राप्त करता है । जैसे अग्नि के प्रज्वलित होने पर इंधन के ध्वस होने म

तपस्या से इच्छाओं का निरोध रूप लाभ

पादयस्तत्र क्रोधाद्यभावात् ना पुण्य बध्नाति तथा अनादि सांसारिक जाति जरा मरण वेदना जिघान प्रति प्रयत्नगूर्णो यतिः तदुपाये प्रवर्तमान स्वपरस्य दु खहेतुत्वे सत्यपि क्रोधाद्यभावात पापस्याबधक ।। त. रा. २६०

१ यथा दुखाभिभूतानामपि ससारिणा यत्र मनोरतिस्तत्र सौख्य तथा नशनादिकरणस्य यतेर्मनोरति सौख्य सानिध्यात् अदोष. ।। पृ २६०

२ पुरे वने वा स्वजने जने च प्रसादशृंगे द्रुमकोटरे वा ।
प्रियागनाके शिला तले वा मनोरति सौख्यमुदाहरन्ति ।।

त राजवार्तिक

नहीं लगती उसी प्रकार संयम रूपी अग्नि में कर्म रूपी ईंधन का दाह होता है, जो जीव को शीघ्र ही अनंत ज्ञान, शक्ति और आनंद के निकुंज मुक्ति-मंदिर में पहुंचाता है।

महान तप का अनुष्ठान करने वाले मुनियों के अपार कष्टों की उत्पत्ति होने से मन में खेद अवश्य होगा इसलिए उनके निर्वाण का लाभ कैसे होगा ?

भेद विज्ञानी को तपस्या का दुःख नहीं होता है

इस विषय में आचार्य पूज्यपाद का कथन बड़ा अनुभव पूर्ण है। वे लिखते हैं "आत्मा और शरीर में भेद विज्ञान उत्पन्न होने से अत्यंत आनंदित होनेवाले मुनिराज के तपस्या के द्वारा दुष्कर्म का अनुभव करते हुए भी खेद नहीं होता, उनमें वैराग्य और आत्मज्ञान की जागृति रहती है, इसलिए शरीर संबंधी पीड़ा आत्मा में रागद्वेष नहीं उत्पन्न करती। वे मुनिराज शरीर के प्रति प्रेम नहीं रखते। जिनके मन में शरीर के प्रति प्रेम है वे वास्तव में शरीर के अनुकूल सामग्री न मिलने पर दुखी हुए बिना नहीं रहते। दिगंबर मुनिराज की वृत्ति अलौकिक रहती है।"[१] आचार्य कहते हैं "जिस शरीर में मुनि का स्नेह है उससे स्नेह को दूर करके अंतर्दृष्टि के द्वारा श्रेष्ठ चैतन्यमय शरीर में अपना संबंध स्थापित करे।"[२] इससे भौतिक शरीर संबंधी स्नेह नहीं रहता। इसका क्या फल होता है ? इसके विषय में महामुनि पूज्यपाद कहते हैं "अनात्मपरिणति रूप शरीर में आत्म बुद्धिधारण करने से उत्पन्न हुआ दुःख शरीर से आत्मा की भिन्नता के ज्ञान द्वारा दूर होता है। जो आत्म स्वरूप में स्थिर रहने का प्रयत्न नहीं करता है किन्तु कठोर तप का अनुष्ठान करता है वह निर्वाण को प्राप्त नहीं करता।"[३]

महाकवि जिनसेन ने लिखा है, कि इस शरीर का एकांत रूप से शोषण कर इसका नाश न करे तथा मधुर रसों के सेवन द्वारा इसका

---

१ आत्मदेहांतरज्ञान जनिताल्हाद निर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुंजानोपि न खिद्यते ॥३३॥

२ यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम् ।
बुध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥

३ आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति ।
नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः ॥१९२॥

अधिक पोषण भी न करे ।[1] आचार्य सोमदेव कहते हैं "यह देह यद्यपि असार है, किन्तु ससार समुद्र के सतरणार्थ साधन रूप है, अत मुक्तिलता की वृद्धि के लिए निरीह वृत्ति वाले मुनियो के द्वारा यह शरीर रक्षणीय है।"[2]

कठोर तपश्चर्या का भी बडा महत्व है। जो सुकुमार जीवन बिताते हैं वे विपत्ति का आक्रमण होने पर धर्म से विचलित हो जाते है। इसलिए सकट के समय भी आत्मा दुर्बलता न आवे इसलिये पहले से ही कठोर जीवन द्वारा मन को सयत तथा शरीर को कष्ट सहिष्णु बनाना चाहिए। इस विषय में समाधिशतक की वाणी बडी महत्वपूर्ण है—

तपस्या के अभ्यास से सकट काल में स्थिरता का लाभ होता है

"कायक्लेश के बिना सुकुमार पद्धति से किया गया आत्मा और शरीर का भेद ज्ञान विपत्ति के आ जाने पर क्षीण हो जाता है अतएव मुनि का कर्तव्य है कि यथाशक्ति काय क्लेश सहन करते हुए आत्मा का चिंतवन करें।"[3]

ऐसे अभ्यास से विपत्ति का पहाड भी समक्ष आने पर तपस्वी की आत्मा विचलित नही होती। उस विपत्ति काल में उसकी विवेक ज्योति और भी अधिक निर्मल हो जाती है। तत्वार्थ सूत्र में कहा है "रत्नत्रय धर्म के पालन में जीव के परिणाम शिथिल न हो तथा कर्मों की निर्जरा हो इन दो कारणों को ध्यान में रख कर कष्ट सहन करना चाहिए।"[4] अपनी शक्ति के अनुसार कष्ट सहन करने का अभ्यास करना चाहिये। उस अभ्यास की मर्यादा यही है कि सक्लेश रूप दुर्भाव उत्पन्न न हो और विशुद्धता की वृद्धि होवे क्योंकि बधन का मुख्य कारण सक्लेश है। यदि सक्लेश भाव पूर्वक कष्ट सहन किया गया तो उससे पापो का आश्रव होता है। स्वामी समतभद्र

शक्ति के अनुसार तप हितप्रद है

---

१ 'नाप्युत्कटरसैः पोष्य'

२ ससार वधिस्तरणैक हेतु असारमप्येनमुशति यस्मात्।।
तस्मान्निरीहैरपि रक्षणीय कायः पर मुक्तिलताप्रसूत्यै ।।१२९।।
यशस्तिलक पूर्वार्ध

३ अदु खभावितज्ञान क्षीयते दु खसंनिधौ।
तस्माद्यथाबल दुःखैरात्मानभावयेन्मुनि ।।१०२।।

४ मार्गाच्यवन निर्जरार्थ परिषोढव्याः परीषहाः। ।।अध्याय ९ सूत्र ८

ने यह कहा है कि "स्व, तथा परस्थ सुख अथवा दुख यदि विशुद्धि के अंग है, तो उनसे पुण्य की प्राप्ति होती है और यदि वे संक्लेश उत्पन्न करते हैं तो पापास्रव होता है। आत्मा विशुद्ध भावना के द्वारा जिस शान्ति सुधा का पान करता है उसके समान देवताओ का भी आनंद नही है।"[१] नीतिकार कहते है "जगत मे जो कामनाओ की पूर्ति रूप सुख है तथा स्वर्ग लोक में महान सुख है वह तृष्णा के परित्याग रूप मुनियो के सुख के पोडशांश की भी समता नही कर पाता"[२]। आचार्य कहते हैं "महान मोहाग्नि के द्वारा देह्य मान इस जगत् में विषयो का संबंध त्यागने वाले तपस्वी लोग सुखी रहते है।"[३]

परमात्म प्रकाश में लिखा है "आत्मा के दर्शन द्वारा जो अनत सुख जिनेन्द्र भगवान को प्राप्त होता है वह आनन्द वीतराग भावना संपन्न मुनिराज राग आदि विभाव रहित शुद्ध आत्मा में प्राप्त करते हैं।"[४] इस कथन का भाव यह है कि दीक्षा ग्रहण काल मे जो शुद्ध आत्मा के अनुभवन द्वारा आनंद जिनेन्द्रदेव को मिलता है वह आनन्द वीतराग निर्विकल्प समाधिरत आत्मा को प्राप्त होता है, इंद्रिय जनित सुख शाति न दे उसकी व्यथा को और बढा देता है। वैषयिक सुख की अभिवृद्धि और तदनकूल विपुल सामग्री को प्राप्त करने वाले पुण्यशाली चक्रवर्ती इन्द्र आदि की भी तृप्ति नही होती, तब दूसरों को कथा तो निराली ही है। पचाध्यायी में लिखा है कि सम्यक्ज्ञानी जीव विषय जनित सुखो की आकाक्षा नही करता है, कारण वह जानता है कि इससे तृष्णा का रोग बढता ही है आत्मा को शाति लाभ नही होता।[५]

संयमी का लोकोत्तर आनन्द

---

१ विशुद्धिसक्लेशागं चेत्स्वपरंस्थं सुखासुखम्।
पुण्य-पापास्रवौ युक्तौ न चेदव्यर्थस्तवहितः ॥९५॥ आप्तमीमांसा

२ यच्चकामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षय सुखस्यैतं नर्हित षोडशी कलाम ॥

३ दह्यमाने जगत्यस्मिन्महता मोहवह्निना।
विमुक्त विषयासंगाः सुखायते तपोधनाः ॥

४ अप्पा दिंसाण जिणवरहं जं सुहु होइ अणतु।
त सुह लहइ विराउ जिउ जाणतउ सिउ संतु ॥११९॥

५ शक्रचक्रधरादीना केवलं पुण्यशालिनाम्।
तृष्णा बीज रतिस्तेषा सुखावप्तिः कुतस्तनी ॥

आत्मोत्थ आनन्द का रसपान करने वाले विषय विष मिश्रित सुख की ओर दृष्टि क्यों देंगे ? उनके बारे में जब वे अपना विवेक दौड़ाते हैं, तो विदित होता है कि इंद्रिय जनित सुख ऐसा ही मोहक है जैसा कि विष मिश्रित मोदक जो थोड़ासा मधुर रसास्वाद कराते हुए प्राणों का अपहरण करता है । उन सुखों में सर्व प्रथम आपत्ति यह है कि वे आत्मा के अधीन नहीं है, कर्मोदय के अधीन है । जितना और जिस प्रकार का बंध होगा, उसके अनुसार ही उदय आयगा । ये जड़ कर्म छोटे बड़े का जरा भी विवेक नही रखते हैं । तीर्थंकर भगवान तक पर इनका प्रचण्ड प्रहार नही चूकता है । "देखो ! भगवान वृषभदेव के गर्भ में आने के छय माह पूर्व इंद्र ने मुकुलित कर होकर किंकर वृत्ति धारण की थी, जो स्वयं कर्म भूमि के निर्माता थे, जिनका पुत्र भरत नवनिधि का अधिपति था, उन महान वृषभनाथ भगवान को पृथ्वी में छह माह पर्यन्त क्षुधित हो भ्रमण करना पड़ा था । अहो ! दुर्दैव के विलास किसी के द्वारा भी उल्लंघनीय नही होते हैं ।"[१]

विषमिश्रित मोदक सदृश इंद्रियों का सुख है

संसार के सुखों में दूसरी बात यह है कि वे शाश्वतिक सुख न देकर विद्युत की आभा के समान थोड़ा सा आनन्द दिखाकर विलीन हो जाते हैं, जैसे सुवास संपन्न पंकज क्षण भर में श्रीविहीन हो जाता है, उसका सौरभ नष्ट हो जाता है । जितने देर तक सुख रहता है उतने काल पर्यन्त भी पूरी साता नही मिलती, उसके मध्य में ही विविध आकुलतायें उस आनंद को दुःख रूप परणित करती है, इसके सिवाय उस सुखोपभोग में पाप के बीज पाए जाते हैं । वह सुख समता शून्य रहता है इससे वास्त-

---

१ Whom (for six months), before conception, Indra (served) with folded hands like a servant who himself (was) the organiser of all organisations, whose (Bharata) was the possessor of the (nine) treasures (Nidhis), even he the great (Rishabha Dava) wandered on earth for six months without getting food. Well, the frolics of doomed destiny (Karama) are insurmountable by anyone.

Justice J. L. Jaini

विकता के प्रकाश में इद्रियो के द्वारा प्रदत्त सुख दुख ही है।

मुनिराज के केशलोच को शरीर के प्रति क्रूरता मानना भ्रमपूर्ण है, उसमें स्वावलवन तथा अहिंसा का भाव विद्यमान है। जब आत्मा में ज्ञान और वैराग्य की ज्योति उत्पन्न हो जाती है तब लोच करना पीडाप्रद नही प्रतीत होता। केशो का लोच न कर जो लोग लम्बी लम्बी जटायें बढाते हैं उनके केशो में जीवराशि उत्पन्न हो जाती है, वह ध्यान में बाधा पैदा करती है तथा प्रमाद से उनका सहार भी सहज हो जाता है। केशो के कटाने के लिए याचना आदि का आश्रय लेने से आत्मा का गौरव नष्ट होता है। इसलिए केशलोच को तपस्या का विशेष अग माना है। इस विषय में विशेष प्रकाश आगे डाला गया है।

केशलोच स्वावलवन तथा अहिंसा का कारण है क्रूरता का नही है

यहा यह बात स्मरण रखना चाहिए कि मुनियो के मन में शरीर तथा भोगो के विषय में ममता का बन्धन दूर हो जाता है। इसलिए उन वीतराग आत्माओ को प्रिय वस्तु हर्षित नही करती और प्रतिकूल पदार्थ दुखी नही बनाते। इस नीव पर ही मुनि जीवन का विशाल भवन खडा हुआ है। यदि उनके जीवन में ममता की मलिनता आ गई तो वे असली आनन्द का रसास्वाद नही कर सकते।

मुनि जीवन का आधार समता है उसमें ममता नही

सुभाषितकार ने कहा है "जिस वस्तु में मैं ममता करता हू, उसी पदार्थ के विषय में मुझे सताप प्राप्त होता है किन्तु जिन पदार्थों से मैं ममता का त्याग करता हू, वहा ही मैं स्वभाव से संतुष्ट होता हुआ सानन्द निवास करता हू।"[१] यह बात दिगम्बर वीतराग मुनियो के जीवन में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है।

योग भक्ति का यह कथन बडा मार्मिक है "जन्म, जरा, महान रोग, मृत्यु की पीडा, पुत्रादि इष्ट वियोग से उत्पन्न शोक आदि हजारो कारणो से प्रज्वलित असह्य वेदना वाले नरक में गिरने से घबडाये हुए, विवेक सम्पन्न अर्थात हेय उपादेय सपन्न मुनिराज जीवन को जल विन्दु के समान चचल,

---

१ यस्मिन् वस्तुनि ममता मम तापस्तत्र तत्रैव।
यत्रैवा[illegible]दामे तत्र मदा[illegible] ॥

बारामती में आचार्य श्री तथा मुनि नमिसागर जी केशलोंच करते हुए।

महाराज की ७९ वी वर्षगाठ के अवसर पर ७९ फल परिपूर्ण थालियो द्वारा गुरुदेव की पूजा ।

विभूतियो को बिजली तथा बादल वत् क्षण में नष्ट होनेवाले तथा इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत के विषय में चिन्तवन कर, वे प्रशमभाव की प्राप्ति के लिए जंगल का आश्रय करते हैं और गृहवास का परित्याग करते हैं।"[1]

वैराग्यवश तपस्या पुष्पशैय्या सदृश लगती है

ऐसी भावना से प्राप्त आत्मायें तपस्या के कठिन जीवन को पुण्य शैय्या समान अनुभव करते हैं। यह मनोवृत्ति का ही अन्तर है कि शर-शैय्या मृदु पुष्प-शैया से भी अधिक अनुकूल लगती है। महर्षि पूज्यपाद कहते हैं कि आत्मविद्या के आनन्द में मग्न होनेवाले मुनियो को शरीर की सुधि लेने का ध्यान नही रहता। उनके शब्दो मे वडे गम्भीर भाव भरे हैं—"आत्मा की साधना में सलग्न तथा वाह्य जगत् से विमुख मुनिराज आत्म निमग्नता के द्वारा अवर्णनीय आनन्द का उपभोग करते हैं। वह आत्मानन्द महान कर्म रूपी ईंधन का निरन्तर क्षय करता है, उस समय वह योगी वाह्य शारीरिक बाधाओं का तनिक भी अनुभव नही करता है। अतः उसे जरा भी खेद नही होता है।"[2]

तपस्या का लक्ष्य शरीर को त्रास देना नही है

वे मुनि अपनी तपश्चर्या का लक्ष्य शरीर को कष्ट देना नही बनाते। यदि ऐसी भावना हो तो इस विद्वेषपूर्ण वृत्ति के द्वारा आत्मबंधन के चक्कर से कैसे छूटेगा ? इसलिए उनका लक्ष्य कर्मों का नाश करते हुए आत्म विशुद्धता सम्पादन का रहता है। आचार्य कहते है [3]"मन में समता के सुख को धारण कर व्रत, गुप्ति, समिति सयुक्त होते हुए वे मुनिराज मोह का त्याग

---

१ जाति जरोरुरोगमरणातुर शोक सहस्रदीपिताः।
दुःसहनरक पतन संत्रस्तधियः प्रतिबुद्ध चेतसः॥
जीवितमम्बुबिन्दु चपल तडिदभ्र समाविभूतयः।
सकल मिद विचिन्त्य मुनयः प्रशमाय वनान्त माश्रिताः॥१॥
योगिभक्ति—दशभक्ति पृ. १९०

२ आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहार बहिः स्थितेः।
जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः॥४७॥
आनदो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम्।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेस्वचेतनः॥४८॥इष्टोपदेश

३ व्रतसमिति गुप्ति सयुताः, शमसुखमाधाय मनसि वीतमोहाः
ध्यानाध्ययन वशंगताः विशुद्धये कर्मणा तपश्चरंति॥२॥योगिभक्ति

करते हैं तथा ध्यान और अध्ययन के अधीन रहते हुए कर्म नाश जनित शुद्धता के हेतु तपश्चरण करते हैं।"

गृहस्थों और सन्यासियों के धर्म में अंतर

लक्ष्य भिन्न होने के कारण मुनि जीवन की ठीक महत्ता का अनुमान विविध वासनाओं का दास गृहस्थ नही कर सकता। वासनाओं के वेग के कारण रोगी, गृहस्थ, नीरोग मुनि जीवन की महत्ता को कैसे समझेगा? दोनो का संसार विलक्षण है। गृहस्थ का मन विषय भोग मे अपने सुख को खोजता है किन्तु मुनि लोग अपनी आत्मा को ही सच्चा आनन्द भंडार मानकर बाहर नहीं भटकते। आचार्य सोमदेव लिखते हैं "गृहस्थ का धर्म सन्यासी का धर्म नहीं है और सन्यासी का धर्म कभी भी गृहस्थ का धर्म नहीं हो सकता।"[1] मुनियो का लक्ष्य लौकिक संपत्ति को छोड़कर आध्यात्मिक विभूति को प्राप्त करने का रहता है। इसीलिए वे आत्म संस्कार को अपने जीवन का मुख्य ध्येय बनाते हैं।

इन मुनियों के पवित्र जीवन को भूलकर पापी प्राणी अपवित्र प्रचार करते हैं। यदि वे सहृदयतापूर्वक इस उज्वल वृत्ति का निकट निरीक्षण करें तो उनकी आत्मा सचमुच में एक महान सत्य से परिचय प्राप्त करने के साथ पुण्य कर्म का बंध करेगी। इस सम्बन्ध में कनडी साहित्य में सुन्दर कथा है

मुनिपद के महत्व को न समझनेवाले का उद्बोधन करने वाली कथा

उससे ज्ञात होता है कि मिथ्यात्वी लोग तब तक मुनियो के विषय में विष वमन करना बंद नही करते जब तक कि वे उनके निकट संपर्क में आकर अपनी दुर्बुद्धि को न धो डालें। कहते है—एक वसुभूति नाम का ब्राह्मण था। वह अहंकार का पुंज था, तथा अपने को श्रेष्ठ समझता था। एक दिन ग्रीष्मकाल में उसके नगर में महायोगी दिगम्बर मुनिराज का शुभागमन हुआ। उन्हें देख वसुभूति ने दुष्ट भाव प्रगट किये।

उस नगर में एक धन कुबेर जिनदत्त नाम के, मुनिभक्त तथा अत्यन्त लोक-प्रिय गृहस्थ रहते थे। जब वसुभूति ब्राह्मण ने महाज्ञानी और उच्च तपस्वी मुनिराज के प्रति तिरस्कारपूर्ण वाणी का प्रयोग किया तब गुरुभक्त जिनदत्त के अन्तःकरण को बड़ी पीड़ा पहुंची। सचमुच में दुष्ट जीव अकारण सज्जनों के प्रति शत्रुता का व्यवहार करते हैं। सुभाषित के ये शब्द बड़े अनुभवपूर्ण हैं "बेचारा मृग तृण खाकर अपने प्राणों का पोषण करता है

---

१ गृहस्थ धर्मो न यतेर्यतेर्वा धर्मो भवेन्नो गृहिणः कदाचित्।।यशस्तिलक

किन्तु शिकारी अकारण ही उसका शत्रु बन उसके प्रिय प्राणों का संहार करता है, मछली जल में रहकर अपना निर्वाह करती है किन्तु धीवर अकारण उसको मारता है, इसी प्रकार सत्पुरुष संतोष पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हैं, किन्तु दुष्ट लोग, अकारण उनके शत्रु बन उन में झूठे दोष लगाये बिना चैन नहीं लेते।"[1]

चतुर जिनदत्त ने सोचा कि इस ब्राह्मण की बुद्धि को बदलने के लिये चतुरता से कार्य करना चाहिये क्योंकि कटु व्यवहार से यह पीड़ित नागराज के समान विष उगले बिना न रहेगा। बुद्धिमान सेठ ने सोचा ये विप्रराज बहुत लालची है इसलिये उसकी बुद्धि को रजत मुद्रा ही ठीक कर सकेगी। जिनदत्त ने कहा "पंडितराज! यदि तुम केवल एक सप्ताह दिगम्बर मुनि के समान जीवन व्यतीत करो तो तुम्हे सहस्त्र रजत मुद्रा पुरस्कार में दूंगा।"

वसुभूति के लालची मन ने इस प्रसंग से लाभ उठाने का निश्चय किया और कहा "सेठ जी दिगंबर जैन मुनि के जीवन में तनिक भी महत्ता नहीं है, मैं हंसते खेलते आपके मुनि का पद एक सप्ताह पालने को तैयार हूँ।" अब बात पक्की हो गयी।

जिनदत्त के कथनानुसार वसुभूति ने अपना दिगंबर रूप बना लिया। जब वसुभूति के सामने अपने हाथों से केशलोंच करने का प्रत्यक्ष अवसर आया तब वह घबड़ा गया। बालों के खेंचे जाने पर वह रासभ-राग से रोने लगा। सेठ जी ने उसे मौन धारण करने को कहा, किन्तु तत्वज्ञान शून्य रहने के कारण वह इस परीक्षा में उत्तीर्ण न हो पाया। अस्तु, चतुर सेठ ने दिग-बर रूपधारी अभिनयकारी वसुभूति को बताया कि हमारे मुनिराज खड़े होकर मौन सहित अपने करतल में भोजन करते हैं और उसके बाद चौबीस घंटे तक पानी भी नहीं पीते हैं। उस दिन चतुर सेठ ने विविध प्रकार के व्यंजनों से मुनिवेषी विप्रराज का सत्कार किया।

वह ब्राह्मण अत्यंत मधुर भोजन को प्राप्त कर सोचने लगा कि इस अवसर पर नीतिकार के इस कथन के अनुसार काम करना चाहिये- "अरे मूर्ख पराया अन्न प्राप्त कर शरीर पर कोई दया मत कर। दूसरे के यहा का माल दुर्लभ है। प्राण तो जन्म जन्म में प्राप्त होते हैं।"[2]

---

१ मृगमीनसज्जनानां तृण-जल-संतोष-विहित वृत्तीनाम्।।
लुब्धक-धीवर-पिशुना निष्कारण-वैरिणो जगति।।

२ परान्नं प्राप्य दुर्बुद्धे मा प्राणेषु दयां कुरु।
दुर्लभानि परान्नानि प्राणा: जन्मनि जन्मनि।।

विप्रराज ने इतना भोजन किया कि पेट मे जरा भी स्थान खाली नही रहा। भोजन के उपरान्त सेठ जी ने वसुभूति को एक ऐसे स्थान में रक्खा जहा ग्रीष्म का सताप प्रत्येक को शांत नही रहने देता था । सूर्य ने उस स्थान को आग की तरह गर्म कर दिया । उष्णता की अमर्यादित वृद्धि हुई, इसलिये गृद्धता पूर्वक खाये गये भोजन ने भयकर प्यास उत्पन्न की । उस समय वह पानी मागने लगा । जिनदत्त सेठ ने कहा "चोवीस घंटे तक जल की बूद भी मुनिजीवन के लिए विष के समान है ।"

उस समय वसुभूति का ध्यान सहस्र रजत मुद्राओ की ओर जाता था साथ ही प्यास की वेदना उसे विकल बना रही थी । वह पानी से निकाली गयी मछली की तरह तडफने लगा और जमीन पर गिर घबडाकर चिल्लाने लगा। कुछ घटे कष्ट पूर्वक व्यतीत किये, बाद में उसे प्राणान्त पीड़ा प्रतीत होने लगी । अब वसुभूति को अनुभव हुआ कि दिगबर जैन मुनियो की जो मे निन्दा करता था वह मेरी भयंकर भूल थी। उनके समान ससार में श्रेष्ठ साधु और कहां है ? सचमुच में हम जैसे पापी पुरुष उसे क्षण भर भी नही पाल सकते है वह तो सिंह वृत्ति है, दुर्बल मन वाले उसे कैसे पाल सकते है ? हमारा कर्तव्य ऐसे महापुरुषो की सेवा तथा भक्ति करने का है।

इस प्रकार सोचकर उसने जिनदत्त सेठ से कहा, 'सेठ जी मैं जो आपके गुरु की निन्दा करता था वह मेरा अज्ञानतापूर्ण कार्य था। अब मुझे अनुभव मिला कि जैन मुनि के सदृश तपश्चर्या और पवित्रता का सरक्षण दूसरी जगह नही है । जब मैं क्षण भर में ही घबडा गया तब मै सप्ताह भर उस रूप को धारण करने की प्रतिज्ञा का निर्वाह नही कर सकता । इसलिए आप मुझे क्षमा कीजिये । मुझे आपके रुपये नही चाहिये। आपने जो मुझे ज्ञान दिया मैं तो उसे ही सच्ची सपत्ति मानता हूँ ।"

अब वसुभूति मुनि-भक्त बन गया । उस समय वह कहने लगा "इन मुनियो के समान जगत में पवित्र कोई नही है" । इस प्रकार जिनदत्त की चतुरता ने दुष्ट वसुभूति को एक भद्र भक्त बना दिया ।

अतः विवेकी मानव का कर्तव्य है कि इन मुनियो के विषय में सदा सहृदयता का व्यवहार करें जिससे इस ससारी प्राणी का जीवन पवित्र हो और वह इस ससार सिन्धु में डूबने से बचकर कल्याण को प्राप्त करे ।

साधु और भिखारी में अंतर

साधु सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करते है क्योकि उसके द्वारा वे परिपूर्ण अहिंसा की साधना करते है। वैसे तो धन वैभव विहीन भिखारी भी सर्वत्र फिरते हुए दिखाई देते है किन्तु उनके मन में पदार्थों के प्रति तृष्णा की अग्नि जला करती है इसलिए मुनियो के पैर की धूल के बराबर नही है।

कोई कोई आक्षेपक सोचते है कि दिगंबर मुनियों के पास पिच्छी तथा कमण्डलु का पाया जाना अच्छा नही लगता।

इस दृष्टि में विवेक का अभाव है। कमण्डलु पवित्रता का उप-करण है और पिच्छी जीव दया का उपकरण है; इसलिए वे आत्मशुद्धि के साधक है। रागमोह अथवा आत्मिक दुर्बलता को वे नही जगाते है। मुनियों के पास ज्ञान के साधन रूप में शास्त्र भी रहते है, क्योकि इसके द्वारा आत्मा में दूषित विचार नही उत्पन्न होते हैं। वे मुनिराज एकत्व भावना को धारण करते हुए पिच्छी कमण्डलु आदि में अनुराग नही करते है। जो अज्ञानी उन ज्ञान संयम तथा शुचिता के साधनो में आसक्त होता है, वह आत्म कल्याण से वंचित होता है।

गुणभद्र स्वामी की यह उक्ति बड़ी सुन्दर है-"आत्मन्! मनोज्ञ स्त्री आदि के विषय मे मोह त्याग करता हुआ तू संयम के साधन कमण्डलु आदि में क्यों आसक्त होता है? क्या कोई ज्ञानवान रोग के भय से भोजन का त्याग कर इतनी औषधि खायगा कि उसे अजीर्ण रोग हो जाय?"[1] इसलिए संयम के साधनों के द्वारा अहिंसा भाव का संरक्षण होने से उनका धारण करना आवश्यक कहा है। इस अहिंसा धर्म के द्वारा मुनि का जीवन पवित्र होता है और संसार में आनंद की धारा प्रवाहित होती हैं। यह अहिंसा सम्पूर्ण सद्गुणों की जननी है।

संस्कृति का एकमात्र आधार अहिंसा

सच्ची संस्कृति की पुण्यसलिला, भागीरथी उस भूतल को मंगलमय और समृद्धिपूर्ण बनाती है, जहां भगवती अहिंसा की समाराधना होती है। प्रकाश और अधकार

---

१ रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहो
मुह्येद् वृथा किमिति संयमसाधनेषु ॥
धीमान् किमामयभयात्परिहृत्य भुक्ति।
पीत्वौषधं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम्॥२२८ आत्मानुशासन

में जैसा अपरिहार्य विरोध है।

इसी प्रकार संस्कृति और हिंसा में है। तत्व दृष्टि से स्पष्ट कहा जाय तो हिंसा को वर्बरता का नामान्तर मानना उपयुक्त दिखता है। इसलिये लौकिक दृष्टि से धन, वैभव, ज्ञान, प्रभाव आदि में उन्नति के शिखर पर समासीन व्यक्ति भी यदि मास भक्षण करता है, मद्यपान करता है, शिकार द्वारा अपने मिजाज को खुश करता है, तो वह वस्तुत: उन जगली भूतो से किसी रूप में न्यून नही है, जिन्हे सभी असाम्य कहते है। जहा जीवन के प्रति आदर का भाव न हो, जहाँ दूसरो में आत्मा का दर्शन न हों, वहाँ आध्यात्मिक अंधापन तथा हृदयहीनता का सद्भाव पूर्णतया स्पष्ट है। किसी ने कहा है, "तत्वज्ञान का आदि बीज वहाँ है, जहाँ हम दूसरो के जीवन के प्रति आदर भाव रूप अंकुर का दर्शन करते हैं। तुम कैसे किसी मनुष्य को तत्वज्ञानी, दूसरे शब्दो में विवेकी और बुद्धिमान कह सकते हो, जो जीवन का विनाश करता है, और इस प्रकार अमानवीय जघन्य प्रवृत्तियो द्वारा अपनी कब्र खोदता है ? बुद्धिमत्ता तो वहाँ है, जहाँ दूसरे जीवधारियों के प्रति भाई-चारे की भावना पायी जाती है। इस प्रकाश में कथित महापुरुष, जो दूसरो के माँस पर जीवित रहते है, शुभ्र वर्णधारी जंगली बर्बर लोग है, जो असंस्कृत विद्वान कहे जायंगे। वे सुन्दर दिखने वाले, किन्तु दुष्ट बक के समान हैं। यथार्थ में सच्ची संस्कृति के लिए तो वे गिद्ध तुल्य है।"[१]

---

१ The first seed of philosophy is there where we see the sprout of respect for the life of other beings. How can you call a man philosopher, in other words a wise man who destroys life and thus digs his own grave by debasing inhuman propensities ? Wisdom is there where one regards others as his fellow beings. In this light the so-called Great men, who live upon the flesh of others are in fact lovely looking barbarians who are as a matter of fact uncultured scholars. They resemble lovely but stupid herons and they are virtually vultures for living culture.

सत्य महाव्रत

प्रायः जनसाधारण की इस प्रकार प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे संसार के सुखों मे निमग्न रहते हुए भी बिना श्रम के श्रेष्ठ त्याग सयम आदि के द्वारा साध्य श्रेष्ठ फल को पाना चाहते है। किन्तु सत्य शून्य जीवन होने के कारण वास्तविक शांति और सुख की प्राप्ति नही होती। तत्व की बात यह है कि वे व्रत और क्रियायें फलवती होती हैं जो सत्य की कसौटी पर खरी उतरती हैं, इस कारण अहिंसा महाव्रत के पश्चात् सत्य महाव्रत का वर्णन किया गया है।

जैन आगम में इस सत्य को अहिंसा का अंग माना गया है। असत्–अप्रशस्त बात का कथन करना अनृत है "असदभिधानमनृतम्।" इसके प्रतिकूल स्वरूप सत्य का है। इस सत्य के समर्थन या महिमागान में विपुल सामग्री पायी जाती है। "सत्य कण्ठस्य भूषण"–सत्य कंठ का भूषण है, "सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्"[2]-सबकी प्रतिष्ठा सत्यके आधीन है, "सत्यमेव जयते"–सत्य की ही अतिम विजय होती है, "सत्यं शिव सुन्दरम"–सत्य कल्याणमय है, सौन्दर्य रूप है।

साच बरोबर तप नही झूठ बरोबर पाप।
जाके हिरदे साच है ताके हिरदे आप॥

गाधीजी बहुधा कहा करते थे–Truth is god सत्य ईश्वर स्वरूप है। गान्धी जी के प्रिय त्रिभुज में ईश्वर तथा मानवता के साथ सत्य का समावेश था। वे सत्य को अहिंसा का पिता मानते है।[3]

जैन दृष्टि अहिंसा को जननी कहता है। अहिंसा के जननी

---

१ हस्तस्य भूषण दानं, सत्यं कठस्य भूषणं
श्रोत्रस्य भूषणं शास्त्र भूषणे कि भूषणम्॥

२ सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः।
सत्येन वायवो वाति, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

३ From truth non-violence is born.
L. Fisher: Life of Mahatma Gandhi P.303

आचार्य का कथन है, "समस्त असत्य कथन का कारण प्रमत्तयोग (सकषाय भाव) है। अत प्रमत्तयोग के अभाव होने से हेय और उपादेय बातो के विषय में कथन करना असत्य नही है।"[1] इसका तात्पर्य यह है कि सत्य महाव्रती मुनीन्द्रो के द्वारा हिसा आदि हेय पदार्थो तथा जीवदया आदि उपादेय बातो के समर्थन में किया गया प्रतिपादन पापी प्राणियो को अत्यत सतापप्रद लगता है, वे दुखी भी होते हैं किन्तु इसका मूल कारण प्रमाद भाव नही है। इससे यह असत्य नही माना जाता।

शाब्दिक दृष्टि से जो बात जैसी है उसे उसी प्रकार से कहना सत्य है, किन्तु यदि वह अहिसाके विरुद्ध है तो तात्विक दृष्टिसे असत्य माना जायगा। उदाहरणार्थ–एक शिकारी हरिणो के मारने की भावना से उपयुक्त जगल की खोज में फिर रहा है। कोई सत्यभक्त उसे उसके इष्ट वन को बता दे, तो इससे शाब्दिकसत्य का रक्षण दिखते हुए भी जननी अहिसा का पोषण नही होता क्योकि यह कथन सावद्य वचन है[2] अतएव सत्य को सुयोग्य सुत स्वीकार करने पर सर्वत्र सुव्यवस्था और सतोष होगा। इससे विपरीत मानने पर कृत्रिम सत्य

पैशुन्य–हास–गर्भं–कर्कशमसमजस प्रलपित च।
अन्यदपि यदुत्सूत्र तत्सर्वं गर्हित गदितम् ॥ ९६॥
छेदन–भेदन–मारण–कर्षण–वाणिज्य चौर्य्य वचनादि।
तत्सावद्य यस्मात् प्राणि–वधाद्या प्रवर्तन्ते ॥ ९७॥
अरतिकर भीतिकरं खेदकर वैर–शोक कलहकर।
यदपरमपि तापकर परस्य तत्सर्वमप्रिय ज्ञेयम् ॥९८॥
सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैक हेतुकथन यत्।
अनृतवचनेपि तस्मान्नियत हिसा समवतरति ॥९९॥

'पुरुषार्थ सिध्युपाय.'

१ हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकल–वितथवचनानाम्'
हेयानुष्ठानादेरनुवदन भवति नासत्यम् ॥१००॥

पुरुषार्थ सिध्युपाय

२ इस प्रसग में महान चिन्तक तथा प्रकाड पण्डित लोकमान्य तिलक का कथन विशेष उद्बोधक है। उनने 'गीता रहस्य' (पृष्ठ ३२) में लिखा है—'क्या इस बात की कभी कल्पना की जा सकती है कि जो सत्य इस प्रकार स्वयसिद्ध और चिरस्थायी है, उसके लिये भी कुछ अपवाद

क्या सत्य की जननी अहिंसा है ?

मानने पर सपूत सत्य को माता के अनुशासन में रहना होगा, अतएव वह सत्य अपनी जननी अहिंसा के नाशार्थ प्रवृत्ति नहीं करेगा। अहिंसा को सत्य की जननी न मानने के कारण ही गांधी जी की अनेक बातें जैनियों की अहिंसात्मक विचार प्रणाली से टकराती रही हैं। इसी कारण सत्य भक्त गांधी जी को गोवत्स के प्राणघात् कराने पर भी हिंसा नहीं दिखी। बन्दरों के मरवाने में भी उन्हें हिंसा नहीं प्रतीत होती थी। इसी प्रकार सत्यवादी हरिश्चन्द्र का स्वप्न में राज्यदान के उपरांत जागृत अवस्था में उसकी पूर्ति करने में चाण्डाल की सेवा वृत्ति तक करना, राजा शिवि का अपने शरीर को काट काट कर कपोत को मांस खिलाने का कार्य सत्य भक्ति के सुन्दर उदाहरण माने जा सकते हैं, किन्तु इन कार्यों में स्वदया और परदया का सम्यक् संरक्षण न होने से वह जननी अहिंसा के अनुकूल नहीं हैं। जैन दृष्टि उस सत्य को साधक के योग्य बताती है जो अहिंसा से द्वंद न कर उसका संरक्षण करता है। स्वामी समंतभद्र ने लिखा है" जिसमें व्यक्ति स्थूल असत्य बात नहीं कहता है और न कहलाता है, जिसमें स्वघात रूपी विपत्ति आती है, उस प्रकार का सत्य भी नहीं कहता है, उसे सन्तों ने स्थूल झूठ का त्याग कहा है।"[1]

अमृतचन्द्र सूरि का कथन है 'गर्हित, अवद्यसंयुक्त तथा अप्रिय वचन भी सत्यव्रत की मर्यादा के बाहर है। गर्हित वाणी वह है, जो दुष्टता-पूर्ण, हास्य युक्त, कर्कश, मिथ्या प्रलाप रूप है तथा जिनेन्द्र की वाणी के विपरीत है। सावद्य वचन वह है, जो छेदना, भेदना मारना, कर्षण, करना, चोरी करना तथा वाणिज्य रूप प्राणघात से सम्बन्धित हो। कारण इनसे जीवों की हिंसा में प्रवृत्ति होती है। प्रेम का विघात करने वाले, भय जनक खेद प्रद, वैर शोक तथा कलह के उत्पादक आदि पर संतापकारी अप्रिय वचन हैं इनमें प्रमत्तयोग पाया जाता है अतः असत्य वचन में निश्चय से हिंसा का सम्बन्ध होता है।"[2]

---

१ स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति, सत्यमपि विपदे।
यत्तद् वदन्ति सन्तः स्थूल-मृषावाद वैरमणम् ॥५४॥ रत्नकरंड श्रा.

२ गर्हितमवद्य संयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्।
समायन भेयामतमिद मनृतं तुरीयं तु ॥९५॥

आचार्य का कथन है, "समस्त असत्य कथन का कारण प्रमत्तयोग (सकषाय भाव) है। अतः प्रमत्तयोग के अभाव होने से हेय और उपादेय बातो के विषय में कथन करना असत्य नही है।"[1] इसका तात्पर्य यह है कि सत्य महाव्रती मुनीन्द्रो के द्वारा हिंसा आदि हेय पदार्थो तथा जीवदया आदि उपादेय बातों के समर्थन में किया गया प्रतिपादन पापी प्राणियो को अत्यत संतापप्रद लगता है, वे दुखी भी होते हैं किन्तु इसका मूल कारण प्रमाद भाव नही है। इससे यह असत्य नही माना जाता।

शाब्दिक दृष्टि से जो बात जैसी है उसे उसी प्रकार से कहना सत्य है; किन्तु यदि वह अहिंसाके विरुद्ध है तो तात्विक दृष्टिसे असत्य माना जायगा। उदाहरणार्थ-एक शिकारी हरिणो के मारने की भावना से उपयुक्त जगल की खोज में फिर रहा है। कोई सत्यभक्त उसे उसके इष्ट वन को बता दे, तो इससे शाब्दिकसत्य का रक्षण दिखते हुए भी जननी अहिंसा का पोषण नही होता क्योकि यह कथन सावद्य वचन है[2] अतएव सत्य को सुयोग्य सुत स्वीकार करने पर सर्वत्र सुव्यवस्था और संतोष होगा। इसमें विपरीत मानने पर कृत्रिम सत्य

पैशुन्य-हास-गर्भं-कर्कशमसमजस प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्र तत्सर्वं गर्हित गदितम् ॥ ९६॥
छेदन-भेदन-मारण-कर्षण-वाणिज्य चौर्य वचनादि।
तत्सावद्य यस्मात् प्राणि-वधाद्या प्रवर्तन्ते ॥ ९७॥
अरतिकर भीतिकरं खेदकरं वैर-शोक कलहकरं।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥९८॥
सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैक हेतुकथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियत हिंसा समवतरति ॥९९॥
'पुरुषार्थ सिद्ध्युपायः'

१ हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकल-वितथवचनानाम्'
हेयानुष्ठानादेरनुवदन भवति नासत्यम् ॥१००॥
पुरुषार्थ सिद्ध्युपायः

२ इस प्रसंग में महान चिन्तक तथा प्रकाड पण्डित लोकमान्य तिलक का कथन विशेष उद्बोधक है। उनने 'गीता रहस्य' (पृष्ठ ३२) में लिखा है—"क्या इस बात की कभी कल्पना की जा सकती है कि जो सत्य इस प्रकार स्वयंसिद्ध और चिरस्थायी है, उसके लिये भी कुछ अपवाद

के रूप में जीवघात तथा पाप प्रवृत्तियों का पोषण होने से आत्मा दुर्गति को प्राप्त करेगी, क्योंकि आत्म परिणामों का घात तथा प्राणियों का संहार होने से उस सत्य की असत्य के समान स्थिति होगी। अतएव वह सत्य ही सच्चा और कल्याणकारी होगा, जो जननी अहिंसा की अभिवंदना करता है।

स्वभाव रूप सत्य है

दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो स्वभाव को सत्य और विभाव या विकृति को असत्य कहा जा सकता है। अहिंसा और आत्मविजय के पथ से, विभाव की विभीषिका से बचकर स्वभाव की अविनश्वर एवं अपराजित अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। स्वभाव रूप सत्य स्थिति की उपलब्धि निमित्त रत्नत्रय का मार्ग अपनाना होगा। दिगम्बरत्व के द्वारा सत्य स्वरूप की अभिव्यंजना होती है। जिस प्रकार मेघादि के आवरण आने पर सूर्य का दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार वस्त्रादि परिग्रह का आवरण रहने से शुद्ध आत्मत्व की उपलब्धि नहीं हो पाती। श्रेष्ठ सत्य की साधना के लिये दिगंबरत्व तथा वीतरागता को हृदयगम करना अनिवार्य है। विकृति के आवरण निमित्त वस्त्र धारण किया जाता है।

शीत आदि की बाधा न सह सकने के कारण असमर्थ व्यक्ति वस्त्र धारण करते हैं। जो आत्मा विकार विजेता है, दुर्बल तथा दूषित भावों से दूर है वह निरावरण सत्य रूप दिगम्बर मुद्रा को धारण करता है। पूर्णतया दिगंबर हुए विना जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा कैसे हो सकती है? विविध वेशभूषा से अपने असली स्वरूप को ढाकना असत्य की पूजा कही जायगी।

उत्कृष्ट सत्य मौन वृत्ति में है

जो आत्मा तत्वज्ञान के सिन्धु में निमग्न है तथा सत्य का साक्षात्कार कर रहा है, वह तो वाणी का आश्रय छोड मौन द्वारा सत्य की उपलब्धि करता है। इसका

होंगे? परन्तु दुष्ट जनों से भरे हुए इस जगत का व्यवहार बहुत कठिन है। कल्पना कीजिये कि कुछ व्यक्ति चोरों से पीछा किये जाने पर आपके सामने किसी स्थान पर जाकर छिप रहे। इसके बाद में तलवार लिये चोर आपके पास आकर पूछने लगे कि वे आदमी कहा चले गये? ऐसी अवस्था में आप क्या करेंगे? क्या आप सच बोलकर सब हाल कह देंगे या उन निरपराध मनुष्यों की रक्षा करेंगे? शास्त्रों के अनुसार निरपराध जीवों की हिंसा को रोकना सत्य ही के समान महत्व का धर्म है।"

कारण है, दृश्यमान जगत चक्षु इंद्रिय के गोचर होता है और वह रूप को ग्रहण करती है, रूप पुद्गल का गुण है, जीव का नहीं, जीव का स्वरूप ज्ञान है। यह चक्षु इंद्रिय गोचर नहीं, अतएव जो रूपी पदार्थ नयन गोचर होता है वह ज्ञान शून्य पुद्गल है। ज्ञानमय आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसी स्थिति में नयनगोचर ज्ञान-शून्य वस्तु के साथ वार्तालाप करना तत्वज्ञानी को अयोग्य दिखता है।

जिस आत्मा के साथ जीव का अनादि से परिचय नहीं हुआ उस परमप्रिय निधि का दर्शन होने पर योगी मौन की अखंड साधना के लिए लोक संपर्क तक से बचने का अभ्यास करता है। प्रतीत होता है कि इसी कारण तीर्थंकर भगवान मुनिपद धारण करने के पश्चात् अखंड मौनी बनते हैं। इसी से आचार्य जिनसेन ने सहस्त्रनाम पाठ में भगवान को 'महामौनी' कहा है।[1] पूज्यपाद स्वामी कहते हैं "लोगों के संसर्ग से वचन की प्रवृत्ति होती है; उससे मन में चंचलता आती है, उससे चित्त में अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं, अतः योगी का कर्तव्य है कि वह लौकिक व्यक्तियों के संपर्क से बचें।"[2]

प्रारम्भिक अवस्था में योगी को जगत उन्मत्त सदृश दिखता है किन्तु आत्मा का सम्यक् अभ्यास होने पर उसे वहीं जगत काष्ठ और पाषाण के समान प्रतीत होता है। प्रारब्ध योगी की अवस्था में विश्व विविध विकल्पों का जाल दिखता है किन्तु योग में निपुण होने पर साधु को संसार काष्ठ आदि की भांति निश्चेष्ट प्रतीत होता है।[3] आचार्य कहते हैं, "वह योगी अत्यधिक स्वावलम्बी बन जाता है, अपने सत्यज्ञान की किरणों के प्रकाश में उसे आत्मा और परमात्मा में भिन्नता नहीं दिखती इसलिए वह अपनी ही आत्मा की आराधना करता है" उसका अनुभव इस सत्य को प्रकाश में लाता है कि[4] जगत के

सत्य के प्रकाश में योगी की दृष्टि

१ महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महादमः ॥ सहस्त्रनाम पाठ

२ जनेभ्यो वाक् ततःस्पन्दो मनसश्चित्त-विभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥

३ पूर्वं दृष्टात्मतत्वस्य विभात्युन्मत्तवत् जगत् ।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत् ॥८०॥

४ देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः ।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत ॥१४॥ समाधिशतक

साथ जो पुत्र कलत्र आदि का सम्बन्ध है वह व्यवहार दृष्टि से है। इस अज्ञान-भाव के कारण यह जीव सबसे पहले शरीर में आत्मबुद्धि धारण करता है पश्चात् शरीर के आश्रय से पुत्र माता आदि की कल्पना को जागृत करता है। इस प्रकार वह आत्मवैभव को भूल पुद्गल की विभूति को ही अपनी वस्तु मानने की भूल करता है। तत्वदृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा तथा अनुभव में आयगा कि अब तक इस शरीर को अपना मानकर भयकर भूल की है। मैं तो ज्ञान रूप शरीर धारण करने वाला सदा आनंद के पुज रूप हूँ, मेरा कोई बाह्य कुटुम्बी या बधु बान्धव नहीं है। मेरी आत्मपरिणति ही जननी है, वही जनक है, बधु है, भाई है, सब कुछ है। इसीलिए विवेक ज्योति के जगने पर वह तत्वज्ञ, ससार के प्रपच से छटने के लिए, अपने कुटुम्बियो से कहता है–

"हे इस शरीर के उत्पन्न करने वाले पिता के आत्मा! हे इस शरीर के उत्पन्न करने वाले माता के आत्मा! यह आप दोनो जानते है कि मेरा आत्मा आपके द्वारा नहीं उत्पन्न हुआ है इसलिए आप दोनो मुझ आत्मा को छोडिये। यह आत्मा आज भेद-विज्ञान-ज्योति को प्राप्त कर चुका है तथा यह अपने अनादि जनक के पास जाना चाहता है।"[1]

चार प्रकार का असत्य

सत्यव्रत के पालनार्थ चतुर्विध असत्य का परिहार करने का जैनागम में वर्णन है। असत्य का प्रथम भेद सत् पदार्थ का असत् रूप से प्रतिपादन करना है। जिस वचन में स्व क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से विद्यमान वस्तु का निषेध किया जाता है वह प्रथम असत्य है, जैसे यहा 'देवदत्त' नहीं है। यद्यपि देवदत्त नाम का पुरुष विद्यमान है, फिर भी उसका स्व क्षेत्र काल तथा भाव द्वारा अभाव बताना असत्य का प्रथम भेद है।[1] इसमें सत् का प्रतिषेध किया गया है।

अहो इद जन-शरीरजनकस्यात्मन्! अहो इद जनशरीर जनन्या आत्मन्! अस्य जनस्यात्मा न युवाभ्या जनितो भवतीति निश्चयेन युवां जानीत। तत इममात्मान युवा मुचत। अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योति आत्मान मेवात्मनोनादिजनकमुपसर्पति ॥" *प्रवचनसार चारित्र अधिकार*- पृ. २८२

१ स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु।
तत्प्रथममसत्य स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥९२॥ पु सि

अनगार धर्मामृत में सत् के प्रतिषेध रूप असत्य का उदाहरण-मनुष्यों की अकाल में मृत्यु नहीं होती है इस सत्य बात के निषेध रूप वाक्य को बताया है कारण विष वेदना आदि के द्वारा अकाल मरण का सद्भाव सिद्ध है। असदुद्भावन नामक दूसरे भेद का वर्णन इस प्रकार करते हैं-

जिस वचन में पर क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा भी असत रूप वस्तु का सत रूप उद्भावन किया जाता है, वह द्वितीय अनृत असत्य है, यथा यह कहना कि यहाँ घडा है, यद्यपि यथार्थ में यहाँ घडे का अस्तित्व नहीं है।[1]

असत् के उद्भावन का उदाहरण अनगारधर्मामृत में इस प्रकार लिखा है "पृथ्वी पर्वत आदि का निर्माण ईश्वर के द्वारा हुआ है।" यह बात सत रूप नहीं है, फिर भी इस बात का कथन करना दूसरा असत्य का भेद है।

विपरीत कथन रूप भेद का इस प्रकार निरूपण करते हैं-

जिस वचन में स्वरूप से विद्यमान भी वस्तु का पररूप से अर्थात् विपरीत रूप से कथन किया जाता है वह तीसरा असत्य का स्वरूप है, जैसे गाय को घोडा कथन करना।[2]

चतुर्थ भेद निंद्य वचन का कथन करना कहा गया है। उसके सावद्य, अप्रिय तथा गर्हित इनतीन भेदों पर प्रकाश डाला जा चुका है।

तात्विक विचार के प्रकाश से यह ज्ञात होगा कि जब तक यह जीव कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र का श्रद्धान नहीं त्यागेगा और यह द्रव्य में आत्मबुद्धि का अभ्यास करता जाएगा, तब तक यथार्थ सत्य भाव का उदय नहीं होगा। मिथ्यात्व के सद्भाव में कैसे सत्य की स्वीकृति होगी। जैसे मधुर दुग्ध कटुक तुम्बी में रखे जाने से आधार दोष वश कटु हो जाता है, इसी प्रकार अतत्व में तत्व बुद्धि धारण करने वाली आत्मा में पाए जाने वाले सद्गुणों का विपरीत परिणमन होता है और वे इस आत्मा को संसार सिंधु के पार नहीं पहुंचाते। थोडा सा इंद्रिय जनित सुख या लोक में सन्मान

सत्य के लिए स्याद्वाद आवश्यक है

---

[1] असदपि हि वस्तु रूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः ॥९३॥

[2] वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाश्वः ॥९४॥

मिल जायगा किन्तु अंत में मिथ्यात्व इस जीव के पंच परावर्तन के परि भ्रमण को अनवरत जारी ही रखेगा। अतः जिनेन्द्र देव के स्याद्वादमय शासन से प्रकाश पाए बिना परमार्थ सत्य का दर्शन नही होता। जगत में विख्यात व्यवहारिक सत्य है।

पुराणों में कहा है कि सत्य का साथ न देने के कारण राजा वसु को नरक का पात्र बनना पड़ा था। घटना इस प्रकार की थी। क्षीर कदम्ब उपाध्याय के पास पर्वत, नारद तथा राजपुत्र वसु ने वेद वेदांग का अभ्यास किया था। उपाध्याय की मृत्यु के पश्चात् पर्वत और नारद में 'अजैर्यष्टव्य' इस वेद मंत्र के अर्थ के विषय में विवाद उत्पन्न हो गया। नारद का कथन था 'अज' शब्द का अर्थ है 'पुराना धान्य'। पर्वत कहता था, इसका अर्थ 'बकरा' है। यज्ञ में बकरे का बलिदान करे, यह बात अहिंसा विद्या के विरुद्ध है इस विषय में पर्वत ने विचार न करके यह जिद् करली कि वेद मंत्र का यही अर्थ है कि अज अर्थात बकरे का बलिदान करे। नारद को यह अनीतिपूर्ण अर्थ अकल्याणकारी ज्ञात हुआ, अतः उसने इसका विरोध नही छोडा। विवाद के उग्ररूप धारण करने पर यह विचार उपस्थित हुआ कि उपाध्याय के पास शिक्षा प्राप्त करते समय वसु भी विद्यमान था। अत. राजा वसु द्वारा सम्मत अर्थ सत्य माना जाय। यह निश्चय हुआ। पर्वत की माता को जब यह ज्ञात हुआ, कि उसका पुत्र अनीति के पथ पर है और वह अपना पक्ष नही छोडता तब उसने पुत्र मोहवश राजा वसु पर जाल फैलाया और उपाध्यायानी के नाते पर्वत के पक्ष का समर्थन करने का जोर डाला। राजा वसु ने न्याय की बात भुलाकर मोहवश राजसभा के सभ्यो के समक्ष यह घोषणा की कि मंत्र का जो अर्थ पर्वत करता है, वही सत्य है। इस प्रकार असत्य भाषण द्वारा हिंसात्मक प्रवृत्ति का पोषण करने के कारण राजा वसु का आसन भूतल में धस गया और वह मरणकर नरक पहुंचा।

असत्य से वसु राजा का पतन

यह तो भयकर असत्य का दुष्परिणाम हुआ। थोडा सा असत्य मिश्रित कथन करने से धर्मराज युधिष्ठिर का अपयश आज तक भी लुप्त नही हो पाया। प्रसिद्ध कथानक इस प्रकार है —

अल्प असत्य से धर्मराज के यश को लांछन

'कौरव पाडवो का महाभारत युद्ध भीषणता पूर्वक चल रहा था। पाण्डवो के सर्व प्रयत्न फलप्रद नही हो रहे थे। द्रोणाचार्य के शस्त्र ने पुण्य के समक्ष पान्डवो का

पराक्रम अकार्यकारी हो रहा था। उस समय सब के चित्त में एक बात आई कि ऐसा कोई उपाय किया जाय जो दोणाचार्य को युद्ध कार्य से विरत कर दे। यह ज्ञात हुआ, कि आचार्य देव की यह प्रतिज्ञा है, कि प्रिय पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु होने के उपरान्त वे शस्त्र संचालन बन्द कर देंगे।

उस समय एक अश्वत्थामा नाम के हाथी की मृत्यु हुई। यह देख पाण्डवों ने हल्ला मचाया कि आचार्य पुत्र अश्वत्थामा युद्ध में मारा गया। द्रोणाचार्य ने यह संवाद सुनते हुए भी उस पर विश्वास नहीं किया और अपना नर संहार का क्रम वेग से जारी रखा। दोणाचार्य ने कहा यदि धर्मराज युधिष्ठिर यह कह दें कि अश्वत्थामा मारा गया तो मैं धर्मराज की बात को सत्य मानूंगा।

पाडव बन्धुओं ने धर्मराज पर दबाव डाला, कि वह अपने कुल की रक्षार्थ तथा पक्ष की सफलता के लिए यह कह दें, कि अश्वत्थामा मारा गया है। इष्टजनों के आग्रह और स्वार्थ के ममत्व ने धर्मराज के मन में चंचलता पैदा करदी। अन्त में उनने कहा—"अश्वत्थामा हतः", क्योंकि उस समय उस नाम का हाथी मरा ही था, साथ में हृदय ने मिथ्या भाषण करने से रोका, इससे उसने पुनः यह भी कहा "नरो वा कुंजरो वा"- वह नर है या हाथी, यह नहीं कह सकता।

गुरु द्रोण ने 'अश्वत्थामा हतः' शब्द सुनते ही शस्त्र त्याग दिया और युद्ध का पांसा दूसरे रूप में पलट गया। धर्मराज युधिष्ठिर ने मोह–ममत्व वश जो थोड़ी मिथ्या वाणी कही, उससे उनकी अपकीर्ति अब तक अव्याहत चली आ रही है। इस प्रकार असत्य का थोड़ा भी मिश्रण जब बड़ों बड़ों के गौरव को समाप्त कर देता है, तब सामान्य मानव की क्या गति होगी यह अनुमान हो सकता है।

इस वाणी में अमृत और विष दोनों का सद्भाव है। यदि इसका सम्यक् उपयोग हुआ तो वह जीवों का अनन्त कल्याण करती है और यदि इसके द्वारा पापाचार का पोषण किया गया, तो पश्चाताप और विपत्ति के सिवाय और कुछ नहीं हाथ लगता है। कहा भी है —

'सरल सरसता है वाक्य–विन्यास ही में।
गरल बरसता है वाक्य–विन्यास ही में॥'

एक कवि कहता है:—

बोली बोल अमोल है विरला जाने बोल
हृदय तुला पर तौलके, फिर मुख बाहर खोल॥

एक वाणी जिन भगवान की है, जो सपूर्ण जीवो का सताप दूर करके उनको श्रेयोमार्ग में प्रवृत्ति कराती है, अभय तथा मगल का सदेश देती है। एक वाणी रागीद्वेषी जीवा की है, जो धर्म के नाम पर जीव बध, तथा पापाचार की प्रेरणा देती है। जिन भगवान की सत्य वाणी के द्वारा ससार के प्राणियो का मोहज्वर शांत होता है। जन्म जरा मरण की व्यथा दूर होती है। वह साक्षात् अमृत पद का कारण होने से अमृत स्वरूप है। सत्य समलकृत वीतराग जिनेन्द्र का नामही सर्व कामनाओ की पूर्ति करता है। इस विषय में भैया भगवती दास कहते हैं—

वीतराग नाम सेती काम सब होंहि नीके।
वीतराग नाम सेती धाम-धन भरिये॥
वीतराग नाम सेती विघन विलाय जाय।
वीतराग नाम सेती भव-सिंधु तरिये॥
वीतराग नाम सेती परम पवित्र हूजे।
वीतराग नाम सेती शिव वधू वरिये॥
वीतराग नाम सम हितू नांहि दूजो कोउ।
वीतराग नाम नित हिरदे में धरिये॥"

वीतराग की अमृत वाणी के द्वारा बडे बडे तपस्वियो को परम बोध, श्रेष्ठ शांति का लाभ होता है अतएव सर्वदा सर्वत्र वीर तुल्य अयाचना वृत्ति का निर्वाह करने वाले बडे बडे योगीश्वर तथा तपस्वी लोग यही

सूनृतवाणी बोलने का व्रत धारण करने वालों ने उसे सूनृत वाणी कहा है, जो सत्य हो, प्रिय हो तथा हितकारी भी हो। वह मात्र सत्य होते हुए भी मिथ्या है जो अप्रिय तथा अकल्याणकारी हो।

महान आत्माओं का कथन है कि सम्पूर्ण कामनाओं की सिद्धि के हेतु सदा मानवों को कल्याणकारी मौन धारण करें, अथवा सर्व जीवों का उपकार करने वाला अत्यंत प्रिय तथा तथ्ययुक्त वचन कहें।

मूलाचार में लिखा है—"सत्पुरुष विनय रहित भाषा, धर्म विरोधी वचन पूछे जाने पर अथवा बिना पूछे जाने पर नहीं बोलते हैं।"

ऐसी परिस्थिति में मुनिराज क्या कहते हैं, यह कहते हैं। "वे मुनिराज योग्य अथवा अयोग्य वस्तुओं को नेत्रों के समक्ष आने पर देखते हुए भी दृष्टि रहित सदृश रहे आते हैं तथा कर्णेन्द्रिय के द्वारा योग्य अथवा अयोग्य बातों को श्रवण करते हुए मूक सदृश रहते हैं, मानो उनके नेत्र, कर्ण तथा जिव्हा का अभाव हो। वे मुनिराज कभी भी लौकिक कथा नहीं करते हैं।"

उनका जीवन पूर्णतया धर्म से संबंधित हो गया है, लौकिक कथाओं में पड़ने से धर्म का रक्षण न होगा और संक्लेश द्वारा आर्तध्यान, रौद्र ध्यान की वृद्धि होगी, अतः प्रयत्न पूर्वक लौकिक चर्चा के चक्कर से वे स्वयं को पूर्णतया बचाते हैं।

मुनिजन किस प्रकार की कथा करते हैं, इस सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं, "वे साधु लोग ऐसी कथाओं को करते हैं जिनमें जिनेन्द्र भगवान के द्वारा भाषित तत्त्वार्थ है अर्थात् जो रत्नत्रय धर्म का प्रतिपादन करती हैं तथा कल्याणकारिणी एवं हितदायिनी हैं, जो धर्म से संयुक्त हैं, आगम विनय

---

१ सत्यं प्रियं हितं चाहुः सूनृतं सूनृतव्रताः।
तत्सत्यमपि नो सत्यमप्रियं चाहितं च यत् ॥४,४२॥

२ मौनमेव हितं पुंसां शश्वत्सर्वार्थसिद्धये।
वचो वातिप्रियं तथ्यं सर्वसत्त्वोपकारि यत् ॥

३ भासं विणयविहूणं धम्मविरोही विवज्जए वयणं।
पुच्छिदमपुच्छिदं वा ण वि ते भासंति सप्पुरिसा ॥८७अनगार, अधिकार

४ अच्छीहिं य पेच्छंता कण्णेहिं य बहुविहाइं सुणमाणा।
अत्थंति मूयभूया ण ते करंति हु लोइयकहाओ ॥८८॥ मूलाचार

एक वाणी जिन भगवान की है, जो सपूर्ण जीवो का सताप दूर करके उनको श्रेयोमार्ग में प्रवृत्ति कराती है, अभय तथा मगल का सदेश देती है। एक वाणी रागीद्वेषी जीवा की है, जो धर्म के नाम पर जीव बध, *तथा पापाचार की प्रेरणा देती है। जिन भगवान की सत्य वाणी के द्वारा* ससार के प्राणियो का मोहज्वर शांत होता है। जन्म जरा मरण की व्यथा दूर होती है। वह साक्षात् अमृत पद का कारण होने से अमृत स्वरूप है। सत्य समलकृत वीतराग जिनेन्द्र का नामही सर्व कामनाओ की पूर्ति करता है। इस विषय में भैया भगवती दास कहते हैं –

वीतराग नाम सेती काम सब होंहि नीके।
वीतराग नाम सेती धाम-धन भरिये॥
वीतराग नाम सेती विघन विलाय जाय।
वीतराग नाम सेती भव–सिंधु तरिये॥
वीतराग नाम सेती परम पवित्र हूजे।
वीतराग नाम सेती शिव वधू वरिये॥
वीतराग नाम सम हितू नाहिं दूजो कोउ।
वीतराग नाम नित हिरदे में धरिये॥"

वीतराग की अमृत वाणी के द्वारा बडे बडे तपस्वियो को परम बोध, श्रेष्ठ शांति का लाभ होता है अतएव सर्वदा सर्वज्ञ वीर तुल्य अयाचना वृत्ति का निर्वाह करने वाले बडे बडे योगीश्वर तथा तपस्वी लोग यही *याचना करते है, आकाक्षा करते है कि जीवन के अतिमक्षणो में सत्यपूत* सत शिरोमणि की पुण्य–वाणी के कुछ बोलो का उच्चारण करने की क्षमता बनी रहे। महान आत्माओ की मगल वाणी में वह जीवन रस रहता है कि उसके द्वारा सर्व विपत्तियों का विष क्षण मात्र में दूर हो जाता है।

सतो ने रागी, भोगी, मोही, प्राणियो की पाँडित्य प्रचुर–वाणी की हवा से बचने को कल्याण प्रद बताया है कारण उनके द्वारा जीव पापो में प्रवृत्त होकर अपने पैरो पर कुठाराघात करता है। उनकी कृतियो को कुकथा या विकथा का नाम प्राप्त होता है, वे मुमुक्षु के लिए विषोपम कही गई है।

अनगार धर्मामृत में लिखा है, कि सबको सूनृत वाणी बोलना चाहिए।

सूनृतवाणी बोलने का व्रत धारण करने वालो ने उसे सूनृत वाणी कहा है, जो सत्य हो, प्रिय हो तथा हितकारी भी हो। वह बात सच्ची होते हुए भी मिथ्या है जो अप्रिय तथा अकल्याणकारी हो।

महान आत्माओ का कथन है कि सम्पूर्ण कामनाओ की सिद्धि के हेतु सदा मानवो को कल्याणकारी मौन धारण करे, अथवा सर्व जीवो का उपकार करने वाला अत्यंत प्रिय तथा तथ्ययुक्त वचन कहे।

मूलाचार में लिखा है—"सत्पुरुष विनय रहित भाषा, धर्म विरोधी वचन पूछे जाने पर अथवा बिना पूछे जाने पर नही बोलते है।"

ऐसी परिस्थिति में मुनिराज क्या कहते है, वह कहते है। "वे मुनिराज योग्य अथवा अयोग्य वस्तुओ को नेत्रो के समक्ष आने पर देखते हुए भी दृष्टि रहित सदृश रहे आते है तथा कर्णेन्द्रिय के द्वारा योग्य अथवा अयोग्य बातो को श्रवण करते हुए मूक सदृश रहते है, मानो उनके नेत्र, कर्ण तथा जिन्हा का अभाव हो। वे मुनिराज कभी भी लौकिक कथा नही करते है।"

उनका जीवन पूर्णतया धर्म से संबंधित हो गया है, लौकिक कथाओ में पडने से धर्म का रक्षण न होगा और सक्लेश द्वारा आर्तध्यान, रौद्र ध्यान की वृद्धि होगी, अत प्रयत्न पूर्वक लौकिक चर्चा के चक्कर से वे स्वय को पूर्णतया बचाते है।

मुनिजन किस प्रकार की कथा करते है, इस सम्बन्ध में आचार्य कहते है, "वे साधु लोग ऐसी कथाओ को करते है जिनमें जिनेन्द्र भगवान के द्वारा भाषित तत्वार्थ है अर्थात् जो रत्नत्रय धर्म का प्रतिपादन करती है तथा कल्याणकारिणी एवं हितदायिनी है, जो धर्म से संयुक्त है, आगम विनय

---

१ सत्य प्रिय हित चाहुः सूनृत सूनृतव्रताः।
तत्सत्यमपि नो सत्यमप्रियं चाहितं च यत् ॥४,४२॥

२ मौनमेव हितं पुंसां शश्वत्सर्वार्थसिद्धये।
वचो वातिप्रियं तथ्य सर्वसत्वोपकारि यत् ॥

३ भासं विणयविहूण धम्मविरोही विवज्जए वयणं।
पुच्छिदमपुच्छिदं वा ण वि ते भासंति सप्पुरिसा ॥८७अनगार, अधिकार

४ अच्छीहिं य पेच्छंता कण्णेहिं य बहुविहाइ सुणमाणा।
अत्यंति मूयभूया ण ते करंति हु लोइयकहाओ ॥८८॥ मूलाचार

सहित है तथा जो परलोक में जीव को सुख पहुँचाने वाली है।"

यह सत्यव्रत जितना लोकपूजित और कल्याणकारी है, उतना ही कठिन भी है। जब तक मनुष्य की अपनी प्रतिज्ञा को प्राणपण से निर्वाह करने की दृढ भावना नही होती है, तब तक इस पवित्र व्रत से डिगना सरल बात हो जाती है। जैसे बाजार में पीतल और सुवर्ण दोनों ही विक्रयार्थ आते है। पीतल को नो कोई न काटता है, न गरम करता है, न कसौटी पर कसता है, किन्तु सुवर्ण की प्रामाणिकता की परीक्षा किए बिना उसका आदान प्रदान नही होता है। इसी प्रकार सत्य का व्रत स्वीकार करते ही मानो प्रकृति प्रलोभनो तथा सकटो को परीक्षार्थ लाकर उपस्थित कर दिया करती है। प्रायः उन विपरीत परिस्थितियो के समक्ष बडे बडे लोग विचलित हो जाया करते हैं और न्याय मार्ग को छोडकर मोह-पथ में प्रवृत्ति करते हैं, किन्तु सत्यव्रती व्यक्ति अपने प्राणों का भी मोह न कर अपनी प्रतिज्ञा का सम्यक् परिपालन करते है। विपत्ति के समय वे वीतराग प्रभु तथा आत्म-शक्ति का अवलम्बन ले उस सकट के समय को बिताते है। सत्य के प्रताप से विपत्ति की घटा दूर होती है, और अंत में 'सत्यमेव जयते' का जय घोष होता है। सत्य परीक्षण से डरता नही है। 'साच को आच का क्या भय' यह कहावत भी प्रख्यात ही है। अग्नि परीक्षा से सत्य को महिमा अधिक विकास को प्राप्त होती है। सत्य को समझकर इसके ऊपर विपत्ति की अग्नि डालने पर स्वर्ण सदृश सत्य का कुछ भी नही बिगडता।

कवि कहता है—

"रे स्वर्णकार मतिमंद विवेकहीन, दे दे मुझे अगनि में वह लाभ लीन।
मेरो तो स्वर्ण गुण नित्यहि वृद्धि पावे, पै तोर कूर मुख पै उडधूर धावे॥

एक बात और, विपत्तियोके आने परही खोटे, खरे, सच्चे, झूठे का बोध होता है, अन्यथा सत्य, असत्य का विश्लेपण नही हो सकता है।

अकलक स्वामी लिखते है, 'सत्यवाचि प्रतिष्ठिता. सर्वाः गुणसंपदः' सत्य वाणी में सपूर्ण गुण सपत्ति प्रतिष्ठित है। किसी व्यक्ति के पास धन न हो, विद्या न हो और भी लोक में सम्मान पानेकीसामग्री न हो, किन्तु यदि उसके पास सत्य की निधि है, तो शत्रु तक उसकी प्रतिष्ठा करते हैं। इस सत्य के आश्रय से अनेक दोषो का स्वतः क्षय हो जाता है।

सत्य द्वारा गुणो की उपलब्धि

कहते है एक राजपुत्र था, जो कुसंगति के निमित्त से सप्त व्यसनो

में लिप्त हो गया था। उसके सुधार के जितने प्रयत्न हुए सब विफल रहे। एक बार एक दिगम्बर मुनिराज के पास वह आया। मुनिनाथ ने उसे भव्य सोचकर कहा 'वत्स! तू एक सत्य भाषण का नियम ले। यह सत्य तेरा कल्याण करेगा। उसने सोचा, साधु महाराज की बात मानने में मेरी स्वतंत्र प्रवृत्ति पर कोई बाधा नहीं है। अतः उसने यह नियम ले लिया, कि मैं सत्य बात बोलूगा।

अब वह जिस काम को जावे तो पूछे जाने पर वह उसको कैसे छुपावे ? पाप प्रवृत्ति करने वाले में सहज लज्जा का भाव उत्पन्न होता है, इससे वह छुपकर ही पाप करता है। राजपुत्र ने सत्यव्रत को स्वीकार कर लिया था अतः अपने पाप कार्यो पर वह पर्दा कैसे डाल सकता है? वह वेश्या के यहाँ जाता है, मास सेवन करने जाता है, मद्य पीने जाता है, तो यह बात सबको प्रगट होती है, इसमे उसकी आत्मा में बडा सताप उत्पन्न होने लगा। उसने सोचा, सबके समक्ष मेरे पाप प्रगट होने से लोक मे मेरी अप्रतिष्ठा बढती है और हृदय भी ऐसी प्रवृत्ति के विरुद्ध निषेध करता है। अतएव बहुत शीघ्र वह राजपुत्र मुनिराज के समीप पहुंचा और विनय की "भगवन ! आपके द्वारा दिए गए सत्यव्रत के प्रकाश में मेरी प्रवृत्ति पापो की ओर से विमुख होती है। एक तो पाप करना और फिर निर्लज्ज होकर दूसरो के समक्ष उसको प्रगट करना। मेरा इतना पतन नहीं हुआ कि पाप करते हुए मैं उसको सबके साम्हने कहने की हिम्मत करु, अतः सत्यव्रत की रक्षार्थ मुझे यही उचित दिखता है कि मैं आज से सब व्यसनो का त्याग कर दूं। मुनिराज से व्यसन त्याग व्रत को ग्रहण कर उस राजपुत्र को सर्व प्रकार का आनन्द, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति हुई। असत्य तथा कपट पूर्ण जीवनवाला राजदंड को भोगा करता है।[1]

---

१ One who adopts dishonest life and cheats is punished under section 420 for the period of seven years and is also liable to fine. Cheating has been defined in section 415,"who ever by deceiving any person fraudulently or dishonestly induces the person so deceived to deliver any property to any person or to consent that any person shall retain any property or intentionally induces a person so deceived to do or omit to do any thing which he would not do or omit, if

वास्तविक बात यह है कि सर्व व्रतों में प्राण संचार सत्य के द्वारा होता है। इस सत्य के अभाव में बड़े बड़े व्रत प्राण शून्य रहते हैं। इस युग में सत्य की अप्रतिष्ठा और असत्य की पादपूजा बढ़ रही है। इस कारण ही जगत में भौतिक विविध विकासों के होते हुए भी अशांति का दौर दौरा नजर आता है। जैन नरेश चंद्रगुप्त के शासन काल में इतनी प्रामाणिकता थी कि लोगों को अपने घरों में ताला लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी किन्तु किन्तु आज सभ्यता के शिखर पर अपने को समासीन मानने वाला संसार किस अप्रमाणिकता के अंधकूप में गिरा हुआ है कि सत्य का दर्शन पाना दुर्लभ वस्तु बन गई है। भोगों और विषयों की लोलुपता बढ़ने पर कैसे सत्य का रक्षण हो सकता है? उस समय तो पाप की प्रेरणा से वह जीव प्रतारणा के पथ पर प्रवृत्ति करता है।

व्रतों में प्राणसंचार सत्य से होता है।

इस सत्य के जीवन निमित्त स्याद्वाद विद्या की संजीविनी का सेवन श्रेयस्कर है। एकान्तवाद के धरातल पर सत्य का पौधा नहीं लहलहाता है। आचार्य नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं–अन्य दर्शनों का प्रतिपादन 'सर्वथा' कथन करने से असत्य होता है, जिनेन्द्र की वाणी 'कथंचित्'–किसी अपेक्षा से–कहने के कारण सत्य होती है।[1]

वस्तु का स्वरूप अनेक धर्मामृत है। उसका एकान्त रूप से प्रतिपादन करने से सत्य धर्म का लोप होता है। अतः सत्य की सम्यक प्रतिष्ठा स्याद्वादशासन के अविरुद्ध कथन करने में है। इस सत्य के दस भेद किए गए हैं उनका उदाहरण सहित इस प्रकार निरूपण किया गया है–

सत्य के प्रकार

१ मनुष्य में ईश्वरत्व का दर्शन न होते हुए भी ईश्वर नाम रखना नाम-सत्य है।

---

he were not so deceived and which act or omission causes or is likely to damage or harm to that person in body, mind reputation or property is said to cheat, a dishonest concealment of facts is a deception within the meaning of this section Indian Penal code.

१ पर-समयाणं वयण मिच्छं खलु होई सव्वहा वयणा।
जेणाण पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो ॥८९५ गो० कर्मकांड

२ भात को देशान्तर में चोर कहते हैं, यह जनपद सत्य है।

३ अक्ष-पाँसा आदि में यह देव है ऐसा न्याय करना स्थापना सत्य है।

४ शिर के द्वारा पर्वत का भी भेदन कर सकता हूँ, यह कथन सभावना सत्य है।

५ छद्मस्थ के ज्ञान अगोचर होते हुए भी जिनागम के अनुसार किसी वस्तु को प्रासुक कहना यह भाव सत्य है कारण इसके द्वारा अहिंसा लक्षण भाव का पालन होता है।

६ यद्यपि चावल को पकाकर भात पर्याय निष्पन्न की जाती है, किन्तु व्यवहार में यह कहना कि 'भात पकाओ' व्यवहार सत्य है।

७ 'यह बडा है' ऐसा कथन करना प्रतीति सत्य है, कारण यह कथन सापेक्ष सत्य रूप है। जो पदार्थ किसी अपेक्षा से बडा कहा जाता है, वही दूसरी वस्तु की अपेक्षा से छोटा भी कहा जा सकता है अत किसी वस्तु का बडा कहा जाना प्रतीति सत्य है।

८ पल्योपम अथवा चद्रमुखी कन्या कथन करना उपमा सत्य है।

९ चद्र में दृष्टिगोचर होने वाली कालिमा को गौणकर चद्र के धवल वर्णन का कथन करना रूप सत्य है।

१० कमल की उत्पत्ति जल, पक आदि अनेक कारणो से होते हुए भी लोक म मान्यता है कि वह जल से उत्पन्न होता है अत कमल को अबुज कहना सम्मति सत्य है।

इस प्रकार जो सत्य के दस भेद कहे गये है, उनको सत्य इस-लिए माना जाता है, कि इसके बिना जगत का व्यवहार नही बनता है। जैसे नाम निक्षेप का लिया जाय। वस्तुत धनवान का ही नाम धनपाल उचित होगा, कि तु गरीब आदमी का भी ऐसा नाम जगत् मे देखा जाता है। अतएव यहाँ गुण की विवक्षा न करके लोक व्यवहार की दृष्टि से नाम का सकीर्तन किया जाता है। इसी प्रकार अन्य भेदो का भी औचित्य अन्य कारणो से जगत् मे माना जाता है। तत्व प्ररूपणा म लोक और आगम का अविरोधीपना लक्ष्य मे रखना आवश्यक होता है अन्यथा व्यवहार में गडबडी आए बिना नहीं रहती।

जिनागम में आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, सवेदनी तथा निर्वेदनी रूप कथा चतुष्टयका वर्णन है, सत्यव्रती मुनिराज इन कथाओ को कहते है। प्रश्न व्याकरण अग मे तरानवे लक्ष, सोलहहजार पदो द्वारा इन कथा चतुष्टय का

वर्णन हुआ है।

धवलाटीकामें लिखा है "जो छहद्रव्य और नव पदार्थों के रूप का एकान्त दृष्टि और एकान्त सिद्धांतों का निराकरण रूप शुद्धि करते हुए निरूपण करती है, वह आक्षेपिणी कथा है। विक्षेपिणी कथा वह है जिसमें पर सिद्धांत के द्वारा स्व समय पर दूषित मान्यताओं का उद्भावन करके पश्चात उस दृष्टि को शुद्ध किया जाता है और स्व समय की स्थापना की जाती है तथा षट् द्रव्य और नवपदार्थ का निरूपण होता है। पुण्य फल का निरूपण करने वाली संवेजनी कथा है। वे पुण्य के फल क्या है? तीर्थंकर, गण-धर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव, विद्याधर की ऋद्धियां पुण्य के फल हैं। निर्वेदनी कथा वह है जिसमें पाप के फल का वर्णन होता है। पाप के फल क्या है? नारक-तिर्यं, कुमानुष की योनियों में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना दारिद्रयादिक की प्राप्ति पाप के फल हैं। कहा भी है—

आक्षेपिणी तत्वविधान भूता विक्षेपिणी तत्वदिगन्तशुद्धिम्।
संवेगिनी धर्मफलप्रपंचा, निर्वेगिनी चाह कथा विरागाम्॥

"तत्व के स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाली कथा आक्षेपिणी है। विक्षेपिणी कथा वह है जो तत्व के सम्बन्ध में अन्य दृष्टियों का निराकरण करती है। धर्म के फल का विस्तार पूर्वक वर्णन करनेवाली संवेगिनी कथा है। वैराग्य उत्पन्न करने वाली निर्वेगिनी कथा है।"

धवलाकार का कथन है, कि आक्षेपिणी, संवेगिनी तथा निर्वेगिनी रूप कथात्रय का सब को उपदेश देने में हानि नहीं है किन्तु विक्षेपिणी कथा उसके समक्ष नहीं करना चाहिए जिसने स्वसमय के स्वरूप की भली प्रकार अवधारणा नहीं की है। ऐसा व्यक्ति जिसने स्वसमय का अवबोध नहीं प्राप्त किया है और उसके समक्ष अन्य सम्प्रदाय की कथा की जाय तो वह व्याकुल चित्त होकर मिथ्या मार्ग का न ग्रहण कर ले, अत जिसके हृदय में जिन शासन की श्रद्धा उत्पन्न हो चुकी है, जो भोगादि से विरक्त हैं उनके ही समक्ष इस कथा का उपदेश देना हित प्रद है।

मिथ्या धारणाओं की आलोचना से सत्य को बाधा नहीं है

यहां यह शंका उत्पन्न हो सकती है, कि जैन धर्म में सत्य की जननी अहिंसा को जब बताया है तब अन्य सम्प्रदायों के दोषों का उद्भावन करने से उन धर्मवालों की आत्मा को पीडा पहुंचाने से आक्षेपिणी और विक्षेपिणी कथाओं का कहना क्यों न सत्य धर्म की प्रतिष्ठा को धक्का लगायेगा और प्रका-

रान्तर से अहिंसा धर्म को भी क्षति क्यों न पहुचावेगा ?

यह शंका योग्य नही है। जिस प्रकार व्यक्ति को कटु औषधि देने से प्रिय नहीं लगती है, किन्तु उसका परिणाम रोगोन्मूलन रूप देखकर पश्चात् वही रोगी नीरोगता के कारण सुखी होता है और औषधि को बुरा न कहकर उसका सम्मान करता है, इसी प्रकार मोह, मिथ्यात्व और अज्ञान रोग से दूषित प्राणी के हितार्थ अहिंसा–गर्भिणी, कल्याणदायिनी सम्यक्त्व सजीवनी देते हैं जो रोग की भयकर स्थिति में प्रिय भले ही न लगे किन्तु पश्चात वह जीव के जीवन में अवर्णनीय सुख और शाति की दिव्य ज्योति जगाती है। अत उन कथाओ का लक्ष्य जीव का सच्चा कल्याण करना है। तार्किक अकलक देव ने कहा है कि "मैंने जो बौध्द सिध्दात की समीक्षा की है, वह द्वेषभाववश नहीं की है, न अहकार के कारण ही की है। नैरात्म्य भाव को स्वीकार कर अपना विनाश करने वाले जीवों के प्रति करुणा भाव से ही मैंने यह कार्य किया है।"

कोई कोई यह कहते हैं, कि अपने सिद्धात की सुन्दर बातो का प्रसन्नता पूर्वक प्रतिपादन कीजिये, जो सत्य का प्रेमी आपकी बातों को पसद करेगा, वह उनको शिरोधार्य करेगा, किन्तु अन्य धर्मों की आलोचना करते समय आप अहिंसा की मर्यादा का उल्लघन कर बैठते हैं।

यह शका अहिंसा के भ्रात स्वरुप पर आश्रित है। अन्य सिद्धातो की समीक्षा का भाव अतत्वज्ञो को मिथ्यात्व के अन्धकूप से बचाने की मगल भावना है। अत यह कार्य अहिंसा दृष्टि के पूर्णतया अनुरूप होगा। लोक कल्याण के लिए ऐसी आलोचना आवश्यक भी है। साधारण दृष्टि वालो के हितार्थ पक्ष–प्ररूपण के साथ ही साथ विपक्ष की अपूर्णताओ का उद्भावन आवश्यक है। इससे सत्य को शिरोधार्य करने वालो का विश्वास सुदृढ होता है और वे विपरीत दृष्टि का आश्रय करने से होनेवाली अमगल मालिका से प्रबुद्ध होने के कारण अपने पावो पर कुठाराघात करने की बालवृत्ति से बचे रहेंगे। गुण को देखकर पदार्थ को समझ जाना विशेषज्ञानी का काम है, साधारण बुद्धि वालो को स्पष्ट विवेचन ही हितकारी है। जो बीमार व्रण में पीप पडने पर चिकित्सक के चाकू से भय खाता रहेगा, वह कैसे शीघ्र निरोगता को प्राप्त कर सकेगा ?

मिथ्या कथना की आलोचना का कारण ?

तत्वचर्चा को जिन्होने बौद्धिक विकास की वस्तु या दिमागी कसरत का अग समझ रखा है, उनकी धारणा विचित्र प्रकार की होगी, किंतु जिनकी तत्वचर्चा का लक्ष्य अपने निर्वाण का पथ प्राप्त करना है, जो मुमुक्षु की जिज्ञासा से शास्त्रो का परिचय प्राप्त करना चाहते है, वे तत्व विचार पर विविध दृष्टियो से डाले गये प्रकाश को देखकर परम परिताप को प्राप्त हुए बिना न रहेगे । सच्चा सोना तो अग्नि परीक्षण को आमत्रण देता है; खोटा सुवर्ण ही अग्नि ताप से भय खाता है । अतएव सदभावना पूर्वक तत्व विचार तथा आलोचना की अग्नि में विविध धर्मों की कथनी को डालने पर सुवर्ण तुल्य सिद्धात, समीक्षक के हृदय को आकर्षित कर लेगा ।

यही कारण है अहिंसा महाव्रती, परम वीतराग मुनीन्द्रो ने अपनी स्याद्वादमयी वस्तु विचारणा में स्वरूप की अपेक्षा पदार्थ का प्ररूपण करने के साथ अन्य दृष्टि का भी प्रतिपादन करना कर्तव्य समझा है, अन्यथा सत्य के विषय में भ्रान्ति का निवारण नही होगा ।

पच भावनाए — इस सत्य महाव्रत के सरक्षण निमित्त पचविध भावनाओ का वर्णन किया गया है—

क्रोध का, लोभ का, भीरुत्व का तथा हास्य का प्रत्याख्यान अर्थात त्याग करना तथा अनुवीचि भाषण अर्थात् आगम परपरा के अनुकूल भाषण करना ये पाच भावनाए सत्यव्रत की है[1]

क्रोध कषाय, लोभ कषाय, भय तथा हास्य के निमित्त वश यह मानव अपने मानसिक सतुलन को भूल जाता है, उस स्थिति में इसकी वाणी से ऐसे वाक्य निकल पडते है, जिनका तथ्य से तनिक भी सपर्क नही रहता है । यह मनोवैज्ञानिक सत्य है, कि उपरोक्त क्रोधादि के उत्पन्न होने पर सत्य की हत्या हुए बिना नही रहती । अत उन चारो के अर्थात् क्रोध, लोभ, भीरुत्व तथा हास्य के त्याग की परम आवश्यकता है । इन कारण चतुष्क के साथ मे पाँचवी बात भी महत्वपूर्ण है । जब तक सर्वज्ञता का पूर्ण प्रकाश नही प्राप्त हुआ है तब तक सत्य महाव्रती साधु का कर्तव्य है कि सर्वज्ञ भगवान की वाणी मे निरुपित तत्वो के

---

१ क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचि भाषण च पच॥त सू ७ ५

अनुसार भाषा व्यवहार करे। अपने ज्ञान का ऐसा वैभव दिखाने का प्रयत्न न करे जो सर्वदर्शी की तत्व देशना के साथ संघर्ष हो जाय। आगम सत्य विद्या का आगार है। उसके प्रतिकूल भाषण न करने से ही सत्य धर्म का संरक्षण होगा। स्वेच्छानुसार कथन करने से सत्य सिद्धांतो का संहार हुए बिना न रहेगा। अतः उपरोक्त पंच भावनाओं के द्वारा सत्य महाव्रत का संरक्षण करने की शास्त्रकारों की आज्ञा है। सर्व प्रथम साधु का कर्तव्य है, कि आत्म स्वरूप को वाणी के अगोचर चिंतवन करते हुए मौन धारण करे। किन्तु सदा ऐसा करने में असमर्थ होने पर सूनृत-सत्य हितकारी तथा प्रियवाणी बोले।

अस्तेय महाव्रत

सत्य के पश्चात् अचौर्य महाव्रत का स्थान है। इसे अस्तेय भी कहते हैं। तत्त्वार्थ सूत्रकारने कहा है "प्रमत्तयोग पूर्वक अदत्त वस्तु का ग्रहण करना चोरी है।" इसमें मुख्य शब्द अदत्त वस्तु का ग्रहण करना है। 'इंडियन पिनल कोड' में भी चोरी के सम्बन्ध में यही बात कही है कि जिस वस्तु पर तुम्हारा न्यायोचित स्वत्व न हो उसे छल, डकैती आदि के द्वारा ग्रहण करने में चोरी का दोष आता है।[1] आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं, "जो बिना दिये गये धन धान्यादि रूप परिग्रह का कषाय भाव पूर्वक ग्रहण करता है उसे चोरी कहते हैं। वही वध का हेतु होने से हिंसा भी है। इसमें आत्मा की पवित्र मनोवृत्ति का घात होता है।"

अचौर्य व्रत में अदत्त वस्तु का त्याग है और अपरिग्रह व्रत में परिग्रह मात्र का त्याग है, चाहे वह दत्त हो अथवा अदत्त हो। अतएव अचौर्य म अपरिग्रह गर्भित होना है" यह गान्धी जी का कथन सम्यक् नहीं है।[3] तात्त्विक दृष्टि से यह कथन निर्दोष है कि अपरिग्रह में अचौर्य का समावेश किया जा सकता है। अचौर्य व्रत म गृहस्थ को न्याय पूर्वक प्राप्त सपत्ति को रखने का अधिकार है, किन्तु अपरिग्रह में कोई भी सपत्ति नहीं रखी जा सकती। चोरी के मूल में अन्याय पूर्ण तृष्णा या लोभ का भाव है। अचौर्य व्याप्य है और अपरिग्रह व्यापक है, इसलिये अपरिग्रह में अचौर्य उस तरह समाविष्ट होता है, जिस तरह सहस्त्र में शत का अतर्भाव होता है।

जगत्पिता ईश्वर की सतानों का दूसरे का धन लेने की कल्पना भ्रम पूर्ण है

कोई कोई सोचते हैं, मालिक की बिना आज्ञा के वस्तु ले लेने में कोई दोष नहीं है। वास्तव में सब वस्तुये ईश्वर की हैं। वही इनका बनाने वाला है। अतः एक पिता की सन्तान होने के कारण सभी पुरुष भाई हैं और स्त्रियाँ बहन हैं। इसलिए एक दूसरे की चीज

---

१ अदत्तादान स्तेयम् ।। तत्त्वार्थ सूत्र

२ अवतीर्णस्य ग्रहण परिग्रहस्य प्रमत्तयोगात् यत् ।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा बधस्य हेतुत्वात् ।। पुरुषार्थ सि १०२

३ The next injunction to the ashramites is non-stealing, which implies non-possession -Life of M. Gandhi P. 331

लेने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि वह विशाल संयुक्त परिवार की (Joint Family Property) सम्पत्ति है, जिसका प्रमुख व्यक्ति परम पिता परमात्मा है।

यह धारणा भ्रमपूर्ण है कारण तर्क और अनुभव की कसौटी पर इस सुख-दुःख मय जगत के जंजाल निर्माण का भार सत, चित आनन्द रूप परमात्मा के ऊपर नहीं लादा जा सकता। यदि सर्व-शक्तिवान सर्वज्ञ परम शांत तथा दयासागर परमात्मा ने इस विश्व के निर्माण में हाथ लगाया होता, तो यह जगत शांति, सौन्दर्य और परिपूर्णता का प्रेक्षणीय मन्दिर बनता और यहां सुखी और दुःखी अथवा पाप और पापी का अस्तित्व भी न पाया जाता।

कवि अरनाल्ड ने "लाइट आफ एशिया" में लिखा है, "यह कैसे सम्भव है कि ईश्वर जगत् का निर्माण करता है और उसे दुखी रखता है कारण यदि वह सर्व शक्तिमान होते हुए भी उसे दुखी छोड़ता है, तो वह अच्छा नहीं है। और यदि वह सर्व शक्तिमान नहीं है तो वह ईश्वर भी नहीं हो सकता।"[1] गंभीर अध्ययन और निष्पक्ष चिन्तन इस परिणाम पर पहुंचाते हैं कि क्रूरता तथा विषमता पूर्ण विश्व अच्छे सुखी, सर्व शक्तिमान तथा सर्वज्ञ परमात्मा का कार्य नहीं हो सकता।[2] इसलिये जब यह विश्व अनादि निधन है और इसका निर्माता कोई परमात्मा नहीं है, तब उपरोक्त प्रश्न प्राण शून्य हो जाता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि जैनधर्म परमात्मा का अस्तित्व नहीं मानता।[3] जैन धर्म शुद्ध बुद्ध पवित्र परमात्मा

---

१ "How can it be, that Brahma,
Would make a world; and keep it miserable,
Since, if all-powerful, he leaves it so,
He is no good, and if not powerful,
He is not God." Light of Asia by Arnold

"Impartial study and mature thought lead us to to a conclusion, that this world full of barbarities and irregularities cannot be the handiwork of a good, happy, omnipotent & omniscient God".

Vide Author's preface of Maha Bandha P. 16.

३ इस सम्बन्ध में चर्चा के प्रेमी हमारे ग्रन्थ 'जैनशासन' के अध्याय 'विश्व निर्माता' के पृष्ठ २५ से ४१ तक देखें।

को मानता है तथा यह बताता है कि आत्म विश्वास, आत्म बोध तथा आत्म निमग्नता रूप रत्नत्रय द्वारा प्रत्येक व्यक्ति परमात्मा[1] बन सकता है।

थोड़ी देर के लिये शंकाकार की समझ के अनुसार यह जगत ईश्वर की क्रीड़ामय कृति मान लिया जाय तो भी दूसरो की सम्पत्ति लेने का अधिकार नही आता। सभी ईश्वर की सतति होने के कारण सर्वथा भाई और बहिन माने जायं तो फिर उनमें विवाह आदि सम्बन्ध की कल्पना अगणित अड़चनें उत्पन्न करेगी। धन लेने के लिए भाई और बहिन बना लिया किन्तु विषय वासना से प्रेरित होते हुए विवाह आदि करते समय उस सम्बन्ध की क्या अवस्था होगी अतएव यह कल्पना ठीक नही है कि--

"सबै भूमि गोपाल की या में अटक कहा।
जाके मन में अटक है, सोई अटक रहा।।"

आध्यात्मिक दृष्टि से तो पुद्गल मय धन, वैभव आदि का स्वामित्व जीव में नही माना जा सकता क्योकि पुद्गल का स्वामी जीव कैसे होगा। हां, व्यवहारनय को अपेक्षा सासारिक जीव धन-वैभव का स्वामी माना जाता है। यदि इस विषय में अव्यवस्था उत्पन्न कर दी जाय, तो सर्वत्र क्लेश, क्षोभ, अन्याय, अत्याचार आदि द्वारा महान हिंसामय परिस्थिति उत्पन्न हुए बिना न रहेगी।

विषमता का मूल कारण कर्म है समाज नही

जो यह सोचते है कि जगत में उत्पन्न आर्थिक विषमता तथा अन्य प्रकार की असमानता समाज की विशेष तथा स्वार्थ-मूलक व्यवस्था की देन है वे इस बात को नही विचारते कि विषमता का असली बीज जीव के पतित अथवा उज्वल परिणामो के द्वारा सचित किए गए पाप तथा पुण्य का परिणाम है। इसलिये जिसका यह सिद्धात है कि जब धन प्राप्ति के तीन प्रसिद्ध उपायों में

---

1 अंग्रेजी भाषा में आत्मा का वाचक 'I' तथा ईश्वरका वाचक 'God' शब्द समान रूप से बड़े अक्षरो में (Capital Letter) लिखे जाते हैं। यह सम्भवतः इस भाव को द्योतित करता है कि आत्मा और परमात्मा समान जातीय हैं, अतएव विकास प्राप्त आत्मा ही परमात्मा बना हुआ है।

'मांगो, उधार लो या चोरी करो',¹ इनमें जब दो उपाय इष्ट साधक न हो तब चोरी का मार्ग अंगीकार करना चाहिए। यह दृष्टि आत्मा का पतन करने वाली है। अपनी दुखी अवस्था दूर करने का उपाय दूसरों को दुखी करना नहीं है, बल्कि अपने दोषों का प्रक्षालन कर इस प्रकार पुण्य संचय करना है जिससे सर्व प्रकार की सिद्धियां प्राप्त हों। कोई व्यक्ति निर्धन है, लंगड़ा है, गूंगा है, अंधा है, रोगी है, इसका असली कारण उस जीव के द्वारा पूर्व में किये गए पापाचरण से संचित पाप कर्म का उदय है। जब तक इस आन्तरिक कारण की चिकित्सा नहीं की जायगी, तब तक "बाह्य साधन सफल मनोरथ नहीं बना सकेंगे। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के पेट की अंतड़ी में फोड़ा होने से पीड़ा हो रही है। उसको शांति देने के लिए बाहरी उपचार समर्थ नहीं होंगे। जब तक उस फोड़े का आपरेशन नहीं होगा, तब तक यह व्यक्ति उदर-व्यथा विमुक्त नहीं बन सकेगा। इसी प्रकार भयंकर दरिद्रता आदि की विपत्ति दूर करने के लिए जीव-दया, क्षमा-भाव, पात्र दान, निर्लोभता आदि का आश्रय लेना आवश्यक है। आचार्य उमास्वामी ने लिखा है कि "सम्पूर्ण प्राणी, व्रती पुरुषों पर अनुकम्पा धारण करना, पात्रों को दान देना, सराग संयम आदि पालन करना, क्षमाभाव तथा शुचिता के द्वारा यह जीव ऐसे कर्म का बन्ध करता है जिससे उसे सुख और साता प्रदान करने वाली सामग्री प्राप्त होती है।

भैया भगवतीदास का यह कथन बड़ा मार्मिक है। वे समझाते हैं।

वहां की कमाई भैया पाई तू यहाँ आय।
अब कहा सोच किए कछु हाथ परि है।।
तब तो विचारि कछु कियो नाहिं बंध समै।
याको फल उदय आए हम कैसे करि हैं।
अब कहा सोच किए होत है अज्ञानी जीव।
भुगते ही बनै कृत्य, कर्म कहूं टरि है।।
अब के सम्हाल के विचार काम ऐसो कर।
जाते चिदानन्द फंद फेरि में न परि हैं।

---

¹ Beg, borrow or steal

२ भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य-तत्वार्थसूत्र

धन का ईश्वर को अर्पण कर उभोग असम्यक् है

किन्हीं की यह धारणा है कि यह सम्पूर्ण सामग्री परमात्मा की सम्पत्ति है, इसलिए उसे परमात्मा को अर्पण करके उसका उपयोग करना चाहिए तथा किसी के धन की लालसा नहीं करना चाहिए। यहां अन्य की सम्पत्ति की लालसा न करने का उपदेश तो ठीक है किन्तु परमात्मा को वस्तु-अर्पण करने के बाद उसका उपभोग करना विचारणीय है। जब वस्तु दूसरे को भेंट कर दी गयी तब उस पर उसका कोई अधिकार नहीं रहता है, फिर उसका उपभोग करने वाला तर्क की भाषा में स्तेय दोष मुक्त कैसे होगा? धन आदि का लाभ पुण्यउदय से होता है इस बात को भूलने वाले अनीति पथ तक को अपनाने वाले विद्वानों को पंडित टोडरमल जी के ये महत्वपूर्ण शब्द ध्यान में सदा रखना चाहिए जिनमें कल्याण की बात बतायी गयी है—"रे पापी धन कछू अपना उपजाया तो नहीं है भाग्य तें होय है। सो ग्रंथाभ्यास आदि धर्म साधन तें जो पुण्य उपजे ताही का नाम भाग्य है। बहुरि धन होना है तो शास्त्राभ्यास किए कैसे न होगा? अर न होना है तो शास्त्राभ्यास न किए कैसे होगा। तातें धन का होना न होना तो उदयाधीन है। शास्त्राभ्यास विषै काहे को शिथिल हूजे। बहुरि सुन! धन है सो तो विनाशीक है, भय संयुक्त है, पाप तें निपजै है, नरकादि का कारण है, अर यह शास्त्राभ्यास रूपी धन है तो अविनाशी है, भय रहित है धर्म रूप है, स्वर्ग मोक्ष का कारण है सो महंत पुरुष तो धनादिक को छोड़ शास्त्राभ्यास विष लगे हैं। सो तू पापी! शास्त्राभ्यास को छुडाय धन उपजावने की बडाई करे है।"

धन के लिए लूट मार की वृत्ति पापमय है

धर्म का पथ क्षणिक लाभ का रूप धारण करने वाले लूट मार आदि करके दुखी को सुखी बनाने की प्रक्रिया को ऐसा ही अकल्याणकारी मानता है जैसे संग्रहणी रोग के बीमार को पथ्य आहार न बता चटपटी मसालेदार चीजें खिलाने वाला उसका महान अकल्याण करता हुआ दुःख की वृद्धि करता है। इसलिए विषमता की परिस्थिति जनित व्यथा दूर करने का उपाय क्रूरता का अवलंबन ले धनवान को धमकी दे उसका धन लेना अथवा उसका प्राणघात करना तथा उस धन को आपस में बांट लेना नहीं है। अतः किसी भी स्थिति में चोरी का आश्रय करना जीव के लिए हितकारी नहीं कहा जा सकता। विपत्ति काल में धैर्य धारण करना

पवित्र जीवन बिताना तथा उद्योग करना निश्चय से संकट की निशा को दूर कर प्रकाशपूर्ण स्थिति को पहुंचाते हैं। अपनी हीन परिस्थिति के लिए दूसरों को दोष न दे स्वयं को उत्तरदायी मान उद्योग करना पुरुषार्थी का काम है।

दैविक वस्तु का उपभोग दुख-वर्धक है

स्वामी कुंदकुंद ने रयणसार में लिखा है "देवपूजा तथा दान की संपत्ति का हरण करने वाला पुत्र, स्त्री रहित होता है। वह दरिद्र लंगड़ा, गूंगा, बहरा, अंधा होता है तथा चान्डाल आदि के कुलों में जन्म धारण करता है।"[1]

यह जीव धनधान्य हीन हो अंगोपांग आदि रहित होकर जो दुःख पाता है उसका कारण यह है कि उस जीव ने पूर्व में दूसरे प्राणियों को पीड़ा दी, उनको संतप्त किया तथा उनका प्राणघात किया है। सूत्रकार के शब्द ये हैं "स्व, पर तथा स्वपर को दुःख शोक, ताप आक्रन्दन वध तथा परिदेवना के द्वारा असाता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है।"[2] इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है-अयोग्य सामग्री-प्राप्त होने पर पीड़ित होना दुख है। इष्ट के वियोग होने पर खेद के परिणाम होना कठोरवाणी आदि के द्वारा अंतःकरण के कलुषित होने से संतापरूप परिणाम को ताप कहते हैं। संताप के कारण अश्रुपातपूर्वक रुदन करना आक्रन्दन है। प्राणों का घात करना वध है। दूसरों के हृदय में भी करुणा उत्पन्न हो इस प्रकार रुदन करना परिदेवन है। ये बातें स्वयं करने से दूसरों के प्रति इनका प्रयोग करने से अथवा इनको स्वयं करने से तथा दूसरों के प्रति भी प्रयोग करने से यह जीव असाता वेद-नीय का संचय करता है जिससे अनन्त प्रकार के कष्ट होते हैं। हिंसा तथा क्रूरतापूर्ण कार्यों के द्वारा भी जीव दुखी होता है।

धनिकों का नैतिक कर्तव्य

शास्त्र में लिखा है कि जो जीव सम्पन्न होते हुए दीन दुखी भाइयों की सहायता नहीं करता और धन का लोभी बन निरन्तर धन संचय में लगा रहता है, वह जीव कुछ काल के पश्चात दुखी होता है और नीच पर्यायों में अवर्णनीय कष्ट पाता

---

१ पुत्तकलत्तविदूरो दारिद्दो पंगुमूकबहिरंधो।
चाडालादिकुजादो पूजादाणादि दव्वहरो॥

२ दुःखशोकतापाक्रन्दन-वध-परिदेवनान्यात्मपरो-
-भयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥तत्वार्थसूत्र-६, ११

है। इसलिए धनिकों का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि दीन दुखी जीवों के दुख निवारणार्थ आहार दान दें। उनको सज्ञान करने के लिए शास्त्र दान दें। रोग मुक्त करने के लिए औषधि दान दें तथा भयाकुल प्राणी को निर्भय बनाने के लिए अभयदान दें। नीतिकार समझाता है "वैभव के होने पर उसका उपभोग करना चाहिए तथा दान देना चाहिए। संचय करने की प्रवृत्ति अच्छी नहीं है। देखो! भ्रमरी की सचित निधि मधु को दूसरे लोग छीन लेते हैं। कवि समझाता है "अरे भाई, भिक्षुक लोग तुम्हारे घर पर आकर भीख नहीं मांगते हैं। वे तो प्रत्येक घर में जाकर इस बात की शिक्षा देते हैं कि तुम दान देने में कभी भी प्रमाद न करो, नहीं तो हमारे समान तुम्हारी दुर्दशा होगी।"[1]

इस प्रकार यदि धन का सग्रह करने की ही प्रवृत्ति रही तो कोई दूसरा सगृहीत सपत्ति को छीनकर ले जायगा, जिससे पश्चाताप ही हाथ रहेगा। यह समझना कि दाता अपने धन को देता है भ्रम है: यथार्थ में वही सच्चा कजूस है, जो दान के बहाने अपना धन साथ ले जाता है। कजूस अपनी एक कौड़ी भी साथ न ले जाकर सब धन यहा ही छोड जाता है। इस विषय पर एक कवि प्रकार प्रकाश डालता है –

दान न देने वाला पुरुष त्यागी है, क्योंकि वह धन को यहाँ ही छोडकर परलोक की यात्रा करता है। कृपण तो दातार है जो मरने पर भी धन न छोड़कर साथ ले जाता है।[2]

कृपण के बराबर दाता न हुआ है और न आगामी होगा। वह तो धनका स्पर्श तक न करके दूसरों को दे जाता है।[3]

उदार और कजूस जीवा में मनोवृत्ति-कृत विलक्षणता है, एक त्याग करता है तो दूसरा अन्य को त्याग करते देखकर दुखी होता है।

कजूस इसलिए नहीं दान करता है, कि यह निर्धन बन जायगा।

---

१ याचकाः नैव याचन्ते बोधयति गृहे गृहे।
दीयतां दीयतां नित्यमदानात्फलमीदृशम्॥

२ अदाता पुरुषस्त्यागी धन सत्यज्य गच्छति।
दातार कृपण मन्ये मृतोऽप्यर्थं न मुंचति॥

३ कृपणेन समो दाता न भूतो न भविष्यति।
अस्पृशन्नेव वित्तानि यः परेभ्यः प्रयच्छति॥

दातार भी निर्धन होने का भय करता है इसलिए वह दान करता है।[1] दातार की दृष्टि है कि निर्धनता से बचने का उपाय है दान देना। यदि दान न दिया जायगा, तो कूपोदक समान धन का क्षय हो जायगा।

दान द्वारा सुख लाभ

किसान खेती के धान्य को पाकर उसमें कुछ अनाज को जमीन में बोने के लिए शेष रखता है, कारण वह जानता है, कि यदि सब धान्य खा गया, तो आगे फिर अंधकार ही रहेगा। जमीन में बीज रूप धान्य को डालने से पुनः कई गुना धान्य उसे मिलता है, इसी प्रकार सत्पात्रों को आहार, औषधि आदि का सन्मान पूर्वक दान (पात्र पूजा) महान कल्याणदाता होता है। गरीबो को दिया गया दान करुणादान कहलाता है। औषधि दान, शास्त्र दान, अभय दान तथा आहार दान इस प्रकार दान के चार भेद हे। गृहस्थाश्रम में जो पच सूना क्रिया है अर्थात् चक्की, चूल्हा, बुहारी उखरी तथा जल रखने का स्थान इन पच कार्यों में जो गृहस्थ के द्वारा अनिवार्य रूप से हिंसा होती है, उस दोष की शुद्धि श्रेष्ठ पात्रो के दान से होती है। यदि गृहस्थ दान देने के कर्तव्य का पालन करे, जो राष्ट्र में चोरी का भय क्यो रहेगा ? गरीबो की आवश्यकता पूर्ण होने लगी, तो वे हृदय से दाता की अभिवृद्धि की आकाक्षा करेंगे, उसे सतप्त करने के हेतु क्यो अनर्थ करने पर उतारु होगे ?

अतः व्यक्ति एव राष्ट्र के हितार्थ विवेकी मानव का कर्तव्य अन्त करण की प्रेरणा से पवित्र वस्तुओ का दान देना है। मास, मदिरा आदि का दान स्व तथा पर को दुर्गति का कारण होगा, कारण वह हिंसा से सबधित है। चतुर्विध दानों में अभय दान का आसन ऊचा है। आशाधर जी ने लिखा है—

दुःख से डरने सभी प्राणियो को जो दयार्द्र अन्तःकरण, दाताओ का शिरोमणि अभयदान देता है, वह निर्भय पद को पाते हुए सौन्दर्य को प्राप्त करता है।[2] करुणादान में दयाबुद्धि रहती है, पात्र दान में पूज्य बुद्धि रहती है, मुनि आदि अहिसा महाव्रत के पालन करने वालो को

---

१ लुब्धो न विसृजत्यर्थं नरोदारिद्र्यशकया।
दातापि विसृजत्यर्थं तयैव ननुशकया॥

२ सर्वेषां देहिना दुःखाद्बिभ्यतामभयप्रद।
दयार्द्रो दातृ-धौरेयो निर्भीः सौरूप्यमश्नुते॥

दान देने से अचिन्त्य विभूति का लाभ होता है। सागार-धर्मामृत में लिखा है 'श्रीषेण राजा ने आदित्यगति तथा अरिंजय नामक ऋद्धिधारी मुनियों को आहार दान देने से भोगभूमि के सुख प्राप्त किए तथा क्रमश सुख प्राप्त करते हुए उस जीव ने भगवान शांतिनाथ तीर्थंकर का पद प्राप्त किया। धनपति सेठ की कन्या श्रीषेणा ने मुनियों को औषधि दान के द्वारा सर्वोषधि ऋद्धि प्राप्त की। पूर्वभव में मुनि को वसति का दान देने से तथा इस भव में व्याघ्र से मुनि के निवास स्थान की रक्षा के प्रसाद से शूकर के जीव ने सौधर्म स्वर्ग में जन्म धारण किया था। शास्त्र की पूजा तथा शास्त्र दान के प्रसाद से कोण्डेश मुनि ने, जो पहले भव में गोविन्द नामका ग्वाला था, द्वादशांग श्रुत के पार को प्राप्त किया था।"[१] मिथ्यात्वी जीव भी उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्र तथा कुपात्र[२] (जो सम्यक्त्व रहित है किन्तु व्रत युक्त है) को आहार देने से उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमि तथा कुभोगभूमि में क्रमश. उत्पन्न होकर सुख भोगते हैं, तथा आगे देव पर्याय पाते हैं।

हट्टे कट्टे तथा दान देने के अयोग्य मिथ्यात्वी जीवों का दान देने का अपात्र कहा है। जो दान देने में डरते हैं, क्योंकि इससे गरीबी आ जायगी, वे बड़े अज्ञानी हैं। दान देने से वैभव की वृद्धि होती है, गरीबी का रोग दूर होता है। कुए का जल खर्च होने से अच्छा रहता है अन्यथा सड जाता है। पद्मनंदि स्वामी कहते हैं- "लक्ष्मी का नाश पुण्य के क्षीण होने पर होता है। दान देने से लक्ष्मी का क्षय नहीं होता है। अत सदा पात्रों को दान देना चाहिये।"[३] एक सुभाषित कार कहता है-

'ता घर दिया न होयगा, जा घर दिया न होय।"

परोपकार करने में शिथिल भाव वाला को दानी नरेश भोज की कथा बड़ी प्रेरणा प्रदान करती है। कहते है, भोज के दानी जीवन की वृद्धि देख उनके बड़े वेतन भोगी कर्मचारी घबड़ाए और उनने विद्वान नरेश को इशारा देने वाला वाक्य राज्यासन के साम्हने लिखवाया कि "आपत्ति

---

१ सागारधर्मामृत अध्याय २,७०

२ निर्दर्शन-व्रत-निकाय युत कुपात्रम्।

३ पुण्यक्षयात्क्षयमुपैति न दीयमाना
लक्ष्मीरतःकुरुत सतत पात्रदानम्॥

भोज का शिक्षाप्रद जीवन

का विचार करके धन की रक्षा करनी चाहिए"—आपदर्थं धन रक्षेत्" इससे नरेश ने समझ लिया कि मुझे दान देने से रोकने का सकेत इस वाक्य में है। उनने उसका उत्तर इस प्रकार लिखाया" "भाग्यवानो के पास आपत्ति कहा आती है" श्रीमता कुत आपदः। इस मार्मिक उत्तर से मत्री आदि की बुद्धि चकराई, अत में विद्वानो के समुदाय ने एक वाक्य सोचकर लिखवाया "कदाचित् दुर्दैववश आपत्ति आ जाय"—'कदाचित् दैवकोपश्चेत्।" इस चतुरता पूर्ण बात को पढकर भोज महाराजको बडी प्रसन्नता हुई, अत में इसका उत्तर उनने लिखाया "दुर्दैवके कोप होने पर सचितकी गई धनराशि भी नाश को प्राप्त हो जायगी"—"सचितोपि विनश्यति"॥ इस उत्तर ने सबको सतोष प्रदान किया। इस उदाहरण के प्रकाश में प्रत्येक व्यक्ति का आवश्यक कर्त्तव्य है, कि असमर्थ भाइयो की सहायतार्थ तथा सत्पात्रो की सेवार्थ धनव्यय करने में कृपणता नही करे।

इस दान की प्रवृत्ति में किन्ही २ को यह दोष दिखता है कि इससे अकर्मण्यता तथा परावलबी लोगो की वृद्धि होती है। यह सोचना ठीक नही है। दान, विवेकपूर्वक देने की आज्ञा है। दातार गौरव का पात्र होता है और याचक लघुता को प्राप्त करता है। तुलसीदास का कथन है—

तुलसी कर पर कर करो, कर तर कर न करेय।
जा दिन कर तर कर करे, ता दिन डूब मरेय॥

गुणभद्र स्वामी कहते है—मुझे तो ऐसा लगता है कि याचक का गौरव दातार के पास चला गया, अन्यथा दातार महान और याचक लघु क्यो बन गए ?"[1]

दान न देने वाले धनी दरिद्रता को आमत्रण देते है

जब देश में ऐसे विवेकी धनिको की अधिक सख्या रहती है, जो अपना वैभव असमर्थ जीवो की सहायता द्वारा सफल मानते है तब देश म सुख और शाति का पवित्र वातावरण दृष्टिगोचर होता है। जिस व्यक्ति ने मनुष्य जन्म को पाकर अपार सपत्ति का सग्रह किया, किंतु यदि उसका जीवन परोपकार शून्य है तो वह भारतीय सतो की दृष्टि में अत्यत तुच्छ है।

---

१ याचितुर्गौरव दातुर्मन्ये सक्रान्तमन्यथा।
तदवस्थौ कथ स्यातामेतौ गुरुलघू तदा॥१५३॥

कवि कहता है "परोपकार शून्य मनुष्य का जीवन धिक्कार है, उन पशुओं का जीवन प्रशंसनीय है जिनका चमड़ा दूसरों के काम आता है।" सत्पुरुष समझाते हैं[1] "पाप के उदय से जीव नरक में दुःख पाता है, दरिद्रता से पाप होता है, उस दरिद्रता की प्राप्ति दान न देने से होती है, अतएव सदा दान देने में तत्पर रहना चाहिए।"[2]

जो यह सोचता है कि जब हमारे पास विपुल वैभव होगा तब हम दान देना आरंभ करेंगे। वह भूलता है। उसे समझाते है "अरे भाई ! याचक व्यक्ति को अपने पास के एक ग्रास में से आधा ग्रास क्यों नही देता ? भला! इच्छा के अनुसार कभी वैभव हुआ है ?"[3] "दान देने वाला हीन व्यक्ति भी सेवनीय होता है, किन्तु अनुदार व्यक्ति महान होते हुए भी नही पूछा जाता। प्यासा आदमी समुद्र को छोड़कर कूप का ही अवलंबन लिया करता है"।[4]

धनिकों का उन्माद दूर होना आवश्यक है

यदि देश में धनिकों की स्वार्थान्धता का नशा उतर जाय और वे देश व्यापी गरीब और दुःखपूर्ण दीनों की अवस्था पर ध्यान दें तो पश्चिम के प्रभाव से उत्पन्न हुआ प्राचीन अर्थ-व्यवस्था को मूलोच्छेद करने का पैशाचिक प्रचार बंद होते देर न लगे क्योंकि धर्म-भूमि भारत में म्लेच्छ-भूमि में उत्पन्न पाप का पादप नही वृद्धिगत होगा और न संस्कृति के मूलोच्छेद की चिंतापूर्ण स्थिति उत्पन्न होगी। उन्मत्त धनिक को सचेत करते हुए एक कवि कहता है"

आगाह अपनी मौत से कोई बशर नही।
सामान सौ बरस का है पल की खबर नही॥

---

१ परोपकारशून्यस्य धिङ् मनुष्यस्य जीवितम्
जीवन्तु पशवो येषां चर्माण्युपकरिष्यति।

२ भवति नरकाः पापात् पापं दारिद्रय-संभवम्।
दारिद्रयमप्रदानेन तस्माद्दान-परो-भव।

३ ग्रासादर्धमपि ग्रासमर्थिभ्यः किं न यच्छसि।
इच्छानुरूपो विभवः कदा कस्य भविष्यति॥

४ दाता नीचोपि सेव्यः स्यान्निष्फलो न महानपि।
जलार्थी वारिधिं त्यक्त्वा पश्य कूपं निषेधते।

चोरी में हिंसादि दोष

एक तार्किक कहता है, "चोरी करने में क्या दोष है? यह बात मेरी समझ मे नहीं आती। धन आदि पर पदार्थ है उनको यदि ले लिया तो उसमें क्या हिंसा दोष आ गया, जो चोरी को हिंसा का अंग कहा जाता है? हमें आवश्यकता है इसलिये दूसरे के पास की वस्तु हमने ले ली। इसमें बुराई किस बात की है?"

ऐसे भ्रान्त भाई को कवि समझाता है, "अरे तूने दूसरे का धन चुराकर के उसके प्राण ही ले लिए है, धनके होने पर अनेक पुत्र, स्त्री, मित्र संयुक्त हो सुख पूर्वक जीवित रहता है।" यह धन जीव का बाहरी प्राण कहा गया है। इस धन के लिये ही जीव प्राणो की भी परवाह न कर अपार कष्ट उठाता है। इसलिये बल पूर्वक दूसरे का धन छीनने वाला व्यक्ति प्राण घातकके समान पीडा उत्पन्न करने वाला पापी है।" धन के लुट जाने पर मनुष्य उन्मत्त सा होकर प्राण शून्य हो जाता है; हाहाकार करते हुए वह मृत्यु के मुख मे चला जाताहै क्योंकि धनके अभावमे उस प्राणीका जीवन शून्य सा हो जाताहै।"[१]

अनगार धर्मामृत में लिखा है कि "अन्य दोषों से युक्त पुत्र को माता पिता अपने पास आश्रय देते है, किन्तु चोरी की कालिमा से श्याम मुख वाले सुत को अपने समीप नही रहने देते। इस चोरीके कारण मनुष्य मे विद्यमान सद्गुण दूर हो जाते है और वह अनेक पाप प्रवृत्तियों का केन्द्र बन जाता है।"[२] आचार्य कहते है "इसी चोरी के कारण मनुष्य की कुलीनता, विनय, विवेकादि गुण, विद्या, कीर्ति, सुख तथा धर्म के मर्म का उच्छेद होता है। इसलिये मुमुक्षु को चोरी से दूर रहना चाहिये।"[३] चोरी से संबंधित व्यक्ति को न्यायालय द्वारा दण्ड मिलता है, यह बात सर्वत्र विख्यात है।[४]

---

१ अर्थेपहृते पुरुषः प्रोन्मत्तो विगत-चेतनो भवति।
म्रियते कृतहाकारो रिक्तं खलु जीवितं जन्तोः॥

२ दोषान्तरजुषं जातु मातापित्रादयो नरम्।
संगृह्णन्ति न तु स्तेयमषीकृष्णमुखं क्वचित॥४, ५०

३ गुणविद्यायशः शर्म-धर्म-मर्माविधः सुधीः।
अदत्तादानतो दूरे चरेत सर्वत्र सर्वथा॥४, ५३

अनगार धर्मामृत

४ चोरी के धन लेने को भी दंडनीय बताया है। इंडियन पिनल कोड में लिखा है॥ "Section 410 dealing with stolen property says"

तार्किक अकलंक ने एक सुन्दर प्रश्न उपस्थित कर उसका समाधान किया है। प्रश्न यह है "जब अदत्त का ग्रहण चोरी है तब, दूसरो के द्वारा नही दिये गये ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों का ग्रहण करना क्यो न चोरी कहा जायगा ? आचार्य कहते है "यह शका ठीक नही है। जिस मणि मुक्ता स्वर्ण आदि के विषय में लेना देना रूप प्रवृति – निवृति सभव है, उनके विषय में ही स्तेय की सभावना बनती है। अतः कर्म के विषय में चोरी का प्रसग नही आता है, कारण उनका लेना देना सभव नही है।'

पुन शकाकार कहता है– वन्दना आदि के निमित्त से धर्म का ग्रहण होता है इसलिए वह 'प्रशस्त स्तेय प्राप्नोति' प्रशस्त चोरी कही जायगी। यह शका ठीक नही है, क्योकि इस प्रश्न का भी उत्तर दिया जा चुका है कि जहा दान, आदान सम्भव है, वहा ही चोरी कही जा सकती है।' धर्म के विषय में लेन देन का व्यवहार नही है, अतः उपर्युक्त शका निर्मूल है। वस्त्र पात्र आदि के समान धर्म का या कर्म का हाथ से लेना, दूसरा को देना आदि कार्य नही होते, ताकि उस सम्बन्ध में स्तेयत्व की कल्पना ठीक मानी जाती।

---

property the possession whereof has been transferred by theft or by extortion or by robbery and property which has been criminally misappropriated or in respect of which criminal breach of trust has been committed within or without British India ..

Section 411 says that "whoever dishonestly receives or retains any stolen property knowing or having reason to believe the same to be stolen property shall be punished with imprisonment of either description for a term which may extend to three years or with fines or with both "

१ यद्यविशेषेण अदत्तस्यादान–स्तेयमुच्यते, कर्माष्टविध अ येनादत्ता–मादवानस्य स्तेय प्राप्नोति ? नैप दोप, येपु मणिमुक्ता–हिरण्यादिपु दाना–दानयो प्रवृत्ति–निवृत्ति–सम्भव तेष्वेव स्तेयस्योपपत्ते. तेन कर्मणि नास्ति प्रसग –

२ वदनादि–निमित्त धर्मादानात् स्तेयप्रसग इति चेन्न उक्तत्वात्। उक्तमेतत् दानादानसभवो यत्र तत्र स्तेय प्रसग इति। त रा पृ २७७

दिगम्बर मुनियो की चर्या में चोरी का दोप नही है

शंकाकार कहता है कि साधु सडक, गली आदि पर आते जाते है, इसलिए उन पर अदत्त के आदान रूप चोरी का दोष क्यो नही आवेगा ?

आचार्य कहते है, साधु पर दोप न आने का कारण यह है कि सडक आदि सामान्य रूप से सबके गमनागमन के लिए उन्मुक्त है। यदि किसी स्थान विशेष में द्वार आदि लगा होगा, तो उसको खोलकर साधु प्रवेश नही करेगा। इस प्रसंग में तो यह बात विशेष ध्यान देन की है कि अदत्त का प्रमाद पूर्वक आदान करना स्तेय है। जहा प्रमाद का अभाव होगा वहा चोरी का दोप नही लगेगा। मुनियो को सयम, ज्ञान आदि के उपकरणों के दिये जाने पर वे अचौर्य महाव्रती उन्हे ग्रहण करते है।

अनगार धर्मामृत में लिखा है "इन्द्रादि अर्थात देवेन्द्र, नरेन्द्र, वसतिका के स्वामी, क्षेत्राधिष्ठित देवता तथा सार्धर्मियो द्वारा श्रामण्य के साधन अर्थात अध्ययन कायशुद्धि तथा सयमादि के साधन वसतिका, विकृति अर्थात राख मृत्तिकादि, पिच्छी, वृसी अर्थात व्रती का आसन, पुस्तक, कुंडी अर्थात कर्मंडलु आदि विधि पूर्वक दिये जाने पर मुनियो को लेना चाहिये।"[1]

"जो पदार्थ धर्म के साधन रूप है उनको नरेन्द्र आदि के द्वारा दिये जाने पर मुनिराज आगमानुसार प्रवृत्ति करे। इससे साधु मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त करता है।"[2]

पाच भावनायें

इस व्रत मे स्थिरता के लिये निम्नलिखित भावनायें बताई गई है "शून्यागार अर्थात गुफा, वृक्ष की खोह आदि में निवास करना, विमोचितावास अर्थात दूसरो से खाली कराये गये स्थान में निवास करना, परोपरोधाकरण अर्थात वहा दूसरो के आने पर उन्हे नही रोकना, अन्यथा स्थान पर ममत्व होने से चोरी का दोष लगेगा। भैक्ष्य शुद्धि अर्थात आचार शास्त्रानुसार निर्दोप आहार लेना (सदोष भोजन शास्त्र की दृष्टि से त्याज्य है। उसका ग्रहण आचार की

---

१ वसतिविकृति बर्हवृसी पुस्तक कुण्डी—पुरस्सर श्रमणैः।
श्रामण्यसाधन मवग्रहविधिना ग्राह्यमिन्द्रादेः ॥ ४,५४

२ शक्रेश—राजेश गृहेशदेवता सधर्मणां धर्मकृतेऽस्ति वस्तु यत्।
ततस्तदादाय यथागम चरन्नऽचौर्यचञ्चु श्रियमेति शाश्वतीम् ॥
अनगारधर्मामृत—४-५५

दृष्टि से चोरी के दोषयुक्त होगा) साधर्मियों के साथ यह मेरा, यह तेरा इस प्रकार ममत्व मूलक विवाद नहीं करना", इन पांच भावनाओं से अस्तेय व्रत मे दोष नही आते हैं।[1]

इसके प्रसाद से यह जीव प्रचन्ड कर्मरूपी चोरों के पाश से रत्नत्रय रूप निधि को प्राप्त करता हैं। यह बात न्यायोचित है। जो जीव स्वयं चोरी करता रहे, वह अन्य व्यक्ति को यह कैसे कह सकता है, कि तुम चोरी न करो? कानून में एक सूक्ति है कि जो न्याय चाहता है उसको स्वयं न्यायपूर्ण प्रवृत्ति करना चाहिए। मलिन हाथ वाला दूसरे से स्वच्छ व्यवहार की आशा न करे।" इस दृष्टि से जब यह जीव चाहता है कि कर्म चोरों द्वारा इसकी रत्नत्रय निधि लूटी न जाय और यह उनका अधिपति बन जाय तो यह आवश्यक है, कि यह दूसरों की वस्तुओं को चुराने के कलंक से पूर्णतया उन्मुक्त हो। ऐसी महत्वपूर्ण स्थिति अस्तेय महाव्रत द्वारा उत्पन्न होती है। दिगम्बर मुद्रा में इसका निर्दोष रीति से पालन होता है।

---

१ शून्यागारविमोचितावास–परोपरोधाकरण – भैक्ष्यशुद्धि – सधर्माविसंवादाः पंच ॥ तत्वार्थ सूत्र ७, ६

ब्रह्मचर्य महाव्रत

चतुर्थ व्रत ब्रह्मचर्य नाम का है। इस शब्द का व्युत्पत्यर्थ है "ब्रह्मणि आत्मनि चरणं ब्रह्मचर्य" ब्रह्म में अर्थात आत्मा में लीन होना ब्रम्हचर्य है। यह निश्चयदृष्टि है। व्यवहार दृष्टि से अब्रह्म भाव का त्याग ब्रह्मचर्य है। अब्रह्म की परिभाषा सूत्रकार ने "मैथुनमब्रह्म" की है। चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से राग परिणाम धारण करने वाले स्त्री पुरुष की विषय सेवन रूप क्रिया को अब्रह्म भाव कहा है। जिसके परिपालन करने से अहिंसादि गुणों की वृद्धि होती है, उसे ब्रह्म कहते हैं।[1] इस ब्रह्म का अभाव अब्रह्म है। अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं:—जो वेद और राग के योग से स्त्री पुरुष का सहवास होता है, वह अब्रह्म है। उसमें जीव वध का सद्भाव सर्वत्र होने से हिंसा होती है। अब्रह्मभाव के त्याग रूप ब्रम्हचर्य को इन शब्दों द्वारा अनगार-धर्मामृत में समझाया है.—

"पर द्रव्य का त्याग करके शुद्ध तथा बुद्ध चैतन्य रूप में, ब्रम्ह स्वरूप में जो प्रवृत्ति है, वह ब्रह्मचर्य है। यह व्रतों में सार्वभौम चक्रवर्ती के समान है। इसका जो पालन करते हैं, वे उत्कृष्ट प्रमोद को प्राप्त करते हैं।"[2] इसके विषय में कहते हैं— "स्त्री में माता, बहिन, बेटीके समान रूपत्रिक को देखते हुए, जो स्त्री सबधी कथादिकी निवृत्ति है, वह सत्पुरुषों की दृष्टि में ब्रह्मचर्य है।" काम वासना की उत्पत्ति मन में होती है, इस कारण अब्रह्म को मनसिज, मनोज आदि नामों से कहते हैं। इस वासना का कारण जीव की मैथुन संज्ञा है। मैथुन संज्ञा अर्थात काम वासना का कारण इस प्रकार बताते हैं—"कामोद्दीपक पदार्थ के आहार करने से, विषयोपभोग सम्बन्धी चिन्तन करने से, स्त्री आदि व्यसनों में आसक्त व्यक्ति की संगति से तथा वेद नाम कर्म की उदीरणा से मैथुन संज्ञा होती है।"[3]

---

१ अहिंसादयो गुणा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृंहंति वृद्धिमुपयांति तद् ब्रह्मेत्युच्यते। न ब्रह्माब्रह्म सुखबोध-वृत्ति पृ.१६४

२ या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धेश्चर्या परद्रव्यमुचः प्रवृत्तिः।
तद् ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति परप्रमोदम् ॥४६०।

३ पणिदरस भोयणाए तस्सुवओगा कुसीलसेवाए।
वेदस्सुदीरणाए मेहुण सण्णा हवे चउहि ॥

परमात्म प्रकाश में लिखा है– "जिस पुरुष के हृदय में सुन्दर स्त्री बस गई है, उसके ब्रम्ह–शुद्ध आत्मा नहीं है, यह विचारो कि एक म्यान में दो तलवार कैसे समा सकती है?"[1] जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारों का रहना नहीं होता, उसी प्रकार जिस चित्त में स्त्री का राग भाव भर चुका है उसमें शुद्ध आत्मा का भाव नहीं टिक सकता है।

कोई कोई यह सोचते हैं कि विषयो का सुख महान है इसीसे तो जीव का चित्त उसे छोड़कर आत्म भावना में नहीं लगता है। यह विचार भ्रम मूलक है। कहा भी है–"अपनी आत्मा का ध्यान करता हुआ जिस अनंत आनंद का मुनि अनुभव करता है, वह सुख इंद्र को अनेक देवाग–नाओं के साथ सुखोपभोग करते हुए नहीं मिलता है।"[2] जैसे "आग में दाह होने पर सुख नहीं मिलता है, इसी प्रकार विषय रूप अग्नि में दह्यमान जीव के सुख नहीं है।" सच्चा सुख उन मुनीन्द्रो को प्राप्त होता है, जो उस मोहाग्नि के सताप से संतप्त नहीं होते है। कहा भी है–'महान मोह की ज्वाला में जलने वाले जगत् के मध्य में विषयो के सपर्क का त्याग करने वाले मुनिराज ही यथार्थ सुख का उपभोग करते है।"[3]

विषय सेवन जनित सुख को सच्चा सुख नहीं कहा जा सकता है। वह तो वेदना का प्रतीकार है। पूज्यपाद स्वामी कहते है, जैसे दाद की वेदना होने पर उसके खुजाने से क्षण भर आनन्द मालूम पड़ता है, पश्चात वेदना की अनुभूति होती है, इसी प्रकार विषयो के सेवन में क्षण भर आनद का आभास होता है, पश्चात विपत्ति के सिंधु में अपार दुख भोगना पड़ता है।

श्वान का उदाहरण

कहते है किसी श्वान ने सूखी हड्डी के टुकडे को मुह में दबाकर खाना शुरू किया। हड्डी के दबनेसे तालू छिद गया और उसमें से रक्त बहने लगा। वह कुत्ता

---

१ जसु हरिणच्छी हियं वडइ, तसु ण वि बभु वियारि।
एक्कहिं केम समति वढ, बे खडा पडियारि॥ १२२

२ जं मुणि लहइ अणत सुहु णिय अप्पा झायतु।
त सुहु इदु वि ण वि लहइ देविहि कोडि रमतु॥११८॥

३ दह्यमाने जगत्यस्मिन् महता मोहवन्हिना।
विमुक्त–विषयासगा सुखायते तपोधना.।

अपने ही रक्त को हड्डी में से उत्पन्न मानकर कुछ समय तक हर्षित होता है, किन्तु पश्चात कालान्तर मे मुख के छिन्न भिन्न होने के कारण उत्पन्न व्यथा के वशीभूत हो चीखता-चिल्लाता है। इसी प्रकार यह मोही मानव विषय सेवन में सुख की कल्पना करता है तथा अंत में दु:खी होते हुए पश्चाताप करता है।

जिस गृहस्थ के लिए पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन करना संभव नही है उसको कम से कम अपनी पत्नी में संतोष रखकर परस्त्री का त्याग करना चाहिए। इस व्रत में स्थिरता रखने से जीव महान दोषो से बचता है। अमृतचंद्र सूरि कहते है—

"जो गृहस्थ मोहवश अपनी भार्या मात्र का परित्याग करने में असमर्थ है, उसको शेष संपूर्ण नारियो का सेवन नही करना चाहिये।"[1]

रावण ने सीता के रूप से आकर्षित होकर उसका हरण किया था उससे आज तक जगत में रावणकी कितनी अपकीर्ति हुई तथा हो रही है, इससे अभी सुपरिचित है। इसके सिवाय वह जीव नरक में दु:ख भी उठा रहा है। रावण कितना प्रतापी, बुद्धिमान, विद्यावान, गुणवान था? किंतु उसके सब गुण इस प्रकार भस्म हो गए, जैसे अग्नि की लौ में गिरते हुए शलभ के प्राण नष्ट हो जाते है।

गृहस्थ का शील धर्म अपनी स्त्री के सिवाय अन्यनारी के प्रति विषयासक्ति का भाव त्याग करने में है। अपनी स्त्री के प्रति भी अत्यंत आसक्ति का दुष्परिणाम होता है। क्षत्रचूडामणि काव्य में लिखा है कि महाराज सत्यंधर अपनी महारानी विजया में अधिक आसक्त हो गये थे। इस विषयासक्ति के कारण उनने काष्ठांगार को मंत्री बना उस पर राज्य का भार रखा और स्वयं विषयो के दास बन गये। स्वार्थ साधना का अवसर पा काष्ठांगार ने राजा से युद्ध किया और स्वयं राज्य का अधिकारी बन बैठा। स्त्री संबंधी राग के द्वारा उत्पन्न होने वाले अनर्थ का वर्णन करते हुए वादीभसिंह सूरि लिखते है— 'स्त्री के राग वश जीव बडे बडे राज्य का त्याग करते है, प्राणो तक को छोडते है। रागी पुरुष ऐसी कौन सी चीज है, जिसका त्याग नही करते है?"

"यह स्त्री सम्बन्धी आसक्ति बडी भयंकर है। उसके द्वारा ठगाये

---

१ ये निज कलत्र मात्रं परिहर्तुं शक्नुवंति नहि मोहात।
निःशेषशेषयोषित्निषेवणं तैरपि न कार्यम्॥११०॥

गये जीव महान साम्राज्य का तथा प्राणो का भी त्याग कर देते है। रागी पुरुष ऐसी कौन सी वस्तु है, जिसका त्याग नही करते है ?"[1] अष्टम एडवर्ड ने सिंपसन नाम की युवती की आसक्ति वश इंग्लैंड के विशाल साम्राज्य के अधिपतित्व से स्वयं छोडकर विंडसर के ड्यूक की सामान्य स्थिति को स्वीकार किया। बडे साम्राज्य को छोडने में उनको वेदना नहीं हुई। ऐसी होती है तीव्र विषया सक्ति।

कवि कहते है,—"स्त्री सपर्क के द्वारा प्राप्त सुख के विषय में यदि यह विचार किया जाय, कि वह क्या है, कैसा है, कितना है, कहा है, तो ज्ञात होगा, कि वह अविचारित ही रम्य लगता है, यथार्थ में वह दुसह है, कठिनता से सहन करने योग्य है।"[2]

पाहुड दोहा में लिखा है—"हे जीव! इद्रियो के सम्बन्ध में ढीला मत बन, पाच में से दो का निवारण कर। एक तो जीभ का वश में कर और दूसरे परस्त्री का त्यागकर।"[3]

'यशस्तिलक' चम्पू में महाराज यशोधर की रानी अमृतमति की कुत्सित प्रवृत्ति का बडा हृदयवेधी चरित्र अकित किया गया है।

यशोधर की कथा

एक समय महाराज यशोधर अपने राजमहल के ऊपरी भाग में आकर बिस्तर पर लेटे। दुराचारिणी रानी अमृतमति ने उनको गहरी नीद में सोता हुआ समझा, यद्यपि वे जाग रहे थे। अमृतमति ने अपने सम्पूर्ण रत्नादि के आभूषण तथा सुन्दर वस्त्रादि को छोड कर चामरधारिणी के वेष को बनाया और उस कमरे से रवाना हुई। महादेवी कहा जा रही है, इस विषय में सशक हो धीरे धीरे महाराज यशोधर भी उसके पीछे २ चले। वे क्या देखते है, कि अमृतमति हस्तिशाला के प्रकोष्ठ में पहुची, जहा कुरूप, लगडा महावत रस्सो की राशि पर सिर रखकर गहरी नीद में

---

१ अविस्त्रिरागः क्रूरोयराज्य प्राज्यमसूनपि।
तद्वचिता हि मुचन्ति कि न मुचन्ति रागिणः॥१, ७२॥

२ कि कीदृश कियत्क्वेति विचारे सति दुसहम्।
अविचारितरम्य हि रामासपर्कज सुखम्॥१, ७४॥

३ ढिल्लउ होहि म इदियह पचह विण्णि णिवारि।
एक्क णिवारहि जीहडिय अण्ण पराइय णारि॥४३॥

सो रहा था। उस पर अमृतमति आसक्त थी। अमृतमति की देरी के कारण वह क्रुद्ध हुआ। उस महावत ने क्रोध में आकर वाम हस्त से रानी के बालों को खींचा और दूसरे हाथ से उसकी पीठ में घूसे लगाए।

उस समय अमृतमति ने उससे क्षमा मागी और कहा "मैं तो तेरी दासी हू।" अनेक प्रकार से उसे सतुष्ट किया और पाप क्रिया में प्रवृत्ति की। महाराज यशोधर के चित्त में उसके उसी समय तलवार से दो टुकडे करने की बात आई, किन्तु इसका आगामी क्या परिणाम होगा कैसा अपवाद होगा, राजपुत्र यशोमति अपनी माता की मृत्यु पर क्या सोचेगा इत्यादि गम्भीर विचारो के कारण वह चुपचाप वापिस लौटे आए और बिस्तर पर लेट गये। कुछ काल के बाद अमृतमति आई और इस तरह मायापूर्ण सपूर्ण प्रवृत्ति कर ली, मानो यशोधर महाराज को उसके दुराचरण का जरा भी बोध न हो। इस घटना से महाराज के अत करण मे अवर्णनीय व्यथा तो उत्पन्न की ही, साथ मे स्त्रियो की कुटिल वृत्ति आदि अवगुणो के प्रति तीव्र राग उत्पन्न कराया।

वे सोचने लगे स्त्रिया गुण समूह का विनाश करने को साक्षात दुर्नीति रूप है। जिस प्रकार दुर्नीति युक्त शासक के यहा ग्रामो में लोग नही रहते, उसी प्रकार स्त्रियो के पास गुणो का निवास नही होता है। वे तो स्वर्ग तथा मोक्ष के पथ की स्वभाव से अर्गला स्वरूप है"–सोमदेव सूरि कहते है, 'मेरा हृदय तो यह कहता है कि स्त्रिया की दृष्टि में साक्षात विष भरा है। सर्पा म असली विष नही है, यही कारण है कि स्त्रियो के द्वारा दृष्ट मनुष्य भस्म होता हुआ देखा जाता है। सर्पो के द्वारा देखे जाने से लोगो का जीवन नष्ट नही होता है?" यशोधर महाराज सोचते है? "पाषाण की कठोरता को दूर कर मृदु करने के उपाय है, किंतु स्त्रियो के अत करण की कठोरता को दूर करने का कोई मार्ग नही है। इनकी सदा मान्यता करने वाले पुरुष को ये गृह के बन्दर के समान खूब नचाती रहती है।"[२]

---

१ स्त्रीषु साक्षाद्विषदृष्टौ न सर्पेष्विति मे मनः ॥
तद्दृष्ट एव लोको हि दृश्यते भस्मता गत ॥ ४, पृ –६०

२ सुलभाश्च खलु शिलानामपि मृदूकरणे सति विधय, नपुन स्त्रीणां।
इमा ह्यनिशमनुनीयमानागृहमर्कटमिव विडम्बयति पुरुषम्॥ य ति पृ ६१

महाकवि हरिचंद्र ने जीवंधर चम्पू में लिखा है, "सुन्दरियो का चित्त वज्र से भी अधिक कठोर होता है। उनकी वाणी पुष्प से भी अधिक कोमल होती है। उनके कार्य उनके केशों से अधिक कुटिल होते है इसी से विवेकी पुरुष उन पर विश्वास नही कर करते है।"

गृहस्थ होते हुए भी अपने शीलमय उज्वल जीवन द्वारा सपूर्ण विश्व को पवित्र करने वाले महात्माओ में श्रेष्ठि सुदर्शन का उदाहरण महत्वपूर्ण है। इनने मुनि दीक्षा धारण कर पाटलिपुत्र के समीप से मोक्ष प्राप्त किया था। आज भी पटना के गुलजारबाग स्टेशन से सन्निकट इनके चरण-चिन्हों की पूजा की जाती है।

शीलव्रती सुदर्शन

सुदर्शन चरित्र से ज्ञात होता है कि एक बार इनके कामदेव सदृश सुरूप पर राजमाता अभयमति की कुदृष्टि पडी और उसके मन मे इनके प्रति आसक्ति जाग्रत हो उठी। सुदर्शन सेठ महाशीलवान महात्मा थे। अभयमती ने अपनी दासी को भेजकर अपने पाप विचार इनके पास पहुचाने का उद्योग किया, किन्तु उसका कोई फल न निकला।

सुदर्शन सेठ प्रत्येक अष्टमी तथा चौदस की रात्रि को श्मशान में जाकर कायोत्सर्ग हो आत्मा का ध्यान किया करते थे। इस रहस्य का ज्ञान होते ही रानी ने अपने विशेष षडयन्त्र द्वारा सुदर्शन को जबरदस्ती दासी के द्वारा राजमहल में बुलाया, जब कि वे कायोत्सर्ग-मुद्रा में श्मशान में ध्यान कर रहे थे। आत्मचिन्तन में निमग्न उन महामना को शील से विचलित करने के लिए दुराचारिणी कामान्ध रानी ने कल्पनातीत कुचेष्टायें की, किन्तु महात्मा सुदर्शन के अत.करण में रच मात्र भी विकृति उत्पन्न न हुई और वे 'कूर्मवत सहृतेन्द्रिय' रहे आए। प्रभात होने पर रानी का पापाचरण प्रगट हो जायगा। अत अपना मनोरथ सफल होते न देख रानी ने अपना स्त्री चरित्र फैलाया।

अभयमति रानी ने अपने शरीर को अपने नखो द्वारा क्षत-विक्षत करके हल्ला मचाया, कि मेरे धर्म को नष्ट करने को यह पापी सुदर्शन मेरे महलमें घुसा था। उसके मायाजालमें राजा फसगये। राजाने बिना अनुसधान किये ही पुण्यचरित्र सुदर्शनको फासी देनेकी आज्ञा देदी। फासी देते समय वन देवताने महात्मा सुदर्शन की रक्षा की और चाण्डालके हाथ कीलित कर दिए। राजा ने अपनी सैन्य भेजी, वह भी उसी प्रकार कील दी गई। अत में राजा

साम्हने आया। अपने सब उपाय विफल देख वह भोचक्का हो घबड़ा गया। उस समय वन देवता ने कहा "राजन्! तेरी रक्षा का उपाय एक है, कि तू महात्मा सुदर्शन के चरणों में आकर क्षमा याचना करे।" राजा को अपनी ही रानी का दुश्चरित्र ज्ञात हुआ। उसने महामना सुदर्शन से क्षमा मांगी। सेठ सुदर्शन के शील की संसार भर में प्रसिद्धि हुई। इस प्रकार कुटिल प्रवृत्ति वाली स्त्रियोंके जालसे बचकर शीलरत्नकी रक्षा करने वाला मानव पुरुषोत्तम बनता है।

हिन्दू पुराणों केद्वारा यह ज्ञात होता है, कि इस ब्रह्मचर्य को पालन करने में असमर्थ होने के कारण महान ऋषियों ने कितने बड़े पापाचरण किए हैं। स्वयं ब्रह्मा जी अपने आपको न सम्हाल सके। कहते हैं, ब्रह्मा की भयंकर तपस्या को देख इंद्र ने उनको डिगाने का उपाय विचारा और एक तिलोत्तमा अप्सरा को भेजा। अप्सरा ने सुन्दर रूप बना अनेक भाव भंगी सहित नृत्य करना प्रारंभ किया। ब्रह्म देव का चित्त उस नृत्य में ऐसा लगा कि चारों ओर घूमकर नृत्य दर्शन का आनन्द लूटने के हेतु अपने तप के प्रभाव से अपने को चतुरानन – चार मुखवाला बना लिया। इस कामना केद्वारा ब्रह्मा की तपस्या की राशि क्षीण हो चली थी, कि अप्सरा ने मस्तक के ऊपर की ओर नृत्य आरम्भ किया। ब्रह्मा ने तीव्र आसक्तिवश ऊपर की ओर मुख बनाने की इच्छा की। पुण्य क्षीण हो

"What happens to the snake you catch, Sheikh Moussa ?". I keep them until they die. I am forbidden to kill them,as then I would lose my power over them.He (Moussa) warned me, however very frankly. if somewhat naively, not to wear the talisman should I engage myself in intimate relations with a woman, as then it would be temporarily deprived of some of its power .. (P. 236 ")

"An extraordinary requirement but one common enough in all initiations by Yogis and Fakirs of the Orient was that for seven days before the power was transmitted the disciple had to seclude himself and live only on little bread and water. He should also devote the week to prayer and meditation detaching himself from all worldly concerns & interests for the period.

A Search in Secret Egypt" by Paul Brunton.

जान से मानव मुख के स्थान में पांचवा मुख गर्दभ का बन गया। इस प्रकार ब्रह्म देव की तपस्या भ्रष्ट करके अप्सरा ने इंद्र देव के प्रसाद को प्राप्त किया।

शील द्वारा मंत्र साधना

व्रत जप, तप का प्राण ब्रह्मचर्य का पालन है। मंत्र साधना में इस व्रत की आवश्यक्ता है। महापुराण से ज्ञात होता है कि चक्रवर्ती भरत ने मगध देव को वश में करने को मंत्र सिद्धि के हेतु ब्रह्मचर्य धारण किया था।

मंत्र साधना में ब्रह्मचर्य का धारण करना आवश्यक कर्म है। यह बात सारे विश्व भरके मंत्र साधकों द्वारा मान्य है। ईजिप्ट देश में पाल ब्रिटेन नामक अंग्रेजी यात्री गया था। उसने भी वहां के मांत्रिकों से मिलकर उपरोक्त बात का ज्ञान तथा परिचय प्राप्त किया था। उसने सर्प तथा बिच्छू आदि के विष उतारने की विद्या वहां सीखी थी।

इस ब्रम्हचर्य के विषय में दिगम्बर जैन श्रमणो का जीवन बड़ी उज्वल सामग्री प्रदान करता है। पद्मपुराण में एक बड़ी प्रभावक कथा आई है। क्षेमकर नरेश के देशभूषण कुलभूषण नाम के बड़े बुद्धिमान तथा चरित्रवान पुत्र थे। उनने सागर घोष नाम के विद्वान के पास विद्या सीखकर निपुणता प्राप्त की। एक समय वे नगर में से जा रहे थे। उनकी दृष्टि एक राजकन्या पर पड़ी। दोनो तरुण राजकुमारो के मन में उस कन्या के प्रति आसक्ति का भाव उत्पन्न हुआ। उस समय बंदीजनो के मुख से ये शब्द निकले–"राजा क्षेमकर विमला रानी सहित चिरकाल तक जीवित रहें, जिनके ये पुत्र देवो के समान हैं। राजमहल के झरोखे में विराजमान राजकन्या कमलोत्सवा भी जयशील हो, जिसके सुन्दर गुणो से वर्धमान भाई देशभूषण कुलभूषण नाम के राजकुमार हैं।"[1]

इन शब्दो ने राजकुमारों के हृदय में वैराग्य उत्पन्न कर दिया। वे सोचने लगे "हमने जो पाप भावना की, उसके लिए अनेक बार धिक्कार

---

[1] साकं विमलया देव्या श्रीमान क्षेमकरो नृपः।
चिरं जयति यस्यैतौ तनयौ त्रिदशोपमौ ॥१६७॥
वातायनस्थितैपापि कन्यका कमलोत्सवा।
जयति भ्रातरावेतौ यस्यादचारु गुणोत्कटौ ॥१६८॥
पद्मपुराण सर्ग ३९

है। यह मोह की भीषणता है, जो हमारे मन में सगी बहिन के प्रति काम के भाव उत्पन्न हुए। जब प्रमादवश चिंतन मात्र से हमें इस प्रकार दुख हुआ, तब जो इस प्रकार का राग करते हैं, उनकी बडी हिम्मत कहना चाहिए। अरे! दुख से पूर्ण यह ससार सार-शून्य है, जहा पापी जीवो के ऐसे भाव होते हैं।" ऐसे उज्वल विचारो से उनकी आत्मा का मोहभाव दूर हुआ और दोनों राजकुमारो ने दिगबर दीक्षा धारण की।

इन मुनि युगल का दर्शन कर राम, लक्ष्मण तथा सीता ने महान आनद प्राप्त किया था। उस समय एक असुर ने आकर इन साधु युगल पर भयकर उपसर्ग किया था। मायामयी सर्पों तथा बिच्छुओ ने इनके शरीर को घेर लिया था। उस समय वे शुक्लध्यान में निमग्न थे। राम तथा लक्ष्मण ने उपसर्ग दूर किया, तत्काल उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उनका ही निर्वाण स्थान कुथलगिरि पर्वत है।

कितना अद्भुत, कितना पवित्र और कितना प्रबोधप्रद चरित्र इन मुनीन्द्रो का है, जो श्रेष्ठ वैराग्य के शिखर पर आरूढ हो सिद्धि वधू के स्वामी हो गए। उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य और बाह्याभ्यतर दिगम्बरत्व के प्रसाद से ये विश्व की मगल विभूति बन गए। इस प्रसग में कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ये गाथायें स्मरण में आती हैं।

"ऐसा कौन व्यक्ति है, जो न तो स्त्री-जन के वशीभूत है और न जिसका काम के द्वारा मान खडित हुआ है? कौन इद्रियो के द्वारा नही जीता गया है और कषायो के द्वारा कौन सतप्त नही हुआ है?

इसका मार्मिक उत्तर इस प्रकार है—"वह व्यक्ति स्त्री वर्ग के अधीन नही है और न इद्रियों एव मोह के द्वारा जीता गया है, जो बाह्य तथा अभ्यतर दोनो प्रकार के परिग्रहो को नही ग्रहण करता है—अर्थात जो यथा-जात मुद्रा को धारण करता है। इस बात की यथार्थता देशभूषण कुलभूषण की जीवन गाथा द्वारा स्पष्ट हो जाती है।

विश्व के उत्थान और पतन के इतिहास का समीक्षण किया जाय, तो प्रतीत होगा कि इस स्त्री-आसक्ति के कारण ही बडे बडे साम्राज्य धूलि में मिल गए और उनका पता तक नही चलता है।

सो ण वसो इत्थिजणे कस्स ण मयणेण खडिय माण।
को इदियेहिं ण जिओ को ण कसाएहि सतत्तो॥

इतना ही नहीं, कुलीनता, विद्या, तप, पराक्रम आदि संपूर्ण गुण राशि को यह स्मराग्नि क्षण भर में नष्ट कर देती है। कहा भी है 'कुल, शील, तप, विद्या, विनय, प्रतिभा, वाग्मित्व, तेजस्वित्व, दक्षता आदि गुण पुंज को प्रदीप्त काम भाव क्षण मात्र में इस प्रकार भस्म कर डालता है, जिस प्रकार अग्नि तृण राशि को जला डालती है।

विकार के कारण आने पर अपनी पवित्रता और विवेक की रक्षा करनेवाला पुरुष ही महापुरुष माना जाता है। धन वैभव के द्वारा प्रदत्त महत्ता का सत्पुरुषों के समक्ष कोई मूल्य नहीं है। कठोर परीक्षण की अग्नि में जो चरित्र सुवर्ण की भांति अधिक दीप्तिमान होता है, वही इसे महामानव की प्रतिष्ठा प्रदान करता है। आज के भौतिक विकास के काल में आधिभौतिक अभ्युत्थान को ही महत्ता का कारण माना जाता है। चरित्र की कसौटी पर जीवन को कसकर परखने की प्रवृत्ति लुप्त प्राय सी हो गई है। किन्तु इस सत्य को सदा शिरोधार्य करना होगा, कि जब तक श्रेष्ठ चरित्र सत्पुरुषों का सद्भाव रहेगा, तब तक ही मानवता का विकास होगा। इस प्रसग में महापुरुष जीवंधरकुमार का लोकोत्तर जीवन कर्तव्य पालन के लिए प्रेरणा प्रदान करता है।

एक समय की बात है कि पर्यटन करते हुए जीवंधर कुमार क्लांत हो किसी अरण्य में विश्राम कर रहे थे। उस निर्जन वन में एकाकिनी किसी सुन्दरी पर उनकी दृष्टि पड़ी। अन्य स्त्री के प्रति विरक्ति उनके अन्त करण में पूर्णतया अंकित थी, अतः वे उस ओर से पराङ्मुख हुए, किन्तु इनके सुन्दर रूप के देखते ही वह अंगना इन पर आसक्त हो गई। उस विद्याधरी को अपने प्रति अनुरक्ति देख जितेन्द्रिय जीवंधर कुमार के मन में विरक्ति की भावना प्रबल हो उठी।

उसके सौन्दर्य को शव तुल्य गिनते हुए कुमार विचारने लगे यदि इस शरीर रचना को पृथक देखा जाय, तो यह चर्म, मांस, मलादि रूप ज्ञात होगा। खेद है कि घृणा के पात्र इस चर्म, मास, मल, मूत्र, रुधिर आदि के समुदाय में यह अज्ञानी जीव मोहित होता है।

यहा कुमार जीवंधर शरीर सौन्दर्य के आवरण को दूर कर तत्व विचार द्वारा देह की वास्तविकता का विश्लेषण कर रहे हैं, जिससे अन्त करण में अविवेक का अंधकार उत्पन्न न हो। वे पुनः सोचते हैं, "विश्लेषण करने पर इस देह में दुर्गन्ध, मल, मास, रुधिर आदि

को छोड़कर अन्य कोई ऐसी सामग्री नही दिखती है जो इसमें आत्मा के मोह के कारण को बता सके ।

यह शरीर ज्ञान रहित है । अपवित्रता का बीज तथा पुंज है । इसमें सस्पृह होकर यह आत्मा इस बात को स्पष्ट करता है कि वह कर्मों के परवश है । यदि आत्मा स्वाधीन होता तो ऐसे अपवित्र पदार्थ में क्यों आकांक्षा करता ?

विद्याधरी को अपने पर आसक्ति का कारण वे इस प्रकार सोचते हैं "मेरे शरीर के भरे हुए बल युक्त मांस को देखकर विचार शून्य यह नारी परवश हो अंधी हो रही है, अतएव आत्मा के हितार्थ यहां से चलना ही श्रेयकर है ।'

वस्तु को रागात्मक अंतकरण से देखने पर वह रमणीय मूर्ति युक्त प्रतीत होती है, किन्तु वीतराग भाव से देखने पर वही वस्तु बंधन का कारण ज्ञात होती है । जब तक दृष्टि में परिवर्तन नही होता तब तक प्रवृत्ति में यथार्थ सुधार नही होता है । कुमार जीवधर के चित्त में वैराग्य की ज्योति जग गई, इससे वे स्त्री के विषय में अपनी विश्लेषण मयी दृष्टि डाल उसे जुगुप्सा का भंडार सोचने लगे ।

सोमदेव सूरि ने नीतिवाक्यामृत में लिखा है–"महान पुण्यशाली पुरुषों के पराई स्त्री के दर्शन के विषय में अन्ध भाव रहता है ।"[1]

स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है कि ब्रम्हचर्य व्रत को स्वीकार करनेवाला व्यक्ति स्त्री को सौन्दर्य की राशि नही देखता है किन्तु वह यह समझता है कि "उसका शरीर मल-जन्य है, मल का जनक है । उसमें से मल बहता है, वह अत्यन्त दुर्गन्ध, बीभत्स है । इस प्रकार विचार कर वह स्त्री सेवन से विरक्ति धारण करता है।"[2] उस ब्रह्मव्रती की महिमा में सागार धर्मामृत का कथन बड़ा महत्वपूर्ण है–

"आत्मा को आगम में अनंत शक्ति समन्वित कहा है, यह वास्तविक बात है, प्रशंसा वाक्य नहीं है। कारण अपने ब्रह्मस्वरूप में चर्चा करने वाला

---

१ परकलत्र दर्शने अन्धभावो महाभाग्यानाम् । व्यवहार समुद्देश सूत्र २५

२ मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगंधि बीभत्सम् ।
पश्यन् अंगमनंगात् विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥१४३॥

आत्मा ही विश्वविजेता काम को जीतता है ।"[१] संसार के सभी जीवों को मैथुन संज्ञा ने सन्त्रस्त कर रखा है । मनुष्य, देव, विद्याधर, तिर्यञ्च आदि सभी काम वासना के अधीन है । जिनेन्द्र पथ में प्रवृत्ति करने वाले मुनि-राज उस काम को पूर्णतया जीत लेते है ।

बाल्यकाल से ही ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले तीर्थकर भगवान पार्श्वनाथ का स्तवन करते हुए आचार्य सिद्धसेन कहते हैं:–"भगवन्! जिस रति-पति कामदेव के समक्ष महादेव आदि का जोर नही चला, इसीसे पार्वती को अर्धांगनी बनाया, उसे आपने क्षण भर में नष्ट कर दिया । अग्नि को बुझाने वाले जल को क्या वडवानल नही पी जाता है ?"

अगना के प्रेमपाश से पूर्णतया मुक्त रहने वाले वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर ये पाच तीर्थंकर पच बालयति के नाम से विख्यात हैं । उन पंच तीर्थंकरो की पूजा में यह पढा जाता है —

"श्री वासु पूज्य मल्लि नेमि पारस वीर अति ।
नमो मन, वच, तन धर प्रेम पाँचों बालयती ।।"

इसमें भगवान नेमिनाथ की जीवन गाथा ब्रम्हचर्यके क्षेत्र में वडा सुन्दर उदाहरण है ।

शीलमूर्ति नेमिनाथ

सौराष्ट्र देश में भगवान नेमिनाथ के विवाहोत्सव की तैयारी पूर्ण हो चुकी थी । राजकन्या राजीमती के पुण्य की सभी सराहना कर रहे थे, जिसके प्राणनाथ भगवान नेमिनाथ होने वाले हैं । इतने में विवाह के जुलूस ने समय करुणा मूर्ति प्रभु ने पशुओ का करुण क्रन्दन सुना और पशु रक्षको से पूछा–'किमर्थमिदमेकत्र निरुद्धं तृणभुक्कुलम् ?" (उत्तर पुराण १६२ पृ. ५०९) किस कारण से तृण-भक्षण करने वाले दीन पशु यहा अवरुद्ध किए गए हैं ? उत्तर में कहा गया —

देव ! वासुदेव की आज्ञा से आपके विवाह महोत्सव में आने वाले लोगो के खाने के लिए ये पशु यहाँ रखे गये हैं । इसे सुनते ही अत-करण में विरक्ति का भाव उत्पन्न हो गया । जो अभी राजीमती के प्राणनाथ बनने जा रहे थे, वे अपने को प्राणियों का नाथ सोचने लगे ।

---

१ अनत–शक्तिरात्मेति श्रुतिर्वस्त्वेव न स्तुतिः ।
यस्त्वद्व्ययुगात्मैव जगज्जैत्रं जयेत्स्मरम् ।।७–१७

वे विचारने "लगे मनुष्य कितना निर्दय होता है ? देखो बेचारे मृगकुल की निवास भूमि जंगल है, जंगली घास और पानी उनका निर्दोष आहार-पान है; फिर भी लोग इनका वध करते हैं । जगत् में मनुष्यों की क्रूरता को. तो देखो ।"

"बड़े बड़े शूरवीर अपने पैरों में कंटक न चुभ जाय इस भय से जूते पहिना करते हैं, किन्तु वे ही सैकड़ों तीक्ष्ण शस्त्रों के द्वारा शिकार करते समय इन मृदु मृगों पर प्रहार करते हैं ।"[1] पुनः वे सोचने लगे, "बाह्यपदार्थों के निमित्त से उत्पन्न अत्यन्त महान भी सांसारिक सुखों से संसारी जीवों की तृप्ती नहीं होती । विद्याधर, देव, नरेश, की पर्याय में राजा जयंत विमानवासी देव की पर्याय में सागरों पर्यन्त आयु प्राप्त कर उनका खूब भोग करने के बाद भी मेरा मन संतुष्ट नहीं हो सका । इस कारण विषयोत्पन्न विनाश शील, संतापप्रद सुखों का त्यागकर मुझे अक्षय तथा संताप-शून्य आत्मिक मोक्ष सुख को महान तप के द्वारा प्राप्त करना चाहिये ।" (हरिवंशपुराण)

इस प्रकार विचारकर भगवान नेमिनाथ ने सर्व परिग्रह त्यागकर दिगम्बर मुद्रा धारण की । उनके जीवन के अद्भुत परिवर्तन का सौराष्ट्र में आज भी असाधारण असर दिखाई देता है । वहां जीव दया का स्रोत आज भी अपनी शीतल धारा द्वारा दीन हीन पशुओं तक के प्राणों को परित्राण प्रदान करता है । यही कारण है कि पशुओं के रक्षणार्थ स्थापित किये जाने वाले पिंजरा पोलों का सौराष्ट्र में अब तक सद्भाव चला जाता है । करुणा के कणों से पूरित गुजरात की भूमि ने गांधी जी सदृश एक अहिंसा विद्या के समर्थ प्रचारक को जन्म दिया, जिन्होने संपूर्ण भूवलय पर अपने असाधारण व्यक्तित्व की छाप लगाई । इधर नेमिनाथ प्रभु श्रेष्ठ तपस्वी बने, तो उधर राजीमती ने अपने प्राणनाथ का पदानुसरण कर श्रेष्ठ तपस्विनी की प्रतिष्ठा प्राप्त की । एक ने पुरुष जाति के मस्तक को उन्नत किया तो दूसरे ने नारी जाति को अचिंतनीय गौरव प्रदान किया । इन नेमिनाथ प्रभु की तपस्या के कारण उर्जयन्त गिरि संसार के संतों और साधकों की वंदना का स्थल हो गया ।

---

1 चरणकंटक-वेध-भयाद्भटा विदधते परिधानमुपानहं ।
मृदुमृगान्मृगयासु पुनः स्वयं निशितशस्त्रशतैः प्रहरन्ति हि ॥१३॥

एक कवि का कथन "हूं जो स्त्री अनुरक्त पर विरक्ति धारण करती है, उसे मैं नही चाहता हूं, मुझे तो वह मुक्ति-श्री प्रिय है जो विरागी का वरण करती है ।"

सम्राट अमोघवर्ष अपनी प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका में कहते हैं- "ससार में गहन कोई वस्तु नही है, यथार्थ में स्त्री का चरित्र समझना कठिन है । ऐसी स्त्री से जो नही ठगाया जा सका वही चतुर है"-

अब्रह्म भाव आत्मा के स्वभाव को प्राप्त करने में सबसे बडा बाधक है । विषय सेवन का विष यदि पुरुष पीता है, तो उसका मरण अवश्यम्भावी है, और यदि स्त्री पीती है, तो उसकी दुर्गति को कोई भी नही टाल सकता है । प्रत्येक जीव अपने अपने कर्म के फल को भोगता है, अत जो व्यक्ति पुरुष हो या स्त्री इस शील रत्न को धारण करेगा, वह अपने नर जन्म को कृतार्थ करेगा । जैसे एक के अक के होते हुए शून्यो का मूल्य है और एक के अभाव में शून्यो का कुछ भी मूल्य नही होता, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत के होने पर ही सर्व गुणो में प्रतिष्ठा आती है । उसके अभाव में वे मृत-प्राय हो जाते है ।

यवन राज्यकाल में शीलवती स्त्रियो पर सकट का पहाड टूट चुका था, उस समय वीर बालाओ ने सहर्ष मृत्यु की गोद में सो जाना ठीक समझा, किंतु मुगलो के यहा के सुखो को सडास वास से भी घृणित निश्चय किया । उनके विशुद्ध चरित्र के प्रति कौन मानव आदर के भाव व्यक्त न करेगा ?

शील धर्म की रक्षा करने वाली नारियो में आज भी जन साधारण म, देश में विदेश में, माता पिता का नाम अत्यधिक प्रसिद्ध है । कर्मोदय की कैसी विचित्रता है, कि शीलवती सीता के विषय में भी अपवाद लगा दिया गया, और राम सदृश विवेकी नरेन्द्र ने गर्भवती स्त्री का विचार न कर उसे कृतान्तवक्त्र सेनापति के साथ भीषण वन में भिजवा दिया, मानो सीता के चरित्र के प्रति अपवाद उठाने वालो के संतोषार्थ निर्दोष देवी के लिए और स्थान नही था, जहा वह विपत्ति की व्यथा से बच जाती ।

जब राम सीता के प्रति वज्र से भी कठोर बन गये, तब सीता को मानव स्वभाव के अनुसार राम के प्रति कठोर होना नैसर्गिक बात होती, किन्तु राम की कुसुमाधिक मृदुता सीता के पास पहुच गई प्रतीत होती है, इसी कारण सीता ने राम के प्रति प्रेषित अपने सदेश में परम प्रेम और

कल्याण की भावना व्यक्त की थी । महाकवि रविषेण ने उसे इन शब्दों में निबद्ध किया है।

कृतान्तवक्र सेनापति राम से कहता है–"महाराज सीता का संदेश मै कहता हूँ, सो सुनिये। मैथिली देवी ने आपसे कहा है कि यदि आप अपना कल्याण चाहते हे, तो जिस प्रकार आपने हमें त्याग दिया, इस प्रकार जिनेन्द्र देव की भक्ति को नही छोड देना । भीषण निर्जन वन में हमें छोड़ दिया, इसमें क्या दोष है ? किन्तु सम्यग्दर्शन की विशुद्धता इस प्रकार छोडी जाने योग्य नही है । मेरे साथ वियोग का दुःख तो केवल इस भव में ही है, किन्तु सम्यग्दर्शन की हानि होने पर भव में दुःख होगा। इस लोक में निधि, स्त्री, वाहनादिक की पूर्ति सुलभ है । सम्यग् र्शन की प्राप्ति साम्राज्य के लाभ से भी महान हैं । राज्य में पाप को करते हुए निश्चय से नरक में पतन होता है, उर्ध्वलोक में गमन केवल सम्यक्त्व के तेज से होता है ।"

सदा विपत्ति के क्षणों में धर्मात्मा जीवों का पुण्य सहायक होता है । यशास्तिलक में लिखा है कि जब मारिदत्त महाराज के आदेशानुसार चंडमारी के मंदिर में बलिदान के हेतु अभयरुचि मुनिकुमार तथा अभय मती को ले जाया गया, उस समय देवी के उस भीषण मंदिर में भयंकर सामग्री को देखकर अभयरुचि ने अभयवृत्ति को धारण करते हुए अपनी बहिन साध्वी अभयमति से कहा था –

"हे बहिन ! ग्राम में एवं अटवी में तपस्वियो के रक्षक निर्मल विवेक और तपश्चरण ही होते हैं, अतएव साक्षात् यम के समीप होते हुए भी अपने को अनाथ नही सोचना चाहिए। ऐसी स्थिति में यदि मृत्यु भी हो जाय, तो कोई डर की बात नही है, वह तो परम प्रमोदको प्रदान कर ी है ।"

यही सदाचार, शील, जिनेन्द्र भक्ति का बल माता सीता के संकट काल में सहायक रहा है। विपत्ति काल मे धर्म के सिवाय और कोई सहारा नहीं होता है ।

कुरल काव्य में लिखा है–"जब तुम पर संकट आ जाय तब तुम हंसते हुए उसका मुकाबला करो, क्योंकि मनुष्य को आपत्ति का सामना करने के

विशुद्धबोधं तप एव रक्षा ग्रामेष्वरण्ये च संयतानाम् ।
अतः कृतान्तेपि समीपवृत्तौ मातर्मनो मास्म कृथाः निरीशम् (१-१३९)

लिए सहायता देने में मुस्कान से बढकर और कोई चीज नही है" (१६०)

माता सीता की विपदा का काल बीता। राजा वज्रजघ ने सीता को बडी बहिन मान अपने राज्य में रखा; उस समय सीता को प्रतीत हुआ मानो सगा भाई भामडल ही वज्रजंघ नरेश के रूप में मिला है।

वज्रजघ के यहा ही जानकी के युगल पुत्र–महाप्रतापी लव और कुश हुए। कुछ काल व्यतीत होने के पश्चात् विभीषण, सुग्रीव, हनुमान आदि ने सीता के विषय में राम से प्रार्थना की, तब राम ने कहा, लोकापवाद के कारण सीता को निर्दोष जानते हुए भी मैंने परित्याग किया है, अत लोगो में विश्वास उत्पन्न करके ही सीता हमारे यहा आ सकती है। इसलिए समस्त देशो के नरेशों को बुलाकर सबके समक्ष सीता की शुद्धता का निश्चय होना आवश्यक है।

उस समय राम की इच्छानुसार देशदेशातर के नरेश तथा प्रजा–जन अयोध्या में एकत्रित हो गए। पुष्पक विमान भेजकर माता सीता को लाया गया। उस समय भी राम के हृदय में जो वज्र से भी अधिक कठोर बन गया था, मृदुता आते २ पुनः काठिन्य का प्रादुर्भाव होगया। राम बोले, देवि! मैं जानता हूं कि तुम्हारा शील निर्दोषहै—

"रामो जगाद जानामि देवि शीलं तवानघम्"–१०४–७२) किन्तु क्या किया जाय, यह तुम्हारा अपवाद प्रगट हुआ है, अतः स्वभाव से कुटिल चित्तयुक्त प्रजा को सशय मुक्त करो।"

इस पर वैदेही बोली, "नाथ! मैं विषों में सर्वश्रेष्ठ कालकूट विष को पीने को तैयार हूं, जिसको सूघते ही आशीविष सर्प भी भस्म को प्राप्त हो जाय। अथवा मैं अग्निज्वाला के साथ तुलने को तैयार हूं, अथवा भीषण अग्नि की ज्वाला में प्रवेश करने को मै तैयार हूं। जो बात आपको सम्मत हो, उसे मैं करूं।"[1]

उस समय कुछ क्षण विचारकर राम ने कहा– "अच्छा अग्नि में प्रवेश करो।" सीता ने अत्यन्त हर्षित होकर कहा "मैं अग्नि में प्रवेश करने को तैयार हूं।" उस समय सब प्रजाजन दुःखी होकर बोले "महाराज! ऐसा

---

१ आरोहामि तुलां वन्हिज्वालां रौद्रां विशामि वा।
यो वा भवदभिप्रेतः समयस्तं करोम्यहम् ॥७६॥

न कीजिए। सीता सदृश सती दूसरी नही है" । तब राम ने कहा—

"यदि आप लोग इस प्रकार दयावान है, तो पहले लोगों ने अपवाद कैसे फैलाया था ?" तत्काल ही राम के आदेश से तीन सौ हाथ लम्बी चौड़ी खाई खोदी गई और उसमें ईंधन डाला गया ।

"साक्षान्मृत्युरिवोपात्त विग्रहः—साक्षात् सशरीरमृत्यु के समान वह जलता हुआ कुंड बनकर तैयार हो गया । उस समय ऐसी भयंकर ज्वाला उठ रही थी, मानो सारे संसार में बिजली ही बिजली भर गई हो, अथवा ऐसा प्रतीत होता था, कि कही हजारों सूर्यों ने एकत्रित होकर आकाश को तो नही घेर लिया है । (१०५–१८) । ऐसी भीषण स्थिति में अग्नि में प्रवेश करनेवाली सती शिरोमणि सीता ने क्या किया ?

सीता देवी उठी, कुछ देर तक कार्योत्सर्ग, ध्यान किया; धर्म तीर्थ की देशना देने वाले ऋषभ देव आदि तीर्थंकरों की स्तुति की, जिनकी मूर्ति मनोमंदिर में विराजमान थी । सिद्ध भगवान् समस्त साधु परमेष्ठी को नमस्कार करके, मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर को प्रणाम किया, जिनके तीर्थ का उस समय परम ऐश्वर्य संयुक्त तथा उत्कृष्ट हर्ष संपन्न देव, असुर मनुष्य आराधना करते थे । संपूर्ण जीवों के हित करने वाले आचार्य परमेष्ठी के अंतःकरण में विराजमान चरण युगल को प्रणाम कर उदार गंभीर तथा विनीत जानकी बोली—

"यह बात सत्य है कि मैंने मन वचन काम से स्वप्न में भी राम को छोड़कर दूसरे पुरुष को स्वीकार नही किया है।"[1]

"यदि मेरा यह कथन मिथ्या हो, तो यह अग्नि क्षण मात्र में मुझे भस्मी भूत कर दे ।"

"यदि मैंने पद्म को छोड़कर अपने अन्तःकरण में दूसरे पुरुष को धारण किया हूं, तो यह अग्नि गुफ शुद्ध समन्विता को भस्मीभूत न करे, किन्तु यदि मैं पापिनी, क्षुद्र, व्यभिचारिणी, मिथ्यात्विनी हूं, तो यह अग्नि मुझे भस्म करदे, और यदि मैं सती हूं, तो यह मुझे भस्म न करे ।" यह कहते हुए देवी सीता ने अग्नि कुंड के भीतर प्रवेश किया । तत्काल ही वहां स्फटिक के समान स्वच्छंद, शीतल, आनंद प्रद जल हो गया । सर्वत्र

---

१ कर्मणा मनसा वाचा रामं मुक्त्वा परंनरम् ।
समुद्वहामि न स्वप्नेप्यन्यं सत्यमिदं मम ।।२५।।

सीता सती का उज्वल यश व्याप्त हो गया ।

उस समय सीता ने राम से कहा "हे बलदेव ! अब महा क्षुद्र, विनश्वर एवं भयंकर इंद्रियों के भोगों से, जो मूढ़ों के द्वारा सेव्य हैं, क्या प्रयोजन है ? मैंने अनंतभव चौरासी लाख योनियों में महान दुःख पाये । अब मैं संपूर्ण दुखों के विनाश के लिए जैनेश्वरी दीक्षा धारण करूंगी ।

इसके पश्चात् सीता देवी ने पृथ्वीमती आर्यिका के समीप केशों का लोचकर आर्यिका के व्रत धारण किए।

आज अपरिमित काल व्यतीत होते हुए भी सती सीता अपने उज्वल शील गुण के कारण विश्व वंदित विभूति के रूप में अमर है तथा अगणित रमणियों को पवित्र सतीत्व का आदर्श स्मरण कराती हैं ।

शीलवती नारियों की पूज्यता

शील और ब्रह्मव्रत के क्षेत्र में पुरुषों के समान मातृ जाति ने भी गौरवपूर्ण स्थिति प्राप्त की है । कुमारकाल में ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाली महिला रत्न ब्राह्मी, सुन्दरी नामकी भगवान वृषभनाथ की कन्याओं के गौरव को कौन भूल सकता है ? चन्दना, सुलोचना, नीली, चेलना आदि सतियों की गुण गाथा शुभोपयोग को पर्याप्त सामग्री प्रदान करती है । जिनेन्द्र महाभिषेक पाठ में चौबीस जिनमातृकाओं का इस प्रकार स्मरण किया जाता है, "मरुदेवी, विजया सुषेणा, सिद्धार्था, सुमंगला, सुसीमा, पृथ्वी, लक्ष्मणा, जयरामा, सुनन्दा, विपुला-नन्दा, जयावती, आर्यश्यामा, लक्ष्मीमति, सुप्रभा, ऐरादेवी, श्रीकांता मित्रसेना, प्रभावती, सोमा, वर्मिला, शिवादेवी, ब्राह्मी त्रिशला, हम पर प्रसन्न हों ।" मोक्ष मार्ग की पूर्ण साधना तथा महाव्रतों का पालन पुरुष ही कर सकता है, इससे पुरुष की मुख्यता से ग्रंथों में वर्णन है ।

ज्ञानार्णव में लिखा है ।[1] "यद्यपि संसार से विरक्त मुनियों ने

---

१ यमिभिर्जन्म-निर्विण्णैर्दूषिता यद्यपि स्त्रियः ।
तथाप्येकान्ततस्तासां विद्यते नावसंभवः ॥५६॥
ननु सन्ति जीवलोके काश्चिच्छमशीलसंयमोपेताः ।
निज-वंश-तिलकभूताः श्रुतसत्यसमन्विता नार्यः ॥५७॥
सतीत्वेन महत्त्वेन वृत्तेन विनयेन च ।
विवेकेन स्त्रियः काश्चिद्भूषयन्ति धरातलम् ॥५८॥

स्त्रियों को दोष युक्त कहा है। किन्तु उनमें एकान्त रूप से दोष का सद्भाव नहीं पाया जाता है। इस जगत में शांति, शील, संयम संपन्न, श्रुतज्ञान तथा सत्यसमन्वित एवं अपने वंश के तिलक रूप महिलाएं पाई जाती हैं।"

"कोई कोई स्त्रियां अपने सतीत्व, महत्व, चारित्र, विनय तथा विवेक के द्वारा भूतल को अलंकृत करती हैं।" जिस तरह पुरुष स्त्रीके दोषो का चिन्तवन कर वैराग्यभाव को वर्धमान करता है, इसी प्रकार शीलवती स्त्री भी विषम लपटी लोगों का विचार कर उनसे बचते हुए अपने शील रत्न की रक्षा करती है। इतना अवश्य है कि स्त्री और पुरुषों का निकट संपर्क दोनों के पुण्य जीवन के लिए घातक हो सकता है, अतएव दोनों को अपने अपने सदाचरण के रक्षणार्थ सतर्क रहना आवश्यक है।

युवक युवती सानिध्य ठीक नहीं है

आज जो दोनों के समान स्वत्वों की आवाज उठने के साथ युवको तथा युवतियो के साथ साथ अध्ययन की प्रक्रिया चल पड़ी है, उसका परिणाम सदाचरण की दृष्टि से अच्छा नहीं हो सकता। जब वीतराग शासन की छाया में रहने वाले पुरुषों और स्त्रियों को बैठने का पृथक २ स्थान रहता है तब सराग जगत की स्थिति में तो और सतर्कता आवश्यक है। भगवान तीर्थंकर के समवशरण के भीतर जन्म विरोधी जीवो में मित्रता उत्पन्न हो जाती है, कारण तीर्थंकर भगवान का अचिंत्य प्रभाव वहां कार्य करता है। इतना अपूर्व प्रभाव होते हुए भी वहां स्त्री और पुरुषो के बैठने का स्थान पृथक पृथक बताया गया है। समवशरण के प्रथम कोठे में गणधरदेव, दूसरेमें कल्पवासिनी देवी, तीसरे में आर्यिकायें तथा श्राविकायें, चौथे में ज्योतिषी दिव्यांगनाए, पाचवे में व्यंतरनी, छठवें में भवनवासिनी देवियां, सातवें में भवनवासी देव, आठवें में व्यंतरदेव, नवमें में ज्योतिषीदेव, दसवें में कल्पवासी देव, ग्यारहवें में मनुष्य और बारहवें में तिर्यंचजीव बैठते हैं।

(तिलोयपण्णत्ति अध्याय ४ गाथा. ८५६–८६३)

जब परमवीतराग देव के सानिध्य में मुनियो आर्यिकाओं, श्रावक और श्राविकाओं, देव और देवियों को साथ बैठने का वर्णन नहीं आता, तो सराग जगत में जो आज युवको एवं युवतियों की सह शिक्षा की ओर

प्रवृत्ति बढ रही है तथा और भी क्षेत्रों में पुरुषो के साथ स्त्रियो का सम्बध जाडा जा रहा है, इसका कटु फल अब्रम्ह भाव की वृद्धि अवश्यभावी है। इस सम्बन्ध में विदेशा का विशेष चरित्र जहा प्रकाश में आया है, वहा अब्रम्ह की वृद्धि का फल ही प्रगट हुआ है।

गृहस्थ मे ब्रह्मभाव की वृद्धि के लिए कहा है कि आठ वर्ष की अवस्था में बालक का उपनयन संस्कार यज्ञोपवीत विधान करके उसे ब्रह्मचर्य व्रत देवे। वह स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, तथा परिग्रह त्यागव्रत भी लेता है। ताम्बूल आदि पदार्थों का सेवन नही करता है। वह भूमि पर शयन करता है।

भूमौ केवल मेकाकी शयीत व्रत शुद्धये। (पर्व ३८–११६ महापुराण)

यह व्रत विद्याध्यन पर्यन्त रहता है– "यावद्विद्या समाप्ति स्यात्तावद स्येदृशव्रतम्" ॥११७॥ यह शिक्षाप्राप्त करनेतक ब्रम्हचारी रहता है तथा पश्चात गृहस्थाश्रम को स्वीकार करता है वह जिन व्रतो को जीवन भर पालता है, वे ये है–मांस, मधु, पचउदम्बर फल का त्याग, हिंसादि पच पापो का त्याग, ये आठ नियम सार्वकालिक व्रत कहे गए है–[1]

उपनयन ब्रह्मचारी के साथ अवलम्ब ब्रह्मचारी का भी विधान है। वह क्षुल्लक रूप से रहकर आगमका पूर्ण अभ्यास करके गृहस्थाश्रम को अगीकार करता है। जो बिना कोई वेष धारण किए अध्ययन काल तक ब्रह्मचारी रह पश्चात गृहस्थाश्रम स्वीकार करते है वे अदीक्षा ब्रह्मचारी है। जो कुमार मुनि बनकर विद्या का अभ्यास करते है, पश्चात् बधु जन आदि के आग्रह से अथवा परीषह सहन करने की अक्षमता के कारण गृहस्थ बनते है वे गूढ ब्रह्मचारी है। नैष्ठिक ब्रम्हचारी सदा के लिए स्त्री का त्याग करते है। (सागारधर्मामृत अध्याय ७, श्लोक १९)

निर्दोष ब्रम्हचर्य पालन का क्या उपाय है, इस विषय में आचार्य कहते है –जो हर्ष पूर्वक गुरु के कथनानुसार प्रवृत्ति करता है, वृद्धो के स्थान में वास करता है, तरुणो की सगति नही करता है, वह निर्मल ब्रम्हचर्य का रक्षण करता है।

यह यौवन काम सर्प की निवास भूमि है। मानवों का स्फटिक के

---

१ मधुमासपरित्याग –पचोदुम्बरवर्जनम्।
हिंसादि–विरतिश्चास्य व्रत स्यात्सार्वकालिकम् ॥३८–१२२॥

समान निर्मल मन यौवन श्री के चरण पल्लव के रखते ही। रागभाव को धारण करता है ।[1]

यौवन के उन्माद में इस जीव की इंद्रियां निरंकुश हो जाती हैं। अनर्थकारी चार बातों में आद्य स्थान यौवन को प्रदान किया गया है।:-

तारुण्य की वारुणी पिया हुआ व्यक्ति सद्गुरु के अंकुश की परवाह न कर मस्त मत्तंग के समान यथेच्छ प्रवृत्ति करता है। उसे दिन रात काम और कामिनी ही सूझा करती हैं।

अतः जिस तारुण्य में विषय विष वेग से चढता है, उस अवस्था में विशेष सावधानी और विवेक पूर्वक प्रवृत्ति आवश्यक है। राग-रंजित अंत करण रहने पर साक्षात स्त्री की तो बात ही निराली है, उसका चित्र तक विह्वलता उत्पन्न करता है। पुराणों में अनेक कथाएं आती हैं कि चित्र-पट दिखाने मात्र से अनेक व्यक्तियों के चित्त में विकार भावना उत्पन्न हुई है।

अनगार धर्मामृत में लिखा है -

' अधिक क्या कहा जाय,चित्र पाषाण आदि रूप युक्त स्त्री शाकिनीके समान हृदय में प्रवेश करके सैकडो प्रकार की विकृति को उत्पन्न करती है, ।" उनका यह कथन भी मार्मिक है:-

"समीचीन समाधि रूप अग्नि के द्वारा दग्ध किया गया साधु का राग रूपी पारा स्त्री की वाणी रूपी सिद्धौषधि के बल से पुनः जीवित हो जाता है।"[1] अतः स्त्री के विषय में बहुत सावधानी रखना मुमुक्षु का कर्तव्य है।

कोई किसान श्रमकर अपने खेत को विपुल धान्य से हरा भरा करता है, किन्तु यदि उसने खेत की रक्षा न की तो उस बेचारे के किए कराए पर पानी फिर जाता है और अंत में पश्चात्ताप ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार इस दुर्धर असि धारा व्रत नाम से ख्यात ब्रह्मचर्य के रक्षण निमित्त नव बाढों पर

शील की रक्षा के उपाय

---

१ यौवनमनगभुजंग-निवास-रसातलं । स्फटिकोपल-विमल-मपि मनो मानवानां यौवनलक्ष्मीपादपल्लवन्यासेन समुद्वहति रागम् ॥

१ सम्यग्योगाग्निना रागरसो भस्मीकृतोऽप्यहो ।
उज्जीवति पुनः साधो. स्त्री वाक्सिद्धौषधीबलात् ॥४-८७॥

ध्यान न दिया, तो अब्रह्म के पशु इस जीव की पवित्र खेती को खाकर खतम कर देंगे। कहा भी है –

तियथल वास प्रेम रुचि निरखन, देखि रीझि भाषै मधु बैन ।
पूरव भोग केलिरस चितवन, गरुव अहार लेत चित चैन ॥
कर सुचि तन सिंगार बनावत, तिय-परजंक मध्य सुख सैन ।
मनमथ-कथा उदर भर भोजन ये नव बाढ जान मत जैन ॥ ३८
'नाटक समयसार'

शीलव्रत की सार्वभौमिकता पर विचार

श्वेताम्बर शास्त्र स्थानांग लिखा है,"[1] कि इस ब्रह्मचर्य धर्म का वर्णन चौबीस तीर्थंकरो में से केवल आदिनाथ और महावीर ने किया है। इसके आधार पर लोग महावीर और पार्श्वनाथ भगवान की धार्मिक देशना में मतभिन्नता की कल्पना करते हैं। ब्रह्मचर्य जैसे सार्वभौम व्रत का उपदेश कुमारकाल से ही ब्रह्मचारी बनने वाले भगवान पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, वासुपूज्य सदृश तीर्थंकरो के उपदेश में नही आना आश्चर्य की बात है। ब्रह्मचर्य का पारमार्थिक अर्थ शुद्ध आत्मा में लीन होना है– 'ब्रह्मणि चरण ब्रह्मचर्यम्' उस ब्रह्मचर्य व्रत को भुला देने की बात जिनेन्द्र सर्वज्ञ की वाणी में मानना योग्य नही दिखता।" स्थानांग की टीका में लिखा है 'यहाँ मैथुन का परिग्रह में अन्तर्भाव हो जाता है। स्त्री अपरिगृहीत रूप नही सेवन की जाती।'"[2] यहाँ जो कथन किया गया है वह शिथिलाचार का पोषक है तथा तर्क शुद्ध भी नही है। जिस प्रकार श्वेताम्बर साधु वस्त्र आदि बहुत सी सामग्री साथ में ले उनसे अपनी वांछा पूर्ण करते है और उनके प्रति ममत्व न बता अपने को परिग्रह त्यागी कहते है, इसी तर्क के आधार पर कोई विलासी स्वभाव वाला साधु स्त्री को साथ में रखते हुए भी कह सकता है, कि मै वस्त्रादि के समान सदा ममत्व छोडकर उपभोग करता हूँ। अतएव तर्कभाषा में ममत्व बिना सेवित स्त्री में वस्त्रादि के समान अपरिग्रह रूपता होने से अपरिग्रहत्व रह जायगा, किंतु ब्रह्मचर्य व्रत का, सर्वनाश हो जायगा। अतएव ब्रह्मचर्य का पृथक कथन दिगंबर

---

१ भरहेरवएसु ण वासेमु पुरिम पच्छिम वज्जा ।
मज्झिमगा बावीस अरहंता चाउज्जामं धम्मं पण्णवेंति । तंजहा सव्वाओ पाणातिवायाओ वेरमणं, एवं दाणाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिन्न-दाणाओ वेरमणं, सव्वाओ वाहिद्धाओ वेरमणं ।

२ इह च मैथुनं परिग्रहेन्तर्भवति, नह्यपरिगृहीता योषिद् भुज्यते ॥

परपरा में आवश्यक बताया है। यदि परिग्रह त्याग व्रत में ब्रह्मचर्यको निहित माना जावे, तो परिग्रह त्याग की पचभावनाओ के स्थान में दस प्रकार की भावनायें कहना न्याय संगत होगा।

गौतम गणधर ने प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी में चौथे महाव्रत को मैथुन विरमण 'तुरियं मेहुणादो वेरमण" कहा है। उसमें यह नही लिखा है कि इस व्रत का कथन केवल दो तीर्थंकरो ने किया है, अत ब्रह्मचर्य व्रत का प्रतिपादन सभी तीर्थंकरो ने किया है यह मानना निभ्रांति है अध्यात्म विद्या से परिचय रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्मचर्य महाव्रत का मूल्य आकना ही होगा।

योग साधन में भी ब्रह्मचर्य का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। चित्त वृत्ति के निरोध के लिये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ध्यान, धारणा तथा समाधि ये अष्टाग कहे गये है। इनमें यम के द्वादश भेद कहे गये हैं, उनमें ब्रह्मचर्य का स्थान है, जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असग, ह्री, असचय, आस्तिक्य, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थैर्य, क्षमा और अभय। इस योग के रहस्य को प्राप्त पुरुष अमर पद को प्राप्त करते हैं। मानवी जीवन का मूल आधार शुक्र है। उसका सरक्षण चित्त की पवित्र वृत्ति पर निर्भर है। इसके लिए एकांत वास, नियमित आहार-विहार की आवश्यकता मानी गई है।

हठयोग प्रदीपिका में लिखा है-

"मनुष्यो का शुक्र चित्त के अधीन है और जीवित शुक्राश्रित है। अतः प्रयत्न पूर्वक शुक्र तथा मन का रक्षण करना चाहिए।"[1] इस प्रकार यह जीव ब्रह्मत्व की उपलब्धि करना है।" सागार धर्मामृत में लिखा है— "जो गृहस्थ अपनी स्त्री मात्र में सतोष धारण करता है और अन्य नारियों की कभी भी स्पृहा नही करता है वह जब अद्भुत प्रभाव सम्पन्न होता है, तब सम्पूर्ण स्त्रियो से विरक्त वर्णी-ब्रह्मचारी का क्या वर्णन करें ?"

महाव्रती मुनि के ब्रह्मचर्य का स्वरूप मूलाचार में इस प्रकार कहा गया है-

"मुनिराज चित्र, पाषाण आदि रूप अचेतन स्त्री, देवागना, मनु-

---

१ चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम्।
तस्मात् शुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं-प्रयत्नतः॥

देना आवश्यक है। यद्यपि मैंने ब्रह्मचर्य के साथ आहार और उपवास का निकट संबंध बताया है, फिर भी यह निश्चित है, कि प्रधानतः मन के ऊपर ही ब्रह्मचर्य निर्भर है। मलिन मन उपवास से शुद्ध नहीं होता। आहार संबंधी सादगी का असर मन पर नहीं हो सकता। मन की मलिनता विचार द्वारा, ईश्वर-ध्यान के द्वारा और अत मे परमात्मा के प्रसाद द्वारा ही दूर होती है। लेकिन मन का शरीर के साथ निकट संबंध है। और विकार युक्त मन विकार पैदा करने वाले भोजन की ही खोज में रहता है। विकृत मन नाना प्रकार के स्वादो और भोगों को ढूढता फिरता है और फिर उस आहार और भोगों का प्रभाव मन के ऊपर पडता है। इस कारण और इस परिमाण में भोजनादि में संयम रखने और निराहार की आवश्यकता जरूर होती है।"

"विकार ग्रस्त मन शरीर के ऊपर, इंद्रियो के ऊपर अपना अधिकार नही रख सकता। बल्कि उसके बदले वह शरीर और इंद्रियों का गुलाम बन जाता है। इस कारण से भी शरीर के लिये शुद्ध और सबसे कम विकार उत्पन्न करने वाले आहार की और प्रसंग वश निराहार और उपवासादि की भी आवश्यकता रहती है। मेरे अनुभव ने मुझे यही शिक्षा दी है कि जब मन सयम की ओर झुकता है, तब भोजन की मर्यादा और उपवास खूब सहायक होते है। इनकी सहायता के बिना मन को निर्विकार बनाना असंभव सा ही मालूम होता है।" (पृ० ११२-११३ शीर्षक 'संयम की ओर')

ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाले को धन के प्रति स्पृहा रखना अयोग्य कहा है। सोमदेव सूरि लिखते है, "निवृत्त स्त्री सगस्य धन परिग्रहो मृतमण्डवमिव – राजरक्षा समुद्देश" ९५-२२३ "स्त्री संबध त्यागी के द्वारा धन का परिग्रह करना मृत मनुष्य के शरीर में आभूषण पहिनाने के समान है।"

यही सागार धर्मामृत में भी लिखा है।[1] आचार्य का कथन है कि इंद्रियो में रसना इंद्रिय को वश करना कठिन है, कर्मों में मोहनीय को जीतना और व्रतो में ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा गुप्तियो में मनोगुप्ति को धारण करना ये चार बातें कठिन है।"[2] ऐसा दुर्धर यह ब्रह्मचर्य व्रत है। इस व्रत के प्रसाद से जीव संसार परिभ्रमण से मुक्त होकर सिद्ध पद को प्राप्त करता है।"[3]

---

१ मृत मंडन कल्पो हि स्त्री-निरीहे धनग्रहः॥

२ अक्खाण रसणी कम्माण मोहिणी तह वयाण बंभं च।
गुत्तीय मण गुत्ती चउरो दुक्खेण सिज्झति ॥

ष्यनी, तिर्यंचिनी सम्बन्धी कुशील का मन, वचन, काय से प्रयत्नशील होकर त्याग करते हैं ।" इस विषय में टीकाकार लिखते हैं–

"नित्यमपि मुनिः प्रयत्नमनाः स्वाध्यायपरो लोकव्यापार रहितः सर्वाः स्त्रीप्रतिमाः मातृ-दुहितृ-भगिनीवत् चिंतेत् । नैकाकी ताभिः सहैकांते तिष्ठेत् । न वर्त्मनि गच्छेत् । न च रहसि मंत्रयेत् । नाप्येकाकी सन् एकस्याःप्रतिक्रमणादिकं कुर्यात् । येन येन जुगुप्सा भवेत् तत्सर्वं त्याज्यमिति ।।"

"मुनि सदा प्रयत्नचित्त हो स्वाध्याय में तत्पर रहे । लौकिक व्यापार से रहित हो सर्व स्त्री मूर्तियों को माता, बेटी, बहिन के समान चिंतवन करे। उनके साथ एकान्त में अकेला न रहे । न उनके साथ एकाकी मार्ग में गमन करे, न एकान्त में उनके साथ विचार करे । न एकाकी होकर किसी स्त्री के साथ प्रतिक्रमण आदि करे । जिस जिस कारण से जुगुप्सा का भाव हो, उस सबका त्याग करे ।"

इस ब्रह्मचर्य नामक चतुर्थ व्रत में स्थिरता निमित्त पांच प्रकार की भावनायें कही गई हैं ।

शील की भावनाएं

दुष्ट परिणाम पूर्वक महिलाओं को देखना, पूर्व में भोगे गए भोगों का स्मरण, संसक्त वसति, विकथा अर्थात स्त्री, चोर, राज्य, तथा भोजन कथा और राग तथा मद जनक आहार, इन पाँच बातों का त्याग ब्रह्मचर्य व्रत की भावना कहा गया है । तत्वार्थ सूत्र में लिखा हैः–

"स्त्री संबंधी राग उत्पन्न करने वाली कथा का त्याग, नारियों के मनोहर अंगो के निरीक्षण का त्याग, पूर्व में भोगे हुए भोगों के स्मरण का त्याग, कामोद्दीपक तथा रागवर्द्धक रसों का त्याग तथा अपने शरीर के संस्कार का त्याग, ये ब्रह्मचर्य व्रत की पाच भावना कही गई है ।"[२]

ब्रह्मचर्य के विषय में गांधी जी ने अपनी आत्म कथा में लिखा है.– जो लोग ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, उनके लिए यहाँ एक चेतावनी

---

१ अच्चित्तदेव-माणुस-तिरिक्ख-जादं च मेहुणं चदुधा ।
तिविहेण तं ण सेवदि णिच्चं पि मुणी हि पयदमणो ॥

२ स्त्रीरागकथाश्रवण – तन्मनोहरांगनिरीक्षण – पूर्वरतानुस्मरण वृष्येष्टरस – स्व शरीर–संस्कारत्यागाः पंच ।। ७–७

देना आवश्यक है। यद्यपि, मैंने ब्रह्मचर्य के साथ आहार और उपवास का निकट संबंध बताया है, फिर भी यह निश्चित है, कि प्रधानतः मन के ऊपर ही ब्रह्मचर्य निर्भर है। मलिन मन उपवास से शुद्ध नही होता। आहार संबंधी सादगी का असर मन पर नही हो सकता। मन की मलिनता विचार द्वारा, ईश्वर-ध्यान के द्वारा और अंत में परमात्मा के प्रसाद द्वारा ही दूर होती है। लेकिन मन का शरीर के साथ निकट संबंध है। और विकार युक्त मन विकार पैदा करने वाले भोजन की ही खोज में रहता है। विकृत मन नाना प्रकार के स्वादो और भोगो को ढूंढता फिरता है और फिर उस आहार और भोगों का प्रभाव मन के ऊपर पड़ता है। इस कारण और इस परिमाण में भोजनादि में संयम रखने और निराहार की आवश्यकता जरूर होती है।"

"विकार ग्रस्त मन शरीर के ऊपर, इंद्रियो के ऊपर अपना अधिकार नही रख सकता। बल्कि उसके बदले वह शरीर और इंद्रियो का गुलाम बन जाता है। इस कारण से भी शरीर के लिये शुद्ध और सबसे कम विकार उत्पन्न करने वाले आहार की और प्रसंग वश निराहार और उपवासादि की भी आवश्यकता रहती है। मेरे अनुभव ने मुझे यही शिक्षा दी है कि जब मन संयम की ओर झुकता है, तब भोजन की मर्यादा और उपवास खूब सहायक होते है। इनकी सहायता के बिना मन को निर्विकार बनाना असंभव सा ही मालूम होता है।" (पृ० ११२-११३ शीर्षक 'संयम की ओर')

ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाले को धन के प्रति स्पृहा रखना अयोग्य कहा है। सोमदेव सूरि लिखते है, "निवृत्त स्त्री संगस्य धन परिग्रहो मृतमण्डनमिवं – राजरक्षा समुद्देश" ९५-२२३ "स्त्री संबंध त्यागी के द्वारा धन का परिग्रह करना मृत मनुष्य के शरीर में आभूषण पहिनाने के समान है।"

यही सागार धर्मामृत में भी लिखा है।[1] आचार्य का कथन है कि इंद्रियों में रसना इंद्रिय को वश करना कठिन है, कर्मों में मोहनीय को जीतना और व्रतो में ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा गुप्तियो में मनोगुप्ति को धारण करना ये चार बातें कठिन है।[2] ऐसा दुर्धर यह ब्रह्मचर्य व्रत है। इस व्रत के प्रसाद से जीव संसार परिभ्रमण से मुक्त होकर सिद्ध पद को प्राप्त करता है।"[3]

---

१ मृत मंडन कल्पो हि स्त्री-निरीहे धनग्रहः॥

२ अक्खाण रसणी कम्माण मोहिणी तह वयाण बंभं च।
गुत्तीय मण गुत्ती चउरो दुक्खेण सिज्झंति॥

अपरिग्रह महाव्रत

स्वरूप

परिग्रह त्याग महाव्रत के विषय में मूलाचार में लिखा है –"ग्राम, नगर, अरण्य, पत्तन, मटंबादिक, क्षेत्रगृहादिक, नौकर चाकर, गोमहिषी आदिक, सचित्त परिग्रह, अनेक भेद युक्त सूक्ष्म परिग्रह यथा सुवर्ण, वस्त्रादि बाह्य परिग्रह, तथा मिथ्यात्व क्रोधादि अतरग परिग्रह का मन वच काय से त्याग करे।"

अमृतचन्द्र सूरि का कथन है:– "जो मूर्छा है, वह परिग्रह जानना चाहिए। मोह के उदय से उत्पन्न ममत्व के परिणाम को मूर्छा कहते हैं।" तत्वार्थ सूत्र में "मूर्छा परिग्रह." लिखा है।

मूर्छा वर्णन

स्वामी समन्तभद्र ने श्रावको के परिमित परिग्रह व्रत का नाम–'इच्छा-परिमाण–व्रत,' भी रखा है। वे लिखते हैं,"धन धान्य आदि ग्रंथ अर्थात् परिग्रह को मर्यादित करके उससे अधिक वस्तु के सग्रह के विषय में निस्पृह वृत्ति धारण करना परिमित परिग्रह व्रत है। इसे इच्छा परिमाण नाम से भी कहते हैं।"[1] परिग्रह का पूर्ण या आशिक तथा-वचित त्याग का सद्भाव तब ही होगा, जब कि जीव की मूर्छा कम होगी। परमार्थ दृष्टि से देखा जाय तो जब तक यह प्राणी अनात्म शरीरादिको को आत्म बुद्धि नही छोडता है, तब तक उसका मूछित रहना स्पष्टतया सिद्ध होता है। ससार में मूर्छा उस अवस्था को कहते हैं जिसमें अपने पराये का कोई भी भान नही रहता है। आयुर्वेदशास्त्र में लिखा है "कि मनुष्य सुख दुःखकी सवेदना शून्य बनकर काष्ठ की भाति गिर जाता है, इसे मोह या मूर्छा कहते है।"[2] शरीर-शास्त्रोक्त मूर्छा के साथ परिग्रह के पर्यायवाची मूर्छा भाव का साम्य है। आत्मा मोहनीय कर्म के कारण अपने असली सुख को भूल गया है। आत्म स्वरूप का इतना विस्मरण हो गया है कि इस शरीर को ही आत्मा मान शरीर के ह्रास, विकास में आत्मा का क्षय तथा उन्नति समझता है। जब

---

१ धन्न धान्यादि ग्रंथ परिमाय ततोधिकेषु निस्पृहता।
परिमित–परिग्रहः स्यादिच्छा–परिमाणनामापि ॥६१॥

२ सुख –दुःख –व्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत्।
मोहो मूर्च्छेति तामाहु. षड्विधा सा प्रकीर्तिता॥ योगरत्नाकर पृ ३०५

आत्म विस्मृति हुई, तब शरीर को ही आत्मा सदृश अनुभव किया, पश्चात् पुत्र, भार्या, धन, धान्य, मकान आदि के साथ ममकार के ताने बाने द्वारा अत्यन्त आत्मीय भाव स्थापित हुआ । वट का बीज लघु होता है, किन्तु वृक्ष में रूप में उसका विकास होने पर आश्चर्य होता है, कि लघुतम बीज इतना बड़ा वृक्ष कैसे बन सका ! इसी प्रकार ममत्व की लघु बीज शरीर मे आत्म बुद्धि से प्रारंभ होकर शरीर के उत्पन्न करने मे निमित्तो को जनक और जननी मानता है, साथ में उत्पन्न होने वालो को भाई और बहिन समझता है । जनक और जननी के भाई बहिनो तथा उनके माता, पिता आदि को भी अपना बनाता है, फिर अपने द्वारा जन्य को पुत्र, पुत्री और उनकी संतति आदि को भी उसी प्रकार अपने मोह जगत् की मंजुल कड़िया मानता है । इस प्रकार रिश्तेदारी, जातीयता आदि का भाव बनता है । शरीर को सुख देने वाले भोज्य पदार्थ, विश्राम देने वाले भवन आदिक तथा अन्य आनंददायिनी सामग्री के साथ ममता का संबंध होता है, तथा विपरीत वस्तुओं के साथ अनिष्टता का सम्बन्ध होता है । इस तरह शरीर और आत्मा के ऐक्य का विष फैलकर संपूर्ण विश्व के साथ मोह का बंधन पैदा करता है । पंचाध्यायीकार का कथन है कि "यह अपने स्वरूप का नाश कर संपूर्ण विश्व को मोह वश अपना मानता है, यद्यपि यह विश्व से पूर्णतया पृथक है ।"

शरीर में आत्म बुद्धि होने से यह मेरा पुत्र है, मेरी स्त्री है, मेरा भाई है इत्यादि कल्पनाएं उत्पन्न होती है । उन कल्पनाओं के आधार पर पुत्र, भार्या आदि की समृद्धि को आत्मा की समृद्धि मानता है और इस प्रकार खेद है कि यह जगत् स्वरूप से बहिर्भूत होकर नष्ट हो रहा है । ऐसी स्थिति में यह जीव अपने चिदानन्द स्वभाव की ओर कैसे उन्मुख हो सकता है ? इसीलिए परिग्रह का मूलबीज शरीर में आत्म बुद्धि है और इसीसे सत्पुरुषों ने इस मिथ्याबुद्धि को विश्व की विपत्ति का मूल कहा है । आचार्य कहते है-"शरीर में आत्म बुद्धि ही संसार के दुःखों का मूलकारण है अतः इस मिथ्या कल्पना को छोड़कर बाह्य विषयों की प्रवृत्ति को रोककर अपनी आत्मा में ही स्थिरता धारण करे ।" अनात्म विश्व से संपर्क की शृंखला की आदि कड़ी देह में देही की स्व बुद्धि है । इस मूढ़ता के कारण यह अतत्त्वज्ञ नर शरीर में स्थित आत्मा को मनुष्य, पशु शरीर में स्थित आत्मा को पशु, देव शरीर में स्थित आत्मा को देव, और नारकी

शरीर में स्थित आत्मा को नारकी मानता है । आत्मा ने जो शरीर धारण किया, उसी रूप आत्मा को वह मानता है, किन्तु तत्वत ऐसी बात नही है, आत्मा तो अनत ज्ञान और अनत शक्ति का धारक है, स्वानुभव-गोचर है, सर्वदा अपने स्वरूप से अच्युत है ।" इस स्व-पर विवेक के अभाव वश कर्मों का कुचक्र इस जीव को खूब नचाता है, और इसकी बडी से बडी दुर्गति करता है । इसी कारण जब यह विकास शून्य एकेन्द्रिय वनस्पति काय का जीव होता है तब इसका अक्षर के अनतवें भाग रूप अल्पतम ज्ञान होता है । अनत जीवो के साथ इसका जन्म मरण होता है । साधारण श्वासोच्छ्वास होता है । एक श्वास के अल्प समय में अष्टादश वार जीवन मरण का झूला यह झूला करता है ।

पर पदार्थ में ममता

यह जीव मूर्छा वश पर वस्तुओ को अपनाता है, अपनी आत्मा बना डालता है और अपनी आत्मा के विषय में मरा सा हो जाता है । इस जीव को अपने आत्म वैभव की बात विचित्र सी लगती है और उस ओर चित्त नही जाता है । इसका कारण यह है कि "अनत भवो से यह जीव पर पदार्थ में मूर्छित हो रहा है, अत स्व की उपलब्धिका कार्य इसे पीडाप्रद प्रतीत होता है । इसका कारण यह है कि काम, भोग, विषयक बध की कथा सब जीवो के अनत वार सुनने में परिचय में तथा अनुभव में आई है, अतएव वह कठिन नही मालुम पडती है, किन्तु आत्मा के शुद्ध एकत्व की कथा न सुनने में आई, न परिचय में आई और न अनुभव में आई है ।" परिचय न होने से अपना पराया सा लगता है । आचार्य समझाते है कि "एक व्यक्ति ने दूसरे के वस्त्र को पहिन लिया और वह उसे अपना मान रहा है, पश्चात विशेष चिन्ह बताए जाने पर उसे ज्ञात हो जाता है कि यह वस्त्र तो मेरा नही है । इसी प्रकार अनादि मिथ्यात्व की अधियारी के कारण यह जीव पुद्गल शरीरादि को अपना स्वरूप समझता है, किन्तु ससार सिधु के तट के निकट आने पर श्री गुरु के प्रसाद से इसे अपनी भूल का ज्ञान होता है । तब यह उन अनात्म पदार्थों के प्रति तत्काल आसक्ति का त्याग करता है और अपनी आत्मा को कर्म पक से पृथक करने की पवित्र प्रक्रिया में सलग्न हो जाता है । नाटक समयसार में लिखा है-

जैसे कोऊ जन गयो धोबी के सदन तिन,
पहरयो परायो वस्त्र मेरी मानि रह्यो है ।

धनी देखि कह्यो भैया यह तो हमारो वस्त्र,
चीन्हो पहिचानत ही त्यागभाव लह्यो है ।
तैसे ही अनादि पुद्गल सो सजोगी जीव,
सग के ममत्व सो विभावता मे वह्यो है ।
भेदज्ञान भयो जब आपा पर जान्यो तब,
न्यारो पर भाव सो स्वभाव निज गह्यो है ॥८३॥

तत्वज्ञान के जागृत होते ही यह जीव अनात्म पदार्थो के प्रति अत करण में पृथक भाव की श्रद्धा को स्थान देता है, तथा शनै शनैः रागभाव त्यागता है। यह रागभाव रूप बन्धन बडी कठिनता से छूटता है ।

पद्मपुराण से ज्ञात होता है कि सीता का जीव आर्यिका के व्रतो का सम्यक्प्रकार परिपालन के पश्चात स्त्री लिंग छेदकर सोलहवें स्वर्ग में स्वयप्रभ नाम का प्रतीन्द्र हुआ था। कुछ काल पश्चात् महाराज रामचन्द्र जी ने दिगम्बर मुनि की मुद्रा स्वीकार की। वे गम्भीर आत्म ध्यान में मग्न थे । उस समय सीता के जीव को स्वर्ग में यह मोह पैदा हुआ कि यदि राम के मनम थोडा सा राग का भाव जग जायगा तो ये मोक्ष न जाकर स्वर्ग में आवेंगे । इस तरह इनका साथ पुनः हो जायगा । पश्चात वे चयकर मनुष्य भव प्राप्त करेंगे, तब हम दोनो तपस्या करेंगे । इस प्रकार हमारा इनका साथ रहेगा । सीता का जीव मन में क्या चिन्तवन करता था, इसे रविषेण आचार्य इस प्रकार अंकित करते हैं –

"इन सुन्दर रामने हल रूप आयुध के द्वारा बाह्य शत्रुओ पर विजय प्राप्त की थी और अब ये ध्यान की सामर्थ्य द्वारा इन्द्रियो को वश करने में उद्यत हुए हैं । ये क्षपक श्रेणी पर आरूढ हो रहे हैं । ऐसे अवसर कुछ राग उत्पन्न करने का कार्य करू, जिससे मेरे परम स्नेही राम का ध्यान विचलित हो जाय । इससे ये अच्युत स्वर्ग में मेरे साथी हो जायगे, तब मैं इनके साथ महा मैत्री से उत्पन्न प्रेमपूर्वक बडी शोभा सहित मेरु पर्वत तथा नदीश्वर की वदना को सानन्द जाऊगा ।"

इसके पश्चात उस सीता के जीव ने सीता का रूप धारण कर सर्व प्रकार की श्रृगार युक्त रागवर्धक चेष्टायें की जैसे कामदेव बाहुबलि मुनिपद धारण करने पर पहले देवताओ ने किया था ।

आचार्य रविषेण लिखते है "इस प्रकार की अन्य लोगो के हृदय को आकर्षित करने करने वाली क्रियाओ से राम का मन क्षोभ को नही

प्राप्त हुआ जिस प्रकार प्रचण्ड पवन से सुमेरू पर्वत विचलित नही होता है।'

रामने शुक्लध्यान पर आरूढ होकर शीघ्र ही केवलज्ञान ज्ञान प्राप्त किया और तब सीता के जीव स्वयप्रभदेव ने भगवान रामचन्द्र की पूजा की, दुर्बुद्धि द्वारा किए गए दोष की क्षमायाचना की। इससे यह स्पष्ट होता है कि जब सम्यक्त्वी जीव तक मोह के कारण ऐसे अनर्थ करने को उद्यत हो जाता है, तब मिथ्यात्वी की तो बात ही निराली है ?

यह शंका हो सक्ती है कि क्या सम्यक्त्वी जीव ऐंसी जघन्य रागात्मक पाप प्रवृत्तियो में सलग्न होगा ? वह तो ज्ञान चेतना से भूषित रहता है। इस शका का निवारण पंचाध्यायी के इस कथन से होता है। "यह सत्य है तब तक सम्यक्त्वी जीव ऐसी हीन क्रियायें करता है जब तक तक वह जघन्य पद में स्थित है। चारित्र मोहनीय का उदय जघन्य पद का कारण है।" मिथ्यात्व जनित मूर्छारूप परिग्रह यदि है तो वाह्य दिगम्बर वेप होते हुए भी वह सच्चामुनि नही कहला सकता है। उसे द्रव्य लिंगी कहते है । महर्षि कुदकुंद ने लिखा है:- "शरीर के नग्न होने से कार्य सिद्धि नहीं होती, भाव से नग्न होना चाहिए। द्रव्य नग्नत्व और भावतः दिगम्बरत्व के द्वारा कर्म प्रकृतियो के समुदाय का नाश होना है। परिणामों में अशुद्धता होते हुए वाह्य परिग्रह का त्याग करता है, तो ऐसे भाव से विहीन वाह्य परिग्रह का त्याग क्या करेगा?"

वाह्य सामग्री का अभाव तो निर्धन पापी जीवो के भी पाया जाता है किन्तु उनके अन्तरग मूर्छा की प्रचुरता वश पाप का सचय होता है। लगोटी लगाकर मछली मारने में उद्यत धीवर की तुलना लंगोटी मात्र परिग्रह धारी ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक से नही हो सक्ती । एक हिंसा की साक्षात मूर्ति है, दूसरा संयम का उज्वल आराधक है। अतः अंतरग मूर्छा परिणाम को परिग्रह की संज्ञा दी है ।

गृहस्थ वन में गया है, फिर भी वह गृहस्थ कहलायगा, कारण उसके अतःकरण में घर के प्रति ममता विद्यमान है। मुनि घर में भी रहे तो भी उनको गृहस्थ नही कहेंगे, कारण उनके मूर्छा का अभाव है। जिस मुनि में मूर्छा का सद्भाव है, उससे मूर्छा रहित गृहस्थ को जिनागम में महान माना गया है । समंतभद्र स्वामी लिखते है:-

"मोहभाव रहित गृहस्थ मोक्ष मार्गी है, किन्तु मोही मुनि मोक्षमार्गी नहीं है। मोही मुनि की अपेक्षा निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है।" असली परि-

ग्रह तो मूर्छा का परिणाम है। बाह्य परिग्रह को उपचार से परिग्रह मानते हैं, कारण उसके निमित्त से अन्तरग में मूर्छा का उदय होता है।

परिग्रह सज्ञा के कारण

यदि अतरग में मूर्छा भाव है तो यह जीव पूर्णतया परिग्रही है। और जब तक यह परिग्रह है तब तक जीव असली आनद और शांति से वचित रहता है। इस परिग्रह सज्ञा की जागृति के कारणो का इस प्रकार आगम में कथन है:- "परिग्रह के साधनो के दर्शन होने से, उनका चितन करने से, परिग्रह के प्रति मूर्छा भाव वाले व्यक्तियों के सतत सामीप्य से तथा लोभ कषाय की उदीरणा होने से परिग्रह सज्ञा—परिग्रह विषयक अभिलाषा उत्पन्न होती है।"[1] यहा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परिग्रह के विषय में प्रकाश डाला गया है। मूर्छा रोग से पीडित व्यक्ति के देखने से, उसके पास जाने आने से दूसरे मनुष्य में बेहोशी नही लगती है, किन्तु यह परिग्रह के प्रति मूर्छा भाव सक्रामक रोग से भी भयकर है। बडे बडे वैभव-विभूति को देखने से परिग्रह की आकाक्षा जगती है। इतना ही क्या, परिग्रह का चितन करने पर वह मूर्छा इस जीव को सताने लगती है। अतएव इसे महामूर्छा ही जानना चाहिए। धनिको के ससर्ग में आने से भी यह पर-वस्तु के सग्रह का विष चढने लगता है, और विपत्ति का मूल लोभ कषाय भी बढता है। उसकी उदीरणा होने पर उपरोक्त साधन न हो तो भी परिग्रह संज्ञा उत्पन्न होती है।

इस लोभ की कथा अद्भुत है, इसके आधीन हो, ससार में ऐसा पाप नही, जो नही किया जाता। विश्व की समस्त अनर्थ मूलक प्रवृत्ति का प्राणदाता यह लोभ कषाय है। क्रोध, मान, माया कषाय की मौत आते हुए भी यह लोभ राक्षस सूक्ष्म-सापराय के रूप में दशवें गुण स्थान तक भी जीवित रहता है। इसके नष्ट होते ही बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि को अन्वर्थ रूप से निर्ग्रन्थ कहा जाता है जो क्षण मात्र में त्रयोदशम गुण स्थान को प्राप्त कर अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतसुख तथा अनतशक्ति रूप अनतचतुष्टय को प्राप्त करता है। इस लोभ के आधीन रहने से व्यक्ति का पतन होता है, और इस पर विजय प्राप्त कर अपरिग्रही बनने से

---

१ उवयरण-दसणेण य तस्सुवओगेण मुच्छिदाए य ॥
लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा ॥

आत्मा का विकास होता है ।

गुणभद्र स्वामी कहते हैं, "ग्रहण करने की इच्छा वाले नीचे जाते हैं और अग्रहण की इच्छा वाले उन्नत होते हैं, यह बात स्पष्टतया तराजू के नीचे ऊंचे जाने वाले पलड़े द्योतित करते हैं ।"

परिग्रह द्वारा तृष्णा-वृद्धि

अपनी तृष्णा को शांत करने के लिए दान वैभव के संग्रह में तत्पर मानव से आचार्य कहते हैं,- "अरे भाई ! तू आशा रूपी अग्नि में धन रूपी ईंधन की राशि डालता हुआ उसकी वृद्धि की स्थिति में उसे जाज्वल्यमान देखकर भ्रांत हो उसे शान्त मानता है ।"

कहते हैं कि एक शांत संतोषी विद्वान की राजा से मैत्री हो गई । राजा ने प्रसन्न होकर कहा-"पंडितराज! तुम्हें जितना धन चाहिए उतना माँग लो।" पंडितजी ने अपनी आवश्यकता का विचार कर एक सुवर्ण शलाका बनाने के लिए तीन मासे स्वर्ण की माँग की । राजा विद्वान की निस्पृहता से बहुत प्रभावित हुआ और बोला "विद्वन्! तुम्हें मैं यह अधिकार देता हूँ कि मेरे खजाने की धन राशि में से रात्रि भर में जितना धन निकालना चाहो उतना निकाललो ।" इस प्रकार नरेश का प्रसाद पा वह ब्राह्मण पंडित खजाने में गया । रत्नों की राशि, सुवर्ण का समुदाय देखकर उसकी निस्पृह वृत्ति न जाने कहाँ चली गई और उसके सिर पर संग्रह का भूत सवार हो गया । उसने सारी रात धन का निकालना और रखना जारी रखा । राजा को यह स्वप्न में भी ध्यान न था कि यह गरीब ब्राह्मण इतना अधिक लालची होगा । प्रभात होने पर पंडित महोदय राजा के समक्ष उपस्थित किए गए । सब धन का मूल्य जोड़ने पर केवल तीन करोड़ का हुआ; उस समय राजा ने ब्राह्मण पंडितजी से पूछा"क्या महाराज तीन मासे का कार्य तीन कोटि के द्रव्य से भी पूर्ण नहीं होगा?" उत्तर में वह लालची ब्राह्मण बोला, "शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि लाभाल्लोभः प्रजायते । राजन् ! सुनो मैं कहता हूं-लाभ होने से लोभ की उद्भूति होती है ।"

धन वैभव के शिखर पर बैठे हुए व्यक्तियों से पूछो कि इसमें तुम्हें क्या सचमुच में संतोष और आनंद है, तो वे नकार के रूप में ही उत्तर देंगे ।

एक कोट्याधीश स्नेही, विवेकी सेठ जी से मैंने पूछा,-"क्यों सेठसाहब! ये हीरे जवाहरात के कंठे आदि आभूषण आपको तृप्ति और आनंद तो दे

होंगे ?" वे बोल उठे, "इस वैभव में असली आनन्द कहाँ है ? असली आनन्द का अक्षय भंडार तो आत्मा है। इस परिग्रह में आनन्द नहीं है। यह तो पर वस्तु है।"

इस वैभव के संग्रह का जब नशा चढ़ता है तब तो किसी भी उपाय से धन का संग्रह करने की इच्छा होती है, किन्तु पश्चात् अवस्था आदि के परिवर्तन होने पर अथवा परलोक के प्रस्थान करते समय यह बात हृदय अनुभव करने लगता है कि इस परिग्रह के पीछे दौड़ने में, या संग्रह करने में जो मैंने उद्योग किया, वह बिलकुल बेकार गया।

कहते हैं बादशाह आलमगीर औरंगजेब जब मृत्यु शय्या पर पड़ा, तब उसने अपने बेटे को एक पत्र लिखा था, जिससे ज्ञात होता है कि परिग्रह-पिशाच की संगति और समाराधना से कल्याण की प्राप्ति नहीं होती। औरंगजेब की आत्माभिव्यक्ति कितनी यथार्थ है, यह इससे स्पष्ट ज्ञात होती है।

परिग्रह से पश्चात्ताप

धन बल कुछ भी मैं था नहीं साथ लाया।
सब विभव यहीं था आप मैंने कमाया।
पर न सुकृत से था हाय मेरा कमाना।
अब कलुष बिना है और क्या साथ जाना ॥१॥
रह रह उठती है चूक ही आज हूक।
यह कठिन कलेजा हो रहा टूक टूक।
समयगत हुआ है, शेष है क्या उपाय।
शर निकल चुका है, हाथ से हाय हाय ॥२॥
अब घट अपने में फोड़ के जा रहा हूँ।
नय-नियम यहाँ के तोड़ के जा रहा हूँ।
इस तनु तक को भी छोड़ के जा रहा हूँ।
बस अपयश को ही छोड़ के जा रहा हूँ ॥३॥
प्रथम कुछ न आया, ध्यान में हाय मेरे।
बस अब फिरना है मौत के साथ फेरे।
इस समय कहाँ हूँ कौन हूँ मैं अरे रे।
सब तरफ मुझे हैं, शोक संतप्त घेरे ॥४॥
तनय ! तुम किसी को व्यर्थ पीड़ा न देना।

फल कुछ करने के पूर्व ही सोच लेना ॥
पथ-विचलित होके पा रहा ताप ही में ।
कुफल चख रहा हूँ पाप का आप ही में ॥५॥
प्रथम तुम सदा ही युक्ति से काम लेना,
मत पद पद में ही शक्ति का नाम लेना ।
भरसक अपने मे दोष आने न पावे,
यह मन विषयो की ओर जाने न पावे ॥६॥
पढकर यह मेरा पत्र हे पुत्र प्यारे !
सतत सजगता से कीजियो काम सारे ।
मत तुम यह मेरा भूल जाना क्लाम,
बस अब चलता हूँ आखिरी है सलाम'[1] ॥७॥

राज्य वैभव के विषय मे महापुराणकार के शब्दो में चक्रवर्ती भरतेश्वर का कथन है :-
"इस राज्य में सुख का लेश नही है, यह दुरन्त है और पाप से पूर्ण है। इसमें सर्वत्र आशंकायें भरी रहती है। इसमें महान असुख होता है।" आत्म स्वरूप की महिमा का परिचय न होने के कारण इस जीव ने धन वैभव को सबसे अधिक महत्व प्रदान किया है। आज दिन तो बडप्पन और महत्व का केन्द्र धन को मान धनवानो को सर्व पापो की राशि होते हुए भी, कृत्य की दृष्टि से नरपशु कहलाने वालो को बडा आदमी कहने का रिवाज चल पडा है और सब महत्व के मंगल कृत्यों में इस आत्मवंचक महापरिग्रही के आगमन को हर्ष का कारण माना जाता है। यह बड़ा भारी अविवेक है। सद्गुणो की प्रतिष्ठा से व्यक्ति, समाज, राष्ट्र समुन्नत बनता है। धन की अंध आराधना से पशुता से भी हीन परिस्थिति की ओर पतन होता है।

पहले विद्या को मुक्ति का हेतु मानते थे। 'सा विद्या या विमुक्तये'। विद्या को अमृत कहते थे। 'अमृत तु विद्या'। वह अर्थदासी लक्ष्मी की पादार्चना में लगाई जा रही है।

कवि कहता है—'इस पापी पेट के लिए पंडित लोग क्या क्या नहीं करते है? वाग्देवी माता सरस्वतीको बदरियाके समान घर घर में ले जाकर नचाते फिरते है।"

---

१ पत्रावली–मैथिलीशरण गुप्त

धन की इस अंध आराधना से इस जीव का विवेक भाव नष्ट हो जाता है। यह लाखों करोड़ों की संपत्ति का संचय कर अपने को लखपती, करोड़पती जानता है, मानता है और बताता भी है। परमार्थतः देखा जाय, तो यह जीव रत्नत्रय का ही अधिपति है; लखपति आदि की पदवी चैतन्य पुंज आत्मा को कैसे उपयुक्त होगी? तिजोड़ी या बेंक को लखपति आदि कहना ठीक हो सकता है, किन्तु यह मूर्छित जीव शरीर को आत्मा मान इतनी बड़ी ख़तरनाक भूलों पर भूल करता जाता है, कि पुद्गल के संग्रह को को आत्म द्रव्य का संग्रह अनुभव करता है और इस कारण अंतमें "बह्वारंभ-परिग्रहत्वं नारकस्य" के नियमानुसार यह नरकायु को प्राप्त करता है; जहां अनुकूल वस्तुओं का अभाव ही अभाव रहता है। क्षुधा तो इतनी भीषण होती है, कि तीन लोक का धान्य भी उसको पर्याप्त न हो, किन्तु एक कण भी नहीं मिलता, समस्त सिंधुओं की जलराशि भी उसकी तीव्र तृष्णा को शान्त करने को अपर्याप्त है, किन्तु एक बूंद भी पानी नहीं मिलता।

अतः धन के द्वारा थोड़े समय तक ही काम बनता है। वह सदा ही कामना पूर्ण करता है, यह बड़ा भ्रम है। लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से धन आ भी गया और भोगान्तराय तथा उपभोगान्तराय के उदय की तीव्रता हो, तो इन वस्तु को भोगने की सामर्थ्य नहीं रहती है।

यदि आंख फैलाकर विश्व का यथार्थ दर्शन किया जाय, तो ज्ञात होगा कि धन को अत्यधिक महत्व प्रदान करके जगत् स्वयं मृत्यु के पथ की ओर बढ़ रहा है। इससे सुख, शांति विवेक आदि की अवस्थिति संकट में पड़ जाती है। बड़े बड़े धनियों का जीवन निकट से देखने पर उनकी आकुलता और तृष्णा का अद्भुत रूप देखते ही बनता है।

इस विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि अर्थ कुछ नहीं करता है। जैन आचार्य सोमदेव सूरि अर्थ की परिभाषा करते हुए लिखते हैं—"यतः सर्व-प्रयोजन-सिद्धिः सोऽर्थः" जिससे समस्त प्रयोजन सिद्ध होते हैं, वह अर्थ है। अतः लौकिक जीवन में अर्थ की उपयुक्तता और उपयोगिता की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। अर्थ की पुरुषार्थ चतुष्टय में गणना की गई है। यथार्थ में इसका एकान्त बुरा है। जो अर्थ, धर्म पुरुषार्थ को अपना गुरु मानकर रहता है, वह अर्थ विकार नहीं उत्पन्न करता है। चक्रवर्ती भरतेश्वर कल्पनातीत वैभव के अधिपति होते हुए भी दुर्गति के पात्र नहीं बने; प्रत्युत मुनि दीक्षा लेने के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् ही कैवल्य की विभूति

के स्वामी बन गए। इसका क्या कारण है ? जैसे 'भटा पथ काहू, काहू को बयारे हैं' तथैव यह धन विवेकी व्यक्ति को निर्वाण के समीप पहुंचाता है और यही सपत्ति अविवेकी को नरक या तिर्यंच पर्याय को प्राप्त कराती है। धन का यदि सत्पात्रों में विनियोग होता है, तो उससे इसका पाप क्षय होकर पुण्यश्री की प्राप्ति होती है। गुणाधिक, रत्नत्रय मूर्ति पात्रों को आहारदान के प्रभाव से दातार का उद्धार होता है।

जिस दातार के द्वारा दिया गया अन्न मुनि के उदरगत होने के उपरान्त तप, ध्यान ब्रह्मचर्य की साधना पूर्वक जीर्णता को प्राप्त होता है, वह पात्र अपने आपको तथा दातार को भी तारता है। तपश्चर्या में सहायक होने का महान श्रेय गृहस्थ को प्राप्त हो जाता है।

धर्म, अर्थ, काम के विषय में नीति वाक्यामृत में लिखा है—

त्रिवर्ग साधन

"धर्म अर्थ तथा काम इन तीनो में एक का ही अधिक सेवन करने से शेष दो को क्षति पहुंचती है, जैसे एकान्तरूप से अर्थ की ओर झुकने पर धर्म तथा सुखकी उपलब्धि नहीं होगी। यथार्थ में देखा जाय, तो अर्थ, सुख आदि का मूल जनक, धर्म है। धर्म की सम्यक आराधना होने पर मनोवांछित लाभ अनायास होता है। चक्रवर्ती भरत की चिन्ताओ और आकुलताओ की सीमा नही थी। आज का व्यक्ति थोडी सी चिन्ताओं और व्यस्तताओ के बीच धर्म साधन को ही सरलता पूर्वक छोड़ने को उद्यत होता है, क्योकि उसके बिना कोई काम अटकता नही है। भरतेश्वर की स्थिति दूसरी थी। उनको सर्वोपरि चिंता धर्मोपार्जन की थी। उनका विश्वास था, कि धर्म की चिन्ता करने पर शेष सब कार्य चिन्तवन मात्र से ही पूर्ण हो जायेंगे। भगवान जिनसेन स्वामी लिखते हैं:— "वह चिन्तायुक्त चक्रवर्ती भरतेश्वर को धर्म की सुदृढ चिन्ता रहती थी, क्योंकि धर्म का चिन्तवन करने से सर्व बातें चिन्तवन मात्र से पूर्ण होती है।" धर्मशील नरेश के आकर्षण के कारण प्रजा भी धर्म पालन में अग्रसर होती थी। आचार्य लिखते हैं :— "प्रजापालक नरेश के धर्माचरणी होने पर प्रजा भी धर्मशीला होती है, राजा के अधार्मिक होने पर प्रजा भी धर्म प्रतिकूल होती है। जैसा राजा होता है, वैसी प्रजा होती है।" और भी:—

सुकालश्च सुराजा च समं सन्निहितद्वयम्।
ततो धर्मप्रिया जाताः प्रजास्तदनुरोधतः ॥९८॥

"सुराजा और सुकाल इनमें सन्निकटता है। चक्रवर्ती भरतेश्वर के अनुरोध के

कारण प्रजा भी धर्मप्रिया बन गई।" इसका क्या कारण है, इसे आचार्य इस प्रकार बताते हैं –"ये सम्राट भरत धर्मप्रेमी हैं, धर्म में स्थित लोगों को देखकर हर्षित होते हैं, यह मानकर समस्त लोक तथा समाज की धर्म में अनुरक्ति हुई।" अन्य बड़े बड़े नरेशों के जीवन पर भरत की धार्मिकता का क्या प्रभाव पड़ा इसे बताते हैं ? "महाराज भरत तो धर्म में अत्यन्त आसक्त हैं। हम उनके अनुजीवी हैं, अत मुकुट बद्ध नरेशों ने उन सम्राटके चरित्र का अनुकरण किया।"

इस प्रकार जो अर्थ अपने नेत्रों से धर्म की मूर्ति को निरतर निहारा करता है, वह तो उन्नति का कारण बनता है और जो धर्म के तरफ पीठ फेर करके अपना अभ्युदय चाहता है, वह पतन का ही कारण होता है। वह धर्म कोई विशेष पूर्ण पतनकारी प्रवृत्ति का पुज नहीं है। जीवो का रक्षण करना यही सच्चा धर्म है।

अपरिग्रह वृत्ति जिस लोभ कषाय की प्रेरणा से यह जीव धन दौलत का अधाधुध सग्रह करते हुए भी तृप्त नहीं होता, वह अपरिग्रह वृत्ति द्वारा क्षण में तृप्त हो जाता है। स्वामी समत भद्र ने लिखा है कि भगवान अनतनाथ तीर्थंकर ने सर्व सग परित्याग द्वारा तृष्णा की बाधा को दूर कर दिया था। उनने कहा है –

"हे आर्य ! आपने महान श्रम रूप जल से परिपूर्ण तथा भय रूप तरग राशि सकुल अपनी विषय लालसा रूप नदी को अपरिग्रह रूप ग्रीष्मकालीन सूर्य की तीक्ष्ण किरणो से सुखा दिया, अतएव आपका तेज उत्कृष्ट शाति युक्त है।"तृष्णा रूपी नदी में जो अपरिग्रह रूपी जल है, वह महान श्रम से पूर्ण है। परिग्रह के होने पर भय की वृद्धि होती है, इससे उसे भय रूपी तरग मालाओ से परिपूर्ण कहा है। तृष्णा रोग का उपाय अपरिग्रह वृत्ति ही है।

वे आचार्य पुन कहते है "प्रभो ! यह तृष्णा-नदी विलक्षण है, यह तत्काल तथा परिणाम में दुख की योनि रूप है। इसका पार पाना बडा कठिन है। किंतु सम्यग्ज्ञान रूपी नौका, जो अपरिग्रहत्व सयुक्त है, पर बैठकर आपने इसे पार किया है।"

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि तृष्णा के द्वारा तत्काल भी सच्चा निराकुलता रूप सुख नहीं मिलता और न भविष्य में भी उस शांति की उपलब्धि होती है। उसके पार जाने के लिए अपरिग्रह–भाव रूप नौका का आश्रय लिए बिना अन्य उपाय नहीं है।

जो अपनी मानसिक दुर्बलतावश तृष्णा की अधीनता को छोडने में असमर्थ हैं, वह यदि अकिंचन जिनेन्द्र की समाराधना करे, तो उसकी कामना की पूर्ति में कंटक नहीं आ सकते। वीतराग की आराधना से मनोवांछित वस्तु का लाभ होता है। कवि धनंजय कहते हैं:–"भगवन्! जो फल मनस्वी अकिंचन के द्वारा प्राप्त होता है, वह समृद्धिशाली कुबेर आदि से नहीं मिलता है। जलविहीन उन्नत पर्वत से अनेक नदियां प्रवाहित होती हैं, किन्तु विपुल जलमय सिन्धु से एक भी नदी का उदगम नहीं होता है।"[1]

परिग्रह के जाल म फसाने वाली तृष्णा का कारण लोभ है। कवि बनारसी दास लिखते है–

लोभ मूल सब पाप कौ, दुख को मूल सनेह।

मूल अजीरन व्याधि कौ, मरन मूल यह देह ॥५५१॥ अर्ध कथानक।

सीमित संपत्ति

साधारण मानव सहसा लोभ का दासत्व नहीं छोड सकता है, अतएव महर्षियों ने अपनी आवश्यकताओं को सीमित करने का उपदेश दिया है। उसे भी कम करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

अमृतचंद्र सूरि लिखते हैं.–"बाह्य परिग्रह के द्वारा अयोग्य असंयम भाव उत्पन्न होता है, अत सचेतन तथा अचेतन दोनो प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग करे।

जो मनुष्य धन धान्य मकान संपदादि का पूर्णतया परित्याग करने में असमर्थ है, उसका कर्तव्य है, कि यह अपने परिग्रह की सामग्री को न्यून करे, क्योंकि निवृत्ति अर्थात् त्याग रूप ही तत्व है।"

जितना अधिक परिग्रह होगा, उतना ही अधिक असंयम भाव होगा। जिसके पास जितनी परिग्रह की अधिकता होगी, उतना ही अधिक पाप भार का भागी बनना पडेगा। यह कहना कि किस व्यक्ति को कितनी सामग्री आवश्यक है, साधारणतया कठिन है। देश, काल, परिस्थिति आदि के अनुसार बाह्य सामग्री की आवश्यकता के बारे में सम्यक् विचार हो सकता है। एक अल्प संतोषी व्यक्ति तो इतनी भर सामग्री चाहता है कि उसके कुटुम्ब का भरण पोषण होता जाय, तथा आगत अतिथि का सम्यक् सम्मान भी हो सके। कवि कहता है–

---

१ तुंगात्फलं यत्तदकिंचनाच्च प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रेर्नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः ॥१९॥

"साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा न रहूं, साधु न भूखा जाय ॥"

नीति-वाक्यामृत में सामान्यतया सुखी गृहस्थ के लिए क्या सामग्री आवश्यक है, उसे इस सूत्र द्वारा बताया है—"जिस गृहस्थ के घर में सर्वदा कृषि की जाती है, जिसके यहां गायें, भैसें रहती हैं, तरकारी भाजी उत्पन्न होती है, तथा घर में कूप है, उसे सांसारिक सुख है।"[1]

आज के युग की लोक व्यवस्था में बड़ा परिवर्तन हो गया है। एक ओर तो गरीबी है, भयंकर अर्थ संकट है, तो दूसरी ओर कुछ वैभवशाली लोग यन्त्रवाद के प्रसारवश खूब मालामाल हो रहे हैं। इस विषमतापूर्ण स्थिति के कारण आज के विश्व में भयंकर असन्तोष और चीत्कार मचा हुआ है। एक ओर करोड़ों मनुष्य हैं, जिन्हें न रहने को स्थान है और न पहिनने को वस्त्र ही मिलते हैं। दूसरी ओर उन्मत्त लक्ष्मी के लाडले उद्योगपति मदान्ध जीवन व्यतीत करते हुए, श्रम जीवी वर्ग के घावों पर नमक छिड़कते हुए दिखाई पड़ते हैं। इस परिग्रहवाद के राक्षस के कारण ही जगत् में अशान्ति और विद्वेष की अग्नि प्रज्वलित हो गयी है। क्रोध से अन्धा बन मनुष्य महत्व की बातों को भी भूल जाता है इसलिए प्रतीत होता है कि अर्थ व्यवस्था की चिकित्सा करने में तत्पर समाजवादी रूस ने धर्म को फांसी पर टांगा और परमात्मा की मान्यता को समाप्त किया। मार्क्स धर्म को अफीम (Opium of the people) कहता था, तो लेनिन उसे आध्यात्मिक विष (Spiritual. cocaine)कहता था। एक रूसी लेखक लिखता है—"कि ईश्वर तो मर चुका है अब उसका स्थान खाली है।" हमें प्रतीत होता है कि ये परिग्रह के जाल में जकड़े लोग धर्म और ईश्वर के स्थान में अर्थ और वर्गों को विराजमान कर उनकी पूजा द्वारा स्वार्थ पोषण करना चाहते हैं। परिग्रह की समस्या को सुलझाने का उपाय परिग्रह की वृद्धि नहीं है। पंडित आशाधर जी ने लिखा है—[2] "यह परिग्रह अविश्वास रूप अंधकार के लिए रात्रि के समान है।

---

१ तस्य खलु संसारसुखं यस्य कृषिर्धेनवः शाकवाटः सद्मनि उद्‌पानं च ॥
(वार्ता समुद्देश-३)

२ अविश्वासतमोनक्तं लोभानलघृताहुतिः।
आरम्भमकरांभोधिरहो श्रेयः परिग्रहः ॥४-६३ ॥

लोभ रूपी अग्नि के लिए घृत की आहुति तुल्य है तथा आरंभ रूपी मगर के लिए समुद्र के समान है ।"

परिग्रह का अभिशाप

अकलंक स्वामी का कथन है—"परिग्रहवान व्यक्ति मास के टुकड़ो को धारण करने वाले पक्षीके समान है। जिस प्रकार मांस लोलुपी पक्षी उस पक्षी से झगड़ते है, इसी प्रकार लोक में परिग्रह वाले के प्रति दूसरे जीव द्वेष भाव धारण करते है । उस परिग्रह के अर्जन, रक्षण तथा विनाश से उत्पन्न बहुत से दोष प्राप्त होते हैं । इससे जीव की तृप्ति भी नही होती ।"

हिंसाश्रित साम्य सुखकर नही है

जो सर्वत्र साम्यवाद की सुन्दर दुनियां सजाना चाहते है वे विश्व में विद्यमान, प्राकृतिक विषमता को किस प्रकार दूर कर सकेंगे ? विश्व का वैषम्य तत्वतः जीवो के क्षण क्षण में बदलने वाले भावो का कार्य है। जैसे समुद्र में क्षण क्षण में लहरें उठा करती हैं इसी प्रकार प्रत्येक अतःकरण में सदा नवीन विचित्र भाव उत्पन्न होते हैं। उनके द्वारा यह जीव पुद्गल पुंज को अपनी ओर आकर्षित किया करता है। उस कर्म के द्वारा ही अगणित विषमताओंका दर्शन होता है । अतः-साम्य उत्पन्न हुए विना बाह्यसाम्य का स्थापन ऐसा ही है जिस प्रकार भीतरी घाव में औषधि न लगाकर उसे ऊपर से ढांककर अपने को निरोग अनुभव करना । मन की चंचलता सरकारी कानूनो अथवा तोप तलवार या बमों के प्रहार से दूर नही होती। उसके लिए उत्कृष्ट अहिंसा-मय पवित्र जीवन आवश्यक है । आज मद्य-मांस सेवन, शिकार खेलना, पर-स्त्री सेवन करना आदि को धर्म मानने वाला पश्चिम साम्यवाद के

नाओ के आधीन रहने वाले व्यक्ति व्यसनो की पूर्ति में सम्पत्ति का व्यय करके आत्मा का पतन किए बिना न रहेंगे। ऐसे लोगो की स्थिति पतगे के समान होती है, जो दीपक तुल्य ललचाने वाली वस्तु के प्रति आसक्त हो अपने प्राणो का विसर्जन करने से नही रुकते। राष्ट्र में असतोष और विद्वेष की अग्नि को प्रज्वलित कर हिंसा की भावनाओं को जगाना अमगल जीवन का सूचक है। सतोष और सदाचार के अमृत रस को फेंक-कर हिंसा, आतक तथा दूसरो के धन के अपहरण द्वारा जनसाधारण में फैला हुआ आर्थिक रोग दूर न होकर अन्य असाध्य बीमारियो को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार नेत्र रोग से पीडित व्यक्ति की यदि आँख फोड दी जाय, तो उसका वह रोग अवश्य अच्छा हो जायगा किन्तु अधत्व नाम की बडी भारी व्यथा जीवन भर उसका पीछा न छोडेगी। इसी प्रकार आध्यात्मिकता तथा सदाचार के आधार पर अवस्थित अर्थ-व्यवस्था का मूलोच्छेद करने पर जो लोक मानस में उच्छृखलता और जडतत्व की आराधना की हीन-वृत्ति आ जाती है, उससे जीवन की सरसता, स्निग्धता, सहृदयता तथा शील आदि सद्गुणो का सदा के लिए लोप हो जाना असभव नही है। परिग्रह को आत्मा मान उसके पीछे उन्मत्त बनने वाले लोगो को भारतीय विद्या की यह अमृत शिक्षा सिखाना चाहिए कि "यदि जीव ने आत्मा के वैभव का ध्यान न किया, तो वह विकास हीन पशु आदि की पर्याय में जाकर दुखी होगा। वैभव में निमग्न चक्रवर्ती भी मरकर नरक में जाता है।"

अज्ञान के कारण यह जीव धन को ही अपना जीवन जान आत्मा का मूल्य भूल जाता है। क्षत्रचूडामणि में एक सुदर बात कही गई है। जीवधर स्वामी ने जगल में एक निर्धन व्यक्ति को देखा और उससे कुशल वार्ता पूछी। उस समय कुमार जीवधर कहते हैं, "सच्ची कुशलता कृषि आदि द्वारा प्राप्त सामग्री से उत्पन्न नही होती है। कृषि आदि के कारण प्राप्त सामग्री सच्ची कुशलता की जननी नहीं है, वह तृष्णा रोग का बीज है, विनाशयुक्त है, पाप का कारण है, पर-वस्तु के आश्रित है, कटु परिणाम युक्त तथा दुख मिश्रित है। जीव की सच्ची कुशलता आनद पूर्ण मोक्ष में है, जो आत्मा से उत्पन्न होता है और उससे ही साध्य होता है, अव्याबाध रूप है, सर्व श्रेष्ठ है, अनत है तथा तृष्णासे रहित है" आज के परिग्रह वाद के राक्षस के अधीन व्यक्ति के लिए जीवधर कुमार

के ये शब्द बड़े बोधप्रद हैं, "आत्मा को अपनी वस्तु और जड़ पुद्गल को पर वस्तु जानना चाहिए। पर पदार्थों के त्याग में, अपरिग्रह भाव में बुद्धि धारण करना चाहिए । थोड़े काल पर्यंत रहनेवाले पदार्थों में क्या सार है ?"

ऐसे पुण्य विचार, धन और वैभव के विषय में यदि, छोटे और बड़े के मन में उत्पन्न होकर अपना स्थान बना लें, तो धनी और निर्धन इन दोनों की प्रकृति और प्रवृत्ति म पर्याप्त परिवर्तन तथा उज्वल प्रकाश प्राप्त हुए बिना न रहेगा । असतोष और क्षोभ की वैतरणी के स्थान में यदि सतोष और शान्ति की पुण्यधारा प्रत्येक के अन्तःकरण में प्रवाहित हो हो तो यह विश्व वैभव और विभूति सपन्न होने के साथ वास्तविक आनद का पुण्य निकेतन बने बिना न रहे । आचार्य कहते हैं, कि 'जिस प्रकार छाया के पीछे दौड़ने से उसकी उपलब्धि की सम्भावना असभव हो जाती है, किन्तु उसके पीछे न पड़ने से वह तुम्हारा पीछा करती है, इसी प्रकार निरन्तर भोग की आराधना द्वारा वह दूर भागता है किन्तु त्याग भाव और वीतरागवृत्ति को अपनाने से पुण्यात्मा के पास असीम सपत्ति आया करती है ।''

राष्ट्र की दुरावस्था का कारण परिग्रह लालसा

आज जो आर्थिक सकट ग्रस्त समाज की चिकित्सा करने में उद्यत शासक वर्ग दिखता है, वह स्वय परिग्रह रूपी राग–युक्त है और भयकर लालच के अधीन होने के कारण रोग की सम्यक चिकित्सा न कर रोग की वृद्धि करता है। आज शासक वर्ग में लोभ का जोर गरम है तथा उसकी अन्याय प्रवृत्ति चिंता की वस्तु है ।

नीति वाक्यामृत में लिखा है–

'रिश्वत का ग्रहण करना सर्व पापोंके आने का मार्ग है' (स्वामि समुद्देश ५२) राजा या शासक वर्ग रिश्वत लेकर कार्य करे, तो किसकी भलाई होगी ? राजा यदि अन्याय करे, तो यह समुद्र की मर्यादा का उल्लघन होगा । यह सूर्य द्वारा अधकार का पोषण, तथा माता का स्वपुत्र भक्षण सदृश कार्य है ।

अन्याय प्रवृत्ति

जनता के दुःखी रहने का कारण शासक की न्याय में शिथिल प्रवृत्ति है । राजा पवित्रता पूर्ण प्रवृत्ति को करें तो क्या होता है, इसे इस प्रकार बताते हैं –यदि राजा न्याय अर्थात अहिंसा धर्म के अनुकूल प्रजा का पालन करे तो सपूर्ण मनोरथ पूर्ण होते हैं,

मेघ की समय पर वर्षा होती है तथा टिड्डी आदि ईतियो की उपशांति होती है ।

शासन का हिंसा की ओर झुकना अमगल पूर्ण है

आज टिड्डियो की वृद्धि होने पर शासक गण उन असख्य प्राणियो के सहार के सिवाय अन्य उपाय नही सोचते । धान्य की उत्पत्ति न होना, वर्षा का यथोचित न पडना, जिससे दुर्भिक्षो की वृद्धि देख लोगो को मांस भक्षण की ओर प्रेरणा करना महान अमगल कार्य है । यदि शासक जीव-वध का कार्य बन्द करावे और करुणात्मक प्रवृत्तियों का पोषण करे, तो उपरोक्त कथनानुसार सर्वत्र सुख की सामग्री स्वय प्रकृति प्रदान करेगी। शासक की दिशा भूल से प्रजा का सर्वनाश होता है ।

सन १९५१ में बम्बई राज्य के प्रधान मत्री ब्राह्मण कुलोत्पन्न श्री वाला साहब खेर ने अपने भाषण में लोगो को मत्स्य-भक्षण के लिए प्रेरणा रूप उपदेश देते हुए उनकी मधुरता को, अन्य देशो की मत्स्य मास की अपेक्षा, विशेष महत्वपूर्ण कहा था। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद जी ने बबई के एक बदरगाह का उदघाटन करते हुए सन १९५१ में कहा था कि भारत का समुद्र तट करीब चार हजार मील लम्बा है । यहा मछली मारने की और उसका व्यवसाय बढाने की बहुत बडी गुजायश है । धर्म भूमि भारत के इन शासको की इस प्रकार की हिंसा को प्रेरणा देने वाली बातों को देखते हुए प्रत्येक धर्म पर आस्था रखनेवाला विचारक समझ जायगा, कि आसाम का भूचाल, बगाल, सौराष्ट्र, बिहार आदि में वर्षाभाव से दुर्भिक्ष का दौर-दौरा टिड्डियो का, आक्रमण आदि आधि दैविक विपत्तियो का क्या कारण है ?

ये शासक प्रजा के प्रतिनिधि है । व्यक्ति गत रूप में ये सूर्य का उदय पश्चिम में बतावें तो उसे कोई नही आपत्ति जनक कहेगा। कारण मत स्वतत्र्य इन्हे भी है, किन्तु राज्य के सत्ताधीश की हैसियत से जब ये बोलते है, तब इनका एक एक शब्द, एक एक चेष्टा लोक के हित अहित से सबन्धित हो जाती है । ये यदि मास भक्षियो के ही प्रतिनिधि रहते तो इनका मांस-भक्षण के समर्थन में प्रचार करना, भाषण देना, कदाचित् उपयुक्त माना जाता । किन्तु ये अहिंसा को परम धर्म माननेवाले करोडो भारतीयो का भी प्रतिनिधित्व करते हुए मांस भक्षण का प्रचार

करते हैं, यह परिताप की बात है। प्रजापालक के नाते देश की भूमि में बसने वाले सभी निरूपद्रवी जीवों के लिए अभय देना इनका कर्तव्य है।

न्यायशील शासक की सामर्थ्य

अतः सोमदेव सूरि ने बताया है, कि राजा बुरे दिनों को, दुष्काल को सुकाल के रूप में बदल सकता है, यदि वह सर्वत्र करुणा, न्याय और सच्ची जीव दया का प्रसार करावे।

आज प्रजा में असंतोष तथा क्षोभ का क्या कारण है? विचारा जाय, तो ज्ञात होगा, कि प्रायः न्याय का प्रदान कार्य स्वार्थ को देखकर होता है। अधिकारियों को धन मिला, तो हाथी बराबर पाप भी तिनके से हल्का बन जाता है, और यदि लुब्धक शासन सत्ता की तृप्ति नहीं हुई तो चींटी बराबर अपराध को गज से भी बड़ा मान दण्ड देकर न्यायावतार होने का दंभ दिखाया जाता है।

नीतिवाक्यामृतकार कहते हैं—"दोष के अनुसार दण्ड रूप में करोड़ों का लिया जाना नहीं पीड़ा देता है, किंतु अन्याय पूर्वक लिया गया एक तिनका भी प्रजा को खेद प्रदान करता है।"[1] आज की दण्ड व्यवस्था भयंकर रूपमें शिथिल बन गई है। यदि उसकी खराबी दूर कर दी जाय, तो सर्वत्र सुख और शांत हो जाय। विद्या-वृद्ध समुद्देश में आचार्य सोमदेव लिखते हैं, "अपराधियों पर यमके समान भयकर दण्ड प्रदान करने वाले शासकके होने पर प्रजावर्ग अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता तथा त्रिवर्गके फलरूप विभूतियों की प्राप्ति का प्रसाद मिलता है।" इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आज के युग में जो असंतोष, तथा आर्थिक कष्ट, अन्न, वस्त्र आदि की विपत्ति, रोगों की वृद्धि की पीड़ा बढ रही है, उसका उपाय शासन सत्ता का धर्म के मार्ग पर दृढ होकर प्रजा का न्यायानुसार पालन नहीं करना है। अहिंसा की हिंसा करते हुए अपने को अहिंसावादी कहने की कुचेष्टा को छोडकर संकल्पी हिंसा के निरोध का उपाय करने पर भारतीय जनता की विपदाएं शीघ्र ही विलीन हो जायगी और तब जबरदस्ती अन्याय पूर्वक दूसरों के धन को छीनकर साम्य उत्पन्न करने की अस्वस्थ मनोवृत्ति दूर हो जायगी। जब समाज नीरोग होगा तो अपने

---

१ "यथा दोष कोटिरपि गृहीता न दुखायते, अन्यायेन तृणशलाकापि गृहीता प्रजाः खेदयति (२२-२३) (व्यसन समुद्देश)

श्रम और पुण्य प्रवृत्तियो द्वारा अपनी देह में रक्त की वृद्धि करेगा और वह दूसरों के शरीर से रक्त की भिक्षा या अत्याचार की स्वप्न में भी बात न सोचेगा। कदाचित शासन सत्ता ने अधिकार के मद में अधर्म की भूमि पर ही अपनी उन्नति का प्रासाद खडा करने का निश्चय किया तो उसका स्थायित्व न रहेगा।

इस अवसर पर सपत्तिशालियो को भी विवेकसे काम लेना चाहिए। उनको भी जमाने की बढती हुई असतोष की प्रचण्ड ज्वाला को देखकर लोक हितार्थ अपने धनका उपयोग कर डालना चाहिए। अत करण की प्रेरणा से दान देने में लोक प्रतिष्ठा तथा जनता का प्रेम मिलता है। देश में गरीबी का भयकर दौर–दौरा है। बीमारियो ने भी बुरी तरह परेशान कर रखा है। बहुत जगह तो ऐसी स्थिति है कि लोगो की यत्रणा को देख कर पत्थर भी रो पडेंगा। इस ओर भी उस को देखना चाहिए अन्यथा कजूस मक्खी की भाति अत्याचारी भूखा वर्ग उन्हे भिखारी बना उनका धन रूप मधु छीन लेगा और वे आर्त्तनाद करते हुए जीवित नरक में वास करेंगे, पश्चात् असली नरक पाप के परिणाम से मिलेगा।

धनिको का विवेक से काम करने में हित है

इस प्रकार का विवेक धनिकोमें जगे और प्रजा में श्रमका मूल्य आवे और प्रामाणिकता की वृद्धि हो, तो सर्वत्र सुकाल और शाति की ज्योत्सना छिटक सकती है। सबको सतोष रूप धन के लिए उद्योग करना चाहिए, जिसके होने पर बाहरी धन-वैभव धूलि सदृश हो जाता है।

जो तार्किक धन सचय के पक्ष मे कहता है कि हम परोपकार के हेतु अर्थ सग्रह करते है, उसे आचार्य समझाते है "यदि तुम त्याग के लिए धन का सग्रह करते हो, तो उसका सग्रह ही न करो, यह विशेष हित का मार्ग है। कीचड में पैर डालकर पश्चात् धाने के स्थान में पैरो को पक लिप्त ही न किया जाय, यह अधिक बुद्धिमत्ता की बात होगी।"

सग्रह करना, पश्चात् त्याग करने से प्रारभसे ही तृष्णा का त्याग जीवन को अधिक महिमास्पद बनाता है। कहते है १९२१ ईसवी में जब गाँधीजी ने असहयोग का आदोलन प्रारभ किया उस समय देशबधु चित्तरजन दास बैरिस्टर से, जो अपनी प्रतिभा के लिए इस भारत में अप्रतिम थे, गाँधीजी ने देश सेवा के लिए शाही वकालत छोडने का आग्रह किया। उनने कहा "मेरा नाम था मोहनचद गाँधी, किन्तु मैंने 'चद' के स्थानमें 'दास'

शब्द का प्रयोग किया, तुम्हारे जन्म के परिवार को 'दास' नाम प्राप्त है, फिर तुम्हारा मातृभूमि की दासता की बेडी काटने के लिए राष्ट्रसेवा के क्षेत्र में नहीं आना अटपटी सी बात लगती है।"

दास बाबू, गांधी जी से बोले, "आप मुझे वकालत करने दीजिए, उसकी ५० हजार से अधिक मासिक आमदनी पूरी की पूरी मैं कांग्रेस को दे दूगा।"

गाधी जी बोले "हमे रुपया नही चाहिए। रुपयो को लात मारने वाला त्यागी व्यक्ति चाहिए। तुम सा त्यागी पाकर हम जितना चाहेंगे, उतना रुपया पा सकेंगे।"

दास बाबू ने गाधी जी की बात शिरोधार्य की। इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दान पुण्य करने की आकाक्षा लेकर धन सग्रह के क्षेत्र में प्रवृत्ति करना ऐसी ही समझदारी की बात है, जैसी कोई अपने शरीर में कीचड डालकर पश्चात् उसे दूर करने को जल से स्नान करे। कोई कह बैठेगा भाई, कीचड से धोना ही था, तो शरीर को पक लिप्त करने का क्यो कष्ट किया?" अत जिनकी विषय-तृष्णा मद हो गई है, जिनने ससार के स्वरूप को समझ लिया है, और जो यह जानते है कि पैसे की दोस्ती से इस जीव को दुर्गति का पात्र बनना पडता है, वे सग्रह के फेर में पहले से ही नही पडते, और कर्मों के बध से बचते है।

परिग्रहवाद का प्रपच बडा विचित्र है। जिस तरह मकडी स्वय ताना बाना बुनकर जाल बनाती है, और उसी जाल में मरी हुई पाई जाती है, इसी प्रकार परिग्रह के फेर में फसा हुआ पुरुष अमूल्य क्षणो के अपव्यय को भूलकर अन्त में सक्लेश पूर्वक मृत्यु की गोद में सो जाता है। जिस भारत में बडे बडे नरेशो ने आत्म-प्रकाश के हेतु महान साम्राज्य को तृण वत त्यागा, उसी देश में आज धन की तृष्णा के कारण कैसी विचित्र स्थिति उत्पन्न हो रही है? तृष्णा से जीव की क्या दुर्गति होती है, इस विषय में गुण भद्राचार्य की उक्ति बडी मार्मिक है। 'एक चमरी गाय होती है, उसके बालो के गुच्छा से चमर बनाये जाते है। उसकी अपने बालो पर बडी ममता रहती है। एक बार शिकारी के भय से चमरी गाय भाग रही थी, उसके केश काटो में फस जाते है। बालो की मूर्छा वश वह खडी हो जाती है, उसे अपने प्राणो के जाने का ध्यान नही रहता है, बालो के मोहवश वह स्तब्ध खडी हो जाती है और शिकारी उसके प्राणो का सहार कर डालता है।

परिग्रह की तृष्णा वाले जीवोंकी जगत् में ऐसी ही दुर्दशा देखी जाती है।"

परिग्रह में आत्मीय भाव दुःखप्रद है

लोभ कषाय वशंगत जीव को जब तक पुद्गलादि के विषय में अकल्याणकारीपने की बुद्धि उत्पन्न नही होती है, तब तक उसकी उनमें श्रद्धा नही टूटती है और जब तक श्रद्धा रहती है, तब तक चित्त उसमें लीन रहता है। अतः परिग्रह में अहित बुद्धि जगने पर उसमें श्रद्धा नही रहेगी, तब उसमें चित्त लीन भी नही होगा और वह विरक्ति युक्त हो जायगा। किसी खाट में खटमल भरे हुए है, उस पर सोने की इच्छा वाले को नीद नही आती है। यदि वह विश्राम और सुखद निद्रा चाहता है, तो उसे उस खाट को छोड़ना पड़ेगा। इसी प्रकार आत्मा की अनुभूति का रसास्वाद करने वाले को परिग्रह की खाट को छोड़ना पड़ेगा। यह परिग्रह अनंत आकुलताओं का कारण है, इसीसे जिनेन्द्र देव ने समस्त परिग्रह का त्याग किया। भगवान अरहनाथ का वर्णन करते हुए समंतभद्र स्वामी लिखते हैं–

"भगवन! आप मुक्ति की आकाक्षा करते थे,अतः चक्रवर्तित्व युक्त लक्ष्मी के वैभव का सर्वस्व सार्वभौम साम्राज्य आपकी दृष्टि में जीर्ण–तृण सदृश हो गया था।" यथार्थ में देखा जाय, तो जीव का सच्चा कल्याण मुमुक्षु बनने में है। मुमुक्षु परिग्रह के प्रति पूर्णतया निस्पृह होता है।

परिग्रह की आसक्ति इस जीव को सब पापो में फंसा देती है। अनगार–धर्मामृत में कहा है"धनकी आकाक्षा करने वाला व्यक्ति जीवो के वध में प्रवृत्त होता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील सेवन को तैयार हो जाता है, अखाद्य वस्तु को खाने को तत्पर रहता है तथा बड़ी लज्जा की बात है कि अपेय शराब आदि को भी पीने लगता है।" आज कीधन लालसा से बड़े व्यापार में लगने वाले या अन्यो के साथ व्यापारिक संपर्क स्थापित कर उनकी प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए बड़े बड़े पवित्र कुल वाले व्यक्ति ऐसे ऐसे पाप करते है, जिससे कुल के उज्वल नाम पर स्याही लगती है। यह परिग्रह की तृष्णा जीव को सभी पापो की ओर ले जाती है। जो इस तृष्णा को जीत लेते है, ससार भर उनका दास हो जाता है।

इस परिग्रह का पूर्णतया त्याग महाव्रती मुनिराज करते हैं। उसम स्थिरता निमित्त पंच भावनाओं का इस प्रकार वर्णन किया जाता है:–

शब्द, स्पर्श, रस, रूप तथा गंध इन पाचों इंद्रियों के विषयों में

राग और द्वेप का परिहार करना परिग्रह त्यागी महाव्रती मुनि की पच भावना है ।

इन भावनाओं के द्वारा क्या लाभ होता है, इस विषय में आचार्य कहते हैः—"इन भावनाओं का पालन करने वाला साधु निद्रा को प्राप्त होते हुए भी संपूर्ण व्रतों का घात नहीं करता है, जागृत अवस्था का तो कहना ही क्या है ? इन भावनाओं द्वारा मानसिक संस्कार शुद्ध रहने से प्रवृत्ति में मलिनता का पूर्णतया अभाव हो जाता है ।" इस अपरिग्रह महाव्रत के कारण साधु की संपूर्ण आकुलताओं का अभाव हो जाता है । व्याकुलता के अभाव को ही सुख कहते हैं । अतः अपरिग्रह व्रत के द्वारा महान सुख की प्राप्ति होती है ।

सूत्र पाहुड में कुदकुंद स्वामी ने कहा है— "मुमुक्ष का कर्तव्य है, कि परिग्रह को न्यून करते हुए इच्छाओं को नियंत्रित करे और सामर्थ्य प्राप्त होने पर सकल संग का परित्याग कर पूर्णतया इच्छा रहित हो निस्पृह बने। इस निस्पृहता में ही सच्चा आनन्द है।" आचार्य कहते हैं? निस्पृहता की पुण्य स्थली में रहने वाला योगी संपूर्ण विश्व के वैभव की पूर्णतया उपेक्षा करता है । जिनेन्द्र भगवान को केवल ज्ञान लाभ के पश्चात् समवशरण का अचिन्त्य वैभव प्राप्त होता है, किन्तु वे उससे भी चार अंगुल ऊंचे अंतरीक्ष विराजमान रहते हैं । अपरिग्रहत्व का इससे उज्वल आदर्श विश्व में और कहां मिलेगा ? जिस धर्मने इस अपरिग्रह को जितना स्थान दिया है, उसमें उतना ही परमार्थ सत्य है । तीर्थंकर महा—वीर प्रभु की देशना का प्राण अपरिग्रहत्व ही है । तेईस तीर्थंकरों की भी दिव्यवाणी में यही तत्व प्रगट हुआ था। अतः जैन वाङ्मय का मर्म अपरिग्रह भाव ही है। इसे अपनाने वाला अमृतत्व का अधिपति बनता है, इसे भुलाने वाला जन्म, जरा, मृत्युके संताप से नहीं बच सकता है ।

कोई कोई यह सोचते हैं, अपरिग्रहत्व के पालनार्थ अहिंसात्मक जीवन की अनिवार्यता नहीं है । मास भक्षी, जीवहिंसक भी यदि धन आदि की जरूरतों को अधिक न्यून कर डाले, तो उसे भी अपरिग्रह व्रती कहा जायगा; यह भ्रम है । अहिंसा माता की संतति जैसे सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य है, उसी प्रकार अपरिग्रह भी उसकी संतान है । ऐसी स्थितियुक्त आपाततः अल्प सामग्री के कारण बाह्य दृष्टि से अल्प परिग्रही है, किन्तु अन्तः कषाय रूप महा मूर्छावान् होने के कारण वह महा—परिग्रही

आचार्य महाराज ग्रंथ परिशीलन में निमग्न।

आचार्य श्री विचार निमग्न।

आचार्य श्री ध्यानस्थ।

आचार्य श्री आत्मचिंतन मुद्रा मे।

माना जायगा । अंतरंग की मूर्छा विहीन से व्यथित दूसरे प्राणियों के प्राणों का हनन करने से विरत हुए विना न रहेगा । जो जीव-वध में संलग्न है, उसके पास अपरिग्रहत्व का नाम है, आत्मा नहीं है ।

कोई कोई अपरिग्रहत्व के अद्भुत भक्त कहने लगते हैं, अपरिग्रहत्वकी पूजा करनेवाले जैनियों के मंदिर में वैभव की सामग्री देखकर प्रतीत होता है, कि इनने भगवान को परिग्रह वाला बना दिया है और अपने को शब्दो द्वारा अपरिग्रही घोषित करते हैं । यह धारणा मूलतः भूल भरी है । जब मूर्छा को परिग्रह कहा गया है और भगवान के मूर्छा नहीं है, तब बाह्य वैभव से उनको परिग्रहवान मानना पूर्णतया न्याय-विरुद्ध है । जब समवशरण की अचिन्त्य और अद्भुत विभूति के मध्य आसीन होते हुए भी भगवान जिनेन्द्र मोह का ध्वंस करने के कारण पूर्णतया वीतराग तथा महा निर्ग्रंथ रहते हैं, तब उनके समवशरण की प्रतिकृति रूप बनाए गए रम्य जिनालय को पूर्णतया भिन्न विचारना अनुचित है । परिग्रहवान गृहस्थ है, वह पुण्य विचारों को प्रेरणा देने के लिए अपने पास की श्रेष्ठ सामग्री एकत्रित कर मंदिर बनाता है । उसका लक्ष्य पवित्र विचारों का लाभ करना है । सुंदर भव्य जिन मंदिरों में वन्दक का चित्त लग जाता है, और वह उस मनोज्ञ वातावरण में शुभ भावों के संचय के लिए अधिक समय दे दिया करता है ।

जिनालयों के वैभव पर आक्षेप का निवारण

यदि जिनालय निर्माण करने में दरिद्र वृत्ति से काम लिया जाय, तो सर्व साधारण का वहां आकर्षण ही नहीं होगा ।

एक समय सिवनी के मनोज्ञ, तथा उन्नत भव्य जिनमंदिरोंके विषयमें एक अजैन विद्वान् ने पूछा था, कि आप लोग अपने मंदिरों को सुन्दर और समुन्नत बनाने में क्यों द्रव्य व्यय करते हैं? हमने कहा था,, इसका कारण यह है, कि यह स्थान प्रत्येक के मन को अपनी ओर आकर्षित करे और आगन्तुक वहां जाकर प्रभु की वीतरागता पूर्ण मुद्रा से उज्वल विचारों की निधि प्राप्त कर सके । यदि हमारे मंदिर सौन्दर्य और कला के निकेतन न होते, तो आप लोग वहां आने के लिए क्यों स्वतः उत्कंठा प्रदर्शित करते ? अतः जिनालयों को यथाशक्ति अधिक से अधिक सुन्दर आकर्षक और पवित्र भावों का संवर्धक और बनाते हैं, ताकि आखें ठंडी हों और आत्मा आल्हादित हो उठे ।" मंदिर का सारा वैभव जिन भगवान

की मूर्ति से संबंधित है। उनके शरीर पर रंचमात्र भी वस्त्र–आभूपण आदि नही होने से वैराग्य के भावो का विशेष पोषण होता है, और जन साधारण का चित्त खिंचकर धीरे धीरे वीतराग की आराधना की ओर लगने लगता है।" समवशरण की विभूति के दर्शन से अनेक व्यक्तियो को तत्व–बोध की प्राप्ति हो जाती है, अत जिन-मदिरो के सौन्दर्य और वैभव में उज्वल कल्पनाओ का जागरण निहित है। वैसे मोही जीवो की मनोवृत्ति विलक्षण है। वीतरागता के साधनों से कोई कोई द्वेष को जगाकर अपना अहित कर डालते है, किन्तु सर्व साधारण का कल्याण उनसे होता है, यह प्रत्यक्ष, अनुभवसिद्ध बात है।

आत्म रस आने पर वैभव का स्वाद कटु लगता है।

जिन भाग्य वानो को आत्मा का रस आने लगता है, वे स्वयं वैभव को न्यून करने में हर्ष मानते हैं। कहते है प्रकाण्ड जैन विद्वान और तत्वज्ञ पं० सदासुख जी जैपुर के दरवार में काम किया करते थे। उनके सच्चे और अच्छे काम पर राजासाहब की दृष्टि गई, राजासाहब ने उनका वेतन दूनाकर अपनी प्रसन्नता प्रगट की। पं० जी राजासाहव के पास पहुंचे और पूछा कि आपने मेरा वेतन वढाने का कष्ट क्यो किया, मै तो जो पहले पाता था, उससे ही पूर्ण संतुष्ट था। राजा साहबने कहा, आपका कार्य देखकर हमें बहुत संतोष है, इससे तुम्हारी तरक्की की गई है। वे बोले यदि आपकी मुझ पर कृपा हुई है, तो मेरा वेतन न बढाकर काम करने का समय कम कर दीजिये, ताकि मै शेष बचे हुए समय में ग्रन्थो का स्वाध्याय और मनन कर सकूंगा ऐसी मनोवृत्ति उनकी होती है जो नर देही को आत्म साधना की अलभ्य निधि मानते है। जो द्रव्य दूसरे जीवों को संताप द्वारा नही प्राप्त किया गया है, जिसके लिये दुर्जनो को प्रणाम नही करना पडा है और जिसके लिए सत्पुरुषो के मार्ग परित्याग नही हुआ, उस द्रव्य को अत्यन्त अल्प होते हुए भी बहुत मानना चाहिये। परिग्रह की मादकता उन मानवो को उन्मत्त नही बनाती है, जो पीटर की मनोहर शैली मे यह मानते है " हमारी दृष्टि से परिग्रह पाप है। इस परिग्रह का जिस किसी भी रूप में परित्याग किया जाय, वह पाप से मुक्ति पाना है।"

आज यह दृष्टि दूर हो गई है, और आज का आर्थिक मानव अर्थ विभाजन की विषमता का उपाय हिंसा के द्वारा सबमें समान रूप से उसका वितरित किया जाना मानता है। मालूम नही वह यह सोचता है,

या नही कि सबकी आवश्यकता समान नही है। 'हाथी को मन' भर और 'चीटी को कन भर' आवश्यक हैं। अतिरेक वाद के स्थान में अहिसानु प्राणित मतुलित नीति से शाति और सामजस्य का सृजन हो सकता है। आर्थिक सकट का कारण केन्द्रीकरण जन्य है। तब तो उत्पादन के साधना के विकेन्द्रीकरण से विकृति का दूर होना न्याय सगत है। शरीर में जैसे अगणित प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं और चतुर चिकित्सक उनको दूर करता है, इसी प्रकार आज की समाज में जो आर्थिक रोग उत्पन्न हुआ है उसका चिकित्सा अहिसानुमोदित पद्धति से करना चाहिए। हिंसा के द्वारा किया गया कार्य सच्चे आनन्द और शाति के स्वाद से शून्य रहा करता है।

आज का पश्चिम अपने विकास और उन्नति का गर्व करता है, हम भी उसको देखकर चकित होते थे, किंतु उस पर जो मधुर और सुनहरी आवरण पडा था उसे महायुद्ध ने दूर कर उसकी असलियत को सामने ला दिया।

अमेरिका की सेना के प्रमुख अधिकारी जनरल ब्राडले ने कहा था "हमारे यहा वैज्ञानिक तो बहुत हो गए हैं, किन्तु धार्मिक लोगो की बहुत कमी हो गई है। हमने अणु के रहस्य को जान लिया है किन्तु शैल-प्रवचन को ठुकरा दिया है। विवेक विहीन चमक दमक तथा हृदय विहीन शक्ति की उपलब्धि, जगत ने, की है। हमारी दुनिया में प्रचड राक्षस तथा नैतिक शिशु विद्यमान है"।

'हम शातिकी अपेक्षा युद्ध की बातें अधिक जानते है, जीवनके स्थान में प्राणहरण की विद्या में हम अधिक निपुण है।"

परिग्रह के मेघ जीवन के नभ में इस जोर से मडरा रहे है कि

"We have too many men of science, too few men of God we have grasped the mystery of the atom anprejected the sermon on the mount The world has achieved brilliance without wisdom, power without conscience Ours is a world of nuclear giants and ethical infants We know more about war than we know about peace, more about killingt han we know about living"

L Fischer's The Life of Mahatma Gandhi P 377

चारो ओर अंधियारो ही दिखाई पड़ती है। अपरिग्रह का प्रभाकर जिस दिशा, जिस देश तथा जिस अंत:करणमें अपनी ज्योतिर्मयी रश्मियां पहुंचायेगा, वहा ही विपत्ति की निशा दूर होगी, और जीवन मंगलमय बनेगा। अतएव पुद्गल के मोह में न फंस आत्म वैभव को देखकर परिग्रह के पिशाच से बचने के लिए अपरिग्रहत्व के पथ में प्रवृत्ति करना चाहिए। सच्चा सुख जड़ पुद्गल में नही है। उसका अक्षय भंडार आत्मा में है, अतः आत्मोन्मुख बनने में ही जीव का कल्याण है। इस आत्मप्रकाश की प्राप्ति के हेतु ही जैन मुनि अन्तः- बाह्य दिगम्बरत्व को अपनाकर अकिंचनत्व के प्रासाद में निराकुलता पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। धर्म-विमुख जीवन से न सुख मिलता है और न अभ्युदय की हीं प्राप्ति है। इस विषय में कार्तिकेयानुप्रेक्षा की यह चेतावनी बडी महत्वास्पद है.—

"जो मनुष्य धन-वैभव की आकांक्षा तो करता है, किन्तु वीतरागोक्त धर्म के प्रति आदर बुद्धि नही रखता है, वह विचारे, कि क्या कहीं बीज के अभाव में धान्य की उत्पत्ति होती हुई दिखती है ?"

यह मोह का ही प्रताप है, जो सभी प्राणी कर्तव्य पालन में प्रमाद कर रहे हैं। धन, यौवन तथा जीवनको पानी के बुलबुल के समान क्षणिक देखते हुए भी लोग इनको नित्य सोचते हैं यह मोह का माहात्म्य अति बलवान है।

विवेकी प्राणी मोह के चंगुल से बचकर आत्म-हित करने में सदा तत्पर रहते हैं। इस अपरिग्रहत्व के द्वारा यह जीव अनंत चतुष्टय की आध्यात्मिक विभूतिका अधिपति बनता है।

———

रात्रि भोजन-त्याग-अणुव्रत

मुनियोंके पंच महाव्रतोंके साथ छठवें अणुव्रत रात्रि भोजनका त्याग भी वर्णन आगम में किया गया है। लघु प्रतिक्रमण में लिखा है "भगवन् मैं छटवें नियम रात्रि भोजन त्याग की अभिलाषा करता हूँ।" यहां प्रश्न होता है कि रात्रि भोजन त्याग को अणुव्रत कहने का क्या कारण है ? यहा हिंसा के समान पूर्ण भोजन का त्याग नही होता है; केवल रात्रि को ही भोजन का त्याग है। दिन को नहीं। मूलाचार में लिखा है कि "रात्रि-भोजन निवृत्ति,अष्ट-प्रवचन मातृका अर्थात् गुप्ति-समिति और पच्चीस भावनाओंके द्वारा अहिंसा आदि महाव्रतो का संरक्षण होता है.।" रात्रिभोजन के द्वारा पाचों महाव्रतों को क्षति प्राप्त होती है।" रात्रि में विचरण करने से अनिष्ट बात की आशंका भी मुनि के विषय में हो सकती है। पशु चोर आदि के द्वारा गृहस्थ आहारदाता को आत्मविपत्ति भी भोगना संभव है।"

इस विवेचन का अभिप्राय यह है, कि मुनिराज दिन में योग्य समय पर आहार लेते है, रात्रि को आहार नही ग्रहण करते है। इससे इसे अणुव्रत कहा है। महाव्रत में एक देश विरति नही होती है। इस प्रकरण में एक सहज प्रश्न उत्पन्न होता है, कि जब जैन श्रावकों को रात्रि भोजन त्याग का उपदेश दिया है, तब उसका मुनियो के लिए पृथक उपदेश तथा उल्लेख करने के क्या रहस्य है ?

इसका समाधान यह है कि स्पष्ट कथन से शिथिलाचार नही होता है। अन्यथा लंपटतावश जीव कुमार्ग रत हो जाता है। दूसरी बात यह है कि इस व्रत को निरतिचार पालना चाहिये, इस विषय की ओर संकेत करने का भाव आगम का है।

भावना

अनगार धर्मामृत में लिखा है "मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्यस्थ्यभावना द्वारा महाव्रतों में दृढ़ता उत्पन्न होती है।"[1]

मैत्रीभावना का स्वरूप इस प्रकार कहा है—"इस जगत में कोई भी प्राणी पाप न करे तथा कोई भी प्राणी दुखी न हो तथा सभी जीव पाप से मुक्त हो जाँय। सम्पूर्ण संसार का कल्याण हो, सब जीव दूसरा के हित में सलग्न रहे, दुष्ट प्रवृत्तियो का क्षम हो, सर्वत्र जीव सुखी रहें।"

प्रमोद भावना का स्वरूप इस प्रकार कहा है—"सम्पूर्ण दोष रहित तथा वस्तु स्वरूप को देखने वाले सत्पुरुषो के गुणों में पक्षपात, प्रेम होना प्रमोदभाव है। अकलंक स्वामी लिखते हैं—"मुख की प्रसन्नता नेत्री के आनन्द, रोमाच की उद्भूति के द्वारा तथा स्तुति, निरन्तर नाम कीर्तन आदि के द्वारा व्यक्त की गई आतरिक भक्ति तथा राग है जिसमें ऐसा उत्कृष्ट आनन्द प्रमोद भाव है।" (४–२७३)

यदि कोई यह कहने लगे कि पक्षपात का होना अच्छा नहीं है, अत प्रमोद भाव में सत्पुरुषों का पक्षपात क्यों कहा गया है, इसका समाधान धवल ग्रंथ के इस महत्वपूर्ण कथन से होता है। "शकाकार ने कहा जब सिद्ध भगवान समस्त कर्म लेप मुक्त है, तब उस लेप सहित अरहंत भगवान को प्रथम नमस्कार करना पक्षपात होगा? इसका उत्तर देते हैं— "न पक्षपातो दोषाय शुभपक्षवृत्ते श्रेयोहेतुत्वात्।" (४–५४) पक्षपात दोष पूर्ण ही होता है, ऐसा नहीं है। शुभपक्ष में रहने से वह कल्याणकारक होता है।" यही दृष्टि सत्पुरुषो के प्रति उनके गुणो के कारण पक्षपात में विद्यमान है।

कारुण्य वृत्ति को कहते हैं—"पीडित, भयाकुल, जीवन की भिक्षा मागने वाले दीन जीवो की विपत्ति निवारण करने की बुद्धि को करुणा भाव कहते है।" आचार्य अकलंक कहते है "शारीरिक मानसिक व्यथा से पीडित दीन प्राणियो के अनुग्रह करने रुप भाव, करुण जीव के भाव

---

१ मैत्री-प्रमोद-कारुण्य माध्यस्थ्यानि सत्वगुणाधिकक्लिश्यमाना विनयेषु यथाक्रम भावयतः सर्वाण्यपि व्रतानि पर दार्ढ्यमासादयन्तीति"

अथवा कर्म को कारुण्य कहते हे ।"

माध्यस्थ भाव का वर्णन करते हैं—"क्रूर कार्य में जो निःशंक रहते है, देवता तथा गुरु की निंदा करते हैं तथा अपनी प्रशंसा करते हैं, उन जीवों के प्रति उपेक्षा अर्थात् राग द्वेष का भाव न रखना माध्यस्थ भाव कहा गया है ।" सदगुण शून्य व्यक्तियों के विषय में हर्ष, द्वेष रहित मनोवृत्ति को माध्यस्थ भाव कहते हैं । तत्वार्थ राजवार्तिक में कहा है:- "राग तथा द्वेष से किसी के पक्षो में पड़ना पक्षपात कहलाता है । इस प्रकार के राग द्वेष रूप पक्षपात के भाव न करके भावो को मध्यम वृत्ति में रखना अथवा मध्यस्थ का भाव या कर्म माध्यस्थ है ।"[1]

सन्मार्ग-विरोधी प्रवृत्ति वालों को देख साधारणतया रोष का भाव उत्पन्न होता है, राग होने से सन्मार्गके प्रति विद्वेष के पक्ष में ममत्व का सद्भाव होगा । उससे पापास्रव होगा । अतः सहज उत्पन्न होने वाले द्वेष भाव को भी उत्पन्न न होने देना माध्यस्थ्य भाव है ।

मांसभक्षी, मद्यपी, कुशीलसेवी व्यक्तियो के मुख से भी मैत्री कारुण्य आदि की मधुर चर्चा सुनाई पड़ती है, किन्तु उनकी भावना का सम्बन्ध वाणीमात्र तक ही सीमित है, अन्तःकरण से उसका सपर्क नही है । अतएव वह भावना असत्य होगी । इन भावनाओं का लक्ष्य अहिंसा आदि व्रतों के पालन में आत्मा को बल प्रदान करना है । जिन भावनाओं के पीछे सत्य की शक्ति है, वे अचिन्त्य प्रभाव दिखाती हैं । तीर्थंकर भगवान का त्रिभुवनवंदित पद षोडशकारण भावनाओ के द्वारा प्राप्त होता है ।

तत्वार्थ सूत्रकार ने लिखा है—"प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव, गुणाधिकों के प्रति प्रमोद, दुःखियों के प्रति करुणाभाव, तथा अविनेयों के (तत्वोपदेश श्रवणादि द्वारा जिनमें पात्रता न उत्पन्न हो सके) प्रति माध्यस्थ-भाव रखना चाहिए ।" इस विषय में अकलंक स्वामी कहते हैं इन "सत्वादिकों में यथाक्रम मैत्री आदि की भावना करना चाहिए । वह भावना इस प्रकार है:-मैं समस्त प्राणियों पर क्षमा भाव धारण करता हूं । सब जीवों से क्षमा मांगता हूं । सब जीवों के साथ मेरा प्रेमभाव है । मेरा किसी के साथ बैरभाव नही है । इस प्रकार सर्व जीवो के विषय में मैत्री भावना

---

१ "रागद्वेषाच्च कस्यचित् पक्षे पतनं पक्षपातः, तदभावात् मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थस्य भावः कर्म वा माध्यस्थम् ।"

भावे। सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र में उच्च व्यक्तियों के प्रति वंदना स्तुति, वैयावृत्य करना आदि के द्वारा प्रमोद भावना करे। मोहनीय कर्म के अधीन कुमतिकुश्रुत तथा विभंगावधि ज्ञान धारक, विषयों के आताप रूप अग्नि के कारण जिनका अंतःकरण दह्यमान हो रहा है, हिताहित के विपरीत प्रवृत्ति करने वाले, अनेक दुःखों से संतप्त, दीन, दुःखी, अनाथ, बालक वृद्ध जीव, जो क्लेशित हो रहे हैं, उनमें करुणाभाव रखना चाहिए। हितप्रद बात के ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊहापोह भाव से रहित महामोह भाव से आक्रांत, दुष्ट तथा विपरीत प्रवृत्ति वाले अविनेय जीवों के प्रति मध्यस्थ वृत्ति की भावना करे। ऐसे जीवों को दिया गया वक्ता द्वारा कल्याणकारी उपदेश कार्यकारी नहीं होता है। इस प्रकार की भावनाओं से अहिंसा सत्यादि व्रतों में परिपूर्णता आती है।"

भावनाओं द्वारा हृदय विशाल बनता है

संकीर्ण दृष्टि और क्षुद्र अन्तःकरण व्यक्ति ही हिंसा, चोरी आदि पापों की ओर उन्मुख होता है। मैत्री आदि भावनाओं के द्वारा हृदय विशाल बनता है, समस्त विश्व के प्रति बंधुत्व की उज्वल भावना जागृत होती है। अतः हिंसादि के द्वारा दूसरे जीवों को व्यथा पहुंचाने को वह जघन्य तथा पाप कार्य मानता है। वह संसार भर को अपने कुटुम्ब रूप में देखता है, इस कारण अपनी क्रूर चेष्टाओं और स्वार्थ प्रवृत्तियों से वह अपने उन सभी कुटुम्बियों को संत्रस्त करने की बात स्वप्न में भी नहीं सोचता। वह तो विश्व भर में प्रेम, भद्रता, स्नेह, माधुर्य, आनन्द, सौमनस्य का साम्राज्य स्थापित देखना चाहता है। ऐसे प्रेम भरे संसार में विद्वेष तथा संक्लेश की दुर्गन्ध का लेश भी नहीं रहता है। ऐसी पवित्र आत्मा की ममतामयी दृष्टि में किसी भी जीव को क्लेश पहुंचाने की कल्पना तक का उदय नहीं होता। ये भावनाएं वास्तव में श्रेष्ठ मानव बनाती हैं।

प्रवचन-मातृका

महाव्रती मुनियों के २८ मूल गुणों में महाव्रतों के पश्चात समितियों का वर्णन आता है। संवर के कारणों में समिति का उल्लेख किया जाता है। मूलाचार में पंच समिति तथा गुप्तित्रय रूप अष्ट प्रवचन-मातृका को महाव्रत का रक्षक कहा है।

महाव्रतकी रक्षिका — उन व्रतों के रक्षणार्थ रात्रिभोजन विरति, अष्ट प्रवचन मातृका तथा पच्चीस भावनाएं कही गई हैं। इन अष्ट प्रवचन मातृ का के विषय में अनगार धर्मामृत में लिखा है —

आगमज्ञ अहिंसा, पंचव्रत तथा सावद्य विरत के शरीर को उत्पन्न करनेवाली, सम्यक्चारित्र की रक्षा करने वाली अथवा त्रिगुप्ति और पंच समिति को माता रूप जानते हैं। व्रतनिष्ठ व्यक्तियों का इष्ट सिद्धि के लिए इन अष्ट प्रवचन मातृका का आश्रय लेना चाहिए।"

सम्यक्चारित्र का श्रेष्ठ रूप है गुप्ति, कारण मन, वचन, काय की क्रिया से कर्मों का आस्रव होता रहता है। उन मानसिक, वाचिक कायिक क्रियाओं का निरोध होने से आस्रव का निरोध होता है। इससे संसार का संसरण रुकता है। सम्यक्चारित्र की इस प्रकार परिभाषा की गई है, "संसारकारण-विनिवृत्ति-प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो बाह्याभ्यन्तर-क्रिया विशेषोपरमः सम्यक्चारित्रम् द्रव्य, क्षेत्र, भाव, भव, काल रूप पंच विध जो संसार है, उसके कारण अष्टविध कर्मों का नाश करने में उद्यत सम्यग्ज्ञानी जीव की बाह्य इंद्रिय के गोचर वाचिक तथा कायिक, छद्मस्थ के अगोचर होने के कारण आंतरिक मानसिक क्रिया-विशेष का रुक जाना सम्यक् चारित्र है। उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र वीतरागों में होता है। उसे यथाख्यातचारित्र कहते हैं। संयतासंयत से लेकर सूक्ष्मसांपराय पर्यन्त आरातीय आचार्यों में उस चारित्र की न्यूनाधिकता होती है।

इस प्रकार उत्कृष्ट चारित्र का लक्षण तो गुप्ति में पाया जाता है, किन्तु जीव की निरन्तर गुप्ति रूप साधना होना कठिन है, अतः जब निवृत्ति रूप चारित्र शक्य नहीं होता, तब सम्यक्प्रवृत्ति रूप चारित्र का पालन किया जाता है। इस समीचीन प्रवृत्ति अर्थात् यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्तिमय समिति के द्वारा यह जीव पाप बंध से बचता है। अतएव

पूर्ण सामर्थ्य होने पर निवृत्तिमय अर्थात् गुप्तिरूप चारित्र का पालन होता है। ऐसी शक्ति के अभाव में यत्नाचार प्रवृत्ति रूप समिति स्वरूप चारित्र होता है। विशेष विस्तार द्वारा इसके ही अनेक भेदोपभेद कहे गए हैं। ये गुप्ति और समिति रत्नत्रयरूप प्रवचन की जननी के तुल्य हैं। इनके द्वारा व्रतों का जन्म, पालन-पोषण तथा उनको निर्मल रखने का कार्य होता है, जैसे जननी अपनी उत्पन्न करने के साथ उसका लालन पालन करती है, तथा उसे गुणवान बनाती है। इस कारण गुप्ति और समिति को जिनागम में रत्नत्रय की जननी या प्रवचन की माता कहा है।

गुप्ति

पच महाव्रत का रक्षक होने के कारण जिस प्रकार भावना आदि पर प्रकाश डाला गया, उसी प्रकार यहाँ गुप्ति की चर्चा करना भी उपयुक्त है। इसके पश्चात् समिति के विषय में विचार किया जायगा। आगम में कहा है —"सम्यक् अर्थात् लौकिक सन्मान आदि, तथा पारलौकिक विषय दुखो की आकाक्षा के बिना मनोयोग, वचनयोग तथा काययोग का निग्रह करना गुप्ति है।" राजवार्तिक में लिखा है "ससार के कारणो से आत्मा का रक्षण करने के कारण इसे गुप्ति कहते है।" (पृ ३१९)

अनगार धर्मामृत में लिखा है— "व्रतों में तत्पर व्यक्ति रत्नत्रय स्वरूप अपनी आत्मा की मिथ्यात्वादि से रक्षा निमित्त लोक सन्मानादि की आकाक्षा रहित हो पाप योगो का-व्यवहार से पाप रूप तथा निश्चय से शुभ-अशुभ कर्मों के आगमन में कारण रूप होने से निदित मन, वचन काय की क्रियाओ का निग्रह करे।" (पृ ३०८) कहा भी है-"जो वचन, काय, मन से उत्पन्न होने वाले पाप का प्रतिषेधक अथवा योगत्रय का निरोधक है, उसे गुप्तित्रय कहा है।" नियमसार में व्यवहार मनोगुप्ति का इस प्रकार वर्णन किया गया है-"क्रोध, मान, माया, लोभ से उत्पन्न चित की कलुषता, मोह, आहारादि रूप सज्ञा तथा रागद्वेष आदि अशुभ भावो को दूर करना व्यवहार नय से मनोगुप्ति कहा गया है"।

यह मनोगुप्ति कैसे व्यक्ति के होती है, इसे बताते है-"जो सदा परमागम के स्वरूप चितन मे अपने मन को लगाये रखते हैं, जो जितेन्द्रिय हैं, जो बाह्य तथा अतरग परिग्रह रहित है तथा जो बाह्य लक्ष्मी सम-न्वित जिनेन्द्र देव के चरणो की स्मृति समन्वित है, उनके यह मनोगुप्ति

होती है।"–"पाप के कारण रूप स्त्री कथा, राजकथा, चोरकथा, भोजन कथा आदि सम्बन्धी वचनों के परिहार रूप अथवा मिथ्या वचन आदि की निवृत्ति रूप वचन गुप्ति है।" काय गुप्ति को कहते है, "बंधन करना छेदना, मारना, संकोचन करना, विस्तार करना इत्यादि काय सम्बन्धी क्रियाओं की निवृत्ति काय गुप्ति है।"

पद्मप्रभु सूरि कहते है–

अब निश्चय नय से मनोगुप्ति का स्वरूप कहते हैं–" जो मन से रागादि भावों का दूर करना है वह मनोगप्ति है। जो असत्य आदि वचन न बोलना अथवा मौनव्रत धारण करना वह वचन गुप्ति है। सकल राग द्वेष, मोह को दूर करके अखण्ड, अद्वैत परम चैतन्य स्वरूप में सम्यक् रूप से स्थिति निश्चय मनोगुप्ति है। हे शिष्य! जब तक इस अवस्था से चलना न हो तब तक मनोगुप्ति जानो।"

समस्त असत्य भाषा का परिहार अथवा मौनव्रत धारण करना वचनगुप्ति है। मूर्त द्रव्य में चैतन्य का अभाव है और अमूर्त द्रव्य इंद्रिय सम्बन्धी ज्ञान के अगोचर हैं। इन दोनों में वचन प्रवृत्ति नहीं हैं, इस प्रकार निश्चय वचन गुप्ति कही गई है।

कायगुप्ति का वर्णन करते हैं–"काय की निवृत्ति, काय में ममत्व का त्याग करना अथवा हिंसादि की निवृत्ति कायगुप्ति कही गई है।

समिति

गुप्ति तो निवृत्ति रूप होती है। उसके पालन करनेमें असमर्थ साधु समिति रूप प्रवृत्ति करते है। कहा भी है– कर्मों के आगमन के द्वार अर्थात् आस्रवके उपरमणमें रत अर्थात संवर करने में तत्पर मुनि के तीन गुप्तियां होती हैं,चेष्टायुक्त अर्थात प्रवृत्ति परक साधुके पंच समितियां कही गईहैं।"

समिति की निरुक्ति इस प्रकार की गई है, "सम्यक् श्रुत–निरूपित क्रमेणेतिर्गतिवृत्तिःसमितिः" समीचीन रूपसे अर्थात जिनागम के कथित क्रमानुसार, इति, अर्थात् गति–वृत्ति समिति है। (पृ. ३१४–अन. धर्म) "पर प्राणि–पीड़ा परिहारेच्छया सम्यक अयनं समितिः" (त.रा.३१९) अन्य जीवों की पीडा का परिहार करने की इच्छा से सम्यक प्रकार प्रवृत्ति करना समिति है। इस समिति के पाच भेद इस प्रकार तत्वार्थसूत्र में कहे गए हैं।

ईर्यासमिति, भाषा समिति एषणा समिति, आदान-निक्षेप-समिति तथा उत्सर्ग समिति ये पाच भेद कहे गए हैं ।

ईर्यासमिति ईर्यासमिति का स्वरूप कहते हैं "धर्मार्थिनो यत्नपरस्य गमनमीर्यासमितिः" (मूलाचार पृ.२४९) धर्मेच्छुक मुनिका सावधानी पूर्वक गमन ईर्यासमिति है । नियमसार में लिखा है—"जो साधु प्रासुक मार्ग से युग प्रमाण भूमि को देखता हुआ दिन के समय विहार करते हैं उनके ईर्यासमिति होती है ।"

जो परम संयमी गुरुदेव ने समीप जाने के हेतु तथा तीर्थ यात्रादि के पवित्र ध्येय के उद्देश्य से चार हाथ प्रमाण भूमि को देख स्थावर त्रस जीवो के रक्षणार्थ गमन करते हैं, उन महाश्रमण के ईर्यासमिति होती है ।

कल्याण के साधन जो सम्यग्दर्शन आदि है, उनके अंग रूप अपूर्व जिनालय, सुयोग्य शिक्षक तथा धर्माचार्यादि की प्राप्ति के लिये मुनिराज विहार करते हैं । उनका गमन जीवो के रक्षण पूर्वक होता है, क्योंकि संपूर्ण जीवो के प्रति उनने मैत्री का भाव अपने मनो मदिर में स्थापित किया है, इसलिये प्रयत्न पूर्वक जीवों के रक्षणार्थ करुणा पूर्वक धीरे धीरे मुनि पाव रखकर गमन करते हैं । दिगम्बर जैन मुनियों की अहिंसात्मक साधना का सर्व साधारण को प्रत्यक्षी करण उनकी जीव-रक्षामयी ईर्यासमिति गमन-विषयक सावधानी से होता है ।

भाषा समिति का स्वरूप कहते हैः—"चुगली, हास्य,कर्कश, परनिंदा, आत्म प्रशंसा युक्त वचनो का परित्याग करके स्व तथा पर कल्याणकारी वाणी बोलने वाले के भाषा समिति होती है ।"

वह साधु भाषा समिति युक्त होता है, जो कर्कशा, परुषा, कटु स्वरूपा, निष्ठुरा, पर को कोप उत्पन्न करने वाली, छेदंकरा, मध्यकृशा, अतिमानिनी, अनयंकरा-शील का घात करने वाली या विद्वेष कारिणी, भूतहिंसाकरी, इन दस दुर्भाषाओं का त्याग, करता हुआ हितकारी परिमित तथा असंदिग्ध बात कहता है । (अनगार धर्मामृत ४-१६५-१६६)

एषणा समिति आहार सबंधी समिति को एषणा समिति कहते हैं । उसका इस प्रकार वर्णन नियमसार में किया गया हैः—"जोमुनि कृत कारित तथा अनुमोदना रहित, प्रासुक तथा प्रशस्त आहार को, जो श्रावक

द्वारा दिया गया है, ग्रहण करता है, उसके एषणा समिति होती है।"[1] टीका-कार ने मन, वचन, काय इन तीनों का कृत, कारित, अनुमोदना के साथ सम्बंध करके नवकोटि से विशुद्ध आहार को ग्रहण योग्य कहा है। वे नव भेद इस प्रकार होंगे, मन कृत, मन कारित, मन अनुमोदना, वचन कृत, वचन कारित, वचन अनुमोदना, काय कृत, काय कारित, काय अनुमोदना।[2] इसका तात्पर्य यह है, कि जिस आहार की निष्पत्ति में साधु का उपरोक्त नव प्रकार से संबंध नहीं हो, वह दोष रहित है; इसके सिवाय वह आहार प्रासुक और प्रशस्त होना चाहिये तथा दातार द्वारा सभक्ति अर्पित किया जाना चाहिये। आहार देने वाले दाता में ये सात गुण कहे गये हैं:-[3]

"भक्ति, संतोष, क्षमा, श्रद्धा, निर्लोभता, विज्ञान ये सात गुण आहार दान के काल में दातार में होना चाहिए।"

दाता नवधा भक्ति पूर्वक मुनि को आहार देता है। नवधा भक्ति कहा भी है, पूर्व आचार्य यथायोग्य विनय के द्वारा विशेषता को प्राप्त प्रतिग्रह, उच्च स्थान, अंघ्रि प्रक्षालन, अर्चा, आनती, तथा मन शुद्धि, वचन शुद्धि काय शुद्धि, अन्न शुद्धि ये दान की नौ विधि हैं। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—प्रतिग्रह—मुनिराज के घर के समीप पधारने पर भक्ति पूर्वक प्रार्थना करना,—हे स्वामिन्! नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु, ठहरिए, ठहरिये, इस प्रकार उनका सविनय स्वागत करना प्रतिग्रह है। इसके पश्चात् मुनिराज को आहार के स्थान पर ले जाकर उच्च स्थान पर विराजमान करना 'उच्च स्थान' कहलाता है।

फिर उनके चरणों का प्रक्षालन करना अंघ्रि प्रक्षालन कहलाता है; फिर जलादि अष्ट द्रव्य से पूजा अर्चा है, पश्चात् पचांग प्रणाम करना आनति

---

१ कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च।
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ति एषणा समिदी ॥ ६३॥

२ मनो वाक्कायानां प्रत्येकं कृत कारितानुमोदनैः कृत्वा नव विकल्पाः भवन्ति, न तैः संयुक्तमन्नं नव कोटिविशुद्धमित्युक्तम् ॥" पृ०५२

३ भत्ती तुट्ठी य खमा सद्धा सत्तं च लोहपरिचाओ।
विण्णाणं तक्काले सत्तगुणा होंति दायारे ॥ भाव संग्रह ४९६

है, फिर आहार दान करते समय आर्तरौद्र ध्यान रहित अवस्था को मन शुद्धि, कर्कश आदि भाषा नही बोलने को वचन शुद्धि, तथा शरीर से सवृत आचार करने को काय शुद्धि कहा है । इस प्रकार तीनो शुद्धियो को करके शुद्ध आहार देवे । यह अन्नशुद्धि है ? सत्पात्र के लिए नवधाभक्ति करने का अमृतचन्द्र सूरि ने इस प्रकार वर्णन किया है —

"सग्रह अर्थात् प्रतिग्रह, उच्चस्थान, चरण धोना, पूजा, प्रणाम, वाक्-शुद्धि, काय शुद्धि तथा भोजन की शुद्धि इस प्रकार नवधा विधि कही है।"[२]
दातार के सप्त गुणो का इस प्रकार वर्णन किया है–

"लौकिक फल की आकाक्षारहित होना, क्षमा, निष्कपटता, ईर्ष्याभाव, तथा विषाद रहित होना, प्रसन्न होना, अहकार रहित होना ये दाता के गुण है।"

सत्पात्र को किस पदार्थ का आहार कराना चाहिए इसका समाधान आचार्य अमृतचन्द्र सूरि इस प्रकार करते हैः—

- आहार का स्वरूप

"जो द्रव्य राग, द्वेष, असंयम, मद, दुख, भय आदि को उत्पन्न नही करता है तथा उत्तम तप, स्वाध्याय की वृद्धि करनेवाला है, वह देने योग्य है।"[३]

दातार के गुणो में विज्ञान गुण कहा है। अत कुशल दाता क्षेत्र, काल आदि तथा प्रकृति आदि का विचार करके आहार देता है । वह द्रव्य ऐसा हो, जो प्रमाद को उत्पन्न न कर तप तथा स्वाध्याय में सहायक बने। विकारो का कारण न हो।

गृहस्थ अपने लिए बनाए गए भोजन को मुनि को प्रदान करता है। मुनियोंकी भिक्षाको गोचरी, अक्ष म्रक्षण, उदराग्नि-प्रशमन, भ्रामरी, गर्तपूरण नाम से कहते है। जिस प्रकार गाय सलीला,तथा शालकार युवती स्त्रियोंके द्वारा लाए गए घासको उस स्त्री के शरीर सौन्दर्यके निरीक्षण में तत्पर न होते

---

१ प्रतिग्रहोच्चस्थानांघ्रि प्रक्षालनार्चानती विदुः :
योगान्न शुद्धीश्च विधीननवादरविशेषितान् ।। ५–४५

२ सग्रहमुच्चस्थान पादोदकमर्चन प्रणामच ।
वाक्कायमनः शुद्धिरेषण शुद्धिश्च विधि माहुः ।।१६९।।

३ रागद्वेषासयम–मददुखमदादिक न यत्कुरुते ।
द्रव्य तदेव देय सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरम ।।१७०।।

हुए खाती है, उसी प्रकार भिक्षु भी भिक्षा प्रदान करनेवाले लोगो के मृदु मनोहर रूप, वेष, विलास के देखने में निरुत्सुक हो शुष्क, द्रव आहार की योजना विशेष को न देखते हुए जो प्राप्त होता है, उसे खाता है, अतः गौ के सदृश भोजन करने के कारण इसे गोचार या गोचरी कहते हैं।

जैसे गाडी में अपनी बहुमूल्य संपत्ति रखकर उसमें ओंगन रूप तेल डालकर व्यापारी देशान्तर को जाता है, उसी प्रकार मुनि भी शरीर रूपी गाडी में गुण रूपी रत्नो को रखकर निर्दोष भिक्षा द्वारा जीवन के लिए ओगन तुल्य सामग्री लेकर इष्ट समाधि रूप नगर को प्राप्त होता है, अत इसे अक्षम्रक्षण कहते हैं।

उदराग्नि शमन नामकरण का कारण यह है कि जिस प्रकार भाडागार में उठती हुई अग्नि को अशुचि या शुचि जल से गृहस्थ बुझाता है, उसी प्रकार मुनि उदराग्नि को प्रशान्त करता है।

चतुर मुनि दातार को बिना कष्ट दिये भ्रमर की भांति आहार ग्रहण करता है इस कारण इसे भ्रमराहार नाम से कहते हैं। गर्त पूरण भी मुनिकी भिक्षा को कहते हैं, क्योंकि जिस प्रकार जिस किसी भी तरह गड्ढा भरते हैं, उसी प्रकार मुनि मधुर अथवा अमधुर पदार्थ के द्वारा अपने उदर के गड्ढे को भरते हैं। दिगम्बर मुनिराज के आहार के निमित्त विहार करने के विषय में मूलाचार टीका में लिखा है-

"आहार के लिए जाते समय मुनिराज न तो बहुत तेजी से, न बहुत धीरे, न रुकते २ जावें। धनी, निर्धन के घरो में भेद भाव न करे। मार्ग में न बातचीत करे और न रुके। हास्यादि को न करे। नीच कुलो म प्रवेश न करे। सूतक आदि के दोष दूषित शुद्ध कुलों में भी प्रवेश न करे। द्वारपाल आदि के द्वारा रोके जाने पर प्रवेश न करे। जितने प्रदेश पर्यन्त भिक्षार्थ आहार लेने वाले जाते हैं, वहा तक ही जावे। विरोध के निमित्त रूप स्थानो में न जावे। दुष्ट गर्दभ, ऊट, भैंसा, गाय, हाथी, सर्पादि से दूर से बचकर चले। मत्त, उन्मत्त, मदाविष्टो से भली प्रकार पृथक रहे। स्नान, विलेपन, मण्डन, रतिक्रीडा में प्रसक्त नारियो का अवलोकन न करे विनयपूर्वक पडगाहे जाने पर रुके। विधि पूर्वक दिए गए, प्रासुक आहार का सिद्ध भक्ति करके ग्रहण करे। शातन, पतन, गलन न करते हुए छिद्र रहित कर रूपी पात्र को नाभि प्रदेश में करके सुर सुर शब्दादि न करके भोजन करे। इस प्रकार भर पेट भोजन करके अथवा

अन्तराय आने से अपूर्ण उदर आहार ग्रहण कर मुख, हाथ, पाँवो को धोकर शुद्ध जल से भरे कमडलु को लेकर वहा से चले। धर्म कार्य के बिना गृहान्तर में प्रवेश न करे। इस प्रकार जिनालयादि प्रदेश को प्राप्त कर प्रत्याख्यान को ग्रहण करनेके पश्चात प्रतिक्रमण करे।"(पृ २६२-२६३)

भोजन त्याग करने के निमित्तो का वर्णन करते हैं:-"आनक अर्थात अकस्मात उत्पन्न हुई मारणान्तिक पीडा होने पर, ब्रह्मचर्य की निर्मलता के लिए, काय को कृश करने के लिए, जीवो की दया निमित्त आदि कारणा से आहार ग्रहण नही करे।"[2]

भोजन के प्रमाण को इस प्रकार कहा है।

"कुक्षि के दो भागो को अन्न से तथा एक भाग को जलादि द्रव्य से पूर्ण करे, तथा चतुर्थ भाग को पवन आदि का स्थान जान खाली रखे।"[3]

आहार ग्रहण करने का क्या लक्ष्य है, यह कहते हैं- "क्षुधा की वेदना की शांति, सयम स्व-पर की वैयावृत्य अर्थात आपत्ति के प्रतीकारार्थे प्राणो के रक्षण निमित्त आवश्यक क्रिया का पालन, स्वाध्याय, ध्यान आदि के हेतु मुनिराज आहार ग्रहण करें।"

आहार का काल

भोजन के योग्य समय को इस प्रकार कहा हैं- 'सूर्य के उदय तथा अस्त होनेके तीन नाडी प्रमाण कालको छोडकर मध्यवर्ती अशन का काल है। (नाडी का प्रमाण २४ मिनिट है।) भोजन करने के काल में तीन मुहूर्त में भोजन करना जघन्याचरण, दो मुहूर्त में करना मध्यम आचरण है तथा एक मुहूर्त में करना उत्कृष्ट आचरण है।" यह समय भोजन करने का है। भोजनार्थ पर्यटन करने का काल इसमें सग्रहीत नही है। कहा है "सिद्धिभक्तौ कृतायां परिणाममेतस्

---

१ सूरुदयत्थमणादो णालीतियवज्जिदे असण-काले।
तिगदुगएगमुहुत्ते जहण्ण-मज्झिम्मममुक्कस्से ॥६-७२

२ आतक उपसर्गे ब्रह्मचर्यस्य गुप्तये।
कायकार्श्यतप. प्राणिदयाद्यर्थं च नाहरेत ॥

३ अन्नेन कुक्षेर्द्वावशौ पानेनैक प्रपूरयेत।
आश्रम पवनदीना चतुर्थमवशेषयेत् ॥

भिक्षानलभमानस्य पर्यटत इति" (पृ० ३८६) यह काल का परिणाम सिद्ध भक्ति के पश्चात का है, भिक्षा के लिए पर्यटन करते हुए उसे नहीं प्राप्त करने का नहीं है।"

मूलाचार में लिखा है कि मुनि के आहार ग्रहण का लक्ष्य शरीर में बल की वृद्धि तेज की उत्पत्ति आदि नहीं। यही बात कहते हैं:-

"आहारग्रहण करने का उद्देश्य बलकी वृद्धि, आयु की वृद्धि, स्वाद का लाभ, शरीर में मास को वृद्धि, अथवा शरीर में दीप्ति का लाभ नहीं हैं। ज्ञानार्थ, सयमार्थ तथा ध्यानार्थ मुनि आहार करते हैं।"[1]

यदि आहार ग्रहण करने से सयम में बाधा आती हो तो आहार का त्याग करते हैं।

मुनिधर्म में छयालीस दोष, बत्तीस अंतराय तथा १४ मल दोष रहित जो आहार ग्रहण किया जाता है, उसे एषणा समिति कहा है। इसका विशेष वर्णन मूलाचार से जानना चाहिए।

उत्कृष्ट अहिंसात्मक साधना के हेतु शुद्ध और निर्दोष आहार का ग्रहण करना आवश्यक है। महाव्रती मुनि के द्वारा अशुद्ध आहार ग्रहण करने पर भावों में मलिनता की नियमतः उत्पत्ति होगी। अतएव आहार के विषय में मुनिराज सर्वदा अपनी अहिंसा मयी दृष्टि को सजग रखते हैं। प्राण जाने पर भी क्षुधा से संतप्त होते हुए भी वे सदोष आहार ग्रहण न करेंगे, कारण वे जानते हैं कि वह आहार शरीर का है और उनकी दृष्टि आत्मा पर है।

यह जैन धर्म की विशेषता है कि वह सयम के क्षेत्र में युक्ति और सद्विचार समर्थित कथन करता है। खोजा मुसलमानो के धर्म गुरु आगा खान के कथन सदृश अद्भुत बातें जिनेन्द्र की वाणी में नहीं मिलेगी वे हजरत गटागट शराब को बोतल उड़ाते हुए भी अपने समर्थन में कहते हैं—"आह! तुम भूल जाते हो जिस समय शराब मेरे कण्ठ में आती है, तो वह जल रूप मे परिवर्तित हो जाती है।"[2] मोहनीय कर्म के

---

१ ण बलाउ साउअट्ठ ण सरीरस्सुवचयट्ठ तेजट्ठ
णाणट्ठ सजमट्ठ झाणट्ठ चेवभुजेज्जो। ६-६२॥

2 "Ah", he replied. "You forget, that wine turns to water as soon as it touches my mouth".

John Gunther : Inside Asia P. 485

उदय से किस प्रकार जीव अपने आत्म पतन की धारा को नही जानने का प्रयत्न करता है यह दुख की बात है।

साधु के आहार ग्रहण करते समय यदि काक आदि पक्षी करगत पिण्ड को ले जावे, तो काकादि पिण्डहरण नाम का अंतराय होगा। आहार करते समय हाथ से यदि ग्रास भूमि पर गिर जाय, तो पाणिपिंड पतन नामक अन्तराय होगा। स्वय हाथ में आहार करते समय कोई जन्तु आकर गिरे और मर जाय तो पाणि जन्तु वधनामका अतराय है। आहार ग्रहण करते समय यदि मांस, मद्यादि का दर्शन हो जाय, तो मांसादि दर्शन अतराय है। देव मनुष्य तिर्यंच कृत उपसर्ग होने पर देवाद्युपसर्ग नामक अतराय है। भोजन करते समय पैरो के बीच में पशु आ जाय तो पादान्तर पचेन्द्रियागमन नामक अतराय है। एसे सूक्ष्म नियम मुनियो के आहार सम्बन्धी है, जो अहिंसा मूलक है।

आदान विक्षेपण समिति

आदान विक्षेपण समिति का स्वरूप कहते है–"ज्ञानोपकरण–पुस्तक, शौचोपकरण, कमण्डलु, सयमोपकरण-पिच्छी का ग्रहण करने तथा रखने में सावधानी रखना आदान निक्षेपण समिति कही गई है। मूलाचार में कहा है–"कमण्डलु आदि द्रव्य को ग्रहण करते एव रखते समय तथा जिस स्थान पर रखना है उस द्रव्य स्थान को चक्षु से देख कर मुनि सयम लब्धि के हेतु पिच्छी से प्रमार्जन करे।"[1] अनगार धर्मामृतमें लिखा है–

"आदान निक्षेप समिति का ध्यान रखने वाला मुनि चक्षु से भली प्रकार देखकर तथा पिच्छी से प्रतिलेखित ग्रथ आदि वस्तु को स्थिर चित्त होकर ग्रहण करे तथा इसी प्रकार देखकर तथा प्रमार्जन के पश्चात् उस पदार्थ को रखे। बहुत समय व्यतीत होने के पश्चात पुन देख कर आदान विक्षेपण करे।"(४–१६८)

प्रतिष्ठापना समिति का स्वरूप कहते है—

प्रतिष्ठापना समिति "जो मुनि जीव जन्तु रहित प्रासुक भूमि में, जो गूढ है, दूसरो के निषेध से रहित है, मलमूत्रादि का त्याग

---

१ पोथइ–कमंडलाइ गहण विसग्गेसु पयत–परिणामो।
आदावण-णिक्खेवण–समिदी होदित्ति णिद्दिट्ठं॥ ६४॥

करता है, उसके प्रतिष्ठापना समिति होती है।"[1]

दावानल के द्वारा दग्ध भूमि, हल के द्वारा विदारित भूमि, श्मशानादि का दग्ध प्रदेश, स्थंडिल भूमि, ऊसर भूमि, जिसमें लोक का निषेध नही हो विस्तीर्ण तथा जन्तु रहित भूमिमें मुनि मलमूत्रादिका विसर्जन करे।

इन समितियो का सदा पालन करने वाले साधु को हिंसादि दोष नही लगते इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

"स्नेह युक्त कमलिनी के पत्रपर जिस प्रकार जल लिप्त नही होता है, उसी प्रकार साधु जीवो के मध्य मे समिति सहित विचरण करते हुए पाप से लिप्त नही होता है।"

अनगार धर्मामृत मे समिति को गुप्ति की सखी कहा है। "समितिषु हि गुप्तयो लभ्यते, न तु गुप्तिषु समितयः (पृ ५ ३१३)। समितियो में तो गुप्ति पाई जाती है, किन्तु गुप्तियों में समितिया नही पाई जाती। समिति मे यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति पाई जाती है, अतः इसमें अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति का अभाव है, इस दृष्टि से इसमें गुप्ति का सद्भाव पाया जाता है, किन्तु गुप्ति में समिति का सद्भाव नही है, कारण गुप्ति निवृत्ति रूप है किन्तु समिति मे यत्नाचार रूप प्रवृत्ति है।

जिस प्रकार माता अपने पुत्र का रक्षण करती है उसी प्रकार तीन गुप्ति और पच समिति रूप अष्ट प्रवचन मातृका द्वारा मुनिराज के ज्ञान दर्शन चरित्र का रक्षण होता है। इनमें पच महाव्रत जोड देनें से तेरह प्रकार का चरित्र कहलाता है। पूज्यपाद आचार्य ने चारित्र भक्तिमें लिखा है "कि तेरह प्रकार के चारित्र का वर्णन आदिनाथ तीर्थंकर ने किया था, कारण उनके शिष्य ऋजु अर्थात् सरल परिणाम वाले थे। महावीर तीर्थंकर ने भी त्रयोदश भेद रूप चारित्र कहा है क्योंकि उनके समय के शिष्य भद्र परिणामी नही रहे थे।"[2] आचार्य प्रभाचद्र ने वर्धमान भगवान के समय के शिष्यो को जड बुद्धि

---

१ पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठा समिदी हवे तस्स ॥६५॥

२ तिस्र सत्तम गुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः।
पचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पचव्रतानीत्यपि ॥
चारित्रोपहित त्रयोदशतय पूर्वं न दृष्ट परैः।
आचार परमेष्ठिनो जिनपतेर्वीर नमामो वयम् ॥७॥

लिखा है और आदिनाथ तीर्थंकर के समय के शिष्यों को ऋजु – मति वाला बतलाया है। अजितनाथ आदि बाबीस तीर्थंकरों ने अभेद रूप चारित्र का निरूपण किया है, क्योंकि उनके समय के शिष्य न जडबुद्धि थे, न सरलबुद्धि थे। इसलिए उनने सम्पूर्ण पापों का त्याग रूप चारित्र का कथन किया।'[1]

यहां यह सन्देह हो सकता है कि दो तीर्थंकरो के द्वारा चारित्र का जिस प्रकार स्वरूप कहा गया उस प्रकार बाईस तीर्थंकरों द्वारा क्यों नही बताया गया, इस शका का समाधान यह है कि चारित्र का स्वरूप सम्पूर्ण पापो के त्याग रूप चौबीसो तीर्थंकरो ने कहा है। दो तीर्थंकरो ने शिष्यो के प्रतिबोधन के लिए भेद विवक्षा से तेरह प्रकार कथन किया है और बाईस तीर्थंकरो ने अभेद दृष्टि से उसे बताया है। इस लिए तत्व प्रतिपादन की शैली में भेद है। तत्वों के निरूपण में भेद नही है। इसे समझने के लिए एक उदाहरण उपयोगी होगा। किसी आदमी ने १०००) के सौ-सौ रुपये के १० नोट रख लिए और किसी ने हजार रुपये का एक नोट रख लिया। तत्व दृष्टि से दोनों के पास हजार के नोट हैं। एक के पास फुटकर है और दूसरे के पास समुदाय रूप है, इसी प्रकार बाईस तीर्थंकरो ने समुदाय रूप से कहा है और दो तीर्थंकरो ने भेद दृष्टि से बताया है।

इस सम्बन्ध में आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में एक विशेष दृष्टि पर प्रकाश डाला है। वे लिखते है कि "ऋषभ आदि तेईस तीर्थंकरों ने सामायिक आदि पाच भेद वाला चारित्र कहा है और महावीर भगवान ने पंच समिति, तीन गुप्ति तथा पंच महाव्रत इस प्रकार तेरह प्रकार का चारित्र कहा है।"[2]

---

१ परैरजितादिभिर्जिननाथैस्त्रयोदशभेदभिन्न चारित्रं न कथितं सर्व सावद्य-विरति-लक्षणमेकचारित्र तैर्विनिर्दिष्टं तत्कालशिष्याणा ऋजुजडमति-स्वाभावात्। वर्धमानस्वामिना तु जडमति-भव्याशयवशादादिदेवेन तु ऋतुमति-विनेयवशात् त्रयोदशविध निर्दिष्टं आचार नगामो वयम्।

२ सामायिकादिभेदेन पचधा परिकीर्तितं।
ऋषभादिजिनैः पूर्वं चारित्र सप्रपचकम् ॥२॥
पच महाव्रत मूलसमितिप्रसर नितान्तमनवद्यम्।
गुप्तिफलभारनम्र सन्मतिना कीर्तितं वृत्तम् ॥३॥
ज्ञानार्णव १०९

इंद्रिय जय

महाव्रती मुनि को इन्द्रियों को जीतना आवश्यक है। शुभचन्द्राचार्य ने लिखा है "जिसने इन्द्रियों को नही जीता है, वह कषाय रूपी अग्नि को शांत करने में समर्थ नही होता, इसलिए क्रोधादि को जीतने के लिए इन्द्रियो को निग्रह करना प्रशसनीय कहा जाता है। इद्रिय रूपी भयकर सर्पराज के क्रोध के वेग की शांति के लिये योगी लोग वीर भगवान द्वारा बताए गये परमेष्ठी के नाम-मन्त्र का स्मरण करते हैं। जिस मुनि ने इद्रिय रूपी बन्दर को ज्ञान-रूपी बन्धन में बाधकर वैराग्य के पिंजरे में बन्द कर दिया है वह मुनियो में श्रेष्ठ है। जैसे, जैसे जीवो के वश में इद्रिया होती जाती हैं वैसे, वैसे वैराग्य रूपी सूर्य हृदय में अधिक प्रकाशमान होता है। जो पुरुष इद्रियो को वश में न करके मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है वह मूर्ख अपने सिर की ठोकर से पहाड को तोडना चाहता है। जो मुनि इद्रिय रूपी सेना का सकोच करता है जिस प्रकार कछुवा अपने अगो को सकोच करता है, वह दोषरूपी पक से मुक्त जगत में विचरण करता हुआ भी दोषो में लिप्त नही होता आत्मन्! मै तो ऐसा मानता हूँ कि ऐसे विषय तुझे ठगने को ही प्रवृत्त हुए हैं, इसलिए मन को ऐसा स्थिर कर जिससे विषयो के द्वारा वह मलिन न हो, जैसे जीव इद्रिय के विषयो में तन्मय होता है उस प्रकार यदि आत्म तत्व में लीन हो जाय, तो कौन न शीघ्र मोक्ष प्राप्त करेगा?"

समतभद्र स्वामी कहते हैं "इद्रियो से उत्पन्न हुआ आनन्द बिजली के समान चचल है। यह तृष्णा रूपी रोग को बढाता है, जिससे यह निरन्तर सताप प्राप्त करता है। वह सताप जीव को दु ख पहुंचाता है।" अज्ञान के कारण यह जीव इद्रियो के सुख को महत्व देता है। वास्तव में आत्मा के सुख का परिचय होने पर विषय सुख विष तुल्य लगते हैं। मूलाचार में लिखा है, "इद्रियो के विषयों से उत्पन्न जो दिव्य महान शारीरिक सुख प्राप्त होता है, वह वीतराग मुनि के आनद के अनंतवें भाग प्रमाण भी नहीं होता है।" इन्द्रिया से उत्पन्न सुख यथार्थ में देखा जाय तो साक्षात् दुःख है। प्राकृत सिद्ध भक्ति में लिखा है 'सिद्ध भगवान का सुख अतिशय युक्त, बाधा रहित, अनत, अनुपम, उत्कृष्ट, इद्रियो के विषय से अतीत या अविनाशी होता है।"

उन सिद्ध भगवान के सुख का स्वरूप पूज्यपाद स्वामी ने इस प्रकार समझाया है.–

"सिद्ध परमात्मा का जो सुख है, वह स्वयं आत्मा से ही उत्पन्न है, इंद्रिय जनित सुख पर पदार्थ से उत्पन्न होता है। यह अतिशय सहित है, बाधाओं से रहित है। यह विशाल है अर्थात संपूर्ण आत्मा में व्याप्त है। इंद्रिय जनित सुख इंद्रियों को ही साता देता है, किन्तु यह सुख संपूर्ण आत्मा में व्यापक रहता है। इस सुख में हीनाधिकता नहीं रहती है। विषय विरहित है, यह बाह्य वस्तुओं से उत्पन्न नहीं होता है, इसका प्रतिद्वंद्वी दुख नहीं रहने से यह विरोध भाव रहित है। यह सातावेदनीय आदि कर्म तथा स्त्री, चंदनादि की अपेक्षा नहीं करता है। यह निरुपम है। जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसके साथ इसकी तुलना हो सके। यह अनंत है, शाश्वत है, अविनश्वर है, सर्व काल रहने वाला है। उत्कृष्ट, सीमा रहित, सार-पूर्ण है, अतः इसे श्रेष्ठ सुख कहा है।"

इंद्रियरूपी घोड़े इस आत्मा को मार्ग विमुख कर विषयों की ओर पहुंचाते हैं। इंद्रिय के द्वारा पर पदार्थों का ग्रहण तथा उपभोग किया जाता है इसलिए इन इंद्रियों को चोर कहते हुए उनको दंडित करते हुए अपने वश में रखने का वर्णन मूलाचार में करते हैं–

"स्पर्श, रूप, रस तथा गंध स्वरूप विषयों में प्रसार करने वाले, चंचल, तथा चंड अर्थात शीघ्र ही कुपित होने वाले तथा भीषण इंद्रिय रूप चोर मन, वचन तथा काय गुप्ति रूप व्यवसित अर्थात अध्यवसाय द्वार से मुनियोंके द्वारा वश में किए जाते हैं।"[1] जैसे भीषण जंगली हाथी बंधन मुक्त होने पर नगर में फिरता है और बलशाली पुरुष के द्वारा तीक्ष्ण अंकुश से वश में किया जाता है, इसी प्रकार प्रचण्ड मन रूपी जंगली हाथी संयमादि की श्रृंखला रहित होकर रूपादि विषयों में दौड़ता है और विवेक रूप अंकुश के द्वारा अधीन किया जाता है और वैराग्य रूप रस्से से बांधा जाता है। इन उच्छृंखल होने वाली इंद्रियों को व्रत तथा उपवास के प्रहार से वश में किया जाता है।" कहा भी है—

"राग, द्वेष, मोह को दृढ रत्नत्रय भावना के द्वार सम्यक प्रकारसे

---

१ विसएसु पधावंता चवला चंडा तिदंडगुत्तहि।
इंदिय चोरा घोरा वसम्मि ठविदा ववसिदेहि ॥ ९-१०७

जीत करके प्रचण्ड पांचो इद्रिया व्रत तथा उपवास के प्रहार से वश में आती है ।"[1]

शरीर में ममता वश जीव देह को सुख पहुचाने के लिए इद्रिय रूपी घोडो को विषयो की ओर जाते नही रोक पाता है। ऐसी स्थिति में ममुक्षु का कर्तव्य आचार्य इस प्रकार कहते है –

"जिस शरीरमें सयमी पुरुष का प्रेम है उससे भेद विज्ञानके आधार पर आत्मा को पृथक करके चैतन्य मय आत्म शरीर में चित्त को लगावे, ऐसा करने से काय का स्नेह दूर हो जाता है।"[2]

शरीरमें आत्म बुद्धिधारण करने वालेकी दिशा भ्रान्ति नष्ट नही हो पाई है, अत वह तपश्चर्या करते हुए सुन्दर शरीर और दिव्य भोगो की आकाक्षा करता है, किन्तु जिसने आत्मस्वरूप को पूर्णतया समझ कर अपनी सर्व प्रकार की भ्रान्तियो का अन्त कर लिया है वह शरीर के कैदखाने से छूटकर अपने अशरीरी पद को प्राप्त करना ध्येय बनाता है और उस ओर पहुचने का उद्यम करता है कहा है। "शरीर में आत्मबुद्धि धारण करने वाला बहिरात्मा जीव शुभ शरीर और दिव्य इद्रियो के विषयो की इच्छा करता है किन्तु तत्वदर्शी उस शरीर से भी अपना पिंड छुडाना चाहता है, कारण इस शरीर के रगमच पर ही तो सर्व कर्म अपना उत्पात दिखाते है। शरीर से मुक्त होते ही यह जीव अविनाशी और अनत आनद का अधिपति हो जाता है।

इद्रिय सम्बन्धी विषयासक्ति वश जीव हिंसादि पापों में प्रवृत्ति करता है। अर्थ के प्रति आसक्ति वश गृह पशु, वस्त्रादि को रखता है। आत्मरक्षार्थ विविध वस्तुओ के प्रति आत्मीयता का भाव जगाता है। रसना इद्रिय के कारण विविध रसयुक्त वस्तुओ के भक्षण में उद्यत होता है तथा आसक्ति के अतिरेकवश उन्हें खाकर रोगो से कष्ट पाता है। उपस्थ इद्रिय के कारण कामिनी के प्रति आसक्त होता है। इन कारणो से वह अपने प्राण देने को तैयार रहता है तथा दूसरो के प्राण भी लेने से नही चूकता है। आचार्य कहते है–

---

१ रागो दोसो मोहो विदीय धीरेहि णिज्जिदा सम्म ।
पचेंदिया दता वदोववासप्पहारेहिं ॥९–११४

२ यत्र काये मुने प्रेम तत· प्रच्याव्य देहिनम्
बुध्या तदुत्तमे काये योजयेत् प्रेम नश्यति ॥४०॥

"इस जीव ने अनादि ससारमें रसना इद्रिय और स्पर्शनेन्द्रियके निमित्त से अनत वार दुख भोगा है, अतः अब जिव्हा और उपस्थ इद्रिया को वश में करना चाहिए ।"[१]

छोटे छोटे अबोध जीवोमें एक एक इद्रिय की आसक्तिवश अवर्णनीय यातनायें तथा प्राणघात तक के कष्ट भोगे हैं, तब पाँचों इद्रियो के विषयो में फसने वाले मानव की क्या दुर्दशा न होगी, यह सोचा जा सकता है ।

शकाकार कहता है, इद्रियोके द्वारा सुखाभाव बताना अतिरेककी बात है। स्त्री के निमित्त से विषय सुख प्राप्त होता है, यह सुख यथार्थ में वेदना का प्रतिकार है। जिस प्रकार खुजली की वेदना के शान्त करने के लिये शरीर से रुधिर आदि वहते हुए भी मानव खुजाने से विमुख नही होता है, तथा क्षणभर शान्ति मानते हुये पीछे तीव्र व्यथा की उत्पत्ति वश कष्ट पाता है, इसी प्रकार काम सुख की स्थिति है। इसी कारण ऊचे स्वर्गवासी ग्रैवयक वासी आदि देवो के महान सुख होते हुये वहा देवागना का अभाव कहा है। 'परे अप्रवीचारा' सूत्र द्वारा इस बात को स्पष्ट किया है, कि षोडश स्वर्गवासी से ऊपर के देवो में मैथुनोपसेवन न होते हुये भी बहुत शान्ति रहती है। वहा काम की वेदना न होने से जो सुख होता है वह वेदना वाले नीचे के स्वर्गों में उपशान्ति के उपायो द्वारा नही होता है ।

आज बडे २ अनुसधान कुशल तीक्ष्ण मति वैज्ञानिक पुद्गलके अतस्तल में छुपी हुई अनत शक्तिया के भण्डार की कुछ चामत्कारिक विभूतियो को समक्ष लाकर अपनेको कृतार्थ मानते है, कि उनने जगतको सुख और शाति प्रदान की, किन्तु तत्वत चिन्तन करने पर ज्ञात होगा, कि इस प्रक्रिया से विषयो की आकांक्षा और भोगो की लालसा और लम्बकाय बन गई और वह भी बढ़ती जा रही है ।

पुद्गल की शक्ति द्वारा आत्मा की शान्ति का उपाय ऐसा लगता है मानो बडे बडे प्रखर भौतिक शास्त्रज्ञ मरुभूमि की ग्रीष्म कालीन उष्ण सिकता राशि पर दिखने वाली मोहनीय मरीचिका के जल का सग्रह कर उससे सिंचाई का काम करने का उद्यम कर रहे है। तथा उसके द्वारा बिजली उत्पन्न करके

---

१ जिब्भो-वत्थणिणित्त जीवो दुक्ख अणादि ससारे ।
पत्तो अणतसो तो जिब्भोवत्थे जयह दाणि ॥ १०-९७ ॥

उस समस्त मरु भूमि को नन्दन उपवन के रूप में परिणत करने वाले हैं। इस कार्य के लिए दिन रात किया गया श्रम और अंधाधुंध बड़े बड़े विशालकाय यन्त्रों का संग्रह तथा उपयोग देखकर भोले मोही जीव बड़ी आशा करने लगते हैं कि अब तो अद्भुत कार्य हो जायगा; किन्तु भविष्य के हृदय को विवेक बुद्धि से जानकारों के चित्त में इस अपार श्रम तथा उद्यम को देखकर दया का भाव पैदा होता है, क्योंकि मृगतृष्णा में जल का एक कण भी नहीं है, तब उसके द्वारा जलास्तित्व जन्य अगणित लालसाओं की पूर्ति कैसे हो सकेगी ? यहां तो भूल में ही भूल है। इसी प्रकार पुदगल के जड़ भंडार के द्वारा चैतन्य पुंज अमूर्तीक आत्मा की आनंदोद्भूति का कार्य है। मोह पिशाच के द्वारा छला गया मानव अपने पैरों पर कुठाराघात करते हुए हर्षित होता है। मोक्ष मार्ग में इन्द्रिय विजय तो आवश्यक है ही, किन्तु जगत में भी जितेन्द्रिय को विजय मिलती है। विषयों की आसक्ति वाला व्यक्ति सदा असफलता के कारण दुखी हो दैव को कोसा करता है। नीतिवाक्यामृत में लिखा है:– "अजितेन्द्रियों का कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता है।"[1] इतिहास के देखने से यह यह बात समझ में आ जाती है, कि जब जब किसी समाज या राष्ट्र में भोग और विषयों की लालसा का रोग घुस जाता है, तो थोड़े समय में वे बड़े बड़े राष्ट्र धराशायी हो धूल में मिल जाते हैं। इंद्रियासक्ति रूपी पिशाची यदि ज्ञान वैराग्य आदि के द्वारा हटा दी गई तो निर्विघ्न रीति से इष्ट सिद्धि हुए बिना नहीं रहती है। यही बात कहते हैं :– "जिस किसी भी उपाय से विषयाशारूप पिशाची हटा दी गई, तो अधिक कहना व्यर्थ है। इष्ट कल्याण की सिद्धि निर्विघ्न रूप से हो जाती है।"[2] यदि मनुष्य सुन्दर और रम्य दिखने वाले पदार्थों पर आसक्त होने के पूर्व उन पर विवेक सूर्य का प्रकाश डालकर उनका विश्लेषण करे, तो आसक्ति के स्थान में विरक्ति का जन्म हुए बिना न रहेगा। जो मानव देह बड़ा मनोज्ञ और मोहक लगता है उसका यदि तत्व ज्ञान के प्रकाश में विश्लेषण किया जाय, तो आसक्ति का ज्वर तुरंत दूर हो

---

१ नाजितेन्द्रियाणां कापि कार्यसिद्धिरस्ति – ३–७ पृ०३५

२ यथाकथंचिदेकैव विषयाशापिशाचिका
क्षिप्यते चेत्प्रलप्यालं सिध्यतीष्टमविघ्नतः॥४, १८॥

३ दैवादंतः स्वरूपं चेद्वहिर्देहस्य किं परैः ।
आस्तां मनुभवेच्छेयमात्मनः को नाम पश्यति ॥११–५२॥

जायगा। इसी विवेक के आलोक में कोई सामान्य अपनी प्रिया के सुन्दर रूप को देखे और समझे, तो उसका अधापन दूरतत्काल होगा।" वादीभसिह लिखते है – "आत्मन्! यदि दैव योग से इस शरीर का मल मूत्रादि का भंडार बाहर आ जावे, तो भला बता, इस शरीर से भोग करने की इच्छा तो दूर, इसे देखना भी कौन पसद करेगा ?"[२]

इद्रियो के जीतने का अर्थ कोई कोई भावुक बाह्य इद्रियो का नाश करना आदि सोचते है, जैसे कहा जाता है चक्षु इद्रिय को उत्पातो की जननी जान एक कवि ने अपनी आखें फोड ली थी ऐसा ही स्पर्शनादि इद्रियो को जीतने के लिए हिन्दू नागा साधु आदि लोग अद्भुत उपायो का आश्रय लेते है।

इद्रियो का क्षय इद्रिय जय नही है

यह भाव इद्रिय जय का नही है। यद्यपि बाह्य इद्रिय का क्षय कर भी दिया तो भी जब तक रागद्वेष को, जो उन इद्रियो के निमित्त से हुआ करते है, दूर नही किया, तब तक इद्रिय जय नहीं कहलायेगा। इद्रिय घात तो हिंसन का कार्य होने से अहिंसा महाव्रत को दूषित करेगा। चक्षु इद्रिय को फोड देने से जो महान असयम रूप जीवन होगा, उसका निवारण किस प्रकार होगा ? अत जैन शासन ऐसी दृष्टि को दोषार्ह कहकर पचेन्द्रियो के नियमो में रागद्वेष का निरोध करने को इद्रिय जय कहता है।

चक्षु इद्रिय के समक्ष वस्तु के आते ही अपनी दूषित या वीतराग मनोवृत्ति के अनुसार उस वस्तु के प्रति ममत्व या उपेक्षा का भाव होगा। मुनिराज का कर्तव्य होगा कि इद्रियो को प्रिय लगने वाली वस्तुओ की ओर इद्रियो की दौड को बन्द करे, और यदि विषय और विषयी का का सन्निपात हो गया है तो उस सम्बन्ध में मलिन विचारो से आत्मा को मलिन न होने देवे। जैसे एक विलासिनी हाव भाव विलास करती हुई जा रही है, साधु उस ओर दृष्टि न डालेगा, किन्तु यदि वह नेत्रो के समक्ष आ भी गई तो वैराग्य के प्रकाश में उसके सपूर्ण सौन्दर्य के भीतर छुपे हुए मल बीज, मलयोनि शरीर की स्थिति को समझकर विरक्ति को जगाएगा, और उस विपत्ति पर विजय प्राप्त करेगा।

घ्राणेन्द्रिय जय के विषय में यह विचारणीय है। समीपवर्ती उद्यान के सुवासित पुष्पो ने अपना सौरभ साधु के आवास स्थल में समीर की सहायता से भर दिया, उस समय मुनिराज प्राणायाम द्वारा उस पवन से

बचने का कार्य नही करेंगे । उनका कर्तव्य यही होगा कि वे उसके विषय में आसक्ति छोड दें । उसके विषय में राग भाव तथा विपरीत गध के विषय में द्वेष भाव का परिहार करें । उनका यही घ्राणेन्द्रिय जय होगा ।

प्राय मन वातावरण से प्रभावित हो इद्रिय द्वारा गृहीत विषयो में रागद्वेष की भावना करने से नही चूकता है, अत. साधु उस प्रकार के निमित्तो के सपर्क से बचने का भी उद्योग करता है । फिर भी यदि विकार के साधन आ जाते है तो वह उन दुर्वासनाओ पर विजय प्राप्त करता है । मूलाचार में लिखा है—

"मुनिराज को सर्वदा चक्षु, कर्ण ,घ्राण, जिह्वा, स्पर्शन इन पच इद्रियो को अपने अपने विषयो से रक्षा करनी चाहिए।"[1]

मनोजय की आवश्यकता

इद्रिय जय व्रत के लिए मनोजय परम आवश्यक है, कारण मनोवृत्ति के अनुसार वस्तु में इष्ट अनिष्ट कल्पना हुआ करती है । कहा भी है—

"इद्रियो की अमनोज्ञ, मनोज्ञ विषयो में निवृत्ति तथा प्रवृत्ति में स्वामी का कार्य मन करता है, जिस तरह स्वामी अपने कुत्ते को किसी के पास दौडने का इशारा करता है और वे उसके कहे अनुसार दौडते है, उसी प्रकार इद्रिया भी श्वान सदृश अपने स्वामी मन के अनुसार विषयो की ओर जाकर कार्य करती है । स्वामी यदि दुष्ट प्रवृत्ति का है । तो सेवक पीडाप्रद कार्य करते है । अतः इद्रियो को नियत्रण में रखने के लिए मनोजय मुख्य कारण है । इद्रियों का रागादि जनक विषयो से सम्बन्ध बचाने से प्राय मन की उस ओर प्रवृत्ति नही होती है और इस प्रकार मनोजय के कार्य में सफलता मिलती है। ज्ञानार्णव मे लिखा है,

"एक मन का वश में करना ही सपूर्ण अभ्युदयो का दाता है । इस मनोजय का आश्रय कर योगी लोग तत्वो के निश्चय को प्राप्त करते है ।"[2]

चित्त को स्थिर करने वाले महात्माओ के चरणो का दास

---

१ इद्रियो के विषय में ब्रह्मविलास में दिया गया सवाद (पृ ३३८ से ३५२ तक) मननीय है ।

२ एक एव मनोरोधः सर्वाभ्युदयदायक
यमेवालम्ब्य सप्राप्ता योगिनस्तत्त्व-निश्चयम् ॥२३४॥

भुवनत्रय वश जाता है, यह बताते हैं–

"जिसका अन्तःकरण स्थिर होकर आत्म स्वरूप में लीन हो गया है, उसके चरण कमलों का यह त्रिभुवन आसक्त हो जाता है।"[1]

इस कारण कुन्द कुन्द स्वामी इंद्रियों और मन के निरोध का उपदेश देते हुए कहते हैं–

"हे भव्य तु इंद्रियों की सेना को समाप्तकर, प्रयत्न पूर्वक मन रूपी मर्कट को वश में कर लोकानुरंजनार्थ बाह्य व्रत वेष को काम में मत ला, अर्थात् आत्म साधना को अपना केन्द्र बिन्दु बना, और बाह्य दृष्टि का त्याग कर।"

---

१ पादपंकजसंलीन तस्यैतद्भुवनत्रयम्।
यस्यचित्तं स्थिरीभूय स्व-स्वरूपे लयं गतम्॥२३५॥

भुवनत्रय वश जाता है, यह बताते हैं—

"जिसका अन्तःकरण स्थिर होकर आत्म स्वरूप में लीन हो गया है, उसके चरण कमलों का यह त्रिभुवन आसक्त हो जाता है।"[1]

इस कारण कुन्द कुन्द स्वामी इंद्रियों और मन के निरोध का उपदेश देते हुए कहते हैं—

"हे भव्य तू इंद्रियों की सेना को समाप्तकर, प्रयत्न पूर्वक मन रूपी मर्कट को वश में कर लोकानुरजनार्थ बाह्य व्रत वेश को काम में मत ला, अर्थात् आत्म साधना को अपना केन्द्र बिन्दु बना, और बाह्य दृष्टि का त्याग कर।"

---

१ पादपंकजसलीन तस्यैतद्भुवनत्रयम्।
यस्यचित्तं स्थिरीभूय स्व-स्वरूपे लय गतम्॥२३५॥

युक्त है, ऐसे व्यक्ति को बाधा रहित और अस्खलित जो छह द्रव्य विषयक ज्ञान होता है, वह भाव सामयिक है।"

"तीनो ही सध्याओ में, पक्ष मास के संधि के दिवसो में या अपनी इच्छित बेला में बाह्य अंतरग समस्त पदार्थों में कषाय का निरोध करना काल सामायिक है।"

मूलाचार टीका में सामायिक के छह भेदो को इस प्रकार स्पष्ट किया है "शुभ तथा अशुभ शब्दो को सुनकर राग द्वेष आदि का त्याग करना नाम सामायिक है। कोई २ स्थापनायें भली प्रकार स्थित सुप्रमाण सर्व अवयवो की पूर्णता सहित, सद्भाव रूप, मन को आनन्दित करनेवाली होती है, और कोई २ स्थापनाए दु स्थित, प्रमाण रहित सम्पूर्ण अवयवो से अपूर्ण, सद्भाव रहित है, उन दोनो के ऊपर राग तथा द्वेष का अभाव स्थापना सामायिक है। सुवर्ण, रजत, मुक्ता–फल, माणिक्यादि, मृत्तिका, काष्ठ, लोष्ठ, कटकादि के विषय में समान दृष्टि रखना राग, द्वेष का अभाव करना द्रव्य सामायिक है। उद्यान, नगर, नदी, कूप वापी, तालाब जनपदोपचित कोई कोई क्षेत्र रमणीय होते है, कोई २ क्षेत्र रूक्ष कटक युक्त विषम, विरस, अस्थि, पाषाण सहित है, जीर्ण अटवी, शुष्क नदी, मरुस्थल की रेत राशि की बहुलता युक्त है, उनके ऊपर राग द्वेष का अभाव करना क्षेत्र सामायिक है। प्रावृड, वर्षा, हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म छह ऋतु, रात्रि दिवस, शुक्ल पक्ष, कृष्ण पक्ष रूप काल के विषय में राग द्वेष का त्याग करना काल सामायिक है। सर्वजीवो के ऊपर मैत्री भाव रखना तथा अशुभ परिणाम का त्याग करना भाव सामायिक है।

नियमसार में बताया है "कि यदि अत करण में साम्यभाव की प्रतिष्ठा नही है, तो सर्वप्रकार की कठोर तपश्चर्या आदि इष्टसिद्धि में समर्थ नहीहो सकती है।" आचार्य कहते हैं–"जो श्रमण साम्य भावसे विरहित है, उसका वन में निवास करना, काय को क्लेश देना, अदभुत उपवास करना, स्वाध्याय, मौन आदि का करना क्या कर सकता है ? उससे मोक्ष का लाभ नही हो सकता है ।"

साम्य शून्य तपादि व्यर्थ

"समता भाव रहित मुनि के अनशनादि तपश्चरण से कुछ लाभ नही मिलता है, अत हे मुनि ! तू समता देवी के कुल मदिर में अनाकुल आत्म तत्व की आराधना कर।"

आचार्य मूलाचार में कहते हैं.–

"जोसर्व सावद्य का त्याग करता है,गुप्तित्रयके द्वारा इंद्रियोंकी अपने२ विषयों में गति को रोकता है, उसकी सामायिक स्थायी होती है। जो श्रमण सर्व जीवों, चाहे वे स्थावर हो चाहे त्रस हों, के प्रति समभाव रखता है, उसकी सामायिक स्थायी होती है । केवली भगवान के शासन में कहा है, कि जिस मुनि के मन में राग तथा द्वेष विकृति नही उत्पन्न करते हैं उसकी सामायिक सर्वदा होती है। जो सदा आर्त और रौद्र ध्यान को दूर करता है, उसके स्थायी सामायिक होती है।"

जब तक चित्त राग द्वेष के आघात से शून्य नही होता है तब तक साम्य भाव का दर्शन नही होता है। अन्त:करण का सन्तुलित बन जाना समस्त साधनाओं का केन्द्र बिन्दु है । जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति में यह सतुलित वृत्ति वीतराग, वीतद्वेष रूप स्थिति पूर्णतया अभिव्यक्त होती है। स्पष्ट सत्य कहा जाय, तो कहना होगा, कि जिनेन्द्र की मूर्ति के सिवाय विश्व की किसी भी आराध्य प्रतिमामें वह पूर्ण साम्य भावना परिदृश्यमान नही होती है। कही द्वेष का भाव है, तो किसी में मधुर राग दृष्टिगोचर होता है । साम्य की सच्ची साधना के लिए मुमुक्षु को जिनेन्द्र के चरणो का आश्रय लेना अनिवार्य होगा । साम्य की लम्बी लच्छेदार चर्चा से समता का सुधांशु अपने अमृत कर द्वारा आनद नही दे सकेगा । जीवन में साम्य भाव की प्रतिष्ठा होना आवश्यक है ।

रागद्वेष की प्रचण्ड पवन जीवन दीप में सदा चंचलता उत्पन्न करती है, जैसे २ इस पवन का वेग न्यून होता है, वैसे २ आत्मा स्थिर होता है। राग और द्वेष के पूर्णतया दूर होने के क्षण मात्र में ही यह आत्मा कैवल्य ज्योति समलंकृत हो पर ज्योति, परमात्मा, प्रभु बन जाता है ।

साम्य दर्शन अज्ञान मूलक नही है

कोई तार्किक पूछ सकता है, कि कंचन–काच, मणि मृत्तिका, हंस–बक मेंसाम्य सोचना क्या सम्यक्ज्ञानी का कार्यहै? कचन और काच को, बक और हंस को एक तराजू पर तोलना तो गहन अज्ञान का द्योतक है, फिर यह कार्य परमज्ञानी महामुनि का कैसे माना जा सकता है ?

यह धारणा भ्रम मूलक है। लौकिक व्यक्ति स्वार्थ की भूमिका पर वस्तुओ को रखकर उनमें प्रिय और अप्रिय अभिमानों को लगाते हैं । बाजार में क्रय, विक्रय (market value) के आधार पर काच-कचन,

मणि, मृत्तिकामें भीषण भिन्नता परिलक्षित होती है,किन्तु आध्यात्मिकता की कसौटी पर कसे जाने से ये सभी आत्म भिन्नता के चिन्ह से चिह्नित अवगत होते हैं। चैतन्य की दृष्टिसे बक और हममें भला क्या अन्तर है? जड तत्वकी दृष्टि से दृश्यमान अनंत पदार्थ मालिका में क्या कोई भिन्नता है ? अत आध्यात्मिक मूल्य (Spiritual Valuation) की दृष्टि से भिन्न भिन्न दिखने वाली, प्रिय अप्रिय लगने वाली वस्तुओं में समान रूप से अनात्मत्व का सद्भाव पाया जाता है। इस अपेक्षा से महल और मसान में अन्तर नहीं दिखता। दोनों ही अन्तःकरण में न तो अनुराग पैदा करते हैं और न द्वेष ही। इस साम्य का यह अर्थ नहीं है, कि वे पदार्थ अपने गुण–धर्म तथा पर्याय रहित हो जाते हैं। उनका अस्तित्व पूर्ववत रहा आता है। प्रतिभाग अर्थात ज्ञान में अत: प्रविष्ट होने से सबको ब्रह्ममय मानने की भ्रान्ति का उदय स्याद्वाद शासन में नही है, सभी जगत के पदार्थ अपने २ स्वरूप में विद्यमान रहते हैं। साम्य की ज्योति जगने के कारण छह द्रव्य, सात तत्व, और नव पदार्थ की व्यवस्था नही बदलती है, सदात्मक वस्तु का तुच्छाभाव या द्रव्यान्तर रूप परिणमन त्रिकाल में भी संभव नहीं है।

"तत्व सत लक्षण वाला है, अभेद दृष्टि से वह सन्मात्र है। वह स्वयं सिद्ध होने के कारण आदि अंत रहित है। इससे वह अनादि निधन है। वह स्व सहाय है, पर की सहायता रहित है और वह विकल्प शून्य है।"[1]

इस दार्शनिक विचार पद्धति के अनुसार जगत् के सद्भाव को कौन असद्भाव रूपमें बदल सकता है। अत साम्यभाव में वस्तुओंकी विशेषता, उनके गुणधर्म का लोप नही किया जाता है। जो वस्तु श्याम, शुक्ल रूप है, वह उसी प्रकार ग्रहण की जाती है, किन्तु उनके कारण उसमें राग और द्वेष का विष नही उत्पन्न होता है। इसलिए साम्यभाव संपन्न साधु के सम्यक ज्ञानी होने के गौरव को तनिक भी क्षति नही पहुचती है। केवली भगवान की वाणी में जिस पदार्थ का जो स्वरूप है, वही बताया गया है, निम्ब को मधुर और शर्करा को कटु बताना अज्ञान का कार्य होगा, किन्तु शर्करा के माधुर्य पर राग न करना और निम्ब की कटुता के प्रति विद्वेष न करना

१ तत्व सल्लाक्षणिक सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पंच ॥

साम्य दृष्टि का कार्य होगा । अतः साम्यालंकृत महामुनि ही सम्यक्ज्ञानी कहे जा सकते हैं, जो वस्तु का अवबोध करते हुए उसमें रागद्वेष, मोह की कालिमा नहीं लगाते हैं । अंतर्जगत में विचरण करनेवाला योगी ही साम्य की निधि को बचा सकता है, अन्यथा रागद्वेष रूपी डाकू उस निधि को लूटे बिना नही रह सकते ।

त्रिलोकीनाथ बनने वाले उस महापुरुष की दृष्टि कर्मों की ठोकर खाने वाली और विषयों की जूठन खाने वाले भोगासक्त जीव से पूर्ण तया पृथक होती है । जिस जगत और उसके पदार्थों पर दुनिया मरा करती है, जिस जगत के गौरव को पाकर मानव अपने को कृतार्थ मान अहंकार भी करने पर उद्यत होता है, आत्मदर्शी उस जगत के बीच रहते हुए भी अपने को उससे पूर्णतया पृथक अनुभव करता हुआ निरंतर निर्भय रहता है । वह विचारता है, "मेरा लोक तो चैतन्य लोक है । ज्ञानात्मक विश्व मेरी दुनिया है । वस्तुतः वह अविनाशी है, इसके सिवाय और कोई लौकिक लोक है कहा ?"[1]अतः प्रतिभास कालमें बहिर्मुखता नही रहती है, ऐसी स्थितिमें मुझे किससे भीति होगी ? स्वद्रव्य मे स्थित, स्व क्षेत्रमें अवस्थित, स्वकाल में विद्यमान और स्वभाव में विराजमान आत्मा को पर द्रव्य, पर क्षेत्र, परकाल पर भाव के द्वारा क्या क्षति पहुच सकती है ? इसी कारण सम्यक्त्वी जीव को भय से पूर्णतया उन्मुक्त कहा है ।

समता भाव का उद्देश्य आत्मा को पतन से बचाकर श्रेष्ठ निर्वाण पद को प्राप्त करना है । जो साम्य के नाम पर स्वेच्छाचारिता की ओर जाते है, और पशुओं में पाई जाने वाली विवेक शून्य प्रवृति करते हैं, तथा अपने में और उनमें साम्य भाव बताते हैं, वे दुर्वासनाओ के द्वारा वंचित हो आत्म प्रतारणा के पथ में दौड़ते हैं । जो पापाचार भ्रष्ट जीवन की ओर ले जावे, वह साम्य का स्वप्न में भी स्पर्श नहीं करता है । शूकर के प्रति साम्य धारण कर वराह वृत्ति का अनुगमन करना पतन का कारण है क्योंकि वहा लक्ष्य विषयों और भोगों की दासता का है । साम्यभाव वाला अपने में और परमात्मा मे साम्य देखकर आत्मा को उच्च बनाने का

---

१ लोको मे हि चिल्लोको नूनं नित्योस्ति सोर्थतः ।
नापरं लौकिको लोकस्ततोभीतिः कुतोस्ति मे ॥ पंचाध्यायी

निश्चय करता है। इस साम्य दर्शन के द्वारा वह योगी समृद्ध हो लोक शिखर पर समासीन हो सिद्धो की समाज में सम्मिलित हो जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र इस सामायिक को तत्वोपलब्धि का मूल कहते हुए इसे अधिकता से करने की प्रेरणा करते हैं, "समस्त पदार्थों में राग और और द्वेष का त्याग करके साम्य का अवलम्बन ले तत्वोपलब्धि के हेतुभूत सामायिक को अधिकता से करना चाहिये।" जिनेन्द्र के साथ समता स्थापित होने पर जीव शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है। कहा है "जो आत्मा को जिनेन्द समान मानता है और जिनेन्द्र को जीव के समान जानता है वह समभाव में स्थित होता है और शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है।"[1]

स्तव आवश्यक

स्तव आवश्यक का स्वरूप इस प्रकार कहा है— "वृषभादि जिनेन्द्रों की नाम निरुक्ति तथा गुणानुकीर्तन करके, पूजा करके मन, वचन काय की शुद्धता पूर्वक उनको प्रणाम करना स्तव है।[2] कोई शंकाकार कहता है, तीर्थंकर भगवान दोष-रहित नही है, इससे वे स्तुति के पात्र नही है। इस शंका को जयधवलाकार (पृ० १०८, भाग १) इन शब्दो द्वारा स्पष्ट करते हुए उसका निवारण करते हैं:- "तीर्थंकर सुरदुन्दुभि, ध्वजा, चमर, सिंहासन, श्वेत निर्मल छत्र, भेरी, शंख, काहल (नगारा) आदि परिग्रह रूपी गूदड़ी के मध्य विद्यमान रहते है, तथा त्रिभुवन को अवलम्बन प्रदान करते है। अपने उपदेश से जगत के जीवों को अवलम्बन देते हैं, इससे वे निर्दोष नही हैं। परिग्रह के मध्य रहना और जगत को उपदेश देना ही मोहरूपी दोष के द्योतक है।"

यह समस्त ठीक नही है। भगवान ने ज्ञानावरण,दर्शनावरण, मोहनीय तथा अंतराय इन घातिचतुष्क कर्मों का नाश किया है और इससे वे नव केवल-लब्धि से विराजित है, अतः उनका दोष के साथ सम्बन्ध नही रहता है, इत्यादि रूप से चौबीस तीर्थंकर सम्बन्धी भ्रान्त दृष्टियों का निराकरण करके नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से भिन्न चौबीस

---

१ जीवा जिणवर जो मुणइ जिनवर जीव मुणेई।
सो समभाव परिट्ठियउ लहु णिव्वाणु लहेइ ॥

२ उसहादि जिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धि पणमो थवो णेओ-१-२४ मूलाचार

तीर्थंकरों के स्तवन के विधान का और उसके फल का कथन चतुर्विंशति-स्तव करता है। गोमट्टसार जीवकांड में भी चौबीस तीर्थंकरों की नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव की अपेक्षा महिमा के वर्णन तथा इसके प्रतिपादक शास्त्र को भी चतुर्विंशति-स्तव कहा है—

युक्त्यनुशासनमें समंतभद्र स्वामी कहते हैं-"भगवन्! यथार्थता की सीमा का उल्लंघन करके गुणों की महिमा का कथन करना लोकमें स्तुति कही जाती है। आपके गुणों के छोटे से छोटे अंश को कहने में असमर्थ हम भला आपकी स्तुति किस प्रकार कर सकते हैं?" बृहत्स्वयंभू स्तोत्र में उनने यही चर्चा की है। "जिनेन्द्र! गुणों के न्यून होते हुए भी उसकी सीमा का उल्लंघन कर उनका बढ़ाकर कथन करना स्तुति है। आपके गुण अनन्त हैं, उनका वर्णन करना हमारी शक्ति से बाहर की बात है। अतः आपके विषय में स्तुति किया जाना कैसे संभव हो सकता है?"[1] ऐसी स्थिति में चतुर्विंशति स्तव की बात कैसे बनेगी?

इस शंका का निराकरण करते हुए स्वयं समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं, "प्रभो! यद्यपि वास्तविक बात ऐसी ही है। फिर भी मुनियों के ईश, पवित्र कीर्ति वाले आपके नाम का संकीर्तन हमारी आत्मा को पवित्र बनाता है, इससे थोड़ासा गुण वर्णन करते हैं।"[2] मानतुंग मुनिराज कहते हैं, "मेरा ज्ञान अल्प है, अतः स्तुति करने का मेरा प्रयास महान ज्ञानियों के परिहास का पात्र होगा, फिर भी क्या करूं, आपकी भक्ति (गुणों का अनुराग) स्तुति करने की प्रबल प्रेरणा करती है। वसंत ऋतु में कोकिल मधुर शब्द करती हैं, इसका एकमात्र कारण आम्र की सुन्दर बौर का समुदाय ही है।" महाकवि धनंजय की उक्ति सुन्दर है। वे कहते हैं, "भगवन्! इंद्र ने आपके स्तवन करने के अहंकार को छोड़ दिया, फिर भी मैं स्तवन के निश्चय को नहीं छोड़ूंगा। मैं तो वातायन के समान अल्प बोध के द्वारा उससे अधिक पदार्थ का निरूपण करूंगा।"

---

१ गुणस्तोकं सदुल्लंघ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥८६॥

२ तथापि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम्।
पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किंचन ॥८७॥

मूलाचार में लिखा है—इस स्तव का नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र काल तथा भाव में छह रूप से निक्षेप होता है। चौबीस तीर्थंकरों का उनके गुणों के अनुसार एक हजार आठ नामों द्वारा स्तवन नाम—चतुर्विंशतिस्तव है। चतुर्विंशति तीर्थंकरों की अगणित कृत्रिम, अकृत्रिम स्थापनाओं का स्तवन करना स्थापना चतुर्विंशति स्तव है। तीर्थंकर के परमौदारिक शरीर का वर्ण भेद से स्तवन द्रव्य स्तव है। कैलाश, सम्मेद, उर्जयन्त, पावा, चपानगर आदि निर्वाण क्षेत्रों तथा समवशरण के क्षेत्रों का स्तवन काल स्तव है। स्वर्गावतरण, जन्म, निःक्रमण, केवलोत्पत्ति तथा निर्वाण के समय का स्तवन काल स्तव है। केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि गुणों का स्तवन भाव स्तव है।

स्तव के भेद

जयधवला टीका में स्तव के नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव, इस प्रकार चार भेद किए गए हैं। वहां लिखा है "चौबीसों तीर्थंकरों के गुणों का अनुसरण करते हुए उनके एक हजार आठ नामों का ग्रहण करना नाम—स्तव है, जो सद्भाव तथा असद्भाव रूप स्थापना में स्थापित हैं किन्तु बुद्धि से, विचार से तीर्थंकरों से एकत्व को प्राप्त हैं, अर्थात उनसे भिन्न नहीं हैं, अतः तीर्थंकरों के समस्त गुणों से परिपूर्ण हैं, ऐसी कृत्रिम अकृत्रिम जिन प्रतिमाओं का कीर्तन करना स्थापना स्तव है। जिन भवन का स्तवन पृथक नहीं कहा गया है, क्योंकि उसका जिन प्रतिमा के स्तवन में अंतर्भाव हो गया है।

जो विष, शस्त्र, अग्नि, वात, पित्त, कफ जनित समस्त वेदनाओं से उन्मुक्त हैं, जिनने अपने महान प्रभा मंडल के तेज से दसों दिशाओं में बारह योजन पर्यन्त अन्धकार को दूर कर दिया है, जो स्वस्तिक, अंकुश आदि चौसठ लक्षणों से व्याप्त हैं, शुभ संस्थान और संहनन युक्त हैं, जिनने सुरभि गंध से त्रिभुवन को आमोदित कर दिया है; जो रक्त नेत्र, कटाक्ष रूप बाणों का छोड़ना, स्वेद, रज, विकारादि विमुक्त हैं, जिनके नख, रोम योग्य प्रमाण में हैं, क्षीरोदधि तट की तरंग के जल सदृश धवल चौसठ सुरभित चमर से विराजमान हैं, जिनमें स्वर्ण का दण्ड लगा है, जिनका वर्ण शुभ है, इस प्रकार अनेक स्वरूप का अनुसरण करते हुए उनका कीर्तन करना द्रव्य स्तव है। उन जिन भगवान के अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंत वीर्य, अनंत सुख, सम्यक्त्व, अव्याबाध, वीतराग भावादि गुणों का

अनुसरण करते हुए प्ररुपणा करना भाव स्तवन है।

भरत तथा ऐरावत क्षेत्र मे प्रत्येक उत्सर्पिणी काल में चौबीस तीर्थंकर होते हैं, इससे इन दो क्षेत्रों की अपेक्षा चतुर्विंशति स्तव कहा गया है।

विदेह की अपेक्षा यह क्रम नही है। वहाँ सदा चतुर्थ काल रहता है और धर्म के उद्योत करने वाले तीर्थंकरो का अनुक्रम व्युच्छिन्न नहीं हो पाता। जम्बूद्वीप सम्बन्धी पूर्व और अपर विदेह हैं, इन में अधिक से अधिक प्रत्येक में सोलह, सोलह तीर्थंकर कुल मिलाकर बत्तीस तीर्थंकर तक होते हैं। धातकी खंड द्वीप में दो विदेह होने से वहाँ तीर्थंकरों की संख्या चौसठ रहती है, पुष्करार्ध द्वीप में भी चौसठ तक तीर्थंकर होते हैं। पंच भरत और पंच ऐरावत में प्रत्येक में २४ तीर्थंकर केवल उत्सर्पिणी अवसर्पिणी के दुखमा सुखमा काल में पाए जाते हैं। शेष पंच काल में तीर्थंकरो का अभाव हो जाता है।

ऐसी बात विदेह मे नही है। वहा सदा दुखमा सुखमा नाम के चतुर्थ काल सदृश काल का परिणमन रहता है तथा तीर्थंकरों का उत्पाद होता रहता है। प्रत्येक विदेह मे बत्तीस तक तीर्थंकर हो सकते हैं। इस प्रकार पंच विदेहोंके एकसौ साठ तथा पंच भरत और पंच ऐरावत में एकसमय में प्रत्येक में एक एक होने से पाच भरत में और पाच ऐरावत में होने वाले दस मिलाकर सब एक सौ सत्तर पर्यन्त तीर्थंकर हो सकते है।

भरत और ऐरावत में पंचकल्याणक वाले ही तीर्थंकर होते हैं, किन्तु विदेह में कम से कम दो कल्याणक वाले तक तीर्थंकर पाए जाते हैं। कोई जीव ने मुनिपद धारण के पश्चात षोडशकारण भावना के द्वारा तीर्थंकर गोत्र नाम कर्म का उपार्जन किया, तद्भवमोक्ष गामी होने से उसके गर्भ, जन्म और तपकल्याणक तो न होंगे, केवल ज्ञान कल्याणक तथा मोक्षकल्याणक होंगे।

पूर्वा-पर विदेह की अपेक्षा सामान्य तीर्थंकर स्तव कथन करना निर्दोष होगा। आचार्य वसुनंदि ने मूलाचार की टीका में यही बात दर्शाई है, "भरतैरावतापेक्ष श्चतुर्विंशतिस्तव उक्तःपूर्वविदेहापरविदेहापेक्षस्तु सामान्य तीर्थंकर-स्तव इति कृत्वा न दोष इति" (पृ ४१८, अध्याय ७-४१)

यहा तीर्थंकर शब्द के सम्बन्ध में भी विचार करना उचित है। कारण उसके स्वरुप का यथार्थ अवबोधन होनेसे अन्य सम्प्रदाय के बडे २ विद्वान तक

भ्रमपूर्ण अर्थ लगाते हैं। विख्यात विद्वान डा० सर राधाकृष्णन ने अंग्रेजी की पुस्तक 'बड़ों के बीच में' (Among the Great) के प्राक्कथन में लेखक श्री दिलीपकुमार राय की स्तुति में यह लिखा है— "इस ग्रंथ का लेखक तो तीर्थंकर है, सत्य की खोज का यात्री है, ज्ञान का अन्वेषक है।"[१]

यह तीर्थंकर शब्द का अनुपयुक्त प्रयोग है। शिशु को सुरगुरु कथन सदृश बात है। इस शब्द की महत्ता और गौरव पर आगे प्रकाश डाला जायगा। प्रायः देखा जाता है कई शब्दों का लोक में बड़ा शिथिल प्रयोग होता है। महाविद्यालय में उपाधि परीक्षा पास करने वाले को स्नातक कह दिया जाता है, जैन वाङ्मय में द्वादशांग के पारगामी विपुलमति मनः पर्यय तथा सर्वावधि ज्ञानवाले मुनियों को भी स्नातक नहीं कहते हैं। वे छद्मस्थ कहलाते हैं और केवल ज्ञान प्राप्त होने पर उनको स्नातक कहते हैं, कारण 'स्नात वेदसमाप्तौ' इस नियमानुसार ज्ञानकी समाप्ति कैवल्य होने पर ही होगी। 'प्रक्षीणघातिकर्माण. केवलिनः स्नातका (पृ.३५८ त. राज वार्तिक ९–४६) घाति कर्म-क्षयवाले केवली भगवान स्नातक हैं। आज कल आचार्य शब्द का भी प्रयोग महाविद्यालय के शिक्षकों के लिए होने लगा है। शिक्षण देने के कारण उनको आचरण के मार्ग दृष्टा आचार्य क्यों कह दिया जाता है, यह बात विचारणीय है। जैन आगम में श्रमण संघ के नायक को यह अभिधान प्राप्त होता है, जो संघस्थ मुनियों को को व्रतादि आचार का मार्ग बताते हैं। स्वयं व्रताचरण करते हुए दूसरों को आचारमार्ग से लगाते हैं। आदेश तथा उपदेश देते हैं। संघ में उनका ही अनुशासन चलता है। शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से "आचरति यस्मात् व्रतानीत्याचार्यः" (पृ. ३४६–९–२४ त. रा.)—जिनके पास से व्रतों को लेकर मुमुक्षु आचरण करते हैं वे आचार्य हैं। ऐसी ही तर्क हिन्दू धर्म के विशेष उपभेद के द्वारा सम्मानित शंकराचार्य की पीठ पर प्रतिष्ठित व्यक्ति को जगद्गुरु शब्द द्वारा पुकारे जाने पर एक विद्वान ने उपस्थित की थी। लगभग ढाई अरब अर्थात २५० करोड़ मानव समुदाय तथा अनंतानंत जीव राशि से युक्त जगत् के गुरु जिस व्यक्ति को कहा जाता है, उनके शिष्य संप्रदाय की संख्या की न्यूनता देख स्पष्ट होता है, कि यह शब्द का विसंगत प्रयोग है।

---

१ "The author in the Tirthankar, the pilgrim in quest of truth, the seeker of wisdom".

तीर्थंकरका स्वरूप ऐसी स्थिति में तीर्थंकर के विषय में प्रकाश डालना आवश्यक है। 'तीर्थ'-शब्द पर आचार्य प्रभाचन्द इस प्रकार प्रकाश डालते हैं "संसारोत्तरण-हेतुभूतत्वात्तीर्थमिव तीर्थमागमः" संसार सिन्धुसे निकलने में कारण रूप होने से तीर्थ (घाट) के समान होनेसे तीर्थ शब्द का अर्थ है, आगम (जिनेन्द्र की वाणी)।

उस आगम रूप तीर्थ के जनक को तीर्थंकर कहते हैं। द्वादशांग रूप आगम की शब्द रचना चतुर्विध ज्ञान संपन्न गणधर देव करते हैं। अर्थकर्ता तीर्थंकर कहे जाते हैं। धवला टीका में कहा है "भगवान तीर्थंकर के निमित्त से गौतम गणधर श्रुत पर्याय से परिणत हुए, अतः द्रव्यश्रुत के कर्ता गौतम माने गए हैं।

इस संसार की तुलना एक महान सिंधु से की गई है, उसमें जहां देखो जलराशि ही दिखाई पड़ती है, कोई भी आश्रय नहीं पाया जाता है। अपना कोई नहीं दिखता है. और पद पद पर मृत्यु की भीषण मुद्रा ही दिखाई पड़ती है। ऐसा ही यह संसार है। पंच परावर्तन रूप संसार के समक्ष समुद्र की भीषणता भी तुच्छ दिखती है। समुद्र में यदि किसी जगह भूतल का दर्शन हो जाय और व्यवस्थित घाट– तीर्थ का लाभ हो जाय, तो भ्रान्त पथिक को प्राण मिलता है। वह अपना त्राण निश्चित सोचता है। इसी प्रकार मोह सिंधु में भ्रान्त जीव को रत्नत्रय धर्म का पथ बताने वाले जिनेन्द्र के आगम का मिल जाना या मुक्ति का उपदेश प्राप्त होना तीर्थ–घाट की उपलब्धि है। इस सिंधु में आत्मा के उद्धार हेतु घाट–तीर्थ के निर्माता को तीर्थंकर–'तीर्थं करोतीति तीर्थंकरः' कहते हैं। मूलाचार में तीर्थंकर को धर्म तीर्थंकर कहा है। धर्मके तीन अर्थ किए है, चारित्ररूप धर्म, धर्मास्तिकाय द्रव्य, जो जीव पुद्गल के गमन में सहकारी होती है, तथा तीसरा आगम अर्थात् जिनवाणी–श्रुतरूप धर्म।[1] इनमें श्रुत धर्म को तीर्थ कहा है, जिससे संसार सागर से तिरा जाता है। आचार्य ने "उसे द्रव्य तीर्थ कहा है,[2] जिससे शरीर का दाह दूर होता है, तृष्णा–पिपासा का

---

१ तिविहो य होदि धम्मो सुदधम्मो अत्थिकायधम्मो य।
तदिओ चरित्तधम्मो, सुदधम्मो एत्थ पुण तित्थं ॥ ७–६० ॥

२ दाहोपसमण-तण्हा-छेदो मलपंक-पवहणं चेव
तिहिं कारणेहिं जुत्तो तह्मा तं दव्वदो तित्थं ॥७–६२॥

छेद होता है, पंकरूप मल का निवारण होता है। इन तीन बातो के कारण उसे द्रव्य तीर्थ कहते है। "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र से सयुक्त सभी जिनेन्द्र तीर्थ होते है, अतः कारणत्रय से युक्त वे भावतः तीर्थ है। भावोद्योत से लोक का उद्योतन करते है। भाव धर्म तीर्थके कर्ता होने से धर्म तीर्थंकर कहलाते है अथवा दर्शन ज्ञान चारित्र सर्व जिनवरो के द्वारा सेवित हुए है, अतः रत्नत्रय भाव तीर्थ है।"[१]

जिस प्रकार चौबीस तीर्थंकरो का जिनागम में वर्णन है, इस प्रकार चौबीस अवतारो का उल्लेख हिन्दू पुराणो में आता है। बेबिलोनिया के पुरातन अधिवासियों में चौबीस मार्ग-दर्शक देवता (Counsellor Gods) माने जाते थे। बौद्धो में चौबीस बुद्धो का वर्ण किया गया है। पारसियो में चौबीस देव 'अहूर' नाम से माने गये है। यहूदियो के धर्म ग्रथो में चौबीसपूज्य पुरुषो (Twenty four elders)का उल्लेख आता है। तुलनात्मक धर्म के विशेषज्ञ विद्वान स्व० बैरिस्टर चम्पतरायजी ने अग्रेजी ग्रथ ऋषभदेव में यही बात व्यक्त की है।[२]

जैन धर्म के स्वावलंबी शिक्षण को देखते हुए कभी २ ऐसा लगता है, कि यह स्तव, पूजा, नमस्कार की चर्चा तीर्थंकर महावीर की वाणी न होकर उसका सप्रदायान्तर से प्रभावित रूप है। यदि यह जैन वाङ्मय का मूल रूप है, तो उसकी उपयोगिता क्या है ? वीतराग के समक्ष प्रशंसा या

---

१ दसणणाणचरित्ते णिज्जुत्ता जिणवरा दुसव्वेपि।
तिहिं करणेहिं जुत्ता तह्मा ते भावदो तित्थं ॥ ६३ ॥

२ There is a special fascination in the number four and twenty. The Hindus have twenty four Avataras (incarnations) of their favourite God Vishnu, there were twenty-four counsellor gods of the ancient Babylonians, the Budhist posit four and twenty-previous Buddas, that is teaching gods. The Zorastrians also have twenty-four Ahuras who are regarded as "the mightiest to advance desire and dominion of blessings". But the most remarkable case of identity of thought between Jainism and a non-Jain creed is furnished by Jewish Apocrypha which acknowledges exactly four and twenty "faces".on the leadder of Jacob. P. 57-58

निंदा समान है, अतः स्तवन का क्या लाभ है ? ऐसे ही विचारों का प्रभाव जिनके चित्त पर पड़ा है, वे कहते हैं कि जैन धर्म में पूजा उपासना तत्व के लिए कोई स्थान ही नहीं है । समस्त विश्व की बाइबिल (The World Bible) में लिखा है "जैन धर्म में पूजा का स्थान ध्यान तथा, सामाजिक व्यवहार ने लिया है ।" उसमें यह भी लिखा है:–

"महावीरके जैनधर्म में सर्व देवताओ के सद्भावका निषेध किया गया है । मनुष्य का धार्मिक कर्तव्य ऐसे विचार तथा व्यवहार रूप है, जिनका किसी भी प्रकार की पूजा से जरा भी सम्बन्ध नही है ।"[१] ये विचार भ्रांति पूर्ण हैं । जैन धर्म में धर्म तीर्थंकरो को परमात्मा कहते है, उनके सिवाय जो भी आत्मा क्रोध, मोह आदि विकारो का विनाश करके पूर्ण पवित्र बन जाती है, उसे परमात्मा कहते हैं । हां ! जगत का विधाता, तथा संहारक परमात्मा जैन सिद्धान्त मे नही माना गया है । अब विचारणीय प्रश्न रह जाता है स्तवन-पूजा का । पूजा का भाव है, आदर बुद्धि का धारण करना । जिन आत्माओं ने वासनाओ पर विजय प्राप्त की है, उनके प्रति आदर बुद्धि कोई भी वैज्ञानिक सिद्धांत परित्याग नही करेगा । आज का आर्थिक मानव (Economic man) धनके अधिदेवताकी पूजा (mammon worship) में संलग्न रहता है । जैनधर्म कर्म विजेताओ का सिद्धान्त होने के कारण आध्यात्मिक वीरों (Spiritual Victors) के प्रति आदर का भाव व्यक्त करता है । यह तो वीरोपासना (Hero worship) है, जो कभी भी अनुपयुक्त नही सोची जा सकती और न अयोग्य सिद्ध ही की जा सकती है ।

जैन धर्मानुसार चिन्तित ईश्वर तथा उसकी पूजा का लक्ष्य कहते है, "जो मुक्ति पथ के प्रदर्शक हैं, कर्मरूप पर्वत के विनाशक हैं तथा विश्व तत्व के ज्ञाता है उनको उनके गुणो की उपलब्धि के लिए मैं प्रणाम करता हूँ ।"

---

१ "In Jainism meditation and social behaviour were & substituted for worship.

In Mahavira's Jainism the existence of all gods was denied and man's religious duty consisted entirely of thought, behaviour unconnected with any form of worship". p. 2

इस पद्य में जैन धर्म का आदर्श पूर्णतया अंकित है, कि पूजक का ध्येय पूज्य के पद को प्राप्त करना है। मोह, ममता के मध्य में रहनेवाला मानव जहाँ जाता है, वहा रागद्वेष की सामग्री का सचय अनायास कर लिया करता है। उसका अध्यात्म विद्या के उच्च स्तर पर पहुंचना सरल काम नही है। अनन्तकालीन विषयों की दासता से यह जीव इतना विषयों के साथ ऐक्य धारण कर चुका है, कि उसे विषय रूप विष प्रिय लगता है, और आत्मोद्धार का पथ विपत्ति का भंडार दिखता है। ऐसे भ्रांत व्यक्ति को सत्पथ पर लाने को ऐसे उपाय चतुरता पूर्वक किए जाते है, जिनसे उसकी जीवन भ्रांति धीरे २ दूर हो जाय, और सहर्ष सम्यक्पथ पर वेग से चलने में वह समर्थ हो जाय। भौतिकता के वातावरण से उसको कुछ क्षण के लिए अलग करके ऐसी आध्यात्मिक विभूतियो के समीप विचारों के द्वारा लाया जाता है, जिनका जीवन उज्वल अध्यात्मिक प्रवृत्तियों से पूर्णता को प्राप्त कर चुका है। उन महामानवों का दर्शन, गुणचितन, नाम-स्मरण भी अंतःकरण को पवित्रता की ओर आकर्षित करता है। उससे हृदय जघन्य तथा कुत्सित भावनाओं द्वारा अभिभूत नही होता है।

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जैसे मनुष्य के विचार होते है, वैसे ही उसका जीवन बन जाया करता है। अतः सत्पुरुषो-श्रेष्ठ आत्माओ की पूजा, आदर भाव आदि के द्वारा उज्वल प्रवृत्तियो की जागृति हुआ करती है। जैन पूजा का या स्तवन का यही अर्थ है। यहाँ दासता-दीनता का प्रश्न नही, किन्तु जब तक आत्मा पूर्ण समर्थ नही बन पाया है, तब तक यह अपने आदर्श की तथा उसकी मूर्ति की पूजा करके आत्म-विकास के लिए प्रेरणा प्राप्त करता है। बाह्य वस्तुओ से अंतःकरण पर क्या प्रभाव होता है, यह सभी छोटे-बड़े जानते है।

छोटा बालक प्रारम्भ में चलना नही जानता। धीरे धीरे आश्रय के बल से वह चलने लगता है और दौड़ने में भी सहारा नही लगता है। ऐसे ही अध्यात्म पथ में चलने में पहले पांव कांपते है, चित्त नही लगता है, उस समय रागात्मक सत्प्रवृत्तियो के सहारे मनको वीतराग के समीप लाया जाता है। वीतराग के नाम से हृदय में वीतरागता के विचारो को प्रेरणा मिलती है। उनके जीवन से सम्बन्धित स्थलो के दर्शन से विशेष स्फूर्ति प्राप्त होती है। पश्चात पूर्ण विकसित आत्मा को अवलंबन की आवश्यकता नही रहती है। भूतल पर स्थित व्यक्ति को राज-

प्रसाद पर चढने की सीढी का आश्रय लेना पडता है, पश्चात भवन के ऊपर भाग पर पहुंचने पर सीढी उसके लिए आवश्यक नही रहती । इसका यह अर्थ नही है, ' कि किसी के लिए भी उसकी उपयोगिता नही रही है । असमर्थों के लिए अवलम्बन की अनिवार्य आवश्यकता है । इसलिए प्राथमिक स्थिति की दृष्टि से पूजादि के बिना आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति होना असम्भव है । पश्चात् सुविकसित जीवन के होने पर अवलंबन को छोड़ दिया जाता है, अथवा यह कहना उपयुक्त होगा कि वह अवलम्बन स्वयं छूट जाता है। ध्यान करने में भी प्रारम्भ में मूर्ति बीजाक्षर आदि का अवलम्बन लिया जाता है पश्चात रूपातीत ध्यान में निरंजन, निराकार सिद्धों का ध्यान किया जाता है । ऐसी स्थिति को कम व्यक्ति प्राप्त कर पाते है । अतएव उस पथ का सर्व साधारण के समक्ष प्रतिपादन उपयोगी नही रहता है । प्रारम्भिक स्थिति के साधक लिए लिए जिनेन्द्र की मूर्ति के सिवाय जिन भगवान के जन्म कल्याणक आदि के स्थान कल्याण प्रद हो जाते हैं, क्योंकि वे मगल भावना को उत्पन्न करते हैं ।

मनोविज्ञान में सम्पर्क विषयक नियम (Law of association) का उल्लेख आता है । भगवान बाहुबलि का चित्र देखते ही श्रमणबेलगोला स्थित गोमटेश्वर की स्मृति का हो जाना इसी नियम का कारण होगा । इसी प्रकार काल, क्षेत्र, नाम आदि के द्वारा वीतराग के साथ मानसिक संपर्क हो जाता है, अतः पुण्य संपर्क होने के कारण इन साधनों को प्रशस्त और परम आदर का पात्र कहा गया है। जिनेन्द्र की पूजा, स्तुति के द्वारा पाप का विनाश तथा पुण्य की प्राप्ति होती है । इससे इन कार्यो को मंगल कहा गया है ।

इस प्रकार जैन वाङ्मय के परिशीलन से ज्ञात होगा, कि उसमें स्तवन के क्षेत्र में भी अनेकात शैलीका पूर्णतया परिरक्षण किया गया है।

तात्विक दृष्टि

परिपालक की आत्म-सामर्थ्य को ध्यान मे रख सकाम भक्ति, निष्काम भक्ति एवं ध्यान-ध्याता-ध्येय के भेद-भाव से मुक्त शुद्धात्मावलंबन का प्रतिपादन पात्रभेद से किया गया है ।

उच्च श्रेणी के उन्मुख मुमुक्षु को उपदेश देते हुए कहते हैं, कि "तू परावलम्बन छोड़ और अपनी आत्मा का ही आश्रय ले; न कोई तीर्थ को जा, न अन्य देव की ही आराधना कर । इस शरीर के भीतर विराजमान

प्रभु की छवि का दर्शन कर, उससे ही तेरा निर्वाण होगा। परालम्बन साक्षात् निर्वाण न देगा। महान साधक को योगीन्द्र देव कहते हैं –

"वत्स! जो ज्ञानमय आत्मा को छोड़कर अन्य पदार्थ का ध्यान करता है; उन अज्ञान के विलास वालों को कैवल्य का लाभ कैसे होगा?"[1]

इस विषय में टीकाकार का यह कथन है कि "प्राथमिक सविकल्प अवस्था में चित्त को स्थिर करने के लिए तथा विषय कषाय रूप आर्त-रौद्र ध्यान दूर करने के लिए जिन प्रतिमा, मंत्राक्षरादि ध्येय होते हैं, किन्तु निश्चय ध्यान के समय अपनी शुद्ध आत्मा ही ध्येय होती है।"

आचार्य कहते हैं "यद्यपि यह आत्मा ही परमात्मा है, किन्तु कर्मोदय वश यह पर का चिंतन करता है। जिस समय यह आत्मा वीतराग निर्विकल्प स्व-सवेदन बोध के द्वारा आत्मा को जानता है उस समय यही परमात्मा बन जाता है।" (परमात्म प्रकाश)

"आत्मन! तू दूसरे तीर्थों को मत जा, अन्य गुरु की शरण में मत पहुंच। अन्यदेव का चितवन मत कर। अपनी निर्मल आत्मा का चिंतन कर।"[2]

यह कथन निश्चय नय की अपेक्षा है। व्यवहार नय से निर्वाण भूमि, मूर्ति, चैत्यालय आदिक तीर्थ रूप परिणत पुरुषों के गुण-स्मरणार्थ तीर्थ होते हैं तथापि वीतराग निर्विकल्प समाधि रूप छिद्र रहित जहाज सदृश इस संसार समुद्र के संतरण में समर्थ निश्चय नय की अपेक्षा स्वात्म तत्व ही तीर्थ होता है। उनके उपदेश से परंपरा से परमात्मतत्व का लाभ होता है।

इस विवेचन के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है, कि व्यवहारिक दृष्टि से जिनेन्द्रकी पूजा, भक्ति, स्तुति आदि पुण्यानुबंधी कार्यो का असाधारण महत्व है। ये साधन धर्म हैं। इनके द्वारा निश्चय दृष्टि साध्य है, जिसमें आत्मा के सिवाय अन्य वस्तु का अवलंबन नहीं लिया जाता। अतएव जैन तत्वज्ञान के शिक्षण के पूर्णतया अनुरूप स्तुति आदि का कथन है। इसका लक्ष्य आत्म शुद्धि के सिवाय ईश्वरीय प्रसाद की प्राप्ति आदि

---

१ अप्पा मिल्लिवि णाणमउ, अण्णु जि झायहि झाणु।
वढ़ अण्णाण वियंभियहं, कउ तहं केवलणाणु ॥२८९॥प. प्रकाश

२ अण्णु जु तित्थु म जाहिजिय, अण्णु जि गुरुउ म सेवि।
अण्णु जि देउ म चिंति तुहुं अप्पा विमलु मुएवि ॥९६॥

नही है। भाषा समान होते हुए भी जैन दृष्टि परमार्थतः स्वावलंबन की मूल पर अवस्थित पाई जायगी किन्तु ईश्वर को विश्व निर्माता मानने वालो का लक्ष्य परमात्मा की कृपा को प्राप्त करना रहेगा।

कही २ जिनेन्द्र के प्रति उपचार से कर्तृत्वका आरोप भी उनके स्तवन में दृष्टिगोचर होता हैं, उसका सामजस्य जैन विचार धारा से इस प्रकार बैठेगा, कि जिनेन्द्र नाम–स्मरण या स्वरूप चिंतन से पुण्य का सचय होता है जिसके द्वारा इष्ट पदार्थ मिलते है। अतः इष्ट वस्तु की प्राप्ति का कारण पुण्योदय और पुण्योदय के बध में कारण उज्वल भाव होते हैं। उन पवित्र भावों के निर्माण में जिनेन्द्र बिम्ब, जिन मंदिर, जिन तीर्थ का दर्शन आदि कारण होते हैं, अत. प्रकारान्तर से जिनेन्द्र को सर्व सिद्धि का प्रदाता कहना व्यवहारिक दृष्टि से पूर्णतया संगत तथा उचित है। जो परमार्थ दृष्टि से भी जीवो को सुख का दाता जिनेन्द्र को माने, वह जैन तत्वज्ञान तथा शिक्षण के प्रति न्याय नही करता है। अत. व्यवहारिक दृष्टि और परमार्थ विचार के भेद को भुला जैन–स्तवन आदि में कर्त्तावाद का प्रभाव मानना या उनको जैन दृष्टि का सम्यक् प्रतिनिधित्व न करने वाला सोचना समन्वयशील स्याद्वाद शैली को विस्मृत करना है।

जिनेन्द्र की भक्ति के द्वारा तीर्थंकर पद प्राप्त होता है, जिन बिम्ब के दर्शन से निकाचित बंध तक का क्षय होता है, जिनेन्द्र बिम्ब के दर्शन से सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है, अतएव ये आत्मकल्याण के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण माने गये हैं। कहा भी है:–

जिन प्रतिमा अरु जिन भवन कारण सम्यक्ज्ञान।
कृत्रिम और अकृत्रिमा तिन्हे नमो धर ध्यान ।

वंदना

वन्दना नाम का तृतीय आवश्यक कर्म है। वृषभादि चौबीस तीर्थंकर, भरतादि क्षेत्रो के केवली, आचार्य, चैत्यालयादि को पृथक् २ रूप से नमस्कार करना अथवा गुणों का अनुस्मरण करना वंदना है (महाबंध पृ० ३८)। एक तीर्थंकर को नमस्कार करने को वदना कहा है।[१] श्री गोमट्टसार जीव काण्ड में लिखा है, "एक तीर्थंकर का अवलंबन युक्त चैत्य, चैत्यालयादि की स्तुति वंदना है, अथवा इसका प्रतिपादन करने वाला शास्त्र वंदना कहलाता

१ "एयस्स तित्थयरस्स णमंसणं वंदणा णाम (जयधवला पृ. १११)
वंदना-त्रिशुद्धिः, द्व्यासना, चतुःशिरोवनतिः द्वादशावर्तना। (त.रा.") ६–२४

वंदना विषयक शास्त्र अंगवाह्य श्रुत मे समाविष्ट है। अगवाह्य आगम के चौदह अर्थाधिकारों में वंदना का वर्णन आता है।

आचारसार में लिखा है "वंदना करने वाले को मन, वचन, काय को शुद्ध रखना चाहिये। द्वादश आवर्त्त करना चाहिये। आदि तथा अत में दो बार बैठकर नमस्कार करना चाहिये। चारो दिशाओं में चार नमस्कार करना चाहिये तथा दोनों हाथ जोड़कर वंदना के बत्तीस दोषों से रहित होकर वंदना करना चाहिये।" (९-८८)

इस सम्बन्ध में मूलाचार में लिखा है "अरहंत, सिद्ध प्रतिमा, तप श्रुत, गुण से गुरु अर्थात महान, दीक्षा गुरु, दीक्षा से अधिक इनका कृति कर्म से अर्थात सिद्ध-भक्ति, श्रुत भक्ति पूर्वक कायोत्सर्गादि से तथा अन्य से अर्थात श्रुत भक्ति आदि क्रिया पूर्वकता के बिना शिर प्रणाम से त्रिकरण संकोचना अर्थात मन, वचन, कायकी शुद्धि पूर्वक प्रणाम करना वंदना है।

मूलाचार टीका में अर्हन्त प्रतिमा को अष्ट प्रातिहार्य समन्वित लिखा है तथा प्रातिहार्य रहित को सिद्ध प्रतिमा बताया है अथवा कृत्रिम प्रतिमा को अर्हत् प्रतिमा और अकृत्रिम को सिद्ध प्रतिमा कहा है-"अष्ट महाप्रातिहार्य समन्विता अर्हत् प्रतिमा, तद्रहिता सिद्ध-प्रतिमा। अथवा कृत्रिमायास्ता अर्हत्-प्रतिमाः, अकृत्रिमाः सिद्ध प्रतिमा." ॥ (गाथा २५ अध्याय १)। इस आगम के प्रकाश से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो कुछ समय से जो मूर्ति को काटकर पोला आकाश दिखाने वाला बनाया जाता है, वह आगम सम्मत सिद्ध मूर्ति नही है। प्रातिहार्य रहित अरहंत मूर्ति को सिद्ध मूर्ति नही मानना चाहिए।

वंदना के भेद मूलाचार में "इस वन्दना के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव ये छह भेद कहे गये है।" [1]

वंदना में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव से छह निक्षेप कहे गये है। एक तीर्थंकर के नाम का उच्चारण, सिद्ध आचार्यादि का नामोच्चारण नाम की आवश्यक वन्दना निर्युक्ति है। एक तीर्थंकर प्रति-बिम्ब, सिद्ध आचार्यादि के प्रतिबिंबो का स्तवन द्रव्य वंदना निर्युक्ति है।

---

१ णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य।
ऐसो खलु वन्दणगे णिक्खेवो छव्विहो भणिदो ॥७-७८॥

इस कथन से आचार्यों की मूर्ति का निर्माण कार्य आगम सम्मत है, यह स्पष्ट होता है। एक तीर्थंकर, सिद्ध, आचार्यादि के शरीर का स्तवन द्रव्य-वंदना निर्युक्ति है। उनके द्वारा अधिष्ठित क्षेत्र का स्तवन क्षेत्र वंदना, उनके द्वारा अधिष्ठित काल का स्तवन काल-वंदना, एक तीर्थंकर, सिद्ध आचार्यादि का शुद्ध परिणाम से जो गुण स्तवन है, वह भावावश्यक निर्युक्ति है।"

तीर्थंकर वंदना से कर्मों का क्षय होता है, इस विषय में जयधवला में यह शंका उठाई गई है, "एक तीर्थंकर की नमस्कार क्रिया को वंदना कहते हैं, किन्तु एक जिन तथा एक जिनालय की वंदना के द्वारा कर्म का क्षय नहीं होगा, क्योंकि एक जिन और जिनालय की भक्ति या नमस्कार द्वारा शेष जिनेन्द्र तथा जिनालय की आसादना (अनादर) होती है, जो अशुभ कर्म बन्ध का कारण होगी। तथा एक जिन और एक जिनालय की वंदना करने वाले को मोक्ष तथा जैनत्व नहीं प्राप्त होगा, क्योंकि वह पक्षपात दूषित है—किसी जिन का पक्ष करता है और दूसरों की उपेक्षा करता है। अतः उसके ज्ञान और चारित्र में कारण रूप सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है। इस कारण एक जिन तथा जिनालय का नमस्कार कार्य योग्य नहीं है। (पृ० ११२)

इस शंका का इस प्रकार निराकरण करते हैं, "एक जिन या जिनालय की वंदना करने से पक्षपात नहीं होता है क्योंकि वंदना करने वाले के मन में एक जिन या जिनालय की ही वंदना करूंगा, अन्य की नहीं, ऐसा प्रतिज्ञा रूप नियम नहीं पाया जाता है। इसका यह भी भाव नहीं है कि वंदना करने वाले ने शेष जिन और जिनालयों की नियम से वंदना नहीं की है। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य और अनंत सुख आदि के द्वारा अनन्त जिनों में एकपना है, अतएव एक जिन तथा जिनालय की वंदना से सभी जिन, जिनालयों की वंदना हो जाती है।

ऐसा होते हुए भी चतुर्विंशतिस्तव में वंदना का अंतर्भाव नहीं होता है, कारण द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नयों में एकत्व का विरोध है। दूसरी बात यह है, कि सभी पक्षपात अशुभ कर्मबंध के हेतु हैं, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि जिनका मोह क्षीण हो गया है, ऐसे जिन भगवान विषयक पक्षपात में अशुभ कर्मों के बंध की हेतुता नहीं पाई जाती है।

कदाचित कोई यह आग्रह करे कि एक जिनकी वंदना का जितना

फल है, उतना ही फल शेष जिनों की वंदना का है, अतः शेष जिनों की वंदना करना सफल नही है। इस हेतु से शेष जिनो की वंदना में अधिक फल नही पाया जाता, इसलिए एक जिनकी ही वन्दना करनी चाहिए। अथवा अनंत जिनों में छद्मस्थ के उपयोग की एक साथ विशेष रूप प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, इसलिए भी एक जिन की वंदना करना चाहिए। इस प्रकार का एकांत पक्ष नही लेना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार का एकांत का निश्चय करना दुर्गम है। इस कारण पूर्वोक्त प्रकार से विवाद का निराकरण करके एक जिन की वंदना में निरवद्य भाव ज्ञापन द्वारा वंदना के भेद तथा फलों का निरूपण होता है।" (पृ० ११३)

जिनेन्द्र देव का स्तव अथवा वंदना का मूलतः उद्देश्य अन्तःकरण की शुद्धि है। इस अन्तःकरण को पवित्रता के प्रकाशित हुए बिना आत्मा अंधकार में भटकती फिरती है, तथा उसके प्रयत्न इष्ट साधक नही होते हैं। योगीन्द्र देव परमात्म प्रकाश में लिखते हैं—

"हे जीव जहां तेरी इच्छा हो वहाँ जा, जैसा जी चाहे वैसा कर, किन्तु जब तक चित्त की शुद्धि नही होती, तब तक मोक्ष को किसी भी प्रकार नही पा सकता है।"[1]

यह जीव भोगों के अनुभवन के बिना भी काम क्रोधादि दुर्ध्यान द्वारा शुद्ध आत्म-भावना से गिरकर भाव से कर्म का बंध करता है, अतएव अनवरत अन्तःकरण की विशुद्धता आवश्यक है।

चित्तवृत्ति की चंचलता की समता करने वाली वस्तु जगत में अन्य नहीं मिलेगी। ऐसा चित्त आत्मचिंतनमें निरन्तर कैसे रह सकता है? यदि इसकी स्वोन्मुखता अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त हो, तो मोहनीय, ज्ञानावरण दर्शनावरण, अंतराय का ध्वंस होकर कैवल्य की ज्योति का लाभ हो जाय। मन को वश में करने की बातें, जिस सरलता और जोश के साथ की जा सकती है, उसका अक्षरशः पालन स्वप्न में भी नही बनता। अतएव उस चंचल चित्त वृत्ति को अशुद्ध भूमि में विचरण करने से रोक कर जिनेन्द्र के सद्‌गुणों का चिन्तन, स्मरण तथा वंदना आदि में संलग्न रखना हितप्रद है। यह सत्य है कि जिनेन्द्र देव का स्वरूप वाणी के द्वारा

---

१ जहिं भावइ तहिं जाहि जिय, जं भावइ करि तं जि।
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर, चित्त हं सुद्धि ण ज जि ॥१९७॥

अवर्णनीय है, फिर भी उसका व्यवहार दृष्टि से निष्पण जीव की मनो-वृत्ति में विलक्षण विमलता का सचार करता है। यही विशुद्धता आराधक की आकांक्षाओ की पूर्ति में मुख्य कारण है और जिन-स्मरण कारण का कारण होने से सर्वदा श्लाघनीय तथा उपादेय माना है। महाकवि जिनसेन भगवान वृषभनाथ के स्तवन-पाठ में कहते है—

"हे प्रभो! जिनेन्द्र के पुण्य गुणो का सकीर्तन ही तो स्तुति है, विशुद्ध विचार वाला भव्य जीव ही स्तुति करने वाला है। स्तुत्य-स्तुति के के पात्र कृतकृत्य आप है, इसका फल निर्वाण का अविनाशी आनंद है। भगवन! आप एक हजार आठ नामो के गोचर होते हुये भी परमार्थतः वाणी के द्वारा अवर्णनीय हो, फिर भी आपके स्तवन के द्वारा स्तुति करने वाला अपने इष्ट फल को नियमतः प्राप्त करता है।"

प्रभु के नाम स्मरण या वदना का ध्येय आत्मा का विशुद्धी करण है, किन्तु प्रायः लोग भगवान के पास जा भिखारी की भांति स्वार्थ पूर्ति के लिये अपनी-अपनी मागो का बही-खाता खोल देते है। इससे भक्ति की पवित्रता तथा शुभ्रता का सौन्दर्य क्षीण हो जाता है। बर्नाडशा का कथन कितना सत्य है। "(Common people do not pray, they only beg)—साधारण जन प्रभु की प्रार्थना नही करते। वे तो उनसे भीख मांगा करते हे।" जब तक हमारी आत्मा पुण्यशील और सद्वृत्ति सम्पन्न नहीं बनती, तब तक जोर जोर से स्वार्थ पूर्ति के लिए केवल वाणी से उठाई गई आवाज क्या कर सकती है? हेमलेट में शेक्सपियर ने लिखा है—"भाव विहीन वाणी स्वर्ग को स्पर्श नही करती।"[१]

कोई २ भोग और विलासता के दास स्वावलंबन तथा आत्मनिर्भरता की लम्बी लच्छेदार बातें छेड़ते है किन्तु भगवद्गुण-स्मरण में वे आत्महित को तनिक भी सामग्री नही देखते है। उनको गांधी जी का यह कथन ध्यान में लाना चाहिये।[२] "प्रार्थना आत्मा के लिये उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार शरीर के लिए भोजन आवश्यक है। मै बिना प्रभु-स्मरण

---

१ "Words without thoughts never to heaven go".

२ "As food is necessary for the body prayer is necessary for the soul. No act of mine is done without prayer I am not a man of learning, but I humbly claim to be a man of prayer" life of M. Gandhi P. 330

के कोई भी कार्य नही करता। । मे बडा विद्वान तो नहीं हूं, किन्तु नम्रता पूर्वक अपने को प्रार्थना-शील मानव कहूंगा ।"

प्रार्थना का केन्द्र यदि सम्यक्त्वी का प्रभु हो, तो आत्मा की सफलताओ और सिद्धियो की सीमा नही रहती है। इसके द्वारा क्रमिक विकास करता हुआ जीव आगे स्तुति का विषय बन जाता है। प्रार्थना मे नतमस्तक मानव विश्व में उन्नत-मस्तक महापुरुष बन जाता है । ईश्वर की आराधना से जो सफलता मिलती है, वह इतनी अलौकिक और अपूर्व होती है, कि मनुष्य ऐसी बातें स्वप्न मे भी नही सोच सकता है। टेनीसन के ये शब्द सर्व सुविदित है:-

"जिन बातो का जगत स्वप्न देखता है, उससे भी बडे कार्य प्रार्थना द्वारा सपन्न हो जाते हे।" जिनेन्द्र की भक्ति में एक विशेषता है, कि उसकी जैसे जैसे वृद्धि होगी, वैसे वैसे आत्मा भोग और विषयों के प्रति विमुख बनता हुआ आत्मिक सौन्दर्य की ओर अधिक आकर्षित होता जाता है । मलयाचल के पास जाने वाले के पास वहा की सुवास जीवन में क्यो नही आयगी ? वीतराग की भक्ति, गुणचितन का यह अवश्यभावी परिणाम होता है, कि आत्मा भोगो की दासता को विष-तुल्य समझने लगता है और उसे अपनी आत्मा के स्वरूप की पवित्र स्मृति हो जाती है। वीतराग जिनेन्द्र के दर्शन से आत्मा मे भेद विज्ञान की ज्योति जग जाती है। जितनी पवित्र प्रवृत्ति वाली आत्मा होगी, उतनी ही अधिक शान्ति और सुख वह जिनेन्द्र के चरणों में प्राप्त करेगी । जिनेन्द्र की वीतराग, ध्यानमय, प्रशान्त, निर्विकार मुद्रा का अन्त करण पर कितना उज्वल प्रभाव पड़ता है, इसे कवि इस प्रकार व्यक्त करते है :-

जिनेन्द्र भक्ति की विशेषता

निरखत जिन चद्र वदन स्व पर सुरुचि आई ॥।
प्रगटी निज आनकी, पिछान ज्ञान भानकी,
कला उदोत होत काम यामिनी पलाई ॥१॥
शास्वत आनंद स्वाद पायो, विनस्यो विषाद;
आन में अनिष्ट इष्ट कल्पना नशाई ॥२॥
साधी निज साधकी समाधि मोह व्याधि की
उपाधि को विराधि कै अराधना सुहाई ॥३॥

"More things are wrought by prayer.
Than this world dreams of".

धन दिन छिन आज सुगुनि, चिन्तें जिनराज अबै,
सुधरे सबकाज 'दौल' अचल सिद्धि पाई ॥४॥

इस प्रसंग में यह बात विशेष ध्यान देने की है, कि आराधना का लक्ष्य सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी आप्त न होकर यदि आराधक के समान ही दोषी तथा दुर्वासनाओं का पुंज रहा, तो ऐसी भक्ति आत्माकी अधोगति का कारण होगी। ऐसी भ्रान्त भक्ति, पूजा, वंदना की अपेक्षा उससे दूर रहने वाला व्यक्ति अपेक्षाकृत कम क्षति ग्रस्त होगा। अनंत संसार में परिभ्रमण करने वाले जीव को सम्यक पथ की प्राप्ति तथा सदगुरु शरण बड़े भाग्य से मिलता है। वैद्य का ठाठ बाट रख स्वयं रोगी हो बीमार के जीवन को संकट में डालने वाले चिकित्सक नामधारी बहुत मिल सकते हैं, किन्तु रागादि दोषों को शमन करने की सामर्थ्य सम्पन्न सफल आत्म चिकित्सक की उपलब्धि असामान्य पुण्य से होती है। असम्यक लक्ष्य की आराधना आत्मा को कैसे उन्नत बनावेगी ? शराबी, कुशील-सेवी, मांसभक्षी, दुराचार मूर्ति को लक्ष्य बनाकर आराधना करने वाले जीवमें वे अवगुण सहज ही उत्पन्न होंगे। इसका कारण है। जिसकी वंदना की जाती है उसको अपनी अपेक्षा उच्च और आदर्श मान सर्वदा उस ओर ध्यान देकर तद्रूप बनने की आन्तरिक आकांक्षा की जाती है। उस ओर आकर्षण होने से विचार तदनुसार प्रवृति में प्रेरणा देते हैं, फलत शनै शनै आराध्य के अनुरूप साधक का परिणमन होता है। इसलिए इस विषय में प्रारंभ में यह निश्चय करना आवश्यक है, कि मैंने अपना आदर्श चुनने में भूल तो नहीं की है।

कहते हैं एक राजा बड़े भगवद् भक्त थे। प्रजा प्रिय भी थे। विशेष समारंभ पर शाही सवारी निकलने वाली थी, अत लाखों नर-नारी नरपति के दर्शनार्थ राजपथ में एकत्रित थे। इतने में सुसज्जित मार्ग में एक कुत्ते ने आकर उसे अपने मलोत्सर्ग द्वारा गंदा कर दिया। यह देख एक चतुर मालिन ने पुष्पों से भरी हुई टोकनी से उस स्थल को ढांक दिया। भीड़ के लोगों ने पुष्पों का ढेर देख कोई पवित्र स्थल की कल्पना कर थोड़े बहुत पुष्प वहां डाल दिए। थोड़े ही काल में वहां पुष्पों का समुदाय हो गया। इतने में राजा साहब की सवारी निकली, वहां पुष्पों का ढेर देखकर सोचा कोई पुण्यस्थल होगा, अत उनने वहां सुन्दर छतरी बनाने की मंत्री को आज्ञा प्रदान की।

मंत्री ने नरेश की आज्ञा को शिरोधार्य कर उस स्थान के विषय

आशाधर जी लिखते हैं–"प्रतिक्रमक अर्थात प्रतिक्रमण कर्ता मुनि मुनि होता है। प्रतिक्रम्य अर्थात प्रतिक्रमण के विषय दुष्कृत हैं। मेरे दुष्कृत मिथ्या हो इत्यादि शब्द कथन से अथवा मेरे दुष्कृत मिथ्या हो इस प्रकार व्यक्त किए परिणामो से व्रत शुद्ध आत्मा में दुष्कृतों का छेद होता है, वह प्रतिक्रमण है।"(अ०धर्मा ८–६१

प्रतिक्रमण आदि के अनुष्ठान द्वारा अधस्तन भूमि में मुमुक्षु का उपकार होता है और प्रतिक्रमण आदि के न करने से अहित होता है। उच्च श्रेणी में विद्यमान साधु के प्रतिक्रमण आदि के अनुष्ठान द्वारा अपकार होता है–

यह प्रतिक्रमण आदि अधस्तन भूमि में स्थित साधु के लिए अमृत कलश रूप है किन्तु उच्च श्रेणी गत मुनि के लिए यह विष कुंभ सदृश है।

कहा भी है "अप्रतिक्रमण, अप्रतिशरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा, और शुद्धिका नही करना ये अमृत कुंभ हैं।"(समयसार ३०७)

इस विषय का सम्यक् अवबोध निमित्त प्रकाश अमृतचन्द्र सूरि से मिलता है। आत्मा में लगे हुए दोषो का शोधन कर्म प्रतिक्रमण कहा जाता है। निश्चयनय की अपेक्षा ज्ञानी आत्मा निरपराधी है, तब उसे प्रतिक्रमण की औषधि पिलाने की क्या आवश्यकता है? नाटकसमयसार में लिखा है–

"पर द्रव्य का ग्रहण करने वाला अपराधवान जीव बंधन को प्राप्त करता है, किन्तु स्वद्रव्य में संवृत संयमी अपराध रहित होने से बंधन को नही प्राप्त करता है। लोक में देखा जाता है कि जो चोरी आदि का अपराध करता है उसके ही बंधन की शंका सभव होती है, किन्तु जो चोरी आदि का अपराध नही करता है, वह निश्चिन्त हो जनपद - देश में भ्रमण करता है। इसी प्रकार जीव भी अशुद्ध होता हुआ पर-द्रव्य-ग्रहण लक्षण रूप अपराध को करता है, उसके ही बंध की शंका होती है। जो शुद्ध होता हुआ अपराध नही करता है, उसके बंध की शंका नही होती है।"

"अपराधी आत्मा निरन्तर अनन्त पुद्गल परमाणुरूप कर्मों के द्वारा बंधता है, किन्तु निरपराध आत्मा बंधन को कदाचित भी स्पर्श नही करता है। अपने को नियम से अशुद्ध मानने वाला आत्मा सापराध रहता है किन्तु शुद्ध आत्म सेवी संयमी निरपराध रहता है।"

आत्मख्याति टीका में यह भी लिखा है "जो अज्ञानीजन साधारण का अप्रतिक्रमणादिक है, वह शुद्धात्म सिद्धि के अभाव स्वभाव रूप होने से स्वय अपराध रूप होनेके कारणही विष कुभ हैही। उसकी चर्चा करना अनावश्यक है।"

जो द्रव्य प्रतिक्रमणादिक है, वह सर्व अपराध रूप विष की व्यथा के आकर्षण करने में समर्थ होने से अमृत कुभ रूप होते हुए भी प्रति-क्रमणादि से पृथक अप्रतिक्रमण रूप तृतीय भूमिका को नही देखता हुआ आत्मा को बध, मुक्तिरूप कार्य करण में, असमर्थ होने से विपक्ष का कार्य करने से पूर्ववत विष कुभ ही ठहरता है।

अप्रतिक्रमणादि रूप तृतीय भूमि–स्वय शुद्धात्मा की सिद्धि रूप होने से सर्व अपराध रूप विष के दोषो का पूर्णतया परिहार करने के कारण स्वय अमृत कुभ होती है। इससे तृतीय अप्रतिक्रमण रूप भूमिका के द्वारा ही निरपराधपना स्थित होता है। उसकी प्राप्ति से लिए ही द्रव्य प्रति-क्रमणादि साधन रूप प्रारभ में होते है।

दोष शुद्धि निमित्त किए जाने वाले प्रतिक्रमणादिक को विष-कुभ सुनकर प्रमादी व्यक्ति हर्षित हो सोचता है, मै प्रतिक्रमण की झझट से और मुक्त हो गया। इस प्रकार वह अधिक प्रमत्त बनता है, उसे समझाते हुए अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है:–

"जहा निश्चय दृष्टि में प्रतिक्रमणमादि को विष कहा है, वहा प्रमादी का प्रतिक्रमण न करना कैसे अमृत कहा जायगा ? अत अध पतित होता हुआ व्यक्ति क्यो प्रमाद करता है ? वह प्रमाद रहित हो क्यो नही ऊचा ऊचा चढता है ?"(समयसार कलश १८९)

इस कथन का निष्कर्ष यही है कि प्रारम्भिक अवस्था में प्रति-क्रमण करना परम कर्तव्य है। इस विषय में मूलाचार का कथन विशेष मननीय है।

"भगवान वृषभनाथ तीर्थंकर तथा भगवान महावीर के तीर्थ में धर्म सप्रतिक्रमण कहा गया है, चाहे अपराध हुआ हो या न हुआ हो। भगवान अजितनाथ आदि पारसनाथ भगवान पर्यन्त मध्यवर्ती बावीस तीर्थंकरो के तीर्थ में अपराध की बहुलता का अभाव होने से यह प्रतिक्रमणअपराध होने पर ही किया जाता था, अन्यथा नही।" (७–१२९)

"अजितनाथ जिनेन्द्रादि पार्श्वनाथ तीर्थंकर पर्यन्त मध्यम तीर्थंकरों के तीर्थ में जिस व्रत में अपने तथा दूसरो के अतीचार लाता था, उसी विषय में

प्रतिक्रमण के भेद

मूलाचार में प्रतिक्रमण का छह प्रकार से निक्षेप किया गया है—नाम प्रतिक्रमण-पाप के कारण रूप अतीचारों का निवारण करना, अथवा प्रतिक्रमण दंडकगत शब्दों का उच्चारण करना, सराग स्थापनासे परिणामों को दूर करना, स्थापना प्रतिक्रमण है। सावद्य द्रव्य की सेवा से परिणामों का निवारण करना द्रव्य है प्रतिक्रमण क्षेत्राश्रित अतीचारों को दूर करना, क्षेत्र प्रतिक्रमण है। कालाश्रित अतीचारोंसे निवृत्ति काल प्रतिक्रमण, रागद्वेष आश्रित अतीचारों की निवृत्ति भावप्रतिक्रमण है। इस प्रकार प्रतिक्रमण में छह प्रकार के निक्षेप जानना चाहिए—

प्रतिक्रमण के ये सप्तभेद—कहे गये हैं:—दिवस में उत्पन्न दोषों के दूर करने को दैवसिक प्रतिक्रमण, रात्रि सम्बन्धी दोषों की शुद्धि के लिए

---

expiation, these eight kinds constitute the pot of nectar.

These two Gathas by their paradoxical statement will be shock from the ordinary point of view. In the case of an empirical self, the uncontrolled rush of emotions must be kept under restraint. For achieveing this purpose this eight kinds of discipline Pratikramana etc. become necessary and desirable. Since they promote the achievement of the good they must be said to constitute the pot of Nectar. Whereas the lack of eight-fold discipline must constitute the opposites that is the pot of poison, since there is a free vent to evil.

This ordinary description is reversed in the two gathas by Sri Kunda Kuda. He is thinking of the transcendental Self which is quite beyond the region of good and evil. Hence the question of discipline or no-discipline is meaningless. And hence in the case of the Supremely pure state of the Self to talk of the Pratikramana etc. is to drag it down to the empirical level and to postulate the possibility of occurrence of impure emotions, which ought to be disciplined and controlled. Hence to talk of Pratikramana etc. in this state will be positive evil.

Hence the revered author considers the various kinds of moral discipline to be things to be avoided and calls them posion pot. "Samayasara" P. 189-190

रात्रिक प्रतिक्रमण, छह जीव निकायो के सम्बन्ध में किए गए अतीचारो को दूर करना ईर्यापथ प्रतिक्रमण, पद्रह दिन में दोषो का विशोधन कार्य करना पाक्षिक प्रतिक्रमण, चातुर्मास में किया गया प्रतिक्रमण चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है । वर्ष में किया गया प्रतिक्रमण सावत्सरिक प्रतिक्रमण है । यावज्जीवन चतुर्विध आहार का परित्याग रूप प्रतिक्रमण उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है । ("उत्तमार्थे भवमोत्तमार्थं यावज्जीव चतुर्विधाहारस्य परित्यागः।")

आचार्य वीरसेन ने जयधवला टीका में प्रतिक्रमण के विषय में लिखा है –दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ऐर्यापथिक और औत्तम–स्थानिक इस प्रकार प्रतिक्रमण सात प्रकार का है ।

प० महाचद्र जी ने श्रावक का प्रतिक्रमण सक्षिप्त रूप में सामायिक

Then, what is the significance of the opposite, Apratikramana etc which are described to constitute the pot of Nectar Here the term Apratikramana implies not the mere opposite of Pratikramana The mere opposite of mere Pratikramana would imply removing the disciplinary act and giving free access to the impure emotions towards the focus of attention That would be positive degradation of the Self Hence the interpretation ot this term would be inapplicable to the pure Self in the Trasnscental region

Therefore the negative prefix in the words Apratikramana must be taken to signify the absence of necessity to practice the discipline When the Self is absorbed in its pure nature by attaining the Yogic Samadhi there is a full stop to to the series of impure psychic states, characteristic of the empirical Self Hence there is no necessity to practice the various kinds of discipline The very absence of those disciplinary practices produces spiritual peace that passes under standing It is in that stage there is the pot of Nectar Such a spiritual peace necessarily implies spiritual bliss, which is the characteristic of the Supreme Self

Prof Chakravarty, Samayasara P 189-190

के प्रारंभ मे पढने योग्य इन शब्दो में लिखा है –

हे सर्वज्ञ जिनेश किए जे पाप जु मैं अब,
ते सब मन वच काय योग की गुप्ति बिना लभ।
आप समीप हजूर माहिं मैं खडो खडो सब,
दोष कहूं सो सुनो करो नठ दुःख देहि सब ॥२॥
क्रोध मान मद लोभ मोह माया वश प्रानी,
दुःख सहित जे किए दया तिनकी नहिं आनी।
बिना प्रयोजन एकेन्द्रिय-बि-ति चउ-पचेन्द्रिय,
आप प्रसाद हि मिटै दोष जो लग्यो मोहि जिय ॥३॥
आपस में एक ठौर थापि करि जे दुःख दीने,
पेलि दिये पगतले, दाबि करि प्राण हरीने।
आप जगत् के जीव जिते तिनि सबके नायक,
अरज करू मै सुनो दोष मेटो दुःखदायक ॥४॥

लघुप्रतिक्रमण

लुच-प्रतिक्रमणा, रात्रि-प्रतिक्रमणा, दिवस-प्रतिक्रमणा, गोचार-प्रतिक्रमणा, निषिद्धि का गमन प्रतिक्रमणा, ईर्यापथिक प्रतिक्रमणा, अतीचार प्रतिक्रमणा इस प्रकार सात लघु प्रतिक्रमण कहे गये है।

उपयोगिता

विषयो मे अनुरक्त, इद्रियो के भक्त जिस प्रकार बाह्य वस्तुओ द्वारा शरीर को सजाते है, उसे स्वच्छ करते है। उसी प्रकार विषय विरक्त इद्रियो को अपने अधीन रखने वाले योगी अपनी आत्मा की मलिनता को प्रतिक्रमण के द्वारा दूर कर उसे पवित्र, उज्वल तथा आतरिक सामजस्य एव सौन्दर्य की अप्रतिम भूमि बनाते है। आध्यात्मिक सौन्दर्य तथा शुभ्रता पर लक्ष्य रहने के कारण मलघट तुल्य शरीर को सुसस्कृत करने की ओर उनका झुकाव नही रहता है। जिस प्रकार समाज या राष्ट्र की सद्वृत्ति और सदाचार की अभिवृद्धि के हेतु न्यायशील शासक दण्ड का सम्यक् प्रयोग करता है, और बाह्य जगत् में शाति, सुव्यवस्था बनाये रखता है, उसी प्रकार अतर्जगत में क्रोध, मान, माया आदि उच्छृंखलता तथा उद्दडता के द्वारा जो सुजीवन, सौमनस्य तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य का सृजन नही हो पाता है, उन विकारों को पराभूत करने के लिए मुनिजन प्रतिक्रमण आदि आत्माश्रित अस्त्र का प्रयोग सतत करते है। इससे उनके जीवन में पूर्णशाति और समता का राज्य स्थापित

हो जाता है। आचार्य सोमदेव ने दण्ड को दोष-विशुद्धि का कारण कहा है। जैसे चिकित्सा शास्त्र शारीरिक विकारों को दूर करने का निमित्त होता है-"चिकित्सा आगम इव दोष विशुद्धिहेतु-र्दण्डः। इस प्रतिक्रमण के द्वारा आत्मगत दोषों का निवारण होकर आत्मा में विशुद्धता उत्पन्न होती है। यह आध्यात्मक सुधार की पद्धति बाह्य कानून या राज्याज्ञा की शक्ति के बाहर की वस्तु है। बाह्य कानून के निर्माता तथा प्रयोक्ता स्वयं रागादि विकारों तथा परिग्रहादि पर पदार्थों के प्रति आसक्ति के कारण अपराधी होते हैं। वे जब स्वयं महान दण्ड भोगने के पात्र हैं, तब उनका शासन निरपराध पुण्यचरित्र साधुसमुदाय के लिए नीरोगता के स्थान में उत्पात उत्पादक हुए बिना न रहेगा। अत. वे मुनिजन सम्पूर्ण विकृतियों के विजेता जिनेन्द्रदेव के शासन के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं, तथा उनकी वाणी को पूज्य मान उनकी आज्ञाका कभी भी अतिक्रमण नहीं करते हैं। प्रमादवश दोषों की उद्भूति होने पर जिनवाणी की अमृत औषधि को वे ग्रहण करते हैं। विषय रोगों के सताये हुए बड़े २ विवेकी शासक इन मुनियों के उपदेश में आत्मत्राण का उपाय पाते हैं।

गिबन्स नामक विद्वान ने लिखा है 'सुधार का कार्य अतकरण से होना चाहिए, बाहर से नहीं। सद्गुण के लिए कानून नहीं बना सकते।'[१] उसका भाव यह है कि नैतिक सुधार और सद्गुणों की अभिवृद्धि कानून के वश की वस्तु नहीं है। उसके लिए अत करण को ही तैयार करना आवश्यक है। मुनियों के जीवन सुधार में आंतरिक प्रवृत्तियों के संयमन तथा सशोधन को ध्यान में रख प्रतिक्रमणादि का आश्रय लिया जाता है। जो यह सोचते हैं कि ये मुनिजन निरंकुश तथा स्वच्छद रहते हैं, अतः इनके विषय में वे अपने नियमों का प्रतिबंध लगाने की इच्छा करते हैं। वे बड़े भारी भ्रम में हैं। इन मुनियों का जीवन सर्वदा आगम के अकुश को सादर स्वीकार करता है तथा उनकी निरन्तर प्रवृत्ति जीवन के सशोधन तथा अहिंसा पुनीत चरित्र गठन में सलग्न रहती है। प्रतिक्रमण आदिका पूर्णतया परिशीलन करने से ज्ञात हो सकता है, कि मोहादि विकृतियोंको दूर करने के लिये जिनेंद्र के शासन में कितनी सूक्ष्म गम्भीर तथा मनोवैज्ञानिक अतः सुधार की पद्धति अपनाई गई है।

---

१ "Reform must come from within, not from without. You cannot legislate for virtue."

संसार सिन्धु में डूबती हुई कर्म भारवाली आत्मा का परित्राण प्रतिक्रमणादि के द्वारा होता है तथा वह संकट-मुक्त स्थिति को प्राप्त करती है। प्रतिक्रमण के द्वारा सर्वदा शोधित आत्मा में कर्मो की मलिनता का संचय नही हो पाता है और वह आत्म-प्रकाश द्वारा निर्वाण मार्ग को देखकर स्वरूपोपलब्धि की ओर शीघ बढती है।

प्रत्याख्यान

मुनियो के आवश्यको में प्रतिक्रमण के समान प्रत्याख्यान का भी महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य अकलंकदेव लिखते है, "अतीत दोषोका निवारण प्रतिक्रमण द्वारा होता है, तथा अनागत-आगामी दोषो की निवृत्ति प्रत्याख्यान से होती है।"[1] आचारसार में लिखा है—"मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक आगामी काल में भी नाम स्थापना आदि के भेद से अयोग्य का परिहार करना प्रत्याख्यान कहा है।" समयसार में लिखा है:-"जिस भावके होने पर जो आगामी काल में शुभ तथा अशुभ कर्म बंधते है, उस भाव से जो आत्मा दूर होता है, उसे प्रत्याख्यान कहते है।" इस विषय में टीकाकार जयसेनाचार्य लिखते है—"शुभ तथा अशुभ रूप अनेक भेदो से विस्तृत आगामी कर्म, मिथ्यात्वादि, रागादि परिणाम के होने पर बंध को प्राप्त होते है। इस कारण अभेद रत्नत्रय रूप में स्थित तपोधन के ही निश्चय नय से निश्चय प्रत्याख्यान होता है।" मूलाचार में लिखा है—"मन, वचन, तथा काय से नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव रूप छह प्रकार के अनागत तथा वर्तमान अयोग्यो अर्थात् पाप के कारणो का त्याग करना प्रत्याख्यान है।"

"आगामी दोषो के निवारण के हेतु मन वचन काय से नामादि छह प्रकार के पाप के कारणो का परिहार करना प्रत्याख्यान कहा है।" "जिसका अतःकरण शुद्धोपयोग के योग्य नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव के सेवन से पवित्र है, जो शरीर से पृथक आत्मा को प्राप्त करता है, वह साधु पर द्रव्य ग्रहण रूप अपराध के लेश से भी अनवधित होता हुआ मोक्ष मार्ग की आराधना करता है।" (अ धर्म ८-६७)

प्रत्याख्यान के नामादि छह भेदो का मूलाचार टीका में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है। पाप के हेतु, विरोध के कारण अयोग्य नामो

---

१ अतीतदोषनिवर्तनं प्रतिक्रमण, अनागत-दोषापोहनं प्रत्याख्यानं ॥ त रा पृ ५ २६६

को नही करना, न करवाना और न अनुमोदन करना नाम-प्रत्याख्यान है। पाप बंध की कारण भूत अयोग्य स्थापना है, जो मिथ्यात्वादि का प्रवर्तन कराती है, अपरमार्थ रूप देवतादि के प्रतिबिंब हैं, पाप के कारण द्रव्य रूप हैं, उनको न करना, न कराना और न अनुमोदना करना स्थापना प्रत्याख्यान है। पाप बंध की कारण द्रव्य सावद्य-द्रव्य है तथा निर्दोष द्रव्य भी तपो निमित्त त्यागी जाने पर न खाना चाहिए, न खिलाना चाहिए और न अनुमोदना की जाना चाहिए, यह द्रव्य-प्रत्याख्यान है। असंयम के हेतु भूत क्षेत्र को छोडना क्षेत्र-प्रत्याख्यान है। असंयमादि निमित्त भूतकाल का मन वचन काय रूप त्रिधा त्याग करना काल-प्रत्याख्यान है। मिथ्यात्व असंयम, कषायादिक का त्रिविध रूप से, मन वचन काय से परिहार करना भाव प्रत्याख्यान है।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में क्या अंतर है इस विषय में भी मूलाचार की टीका का विवेचन ध्यान देने योग्य है।

प्रश्न-प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में क्या विशेषता है?

उत्तर-यह दोष नही है, अतीत कालीन दोषों को दूर करना प्रतिक्रमण है। अनागत तथा वर्तमान काल में द्रव्यादि के दोष का त्याग करना प्रत्याख्यान है-इस प्रकार दोनो में भेद है।

तप के लिए निर्दोष द्रव्यादि का परित्याग प्रत्याख्यान है। प्रतिक्रमण दोषों के दूर करने के लिए ही किया जाता है।

शंकाकार कहता है-'यदि प्रतिक्रमण का यह लक्षण है, तो समाधिमरण के समय किया जाने वाला औत्तमस्थानिक प्रतिक्रमण नही बनेगा, कारण उसमे प्रतिक्रमण के लक्षण का अभाव है। उसमें दोषो का लगाना और पुनः दोषों को दूर करना नही पाया जाता है।" ऐसा नही है, इसमें भी प्रतिक्रमण के समान प्रतिक्रमण है, इस प्रकार उपचार से उक्त प्रतिक्रमण को प्रतिक्रमण कहा है।

इस उपचारका क्या कारण है? प्रत्याख्यान सामान्यपना उपचार का हेतु है। उत्तम स्थानिक प्रत्याख्यानमें प्रतिक्रमण के उपचारका क्या कारण है? पंच महाव्रत ग्रहण काल में शरीर हेतुक कषाय सहित आहार का त्याग कर दिया था। अन्यथा शुद्धनय के विषयभूत महाव्रत के ग्रहण की अनुपपत्ति होगी। उस आहार को मैंने शक्ति की विकलतावश इतने काल पर्यन्त पंच महाव्रत को भंग करते हुए ग्रहण किया। इस प्रकार अपनी आत्मा की

गर्हा करके उत्तम स्थान कालमें प्रतिक्रमण की प्रवृत्ति का ज्ञान कराने के लिए वहा प्रतिक्रमण का उपचार किया है। (जयधवला ५ ११५-११६)

समयसार की टीका में अमृतचंद्र सूरिने प्रतिक्रमण के जिस प्रकार उनचास विकल्प किए है, उसी प्रकार प्रत्याख्यान के भी भग लिखे है। अंतर इतना है कि प्रतिक्रमण में अतीत दुष्कृतो के विषय में मिथ्यापना कहा गया है और प्रत्याख्यान में अनागत दोषो का मन वचन काय, कृतकारित अनुमोदना की अपेक्षा त्याग का वर्णन है।

नियमसारमें निश्चय प्रत्याख्यानका स्वरूप इस प्रकार कहा है, "जो सर्व वचन जाल को छोडकर अनागत शुभ अशुभ सभी कर्मो का वारण करते हुए आत्मा को ध्याता है, उसके प्रत्याख्यान होता है। व्यवहारनय की अपेक्षा मुनिगण आहार के पश्चात् प्रतिदिन पुन योग्यकाल पर्यन्त अन्न पान खाद्य लेह्य सम्बन्धी रुचिका त्याग करते है, यह व्यवहार प्रत्याख्यान का स्वरूप है। "निश्चय नय से शुभ अशुभ समस्त वचन व्यवहार का परित्याग कर शुद्धज्ञान भावना की आराधना के प्रसाद से आगामी शुभ अशुभ द्रव्य भाव कर्म का सवर प्रत्याख्यान है। जो सदा अतर्मुख होकर अपनी चित्त वृत्ति द्वारा परमकला के आधार अपूर्व परमात्मा का ध्यान करता है, उसके सदा प्रत्याख्यान होता है।" (नियमसारटीका पृष्ठ ७७)

समयसार की टीका में लिखा है—

"मै मोह रहित हो आगामी समस्त कर्म का प्रत्याख्यान करके चैतन्य रूप कर्म रहित आत्मा में आत्मा के द्वारा सदा वर्तता हू।"

व्युत्सर्ग

छठवें आवश्यक कायोत्सर्ग का स्वरूप तत्वार्थ राजवार्तिकार ने इस प्रकार लिखा है:—"परिमितकाल तक शरीर में ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।"[1] इसे व्युत्सर्ग भी कहते है।

"स्तुति वदनादि क्रियाओ में शरीर से ममत्व का त्याग करना तथा वाह्य अतरग लक्ष्मी विभूषित पच परमेष्ठियो का स्मरण करना अथवा शास्त्रोक्त विधि के अनुसार श्वासोच्छ्वास को विश्राम देना कुभक, पूरक, रेचक, के द्वारा पच परमेष्ठी का जप करना व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग है।"

---

१ परिमितकाल-विषया शरीरे ममत्व-निवृत्तिः कायोत्सर्गः,
(६-२४ पृ. २६६).

कायोत्सर्ग का अर्थ काय का उत्सर्ग है। काय शब्द से काय में ममत्व का ग्रहण किया गया है, कारण ममत्व का आवास काय में रहता है। अतः आधेय का आधार में ग्रहण किया है। इससे काय में ममत्व का त्याग यह कायोत्सर्ग का अर्थ होगा। कहा भी है-"काय में स्थिति ममत्व को, काय स्थिति वाला होने से काय कहते हैं, उसका त्याग करना जिनबिम्ब की आकृति धारी मुनि का कायोत्सर्ग है।" मूलाचार में लिखा है, "दैवसिक राशिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिकादि नियमों में आगमोक्त काल में आगम कथित प्रमाण जिन भगवान के गुण चिंतनमें रत होकर शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है" । "सर्वांग चलन रहित, स्थित तथा बैठे हुए की शुभध्यान की वृत्ति कायोत्सर्ग है। जिसके यह कायोत्सर्ग होता है, वह कायोत्सर्गी कहलाता है, वह असंयत सम्यग्दृष्टि आदि महात्मा रूप है" । यह छह प्रकारका है- "कठोर तीक्ष्णादि सावद्य नाम के द्वारा आगत अतीचार के शोधनार्थ किया गया कायोत्सर्ग नाम-कायोत्सर्ग है। पाप की स्थापना के द्वारा आगत अतीचार के शोधनार्थ कायोत्सर्ग परिणत प्रतिबिम्बता स्थापना-कायोत्सर्ग है। सावद्य द्रव्य सेवा के द्वारा आगत अतीचार निवारणार्थ किया गया कायोत्सर्ग द्रव्य-कायोत्सर्ग है। सावद्य क्षेत्र सेवन द्वारा आगत दोष ध्वसन के हेतु किया गया कायोत्सर्ग क्षेत्र-कायोत्सर्ग है। सावद्य कालाचरण द्वारा आगत दोष परिहार के लिए किया गया कायोत्सर्ग काल-कायोत्सर्ग है। मिथ्यात्व आदि अतीचार के शोधनार्थ किया गया भाव-कायोत्सर्ग कहा गया है।"

कायोत्सर्ग का स्वरूप कहते हैं, "जिसमें लम्बी भुजा लटक रही हैं, पैरों के मध्य में चार अंगुल का अंतर है, तथा सपूर्ण अंग चचलता रहित है, वह विशुद्ध कायोत्सर्ग होता है।" मोक्षार्थी, निद्राविजेता, सूत्र तथा उसके अर्थ में प्रवीण, शुद्ध परिणाम युक्त, आत्मबल, वीर्ययुक्त तथा विशुद्धात्मा कायोत्सर्ग करनेवाला होता है।

कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट प्रमाण एक वर्ष का है और जघन्य प्रमाण अंतर्मुहूर्त है। मध्यम के अनेक विकल्प होते हैं अर्थात एक अंतमूहूर्त के ऊपर और वर्ष के भीतर दिवस रात्रि, आदि अनेक भेद होते हैं। दैवसिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में एक सौ आठ उच्छ्वास करना चाहिए। अर्थात ३६ बार पंचनमस्कार का मनमें जाप करना चाहिए। रात्रिक प्रतिक्रमण में

चौवन उच्छ्वास करना चाहिए। पाक्षिक प्रतिक्रमण में तीन सौ उच्छ्वास करना चाहिए। वीर भक्ति कायोत्सर्ग काल में और सिद्ध भक्ति, प्रतिक्रमण भक्ति और चतुर्विंशतिभक्ति करने के समय प्रमाद रहित होकर मुनि को उच्छ्वास प्रमाण जप करना चाहिए।

उच्छ्वास के विषय में अनगार धर्मामृत की टीका में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है णमो अरिहंताणं, णमोसिद्धाणं इन दो पदो का चिन्तन एक उच्छ्वास है। इस प्रकार णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं यह चिन्तन दूसरा उच्छ्वास हुआ। तथा णमो लोए सव्वसाहूणं यह चिन्तन तृतीय उच्छ्वास है, इस प्रकार णमोकार मंत्र की गाथा के तीन प्रकार चिन्तन करने में तीन उच्छ्वास होते हैं, नौवार चिन्तन करने पर सत्ताईस उच्छ्वास होते हैं।"[१] (अ. धर्म. ८–७१)

कायोत्सर्गका यह कथन महत्वपूर्ण है "भक्त पान अर्थात आहार ग्रहणके पश्चात गोचार प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में पच्चीस उच्छ्वास कहे हैं, एक ग्राम से ग्रामान्तर गमन में, जिनेन्द्र के निर्वाण, समवशरण, केवल-ज्ञान, दीक्षा, जन्म स्थानों की वंदनार्थ गए हुए साधु को पच्चीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। श्रमण-शय्या अर्थात जहा साधु का देह विसर्जन हुआ हो, उस स्थान की वदना के उपरांत लौटने पर, शौच के लिए बाहर जाकर वापिस आने पर, अपनी वसतिका में पच्चीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग कहा है।

"ग्रंथादि के प्रारम्भ काल में, प्रारब्ध ग्रंथ की समाप्ति काल में, कायोत्सर्ग में, सत्ताईस उच्छ्वास मात्र जप करना चाहिए। स्वाध्याय विषयक कायोत्सर्ग एवं वंदना में मनमें अशुभ परिणाम उत्पन्न होने पर सत्तावीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग करने से जैसे अगोपांगो की सधिया भिद जाती है, उसी प्रकार कर्मरज भी अलग हो जाती है। क्षेत्र, काल, शरीर, संहनन, बल, वीर्य आदि का ध्यान रखकर कायोत्सर्ग करने की आज्ञा है।"

शेष मूलगुण

मुनियो के मूल गुणो में दाढी, मूंछ और मस्तक के केशो का हाथ से उखाडने का विधान है। इसका कारण उनका पूर्णतया स्वाव लंबी जीवन अहिंसात्मक वृत्ति का परिरक्षण और शरीर के प्रति उत्कृष्ट विरागता की जागृत भावना है। केशो को न कटाकर जटा रूप बनाने से जूं आदि जीवो की उत्पति होगी और उनके द्वारा त्रास दिये जाने पर सहसा मस्तक में खुजली आने पर हाथ के पहुच जाने से उनका सहज ही वध हो जायगा और भी अनेक उपद्रव होगे तथा उनके निमित्त से चित्त में अनेकाग्रता उत्पन्न होगी, अतएव निस्पृहता, अकिंचनता, तथा अहिंसा की जीती जागती मूर्ति दिगम्बर मुनिराज शान्त भाव से केशो को हाथो से उखाड देते हैं। उनकी आत्म-निमग्नता का प्रेक्षक के अंतकरण पर गहरा प्रभाव पडता है। विषयान्ध मानव के मन में विचार उत्पन्न होने लगते है, कि कहा *इन निस्पृही साधुओं का स्वाधीन जीवन* और कहा हमारा, जो निरन्तर वस्तुओं के सचय और सग्रह की लालसा में ही लिपटा रहता है और चिन्तामणि रत्न के समान नर जन्म को भोगाराधना में नष्ट कर देता है। व्यसनी तथा हीनाचरण वाले स्वच्छन्द खान पान वाले साधु नाम धारी भी जैन मुनि की केशलोच रूप स्वाधीन वृत्ति को देख अपने हीन जीवन और लम्बे चौडे नाम को सोच मन ही मन अपनी हीनता का अनुभव करने लगते हैं।

आचार सार में लिखा है:-

"दाढी, मूंछ तथा मतक के केशों का लोच करना केशलोच कहलाता है। सके द्वारा परीषहो पर विजय प्राप्त होती है, किसीके पास दीनता नही धारण करनी पडती, वैराग्य भाव की वृद्धि होती है, परिग्रह के त्याग का भाव दृढ होता है, तथा सयम का पालन होता है।" (१-२४)

"जो केश लोच चार माह में किया जाता है वह जघन्य है, जो तीन माह में किया जाता है वह मध्यम है और जो दो माह में किया जाता है, वह श्रेष्ठ है। केश लोच के दिन उपवास किया जाता है। लोच करने के अनतर प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह लोच दिवस में ही किया जाता है।"

यहा प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि जब छुरा आदि से केशो का दूर

किया जाना सम्भव है, तब उनको उखाड़ने का क्या रहस्य है ? आचार्य कहते हैं "दैन्यवृत्ति, याचना करना, परिग्रह रखना, परिभव होना आदि दोषों का निवारण केशों के लोच द्वारा होता है।"–(मूलाचार टीका)

"मुनिराज के पास कौड़ी तक नही रहती है, जिससे नाई से बाल बनवावें। छुरा वगैरह से चित्त में व्याकुलता रहेगी, अतः बाल बनाने को उसे नही रखा। जटादिक का धारण हिंसा का कारण होता है, क्योंकि स्वयं जूं आदि उत्पन्न हो जाते हैं। अतः वैराग्यादि की वृद्धि के हेतु यतिगण केशो का लोच करते हैं।"

अचेलता अर्थात् दिगम्बरत्व

पूर्णतया निराकुल, स्वाधीन, अहिंसामय जीवन का कारण होने से जैन मुनि बालक के समान निर्विकार नग्नता को धारण करते हैं। आत्मनिर्भरता, आत्मनिमग्नता आत्मसाधना तथा आत्मशान्ति के हेतु शीत आदि ऋतुकृत बाधाओं की उपेक्षा करते हुए एवं विशुद्ध ब्रम्हचर्य का पालन करते हुए मुनिराज अचेलत्व का व्रत पालते हैं। वस्त्र को चेल कहते हैं अतः अचेलता का अर्थ दिगम्बरपना है। परिग्रह का लेश भी मूर्छा मोह का कारण बन आकुलता का हेतु बनता है तथा आत्म गौरव को दाति प्रदान करता है।

इस विषय में स्व. बैरिस्टर श्री चंपतराय जी ने लिखा है – "जैन मुनिराज, जिनका शीलव्रत अत्यन्त दृढ तथा अजेय होता है, दिगम्बर रूप में विहार करते हैं, इसका हेतु यह नही है कि वे सदाचार पथ से किसी को विचलित करना चाहते हैं, किन्तु इसका असली हेतु यह है कि निर्वाण तब तक नही प्राप्त होता है, जब तक सांसारिक सामान तथा वस्त्रादि परिधान की अंतिम वस्तु का भी त्याग नही किया जाता है"[१] इस सम्बन्ध में विविध दृष्टियों से पहले विचार किया जा चुका है अतः संक्षेप में कथन करना उचित है।

---

१ "The Jain saint, whose vow of chastity is of the most rigid and unbending type goes about naked not because he wishes to seduce any one from the Path of virtue but because Nirvana cannot possibly be attained without the renunciation of the very last article of apparel and wordly goods." C. R. Jain : Sanyasa Dharna P. 55.

आचारसार में लिखा है —"अलंकार, अनंग-कामवासना, परिग्रह रहित तथा पत्तों की छाल, चमड़ा वस्त्रादि से शरीर को नहीं ढांकना अचेलक-दिगम्बरत्व श्रेष्ठ है" । (१-४४)

आचार्य पद्मनंदि ने लिखा है :-

"वस्त्र के मलिन होने पर उसके प्रक्षालनार्थ जलादिका आरंभ होनेसे जीवरक्षण रूप संयम कैसे सधेगा? यदि वस्त्र फट गया,तो उसके कारण चित्त में क्षोभ होगा तथा महान आत्माओं को भी दूसरों से वस्त्र की भीख मांगनी होगी। कोपीन सदृश थोड़ा वस्त्र रखने पर यदि उसका दूसरों के द्वारा हरण हो गया तो तत्काल क्रोध उत्पन्न होगा; अत. सर्वदा पवित्र वीतराग, शम-संयुक्त संयमिओं का वस्त्र दिगमंडल ही रहता है ।"

सोमदेव सूरि ने लिखा है—"विकार के होने पर ही विद्वानों की दृष्टि में दोष माना जाता है, विकार विहीनता की प्रवृत्ति में नहीं । तब नैसर्गिक नग्नता में द्वेष-पाप का क्या स्थान है ? अकिंचनता तथा अहिंसा का पालन संयमी कैसे कर सकेंगे, यदि वे वल्कल, चर्म, वस्त्र के परिग्रह की आकांक्षा करते है ?"

पात्र केसरि-स्तोत्र में बड़ी सुन्दर विवेचना की है-"जिनेश्वर ! आप के मत में पट, वस्त्र, पात्र का ग्रहण नहीं बताया गया है, उनको सुख का साधन सोच सामर्थ्य शून्य लोगों ने उनकी कल्पना की है। यदि वस्त्रादि को धारण करना भी मोक्ष का मार्ग है, तो नग्नता व्यर्थ की वस्तु हो जायगी ? भला, जब हाथ से ही सरलता पूर्वक वृक्ष से फल प्राप्त हो सकते हैं, तब कौन व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ेगा ?"(श्लोक ४१)

आचार्य देवसेन भावसंग्रह में लिखते हैं-"यदि वस्त्रादि परिग्रह सहित निर्वाण की प्राप्ति होती, तो तीर्थंकर रत्न कोष के साथ अपने राज्य का क्यों परित्याग करते और जनशून्य जंगलों में जाकर रहते ।" (८८)

कोई तार्किक पूछे कि हमें तीर्थंकरों की प्रवृत्ति मार्ग प्रदर्शन नहीं करा सकती, संभव है उन्हें उस समय वह तत्व समझ में न आया हो, जो हमें आज आया है, सत्य की उपलब्धि श्रम और शोध साध्य है अत बड़ों का नाम न बता परिग्रह के ग्रहण में क्या बुराई है, यह कहिए ? इसका समाधान पात्रकेसरी इस प्रकार करते हैं "परिग्रहधारी सत्पुरुषों के पास नियम से भय का आवास रहता है । उसके निमित्त से प्रकोप तथा जीव घात होता है । कठोर । मिथ्या वाणी निकलती है । ममता रही आती है । चोर के

निमित्त से मन में भ्रांति होती है, अत. कलुष चित्त वालोंको उत्कृष्ट शुक्ल ध्यान की कैसे उपलब्धि हो सकती है ?"

शरीर में वस्त्रादि परिधान के धारण द्वारा निराकुलता द्वारा साध्य निर्वाण की उपलब्धि नहीं होती तथा परिपूर्ण अहिंसा का जीवन भी वस्त्र धारण की स्थिति में असभव रहता है। जिस प्रकार पवन के प्रहार से जल में अनवरत लहरें उठती ही रहती हैं उसी प्रकार वस्त्रादि के सपर्क द्वारा रागादि विकल्प सदा उदित हुआ करते हैं। विकृति जनक परिग्रह का सपर्क छूटने से शान्ति की उपलब्धि सरल हो जाती है। एक चीनी विद्वान ने सुन्दर बात लिखी है। वह पूछता है "भला बताओ पकिल पानीको कौन निर्मल बना सकता है ? उसका स्वय उत्तर इस प्रकार देता है कि "यदि उस जल को तुमने अकेला छोड दिया, तो वह स्वयं निर्मल हो जाता है।" इस कथन के प्रकाश में यह कहना ठीक होगा, कि परिग्रह के सपर्क दूर होने से आत्मा की वृत्ति स्वय परिशुद्धता को प्राप्त करती है। अत दिगम्बरत्व की महत्ता को शिरोधार्य करना तर्क सगत बात है।

परिग्रह त्याग महाव्रत में इसका अतर्भाव हो जाता है, किन्तु इस पर विशेष जोर देने के लिए तथा इसकी प्रधानता को सूचित करने के लिए पृथक रूप से अचेलकता का उपदेश दिया गया है।

भूमि शयन व्रत

भूमि शयन नामक मूलगुण पर आचारसार में लिखा है "मुनियो को शुद्ध प्रासुक तथा अपने द्वारा जिसे सस्कृत नही किया गया है, ऐसी भूमि, शिलातल आदि पर एक ही करवट धनुप दड के समान सोना भूमि शयन कहा है। मूलाचार में लिखा है "प्रासुक अर्थात जन्तु रहित भूमि प्रदेश में, जहा शयन के लिये सुखद तनिक भी हरियाली नहीं, जहाँ अल्प सस्तर है अर्थात तृण मय काष्ठ का फलक अथवा शिला-तल पर एकान्त प्रदेश में धनुप के दण्ड के समान एक करवट से, न अधोमुख और न सीधे लेटकर शयन करना क्षितिशयन व्रत है"।

---

[1] The Chinese philosopher, Lao Tze, asked, who is there who can make muddy water clear ?" and answered " If you leave it alone it, will become clear of itself'
Quoted in Indian Philosophy p

इन्द्रिय जनित सुख को दूर करने के लिये तप की भावना के हेतु तथा शरीरादि में निस्पृहतादि के लिये भूमि-शयन किया जाता है।

अनगारधर्मामृत में लिखा है—"मुनि अपने शरीर प्रमाण स्वल्प सस्तर पर अथवा तृणादि-तृण काष्ठ शिलादि पर, तृणादि से जो आच्छादित न हो ऐसे भूतल पर सीधा, या औधा न होकर एक करवट शयन करे।" मुनियो को नीद भी बहुत कम आती है। शीघ्र ही निर्वाण जाने की तैयारी के कारण वे अपने समय का अधिक से अधिक उपयोग आत्म चिन्तन, आत्म ध्यान पचपरमेष्ठी की आराधनामें करते है। चोरोकी नगरीमें पहुचे हुए पथिक को नीद कठिनता से आती है। वह अपने जानमाल को रक्षार्थ सावधान रहता है। इसी प्रकार कर्मचोरो द्वारा आत्म निधि न लुट जाय, इससे मुनिराज अल्प निद्रा लेते है। मोह नीद के दूर हो जाने से मुनिराज आत्म-स्वरूप में सतत जाग्रत रहते है, जवकि जगवासी जीव आत्म कल्याण के कार्य में सदा सोते रहते है।

मुनिराज प्रहरी के समान रात्रि के समय जाग्रत रहकर आत्म गुणो का चिंतन करते है। कहा भी है-"जिस रात्रि में जगत सोता है, उसमें मुनि जागते है।" उनका सात्विक आहार, सयमी जीवन थोडी सी नीद से शरीर में स्फूर्ति प्रदान करता है और शरीर उनके धर्म साधन में सेवक की भांति तत्पर हो जाता है। ससारी जीवो के समान शरीर उन पर अपनी आज्ञा नही चला सकता है।

स्थिति भोजन

मुनियो का सत्ताबीसवा मूलगुण स्थिति भोजन—खडे खडे अपने करपात्र में आहार ग्रहण करना है। आचारसार में लिखा है-"शुद्ध भूमि पर दोनो पैरो को समान अतर से रखकर निराधार खडे होकर द्रव्य, दाता और पात्र इन तीनो की शुद्धतापूर्वक दोनो हाथो से भोजन करना स्थिति भोजन है।" दोनो हाथो की अजुलि बनाकर करपात्र में मुनिराज आहार लेते है। सपूर्ण परिग्रह के त्यागी होने के कारण वे कोई भी पात्र का उपयोग नहीं करते है। दोनो हाथों का जब तक बराबर सबध रहता है, तब तक ही वे आहार करते है। कदाचित अजुलि छूट जाय, तो वे अन्तराय समझ आहार छोड देते है। दोनो पैरो में चार अगुली का अतर रहता है। वे निराधार खडे रहते है। दीवाल आदि का आश्रय नही लेते है। दिगम्बर होकर पाणिपात्र में खडे खडे भोजन करते समय मुनि की निर्विकार शील-पूर्ण वृत्ति भी सबके नयनगोचर हो जाती है।

मूलाचार में लिखा है—मुनिराज खडे होकर अंजुलि पुट के द्वारा (करपात्र में) आहार लेते हैं। वे भित्तीका आश्रय ले अथवा बैठकर या लेटे हुए आहार नही लेते हैं। दोनो पैरो मे चार अंगुल का अंतर रखते हैं, तथा परिशुद्ध भूमि त्रिक मे खड़े होकर आहार लेते हैं।" (१–३४) जिस स्थान पर खड़े होकर मुनि आहार लेते है, ऐसा उनके चरणों का भूमि प्रदेश उच्छिष्ट जहा गिरता है, वह भूमि तथा जहां दाता खडा है, ऐसे तीन स्थान जीव वधादि दोषो से रहित होना चाहिए। ऐसे प्रदेश में खड़े होकर दीवाल आदि का अवलंबन न ले करपात्र मे आहार लेना स्थिति भोजन है।

मुनिराज केवल दिन मे ही एक बार भोजन पान करते है, दुबारा नही। मुनिराज खडे होकर क्यों आहार लेते हैं ?

इस शंका के समाधान में आचार्य कहते हैं, "जब तक मेरे हाथ पॉव बराबर चलते है तब तक आहार ग्रहण योग्य है, अन्यथा नही। यह बात स्थिति भोजन से ज्ञात हो जाती हैं। मे अपने हाथो में ही बैठकर भोजन न करूंगा, अन्य के हाथ से भी नही करूंगा, बर्तन में आहार नही लूंगा।" इस प्रतिज्ञाके पालनार्थ उपरोक्तसमझना चाहिए। इसके सिवाय अपना करतल शुद्ध होता है, अन्तराय के आने पर बहुत अनाज को नही छोड़ना पड़ता हैं, अन्यथा पूरीकी पूरी थाली छोडनी पड़े, उसमे दोष होगा। इंद्रिय संयम प्राणि संयम के पालनार्थ मुनि स्थिति भोजन करते हैं।

अस्नान व्रत

मुनिराज अपनी आत्मा को सदगुणो से अलंकृत करते हैं। जब आत्मा सुसंस्कृत हो जाती है, तब अनात्मरूप अशुचि मय शरीर को सजाने सुन्दर बनाने की ओर ध्यान नहीं जाता। जब पवित्र और स्थायी सौन्दर्य के सिंधु आत्मत्व पर दृष्टि जम जाती है, तब पुद्गल का सौन्दर्य नगण्य दिखता है और तत्वज्ञान की पैनी दृष्टि के समक्ष वह अपवित्रता अशुचिता बीभत्सता का भयंकर संग्रहालय दिखाई देता है। ऐसी घृणा की भूमि को सजाने में आत्मवान् सुसंस्कृत समुन्नत चेतस्क साधु कैसे तत्पर होगा ? इसलिए दिगम्बर मुनिराज स्नान त्याग करते हैं। सामान्यतया जगत् शुचिता के लिए स्नान को साधन मानता है, किन्तु मुनियों की दुनिया भिन्न प्रकार की हैं। वहा सत्य का सूर्य प्रकाश देता है अतः शरीर का सम्यक् स्वरूप दृष्टि पथ में आजाने से उसकी शुचिता

के हेतु जलादि का प्रयोग करना मलराशि के शोधन के समान व्यर्थ का प्रयास दिखता है। वे पुण्याचरण के द्वारा अपनी आत्मा को निरंतर उज्वल बनाते रहते हैं। शरीर की वास्तविक स्थिति उन्हें भुलावे में नहीं डाल सकती है। वे इसकी संपूर्ण परिस्थिति से परिचित हैं।

मूलाचार में लिखा है—"संसार से वैराग्य को प्राप्त मुनिराज इस शरीर को हड्डी, चमड़ा, मांस, पित्त, कफ, रक्त इत्यादि अपवित्र पदार्थों के संग्रह (Store) के रूप मे देखते हैं। यह शरीर रूपी घर हाड़ो में मज्जा और नसाजाल से जकड़ा हुआ है। सर्व अपवित्र पदार्थों से तथा कृमि-कुल से पूर्ण है, मास से व्याप्त है। चर्म से आच्छादित है। इससे ऊपर से सुन्दर दिखता है, किन्तु यह सदा ही अपवित्र रहता है।"(९-८२,८३)

जब शरीर का यथार्थ स्वरूप इस प्रकार है तब सत्पुरुष इसमें कैसे आसक्ति करेंगे, ? हा! मोह की मदिरा के कारण जिसका विवेक विलुप्त हो गया है, वह इस तथ्य को न जान ऊपरी लुभावनी मोहकता को ही परमार्थ मान इसके पीछे दीवाना बनकर सर्व अनर्थों के लिए सर्वदा सन्नद्ध रहता है।

आचार्य देवसेन कहते हैं—"देह सर्वदा मलिन है, देही सदा *निर्मल* अरूपी है। अतःजल से किसकी शुद्धि होगी। इस कारण स्नान द्वारा शुद्धि नहीं होती।" "यह आत्मा एक नदी के सदृश है इसमें सत्य रूप जल भरा है, *संयमरूपी घाट है, शील रूप तट है,* दया की लहरों से *व्याप्त* है। हे पांडु पुत्र इस! पुण्य नदी में डुबकी लगाने से आत्मा पवित्र होती है। भला यहीं जल से भी आत्मा की शुद्धि होती है?" (महाभारत)

आत्मा की शुद्धि का उपाय क्या है, इसे देवसेन सूरि बताते हैं—"जिस प्रकार अग्नि के योग से सुवर्ण शुद्ध होता है, उसी प्रकार यह जीव, जो कि रत्नत्रय से संयुक्त है, इंद्रिय रूपी खलों के निग्रह रूप श्रेष्ठतप के द्वारा शुद्ध होता है।"[1] "*व्रत, नियम, शील* को धारण करने वाले, कषायों का नाश करने वाले, दया में तत्पर तथा ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले मुनिगण स्नानरहित

---

१ सुज्झइ जीवो तवसा इंद्रियखल–णीग्गहेण परमेण
रयणतयसजुत्तो जह कणयं अग्गिजोगेण ॥२१॥

होतेहुए भी सर्वदा शुद्धरहते है।" गृहस्थोके लिए स्नान द्वारा शुद्धि का वर्णन है। बिना स्नान के उनको भगवान की पूजा का अधिकार नही है। गृहस्थ एकदेश हिंसा का त्यागी है, वह आरभ परिग्रह में निरतर लगा ही रहता है। उसको व्यवहार शुद्धि आवश्यक है। जो निश्चय पथ के पथिक है, ऐसे मुनियो की शुचिता उनकी पुण्य प्रवृत्ति द्वारा सदा रही आती है। शरीर के जिन अगो से मल मूत्र का क्षेपण होता है उनको वे मुनिराज अपने कमण्डलु के जल से शुद्ध करते है। अत स्नान द्वारा शरीर की शुचिता न करन पर उनमें दोष नही रहता है। इस सबध में सन्यास धर्म में लिखा है–

"मुनि को स्नान करने की निषेधाज्ञा है क्योकि ऐसा करने से उन्हें अपने शरीर की ओर ध्यान देना होगा, गदगी या अस्वच्छता का यहा प्रश्न नही है। उनको स्नान करन या दातो को स्वच्छ करने को अवकाश नही है। उन्हें अपने जीवन के सबसे बडे सघर्ष–मृत्यु के विरुद्ध सग्राम–के लिए तैयार होना है, अत वे अपने समय और अवसर को बाह्य शरीर को सजाने और सुन्दर बनाने मे बरबाद करने में असमर्थ रहते है।"[1]

साधु की शरीर के प्रति अनासक्ति तथा उसकी सजावट के प्रति पूर्ण उपेक्षा उनके आत्म चिंतन और ब्रह्मपथ की ओर प्रगतिशील कदम को बताते है। साधुत्व के स्वरूप को बहिर्दृष्टि वाले नही समझ पाते, कि वह महात्मा अतर्दृष्टा बन गया है अतः वह अतर्मानव (inner-man) का सतत ध्यान रखता है। सुकरात ईश्वर से प्रार्थना करता हुआ कहता है "मुझे ऐसा वर दो कि मैं अपनी आत्मा के भीतर सौन्दर्य समन्वित बन जाऊ"[2] यह अतः सौन्दर्य दिगम्बर मुनियो को जिन शासन की शरण से सहज ही प्राप्त होता है।

"१ The saint is not allowed to bathe, for that will be fixing his attention on the body There is no question of dirt or untidiness *He has no time to think of bathing or of* cleaning his teeth He has to prepare himself for the greatest contest in his career, namely the struggle against death and cannot afford to waste his time and opportunity in attending the beautification and embellishment of his outward person" Sanyas Dharma P 46

2 Grant to me that I be made beautiful in my soul within" (Plato-Phaedeus)

मुनियों का शरीर दिगम्बर होने के कारण सदा पवन का सर्वांग में स्पर्श प्राप्त करता है। प्रकाश और सूर्य की किरणों के कारण उनका शरीर स्नाना भाव में भी पर्याप्त स्वच्छता संपन्न रहता है। प्रकृति प्रदत्त मुद्रा धारी मुनिराज का पवन, प्रकाश द्वारा निरन्तर बहिस्नान होता है तथा ब्रह्मचर्य, अहिंसा संयमादि द्वारा अंतः शुचिता का भी उनको अपूर्व सौभाग्य प्राप्त होता है।

अस्नान मूलगुण के विषय में अनगार धर्मामृत में लिखा है—"ब्रह्मचारियों को, विशेषकर आत्मदर्शी मुनियों को जल शुद्धि से प्रयोजन नहीं है। अथवा वह जल शुद्धि दोषों के अनुसार जिनागम में कही गई है।" (९-९८)

शरीर का अतः विचार स्नान के अभाव में यदि खाज आदि के रूप बहिर्भूत होकर शरीर को आक्रान्त भी करले तब भी मुनिराज स्नान नहीं करते हैं। यह भी जितेन्द्रिय मुनियों की बहुत बड़ी साधना है।

सोमदेव सूरि ने लिखा है कि "जो रागद्वेष मदसे उन्मत्त हैं स्त्री आसक्ति युक्त है, वे सैकड़ों तीर्थों में डुबकी लगाने पर भी अपवित्र रहते हैं।"

रागद्वेष मदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः।
न ते कालेन शुध्यन्ति स्नातास्तीर्थ-शतैरपि॥

आचारसार में लिखा है:—

संयमद्वयरक्षार्थं स्नानादेर्वर्जनं मुनेः।
जल्लस्वेदमलालिप्त-गात्रस्यास्नानता मता॥४५॥

"इंद्रिय संयम तथा प्राणी-संयम के रक्षणार्थ जल्ल, स्वेद, तथा मल लिप्त शरीर वाले मुनिराज का स्नानादि का न करना अस्नान व्रत माना गया है।"

अदन्त धावन व्रत

अस्नान व्रत के समान दन्त धावन न करना भी मुनियों का मूलगुण है। आचारसार में लिखा है:—

"भोगों तथा शरीर के स्वरूप के जानने उत्पन्नसे वैराग्य मंदिरों में रहनेवाले मुनियों के पाषाण, अंगुली, वृक्ष की डाल, नखादि के द्वारा दांतों का नहीं घिसना दंतधावन न करना नाम का व्रत है।"[1]

---

[1] दशनाघर्षणं पाषाणांगुलीत्वङ्नखादिभिः।
स्याद्दताघर्षणं भोगदेहवैराग्यमंदिरे॥ ४८॥

मूलाचार में लिखा है—"अंगुली, नख, दातौन, तृण विशेष, पाषाण, वृक्ष की छाल, मजन आदि के द्वारा दन्तमल का शोधन करना अदत धावन हैं। इससे संयम की गुप्ति अर्थात् इंद्रिय संयम का रक्षण होता है।"

प्रश्न—इससे क्या लाभ होता है? उत्तर—वीतराग वृत्ति सूचित होती है तथा जिनेन्द्र की आज्ञा का पालन होता है।

हिन्दू शास्त्र स्मृतिरत्नाकर मे लिखा है—

"राजन् जो उपवास के दिन दन्त धावन करता है, वह भयकर नरक में जाता है तथा चार युग पर्यन्त व्याघ्र के द्वारा खाया जाता है।"[1]

शरीर शास्त्रज्ञका कथन है,कि जब पेटमें मलकी अधिकता तथा विकृति रहती है, तब उसकी ऊष्मा से जिव्हा और दाता में मलिनता का संचय होता है, इसी कारण रोगी के दातो की ओर जीभ की स्वच्छता की ओर ध्यान दिया जाता है। मुनिराज उपवास आदि तपश्चर्या के कारण शरीर को इतना अल्प मात्रा में आहार पहुचाते है, कि उसे जठराग्नि तत्काल भस्म कर देती हैं, अत पाचन क्रिया ठीक रहने से नैसर्गिक रीति मे साधुओं के दत और जीभ स्वच्छ रहते हैं। उनका मूल लक्ष्य है, आत्मीक स्वास्थ्य। आत्म चिंता में निरन्तर सलग्न रहने के कारण उन महात्माओ का ध्यान शरीर की सुन्दरता आदि की ओर नही जाता हैं। अत वे आत्म-शरीर की चिन्ता रखते हैं और इस मल मदिर की सजावट के प्रति विमुख रहते है। यह वृत्ति मुनियो की उत्कृष्ट आध्यात्मिक शुद्धि और ब्रह्मनिष्ठा को सूचित करती है।

अनगार धर्मामृत में लिखा है 'जब तक मैं अंजुलि बनाकर तथा खडे होकर भोजन करने में समर्थ रहूँगा, तब तक मैं आहार ग्रहण करूगा, जब ऐसी सामर्थ्य नही रहेगी, तब मै आहार नही ग्रहण करूगा। इस प्रकार की प्रतिज्ञा के पालनार्थ तथा इंद्रिय और प्राणसयम के रक्षार्थ भी खडे होकर आहार किया जाता है।" (९-९३)

लुई जैकोलियट ने लिखा है[2]—"भोजन ग्रहण करने के लिए योगी को

---

१ उपवास दिने राजन् दन्त-धावन-कृन्नर।
स घोर नरक याति व्याघ्र-भक्षश्चतुर्युगम्॥

२ "The yogi should not sit down to eat"
(The Occult Science in India P 83by Louis Jacolliot)

बैठना नही चाहिए।" मुनि जीवन की प्रवृत्ति आहार द्वारा शरीर पोषण को नही है, शरीर को आहार देते हुए उसके द्वारा आत्मा का पोषण करने की ओर उनकी दृष्टि रहती है। खडे होकर आहार करने से इंद्रियो पर विजय होती है, जीवो की रक्षा होती है। अत्यन्त अशक्त होते हुए भी मुनि अपने अंजुलि पुट में खड़े होकर आहार लेंगे। जब इस साधना के योग्य शरीर न रहेगा, तब मुनिराज शात भाव से रत्नत्रय धर्म की रक्षा करते हुए समाधि धारण करने को तैयार हो जाते है। जिस मृत्यु के नाम से ससार भय खाता है, जिन प्राणो के रक्षण निमित्त ससार में कितने और और कौन २ से पाप नही किए जाते है, उस मृत्यु का स्वागत करने को साधु सदा समुद्यत रहा करते है। पुद्गल शरीर को सदा नाशवान जानते हैं। आत्मा का अविनाशीपना उनके हृदय में जम गया है, अत जीर्ण वस्त्र त्यागने के समान शरीर का छोडना वे मानते हैं। अनन्तकाल से आत्मा को भूला शरीर को आत्मा मानते रहे, अब ज्ञानी पुरुष मुनि बनने पर आत्मा को ही अपना शरीर मानते है। उसके सिवाय उनको और कोई भी वस्तु प्रिय नही लगती है।

जिस शरीर ने कर्मों का साथ दे, अनन्त भव में जीव को त्रास दिया, उस पर ज्ञानी ऋषियों का कैसे अनुराग होगा? इसकी समाराधना से रत्नत्रय की रक्षा नही बन पाती। इससे वे इसके फुलाने और सजाने में तनिक भी तैयार नही रहते है। पेट का गड्ढा पूरा करके जीवन की गाडी को खेंचना तथा सयम का कार्य लेना उनका लक्ष्य रहता है। वे निश्चय दृष्टि रखते हैं। कर्मों के नाश के लिए वे उद्यत रहते हैं। अत कर्मों के आग दीन बनने के स्थान में वे स्वावलम्बी रहते हैं और असाता के उदय से तथा अन्तराय कर्म के कारण वस्तु का अलाभादि होने पर कर्मों को ही दोषी कहते है और विचारते है कि, समता भाव से अपने कमाए कर्मों का फल भोगने से पुनः यह कर्मरूपी पिशाच इस जीव को नही दुख देगा अत. कठोर तपस्या करना उनका लक्ष्य रहता है, जिससे उस तपाग्नि मे उनकी आत्मा शुद्ध हो जाय वे तपोधन है। तपरूपी सपत्ति के सग्रह एव सवर्धन में सतत अध्यवसाय रखते है। तप स्वरूप धन के सग्रह निमित्त अनेक प्रकार का कठोर सयम करते है। इससे अनन्त सुख की प्राप्ति होती है अत. बडे २ कष्टों की भी परवाह नही करते है।

एक–भक्त

मुनियों का अट्ठाईसवां मूलगुण एक बार भोजन करना है। इसे 'एक भक्त' कहते हैं। आचारसार में लिखा है:–

"सूर्योदय के तीन घड़ी बाद तथा सूर्यास्त के तीन घड़ी पूर्व तक दिन में एक बार एक मुहूर्त तक उत्तम; दो मुहूर्त तक मध्यम तथा तीन मुहूर्त तक भोजन करना जघन्य रूप से मुनिराज के एक भक्त कहा है।" मुनिराज सूर्योदय के पश्चात् तीन घडी तथा सूर्यास्त के तीन घड़ी पूर्व तक सामायिक का काल छोड़कर आहार करते हैं। इतना विशेष नियम है, कि मुनि दिन में एक बार से अधिक आहार नहीं करते हैं।

एक भक्त–अर्थात् एक बार आहारपान ग्रहण करने का यह भाव नहीं है, कि प्रतिदिन मुनियों को आहार लेना ही चाहिये, कारण मुनिराज कर्मों की निर्जरा तथा आत्मशुद्धि के हेतु बहुधा उपवास करते रहते हैं। अतः एक भक्त का भाव यही है, कि वे यदि आहार लें, तो दिन में ही एकबार से अधिक भोजन न करेंगे। शरीर के रोगी होने पर या और कोई विशेष असाधारण कारण के आने पर भी वे त्रिकाल में इस नियम में क्षति नहीं पहुंचावेंगे।

इस आत्म प्रकाश वाले सत्पुरुष आत्मा को ज्ञानामृत द्वारा पुष्ट करते हैं। अन्न पान से आत्मा का पोषण होता है, यह अनादि का लीन भ्रम का भाव उनके पास से भाग जाता है।

"एक कवि ने कहा है—"जो ईश्वर की आराधना करना चाहता है, उसे उपवास करना आवश्यक है। उसे निर्मल भी होना चाहिए। उसे अपनी आत्माको पुष्ट करना चाहिए तथा अपने शरीर को कृश करना चाहिये।"[२] शरीर को पुष्ट करने में तत्पर व्यक्ति समाधि सहित मृत्यु करने में असमर्थ बन जाता है। अतएव आत्मतत्व के पोषक साधु उचित समय पर शरीर को इतना ही भोजन पान देते हैं कि वह आत्म साधना में सहायक हो और विघ्न न करे।

---

१ उदयास्तोभयंत्यक्त्वा त्रिनाडी भोजनं सकृत्।
एक-द्वि-त्रिमुहूर्तं स्यादेकभक्तं दिने मुनेः ॥४॥

२ Who so will pray, he must fast and be clean,
And fat his Soul; and made his body lean-Chaucer

परीषह जय

ये मुनिराज विपत्ति को शूल सम न गिनकर उसे निर्जरा का कारण जान फूल तुल्य प्रिय पदार्थ मानते हैं और इसलिए वे संकटों का सदा स्वागत करने को तत्पर रहते हैं। इससे उनका आत्मबल जगता है उस आत्म पौरुष के द्वारा वे कर्मों को पछाड देते हैं। इस विपत्ति-विजय की प्रक्रिया को 'परीषह जय' कहते हैं। आत्म प्रकाश के कारण संकट, उनके भावों में मलिनता अथवा घबराहट नहीं उत्पन्न करता है। जिस पापी पेट के भरने को जगत नीचतम कार्यों को करने में संकोच नहीं करता उस क्षुधा को वे साम्यभाव के द्वारा सहन करते हैं। इस क्षुधा विजय का 'ब्रम्ह विलास' में भैया भगवती दास ने इस प्रकार चित्रण किया है:-

जगत के जीव जिहं जेर जीत राखे अरु।
जाके जोर आगे सब जोरावर हारे हैं॥
मारत मरोरे नहि छोरे राजा रंक कहूं,
आखिन अंधेरी ज्वर सब दे पछारे हैं॥
दावा कीसी ज्वाल जो जराय डारे छाती छवि।
देवन को लागे पशु पंछी को विचारे है॥
ऐसी क्षुधा जोर 'भैया' कहत कहाँ लौ और।
ताहि जीत मुनिराज ध्यान थिर धारे है॥

पिपासा के परीषह को वे सहन करते हैं, इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है-

धूप की धखनि परे आग सो शरीर जरै,
उपचार कौन करे हहै द्वार आन के।
पानी की पियास जेती कहै को बखान तेती,
तीनो जोग थिर सेती सहै कष्ट जान कै।
एक छिन चाह नाहि पानी के परीसे माहि,
प्रान किन नास जांहि, रहै सुख मानि कै।
ऐसी प्यास मुनि सहै तब जाय सुख लहै,
'भैया' इहि भांति कहै वंदिये पिछानके ॥७॥

वे साम्य भाव से क्षुधा, पिपासा की व्यथा को सहन करते हैं ।

शीत की असह्यवेदना जगत को विकल कर देती है । उष्ण की व्यथा संसार को त्रस्त करती है, किन्तु उसको कुछ न गिनकर मुनिराज कष्ट को सहते हैं । डास, मच्छर, सर्प, बिच्छू आदि जीवों के द्वारा त्रास पाते हुए भी वे शांत भाव का परित्याग नहीं करते हैं । यह दंश-मशक परीषह कहलाती है । दंश-मशक शब्द उपलक्षण मात्र है । इससे अन्य जीवधारियों द्वारा पीड़ा दिए जाने पर भी शांति रखना इस परीषह की परिधि के भीतर आता है ।

दिगम्बर मुद्रा के द्वारा जो शरीर को अपार कष्ट होता है उसे सहन करना नग्नता परीषह-जय है। कवि कहते हैं :-

नगन के रहिवे को, महाकष्ट सहिवे को ।
कर्मवन दहवे को, बड़े महाराज हैं ॥
देह नेह तोरवे को, लोक लाज छोरवे को ।
धर्म प्रीति जोरवे को जाको जोर काज हैं ॥
धर्म थिर राखवे को परभाव नाखवे को,
सुधारस चाखवे को ध्यान की समाज हैं ।
अंबर के त्यागे सों दिगम्बर कहाए साधु,
छहों काय के अराध यातें शिरताज हैं ॥१६॥

विषय सुखों में आसक्ति छोड़ संयम से अनुराग करना अरति परीषह जय है । कहा भी है—

आंखनि की रति मान दीपक पतंग परै,
नासिका कीरति मान भ्रमर भुलाने हैं ।
कानन की रति मृग खोवत हैंप्राण निज
फरस की रति गज गए जो दीवाने हैं।
रसना की रति सब जगत सहत दुःख
जानत है, यह सुख ऐसे भरमाने हैं ।
इंद्रिन की रति मान गति सब खोटी करै,
ताहि मुनिराज जीत आप सुग मानें हैं ॥१७॥

परम दुर्धर ब्रह्मचर्य व्रत को धारण कर वे स्त्री कृत बाधा आने पर भी जरा भी विकृत को नहीं प्राप्त करते हैं । यह स्त्री परीषह जय है । कहा भी है—

नारि के निहारत विचार सब भूलि जाँय ।
नारि के निहारे परिणाम फिरे जात है ।
नारि के निहारत अज्ञान भाव आय शु के,
नारि के निहारत ही शील गुण घात है ।
नारि के निहारत न शूरवीर धीर धरे ।
लोहनि, के मार जे अडिग ठहरात हैं ।
ऐसी नारि नागनि के नैन को निमेष जीत ।
भए है अजीत मुनिजगन विख्यात है ॥१९॥

गमन सम्बन्धी कष्ट का सहन करना चर्या परीषहजय है । अविचलित आसन से रहना निषद्या परीषहजयी है । भूतल पर सोने के कष्ट को सहन करना शय्या परीषह जय है । दुष्टों की मर्म भेदक वाणी को सुनते हुए भी परिणामो में शांति रखना आक्रोश परीषह जय है ।

दुष्टो द्वारा शरीर को मारना आदि अनर्थ किए जाने पर भी शात भाव रख पूर्व कर्मों का, यह विपाक है, यह जान कष्ट सहना वध परीषह जय है । प्राण जाने पर भी, क्षुधादि बाधित होते हुए भी याचना नही करना याचना परीषह जय है। आहारादि का लाभ न होनेपर भी सतोष भाव का संरक्षण करना अलाभ परीषह जय है । भीषण से भीषण व्याधि के आने पर भी निज वीतराग स्वरूप का चिंतन करना और क्लेश नहीं करना रोग परीषह-जय है । तृण कटकादि की पीडा को सहन करना तृण-स्पर्श परीषह जय है । शरीर में अस्नान व्रत के कारण पसीना में धूलि के आगमन के उपरात जो मलादिका सचय होता है, उसमें शात भाव रखना मल परीषह जय है । मान-अपमान के प्रसग आने पर मानसिक निर्मलता का रक्षण करना सत्कार-पुरस्कार परीषह-जय है । ये सत्कार पुरस्कार की तनिक भी आकाक्षा नही करते है । कहा भी है-

जहाँ होय मान तहा मानत महान सुख,
अपमान होय तहा मृत्यु के समान है ।
मान के गुमान आप महाराज मान रहे,
होत अपमान मूढ हरे दशो प्रान है ।
मान ही की लाज जग सहत अनेक दुःख,

अपमान होत धरै नरक निदान है ।
ऐसे मान अपमान दोऊ दुष्ट भाव तज,
गनत समान मुनि रहे सावधान है ॥२०॥

महान ज्ञान होने पर अभिमान न करना प्रज्ञा परीषह जय है। घोर तपस्या करते हुए भी अज्ञानीपना रहने के कारण प्राप्त तिरस्कार को शांत भाव से सहना अज्ञान परीषह जय है। अनेक प्रकार के तप करते हुए भी विशेष प्रभाव या चमत्कार न देख जिनेन्द्र के वचन के प्रति श्रद्धा भाव को नहीं छोड़ना अदर्शन परीषह जय है।

स्वेच्छा पूर्वक ये परीषह सहन की जाती हैं। दूसरों के द्वारा ये संकट किए जाने पर इनको उपसर्ग कहते हैं। इस परीषह जय से कर्मों की निर्जरा होती है और रत्नत्रय मार्ग में स्थिर भाव रहते हैं।

जब लौकिक अल्प स्थायी सुख की उपलब्धि के हेतु जीव को महान श्रम करना पड़ता है, तब शाश्वतिक तथा लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति के लिए परीषह जय करना आवश्यक है।[१]

---

१ "No easy hope or lies shall bring us to our goal,
But iron sacrifice of body, will and soul." Kipling

ध्यान

आत्मा अनन्त शक्ति का भंडार है। चित्त वृत्ति चंचल रहने से वह शक्ति इष्ट साधन नहीं कर पाती है। ध्यान के द्वारा चित्त वृत्ति को केन्द्रित करने से अचिन्त्य कार्य सम्पन्न होते हैं। ऐसे ही ध्यान से विकारों का नाश हो जाता है। मोक्ष के लिए समुद्यत साधुओं के लिए ध्यान कल्पनातीत सिद्धियों का पैदा करता है। कुंद कुंद स्वामी ने कहा है कि "मुनियों का मुख्य कार्य ध्यान और अध्ययन है।"

तत्वार्थ सूत्रकार कहते हैं, "एकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानमान्त-र्मुहूर्तात्—चित्त वृत्ति का एकाग्र रोकना ध्यान है। उसका समय अन्तर्मुहूर्त है।[१] अमनोज्ञ पदार्थ के संयोग होने पर उसके वियोग का चिंतवन करना, प्रिय वस्तु के वियोग होने पर उसके संयोग का चिन्तवन करना, वेदना की निवृत्ति का चिन्तन करना, आगामी मनोज्ञ भोगों की आकांक्षा करना रूप निदान ये आर्तध्यान के चार भेद हैं। हिंसा, झूठ, चोरी तथा विषयों के संरक्षण में उत्पन्न रौद्र ध्यान भी चार प्रकार का है। आर्तध्यान पीड़ात्मक होता है और रौद्रध्यान दूसरों को संताप देने के साथ ध्याता के चित्त में हर्ष रूप होता है। हिंसा में आनन्द मानने वाले के हिंसानंद नाम का रौद्र ध्यान होता है। संसार के सभी जीव इन दोनों ध्यानों के चक्कर में हैं।

आत्मा का कल्याण धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान से होता है। वे मोक्ष के हेतु कहे गए हैं।

कुंद कुंद स्वामी ने मोक्षपाहुड में लिखा है—"जो साधु भीषण संसार रूपी महान सिंधु से पार होना चाहता है, वह कर्म रूपी ईंधन को जलाने वाले शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है।"

इस पंचमकाल में मुनियों के धर्म ध्यान ही हो सकता है, यह बात कहते हैं—"इस भरत क्षेत्र में इस दुःषम काल में आत्म स्वभाव में स्थित मुनि के धर्म-ध्यान होता है। जो इसे नहीं मानता है, वह अज्ञानी है।"

---

१ "Concentration is normally sustained at its fullest for a very short time only"
Radhakrishnan –Indian Philosophy–P. 357

शुक्ल ध्यानका अभाव होनेसे आज हीन संहनन युक्त साधुओंको साक्षात् मुक्ति का लाभ नही मिलता है, फिर भी परम्परा से मोक्ष की सिद्धि होती है। ज्ञानार्णव में लिखा है:–"वह मुनि महाभाग्य है,जो राग द्वेष रूप फासीके फंदे को काटकर अचिन्त्य पराक्रम युक्त हो ध्यान की सिद्धि के लिए एकात-निर्जन स्थान का आश्रय लेता है।" (अ० २७) ध्यान की सिद्धि के हेतु मुनिराज योग्य स्थान का आश्रय लेते है, क्योंकि पुण्य स्थल पवित्र विचारो के उदभव में सहायक होते हैं। योगिराज शुभचन्द्र ने लिखा है:–"निर्वाण भूमि, तीर्थंकर आदि महापुरुषो के द्वारा आश्रित हुए महान तीर्थ मे, जहा उनके कल्याण हुए हो, ऐसे पुण्य स्थानो मे ध्यान की सिद्धि होती है।"[१] वे यह भी कहते है, "जिन स्थान में रागादिक दोष निरन्तर लघुता को प्राप्त होते है, उसी स्थान में मुनियो का आवास समीचीन है। ध्यान काल में तो ऐसे स्थान पर अवश्य वास करना चाहिये।"[२] ध्यान के योग्य आसन को कहते है:–"धीर पुरुष ध्यान की सिद्धि के लिए काष्ठ के तख्ते पर, शिला पर वा भूमि पर वा बालू के ऊपर स्थिर आसन लगावे।"[३]

"पर्यंकासन अर्ध पर्यंकासन, वज्रासन, सुखासन, वीरासन, कमलासन तथा कायोत्सर्ग ये ध्यान के योग्य आसन कहे है। जिस आसन से मुनियो का मन निश्चल बन सके, वही सुन्दर आसन मुनियो को करना चाहिये।"[४] "इस काल में शक्ति की न्यूनता के कारण कायोत्सर्ग और पद्मासन को ध्यान योग्य कहा है।"[५]

ध्यान की सिद्धि के लिए स्थान और आसन में एक भी न हो, तो

---

१ सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते।
कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥ अ० २८–१॥

२ यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यान्ति लाघवम्।
तत्रैव वसतिः साध्वी ध्यानकाले विशेषतः ॥ ८ ॥

३ दारु पट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतातले।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥ ९ ॥

४ येन येन सुखासीना विदध्युर्निश्चलं मनः।
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम् ॥ ११ ॥

५ The yoga realises that our body has a dignity of it own as much as the mind. Ashna, or posture is a physical

ध्यानी मुनिका चित्त विक्षेप रहित नही होता ।"[1]

ध्यान मुद्रा के विषय में लिखते है–

"पर्यंक देश के मध्य भागमें स्थित उन्नत दोनो हस्तके मुकुल विकसित कमल के सदृश चपलता रहित करे ।"[2]

अति निश्चल सौम्यता लिए स्पन्दता रहित है मन्द तारे (नेत्रों की पुतली) जिनमें ऐसे दोनों नेत्रो को नासिकाके अग्रभाग में धारण करे ।"[3] "मुख को इस प्रकार करे, कि भौहें तो विकार रहित हो, दोनो ओष्ठ न न बहुत खुले और न अति मिले हों, ऐसे सोते हुए मत्स्य सहित सरोवर सदृश मुख कमल को करे ।" "योगी का कर्तव्य है, कि वह अगाध करुणा समुद्र में निमग्न हो गया है तथा संवेग सहित है मन जिसका ऐसा सीधा और लम्बा शरीर रखे, जैसे दीवाल पर चित्राम की मूर्ति हो उस प्रकार शरीर को बनावे।"

"सम्यक प्रकार सत्यार्थ युक्त सिद्धांत वाले मुनियों ने ध्यान की सिद्धि तथा मन की स्थिरता के हेतु प्राणायाम की प्रशंसा की है ।"[4]

"हृदय में पवन के साथ चित्त को स्थिर करने पर मन में विकल्प नहीं उत्पन्न होते और विषयाशा भी नही उठती है, तथा अंतरंग में विशेष

---

help to concentration. We cannot fix our attention on an object, when we are running or sleeping. We must settle our selves down in a convenient posture before we begin to meditate." Radhakrishnan: Indian Philosophy p. 354-355

१ ध्यानासनविधानानि ध्यानसिद्धेर्निवन्धनम् ।
नैकं मुक्त्वा मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितं मनः ।। २० ।।

२ पर्यंक देश मध्यस्थे प्रोत्ताने करकुड्मले ।
करोत्युत्फुल्लराजीव सन्निभे च्युतचापले ।। ३४ ।।

३ नासाग्रदेशविन्यस्ते धत्ते नेत्रेऽतिनिश्चले ।
प्रसन्ने सौम्यतापन्ने निष्पन्दे मन्दतारके ।। ३५ ।।

४ मुनिर्णीत सुसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते ।
मुनिभिर्ध्यानसिद्धयर्थं स्थैर्यार्थं चान्तरात्मनः ।। २९–१।।

"Breath-control is regarded as a steadying inflnence on the mind and plays an important part in Hatha yoga,

भगवान पार्श्वनाथ की कलामय मूर्ति ।

ज्ञान का प्रकाश भी होता है।"[1] यह प्राणायाम स्वयं साध्य नहीं है। जो प्राणायाम क्रिया से ही अपने को कृतार्थ मान बैठे हैं, उनके मोक्ष का लाभ नहीं होता है, ऐसा कहा गया है।

"जो मुनि संसार देह भोगोसे विरक्त है, प्रशान्त है, वीतराग है, जितेन्द्रिय है, उनके लिये प्राणायाम प्रशंसनीय नहीं है कारण प्राणायाम में प्राणो के आगमन से रोकनेसे पीड़ा होती है। उससे आर्तध्यान होता है। उसके कारण तत्वज्ञानी मुनि भी लक्ष्य से विचलित हो जाते हैं। पवन के पूरक, कुंभक तथा रेचक करनेसे चित व्यग्र रूप होता है, कारण वह पवन से क्लेशित होने पर खेद पाता है अतः प्राणायाम का प्रयत्न गौण कहा गया है।" ऐसी स्थिति में क्या कर्तव्य है, उसे इस प्रकार कहते हैं—"इंद्रियो को विषयों से रोककर, समता का अवलम्बन ले मन को ललाट देश में संलीन करनेसे वह निश्चल हो जाता है।"[2]

"आचार्यो ने नेत्र युगल, कर्ण युगल, नासाग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि मस्तक, तालु, हृदय, भौंह का मध्यभाग ये दस स्थान मन को लगाने योग्य कहे हैं।"

आजके वैज्ञानिक हिप्नाटिज्म (Hyponotism) मैंस्मरेजम आदि आध्यात्मिक चमत्कारो के प्रभाव को स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक साधना तथा एकाग्रचित्त वृत्ति के फल स्वरूप योगी अपूर्व निर्मलता तथा आत्मशुद्धि को प्राप्त करता है।[3] इसे अंग्रेजीमें "process of self-hypnotisation" कहते हैं। इस कारण साधु के तत्वचिन्तन का बड़ा महत्व है।

ध्यान करते समय मुनिराज सोचते हैं[4] "आज रागज्वर जीर्ण हो

---

where it is esteemed for its great efficiency in producing occult powers! Ibid p. 356

१ विकल्पाः न प्रसूयन्ते विषयाशा निवर्तते।
अन्तः स्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थिरीकृते ॥ ९ १ ॥

२ निरुध्यकरणग्रामं समत्वमवलम्ब्य च।
ललाटदेश-संलीनं विदध्यान्निश्चलं मनः ॥ १२ ॥

३ To the modern mind, in East or West, the whole yoga scheme of attaining perfection appears to be only an elaborate process of self-hpypnotisation" Indian Philosophy p.372

४ अथ रागज्वरो जीर्णो मोह-निद्राद्य निर्गता।
ततः कर्म रिपुं हन्मि ध्यान निस्त्रिंशधारया ॥ ३१-३४

गया है, मोह की निद्रा दूर हो गई है, अतः ध्यान रूपी तलवार की धार से कर्म शत्रु का नाश करता हूं।" "मैं प्रबल ध्यानरूपी वज्रघातसे पाप-पादपका ऐसा विनाश करूंगा, कि वह फिर संसार में जन्म रूपी फल न दे।"[1] "मैं और परमात्मा दोनों ही ज्ञानलोचन हैं। अतः आत्मस्वरूप की उपलब्धि के लिये मैं परमात्म स्वरूप को जानना चाहता हूं।"[2] "गुण समूह शक्ति रूप से मेरे में हैं, वे व्यक्ति रूप से परमात्मा में हैं। इस प्रकार हममें तथा परमात्मा में शक्ति, व्यक्ति कृत भेद है।"[3]

आचार्य कहते हैं—"जिनका अल्प भी ध्यान करने से जीवों के संसार में जन्म लेने सम्बन्धी रोग दूर हो जाते हैं और तथा अन्य प्रकार से नष्ट नहीं होते, वही जगत का प्रभु अच्युत परमात्मा है। उन प्रभु का ज्ञान हुए बिना समस्त ज्ञान व्यर्थ हो जाता है और उनका ज्ञान होने पर समस्त जगत का ज्ञान नियम से हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं है। जिसने अपनी आत्मा को नहीं जाना है, वह परमात्मा को नहीं जान सकता है। अतः परमात्मा को जानने के पूर्व आत्मा का निश्चय करना आवश्यक है।"

प्राथमिक स्थिति में परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करना हितप्रद है, किन्तु वह स्वयं साध्य नहीं है। वह विशुद्ध आत्म चिंतन का साधन है। अन्य सम्प्रदायों में ईश्वर का चिंतन सर्व श्रेष्ठ माना गया है,[4] किन्तु जैन आगम में उससे भी ऊंचा स्थान आत्म-गुण-चिंतन को प्रदान किया गया है। वीतराग भाव पूर्वक आत्म निमग्नता के प्रसाद से संसारी मानव स्वयं परमात्मा बन जाता है। "यह आत्मा आत्मा द्वारा स्वयमेव अनुभव

१ प्रबलध्यानवज्रेण दुरितद्रुमसंचयम्।
तथा कुर्वे यथा दत्ते न पुनर्भवसंभवम् ॥ ५ ॥

२ अहं च परमात्मा च द्वावेतौ ज्ञानलोचनौ।
अतस्तं ज्ञातुमिच्छामि तत्स्वरूपोपलब्धये ॥ ३१-९ ॥

३ मम शक्त्या गुणग्रामो व्यक्त्या च परमेष्ठिनः।
एतावानावयोर्भेदः शक्तिव्यक्तिस्वभावतः ॥ १० ॥

४ "Vijnanabhiksu says: Of all kinds of conscious meditation the meditation of the Supreme God-head is the highest." Indian Phil. p. 372

किया जाता है। इससे अन्यत्र आत्मा के ज्ञान करने का प्रयास निष्फल है।" "जब मैं ज्योतिर्मय आत्मा को देखता हूँ, तब रागद्वेष का क्षय हो जाता है और तब मेरा न कोई शत्रु रहता है और न मित्र होता है।"[१] "यदि मुनि का चित्त मोह के कारण रागादि से बाधित होता है, तो वे उसे आत्म तत्व में लगाते हैं, इससे क्षण मात्र में रागादि की बाधा दूर हो जाती है।"

"योग का अभ्यास करने में उद्यत मुनियों को बाहर सुख तथा अंतरंग में दुख प्रतीत होता है, किन्तु योग में सुप्रतिष्ठित होने वालों को बाह्य में दुःख तथा अंतरंग में आनन्द प्राप्त होता है।"[२]

इस पंचमकाल में मुनियों के शुक्ल ध्यान नहीं होता है। उनके धर्म ध्यान होता है। उसके चार भेद कहे गए हैं।

'जिस ध्यान में सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा को प्रधान करके पदार्थों का सम्यक् चिंतन किया जाता है, वह मुनीश्वरों ने आज्ञा नाम का धर्म ध्यान कहा है।"[३]

अकलंक स्वामी कहते हैं—"आगम प्रामाण्य के आधार पर अर्थ का निश्चय करना आज्ञा विचय है।"[४]

"जिस ध्यान में कर्म—कृत अपाय अर्थात् विनाश का उपाय सहित चिन्तवन किया जाता है उसे विद्वानों ने अपाय विचय कहा है।"

इसमें कर्म कृत का अपायका तथा आत्म सिद्धि के हेतु कर्म क्षय का उपाय सोचा जाता है। राजवार्तिक में लिखा है—

"सन्मार्ग से गिरने के कारण मोक्षाभिलाषी जीव मार्ग से दूर होते जा रहे हैं यह चिन्तन अपाय विचय है।" मिथ्या मार्ग से ये जगत के प्राणी

---

१ ज्योतिर्मय ममात्मानं पश्यतोऽत्रैव यान्त्यमी।
क्षयं रागादयस्तेन नारिः कोपि प्रियो न मे ॥२५ श्लोक॥

२ अन्तर्दुःखं बहिःसौख्यं योगाभ्यासोद्यतात्मनाम्।
सुप्रतिष्ठित—योगानां विपर्यस्तमिदं पुनः ॥६५॥

३ सर्वज्ञाज्ञां पुरस्कृत्य सम्यगर्थान् विचिन्तयेत्।
यत्र तद्ध्यानमाम्नातमाज्ञाख्यं योगिपुंगवैः ॥१२

४ तत्रागमप्रामाण्यादर्थावधारणमाज्ञाविचय आज्ञाप्रकाशनार्थो वा।
सन्मार्गापाय—चिन्तन—मपायविचयः" पृ. ३५२

सपूर्ण जीवो के विषय में चिन्तवन उपयोगी कहा है। ज्ञानार्णव में कहा है- "यह समस्त लोक तो केवली भगवान के ज्ञान गोचर है। उसका समुदाय रूप से तथा पृथक पृथक रूप से शक्ति के अनुसार मुनि चिन्तवन करे।"[1]

इस ध्यान के द्वारा असख्यात-गुणित-क्रम से निर्जरा होती है। इसकी स्थिति अतर्मुहूर्त (४८ मिनिट से कम काल प्रमाण) कही है। इसका भाव क्षयोपशमिक है। लेश्या सदाशुक्ल ही रहती है। (ज्ञाना१४)

परमात्म प्रकाश में लिखा है "जो ज्ञानी आत्मा निर्विकल्प समाधि में मन लगाता है, उसका मोह शीघ्र नष्ट होता है और ज्ञान द्वारा वह लोकालोक प्रमाण हो जाता है।" यहा गाथा में आगत आकाश शब्द का पर्याय वाची आकाश द्रव्य नही है, किन्तु निर्विकल्प समाधि है। ब्रह्मदेव सूरि ने इस गाथा के पूर्व की गाथा में आगत आकाश के पर्यायवाची अबर शब्द की व्याख्या में लिखा है "अबरशब्देन शुद्धाकाश न गाह्य किन्तु विषयकषाय-शून्यः परमसमाधिर्ग्राह्य." अबर शब्द से शुद्ध आकाश को न ग्रहण कर विषय कषाय शून्य परम-समाधि जानना चाहिए।

टीकाकार ने यह भी लिखा है कि इस निर्विकल्पक समाधि में मुनि कुंभक, पूरक आदि रूप से पवन के रोकने का प्रयत्न नही करते है, किन्तु इस समाधि के बल से बिना यत्न के सहज ही पवन रुक जाता और मन अचल हो जाता है। उस समय तालु के सूक्ष्म छिद्र 'ब्रह्म-रध्र' नामक दशम द्वार मे स्वयमेव पवन रुक जाता है।

इस सम्बंध में यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि सर्वज्ञ भगवान के द्वारा लोकालोक का ज्ञान होता है, अत ज्ञानापेक्षया आत्मा को लोकालोक व्यापक उपचार से कहते है। परमार्थत. लोक पूरण समुद्घात के काल के समय वह केवल लोक व्यापी (अलोक व्यापी नही) एक समय मात्र रहता है तथा अशरीरी सिद्ध परमात्मा के आत्म प्रदेश अधिक से अधिक ५२५ धनुष प्रमाण पूर्व शरीराकार रहते है और जघन्य से साढे तीन अरत्नि प्रमाण देशोन होते है"

इस उपचरित कथन को मुख्य समझ कोई २ भाई भ्रमवश यह सोचते

---

१ समस्तोयमहो लोक केवलज्ञानगोचर. ।
त व्यस्तं वा समस्त वा स्वशक्त्या चिन्तयेद्यति· ॥१८॥

है, कि धर्म में भी विश्व व्यापी आत्मा वेदान्ती की तरह माना है; यथार्थ में जैन सिद्धांत का सापेक्ष वर्णन है। परमार्थतः परमात्मा विश्व व्यापी नहीं हैं, जब कि वेदांत ब्रम्ह को विश्व व्यापी कहता हुआ समस्त प्रपंच को ब्रह्म की विवर्त–पर्याय मानता है, जो सर्वज्ञ ज्ञान से सम्यक् नहीं प्रमाणित होता है।

निश्चय दृष्टि को मुख्य बनाते हुए महर्षि कुंद कुंद कहते हैं, "व्यवहार नय से केवली भगवान सर्व पदार्थों को जानते है, देखते हैं, किन्तु निश्चय नय से केवली भगवान आत्मा को जानते हैं, देखते है।"

व्यवहारनय पराश्रित होता है, 'पराश्रितो व्यवहारः।' अत. व्यवहार नय से पर रूप से अनंत पदार्थ का बोध केवली भगवान के कहा गया है, किन्तु निश्चय नय पर का आश्रय नहीं करता है, अत उस आत्माश्रयी नय की अपेक्षा आत्मा का ज्ञाता रूप से कथन किया है।

इस भरत क्षेत्र में पंचमकाल में शुक्लध्यान का अभाव होने से उस सम्बन्ध में विशेष चर्चा न कर इतना ही लिखना आवश्यक है कि शुक्ल ध्यान के लिए महान बल की आवश्यकता है। मोक्ष जाने योग्य शुक्ल ध्यान की आराधना बिना वज्र वृषभसंहनन के नहीं होती है। इस काल में उसका अभाव होने से निर्वाण का लाभ इस क्षेत्र से नहीं होता है। विदेह क्षेत्र से अभी भी मोक्षगमन होता है। यहा तो धर्म ध्यान ही मुमुक्षु के लिए अवलंबन है।

अनुप्रेक्षा

आचार्य शुभचंद्र कहते हैं कि "द्वादश अनुप्रेक्षा सदा ही धर्म ध्यान की कारण हैं। अतः चित्त भूमिमें उनको स्थिर करके निज स्वरूप का अवलोकन करो।"[1]

पूज्यपाद स्वामी का कथन है कि "शरीरादीनां स्वभावानुचिंतन मनुप्रेक्षा" —शरीर आदि के स्वभाव का चिंतयन करना अनुप्रेक्षा है। इस तात्विक चिंतन से भव भोग तथा शरीर की असली अवस्था अन्तःकरण के समक्ष उपस्थित होती है और इसलिए वैराग्य का उज्वल प्रकाश प्राप्त होता है। मूलाचार में इसे वैराग्य की माता माना है "भावणाओ....बुहजण वेरग्गजणणीओ ८-७३"—ये भावनायें ज्ञानी पुरुषों के चित्त में वैराग्य उत्पन्न करने वाली जननी के समान हैं। विषय सुख का सौन्दर्य अविचारित स्थिति पर्यन्त ही रमणीय ज्ञात होता है। विवेक के प्रकाश में उस रमणीयता के अंतस्तल में निहित अस्थिरता, अशुचिता आदि का अवबोधआसक्ति की निबिड़ निशा का अंत कर देता है।

अनित्य–भावना

इन अनुप्रेक्षाओं में आद्यस्थान अनित्य संबंधी विचार को प्रदान किया गया है जैसे दलदल दूषित भूमि में बनाया गया सुन्दर भवन अल्पस्थायी होता है और उसे गिरते देर नहीं लगती, इसी प्रकार इस अनित्यता का जामा पहने जगत को जान इसमें ममता का महल खड़ा करने पर पश्चातापप्रद स्थिति होती है। बौद्ध दर्शन का तो यह अनित्य चिंतन प्राण है। वह वस्तु को अनित्य, अनात्मक, अशुचि और दुःख रूप मानता है। अविद्या के कारण यह पदार्थ नित्य, सात्मक, शुचि तथा सुख रूप प्रतीत होता है। धम्मपद नामक बौद्धग्रंथ में लिखा है:—"सभी संस्कार अनित्य हैं; जिस समय ऐसा ज्ञान अंतःकरण में भासता है, उसी समय इस दुःख मय संसार से आत्मा निवृत्त हो जाती और यही निर्वाण प्राप्ति का सुगम मार्ग है।"[2]

---

१ अनुप्रेक्षाश्च धर्म्यस्य स्युः सदैव निबंधनम्।
चित्तभूमौ स्थिरीकृत्य स्वस्वरूपं निरूपय ॥४१ पर्व–३॥

२ सब्बे सङ्खारा अनिच्चाति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एसमग्गो विसुद्धिया ॥मग्ग वग्ग,५॥

अकलंक स्वामी (राजवार्तिक १. ३२७ में) स्याद्वाद दृष्टि को बताते हुए द्रव्य दृष्टि से वस्तु को नित्य और पर्याय की अपेक्षा अनित्य कहते हैं — "शरीर, इंद्रिय, विषय, भोग द्रव्य समुदाय रूप से जल के बुलबुले के सदृश अनित्य स्वभाव वाले हैं। इस संसार में समुदाय स्वरूप कोई भी पदार्थ, आत्मा के ज्ञान, दर्शन, उपयोग स्वभाव को छोड़कर, ध्रुव रूप नहीं हैं। आचार्य सोमदेव यशस्तिलक में कहते हैं।

उत्सृज्य जीवितजलं बहिरन्तरेते रिक्ता विशति मरुतोजलयंत्रकल्पाः।
एकोयम जरति यूनि महत्यणौ च सर्वकषः पुनरयं यतते कृतान्तः ॥

"श्वास के द्वारा जीवन रूपी जल बाहर निकाला जाता है, जैसे रहट के द्वारा पानी खेंच कर बाहर किया जाता है, इसके पश्चात जीवित जल को बाहर डाल कर श्वास पुनः शरीर में प्रवेश करता है। सर्व संहारक मौत युवक वृद्ध छोटे बड़े के विषय में बिना भेद भाव के अपना उद्यम जारी रखती है।[1]

मूलाचार में लिखा है "राज्य गृहादि रूप सामग्री, चक्षुरादिक इंद्रिय, सौन्दर्य, बुद्धि, आयु, शक्ति, तेज, भवन, सुख के कारण, शयन तथा आसन की सामग्री, खाद्य सामग्री, वस्त्रादि रूप भाडादि सभी को अनित्य रूप से चिंतन करो।"[2] उनका अभिप्राय यह है, कि दृश्यमान जगत का कोई भी पदार्थ नहीं मिलेगा, जो अध्रुव वृत्ति विहीन हो।

अशरण भावना

जगत् में जीव का धर्म के बिना अन्य शरण नहीं है यह चिंतन अशरण भावना है। भगवती दास जी कहते हैं,

"अशरण तोहि शरण नहिं कोय, तीन लोक में दृगधर जोय।
कोई न तेरा राखन हार, कर्मन वश चेतन निरधार ॥३॥

कवि मंगतराय के शब्द बड़े प्राण पूर्ण है :—

---

१ These life-breaths draw the water of life like a water wheel and leaving it outside, enter the body empty. Death, the destroyer of all acts with equal efforts on old and young, great and small. 2-105

Yashastilaka & Indian Culture, P 298

२ सामग्गिंदिय रुव मदि जोवण जीविय वलं तेजं
गिहसयणासण भंडादिया अणिच्चेति चिंतेज्जो ॥ ८-४ ॥

काल सिंह ने मृग चेतन को घेरा भव वनमें ।
नहीं बचावन हारा कोई, यों समझो मन में ।।
[1]मंत्र यंत्र सेना धन संपति, राजपाट छूटे ।
वश नहिं चलता काल लुटेरा, काय नगर लूटे ।।६।।

मूलाचार में लिखा है:-

"जन्म, जरा, मृत्यु–युक्त लोक में जन्म, मृत्यु रूपी महान शत्रु को दूर करने वाले जिनेन्द्र के शासन के सिवाय जीव के लिए अन्य वस्तु शरण नहीं है ।"[1] महाराज जीवंधर ने दीक्षा लेने के पूर्व में जो चिंतन किया था, उसे क्षत्र चूड़ामणि में इस प्रकार वादीभसिंह सूरि ने लिखा है:-"हे आत्मन् ! समुद्र में नौका के नष्ट होने पर पक्षी की भांति विपत्ति के समय कोई भी तेरे लिए शरण रूप नहीं है। उसके ठीक रहने पर हजारों प्रकार से सहायक हो जाते हैं।" (११-३३)। यशस्तिलकमें लिखा है:-"यह जीव बंधुओंके समुदाय, सुभट कोटि, इष्ट जन तथा मंत्र तंत्र शस्त्रादि के द्वारा सर्व प्रकार से रक्ष्य मान होते हुए तथा सैन्य से भी अधिक पराक्रम समन्वित होते हुए बेचारा अकेला ही यम के दूतों के द्वारा मृत्यु के आधीन करने के हेतु जबरदस्ती ले जाया जाता है ।"[1] इस जीव का एक मात्र सहायक तथा रक्षक रत्नत्रय ही है। इस भावना से क्या होता है, इस पर अकलंक स्वामी कहते हैं– "इस प्रकार चिंतवन करते हुए कि मैं सदा अशरण हूं, यह अत्यन्त उदास होता है। इससे संसार के पदार्थों में ममत्व का भाव दूर होता है तथा भगवान सर्वज्ञ अर्हन्त देव की वाणी में स्थिर मति होता है।"

१ 'Even when a man is stronger than an army, being protected by multitudes of kinsmen, millions of warriors and trusty followers with all the resources of cousel, arms, and troops, he is brought under the sway of Death by the latter's messengers—miserable and all alone."

'Yas. and India culture' p. 300

२ Who is wife? Who is son? Who are you? Where from did you come? How wonderful isthis Sansara? How are you related to one another? Think deeply on all these matters.

Who am I ? Where from have we come ? Who is mother ? Who is father ? Leave off this world, which is a dream and seek the enternal. Gyana Yoga P. 230.

संसार-भावना

ससार भावना का कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इस प्रकार स्वरूप कहा है – 'मिथ्यात्व तथा कषाय सयुक्त जीव एक शरीर को छोडता है, अन्य नवीन देह को ग्रहण करता है, पुन उसे छोडकर नवीन को ग्रहण करता है, इस प्रकार बहुत बार करता है। इस प्रकार जो जीव का अनेक शरीरो में ससरण अर्थात् परिभ्रमण होता है, वह ससार है। यदि ससार के मर्म का विचार करे तो वैराग्य भाव जगे बिना न रहेगा।"

इस ससार में जीव का विचित्र उत्थान पतन का दृश्य दिखाई देता है।

सोमदेव सूरि लिखते हैः–

कर्मार्पितक्रमगति पुरुष शरीरमेक स्यजत्यपरमाभजते भवाब्धौ।
शैलूषयोषिदिव ससृतिरेनमेषा नाना विडम्बयति चित्रकरै प्रपचै ॥

"इस ससार सिन्धु में आत्मा एक शरीर को छोडकर कर्म के द्वारा रचित दूसरे शरीर को धारण करता है, तथा एक गति को छोडकर दूसरी गति में जाता है। यह ससार नटी के समान इस जीव को नाना प्रकार के विचित्र वेषो द्वारा विडम्बना रचता है।"[१]

दैवाद्धनेस्वधिगतेषु पटुर्न काय, कायेपटौ न पुनरायुरवाप्तवित्तम।
इत्य परस्परहतात्मभिरात्मधर्मै र्लोक सुदु खयति जन्मकर प्रबध ॥

"कर्मोदय के वश यदि धन का लाभ होता है, तो शरीर ठीक नही रहता है।[२] यदि शरीर नीरोग हुआ, तो धन सपन्न जीवन नही रहता

---

१ In the ocean of existence, the transmigrating soul leaves one body, the result of Karma, and resorts to another The cycle of existence like an actress deludes the soul with many a marvellous show (2 115)

२ When by chance wealth is acquired, health is absent When there is health, longevity attended by wealth is lacking Thus the process of birth and rebirth, inflicts misery on the world with its mutually contradictory attributes

है; इस प्रकार परस्पर एक दूसरे के विपरीतपने से विध्वंस को प्राप्त आत्म स्वभाव के द्वारा भवान्तर का उत्पादक कर्म जीव को बहुत संतप्त करता है।"

अकलंक स्वामी लिखते हैं–"अधिक क्या कहा जाय इस संसार में जीव कर्म रूपी यंत्र से प्रेरित होता हुआ अपनी ही स्त्री के गर्भ में जाकर स्वयं का पुत्र हो जाता है।" कर्मोदय से अपने स्वरूप तथा समय को भूला हुआ यह जीव इस विश्व के रंगमंच पर आकर अपना खेल दिखाता है। कवि भगवतीदास कहते हैं,–

केऊ फिरें कान फटा केऊ शीश धरे जटा,
केऊ लियें भस्म वटा भूले भटकत हैं।
केऊ तज जाहिं अटा, केऊ घेरें चेरी चटा
केऊ पढें पटा केऊ घूम गटकत हैं।
केऊ तन लियें लटा, केउ महा दीसें कटा,
केऊ तरतटा केऊ रसा लटकत हैं।
भ्रम भाव तें न हटा, हिये काम नाहिं घटा,
विषै सुख रटा साथ हाथ पटकत हैं।

संसार चक्र में घूमता जीव क्रीड़ा केशरी–सरकस के सिंह सदृश प्रतीत होता है। यह स्वामी के आदेशानुसार क्रीड़ा द्वारा जनानुरंजन करता है और यह नहीं सोचता है, कि मेरा स्वरूप बदरिया की भाँति नाचना नहीं है, किन्तु मैं पराक्रम का पुंज वनराज मृगपति हूँ। उसका दूसरों के आगे नाचना शोभा नहीं देता है। एक कवि मृगेन्द्र को अन्योक्ति द्वारा कहता है:–

पड़े बंधनों में परतंत्र मान मंत्र, भूल,
ताप तंत्र यंत्रणा में कबलों तचोगे तुम।
खोखले खिलाड़ियों के खेल के प्रधान बन,
कानधरी छेरी सम कब लों नचोगे तुम।
पीट पीट तालियां सुनाते लोग गालियां हैं,
शूर शूरता का रूप कबलों रचोगे तुम।
भर के दहाड़, तोड़ ताड़ दासता का यंत्र,
बनोगे स्वतंत्र तभी केशरी जंचोगे तुम॥

एकत्वानुप्रेक्षा

एकत्व अनुप्रेक्षा में जीव अपने एकाकीपन के बारे में विचारता

है। अकलंकदेव ने कहा है "मैं अकेला ही हूँ, मेरे कुटुम्बी लोग या दूसरे व्यक्ति मेरी व्याधि, बुढ़ापा तथा मृत्यु आदि के दुखों को नहीं दूर करते हैं। बंधु, मित्र तो श्मशान से आगे साथ नहीं देते। एक धर्म ही मेरा सहायक है, वही सदा सुख–दाता है। यह चिंतन करना एकत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार की भावना करने वाले जीव के इष्ट जनों में राग नहीं होता है। दूसरों के प्रति द्वेष नहीं होता है। इससे अकिंचनत्व को प्राप्त आत्मा मोक्ष के योग्य हो जाता है।" यशस्तिलक में लिखा है, "हे आत्मन! पुत्र मित्रादि बाह्य परिग्रह की बात जाने दो, यह देह जन्म से तुम्हारा साथी होते हुए भी साथ में नहीं जाता है, तब तुम क्षण में नयन गोचर बनकर विलीन होने वाली स्त्री, पुत्र, धन, भवन रूप मोह बंधन से क्यों खिन्न होते हो?"[१]

हेमचन्द्राचार्य की यह उक्ति मार्मिक है:–"यह जीव शिशु कालमें माता के उन्मुख होता है, यौवन में युवती के उन्मुख और बुढ़ापे में पुत्रोन्मुख बनता है किन्तु यह अज्ञ आत्मोन्मुख कभी नहीं बनता है यह दुख की बात है।"[२]

मूलाचार में लिखा है:–"अपने कुटुम्बियों तथा परिजनों के मध्य में यह जीव अकेला ही व्याधि ग्रस्त होता है, दुःख भोगता है और मृत्यु के अधीन होता है। इसके साथ में न स्वजन जाते हैं, न परिजन ही साथी रहते हैं।" (८–८)

भैया भगवतीदास ने लिखा है—

जीव अकेला फिरे त्रिकाल। ऊरध मध्य भुवन पाताल॥

---

१ "Let alone thy external possessions, even the body coeval with thee, will not accompany thee at death. Why dost thou suffer evermore from such fetters of delusion as wife and children and wealth and home appearing and disappearing in a moment." P. 301

२ स्याच्छैशवे मातृमुखस्तारुण्ये तरुणीमुखः।
वृद्धभावे सुतमुखो मूर्खोनांतर्मुखः क्वचित॥

दूजा कोइ न तेरे साथ। सदा अकेलो भ्रमै अनाथ ॥

कार्तिकेय स्वामी कहते हैं:—"निश्चय दृष्टि से देखा जाय, तो जीव के कुटुम्बी उसके उत्तम क्षमा, मार्दव आदि दशविध धर्म हैं। यह जीव को देवलोक में ले जाता है और वही धर्म दुःख का क्षय भी करता है।"[1]

अन्यत्व भावना

जीव की पुद्गलादि से भिन्नता का चिंतवन करना अन्यत्व भावना है।

भैया भगवतीदास कहते हैं—

भिन्न सदा पुद्गल तैं रहै, मर्म बुद्धि तैं जडता गहै।
वे रूपी पुद्गल के खंध। तू चिन्मूरति सदा अबंध ॥६॥

एक अरबी भाषा की सूक्ति में कहा है "हे शरीर सेवक! तू कब तक इसकी सेवा में लगा रहेगा। क्या तू उस चीज से लाभ उठाना चाहता है, जिसमें घाटा ही घाटा है। ऐ लोगो! दिल को दुनिया और उसके श्रृंगार से दूर रखो, कारण दुनिया की सफाई ही गंदगी है। देखो! सुबह और शाम के आने जाने ने छोटे को जवान और बूढ़े को नष्ट कर दिया।" अतएव चैतन्यमय ज्ञानवान आत्मा को पुद्गल शरीरादि से पृथक् जानना चाहिए। इस अन्य भाव को भूला जीव इष्टजनों के वियोग से व्यथित होता है किन्तु संसार सिन्धु में डूबती हुई अपनी आत्मा के विषय में तनिक भी नहीं विचार करता है। मूलाचार में लिखा है—

"कोई जीव मेरा स्वामी मर गया ऐसा मानकर दूसरे का तो दुःख करता है, किन्तु संसार समुद्र में डूबती हुई अपनी आत्मा की जरा भी चिन्ता नहीं करता है।"[2]

सोमदेव सूरि ने कहा है—"आत्मन् मैं शरीरात्मक हूँ, यह बात चित्त

---

१ जीवस्स णिच्चयादो दहलक्खणो हवे सुयणो।
सो णेइ देवलोए सो चिय दुक्खक्खयं कुणइ॥७८॥

२ अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति मम णाह ओत्ति मण्णंतो।
अत्ताणं ण दु सोयदि संसारमहण्णवे वुड्ड ॥८-११॥

३ देहात्मकोहमिति चेतसि मा कृथास्त्वं।
त्वत्तो यतोस्य वपुषः परमोविवेकः।
त्वं धर्म-शर्म-वसतिः परितोवसायः।
कायः पुनर्जडतया गतधीनिकाय ॥२-१२३॥

में न रख। इस शरीर के साथ तेरी अत्यन्त भिन्नता है। तू अनतज्ञान दर्शनादि धर्म तथा परम आनन्द का आगार है और सर्वांगीण ज्ञानमय है, किन्तु शरीर जड रूप होने से चैतन्य-शून्य है।"[1]

[2]आसीदति त्वमि सति प्रतिनोतिकायः त्वय्यन्ते तिरोभवति भूपवनादिरूपैः। भूतात्मकस्य मृतवन्न सुखादिभाव स्तस्मात्कृती करणत पृथगेव जीव ॥१२४॥

"हे आत्मन्! तेरे होने पर ही यह शरीर रहता है तथा वृद्धि को भी प्राप्त करता है। तेरे इस शरीर के बाहर जाने पर पृथ्वी, पवनादि के रूप में यह तिरोभूत हो जाता है। पृथ्वी आदि भूत रूप शरीर के मृतक के सदृश सुखादि का सद्भाव नही पाया जाता है, अतः इंद्रियो से यह पुण्यवान् जीव पृथक् रूप है।"[2]

आत्मा और शरीर में स्वरूप भिन्नता को अकलक स्वामी इस प्रकार बताते है-"यह शरीर इंद्रियगोचर है और मै अतीन्द्रिय हूँ। शरीर ज्ञान-शून्य है, मै ज्ञान सहित हूँ। शरीर अनित्य है, मै नित्य हूँ। शरीर आदि तथा अत सहित है, मै अनादि-अनत हूँ। ससार में भ्रमण करते हुए मेरे लाखो शरीर हो गए है, किन्तु उनसे पृथक मैं वही हूँ। इस प्रकार इस शरीर से मेरी भिन्नता है, तब भाई! बाह्य परिग्रह से भिन्नता का क्या कहना है? इस प्रकार का चिन्तन अन्यत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार मनका समाधान होने पर आत्मा की शरीरादिक में इच्छा नही उत्पन्न होती है। इससे वह कल्याण में प्रवृत्त होता है।"

---

१ Never imagine that those art composed of the body, because the body is utterly different from thee Thou art all consciousness, an abode of virtue and bliss, *whereas the body, because it is inert, is an unconscious mass*

२ The body exists and grows so long as thou art in existence When thou art dead, it disappears in the form of earth, air and the like Composed of the elements, it is devoid of feelings such as joy like a corpse. Hence the bliss ful self is surely different from the body.

अशुचित्व भावना

शरीर के अपवित्र स्वरूप का चिन्तन करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है। वादीभसिंह सूरि लिखते हैं.-"जिस शरीर के सम्पर्क से पवित्र पदार्थों में भी अपवित्रता आ जाती है, वह रजवीर्य से उत्पन्न शरीर क्या अशुचि रूप नहीं है ?"

मुनि कार्तिकेय कहते हैं:-"हे भव्य ! यह मनुष्य का देह कर्मों ने अशुचि रूप बनाया, जिससे वे इससे विरक्त होवें, किन्तु वे इनमें ही अनुरक्त हो गए।"[1]

इस अंतः मलपुंज शरीर को वस्त्राभूषण से सुसज्जित करने पर इसकी मलिनता तनिक भी दूर नहीं होती हैं। एक फारसी कवि ने कहा है-'गधा यदि रेशमी वस्त्र पहिन ले, तो भी उसे लोग गधा ही कहेंगे।'

सोमदेव सूरि कहते हैं:-"आत्मन ! यदि शरीर का अन्तरंग रूप दैववश बाहर आ जावें, तब उसका अनुभव करने की बात तो निराली है, यदि कौतूहल के वश से उसे देखने की हिम्मत भी हो जाय तो इस शरीर में अनुराग अवश्य कर ?"[2]

आस्रव भावना

आत्मा में कर्मों के आगमन के द्वार को आस्रव कहते हैं। जिस प्रकार नौका में छिद्र रहने से समुद्र का जल उस में भरता है, इसी प्रकार मन, वचन तथा काय की शुभ तथा अशुभ क्रिया के द्वारा शुभ अशुभ कर्मों का आत्मा में आगमन होता है।

सोमदेव सूरि का कथन है:-"हे आत्मन्! अंतरंग में कषाय कलुषित होकर अशुभ योग द्वारा बंध के कारण रूप कर्मों का तू उपार्जन करता है, जैसे हस्तिनी का लंपट हस्ती, रज्जुओ द्वारा बन्धनको प्राप्त करता है। अत

---

१ मणुआणं असुइमयं विहिणा देहं विणिम्मियं जाण।
तेसिं विरमण कज्जे ते पुण तत्थेव अणुरत्ता ॥८५॥

२ If by chance the interior of the body were visible outside and thou couldst bring thyself to look at it even out of curiosity,contact being out of the question,then thiou wouldst indeed delight in the body. 2-123

तू दुष्ट चेष्टाओं का त्याग कर।"[1]

यह जीव अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार कर्मों का बंध करता है, पश्चात विपाक काल में बंध के अनुसार फल को प्राप्त करता है। हमारा आगामी जीवन हमारी वर्तमान मनोवृत्ति और प्रवृत्तियों के अधीन है। अरबों की एक कहावत है "मृत्यु के पश्चात् मनुष्य को उस मकान में रहना होगा, जिसका निर्माण उसने मृत्यु के पूर्व में किया है।" मूलाचार में लिखा है "हिंसा अनृत स्तेयादि पंच आस्रव के द्वारोंसे कर्म का आगमन होता है। उससे निश्चय से जीव का विनाश होता है, जैसे छिद्र सहित नौका का समुद्र में नाश होता है।" कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है–

"कर्म के पुण्यकर्म तथा पापकर्म इस प्रकार दो भेद है। उनके कारण भी प्रशस्त तथा अप्रशस्त रूप से दो प्रकार के होते हैं। मंद कषाय रूप परिणाम प्रशस्त अथवा स्वच्छ कहलाते है, तीव्र कषाय के भावों को अस्वच्छ या अप्रशस्त कहते है।"[2]

मन्द कषाय को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कहते हैं,"सब जीवों के प्रति प्रिय वचन बोलना, दुर्वचन सुनकर भी दुर्जनों के प्रति क्षमा भाव धारण करना सर्व जीवों के गुणों का ग्रहण करना, मंद कषाय के दृष्टान्त हैं।" तीव्र-कषाय का उदाहरण कहते हैं "अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषों के भी दोष ग्रहण करने का स्वभाव, बहुत काल पर्यन्त वैर का धारण करना तीव्र कषाय के चिन्ह है।"[3] इस आस्रव के द्वारा जीव का कैसा अहित होता है, इस

1 With thy heart contaminated by passions, thou dost acquire Karma, the cause of bondage, owing to thy assiduity in evil activities, just as an elephant for getting himself in the company of his mate . for himself the

प्रकार आस्रव के दोषों का दर्शन इस अनुप्रेक्षा में होता है। जिसने अपनी आत्मा का कच्छप के समान सकोच कर लिया है उसके आस्रवके दोष नही होते है। अकलक स्वामी ने लिखा है—"आस्रवदोषदर्शनमास्रवानुप्रेक्षा। सर्वे एते आस्रवदोषा कूर्मवत्सवृतात्मनो न भवति" (त रा. ३२४)।

संवर भावना

आस्रव का निरोध करना सवर है। कहा है–जिस प्रकार नौका में छिद्रो से पानी भरता था उसी प्रकार आस्रव होता था। नौका के छिद्रों को बद करने के समान कर्मों के आस्रव का निरोध हो जाना सवर है। तत्वार्थसार में लिखा है —

"जो आस्रव का निरोध है, उसे जिनेन्द्र देवने सवर कहा है। गुप्ति समिति, धर्म, परीषह–जय, तप, अनुप्रेक्षा तथा चारित्र ये सवरके कारण है।" कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है–"सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, कषायो का जीतना तथा योगो का अभाव ये सवर के नाम है।"

गोमट्टसार कर्मकाड में आस्रव के कारण मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा योग कहे है, जिनके भेदो की सख्या ५७ होती है। उनके निरोध रूप सवर का कथन कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इस प्रकार किया है। "मिथ्यात्व का निरोधक सम्यक्त्व, अविरतिक निरोधक देशव्रत, महाव्रत। कषायो का निरोधक कषायो का जय, योग का निरोधक योगो का अभाव कहा गया है। मन, वचन, कायगुप्ति, समिति उत्तमक्षमादि धर्म, अनुप्रेक्षा परीषहजय, सामायिकादि उत्कृष्ट चारित्र ये विशेष अपेक्षा से सवर के कारण है।"

जिस प्रकार छिद्र तथा सधि रहित होने से जल प्रवाह से क्षति को प्राप्त न होने वाली नौका बिना विपत्ति के समुद्र का सतरण कर पार लग जाती है, उसी प्रकार पूर्व कालीन कर्म समूह का क्षय करने वाला तथा नवीन कर्मास्रव रहित जीव परमपद–निर्वाण को प्राप्त करता है।

जैसे नौका के छिद्रो को बन्द करने से उसमें क्रम–क्रम से जल भरने द्वारा विप्लव होने पर समुद्र में उस नौका के भीतर वास करने वालो का विनाश निश्चित है, तथा छिद्र के बन्द करने से बिना विपत्ति के वह इष्ट प्रदेश को ले जाती है, इसी प्रकार कर्मो के आगमन के द्वार का सवरण (निरोध) होने पर कल्याण में बाधा नही आती है, इस प्रकार सवर के गुण का चिंतन सवरानुप्रेक्षा है। इस प्रकार सवर का चितवन करने वाले जीव की सवर के विषय में सदा प्रवृत्ति होती है।

तू दुष्ट चेष्टाओं का त्याग कर।"[1]

यह जीव अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार कर्मों का बंध करता है, पश्चात विपाक काल में बंध के अनुसार फल को प्राप्त करता है। हमारा आगामी जीवन हमारी वर्तमान मनोवृत्ति और प्रवृत्तियों के अधीन है। अरबों की एक कहावत है "मृत्यु के पश्चात् मनुष्य को उस मकान में रहना होगा, जिसका निर्माण उसने मृत्यु के पूर्व में किया है।" मूलाचार में लिखा है "हिंसा अनृत स्तेयादि पंच आस्रव के द्वारोंसे कर्म का आगमन होता है। उससे निश्चय से जीव का विनाश होता है, जैसे छिद्र सहित नौका का समुद्र में नाश होता है।" कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है–

"कर्म के पुण्यकर्म तथा पापकर्म इस प्रकार दो भेद है। उनके कारण भी प्रशस्त तथा अप्रशस्त रूप से दो प्रकार के होते हैं। मंद कषाय रूप परिणाम प्रशस्त अथवा स्वच्छ कहलाते है, तीव्र कषाय के भावों को अस्वच्छ या अप्रशस्त कहते हैं।"[2]

मन्द कषायको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कहते हैं,"सब जीवों के प्रति प्रिय वचन बोलना, दुर्वचन सुनकर भी दुर्जनों के प्रति क्षमा भाव धारण करना सर्व जीवों के गुणों का ग्रहण करना, मंद कषाय के दृष्टान्त हैं।" तीव्र-कषाय का उदाहरण कहते हैं 'अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषों के भी दोष ग्रहण करने का स्वभाव, बहुत काल पर्यन्त वैर का धारण करना तीव्र कषाय के चिन्ह हैं।"[3] इस आस्रव के द्वारा जीव का कैसा अहित होता है, इस

---

1 With thy heart contaminated by passions, thou dost acquire Karma, the cause of bondage, owing to thy assiduity in evil activities, just as an elephant for getting himself in the company of his mate earns for himself the ropes that bind him Renounce, therefore, O sentient being all thy misdeeds (2-131)

२ कम्म पुण्ण पाव हेउ तेसिं च होति सच्छिदरा।
मंदकसाया सच्छा तिव्वकसाया असच्छा हु॥ ९०॥

३ सव्वत्थ वि पियवयणं दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं।
सव्वेसिं गुण ग्रहणं मंदकसायाण दिट्ठंता॥ ९१॥

प्रकार आस्रव के दोषो का दर्शन इस अनुप्रेक्षा में होता है। जिसने अपनी आत्मा का कच्छप के समान सकोच कर लिया है उसके आस्रवके दोष नही होते हैं। अकलक स्वामी ने लिखा है—"आस्रवदोषदर्शनमास्रवानुप्रेक्षा। सर्व एते आस्रवदोषा कूर्मवत्सवृतात्मनो न भवति" (त रा. ३२४)।

संवर भावना

आस्रव का निरोध करना सवर है। कहा है–जिस प्रकार नौका में छिद्रों से पानी भरता था उसी प्रकार आस्रव होता था। नौका के छिद्रों को बद करने के समान कर्मों के आस्रव का निरोध हो जाना सवर है। तत्वार्थसार में लिखा है –

"जो आस्रव का निरोध है, उसे जिनेन्द्र देवने सवर कहा है। गुप्ति समिति, धर्म, परीषह–जय, तप, अनुप्रेक्षा तथा चारित्र ये सवरके कारण हैं।" कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है—"सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, कषायो का जीतना तथा योगो का अभाव ये सवर के नाम है।"

गोमट्टसार कर्मकाड में आस्रव के कारण मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा योग कहे है, जिनके भेदो की सख्या ५७ होती है। उनके निरोध रूप सवर का कथन कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इस प्रकार किया है। "मिथ्यात्व का निरोधक सम्यक्त्व, अविरतिक निरोधक देशव्रत, महाव्रत। कषायो का निरोधक कषायो का जय, योग का निरोधक योगो का अभाव कहा गया है। मन, वचन, कायगुप्ति, समिति उत्तमक्षमादि धर्म, अनुप्रेक्षा परीषहजय, सामायिकादि उत्कृष्ट चारित्र ये विशेष अपेक्षा से सवर के कारण हैं।"

जिस प्रकार छिद्र तथा सधि रहित होने से जल प्रवाह से क्षति को प्राप्त न होने वाली नौका बिना विपत्ति के समुद्र का सतरण कर पार लग जाती है, उसी प्रकार पूर्व कालीन कर्म समूह का क्षय करने वाला तथा नवीन कर्मास्रव रहित जीव परमपद–निर्वाण को प्राप्त करता है।

जैसे नौका के छिद्रो को बन्द करने से उसमें क्रम–क्रम से जल भरने द्वारा विप्लव होने पर समुद्र में उस नौका के भीतर वास करने वालो का विनाश निश्चित है, तथा छिद्र के बन्द करने से बिना विपत्ति के वह इष्ट प्रदेश को ले जाती है, इसी प्रकार कर्मो के आगमन के द्वार का सवरण (निरोध)होने पर कल्याण में बाधा नही आती है, इस प्रकार सवर के गुण का चिंतन सवरानुप्रेक्षा है। इस प्रकार सवर का चिंतवन करने वाले जीव की सवर के विषय में सदा प्रवृत्ति होती है।

तत्व की बात इतनी है कि जीव के जितनी जितनी वीतरागता की वृद्धि होगी, उतना उतना कर्मों का संवर होता जायगा, तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा भी होगी।

निर्जरा भावना

कर्मों का आत्मा से एक देश क्षय होना निर्जरा है। अकलंक स्वामी लिखते हैं, "गृहीत कर्मों का तपश्चर्या विशेष के द्वारा एक देश क्षय रूप लक्षणवाली निर्जरा होती है, जैसे मत्र तथा औषधि के बल से विष के वीर्य का विपाक निर्जीर्ण अर्थात् नष्ट हो जाने से वह दोषप्रद नहीं होती है, उसी प्रकार सविपाक, अविपाक निर्जरा के कारण तपो विशेष से कर्म का रस निर्जीर्ण हो जाता है,इससे वह संसार परिभ्रमण रूप फल नहीं देता है।"

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है "समस्त कर्मों की शक्ति-फलदान की सामर्थ्य के विपाक का नाम अनुभाग है। इस विपाक के पश्चात् कर्मों का झड़ जाना निर्जरा कहलाता है। वह निर्जरा दो प्रकार की है, एक स्वकाल प्राप्त, दूसरी तप के द्वारा की गई। स्वकाल प्राप्त निर्जरा चारों गतियों के जीवों के होती है, तथा दूसरी निर्जरा व्रती जीवों के होती है। स्वकाल प्राप्त निर्जरा को सविपाक निर्जरा कहते हैं। तप द्वारा स्थिति पूरी होने के पूर्व जो निर्जरा की जाती है, वह अविपाक निर्जरा है। भैया भगवती दास ने कहा है:—

थिति पूरी ह्वै खिर खिर जांहि, निर्जरभाव अधिक अधिकांहि।
निर्मल होय चिदानंद आप, मिटै सहज परसंग मिलाप ॥१०॥

तत्वार्थसार में अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—"गृहीत कर्मों का अलग होना निर्जरा है। वह दो प्रकार की है। पहली विपाकजा, दूसरी अविपाकजा है।" अनादिकालीन कर्म बंधन की उपाधि के विपाकाधीन जीव के जो कर्मों का फल देने के पश्चात् क्षय होता है, वह विपाकजा निर्जरा है। जो तप की सामर्थ्य से उदय को नहीं प्राप्त होने वाले कर्मों की उदीरणा करके उदयावली में लाकर फल भोगा जाता है और पश्चात् उसका क्षय होता है, वह अविपाकजा है। जिस प्रकार आम, पनस आदि फल असमय में भी उपाय द्वारा परिपाक को प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार जीवों के कर्म भी असमय में परिपाक को प्राप्त होते हैं।"

अनगार धर्मामृत में कहा है "कर्मों की निर्जरा दो प्रकार की है, एक अकाम निर्जरा है, दूसरी सकाम निर्जरा है। काल से जो फल का

पाक होता है, उसके समान समय पर फल देकर होने वाली निर्जरा अकाम निर्जरा है। प्रयत्न करके जो असमय में पाक होता है उसके समान तपस्या के द्वारा असमय में होने वाली निर्जरा को सकाम निर्जरा कहते हैं।

स्वोपज्ञ टीकामें आशाधरजीने लिखा है–"अपने समय पर फल देनेके पश्चात कर्मों की निर्जरा रूप लक्षण वाली अकाम निर्जरा है,उसे ही विपाकजा और अनौपक्रमिकी कहते हैं। सकाम निर्जरा अपक्व–कर्म की निर्जरा लक्षणात्मक है, वह बुद्धिपूर्वक की जाती है। इससे उसे उपक्रमा कहते हैं। इसे अविपाकजा, औपक्रमिकी भी कहते हैं।" (पृ–११७)

जिस कालमें फलदान शक्ति युक्त कर्म का अर्जन किया गया है, उसी काल में फलदानादि का होना विपाकजा निर्जरा है। जबरदस्ती प्रयत्न करके उदयावली में लाए जाकर भी कर्म अनुभव किये जाते हैं। जिस तरह आम्रादि को पाल में पूर्व ही पका डालते हैं, इसप्रकार की निर्जरा अविपाकजा है। बुद्धिपूर्वक प्रयोग रूप स्वपरिणाम को उपक्रम कहते हैं।

शुभचंद्राचार्य ने ज्ञानार्णव में लिखा है–"जीवों की निर्जरा के सकाम तथा अकाम इस प्रकार दो भेद कहे हैं। मुनियों की तपस्या द्वारा होने वाली निर्जरा को सकाम निर्जरा कहते हैं, सर्व जीवों की यथा–काल कर्म विपाक के पश्चात होने वाली निर्जरा को अकाम निर्जरा कहा है।" इसे ही अमृतचन्द्र सूरि सविपाक निर्जरा कहते हैं। इस अनुप्रेक्षा के विषय में राजवार्तिक में लिखा है "वह निर्जरा दो प्रकार की है एक अबुद्धिपूर्वा है दूसरी कुशल–मूला है।"

अबुद्धिपूर्वा निर्जरा नरकादि गतियों में कर्म फल के विपाक से होती है। वह कल्याण का कारण नहीं है इससे उसे अकुशलानुबंधा कहते हैं। परीषहजय करने पर कुशल मूला निर्जरा होती है। यह बुद्धिपूर्वक होती है। यह शुभरूप है, इससे जीव का कल्याण होता है। अतः इस कुशल मूला निर्जरा को शुभानुबंधा कहा है। इस प्रकार निर्जरा के गुण-दोष की भावना को निर्जरानुप्रेक्षा कहते हैं। इस प्रकार इसका चिंतन करने से कर्मों की निर्जरा करने में प्रवृत्ति होती है।

यशस्तिलक में लिखा है–"हे हत–भाग्य आत्मन ! अनुभव काल में रमणीय रूप वाले किन्तु अन्त में कटुतर ऐसे संसारोत्पन्न सुख लेश से चलित चित्त होकर जो तूने दुख के कारण नवीन रूप से गृहीत

पाप का बंध किया है उसे सहन कर।"

"जो मुनि समता के सुख में निमग्न रहता है, वारंवार अपनी आत्मा का स्मरण करता है, जो इंद्रिय तथा कषायों का विजेता है, उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है।" (का० अनुप्रेक्षा ११४)

लोक भावना

लोक के संस्थान आदि का विचार करना लोकानुपेक्षा है।

अनंत आकाश जितने भाग में धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्‌गल, जीव तथा काल ये छह द्रव्य पाई जाती है, वह लोक कहलाता है। उसके सिवाय शेष अनंत आकाश को अलोक कहते हैं।

लुक् धातु से लोक बना है। संस्कृत में इसका अर्थ देखना है, अंग्रेजी में भी लुक (look) शब्द देखने का वाचक है। "धर्माधर्मपुद्‌गल कालजीवाः यत्र लोक्यंते स लोक इति" (त. रा, पृ. २०७-५,१२)। इस लोक के पूर्व पश्चिम दिशा में अधोभाग में सात राजू प्रमाण विस्तार है। मध्य में एक राजू तथा ब्रह्मस्वर्ग के यहाँ अर्थात् मध्य लोक से ३½ राजू ऊंचाई पर पांच राजू चौडाई है तथा अन्त में नीचे से चौदह राजू पर एक राजू प्रमाण चौड़ाई है। इस लोक के शिखर में सिद्ध भगवान विराजमान हैं।

यह लोक अकृत्रिम है अर्थात यह किसी विशेष शक्ति की इच्छा क्रीड़ा, आदि की कृति नहीं है, अनादि निधन है, अपने स्वभाव संयुक्त है, जीव तथा अजीव राशि से पूर्ण है, सर्व काल उपलभ्यमान होने से नित्य है, ताल वृक्ष के समान आकृतिवाला है।

पं० जयचंदजी ने लिखा है:-

लोकस्वरूप विचारि के, आतम रूप निहार।
परमारथ व्यवहार मुणि, मिथ्या-भाव निवारि ॥११॥

भैया भगवती दास कहते हैं:-

लोक माँहि तेरो कछु नांहि, लोक अन्य तू अन्य लखाहि।

---

१ Suffer, O miserable being, the consequences of the pain-bringing, ever new sins thou hast committed, led astray by the pleasures of life, charming in the beginning and unpleasant at the end. (2-142)

सब षट् द्रव्यन को धाम, तू चिन्मूरति आतम राम ॥११॥

सोमदेव सूरि कहते हैं, कि "इस विशाल जगत में अनंत काल से भ्रमण करते हुए इस जीव ने सभी स्थलों का उपभोग किया है, केवल कर्म–जाल–मुक्त मुक्ति–मंदिर में प्रवेश नहीं किया है ।

हे आत्मन् ! इस जगत में सर्वत्र बार बार परिभ्रमण करते करते ऐसा कोई स्थल शेष नहीं बचा है, जिसे भोग करके तूने न त्यागा हो। हां ! एक स्थान है जो संपूर्ण कर्म जाल से रहित है । उस स्थान का कौतुक वश भी तूने स्पर्श तक नहीं किया है ।"[1]

हे आत्मन् ! तू पाप से मलिन मति बन नरकमें तथा तिर्यंचगतिमें वास करता है, योग्य पुण्य के होने पर सर्वार्थ सिद्धि पर्यन्त स्वर्ग में निवास तू करता है, पाप-पुण्य युगल के योग से नर पर्याय में रहता है। इस प्रकार लोकत्रय रूप भवन में निवास किया करता है । यह लोक तेरे स्वच्छन्द विचरण का स्थल है ।"[2]

इस विशाल विश्व का विचार कूप–मंडूक वृत्ति रूप जीवन और भोगाराधना को छोड़कर उज्वल तथा श्रेष्ट वृत्ति के लिए प्रेरणा एवं प्राण प्रदान करता है । अहंकार, मात्सर्य, लालच आदि की विकृति दूर भाग जाती है । यह जीव इस भावना रूपी रथ पर आरूढ होकर लोक-त्रय का दर्शन करता है । व्यसन–सेवा तथा पापाचरण करने वाले नारकियों के दुर्भाग्य और अवर्णनीय व्यथा का विचार करने से पापाचार से मन–पराङ्‌मुख होता है । अहिंसा, सत्य, शील, व्रतादि के पालन से स्वर्ग का सुख भोगने वाली दिव्यात्माओं के चिन्तनसे धर्म में बुद्धिहोती है और सिद्ध परमात्मा का चिन्तन कर सर्व कलंक बीज कर्म क्षय द्वारा निर्वाण लाभ की लालसा जागृत होती है ।

विदेह भूमि का चिन्तवन करने से इसे ऐसा लगता है मानो मैं

---

१ अत्रास्ति जीव न च किंचिदभुक्तमुक्तं स्थानं त्वया निखिलतः परिशीलनेन ।
तत्केवलं विगलिताखिलकर्मजालं, स्पष्टं कुतूहलधियापि न जातु धाम ॥

२ स्वंकल्मषावृतमतिर्निरयं तिरश्चि, पुण्योचिते दिवि नृषु द्वयकर्मयोगात् ।
इत्थं निषीदसि जगत्त्रयमंदिरेऽस्मिन्, स्वैरं प्रचारविषये तव लोक एषः॥

भगवान सीमंधर स्वामी आदि धर्म तीर्थंकर महाप्रभुओं के पाद-पद्म के पार्श्व में पहुंच गया हूँ, जिनके प्रसाद से आज भी वहाँ से जीव विदेह (मुक्त) होते हैं। इस छोटेसे क्षेत्र में शासक या शासन सत्ता द्वारा अधर्म का प्रश्रय मिलने से पाप का बोलबाला भले ही दिखता हो, किन्तु तीर्थंकर सूर्य के प्रकाश में मिथ्या प्रवृत्तियों का दर्शन भी नहीं होता है। उसे धर्म गंगा से पुनीत विदेह का विचार, चिन्तना द्वारा साक्षात तीर्थंकर के पाद मूल को प्राप्त सा करा देता है। इससे धर्मोत्साह में सदा अभिवृद्धि होती है। इस प्रकार धर्मध्यान के लिए अद्भुत आनन्ददायी अमृताहार का लाभ मिलता है। धर्मध्यान का भेद संस्थान-विचय बताया गया हैं।

"जो मानव उपशान्त भावो से इस प्रकार लोक के स्वभाव का चिंतवन करता है, वह संपूर्ण कर्म पुंज का क्षय करके लोक का शिखामणि बनता है। उससमय वह आत्म जगतका अधिपति बनता है। उस आत्मोत्थ आनन्द में आकंठमग्न आत्मा बाह्य विश्व की ओर उपयोग नही लगाता है, वह अंतर्मुख होता है, तब ज्ञानावरणादि के क्षय होने से समस्त पदार्थ मालिका उसकी विमल आत्मा में स्वयं प्रतिबिम्बित होती है।

बोधि दुर्लभ भावना

त्रस पर्याय,मनुष्यत्व आदि अनुकूल सामग्री की उपलब्धि कठिनता से होती है, इसका चिन्तन करना बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा है। ,

पं० जयचंद्रजी लिखते हैः-

बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहि।
भव में प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहि ॥ १२ ॥

"हे आत्मन्! अनन्तभव वाले संसार में बहुतबार परिभ्रमण करते हुए तूने मिथ्यात्व के वश हो बांधी गई कर्म प्रकृति के कारण बोधि-लाभ (रत्नत्रय का लाभ) नही प्राप्त किया है।" (कल्याणालोचना)

रत्नत्रय की महत्ता पर महाकवि हरिचंद्र ने इस प्रकार प्रकाश डाला गया है "जन्म, व्यथा मृत्यु रूप सर्पत्रय के मद को चूर्ण करनेवाले रत्नत्रय को मैं प्रणाम करता हूं, जिस रत्नत्रय रूप भूषण को प्राप्त कर

---

१ एवं लोय सहावं जो झायदि उवसमेक्कसब्भावो।
सो खविय-कम्म-पुंजं तस्सेव सिहामणी होदि ॥२८३॥ (का.अ.)

सत्पुरुष विरूपाकार (क्षय रहित अशरीरी) होते हुए भी मुक्तिश्री के प्रेम पात्र बन जाते हैं।" (धर्मशर्माभ्युदय १-७)

इस भावना वाला तत्व चिंतक रत्नत्रयको आत्म निधि मानता है। उसे सुरराज के भी भोग प्रिय नहीं लगते। भोगोंके विषय में कवि दौलतराम जी की यह वाणी कितनी यथार्थ तथा मार्मिक है—

मत कीजो जी यारी, ये भोग भुजग सम जान के। टेक
भुजग डसत इकवार नसत है, ये अनंत मृतु कारी।
तिसना तृषा बढ़ै सेयें, ज्यों पीये जल खारी॥ १॥
रोग वियोग शोकवन कौघन, समता-लता कुठारी।
केहरि करि अरिहू न देत ज्यो, त्यौं ये दें दुःख भारी॥२॥
इन में रचे देव तरु थाये, पाये श्वभ्र मुरारी।
जे विरचे सुरपति अरचे, परचे सुख अविकारी॥ ३॥
पराधीन छिनमाहिं छीन ह्वै, पापबंध करतारी।
इन्हें गिनै सुख आक माहिं तिन, आम तनी बुधि धारी॥ ४॥
मीन मतंग पतंग भ्रंग मृग इनवश भये दुखारी।
सेवत ज्यों किंपाक ललित, परिपाक समय दुखकारी॥ ५॥
सुरपति नरपति खगपतिहू की, भोग न आस निवारी।
'दौल' त्याग अब भज विराग सुख, ज्यों पावै शिवनारी॥ ६॥

कार्तिकेय स्वामी कहते "हैं कि इस रत्नत्रय को पाकर यदि जीव ने तीव्रकषाय भाव किए, तो उसकी रत्नत्रय निधि नष्ट हुए बिना न रहेगी। रत्नत्रय को प्राप्त करके भी यदि जीव तीव्र कषाय करता है तो रत्नत्रय रहित होता हुआ नरक तिर्यंच गति में जाता है।" सोमदेव सूरि लिखते हैं—

बाह्य प्रपंच–विमुखस्य शमोन्मुखस्य भूतानुकंपनरुचः प्रियतत्ववाचः।
प्रत्यक् प्रवृत्त हृदयस्य जितेन्द्रियस्य भव्यस्य बोधि रियमस्तु पदाय तस्मै॥

"जो बाह्य विषय कषाय रूप संसार से पराङ्मुख है, साम्य के उन्मुख है, सम्पूर्ण जीवो के प्रति करुणाभाव की रुचि सम्पन्न है, प्रिय तात्विक वचन बोलता है, परमात्म तत्व में जिसका मन लगा है, सम्पूर्ण इंद्रियों को जिसने वश में कर लिया है, ऐसे भव्य जीव की बोधि निर्वाण पद का कारण होवे।"[1]

---

१ "May Bodhi (the acquistion of the three jewels)

यह रत्नत्रय की उपलब्धि मनुष्य जीवन की ही विशेषता है। मानव को कम से कम श्रावक के व्रतों का पालन करना आवश्यक है। कवि भूधरदास की यह वाणी बडी प्राणदायिनी है —

ऐसी श्रावक कुल तुम पाय वृथा काहे खोवत हो ॥टेक॥
कठिन कठिन कर नर भव पायो तू लेखो आसान।
धरम विसार विषय संग राचो मानी न गुरु की आन ॥१॥
काहू शठ चिन्तामन पायो मरम न जानो तास।
वायस देख उदधि में डारो फिर पाछे पछताय ॥२॥
चक्री एक मतग जु पायो ता पर ईंधन ढोवे।
बिना विवेक बिना मति ही के अमृत सो पग धोवे ॥३॥
सप्त व्यसन आठों मद त्यागो, करुणा चित्त विचारो।
तीन रतन हिरदे में धारो आवागमन निवारो ॥४॥
'भूधर' कहे सुनो भाई भविजन अवहूं क्यों न चितारो।
प्रभु को नाम तरण-तारण जप करम फद निरवारो ॥५॥

आचार्य अकलक कहते हैं, "इस भावना के द्वारा बोधि का लाभ होता है तथा कभी भी उसके विषय में प्रमाद नहीं होता है। "एवं ह्यस्य भावयत बोधिं प्राप्य प्रमादो न कदाचिदपि भवति।"

धर्म भावना

बारहवी भावना का नाम है, 'धर्म-स्वाख्यातत्वम्'-'सर्वज्ञ-वीतरागैर्धर्मस्य शोभनाख्यानं धर्म-स्वाख्यातत्वम्" (सुखबोध टीका पृ २१२) सर्वज्ञ वीतराग भगवान ने धर्म का सुन्दर स्वरूप निरूपण किया है। यह 'धर्म-स्वाख्याततत्व' है। इसका पुन पुन· चिंतन करना धर्म-स्वाख्या-तत्वानुचिन्तन कहलाता है।

"यह धर्म सपूर्ण सुखो का आकर है, हितकारी है, इस धर्म का ज्ञानी पुरुष उपचय करते हैं अर्थात मोक्ष प्राप्ति के लिए पुष्टि करते हैं,

---

lead the man with faith to that exalted state, namely liberation, the man that is averse to worldly phenomena eager for spiritual calm, self-controlled and kind to all creatures and fond of the truth, his heart devoted to the Inner Self" P 307

धर्म से ही शिव सुख सम्यक् प्रकार से प्राप्त होता है, उस धर्म के लिए नमस्कार हो। ससारी जीवो का धर्म से बढकर उपकारक नही है। धर्म का मूल दया है। मै प्रतिदिन अपना चित्त धर्म में लगाता हूँ। हे धर्म ससार महासिन्धु में गिरते हुए मेरी रक्षा कर।"

ऐसा कल्याण कारी धर्म केवली भगवान द्वारा प्रणीत हो सकता है। जिनके पास सर्वज्ञता की ज्योति न हो, जो वीतरागता की सपत्ति शून्य हो तथा जिनमें हितोपदेशिता का अभाव हो, वे धर्म पथ की देशना कैसे दे सकते हैं? इसी से 'केवलिपण्णत्तो धम्मो मगल—केवली प्रणीत धर्म को मगलरूप-पाप का नाशक तथा पुण्य का दाता कहा है। जिनेन्द्र के धर्म के विषय में ब्रम्ह विलास में लिखा है—

"पापन के कूट जे अटूट भरे घट माहि,
होते चिरकालन के सर्व निघटत हैं।
लगें जो मिथ्यात भाव भूलि के सुभाव निज,
तिनहू के पटल प्रभात ज्यो फटत हैं।
अपनी सुदृष्टि होत प्रगटै प्रकाश ज्योत
तिहू लोक में उद्योत सदा प्रगटत है।
ऐसो जिन धर्म के प्रसाद तें प्रकाश होय
अजहू ससार भैया काहे को रटत है।"

यह प्राणी धर्मामृत को छोडकर विषय रूप विष पानको क्यो तत्पर होता है, इसका कारण यह है कि मिथ्यात्व रोग वश इस जीव का स्वाद बिगड गया है, इससे मधुर वस्तु कटु लगती है और अपथ्यकारी आहार मनोमुग्धकारी लगता है। गोमट्टसार जीवकांड में लिखा है—

"मिथ्यात्व प्रवृत्ति के उदय से जीव की श्रद्धा विकृत हो जाती है इससे उसे धर्म नही सुहाता है। ज्वर वाले को मधुर वस्तु अच्छी नही, लगती है।"[1]

---

[1] "The soul involved in wrong belief thought activity becomes a perverted believer and certainty has no inclination for Truth (Dharma) as a men in fever (has no taste) for sweet (sugar-cane) juice"

Gom Eng Trans by J L, Jaini'

इस विकृत रुचि होने के कारण दूसरो के द्वारा की गई धर्माराधना मिथ्यात्वी जीव को विघ्न करने योग्य दिखती है और पाप तथा अनर्थ के कार्य सहायता तथा प्रेरणा के पात्र प्रतीत होते है। नीतिवाक्यामृत के धर्म समुद्देशमें लिखा है, "धर्म केअनुष्ठान में बिना आमन्त्रण के भी लोगप्रतिकूल वृत्ति बन जाते है। अधर्म के कार्यमें कौन नही उपदेश देता है, अथवा अग्रेसर नही बनता है ?"

स्वामी समन्त भद्र कहते है—'इस जीव का असली शत्रु यदि कोई है तो वह अधर्म है। सच्चा जीव का कल्याणकारी बधु धर्म ही नाशी शांति और अनन्त आनद का लाभ जिनेन्द्रोपतधर्म की आराधना से होता है। जो रागद्वेष मोह के राग से सतप्त है, वे रागादि के रोग से दुखी जगत को वीतरागता'की ज्योति कैसे दिखा सकते है ?" नेत्रहीन व्यक्ति का मार्ग प्रदर्शन क्या कभी भी कल्याण प्रद हो सकता है ? इससे सर्वज्ञ जिनेन्द्र के धर्म की स्तुति करते हुए भैया भगवतीदास लिखते है —

कल्पवृक्ष जिन धर्म इच्छ सब पूरे मन की,
चितामन जिनधर्म चित सब टारै जनकी।
पारस सो जिन धर्म करै लोहादिक कचन,
कामधेनु जिन धर्म कामना रहती रच न।

कोई यह सोच कि धर्म के द्वारा जिस प्रकार उत्थान होता है, उसी प्रकार अधर्म के द्वारा भी अभ्युदय हो सकता है, इस भ्रम का निवारण करते हुए कार्तिकेय स्वामी कहते है —

"देव पर्याय वाला जीव भी धर्म रहित हो मिथ्यात्व के वश से एकेन्द्रिय वृक्ष होता है। सार्वभौम चक्रवर्ती नरेन्द्र धर्म रहित होता हुआ नरक में पतित होता है। अत अधर्म सपत्ति का कारण नही होता है अर्थात हिंसादि पाप द्वारा जीव को विपत्ति ही प्राप्त होती है।"

प्राय ऐसी शका उत्पन्न हुआ करती है कि पाप करने वाला जीव सुखी देखा जाता है, अत पाप को दुख का कारण कैसे माना जाय ? इस शका का निवारण सहज है। पूर्व में सचित पुण्य के उदय से जीव सुखी है, आज के पाप का तब तक प्रभाव नही दिखेगा, जब तक पुरातन पुण्य की पूजी पुजीभूत है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति ने बेंक में कई लाख रुपया जमा करा दिए है और वह जुआ, व्यभिचार आदि पापो

चार की निकृष्ट मूर्ति बन गया तथा विपुल धन बरबाद करने लगा। उसे जितना रुपया लगता है तत्काल बैंकसे मिल जाता है। इसे देख कोई अल्पज्ञ यह सोचे कि पाप करते हुए भी इसे रुपया कैसे मिलता जाता है, तो यह बात उसे विदित होना चाहिए, कि जितना जमा है, उतने तक धन को वह पापी जब चाहे, तब प्राप्त कर सकता है किन्तु पूंजी समाप्त होने के बाद बैंक कानी कौड़ी बराबर भी कीमत उसकी नहीं करेगा। इसी प्रकार पुण्य की कमाई पूर्वकी जब तक है, तब तक जीव सुख पाता है। अतः सुख की इच्छा करने वाला सभी भव्यात्माओं को धर्मका, धर्म ही का, धर्म शरण लेना चाहिए। सद्धर्म का लाभ बड़े भाग्य से होता है।

कल्याण कारी धर्म को भ्रम वश सकट का कारण मानने वाले रूस के भाग्य विधाता स्टेलिन के विषय में अमेरिकन लेखक राबिन्सन ने बताया है कि "स्टेलिन महाशय ने १० करोड छोटे जमीन के मालिकों को मरवा डाला था और इतने ही मनुष्यो को अपनी शासन पद्धति की आलोचना करनेके कारण साइबेरियाके कारावासमें अपार कष्ट दिया था।"[1] इस प्रकार और भी बड़े बड़े अनर्थ के कार्य उस व्यक्ति के निमित्त से हुए।

अधर्मी के समान धर्म की भ्रम पूर्ण धारणा भी जीव को भीषण पागल बना देती है, फिर वह विपक्षियो के जीवन का मूल्य नहीं सोच पाता। देखो न, पाकिस्तान के जनक हजरत जिन्ना की जिद्द के कारण कितने अपराध रहित लोगो के जीवन, धन, इज्जत आदि की बर्बादी नहीं हुई? इसलिए विवेकी मानव का कर्त्तव्य करुणा पूर्ण धर्म का आश्रय लेने में है।

---

1 "He had close to 10,000,000 small landowners cold-bloodly killed it the' 20's for objecting to the collectivization of Russia's farmlands ("It was all very bad and difficult-but necessary," he told Winston Churchill,in 1942.) He has had untold millions sent to barbatic prison camps in Siberia for the slightest criticism of his regime.(Official estimates placed the number of prisoners in these camps in 1951 at over 10, 000, 000,) He has instituted vicious controls of press, speech, science, art every thing, with an omnipresent spy system to enforce them."

The 100 Most Important People:P.8

सार

आज का अद्‌भुत युग अमर जीवन देने वाले आध्यात्मिक विचारो पर यम दड का प्रहार कर रहा है। पाशविक प्रवृत्तियो तथा आसुरी भावनाओ का विश्व व्यापी प्रसार हो रहा है। लोकरुचि भी भोगाकांक्षी, विषय लोलुपी तथा द्रव्य की दासी बन गई है। जीवन में हंस तुल्य धवलता और गुणज्ञता का दर्शन दुर्लभ हो गया है। इसलिए काक सदृश श्याम वृत्तियो की अभिवृद्धि वेग से हो रही है। इस दिशा में शासक और शासित परस्पर होड़ सी लगा दौड रहे है। जगत् भौतिक वस्तुओ का इतना अधिक दास बन गया है, कि उनकी आराधना के लिए अपनी आत्मा को पूर्णतया खोने के लिए सदा तत्पर रहता है। आत्माका अमृत रस इस मोही मानव को विष के समान कटु लगता है, और स्थायी पतन के पथ में प्रवृत्त करने वाली सामग्री, अमृत तुल्य लगती है। ऐसे वातावरण में फसा हुआ व्यक्ति कैसे शाश्वतिक शाति, अमर जीवन और आनंद को प्राप्त कर सकता है? एक और बात है, आज तो व्यक्ति के जीवन का उचित मूल्य भुलाकर उसे समष्टि के सिंधु में समा जाने को ही कल्याणकारी समझा जाता है। समष्टि पर दृष्टि रखने के साथ व्यक्तिगत विकास तथा जीवन को स्फीत बनाने की बात कम महत्वास्पद नही है। यह ठीक है "सघे शक्तिः कलौ युगे", किन्तु यदि व्यक्ति सामर्थ्य तथा शक्ति का पुज हो तो उसके जीवन से समष्टि को प्रकाश तथा शक्ति मिला करती है। युगान्तर उत्पन्न करने की क्षमता असाधारण आत्माओ में पाई जाती है। अगणित नक्षत्र मालिका द्वारा भी जिस अखंड अधकार के कुशासन का प्रसार नष्ट नही होता, उसे एक चद्र अपनी ज्योत्स्ना के द्वारा दूर कर विश्व को प्रकाश से धवलित करता है।

असाधारण हित तथा चिरंतन कल्याण करने वाली विभूतियो से कभी कभी प्रकाश तथा प्रेरणा पाने वाला जगत उचित रूप से परिचित नहीं रहता है। उसके परिचय में बहुधा ऐसे लोग आते है जिनको स्वार्थी वर्ग अपने विज्ञापन के साधनो द्वारा सजाकर समक्ष उपस्थित करते है। यथार्थ में व्यक्ति की उच्चता और पवित्रता का मापदड उसकी प्रसिद्धि तथा लोक द्वारा पूजा नही है क्योकि पतित आत्मायें भी वर्गवाद के बल तथा प्रश्रय को पाकर कुछ समय के लिए ऐसे ही चमका करती है जैसे

दीपमालिका के अवसर पर बच्चो को आनदित रखने वाली फुलझडी आदि। कुछ काल के बाद इस कृत्रिम प्रसिद्धि पर प्रकृति का आवरण आने से वे भी विस्मृति के गहरे गर्त में गायब हो जाते हैं। सदगुण सपन्न व्यक्ति अपना अपूर्व प्रभाव चिरस्मृति की सामग्री छोड जाता है। यूरोप के प्रकाण्ड विद्वान रसेल ने लिखा है कि "यदि व्यक्ति में मानव समाज के प्रति प्रेमभाव है, उसकी दृष्टि विशाल है, वह साहस और सहनशीलता सपन्न है, तो ऐसा व्यक्ति बडा काम कर सकता है। जो व्यक्ति पवित्र जीवन व्यतीत करते हैं वे यद्यपि अपने समय में अज्ञात सरीखे हो किंतु उनने अपना जीवन व्यर्थ में व्यतीत किया, इस बात का भय नही करना चाहिए। उनके जीवन में कुछ ज्योति प्राप्त होती है, कुछ प्रकाश मिलता है, जो उनके मित्रो, पडोसियो तथा भविष्य काल के लिये लोगो को प्रकाश देता है।"[१]

महान कार्य करने वाले व्यक्ति को सदा विरुद्ध वातावरण से सघर्ष कर अपना स्थान बनाना पडता है। लोक प्रवाह में बहने वाले व्यक्ति का सरिता के जल के साथ बहने वाले बालू के कणो के समान नगण्य स्थान होता है। आज भी विषयो की पूर्ति की ओर अधाधुन्ध दौडने वाले जगत का प्रकाश में देने का साहस कौन कर सकता है। प्रवाह के भवर में आने वाली आत्मा स्वय उस चक्र में घूमने लगती है। जगत की मोह जाल में जकडी हुई अवस्था का चित्रण एक कवि के इन मार्मिक शब्दों में मिलता है:-

को छूट्यो यहि जाल परि, कर कुरग अकुलात।
ज्यो ज्यो सुरझि भज्यो चहत, त्यो त्यो उरझत जात॥

ऐसी परिस्थिति में जब कि सर्वत्र असयम के कीटाणु व्याप्त हो और सयम की साधना मोही मानव को यम की वाणी सी लगती हो, तब पवित्रता के पुज श्रेष्ठ योगी का जीवन व्यतीत करनेवाले महापुरुष की

---

१ The individual, if he is fille with love of mankind, with breadth of vision, with courage and with endurance, can do a great deal Those who live nobly, even if in their day they live obscurely, need not fear that they will have lived in vain Something radiates from their lives, some light that shows the way to their friends, their neighbors-perhaps to long future ages"

कहा उपलब्धि हो सकती है ? यह तो महान सौभाग्य की बात है कि महामुनि श्री शांतिसागर विद्यमान महाराज है जिनका पुण्य जीवन सत्य, अहिंसा, अपरिग्रहत्व आदि गुणो का रत्नागार है। ये ही डा. राधाकृष्णनके शब्दो में "वास्तव में सच्चे तत्वज्ञानी है जो आत्माके रोग को दूर करते है और हमें के बन्धन से बचाने में सहायक होते है।"[1]

आचार्य महाराजके पवित्र जीवन पर इस ग्रथमें हमने जो प्रकाश डाला है उसमे उनकी पूज्यता तथा लोकोत्तरता स्पष्ट होती है। अभी काशी में उन साधुराज के जीवन के सम्बन्ध में दिगम्बर मुनि श्री वीरसागर महाराज ने एक महत्व की बात कही थी "आचार्य महाराज का का पुण्य प्रभाव मनुष्यो की बात ही दूसरी, पशुओं पर भी अपना अचिन्त्य असर डालते हुए हमने देखा है। सन १९२८ में जब हम आचार्य महाराज के साथ सम्मेद शिखर की यात्रा को गए थे तब एक जगल में बैलों के झुण्ड में से चार मस्त और उद्दड बैल बंधन तोडकर हमारे सबकी ओर भागे। हमें आशंका हुई कि, कोई बडा उपद्रव न कर बैठें। इतने में क्या देखते है कि वे भागते हुए आचार्य महाराज के पास पहुचे और एकदम शांति धारण कर उन शांति के सागर के चरणो के सम्मुख नत-मस्तक हो गए।" उनके ये शब्द बडे मार्मिक है, तीर्थ यात्रा करना है तो शिखरजी जाओ, मूर्ति के दर्शन करना हो तो भगवान गोमटेश्वर की प्रतिमा के समीप जाओ और यदि मुनिराज की वदना करना है तो आचार्य शांतिसागर महाराज के दर्शन करो। ऐसी निर्दोष श्रद्धा बोध तथा सदाचरण समन्वित आत्मा को कौन मुमुक्षु प्रणाम न करेगा ? हमारी उनके पुण्य चरणो में हार्दिक श्रद्धांजलि है।

---

1 "The true philospher is a physician of the soul, one who helps us to save ourselves from the bondage of desire". Ind Phil. p 364.

आचार्य श्री लेखक को आशीर्वाद देते हुए।

आचार्यवर्यं प्रणमामि नित्यम्

पूज्यातिपूज्यैर्यतिभिस्सुवद्य । संसार–गम्भीर–समुद्रसेतुम् ।
ध्यानैकनिष्ठा–गरिमा गरिष्ठम् । आचार्यवर्यं प्रणमामि नित्यम् ॥

ध्यानादिसैन्य परिवर्ध्य पूर्णम् । कर्मारिवर्गं प्रणिहत्य वेगात् ।
नीरागस्वातन्त्र्यपदे प्रतिष्ठम् । आचार्यवर्यं प्रणमामि नित्यम् ॥

ह्यभ्यन्तरो बाह्य उपाधिभार । दूरीकृतो येन वितृष्णभावात् ।
दैगम्बर सुन्दरदि-व्यवायम् । आचार्यवर्यं प्रणमामि नित्यम् ॥

धर्मामृत पाययति प्रभूतम् । यो भव्यजीवान् करुणास्वरूप ।
स्वात्मस्वरूप च चकार तेभ्य । आचार्यवर्यं प्रणमामि नित्यम् ॥

योऽनेक साधून् विषयेष्वरक्तान् । निर्ग्रंथ लिंगे विधिना चकार ।
गुरूपरागोपि च वीतराग । आचार्यवर्यं प्रणमामि नित्यम् ॥

महागभीर विशदीकृतार्थं । शास्त्राब्धिपारंगतवान्समयम ।
तथापि प्रज्ञामदताविरक्तः । आचार्यवर्यं प्रणमामि नित्यम् ॥

दर्शं दर्शं सूरिशान्तस्वरूपम् ।
पायं पायं वाक्य–पीयूष–धाराम् ॥
स्मारं स्मारं तद्गुणान् स्पष्टपादा ।
जाता शान्ता साधवाद्येष्वरक्ता ॥

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
बैजन्ती	वैजयन्ती	१३	११
Weath .	Wealth	१३	२८
विहंगो	निहंगो	८	२८
चार सौ	चार	१३	११
वृत	व्रत	२३	१७
बाहर न जाना	बाहर जाना	२५	९
कार	कारण	२९	२८
मामयिक	सामायिक	४३	१३
आध्यात्म	अध्यात्म	४५	२०
ऐकीभाव	एकीभाव	५३	४
गायकवाड़	गायकवाड	६३	१८
कापायो	कपाणे	६७	२३
केल	केला	६९	२७
वाग	वाड़	८३	१६
याजकम्	याचकम्		१६
संतकः	रनंतकः		२१
र्थान्	अर्थान्		२८
स्वाध्यय	स्वाध्याय	१२२	२७
अतर्जल्य	अंतर्जल्य	१४०	१९ २० २१
तीर्थ-याटन	तीर्थाटन	१५६	
महाव्रत्ता	महाव्रतः		१९
सागर	सागार	१६०	७
piou	pious	१७९	२३
begining	beginning	३०३	२४
आयदा	अयदा	५४४	२५
flash	flesh	५५०	२२
ministar	minister	५५१	२९
सदाचर	सदाचरण	५५५	१२